भारतीय शिक्षा का इतिहास

(प्राचीन, मध्य और वर्तमान कालीन शिक्षा के विकास और समस्याओं का सरल विवेचन)

लेखक

डॉ० सरयू प्रसाद चौबे,

शिक्षा-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १,०००] [मूल्य १०)

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, सितम्बर १९५९

मुद्रक
नरोत्तमदास अग्रवाल
नेशनल प्रेस
प्रयाग

चित्रों की सूची

प्राचीन और मध्यकाल

संख्या	विषय		पृष्ठ
१	—आश्रम अथवा गुरुकुल का प्राकृतिक दृश्य	...	८
२	—सात वैदिक ऋषियों की पाषाण मूर्तियाँ	...	१२
३	—लम्बी तपस्या वाला गुरु अपने शिष्यों को शिक्षा दे रहा है	...	१३
४	—एक आश्रम का दृश्य (भरहुत)	...	७१
५	—विद्यालय में गौतम	...	८८
६	—गौतम विद्यालय में लिखने का अभ्यास करते हुए	...	११७
७	—गौतम को विद्यालय में धनुष चलाना सिखाया जा रहा है	...	१२७
८	—नालन्दा विश्वविद्यालय (भवन के अनुमान के लिए)	...	१३७
९	—नालन्दा विश्वविद्यालय (कमरों, बरामदों, आँगन, तथा कुओं आदि का अनुमान)	...	१३८
१०	—मध्यकालीन शिक्षा-केन्द्र	...	१९९

वर्तमान काल

संख्या	विषय		पृष्ठ
११	—एलफिस्टन	...	२४७
१२	—फोर्ट विलियम कालेज	...	२७३
१३	—वारेन हेस्टिग्ज	...	२७५
१४	—राजा राममोहन राय	...	२८७
१५	—लार्ड बेंटिक	...	२८८
१६	—लार्ड मैकाले	...	२९१
१७	—लार्ड हार्डिंज	...	३१३

संख्या विषय		पृष्ठ
१८—लार्ड डलहौजी	...	३१४
१९—जेम्स थामसन	...	३१५
२०—जान इलियट ड्रिंकवाटर बेथ्यून	...	३२६
२१—सर सैयद अहमद खाँ	...	३८३
२२—स्वामी दयानन्द	...	४२०
२३—श्रीमती एनी बेसेन्ट	...	४२१
२४—महामना मदन मोहन मालवीय	...	४२१
२५—श्री गोपाल कृष्ण गोखले	...	४२२
२६—(अ) लार्ड कर्जन	...	४३८
२६—(ब) श्री आशुतोष मुकर्जी	...	४६९
२७—आचार्य कार्वे	...	४९२
२८—महात्मा गाँधी	...	५००
२९—श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर	...	५४५
३०—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्	...	५६०
३१—डा० जाकिर हुसेन	...	५९२
३२—डा० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदलियार	...	६४६
३३—आचार्य नरेन्द्रदेव	...	७९६

प्रथम खण्ड

प्राचीन काल

महान् शिक्षक

और

शिक्षा के मर्मज्ञ

श्रद्धेय डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

को

प्राक्कथन

हमारे आरण्यक और उपनिषद ऐसे आध्यात्मिक रहस्य से भरे हुए हैं जिन्हें समझना आज के फलकवादी मस्तिष्क के लिए बड़ा ही कठिन है। प्राचीन भारत के इस विशाल दार्शनिक स्मृति-शेष के रहस्य का उद्घाटन करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। यह कार्य तो वही कर सकता है जिसने कि उपनिषद् के मन्त्रों के प्रत्येक अक्षर में निहित सत्य को ठीक-ठीक समझा हो।

उपनिषद्-काल के लोग हम लोगों की ही तरह मनुष्य थे। उन का रहन-सहन तथा जीवन-क्रम प्रायः उन लोगों की तरह था जो प्रायः कृषि पर ही अपनी आजीविका के लिए निर्भर रहते हैं। परन्तु उनके जीवन में इतना अन्तर अवश्य था कि वे आध्यात्मिक और लौकिक जीवन में एक सामंजस्य प्राप्त करना चाहते थे। उनका यह विश्वास था कि आत्मा का सत्य शरीर की सीमाओं से परे है और वह शरीर, जाति, काल और स्थान से बहुत ऊपर उठ सकता है। उनका पूरा जीवन एक नियोजित सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत चलता था। आज हमारे जीवन का उद्देश्य प्राचीन काल से भिन्न है। हम सांसारिक सुखों की खोज में अधिक लिप्त हैं। किसी स्थान, काल तथा जाति की शिक्षा का उसके समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अतः प्राचीन भारत की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास इस प्रकार करना था कि वह लौकिक और आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य प्राप्त कर सके और उसकी आत्मा शारीरिक सीमाओं से ऊपर उठ सके। प्रस्तुत पुस्तक में प्राचीन भारत की इसी प्रकार की शिक्षा का विवेचन है।

प्राचीन भारत में शिक्षा के सन्तुलित विकास में वैदिक साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। अतः प्राचीन भारत की शिक्षा का स्रोत वैदिक साहित्य है। इसलिए प्राचीन कालीन शिक्षा की सामग्री वैदिक साहित्य पर आधारित है।

मध्यकालीन भारत की शिक्षा के बारे में भी यहाँ दो शब्द कह देना समीचीन होगा। भारत में मुस्लिम शासन लगभग ६५० वर्षों तक रहा। इस काल में शिक्षा 'बादशाह-विशेष' के इशारे पर चलती रही। अतः इस काल की शिक्षा की कहानी बादशाहों की शिक्षा-सम्बन्धी रुचियों का लेखा है जो कि तत्कालीन बादशाह के जीवन-चरित तथा विदेशी यात्रियों द्वारा दिये गये विवरण में मिलता है।

मुस्लिम कालीन भारत में प्राचीन भारतीय शिक्षा-संस्थाओं को कोई उत्साह अथवा प्रश्रय नहीं मिला, वरन् कई स्थानों पर उन्हें नष्ट करने का प्रयास किया गया। इस काल में फारसी का प्राधान्य था और मस्जिद, मकतब तथा मदरसे शिक्षा के प्रधान केन्द्र थे। इस काल में भी प्राचीन युग की तरह शिक्षा में धार्मिक दृष्टिकोण व्याप्त था। यह ध्यान देने की बात है कि राजकीय प्रश्रय न पाने पर भी हिन्दू शिक्षा के कुछ केन्द्र इस काल में भी जीवित रहे। इन्हीं सब बातों का विवरण मुस्लिम कालीन खण्ड में दिया गया है।

आज हमारे देश के सभी चिन्तनशील व्यक्तियों का ध्यान शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर जा रहा है, क्योंकि लोग पहले की अपेक्षा यह बात अब अधिक समझने लगे हैं कि भारत के पुनर्निमाण में एक जीवित और गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप में शिक्षा का बड़ा भारी हाथ है। राष्ट्रीय उत्थान के लिए जो भी योजना बनाई जायगी उसमें हम अपने विगत इतिहास की अवहेलना नहीं कर सकते, चाहे वह इतिहास कितना ही भुला देने योग्य क्यों न हो, क्योंकि भूतकाल की नींव पर ही भविष्य की आधार-शिला दृढ़ता से बैठाई जा सकती है। अपने देश को आगे बढ़ाने के लिए हमें विभिन्न प्रकार की योजनाओं का निर्माण और कार्यान्वियन करना होगा, और इस ओर हमारी प्रगति प्रारम्भ भी हो गई है। इन योजनाओं में शिक्षा का भी एक प्रमुख स्थान है, क्योंकि शिक्षा के सहारे ही इनको सफल करने के लिए आवश्यक कार्यकर्त्ताओं को तैयार किया जा सकता है। अतः भारत के नव-निर्माण के लिए हमें अपनी शिक्षा का पुनर्संगठन करना होगा। इस पुनर्संगठन में हमें भारतीय शिक्षा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को दृष्टिगत रखना होगा। भारतीय शिक्षा के वर्तमान कालीन खण्ड में गत लगभग २५० वर्षों (अर्थात् अंग्रेजी प्रभाव के प्रारम्भ-काल अर्थात् सन् १७०० ई० से १९५८ ई० तक) के शिक्षा-इतिहास का विवरण दिया गया है। इस विवरण में वस्तु-स्थिति को ज्यों का त्यों स्पष्ट करते हुए उसकी समीक्षा भी साथ-साथ की गई है। इस समीक्षा में यह इंगित किया गया है कि अतीत में शिक्षा-सम्बन्धी अपनायी गई नीतियाँ कहाँ तक तत्कालीन समस्या को सुलझाने तथा तदनुरूप भविष्य के नियोजन में सहायक रही हैं। लेखक का विश्वास है कि इस प्रकार के आलोचनात्मक विवेचन और मूल्यांकन के द्वारा ही हम अपने भूतकालीन इतिहास से यथोचित लाभ उठा सकते हैं। अतः प्रारम्भ से अन्त तक इस पुस्तक में इसी नीति को अपनाया गया है। आशा है पुस्तक के इस समीक्षात्मक दृष्टिकोण के कारण पाठक यह समझ पायेगा कि भारतीय शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में अब तक कौन-कौन सी नीतियाँ कार्यान्वित की जा चुकी हैं और उनके कार्यान्वयन में क्या-क्या त्रुटियाँ रह गई हैं और उन्हें सुधारने के लिए

किन-किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। यदि इन बातों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हो सका है तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

पुस्तक की रचना में बी० ए० (एडूकेशन), बी० एड०, बी० टी०, एल० टी०, एम० ए० (एडूकेशन) तथा एम० एड० के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया गया है, क्योंकि इसका अध्ययन विशेषकर वे ही लोग अथवा उन्हीं की कोटि के अध्येता अधिक करेंगे। प्रत्येक अध्याय की प्रमुख बातों पर उनका ध्यान केन्द्रित करने के लिए ही उस अध्याय के अन्त में उसका सारांश दे दिया गया है। हर अध्याय के अन्त में अभ्यासार्थ प्रश्न पठित विषय के पुनरावलोकन के लिए ही नहीं, वरन् पाठक की चिन्तन-शक्ति को और आगे अभिप्रेरित करने के लिए भी दिये गए हैं। यद्यपि यह पुस्तक प्रधानतः विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों तथा शिक्षा-शास्त्रियों के लिए लिखी गई है, किन्तु आज एक सामान्य व्यक्ति शिक्षा में जो रुचि दिखा रहा है उसके आधार पर यह आशा की जा सकती है कि पुस्तक उसके लिए भी रुचिकर होगी। पाठकों से प्रार्थना है कि पुस्तक में सुधार के लिए अपने रचनात्मक सुझाव भेजने की सदैव कृपा करते रहें।

इस पुस्तक की सामग्री जुटाने में लेखक ने बहुत सी पुस्तकों तथा सरकारी प्रकाशनों से मुक्त रूप से सहायता ली है। इन सबके नाम सहायक पुस्तकों की सूची में अथवा पुस्तक के क्रम में ही यथास्थान दे दिये गये हैं। इनके लेखकों तथा अधिकारियों का लेखक चिर ऋणी रहेगा।

इस पुस्तक के प्रकाशन तथा इसमें दिये हुए चित्रों के बनाने में हम प्रकाशक महोदय श्री प्रह्लाद दास अग्रवाल एम० ए०, एल० एल० बी० ने बड़ी ही तत्परता, सहृदयता और सूझ का परिचय दिया है। पुस्तक में दिये गये कई चित्र आप की ही सूझ के परिणाम हैं। लेखक आपका बड़ा ही आभारी है।

पुस्तक के समर्पण के सम्बन्ध में लेखक के आग्रह को डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, उपराष्ट्रपति, भारत सरकार ने स्वीकार किया। इसके लिए लेखक उनका बड़ा ही कृतज्ञ है।

श्रावणी, २०१६
अगस्त १८, १९५९,
कर्म भूमि,
महानगर, लखनऊ।

सरयू प्रसाद चौबे
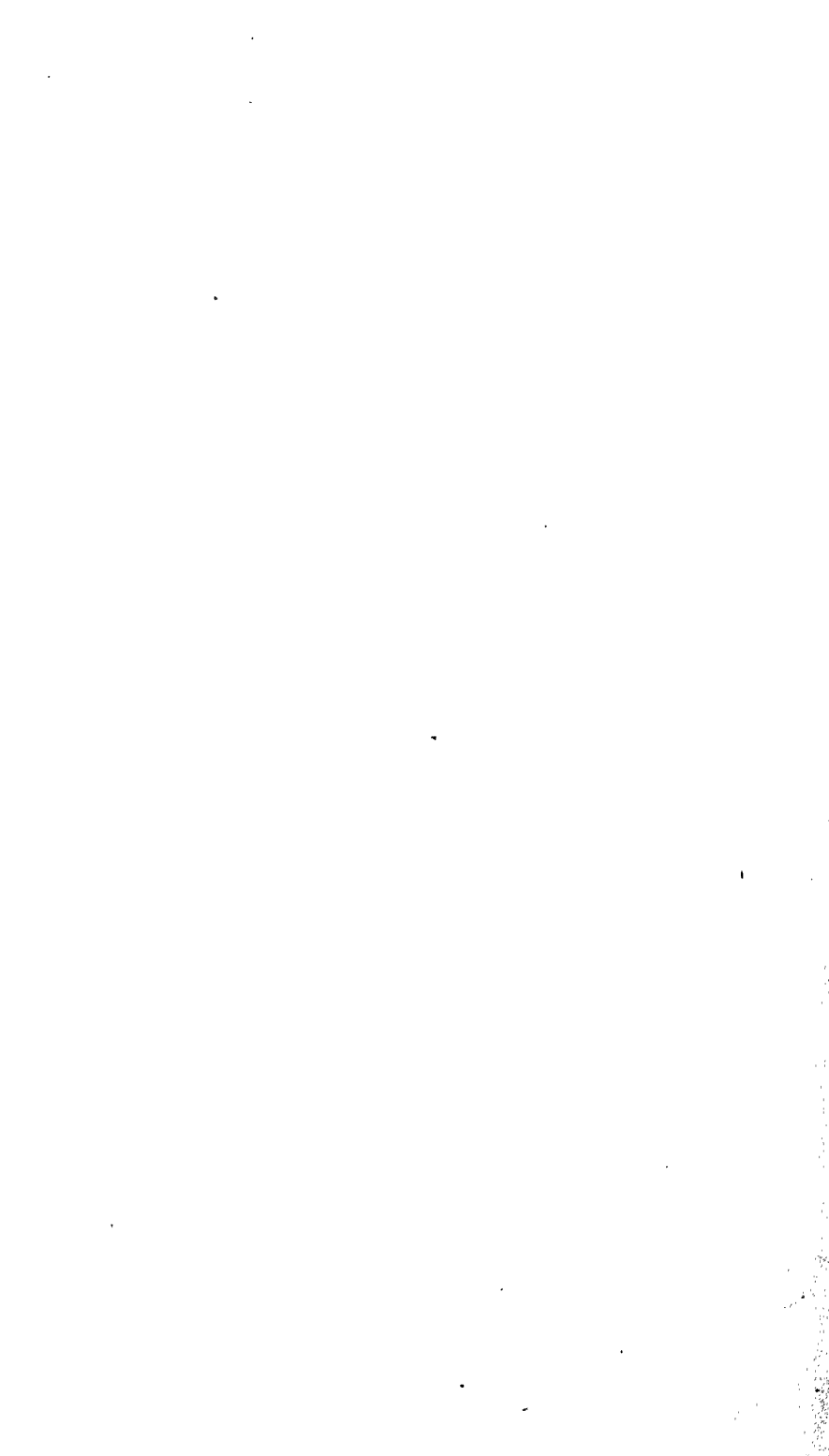
विषय-सूची

(प्रथम खण्ड : प्राचीन काल)

अध्याय १

विषय-प्रवेश

प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शनः वेद से विकसित १, धर्म का प्रतिरूप ३, कर्म को मान्यता ५, प्राचीन भारतीय शिक्षा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ७, सारांश ६, अभ्यासार्थ प्रश्न ६

अध्याय २

ऋग्वैदिक शिक्षा

ऋग्वैदिक काल १०, ऋग्वैदिक शिक्षा: वेद ११, पाठ्य विषय १२, अध्यापन-पद्धति १३, मनन १४, ऋग्वैदिक शिक्षा के केन्द्र १५, ब्राह्मण-संघ १५, नारी-शिक्षा १६, अन्य वर्णों की शिक्षा १६, सारांश १७, अभ्यासार्थ प्रश्न १८

अध्याय ३

उत्तर वैदिक शिक्षा (उपनिषद्-काल)

पुरोहित-प्रणाली का विकास १६, ब्राह्मण साहित्य २१, आरण्यक २२, उपनिषद् २२, शिक्षा का उद्देश्य २४, उपनयन २४, पाठ्यविषय २६, अध्यापन-प्रणाली २७, छात्र-दिनचर्या २८, व्यावहारिक शिक्षा २६, मानसिक शिक्षा २६, नैतिक शिक्षा ३०, अध्ययन-काल ३१, गुरु और छात्र का सम्बन्ध ३२, गुरु का गौरवास्पद स्थान ३४, शिक्षा-प्रसार के लिए संस्थायें ३६, शाखा ३६, चरण ३७, परिषद् ३७, गोत्र अथवा कुल ३७, समावर्तन-उपदेश ३८, नारी-शिक्षा ४०, अन्य वर्णों की शिक्षा ४१, सारांश ४३, अभ्यासार्थ प्रश्न ४४

अध्याय ४

सूत्रकालीन शिक्षा-व्यवस्था (उत्तर वैदिक काल)

विद्यारम्भ अथवा अक्षर-स्वीकरण का नया संस्कार ४६, प्रथम तीन वर्ण के लिए उपनयन-संस्कार का महत्त्व ४६, पाठ्य विषय ४८, अध्यापन-पद्धति ४६,

अनुशासन और दण्ड ५२, शिक्षा-शुल्क ५३, सह-शिक्षा ५४, शिक्षा-सत्र ५५, अध्ययन-काल ५६, नारी-शिक्षा ५६, परिषद् ५८, समावर्तन ६०, सारांश ६१, अभ्यासार्थ प्रश्न ६४

अध्याय ५

महाकाव्य, व्याकरण साहित्य तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शिक्षा

(क) रामायण और महाभारत : (१) ब्राह्मणों और क्षत्रियों की शिक्षा: ब्राह्मणों की शिक्षा ६६, क्षत्रियों की शिक्षा ६७, (२) स्त्री-शिक्षा ६७, (३) कुछ प्रमुख आश्रम: प्रयाग ६८, अयोध्या ६८, नैमिष ६८, कण्व का आश्रम ६८, वसिष्ठ तथा विश्वमित्र के आश्रम ६९, व्यासमुनि का आश्रम ६९, (४) आश्रमों की व्यवस्था ६९, (ख) व्याकरण साहित्य : (१) शिक्षण पद्धति ६९, (२) अध्यापक और विद्यार्थी ७०, (३) शिक्षकों के भेद ७१, (४) पाठ्य विषय ७२, (५) जन-शिक्षा ७३, (६) स्त्री-शिक्षा ७३, (७) विशेषीकृत शिक्षा ७३, (ग) कौटिल्य का अर्थशास्त्र : (१) छात्रों का कर्तव्य ७४, (२) प्रारम्भिक शिक्षा ७४, (३) विशेषीकृत शिक्षा ७४, (४) राजकुमारों की शिक्षा ७४, स्त्रियों की सैनिक शिक्षा ७५, सारांश ७५, अभ्यासार्थ प्रश्न ७८

अध्याय ६

बौद्ध शिक्षा का सामान्य रूप

परिचय: बौद्धधर्म ७९, बौद्धशिक्षा-पद्धति और ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति: समानता ८१, विभिन्नता ८१, शिक्षा-संगठन का प्रारम्भिक रूप: भूमिका ८२, संघ-प्रवेश ८२, पब्बजा (प्रव्रज्या) ८३, उपसम्पदा ८४, गुरु का कर्तव्य ८४, छात्र की दिनचर्या ८५, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध ८५, निष्कासन ८६, छात्रों की संख्या तथा निवास-स्थान ८६, अध्यापन-पद्धति ८७, मौखिक ८८, विद्वत्सभा ८९, एकान्त साधन ९०, जन-सामान्य की शिक्षा ९०, विहार ९४, स्त्री शिक्षा ९४, व्यावसायिक शिक्षा ९५, औषधि ९६, सारांश ९७, अभ्यासार्थ प्रश्न ९९

अध्याय ७

बौद्ध शिक्षा-पद्धति की प्रौढ़ता

चीनी यात्रियों के अनुसार बौद्ध शिक्षा : (१) फाहियान १०२, प्रमुख शिक्षा-केन्द्र १०३, शिक्षा-पद्धति १०४, पाठ्य विषय १०४, संगठन १०५, (२)

ह्युएनत्सांग १०५, शिक्षण-पद्धति १०६, पाठ्य विषय १०८, बौद्ध शिक्षा-केन्द्र १०८, (३) ईत्सिंग ११२, प्राथमिक शिक्षा ११२, उच्च शिक्षा ११३, सारांश ११४, अभ्यासार्थ प्रश्न ११५

अध्याय ८

प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप और विशेषताएँ

शिक्षा-व्यवस्था ११८, शिक्षण-पद्धति ११९, पाठ्य विषय १२०, व्याख्या १२१, सारांश १२२, अभ्यासार्थ प्रश्न १२३

अध्याय ९

व्यावसायिक शिक्षा का रूप

चिकित्सा-शिक्षा १२५, चिकित्सा-शिक्षा की व्यवस्था १२५, समावर्तन १२६, सैनिक शिक्षा १२७, औद्योगिक शिक्षा १२९, (१) शिष्य के लिए निर्धारित नियम १२९, (२) शिक्षक के लिए निर्धारित नियम १३०, श्रेणी १३१, सारांश १३२, अभ्यासार्थ प्रश्न १३४,

अध्याय १०

विश्वविद्यालय और शिक्षा केन्द्र

(१) बनारस १३५, (२) तक्षशिला १३५, (३) नालन्दा १३७, (अ) शिक्षक १३९, (ब) निःशुल्क शिक्षा १४०, (स) पाठ्य विषय १४१, (द) अध्यायन-पद्धति ४१, (ध) प्रबन्ध १४२, (न) पुस्तकालय १४३, (४) विक्रमशिला १४३, (५) वल्लभी १४४, (६) ओदन्तपुरी १४५, (७) जगद्दली १४५, (८) नदिया १४६, (९) मिथिला १४७, सारांश १४८, अभ्यासार्थ प्रश्न १५०

अध्याय ११

मठ-विद्यालय और उनकी शिक्षा

(१) एन्नारियम् १५१, (२) सलोतिग १५२, (३) तिरुभुक्कुदल १५३, (४) मलकपुरम् मठ-विद्यालय १५३, (५) तिरुवोर्रियूर विद्यालय १५४, (६) अन्य मठ-विद्यालय १५४, (७) अग्रहार १५५, (अ) सर्वज्ञपुर अग्रहार १५५, (ब) कादिपुर अग्रहार १५५, (८) टोल १५६, सारांश १५६, अभ्यासार्थ प्रश्न १५८

अध्याय १२

प्राचीन भारतीय शिक्षा की समालोचना

गुण १५६, दोष १६१, उपसंहार १६१, सारांश १६३, अभ्यासार्थ प्रश्न १६४

द्वितीय खण्ड: मध्य काल

अध्याय १३

मुस्लिम कालीन शिक्षा का सामान्य रूप

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना १६५, भारत में मुस्लिम कालीन शिक्षा का सामान्य रूप : प्राचीन भारतीय शिक्षा-संस्थाओं का विनाश १६७, फारसी का आधिपत्य १६७, शिक्षा सम्राटों के इशारे पर १६७, मस्जिद, मकतब और मदरसों के निर्माण की प्रवृत्ति १६८, विद्वन्मण्डली द्वारा ज्ञान-प्रसार १६६, दीन विद्यार्थियों के लिए सुविधा १६६, भारतीय शिक्षा की प्रमुख धारा जीवित १६६, धार्मिक दृष्टिकोण १७०, शिक्षा की साधारण रूपरेखा : मुस्लिम शिक्षा-संस्थायें १७०, मकतब की कार्य-प्रणाली १७१, मदरसों की कार्य-प्रणाली १७२, शिक्षक १७२, विशेष १७३, सारांश १७४, अभ्यासार्थ प्रश्न १७५

अध्याय १४

मुस्लिम सुलतान और शिक्षा

(सन् १२०६-१५६० ई०)

गुलाम वंश : कुतुबुद्दीन १७७, अलतमश १७७, रजिया १७८, नासिरुद्दीन १७८, बलबन १७८, खिलजी वंश १७६, तुगलक वंश : गियासुद्दीन तुगलक १८०, मुहम्मद तुगलक १८०, फीरोज तुगलक १८१, सैयद वंश १८२, लोदी वंश: बहलोल लोदी १८२, सिकन्दर लोदी १८३, सारांश १८३, अभ्यासार्थ प्रश्न १८४

अध्याय १५

छोटे-छोटे मुस्लिम राज्यों में शिक्षा की प्रगति

बीजापुर राज्य १८५, बहमनी राज्य १८५, खानदेश १८६, गोलकुण्डा १८६, बंगाल १८७, जौनपुर १८७, मालवा १८८, सारांश १८८, अभ्यासार्थ प्रश्न १८९

अध्याय १६

मुगल काल में शिक्षा की प्रगति

बाबर १९०, हुमायूँ १९१, अकबर: राज्य-दरबार १९१, शिक्षा में उदारता १९२, शिक्षा-प्रणाली १९२, साहित्य-सृजन १९२, सामूहिक शिक्षा-प्रसार सम्बन्धी प्रयास १९३, जहाँगीर १९३, शाहजहाँ १९४, औरंगजेब १९५, औरंगजेब के उत्तराधिकारी शासक १९५, सारांश १९६, अभ्यासार्थ प्रश्न १९७

अध्याय १७

मुस्लिम शिक्षा के कुछ प्रमुख केन्द्र

दिल्ली १९८, आगरा २००, बीदर २०१, जौनपुर २०१, मालवा २०२, सारांश २०२, अभ्यासार्थ प्रश्न २०३

अध्याय १८

मुस्लिम काल में शिक्षा का संगठन, विशिष्ट शिक्षाएँ, साहित्य और संस्कृति

सामान्य परिचय २०४, मकतब: विद्यारम्भ २०४, पाठ्य-क्रम २०५, मदरसा: पाठ्य-क्रम २०६, अध्यापन विधि २०८, परीक्षायें २०९, गुरु-शिष्य सम्बन्ध २०९, अनुशासन और दण्ड-विधान २१०, पुरस्कार २११, छात्रालय २११, मुस्लिम काल की कुछ विशिष्ट शिक्षायें: सैनिक शिक्षा २१२, ललित कलायें २१२, हस्त-कलायें २१३, नारी-शिक्षा २१४, मुस्लिम काल में साहित्य का विकास: इतिहास-प्रेम २१५, कला-प्रेम २१६, मुस्लिम काल में सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावनायें २१६, सारांश २१७, अभ्यासार्थ प्रश्न २१९

अध्याय १९

मुस्लिम शिक्षा की समालोचना

गुण: शिक्षा की अनिवार्यता २२०, व्यक्तिगत सम्पर्क २२१, व्यावहारिकता २२१, धार्मिक एवं सांसारिक शिक्षा का समन्वय २२१, सरस साहित्य व इतिहास का विकास २२२, निःशुल्क शिक्षा २२२, अन्य विशेषतायें २२३, दोष: अरबी व फारसी भाषाओं का प्राधान्य २२३, लेखन व पाठन की असमानता २२३, दृष्टि-

कोण अधिक सांसारिक २२४, शिक्षालय अस्थायी २२४, शिक्षा की व्यापकता का अभाव २२४, नारी-शिक्षा की अवहेलना २२५, अन्य दोष २२५, सामान्ये २२५, सारांश २२६, अभ्यासार्थ प्रश्न २२७

अध्याय २०

मध्य काल में हिन्दू शिक्षा

शिक्षा का स्वरूप २२६, हिन्दू शिक्षा का स्तर और उसके विषय २२६, मध्यकालीन हिन्दू शिक्षा और भाषायें २३०, शिक्षा-प्रसार, साहित्यकार और सृजन २३०, उपसंहार २३१, सारांश २३१, अभ्यासार्थ प्रश्न २३२

तृतीय खण्ड : वर्तमान काल

अध्याय २१

विषय-प्रवेश

प्रथम काल (१७०० से १८१३ तक) २३४, द्वितीय काल (१८१३ से १८५४ तक) २३६, सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार २३८, शिक्षा का उद्देश्य २३८, शिक्षा-विभाग २३८, तृतीय काल (१८५४ से १६०० तक २३६, चतुर्थ काल (१६०१ से १६२१ तक), पंचम काल (१६२१ से १६४७ तक) २४१, षष्ठम् काल (१६४७ से अब तक) २४२, सारांश २४३, अभ्यासार्थ प्रश्न २४५

अध्याय २२

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में

प्राथमिक शिक्षा : बम्बई २४७, मद्रास २४८, बंगाल २५०, उच्च शिक्षा २५१ नारी-शिक्षा २५४, देशी शिक्षा की अवनति के कारण २५६, सारांश २५६, अभ्यासार्थ प्रश्न २६१

अध्याय २३

प्रारम्भिक मिशनरी प्रयास

पुर्तगाली २६३, डच २६४, फ्रान्सीसी २६५, ईस्ट इण्डिया कम्पनी २६७, सारांश २६८, अभ्यासार्थ प्रश्न २६६

अध्याय २४

ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रारंम्भिक शिक्षा-कार्य (स्थापना-काल से १८३३ तक)

बंगाल की दीवानी के बाद शिक्षा-नीति २७४, कलकत्ता मदरसा २७४, पाठ्य विषय २७५, बनारस संस्कृत कालेज २७६, शिक्षा-नीति पर संसद के आन्दोलन का प्रभाव २७८, चार्ल्स ग्राण्ट २७९, भारत की शिक्षा में प्राच्यवादी नीति २८१, सन् १८१३ ई० का आज्ञापत्र २८३, सन् १८१३-१८३३ ई० में शिक्षा-प्रगति २८३, राजकीय प्रयत्न २८५, बंगाल २८६, राजा राममोहन राय का मत २८६, सारांश २८८, अभ्यासार्थ प्रश्न २९०

अध्याय २५

प्राच्य-पाश्चात्य विवाद और निस्यन्दन-सिद्धान्त

प्राच्यवादी नीति के समर्थक २९१, पाश्चात्य नीति के समर्थक २९२, मैकाले तथा पाश्चात्यवादी दल २९३, बैंटिंक की स्वीकृति २९५, भारतीय शिक्षा को मैकाले की देन २९७, लार्ड आकलैण्ड और प्राच्य-पाश्चात्य विवाद की समाप्ति २९९, ऐडम और आकलैण्ड की शिक्षा-नीति में विरोध ३०१, प्राच्य भाषाओं के विद्यालयों के प्रति आकलैंड की उदासीनता ३०२, निस्यन्दन-सिद्धान्त ३०३, निस्यन्दन सिद्धांत की असफलता ३०४, सारांश ३०५, अभ्यासार्थ प्रश्न ३०७

अध्याय २६

सन् १८३५ से १८५३ तक की शिक्षा

मद्रास ३०८, बम्बई ३०९, बंगाल ३१२, लार्ड हार्डिंज ३१३, लार्ड डलहौजी ३१४, उत्तर-पश्चिम प्रदेश ३१५, पंजाब ३२०, व्यावसायिक शिक्षा ३२०, कुछ अंग्रेजों तथा भारतीयों का शिक्षा में योग : पैट्न ३२५, बेथ्यून ३२५, डेविड हेयर ३२७, एलफिंस्टन ३२८, भारतीय प्रयास ३२९, राजा राममोहन राय ३३०, जगन्नाथ शंकरसेत ३३१, फूले ३३२, सारांश ३३३, अभ्यासार्थ प्रश्न ३३५

अध्याय २७

वुड का शिक्षा-घोषणा-पत्र (सन् १८५४ ई०)

कम्पनी का नया आज्ञा-पत्र ३३६, आज्ञा-पत्र के सुझाव ३३६, घोषणा-पत्र का मूल्यांकन ३४५, सारांश ३५०, अभ्यासार्थ प्रश्न ३५२

अध्याय २८

सन् १८५४ से १८८२ ई० तक शिक्षा की प्रगति

प्राथमिक शिक्षा ३५४, माध्यमिक शिक्षा ३६०, स्टैनले का आज्ञा-पत्र ३६२, विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा ३६३, विश्वविद्यालय का प्रबन्ध ३६४, विश्वविद्यालयों का उद्देश्य ३६४, आलोचना ३६४, स्त्री-शिक्षा ३६८, सह-शिक्षा ३७१, पाठ्य-क्रम ३७१, व्यावसायिक शिक्षा ३७२, शिक्षा-विभागों का निर्माण और विकास ३७५, शिक्षा-अनुदान-पद्धति का विकास ३७७, शिक्षा-प्रसार के साधनों का भारतीयकरण ३७८, धार्मिक शिक्षा ३८०, मुसलमानों की शिक्षा ३८०, पिछड़ी जातियों की शिक्षा ३८६, आदिवासी और पहाड़ियों की शिक्षा ३८७, सारांश ३८८, अभ्यासार्थ प्रश्न ३९१

अध्याय २९

भारतीय शिक्षा-आयोग (१८८२ ई०)

कारण ३९२, नियुक्ति ३९३, उद्देश्य ३९३, प्राथमिक शिक्षा ३९४, देशी विद्यालय ३९८, माध्यमिक शिक्षा ३९९, प्रशिक्षण-विद्यालय ४०१, उच्च शिक्षा ४०१, सहायता-अनुदान-प्रथा ४०२, शिक्षा-विभाग ४०३, शिक्षा-साधनों के भारतीयकरण के सम्बन्ध में आयोग के सुझाव ४०४, धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में सिफारिशें ४०६, स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी सुझाव ४०६, मुस्लिम शिक्षा सम्बन्धी सिफारिशें ४०८, पिछड़ी जातियों की शिक्षा ४१०, आदिवासियों तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा के लिए सुझाव ४११, धर्म-प्रचारक और आयोग ४११, विशिष्ट शिक्षा का आयोजन ४१२, भारतीय शिक्षा-आयोग का मूल्यांकन ४१२, सारांश ४१३, अभ्यासार्थ प्रश्न ४१५

अध्याय ३०

सन् १८८२ से १९०२ तक शिक्षा की प्रगति

प्राथमिक शिक्षा ४१६, माध्यमिक शिक्षा ४१७, विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा ४१९, स्त्री-शिक्षा ४२३, व्यावसायिक शिक्षा ४२४, शिक्षा-विभाग की सेवा में सुधार ४२८, शिक्षा-अनुदान-पद्धति में सुधार ४२९, शिक्षा-प्रसार के साधनों का भारतीयकरण ४२९, धार्मिक शिक्षा ४३०, मुसलमानों की शिक्षा ४३०, पिछड़ी जातियों की शिक्षा ४३१, आदिवासी तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा ४३३, मिशनरी प्रयास ४३४, सारांश ४३४, अभ्यासार्थ प्रश्न ४३७

अध्याय ३१

कर्जन की शिक्षा-नीति

जीवन और कार्य ४३८, लार्ड कर्जन के समय देश की दशा ४४०, लार्ड कर्जन और प्राथमिक शिक्षा ४४१, माध्यमिक शिक्षा ४४४, विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा ४४९, भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन १९०२,४५०, भारतीय विश्वविद्यालय कानून सन् १९०४ ई०, ४५१, कर्जन के शिक्षा-सम्बन्धी अन्य सुधार ४५५, —कृषि शिक्षा ४५५, कला की शिक्षा ४५६, टेकनिकल शिक्षा ४५७, नैतिक शिक्षा ४५७, शिक्षा को कर्जन की देन ४५८, सारांश ४५९, अभ्यासार्थ प्रश्न ४६१

अध्याय ३२

स्वदेशी आन्दोलन और शिक्षा-प्रगति (१९०५-१९२०)

कर्जन के पश्चात् भारतीय शिक्षा की दशा ४६२, आन्दोलन का प्रभाव ४६३, गोखले का विधेयक ४६४, भारत सरकार की १९१३ ई० की शिक्षा-नीति ४६६, कलकत्ता विश्वविद्यालय-कमीशन ४६९, सन् १९०५ से १९२० तक शिक्षा की प्रगति : प्राथमिक शिक्षा ४७४, माध्यमिक शिक्षा ४८३, विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा ४८६, स्त्री-शिक्षा ४९०, व्यावसायिक शिक्षा ४९४, शिक्षा-विभाग ४९५, राष्ट्रीय शिक्षा-भावना का विकास ४९६, मुसलमानों की शिक्षा ५०३, हरिजनों की शिक्षा ५०४, आदिवासियों तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा ५०६, सारांश ५०७, अभ्यासार्थ प्रश्न ५१०

अध्याय ३३

द्वैध शासन में शिक्षा-प्रगति (१९२१-३७)

माण्टफोर्ड सुधार ५११, हर्टाग समिति ५१३, प्राथमिक शिक्षा ५१४, माध्यमिक शिक्षा ५१९, उच्च शिक्षा ५२२, स्त्री-शिक्षा ५२७, हरिजनों की शिक्षा ५३१, मुसलमानों की शिक्षा ५३४, आदिवासियों की शिक्षा ५३५, वयस्क साक्षरता ५३६, व्यावसायिक शिक्षा ५३८, कानून की शिक्षा ५३९, चिकित्सा की शिक्षा ५३९, इंजीनियरिंग की शिक्षा ५४०, कृषि-शिक्षा ५४० पशु-चिकित्सा-शिक्षा ५४२, वन-विज्ञान-शिक्षा ५४३, टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा ५४३, राष्ट्रीय शिक्षा ५४५, शिक्षा विभाग ५४७, सारांश ५४८, अभ्यासार्थ प्रश्न ५५१

अध्याय ३४

सन् १९३७ से वर्तमान तक की शिक्षा-नीति (१९३७-४७ तक)

स्वतन्त्रता की प्राप्ति ५५४, स्वतन्त्र भारत की विकट परिस्थितियाँ ५५६, स्वतन्त्र भारत में शिक्षा-नीति ५५८, शिक्षा के प्रसार एवं पुनर्संगठन की व्यवस्था ५५८, शिक्षण के माध्यम का निर्धारण ५५९, राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी की स्थापना ५५९, केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग की स्थापना ५५९, स्वतन्त्र भारत में शिक्षा-प्रगति ५६०, सारांश ५६५, अभ्यासार्थ प्रश्न ५६७

अध्याय ३५

सन् १९३७-४७ ई० में शिक्षा-प्रगति

केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री समिति ५६८, केन्द्रीय शिक्षा-सूचना कार्यालय ५६८, विश्वविद्यालय अनुदान-समिति ५६९, प्राथमिक शिक्षा ५६९, माध्यमिक शिक्षा ५७१, विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा ५७३, हरिजनों की शिक्षा ५७५, स्त्री-शिक्षा ५७५, मुसलमानों की शिक्षा ५७६, ऐब्बॉट-उड रिपोर्ट ५७७, व्यावसायिक शिक्षा ५७९, कानून की शिक्षा ५७९, चिकित्सा की शिक्षा ५७९, व्यापारिक शिक्षा ५८०, कृषि की शिक्षा ५८०, इंजीनियरिंग की शिक्षा ५८१, टेकनिकल की शिक्षा ५८१, वयस्क की शिक्षा ५८३, सारांश ५८८, अभ्यासार्थ प्रश्न ५९१

अध्याय ३६

बेसिक शिक्षा (वर्धा-शिक्षा-योजना)

बेसिक शिक्षा की विशेषतायें : शिक्षा का माध्यम बेसिक क्राफ्ट ५९३, नागरिकता के गुणों का विकास ५९४, आत्म-निर्भरता की भावना ५९५, बालक शिक्षा का केन्द्र ५९६, सुसम्बद्ध एवं पूर्ण ज्ञान ५९७, शिक्षक एवं बालकों को कार्य करने की स्वाधीनता ५९८, पाठ्यक्रम ५९९, अध्यापकों का प्रशिक्षण ६००, शिक्षण-विधि ६००, बेसिक शिक्षा-योजना की प्रगति ६०१, बेसिक शिक्षा में कतिपय परीक्षण ६१०, प्रथम पंचवर्षीय योजना में बेसिक शिक्षकों का प्रशिक्षण ६२०, बेसिक शिक्षा सम्बन्धी कुछ समस्यायें ६२१, सारांश ६२४, अभ्यासार्थ प्रश्न ६२७

अध्याय ३७

सार्जेन्ट शिक्षा-योजना

समीक्षा ६३१, योजना के कुछ प्रतिवेदनों का कार्यान्वयन ६३२, सारांश ६३३, अभ्यासार्थ प्रश्न ६३३

अध्याय ३८

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की समालोचना

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के गुण : अहित की अपेक्षा हित अधिक ६३४, अंग्रेजी शिक्षा की स्थापना तथा भारत की परिस्थिति ६३५, अंग्रेजी शिक्षा तथा भारत का प्राचीन गौरव और साहित्य ६३५, अंग्रेजी शिक्षा और भारतीय भाषायें ६३६, अंग्रेजी शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता का प्रस्फुटन ६३६, अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के दोष: भारतीयों की आवश्यकता के विरुद्ध शिक्षा-पद्धति का होना ६३८, अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के प्रसार को गलत रीतियाँ ६३८, शिक्षा का आदर्श भारतीय वातावरण के विपरीत ६३९, अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का राज्याश्रित होना ६३९, प्रशासकीय क्षेत्रों द्वारा शिक्षा-विभाग की उपेक्षा ६४०, सारांश ६४०, अभ्यासार्थ प्रश्न ६४२

अध्याय ३९

माध्यमिक शिक्षा-आयोग (१९५२-५३)

आयोग की नियुक्ति के पूर्व ६४३, युद्ध के उपरान्त की शिक्षा ६४४, माध्यमिक शिक्षा-आयोग ६४५, आयोग के सामने अन्वेषण के विषय ६४६, आयोग द्वारा परीक्षित वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोष ६४७, आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के निर्दिष्ट उद्देश्य ६४८, माध्यमिक शिक्षा की अवधि ६४९, पाठ्यक्रम म परिवर्तन ६५०, शिक्षा का माध्यम ६५०, पाठ्यक्रम ६५१, पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव ६५१, शिक्षा-प्रणाली ६५२, चरित्र-निर्माण ६५२, शिक्षा-सम्बन्धी पथ-प्रदर्शन ६५२, स्वास्थ्य-सुरक्षा-शिक्षा ६५३, परीक्षायें ६५३, अध्यापक ६५३, प्रशासन ६५४, अर्थ-व्यवस्था ६५५, प्रत्येक सत्र में कार्य एवं अवकाश-दिवस ६५६, विद्यालय-भवन ६५६, आयोग के सुझावों की समीक्षा ६५७, सारांश ६५९, अभ्यासार्थ प्रश्न ६५९

अध्याय ४०

माध्यमिक शिक्षा की कुछ प्रमुख समस्यायें

उद्देश्य ६६०, पाठ्यक्रम ६६२, अनुशासन ६६२, व्यवस्था एवं प्रशासन ६६४, शिक्षा का स्तर ६६५, परीक्षा-प्रणाली ६६६, सारांश ६६७, अभ्यासार्थ प्रश्न ६६८

अध्याय ४१

विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग और उसके बाद

विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग ६६९, विश्वविद्यालय-शिक्षा के उद्देश्य ६७०, शिक्षण के स्तर ६७१, शिक्षक-वर्ग ६७३, स्नातकोत्तर प्रशिक्षण और अनुसन्धान

६७४, पाठ्यक्रम ६७५, व्यावसायिक शिक्षा ६७६, स्त्री-शिक्षा ६७६, धार्मिक शिक्षा ६८०, शिक्षा के माध्यम ६८१, छात्र, उनके कार्य तथा उनके हित ६८२, परीक्षा ६८३, प्रशासन ६८४, अर्थ ६८५, ग्रामीण विश्वविद्यालय ६८६, आयोग के सुझावों की समीक्षा ६८६, केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड की सिफारिशें ६८६, विश्वविद्यालय विधेयक, १९५२, ५९०, सन् १९५२ के विधेयक की समालोचना ६९१, विश्वविद्यालय की उन्नति पर देश की उन्नति निर्भर ६९२, विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग ६९३, सारांश ६९५, अभ्यासार्थ प्रश्न ६९७

अध्याय ४२

पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-पुनर्गठन ६९९, शिक्षा-योजना पर व्यय ७००, शिक्षा-योजना के लक्ष्य ७०१, राज्य में प्रादेशिक स्तर पर योजना-कार्यक्रम ७०२, केन्द्रीय सरकार के कार्यक्रम ७०३, समालोचना ७०५, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-पुनर्गठन ७०६, द्वितीय शिक्षा-आयोजन पर व्यय ७०७, लक्ष्य ७०७, प्राथमिक स्तर ७०९, माध्यमिक स्तर ७१०, बेसिक शिक्षा ७१२, विश्वविद्यालय एवं उच्च शिक्षा-स्तर ७१३, प्राविधिक शिक्षा ७१४, अन्य शैक्षिक योजनाएँ ७१६, समालोचना ७१७, शासन द्वारा शिक्षा-क्षेत्र में अन्य प्रयोग ७१९, भारतीय राष्ट्रीय आयोग ७२०, सारांश ७२०, अभ्यासार्थ प्रश्न ७२२

अध्याय ४३

स्वतन्त्रता के बाद शिक्षा (१९४७-५८)

प्रारम्भिक और बुनियादी शिक्षा ७२३, अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था ७२३, अध्यापकों के वेतन में वृद्धि ७२४, बिहार राज्य में शिक्षकों का वेतन एवं शिक्षा का प्रशासन ७२४, माध्यमिक शिक्षा की प्रगति ७२६, विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रगति ७२७, विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान-कार्य ७३६, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं उसके कार्य ७३८, शिक्षाप्रद एवं सृजनात्मक इतर पाठ्यक्रम के कार्य ७३९, वयस्क अथवा सामाजिक शिक्षा का विकास ७३९, व्यावसायिक एवं विशिष्ट शिक्षा ७४२, विभिन्न क्षेत्रीय संस्थाओं की स्थापना ७४३, स्त्री-शिक्षा का विकास ७४३, शारीरिक एवं व्यायाम-शिक्षा का विकास ७४५, विशिष्ट भारतीय जातियों की शिक्षा-व्यवस्था : आदिम ७४६, अनुसूचित एवं पिछड़ी जाति ७४६, यूरोपियन ७४७, असहायों की शिक्षा की समस्या ७४७, कला एवं सांस्कृतिक शिक्षा का विकास ७४९, शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग ७५०, भारत की युवक-कल्याण-योजना ७५१, सन् १९५६-५८ में शिक्षा की गतिविधि : सामान्य

शिक्षा का विकास ७५१, हिन्दी का विकास ७५४, छात्रवृत्तियाँ ७५४, कला और संस्कृति ७५४, यूनेस्को ७५५, विदेशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध ७५५, समाज तथा बाल-हित ७५६, युवक-हित तथा शारीरिक शिक्षा ७५६, प्रकाशन ७५६, शिक्षा-सम्बन्धी आँकड़े ७५६, अन्य विभाग ७५७, सारांश ७५८, अभ्यासार्थ प्रश्न ७६० ।

अध्याय ४४

हमारी शिक्षा में सुधार-सम्बन्धी समस्यायें

हमारी शिक्षा का उद्देश्य ७६३, हमारे विश्वविद्यालयों के उद्देश्य ७६५, पाठ्यक्रम के पुनर्संगठन की समस्या ७७१, सामान्य शिक्षा की उपादेयता ७७४, उदार शिक्षा की उपादेयता ७७५, व्यावसायिक शिक्षा की उपादेयता ७७५, छात्रों में अनुशासनहीनता ७७७, परीक्षा-पद्धति की समस्या ७८०, भारतीय शिक्षा का नियन्त्रण तथा प्रबन्ध ७८३, स्त्री-शिक्षा की समस्या ७८७, शिक्षा के माध्यम की समस्या ७८९, सारांश ७९०, अभ्यासार्थ प्रश्न ७९३

अध्याय ४५

उत्तर प्रदेश में शिक्षा (१९३९-५८)

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति, यू० पी० (१९३९) ७९६, समिति की सिफारिशें ७९७, पूर्व प्राथमिक अथवा शिशु-शिक्षा (नर्सरी शिक्षा) ७९९, प्राथमिक तथा बेसिक शिक्षा ८००, जूनियर हाई स्कूल में शिक्षा की पुनर्व्यवस्था-योजना ८०४, माध्यमिक शिक्षा ८१२, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-योजना ८१५, द्वितीय आचार्य नरेन्द्रदेव समिति (१९५२-५३) ८२०, उच्च-शिक्षा ८२८, विश्वविद्यालयों की रूपरेखा, प्रशासन एवं कार्य ८२९, मूल्यांकन ८३१, शिक्षकों की दशा में सुधार का प्रयत्न ८३२, प्रशिक्षण-विद्यालय ८३५, विशेष संस्थायें ८३७, विशिष्ट लोगों की शिक्षा ८३९, संगीत एवं ललित कला ८४०, हरिजनों तथा विस्थापित छात्रों की शिक्षा ८४०, हिन्दी को प्रोत्साहन ८४१, प्रौढ़ एवं सामाजिक शिक्षा ८४१, प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा ८४२, स्त्री-शिक्षा ८४४, सारांश ८४६, अभ्यासार्थ प्रश्न ८४६ ।

अनुक्रमणिका

प्राचीन और मध्यकाल ८५१
वर्तमान काल ८५५

सहायक पुस्तकों की सूची

प्राचीन काल ८६३
मध्यकाल ८६४
वर्तमान काल ८६४
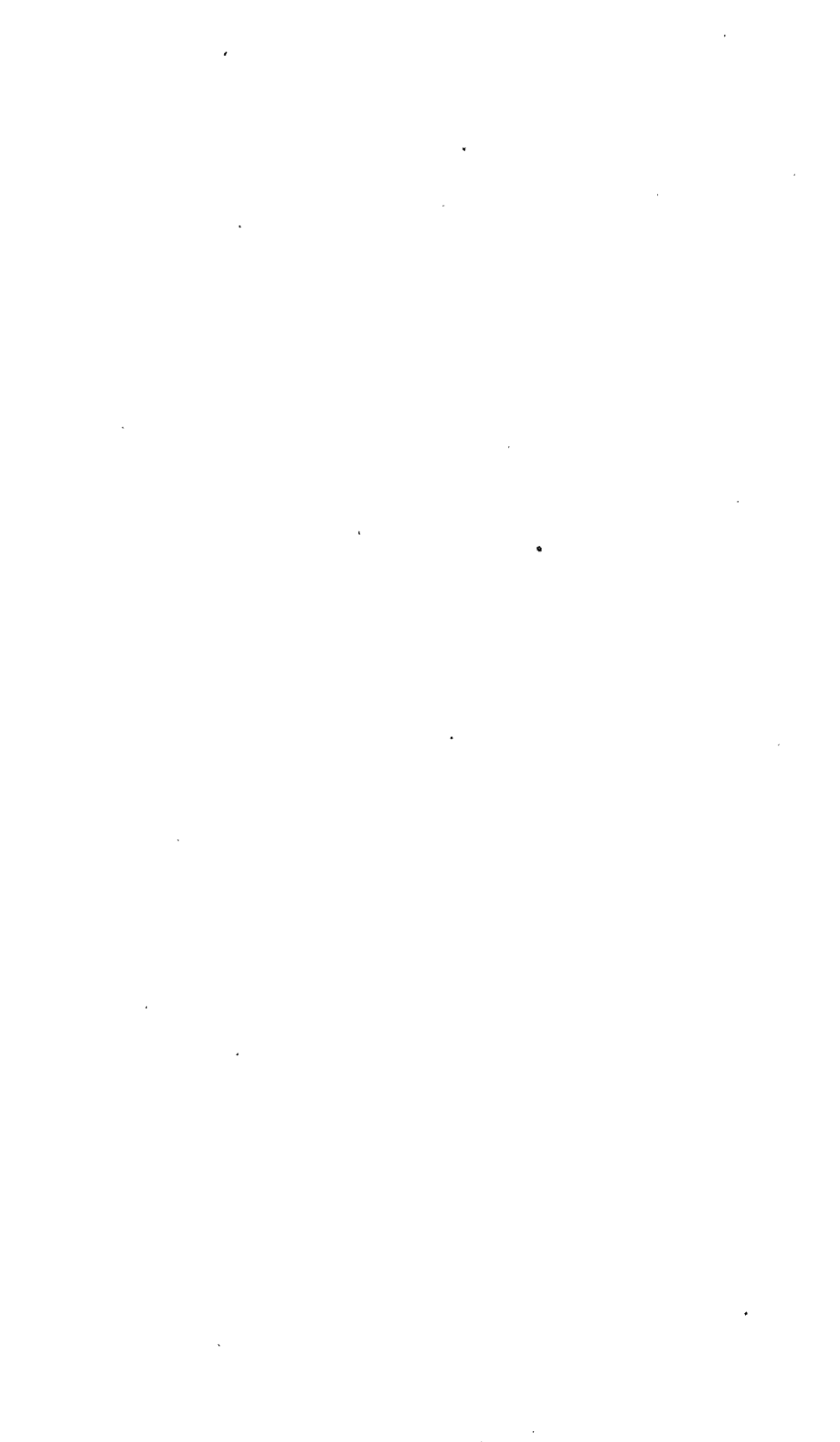
अध्याय १

विषय-प्रवेश

प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन

वेद से विकसित

भारतीय जीवन-दर्शन के आदि स्रोत वेद हैं। वेदों द्वारा न केवल भारतीय जीवन-दर्शन का, अपितु भारतीय संस्कृति का भी पूर्ण परिचय प्राप्त किया जा सकता है। विश्व-साहित्य में वेदों की गणना सबसे प्राचीन ग्रन्थों में की जाती है। ये वद ही भारतीय जीवन के प्रतिष्ठापक, प्राण-प्रदाता तथा जीवन-सुधा हैं। फलतः समस्त भारतीय वाङ्मय, दर्शन, उपनिषद्, स्मृतियाँ एवं पुराण आदि वेदों की महत्ता के समक्ष श्रद्धा से नत-मस्तक हैं। धर्म के समस्त तत्वों का निरूपण इन वेदों में ही विशद् रूप से चित्रित किया गया है। अतः यदि वेदों को भारतीय जीवन का प्राण तथा आत्मा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इन वेदों में ही मानवीय जीवन का वर्चस्व सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक सुरक्षित है। अतः प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन को समझने के लिए वेदार्थ का परिचय अत्यन्त आवश्यक है। कहना न होगा कि यह वेदार्थ ही प्राचीन भारतीय जीवन-दर्शन का परिचायक है।

जहाँ तक वेद शब्द की निष्पत्ति का सम्बन्ध है, वेद शब्द 'विद्' सत्तायाम्, 'विद्लृ' लाभे, 'विद्' विचारणे तथा 'विद्' ज्ञाने इन चार धातुओं से ही निष्पन्न किया जा सकता है। मानवीय जीवन में सबसे प्रथम भौतिक साधन सम्पत्ति की उपलब्धि के लिए तथा विश्व में अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए जिन गुणों की अर्चना आवश्यक है, उसका उल्लेख विद् सत्तायाम् धातु में मूलरूप में अन्तर्निहित है। मानवीय जीवन की वास्तविक सत्ता शक्ति के अर्जन में है। एतदर्थ आश्रमों में सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम की प्रतिष्ठा की गई है। जीवन के इस प्रथम चरण अथवा प्रथम आश्रम में व्यक्ति का शरीर, प्राण तथा मन साधना तथा तितिक्षा द्वारा गृहस्थ आश्रम के लिए उपादेय सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यह प्रथम

आश्रम ही व्यक्ति के भावी जीवन का प्रतिष्ठापक है और इसी को जीवन-निर्माण की कुंजी माना गया है। विद् सत्तायाम् धातु से सम्पन्न वेद शब्द इसी को लक्षित करता है।

'विद्लृ लाभे' धातु से सम्पन्न वेद शब्द सृष्टि के उस अस्तित्व तथा तत्व का निरूपण करता है जिसके द्वारा व्यक्ति का ऐहिक जीवन परोपकार-रत तथा पारलौकिक जीवन परम पुरुषार्थ को प्राप्त कराने वाला माना गया है। जीवन के प्रथम चरण में अर्जित वर्चस्व का, जीवन के इस द्वितीय चरण-रूप गृहस्थ आश्रम में, भोग करते हुए मानव अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके विश्वात्मा की पावन झलक देखने में समर्थ होता है। इसीलिए मनीषी विद्वानों ने गृहस्थ आश्रम को सबसे प्रधान आश्रम मानते हुए प्रकृति का वैज्ञानिक विधान घोषित किया है। भारतीय संस्कृति के पावन ग्रन्थ महाभारत में ब्रह्मचर्य-सम्पन्न व्यक्ति के वैवाहिक विचार को दीप्त निर्णय अथवा पावन संकल्प कहा गया है। फलतः मानव गृहस्थ धर्म में लाभ की ही कामना, जिसको अर्थ की कामना भी कहा जा सकता है, विशेष रूप से करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। परन्तु उसकी यह कामना धर्ममूलक होने के कारण परमार्थ की साधिका होती है, स्वार्थ की नहीं। इसीलिए गृहस्थ के ऊपर तीनों आश्रमों का भार रक्खा गया है। वेदों में भी गृहस्थ के लिए सौ हाथ से कमाने तथा हजार हाथों से खर्च करने का आदेश दिया गया है। साथ ही गृहस्थाश्रम को जीवन रूपी यज्ञ की वेदी माना गया है। संक्षेप में व्यवस्थित सर्वांगीण विकासशील जीवन की संज्ञा ही गृहस्थ है और विद्लृ लाभे से सम्पन्न वेद शब्द इसी की ओर इंगित करता हुआ प्रतीत होता है।

'विद् विचारणे' धातु से सम्पन्न वेद शब्द व्यक्ति के बौद्धिक एवं मानसिक विकास का द्योतक है। ब्रह्मचर्य व्रत से अर्जित वर्चस्व द्वारा गृहस्थाश्रम में भौतिक सुख-सामग्री का उपभोग कर श्रान्त और क्लान्त व्यक्ति जब अपने को शक्तिहीन सा अनुभव करता है, तब उसको पुनः शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। शक्ति के अर्जन के लिए शारीरिक शक्ति के अनुभव में इस समय उसके विचार ही उसके सहायक होते हैं। अतः उसे पुनः सावधानी के साथ एक ओर तो पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य व्रत की कठिन साधना करने का तथा दूसरी ओर अपने अर्जित अनुभव के आधार पर आत्मतत्व की जिज्ञासा के हेतु हाथों में समिधा लेकर गुरु के पास जाने का आदेश दिया गया है। गुरु अपनी एकान्तनिष्ठा से प्राप्त अनुभवों के द्वारा उसके मानसिक तथा बौद्धिक विकास की प्रक्रिया पर पूर्ण ध्यान देकर उसका आत्म-चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करता हुआ गुरु-ऋण से उऋण होता है। संक्षेप में

विद् विचारणे धातु से सम्पन्न वेद शब्द की मानवीय जीवन में यही सार्थकता है।

'विद् ज्ञाने' धातु से ही निष्पन्न वेद शब्द मानव को उसके परम पुरुषार्थ अथवा मोक्ष का दिग्दर्शन कराता है। मानव अपनी इस चौथी अवस्था से संन्यास आश्रम में दीक्षित होकर अपनी विकसित प्रतिभा द्वारा ("रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति" अर्थात् परमात्मा प्रेम रूप है) उस परमात्मा के असीम प्रेम को प्राप्त करके ही पारमार्थिक आत्मानन्द की चरम सीमा को अनुभव करने में समर्थ हो सकता है। संक्षेप में विद् ज्ञाने धातु से सम्पन्न वेद शब्द की मानवीय जीवन में उसके पूर्ण विकास की यही चरम सर्वांगपूर्ण परिणति है। फलतः उपर्युक्त वेदार्थ पर विचार-विमर्श के पश्चात् अनायास ही यह लक्षित होता है कि वेद स्वयं ही मानवीय जीवन के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम का विधान करते हैं। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट है कि उपर्युक्त चारों आश्रमों के सम्यक् परिपालन द्वारा ही मानव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में स्वाभाविक रूप से सफल होता है।

धर्म का प्रतिरूप

उपर्युक्त वेदार्थ-विवेचन द्वारा यह स्पष्ट मालूम होता है कि भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान-गरिमा के भांडारभूत वेद जब स्वयं ही अपने में मानवीय जीवन की विशिष्ट धार्मिक भावनाओं को गुम्फित किये हुए हैं तो उनकी शिक्षा के अनुसार आचरण करने वाले भारतीयों का जीवन कैसा होगा। स्पष्ट है कि भारतीय जीवन भी धर्म के ताने-बाने से ही निर्मित होगा। अतः भारतीय जीवन धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता की पवित्र भावनाओं से सदैव ही समन्वित रहा है। भारतीय जीवन का स्वस्तिक ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास आदि चारों आश्रमों की चार-चार भुजाओं से पूरा-पूरा बनता है। अतः भारतीय जीवन-दर्शन को तथा भारतीय संस्कृति को धर्म का ही प्रतिरूप कहा जा सकता है।

उपर्युक्त वेद के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि भारतीय जीवन वेद-प्रतिपादित धर्म तथा आचार-व्यवस्था का दर्पण है। 'विद्' शब्द स्वयं इतना पूर्ण तथा व्यापक अर्थ का द्योतक है कि उसका सम्यक् विवेचन इस स्थल पर असम्भव ही है। सामान्यतः वेद शब्द का अर्थ 'जानो' होता है। व्यक्ति को क्या जानना है और क्या नहीं?—यही मानवीय जीवन की शिक्षा है। इस शिक्षा का सुन्दर

दिग्दर्शन भी वेदों में विशद् रूप में चित्रित हुआ है। इसके लिए ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम-पद्धतियों का निर्माण हुआ है। स्वयं वेदों में ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान का विधान भी ज्ञेय को जानने के लिए ही किया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में ही मनुष्य को इसका बोध कराने के लिए यज्ञोपवीत संस्कार के समय आचार्य 'त्वं ब्रह्मचारी असि' यह उपदेश देकर मानवीय जीवन का लक्ष्य 'ब्रह्म के निमित्त अर्थात् ब्रह्म का आत्म-साक्षात्कार करने के निमित्त 'विशाल विश्व में विचरण करो' यह आदेश देता है। फिर आजीवन ब्रह्म में आत्म-साक्षात्कार करने के लिए ही उसको आत्म-विकास की प्रक्रिया का उपदेश देता है।

ज्ञान, कर्म और उपासना ही ब्रह्म-प्राप्ति की प्रक्रियायें हैं और ये ही धर्म के तीन स्कन्ध हैं। 'धर्म' सम्यक् ज्ञान, सम्यक् कर्म तथा सम्यक् उपासना पर ही आश्रित है। धर्म के प्रथम स्कन्ध सम्यक् ज्ञान की आराधना के लिए ही आचार्य शिष्य को अन्तेवासी के रूप में मातृवत् अपने आश्रय रूपी गर्भ में लेता है। साथ ही आचार्य 'मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु' अर्थात् मेरे चित्त के अनुसार ही तुम्हारा चित्त हो अन्तेवासी से यह कामना करता हुआ गर्भगत शिशु की भाँति मातृवत् ही उसका पूर्ण ध्यान रखता है। जीवन के प्रथम चरण-रूप ब्रह्मचर्याश्रम म ही आचार्य छात्र की ब्रह्म-विषयक भावना को इतना दृढ़ बना देता है कि उसका छात्र आजीवन अपने ब्रह्म-प्राप्तिपूरक लक्ष्य से कभी भी विचलित न हो सके। साथ ही,—'अयमात्मा ब्रह्म'—यह आत्मा ब्रह्म-साक्षात्कार करके ही तथा ब्रह्म-सम होकर ब्रह्म का सान्निध्य-सुख प्राप्त कर सकती है। यह अनुभव कर वह स्व-जीवात्मा का सच्चा सुख प्राप्त करने में समर्थ हो सके इस भावना को पुष्ट करने में सहायक होता है।

आचार्य कुल में अन्तेवासी-रूप में रहते हुए ब्रह्मचारी को यह विदित हो जाता है कि 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'। विशाल ब्रह्माण्ड में जब तक अविद्यान्धकार की निवृत्ति नहीं होती तब तक संसार का मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता। अतः सत्य-ज्ञान के लिए ज्योतिष्मती विद्या का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। अपनी इस पवित्र मनोभावना को उचित बल देने के लिए वह गुरु के समक्ष शिष्टता तथा विनम्रता का प्रतीक होकर व्यवस्थित रूप में गुरु के प्रथम उपदेश का श्रवण करने के पश्चात् मनन तथा अन्त में निदिध्यासन करके सत्य-ज्ञान का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। ब्रह्मचारी गुरु की बताई हुई प्रत्येक बात को उपदेश-रूप में ही ग्रहण करने की चेष्टा करता हुआ ही चित्रित किया गया है। यह एक साभिप्राय विशेषता को लक्षित करता है। उपदेश शब्द का अर्थ ही 'रहस्यमयी बात की व्याख्या" है। फलतः जब तक शिष्य श्रवण के पश्चात् उसका मनन तथा निदिध्यासन नहीं करता तब तक वह अभिलषित तत्व को जानने से वंचित ही रहता है। इसी-

लिए उपनिषदों में शिक्षा की आत्मसात् करने की प्रक्रिया को दर्शाते हुए लिखा है—'श्रवणं तु गुरोः वाक्यं मननं तदनन्तरम्' । निदिध्यासन मित्येतत् पूर्णबोधस्य लक्षणम् । उपर्युक्त प्रक्रिया में शिष्य के निमित्त श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन इन तीन बातों का उल्लेख ही शिष्य के लिए बौद्धिक व्यायाम का विधान करते हैं। जिस प्रकार कि कोई भी शक्तिसम्पन्न युवा व्यायाम द्वारा अपने शरीर को सुगठित तथा समविभक्ताङ्ग बना कर शक्ति को, अंग-अंग में आत्मसात् करने में समर्थ होता है उसी प्रकार वह श्रवण, मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन के अर्थ का बार-बार विचार करते हुए चिन्तन के द्वारा ही गोपनीय रहस्य का उद्घाटन करने में सफल होता है। निदिध्यासन करने पर ही शिष्य या साधक की आत्मा में ज्ञानदीप की भास्वती तथा भास्वर प्रकाशमती ज्योति प्रगट होती है। फलतः वह आत्मरूप में प्रतिष्ठित होकर सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का सर्वत्र अनुभव करता हुआ परमानन्द को प्राप्त कर 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इस शाश्वत सत्य का अनुभव कर देवाधिदेव ब्रह्म में लीन होकर पारमार्थिक सुख, मुक्ति-आनन्द का उपभोग करता है। उसको यह भी प्रतिभासित हो जाता है कि 'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' । छान्दो० ॥ प्र० ८ ख: १२ ॥ अर्थात् शरीर रहते हुए सुख-दुःख से विलग कभी नहीं रहा जा सकता और शरीर न रहने पर सुख-दुःख आत्मा का स्पर्श नहीं करते ।

कर्म को मान्यता, परा और अपरा विद्या

भारतीय जीवन-दर्शन की सबसे प्रमुख विशेषता यही थी कि भौतिक शरीर के प्रति विशेष आस्था न होते हुए भी कर्म की उपेक्षा नहीं की गयी। कर्म भारतीय शिक्षा-पद्धति में अपना विशेष महत्त्व रखता है। परन्तु कर्म की अपेक्षा वहीं तक है जहाँ तक कि वह मोक्षप्राप्ति में सहायक हो। कर्म का निखरा हुआ रूप व्यक्ति को संसार में आबद्ध करने वाला नहीं, अपितु संसार की निस्सारता प्रदर्शित करते हुए संसार से मुक्त कराने वाला ही माना गया है।

'तत्कर्म यन्न बन्धाय' 'सा विद्या या विमुक्तये'

कर्म मानव के बन्धन के लिए नहीं होना चाहिए। साथ ही, विद्या मानव की मुक्ति के लिए हो। यही भारतीय कर्म तथा भारतीय शिक्षा का आदर्श रहा है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—भारतीय जीवन के इन चारों स्वस्तिक रेखाओं में इस कल्याणकारी सत्य की प्रतिष्ठा की गयी है कि अर्थ की साधना धर्मपूर्वक हो तथा काम की साधना धर्म तथा अर्थपूर्वक परोपकार-परायण प्रवृत्ति-पूर्वक, जिससे जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त किया जा सके। फलतः भारतीय जीवन-

दर्शन की समीक्षा से तथा भारतीय शिक्षा-पद्धति के पर्यालोचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय संस्कृति में मानवीय जीवन का साध्य जगत् नहीं, अपितु ब्रह्म है। भौतिक जगत् जीवात्मा की ऐसी सुन्दर प्रयोगशाला है जिसमें व्यक्ति को आत्मोत्कर्ष की प्रक्रिया की ही विधिवत् शिक्षा ग्रहण करनी है। अतः इस प्रक्रिया के नैतिक आधार 'सादा जीवन उच्च विचार' पर ही भारतीय आर्य-संस्कृति में विशेष बल दिया गया है। इसी के लिए 'द्वे विद्ये वेदितव्ये पराचैवअपराच' अर्थात् व्यक्ति को 'अपरा' तथा 'परा' दो ही विद्याओं के सीखने की आवश्यकता बतलाई गयी है।

अपरा विद्या : अपरा विद्या में भौतिक ज्ञान की समस्त निधियाँ सुरक्षित हैं। इसके अध्येता के लिए ही समाज का विकसित रूप है। दूसरे शब्दों में, अपरा विद्या के जिज्ञासु के लिए, छात्र के लिए ही समाज है न कि वह समाज के लिए। समाज की समस्त सामाजिक व्यवस्थाएँ अपरा विद्याभ्यासी के व्यक्तित्व के विकास और उत्कर्ष के लिए ही पोषक तत्व मानी गयी हैं। इसीलिए कर्म की प्रवृत्ति को भी धर्म-मूलक समझा गया है; कामना-पूरक नहीं, कर्त्तव्य माना गया है; इच्छा-पूर्ति का साधन नहीं, मुक्ति-पूरक माना गया है; बन्धन-पूरक नहीं। अपरा विद्याभ्यासी को समाज का केन्द्रविन्दु अथवा धुरी स्वीकार किया गया है, तथा उसी के उत्कर्ष में समाज की समृद्धि निहित है।

परा विद्या : परा विद्या को ही ब्रह्म-प्राप्ति का साधन माना गया है। 'परा यया तदक्षरमधिमन्यते' जीवन के इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु ही व्यक्ति को एकान्तिक साधना के निमित्त पुनः एक बार कठोर तपस्या का अवलम्बन करने का आदेश दिया गया है। अपरा विद्या में जिन वाह्य साधना तथा उपकरणों की आवश्यकता होती है, वह परा में नहीं। परा विद्या के जिज्ञासु को भौतिक वस्तुओं से सदैव पृथक् करते हुए आत्म-चिन्तन में ही एकान्तनिष्ठा के साथ तल्लीन रहने का आदेश दिया गया है, क्योंकि ब्रह्मतत्व प्रवचन, प्रतिभा तथा श्रवण से ज्ञात नहीं होता। वह तो परमात्मा की असीम अनुकम्पा से जाना जा सकता है। उपनिषदों में इस तथ्य को यमाचार्य नें नचिकेता को सम्बोधित करते हुए बहुत ही सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया है :—

'जायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैषवृणुते तेन ताभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुस्वाम्—' अर्थात् परमात्मा यथार्थ अधिकारी को जान कर ही अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है। लौकिक नियमों में भी इसी व्यवस्था का दिग्दर्शन सदैव किया जा सकता है कि जब तक सूर्य अपने स्वरूप का

प्रकाश स्वयं नहीं करता तब तक चक्षु भी किसी दूसरे की सहायता से उसे देखने में समर्थ नहीं होता। अतः परा विद्या का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसमें धार्मिक औदार्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया हो, और जिसको विश्व के अणु-अणु में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की सत्यता की सुन्दर झलक दृष्टिगोचर हो गई हो। साथ ही यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधियोग के अष्टांगों द्वारा जिसका प्रकृष्ट व्यक्तित्व निखर कर देदीप्यमान हो गया हो। परा विद्या का ऐसा अध्येता ही सच्चे अर्थों में सार्वभौम विश्वबन्धुत्व की मर्यादा का प्रतिष्ठापक होता है। संक्षेप में अपरा तथा परा विद्या का यही वह मौलिक तत्व है जिस पर भारतीय ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा की गयी है। भारतीय ब्रह्मवाद एकांगी नहीं, अपितु सर्वांगीण है। वह देश-कालकृत बन्धनों से सर्वथा परे है। विश्व की अखिल मानवीय विभूतियों में यही ब्रह्मवाद अपनी दिव्यात्मा के साथ आलोकित हुआ है। भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा तथा गांधी की अमर वाणियों में यही ब्रह्मवाद लोकसंग्रही भावना तथा विश्वबन्धुत्व की भावना के रूप में आविर्भूत हुआ है। फलतः भारतीय जीवन-दर्शन की धार्मिक भावना भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में उदारता के विकसित रूप में साकार हो उठी है। समदर्शिता, समता तथा विश्वबन्धुता इसके अभिन्न अंग बन गये हैं। भारतीय जीवन-दर्शन में जिस प्रकार धर्म समाविष्ट हुआ है उसी प्रकार भारतीय शिक्षा में चरम लौकिक अभ्युदय के साथ ही साथ निःश्रेयस परम पुरुषार्थ, मोक्ष की भावना भी पूर्णरूप से व्याप्त दिखाई देती है। भारतीय शिक्षा में लौकिक तथा पारलौकिक उभय कल्याणों का ही समावेश किया गया है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय शिक्षा की मुख्य विशेषताएँ सादा जीवन, उच्च विचार, भ्रातृ-भाव, समता, विश्वबन्धुत्व की भावना, गौसेवा, परोपकार-परायण, लोकसंग्रही प्रवृत्ति, तथा सार्वभौम सत्ता 'ब्रह्म' की सर्वदा प्रतीति आदि-आदि हैं। छात्र अपनी छात्रावस्था में नैसर्गिक सौन्दर्य से सुरभित, जनपद कोलाहल से दूर, प्रकृति की सुरम्य कक्ष में स्थित गुरुकुल में रहकर आचार्य का अन्तेवासी होकर उपर्युक्त शिक्षा को सैद्धान्तिक रूप में ही नहीं, अपितु व्यावहारिक रूप में भी प्राप्त करता था। प्रकृति के नैसर्गिक वैभव, हरी-भरी दूर्वादल की हरीतिमा उसके कोमल मन को इतना आकृष्ट करती थी कि वह जनपद के उद्दाम प्राकृतिक वैभव को तुच्छ समझता था। विस्तृत नील नभ का नील वितान, कल-कल ध्वनिपूरित निर्झरिणी, इन्द्रधनुषी वनस्थली, भोले-भाले मृगछौनों का सहवास, उसके हृदय को इतना

उल्लासमय बना देते थे कि उसकी वासना दग्ध हो जाती थी। साथ ही आचार्य के पाणि-पल्लव की कोमल छाया पाकर उसका नन्हा मन वात्सल्यमयी माता की ममता तक को भूल कर उसे सदैव कर्त्तव्य-पथ में प्रेरित करता रहता था। चित्र १ में एक आश्रम का स्वरूप अंकित किया गया है। इससे हमें आश्रम अथवा गुरुकुल का रूप स्पष्ट हो जाता है।

चित्र १—आश्रम अथवा गुरुकुल का प्राकृतिक दृश्य
(पूर्व-गन्धार शिल्पकला, प्रथम शताब्दी—इस चित्र में एक साधु पक्षी को दाना खिला रहा है। दूसरा कम उम्र वाला नवागन्तुक अपना सामान रखकर विश्राम कर रहा है। कुछ वृक्ष दिखलाये गये हैं। कुछ मृग इधर-उधर छटक रहे हैं। दाहिनी ओर एक साधु अकेले में दिखलाया गया।)

आचार्य अपने स्निग्ध स्वभाव से सदैव छात्र के मन को तो आकृष्ट करता ही था, साथ ही उसकी प्रत्येक गति-विधि पर भी पूर्ण ध्यान देता था। उस समय के माता-पिता आचार्य के सौजन्य के प्रति समधिक रूप से आस्थावान थे। आचार्य छः मास-पर्यन्त छात्र की विविधि चेष्टाओं को विशेष ध्यान से देखता था। इतने समय में छात्र तथा आचार्य का मानसिक सम्बन्ध इतना दृढ़ हो जाता था कि छात्र गुरु के आदेशों के अतिरिक्त अन्य किसी के उँगली उठाने की चिन्ता नहीं करता था। उसके लिए आचार्य की आज्ञा ही सर्वोपरि थी।

प्राचीन काल के गुरुकुल, ऋषिकुल तथा आचार्य-कुल आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं के समान समाज से नेतृत्व ग्रहण नहीं करते थे। छात्रों के लिए नागरिक, सामाजिक तथा राजनीतिक हलचलें नगण्य ही थीं। प्रकाश की विकीर्ण पवित्र एवं दिव्य रश्मियाँ राजप्रासादों, सचिवालयों से नहीं, प्रत्युत लता-पता-परिवेष्ठित ऋषि-आश्रमों की कुटियाओं से ही आती थीं। यही कारण था कि "एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।"

'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'—अर्थात्, भारत के तपःपूत ब्राह्मणों के कमल चरणों में बैठकर ही अखिल विश्व के मानव अपने चरित्र का निर्माण करने की शिक्षा ग्रहण करते थे। 'सरल चित्त नहिं मन कुटिलाई। यथा लाभ सन्तोष सदाई ॥'—सन्त तुलसी की इस उक्ति के अनुसार अपने जीवन को सरस और सुखद बनाने वाले आचार्यों ने ही प्रकृति के उद्दाम

वैभव-विलसित राजप्रासादों में निवास करने वालों को भी "सर्वंखल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किन्चन" की सुन्दर शिक्षा दी थी ।

सारांश

भारतीय जीवन-दर्शन के मूलाधार वेद हैं । वेदों में वर्णित ज्ञान-सम्पत्ति ही यथार्थ सुख प्रदान करने वाली है । इस ज्ञान-सम्पत्ति का अधिकारी वही व्यक्ति हो सकता है जिसने कि 'वेद' शब्द में सुगुम्फित ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास-रूप चारों आश्रमों द्वारा अपने जीवन का स्वस्तिक पूर्णरूप से चित्रित किया है । साधारण रूप में तो 'वेद' शब्द का अर्थ 'जानो' है, परन्तु यही मानव को ज्ञेय ब्रह्म से साक्षात्कार करने की प्रेरणा प्रदान करता है । वेदोक्त वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का मूल कारण भी ब्रह्म-प्राप्ति ही है । ज्ञान, कर्म, उपासना-रूप धार्मिक प्रक्रिया मानव को इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर करती है । इसीलिए अविद्यान्धकार से आच्छादित अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान को दूर करने वाली ज्ञान-रूप ज्योतिष्मती विद्या का ज्ञान मानव के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित है । श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन-शिक्षा की इस त्रिविध साधना का अभ्यास भी इसीलिए मानव के लिए आवश्यक बताया गया है । गुरु की शिक्षा को उपदेश-रूप में चित्रित करने का अभिप्राय यही है कि उपदेश रहस्यात्मक ज्ञान की व्याख्या का ही दूसरा नाम है । ज्ञान की उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं के पूर्ण होने पर ही ज्ञान की भास्वती ज्योति प्रकट हो कर सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म का सच्चिद् जीव को ज्ञान कराती है । भारतीय जीवन-द्रष्टा मनीषियों ने इसीलिए भौतिक शरीर के प्रति विशेष आस्थावान न होते हुए भी कर्म की उपेक्षा कभी नहीं की । उन्होंने विद्या का लक्ष्य 'मुक्ति' को ही मान कर मानव से अपरा तथा परा दोनों ही विद्याओं का ज्ञान सम्पादित करने का आग्रह किया है, जिससे कि मानव अपरा विद्या द्वारा भौतिक ज्ञान-सम्पादन कर तथा परा विद्या द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार कर अपने जीवन के निर्धारित लक्ष्य को पूर्ण-रूप से प्राप्त कर सके ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—भारतीय जीवन-दर्शन पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए ।

२—प्राचीन भारतीय शिक्षा की प्रमुख विशेषताओं की ओर संकेत कीजिए ।

अध्याय २

ऋग्वैदिक शिक्षा

ऋग्वैदिक काल

भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा शिक्षा के मूलाधार वेद हैं। वेदों के रचना-काल की समस्या यद्यपि अभी तक निश्चित रूप में सुलझ नहीं पायी है, तथापि यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि विश्व के उपलब्ध साहित्य में वेदों से प्राचीन अन्य कोई ग्रन्थ नहीं। राधा कुमुद मुकर्जी के अनुसार 'वेद भारतीय आर्यों का सांस्कृतिक प्रभात ही नहीं, अपितु मध्याह्न ही द्योतित करते हैं।'[१] इन वेदों में भारतीय अध्यात्मवाद की निधि तो सुरक्षित है ही, साथ ही इनमें मानव-जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने वाली शिक्षाएँ भी सुगुम्फित और संगृहीत की गयी हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने आधुनिक वैज्ञानिकों की भाँति उस निधि की तात्विक सत्यता को जानने के लिए ही आजीवन कठोर तपस्याएँ करके अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया था। ऋषि-मुनियों द्वारा परीक्षित यथार्थ सत्य-ज्ञान-निधि के रूप में ये वेद वस्तुतः अपौरुषेय रूप में ही स्वीकार किये गये हैं। इसीलिए ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा कहा गया है।

वेदों में 'ऋग्वेद' को ही आदि वेद के रूप में श्री विन्टरनिट्ज ओडर, मैकडानल्ड और ग्रिपिथ आदि पाश्चात्य विद्वान तथा तिलक जैसे भारतीय विद्वान स्वीकार करते हैं। वस्तुतः वेदों की आभ्यान्तरिक तथा वाह्य परीक्षा के पर्यालोचन से तो चारों वेदों की उत्पत्ति एक साथ ही स्वीकार की गयी है। 'यस्य निश्वसितं वेदाः' श्रुति में उपलब्ध यह प्रमाण ही इस बात को पुष्ट करता है कि वेद, परमात्मा द्वारा ज्ञान-रूप में मानवीय कल्याण के लिए, तथा जीवात्मा के आत्म-साक्षात्कार कराने के लिए आविर्भूत हुए। ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान के भांडारभूत ये चारों वेद ही शिक्षा, ज्ञान तथा आलोक के मूलाधार हैं। ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञान का वैज्ञानिक क्रम ही अखिल सृष्टि में मानव को इतर शेष सृष्टि से श्रेष्ठतर बताता है। मानव का महत्त्व इसीलिए है कि उसके कर्म तथा धार्मिक आचरण ज्ञानपूर्वक होते हैं। अतः ज्ञान-प्रधान होने के कारण ही सबसे प्रथम शिक्षा के इतिहास में ऋग्वैदिक काल ही आता है।

---

१. It does not mark the dawn of the culture but rather its meridiam.

ऋग्वैदिक शिक्षा

वेद

भारतीय जीवन-दर्शन की सबसे प्रमुख विशेषता यही रही है कि उसका ध्येय सदैव अविचल रूप में स्थिर रहा है। अतः ज्ञान के आदि स्रोत वेदों में भी उसी ध्येय को सुरक्षित रखा गया है। यों तो वेद-भाष्यकारों ने वेद शब्द के विविध अर्थ किए हैं, परन्तु वेदों के उद्‌भट विद्वान् सांयण ने कृष्ण यजुर्वेद की भाष्य-भूमिका में एक अर्थ यह भी किया है कि "वेद वह है जो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट (अवांछित, अनभिप्रेत, त्याज्य) वस्तुओं के दूरीकरण का अलौकिक उपाय बताने वाला है।" ऋग्वेद में भी इसी सत्य का दिग्दर्शन कराया गया है। संस्कृत साहित्य को जिन दो कालों में विभक्त किया गया है उनमें प्रथम वैदिक तथा द्वितीय लौकिक है। वैदिक काल में वेद, उपवेद, (अर्थवेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, याजुर्वेद), वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त), ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, दर्शन, पुराण तथा निगमत आदि को संकलित किया गया है। लौकिक साहित्य में रामायण, और महाभारत आदि विशेष रूप से तथा साथ ही साथ खण्डकाव्य, नाटक तथा गद्य-पद्यमय चम्पूकाव्यों का संकलन किया गया है।

ऋग्वेद में ऋचाओं द्वारा जिन विषयों का वर्णन किया गया है वे ज्ञान-रूप में गृहीत की गई हैं। इन ऋचाओं की पद्य-रूप में रचना की गई है, जिनमें ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, कर्मफल, सृष्टि, प्रलय, वर्षा, आश्रम और स्वाध्याय आदि ज्ञान-यज्ञ के अन्तर्गत आते हैं।

यजुर्वेद की रचना गद्य में हुई है। उसमें कर्मकाण्ड की प्रक्रिया विशेष रूप से प्रदर्शित की गई है। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत मानवीय जीवन से सम्बन्ध रखने वाले षोडश संस्कार, शिक्षा, आहार, वस्त्र, गृह, समाज, राज्य, कृषि, पशु-पालन, संगीत, गणित, भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, रसायन, इमारत, यन्त्र, शस्त्र, वाहन और युद्ध-विद्या आदि के विषय आते हैं। उपासना के अन्तर्गत सदाचार, प्रेम, दया, दर्शन, भक्ति, वैराग्य, योग और समाधि आदि क्रियाएँ आती हैं। आचार्य यास्क ऋचा शब्द की व्याख्या के अन्तर्गत ही उक्त तीनों प्रकार की शिक्षाओं को संगृहीत करते हुए लिखते हैं 'ता ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति भेदात्त्रिविद्याः।'

उक्त परिभाषा के अन्तर्गत वेदों की जिस वैज्ञानिक शिक्षा का, सूत्ररूप से उल्लेख किया गया है उसी की महत्ता अथर्ववेद में प्रदर्शित की गई है। इसी-

लिए अथर्ववेद को विज्ञानपरक स्वीकार किया गया है। यज्ञों में भी अथर्ववेद के ज्ञाता को ब्रह्मा का पद विज्ञानवेत्ता होने के कारण ही दिया गया है। वस्तुतः भारतीय यज्ञ, जो कि सम्प्रति एक रीति तथा रस्म के प्रतीक ही ज्ञात होते हैं, भारतीय ऋषियों की वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ थीं। इन ऋषियों का रेखाचित्र नीचे दिया जा रहा है। तत्ववेत्ता ऋषियों ने तपःपूत हो इन यज्ञों के द्वारा ही पारलौकिक साधना करते हुए जिन लौकिक सत्यों का प्रत्यक्षीकरण किया था उनका सार ही ऋग्वैदिक शिक्षा थी। ब्रह्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न होने वाले होता, अध्वर्यु: तथा उद्‌गता द्वारा किए गए यज्ञ केवल मौखिक आलाप ही नहीं थे, अपितु व्यावहारिक तथा क्रियात्मक ज्ञान के सफल परीक्षण भी थे। उक्त क्रियाओं के आधार पर ऋग्वैदिक शिक्षा के दो स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं—मौखिक तथा स्वाध्याय।
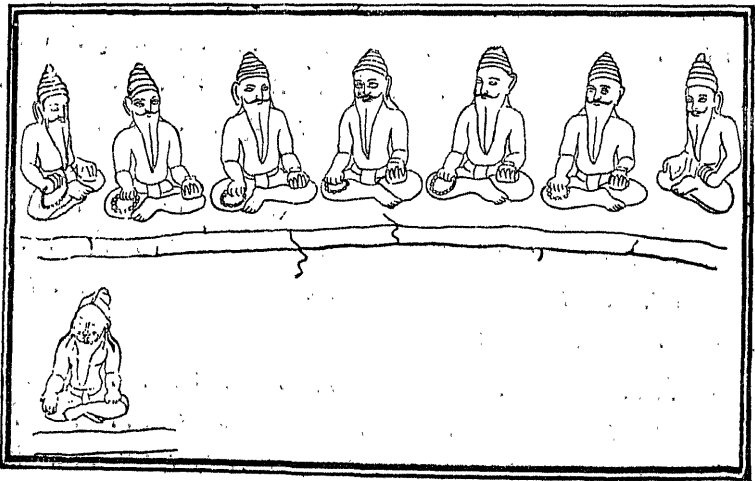
चित्र २—सात वैदिक ऋषियों की पाषाण मूर्ति

१—वशिष्ट, २—विश्वामित्र, ३—वामदेव, ४—भारद्वाज, ५—अत्रि, ६—कण्व, ७—गृत्समद (बिहार में राजगृह में प्राप्त) नीचे अकेला मूर्ति-चित्र एक दूसरे ऋषि का है (राजगृह)।

पाठ्य विषय

ऋग्वैदिक काल के पाठ्य विषय मुख्य रूप से शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द तथा निरुक्त थे। इन वेदांगों के साथ ही तर्क-विज्ञान की भी शिक्षा दी

जाती थी। वेद-वेदांग द्वारा ज्ञात धर्म की कसौटी ही तर्क-विज्ञान थी। तर्क की परिभाषा का स्वरूप धर्म-शोधन की वैज्ञानिक प्रणाली को लक्षित करता है।

आर्षं धर्मोपदेशश्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुरुन्धत्ते सधर्मः वेदनेतरः॥

अर्थात् वेद तथा शास्त्र की मर्यादा के प्रतिकूल कभी भी आचरण न करने वाले वैदिक पुरुषों के रहस्योद्घाटन करने वाले उपदेश तथा वेद-शास्त्रानुकूल तर्क के अनुसार जो जाना जाय वह सत्य धर्म माना गया है। इससे भिन्न धर्म, धर्म नहीं। धर्म-साक्षात्कार कराने वाले उक्त विषय ही वैदिक काल के पाठ्य विषय थे।

अध्यापन-पद्धति

भारतीय अध्यापन-पद्धति का आधार मनोवैज्ञानिक था। ऋग्वैदिक काल में मन्त्रों की सुरक्षा के लिए ऋषियों ने विशेष रूप से मौखिक तथा चिन्तन-रूप दो अध्यापन-विधियों को ही प्रश्रय दिया था। प्रथम के द्वारा मन्त्रों के वाह्य स्वरूप

चित्र ३—लम्बी तपस्या वाला गुरु अपने शिष्यों को शिक्षा दे रहा है। शिष्यों की अंगुलियों की स्थिति सामवेद के उच्चारण की विधि की ओर संकेत कर रही है। (द्वितीय शताब्दी ई० पू०)

का अपरिवर्तित रूप में संरक्षण किया जाता था, और द्वितीय विधि के द्वारा उन मन्त्रों के अर्थों की सुरक्षा की जाती थी। प्रथम कण्ठाग्र करने की विधि में गुरु छात्र को, जिन छन्दों में मन्त्रों की रचना हुई है उन छन्दों को तथा साथ ही उन छन्दों के पद, अक्षर

तथा ध्वनि को विशेष रूप से समझाते थे। साथ ही संहिता-भाग की रक्षा के लिए छात्रों को पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ तथा घनपाठ आदि का भी अभ्यास अनिवार्य रूप से कराया जाता था। शुद्ध उच्चारण के लिए वर्णोच्चारण-शिक्षा तथा व्याकरण की भी शिक्षा छात्र को अनिवार्य रूप से दी जाती थी। वैदिक काल में शुद्धोच्चारण का विशेष महत्त्व था। स्वर-विज्ञान के संरक्षण के लिए ही उपर्युक्त पाठों की व्यवस्था थी। फलतः आज तक श्रुतियों का मौलिक रूप अनादि काल से सुरक्षित चला आ रहा है। चित्र ३ में देखिए; इसमें दिखलाया गया है कि शिष्य किस प्रकार शुद्ध उच्चारण के लिए सतर्क होकर अपनी अँगुलियों से संकेत किया करते थे। छात्रों को यह भी अवगत करा दिया जाता था कि स्वर-संघात अथवा अशुद्ध स्वर से शब्द-ब्रह्म वाग्वज्र का रूप धारण कर वक्ता का विनाश कर देता है। अतः छात्रों की यान्त्रिक रटन्त-विधि में भी मनन और चिन्तन-विधि के अनुसार ही ऐकान्तिक साधना अपेक्षित थी।

मनन

मन्त्रों की अर्थ-रूपी आन्तरिक ज्ञान-विधि की सुरक्षा के लिए मनन-विधि के शिक्षण की भी व्यवस्था थी। प्रतिभा-सम्पन्न मेधावी छात्रों को ही गुरु इस विधि की शिक्षा देते थे। गुरु की छत्र-छाया में स्वाध्याय तथा मनन द्वारा मेधावी छात्र शब्द, मन्त्र तथा छन्दों के साथ ही मन्त्रगर्भित अर्थ तथा रहस्य की अनुभूति करते थे। यह केवल मात्र शिक्षा तथा उपदेश से असम्भव थी। मन्त्र शब्द की निरुक्ति 'मननात् त्रायते' से यह स्पष्ट ही ध्वनित होता है कि मन्त्रार्थ चिन्तन द्वारा ही छात्र की आत्मा के विकास के साथ ही मन्त्रार्थ की सुरक्षा भी सम्भव है। मनन-विधि में एक यह भी भाव निहित था कि छात्र मनन द्वारा जिस ज्ञानालोक का दर्शन करता था उससे उसकी आत्मा तो आह्लादित होती ही थी, साथ ही ज्ञाना-लोक से प्रतिभासित होकर वह समाज के मध्य में शिक्षक के रूप में आसीन होता था। इस प्रकार मनन-विधि द्वारा वह गुरु-ऋण से भी उऋण होता था। वैदिक शिक्षण-पद्धति में अर्थविहीन वाह्य ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति की उपमा चन्दन-भारवाही वैशाखनन्दन से दी गई है जो कि चन्दन की सुगन्ध से अपरिचित होता हुआ उसके भार मात्र से ही परिचित होता है। अतः मन्त्र दुहराने वाले छात्रों को ऋग्वेद में 'अरवाक्' कह कर, तिरस्कृत माना गया है। मनन-विधि की श्रेष्ठता का महत्त्व इसलिए भी स्वीकार किया गया है कि मानव के सांस्कृतिक विकास के साथ ही उन धार्मिक तत्वों का संरक्षण होता है जिनसे कि संस्कृति का निर्माण होता है; अर्थात् संस्कृति का मूलाधार मनन-विधि को ही माना गया है।

ऋग्वैदिक शिक्षा के केन्द्र

ऋग्वैदिक शिक्षा मुख्य रूप में दो प्रकार से प्रदान की जाती थी—१. मौखिक रूप में और २. स्वाध्याय अर्थात् चिन्तन तथा मनन-रूप में। शिक्षा का प्रारम्भ परिवार से ही हुआ करता था। ऋषि परिवार में रहते हुए ही अपने पुत्रों को मौखिक ज्ञान प्रदान करते थे। इस मौखिक ज्ञान-प्रणाली में विशेष रूप से वर्ण, स्वर, मात्रा तथा सन्धि पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसी कारण वेदों का एक नाम श्रुति भी रखा गया था। ऋषि जब तक छात्र की उच्चारण-विधि से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होते थे, छात्रों को चिन्तन की प्रक्रिया के अधिकार से वंचित रखते थे।

समय पाकर यज्ञों का स्वरूप प्राकृत न रह कर असाधारण रूप से विधि-विधानों के आडम्बरों से परिपूर्ण होने लगा। यज्ञों में आचार्यों की प्रतिभा प्रकर्ष की पराकाष्ठा के लिए उत्कण्ठित हो उठी। फलतः पारिवारिक विद्यालयों में ऋषि-पुत्रों के अतिरिक्त अन्य छात्र भी प्रवेश पाने लगे और गुरुकुल के वृत्त की परिधि विस्तृत होने लगी। परन्तु इस प्रकार के गुरुकुलों ने संस्था का रूप धारण नहीं किया। गुरुकुलों की समस्त व्यवस्था गुरु की देख-रेख में ही सम्पन्न होती थी। छात्र गुरु के परिवार के अभिन्न अंग थे। छात्रों को सामाजिक दायित्व की उच्च शिक्षा भी गुरु-गृह में ही प्राप्त होती थी। छात्र सामाजिक और व्यावहारिक ज्ञान की पृष्ठ-भूमि पर ही आध्यात्मिक ज्ञान की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करते थे। ऋषियों का परिवार ही उनके सामाजिक जीवन को प्रेरणा तथा उनकी आत्मा को धार्मिक पुट या आलोक प्रदान करता था। भौतिक जीवन को समृद्ध बनाने वाली भूमि तथा गौमाता की सेवा द्वारा उसको न केवल शारीरिक सम्पन्नता ही प्राप्त होती थी, अपितु आर्थिक समृद्धि भी मिलती थी।

ब्राह्मण संघ

शिक्षा के षडङ्गों का अभ्यास करने के उपरान्त अनुभूति से प्राप्त रहस्यों के जान लेने के पश्चात् भी अपने ज्ञान की तीव्र पिपासा को सदैव जागृत रखने के लिए, तथा अनुसन्धान एवं अनुसन्धान-जन्य परिणामों के प्रसार के लिए 'ब्राह्मण संघ' नामक संस्था स्थापित की गयी थी। इस संघ में मेधावी छात्रों को विचार-विनिमय करने तथा गूढ़ातिगूढ़ तत्वों के हृदयंगम करने का अवसर प्राप्त होता था। वैदिक युग का यह संघ आधुनिक विचार-गोष्ठियों (सेमिनार) के समान ही था। वैदिक शिक्षा-पद्धति में 'ब्राह्मण संघ' द्वारा ही ज्ञानार्जन तथा ज्ञान-प्रसार होता था।

नारी-शिक्षा

ऋग्वैदिक काल में नारी-शिक्षा भी अपने चरम उत्कर्ष पर थी। 'इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीमयो भुवः' ज्ञान का विस्तार करने वाली वाणी, ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती तथा मानव-शक्ति को आश्रय देने वाली पृथ्वी तीनों ही मानव-कल्याणकारिणी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित की गयी हैं। ऐसा भी उल्लेख है कि ब्रह्मा ने अपनी आत्मा को दो भागों में विभक्त करके पति-पत्नी रूप में विभक्त किया 'स इममेव आत्मानं द्विधापातयत्। पतिश्च पत्नी अभवताम्।' स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी इसीलिए कहा गया है कि वह पुरुष की शक्ति तथा पुरुष की 'स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया च' इस उक्ति के अनुसार ज्ञान, बल तथा क्रिया भी है। इसीलिए स्त्री को लौकिक तथा पारलौकिक उभय कल्याणों का अक्षय स्रोत माना गया है। पुरुष का कोई भी यज्ञ स्त्री के बिना पूर्ण नहीं होता था। ऋग्वेद मातृ-शक्ति का गुणगान करते हुए यहाँ तक उल्लेख करता है कि स्त्री जिस पुरुष पर प्रसन्न होती है उसको उग्र ब्रह्मा, ऋषि तथा सुमेधा बना देती है—'यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्'। अतः स्त्री को पारिवारिक जीवन का अक्षय स्रोत तथा पारलौकिक स्वर्ग-सुख का द्वार उन्मुक्त करने वाला कह कर समादृत किया गया है। ऋग्वैदिक काल में पुरुष के इस अविभाज्य अंग की शिक्षा का दिग्दर्शन 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' बाजसनेयी संहिता की श्रुति के आधार पर पूर्ण रूप से लक्षित होता है। ब्रह्मचर्य व्रत से सम्पन्न शिक्षिता कन्या को ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का अधिकार था। विवाह पुराण में भी 'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्' इससे भी स्त्री-शिक्षा की स्पष्ट प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त सूर्या, शची और वाक् आदि ऋषिकाओं को मन्त्र की द्रष्टा भी बताया गया है। यहीं तक नहीं, वरन् अदिति, उषा, इन्द्राणी, इड़ा, भारती, श्रद्धा आदि कितनी ही देवियों का उल्लेख अनेक तत्वों की अधिष्ठात्री देवी के रूप में आता है। स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक युग में स्त्री-शिक्षा भी पूर्ण रूप से होती थी।

अन्य वर्णों की शिक्षा

ऋग्वैदिक काल में शिक्षा का द्वार सभी जातियों के लिए खुला हुआ था। यजुर्वेद के २६ वें अध्याय का दूसरा मन्त्र "यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः। ब्रह्म राजान्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय" इसी कथन की पुष्टि करता है। ऋग्वैदिक काल में जाति-पाँति की प्रथा का प्राप्त इतिहास भी इसी बात का साक्षी है कि उस समय शिक्षा का अधिकारी वही व्यक्ति था जिसकी मानसिक क्षमता तथा धारणा-शक्ति विकसित हो चुकी हो। जाति-व्यवस्था भी जन्मजात न मान कर कर्म

पर मानने का भी यही अभिप्राय था कि शिक्षा सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो। 'पञ्चजनाः मम होत्रं जुषध्वम्' श्रुति का यह वाक्य भी यही इंगित करता है कि 'अग्निहोत्र' जिसकी कि प्रतिष्ठा ऋग्वैदिक काल के आर्य-जीवन में पूर्णतया व्याप्त थी, करने का सबको अधिकार था। ये यज्ञ ही राष्ट्र-समृद्धि के प्रधान साधन माने जाते थे। यज्ञ अशिक्षित व्यक्तियों द्वारा नहीं, अपितु शिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही सम्पन्न होते थे। अतः शिक्षा का सभी को समान रूप से अधिकार था। श्रुतियों में जहाँ शूद्रों के लिए शिक्षा का निषेध भी किया गया है वहाँ शूद्र से तात्पर्य यही है कि जिसको पढ़ाने पर भी विद्या न आवे, वह शूद्र माना जाता था, जाति-कृत बन्धन नहीं। जाति का अर्थ वस्तुतः आधुनिक प्रचलित जातियाँ नहीं, अपितु 'जन्म' माना गया है, जैसा कि योग दर्शन में स्पष्ट किया गया है—समान प्रसवात्मिका जाति—न्याय दर्शन;—अध्याय २, सूत्र ५—अर्थात् समान जन्म वालों की एक जाति होती है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे वर्णन भी उपलब्ध होते हैं जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उच्चतम आध्यात्मिक ज्ञान के अधिकारी ब्राह्मण मात्र ही नहीं, अपितु अन्य वर्ण वाले व्यक्ति भी होते थे। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के कथनानुसार तो ऋग्वेद में एक ऐसे परिवार का भी वर्णन उपलब्ध होता है जिसमें पिता वैद्य, पुत्र वैदिक कवि तथा माता अन्न पीसने वाली श्रमिक थी। अतः स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में शिक्षा का अधिकार समान रूप से मानसिक धारणा-शक्ति की क्षमता के अनुसार समस्त वर्णों को था। शूद्रों को यान्त्रिक रटन्त शिक्षा दी जाती थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। उच्च आध्यात्मिक ज्ञान की शिक्षा पात्र को देख कर ही प्रदान की जाती थी।

ऋग्वेद के १०। ९०। १२ में मन्त्र 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।' में समाज का जो चित्र अंकित किया गया है वह सांसारिक तथा धार्मिक आधार पर ही अवलम्बित माना गया है। समाज का उत्कर्ष अथवा सर्वांगीण विकास धार्मिक तथा सांसारिक दोनों ही प्रकार के अभ्युदय से सम्पन्न होता है। परन्तु समाज को मर्यादा तथा नियम में आबद्ध रखने के लिए ज्ञान की प्रथम आवश्यकता थी। अतः समाज में ज्ञान, जिसका पर्याय-वाची लौकिक शब्द धर्म भी हो सकता है, को ही प्रधानता दी गयी है। ज्ञान-पूर्वक सम्पन्न लौकिक कार्य-कलाप सांसारिक अभ्युदय के साधन माने जाने के कारण समाज में ब्राह्मण को अतिशय गौरव प्रदान किया गया है। अन्य वर्णों को कर्मानुसार ही यथायोग्य मान्यता प्रदान की गयी है।

सारांश

विश्व के समस्त मनीषी विद्वानों ने एक स्वर से ऋग्वेद को सबसे प्राचीन पुस्तक स्वीकार किया है। ऋग्वेद ईश्वरीय विश्वास-रूप में प्रकट होने के कारण

अपौरुषेय माना गया है। इसमें अपार ज्ञान-सम्पत्ति भरी हुई है। सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान तथा भाष्यकार सायण ने वेद का अर्थ करते हुए लिखा है कि वेद इष्ट अर्थ के प्रापक तथा अनिष्ट (अवांछित तथा अनियमित) अर्थों के शमक हैं। साथ ही वे अनिष्ट को दूर करने के अलौकिक उपायों को बताने वाले हैं। ऋग्वेद मुख्यत: ज्ञानकाण्ड की व्याख्या करता है। इसके साथ ही यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा विज्ञानकाण्ड को। इन चारों ही वेदों में मानवीय जीवन का ध्येय ब्रह्म-प्राप्ति बताया गया है। कालान्तर में वैदिक तथा लौकिक साहित्य में विभक्त ज्ञान तथा इसके अंगों तथा उपांगों में भी यही ध्येय अविचल रूप से स्थिर है। वैदिक काल में पाठ्य विषय, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द तथा निरुक्त तक ही सीमित थे। इन सबकी शिक्षा गुरु-गृह-परिवार में ही सम्पन्न होती थी। शिष्यों की वृद्धि होने पर इन्हीं परिवारों ने गुरुकुलों का रूप धारण कर लिया। शिक्षण-पद्धति का आधार मुख्य रूप से मौखि क तथा स्वाध्याय (चिन्तन) ही था, जो कि मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित था। शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार भी समान रूप से सभी को था। द्विजों के अतिरिक्त अन्य वर्णों को भी शिक्षा प्रदान की जाती थी। स्त्रियों को भी शिक्षा-प्राप्ति का पूर्ण अधिकार था। साथ ही उनका समाज में विशेष सम्मान था। वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म थे। जन्मजात जाति का आविर्भाव तथा प्रचलन उस समय हुआ ही नहीं था। कालान्तर में पाठ्य-विषयों की शाखा कर्मकाण्ड की वृद्धि होने के साथ ही साथ बढ़ती गयी। परिणाम-स्वरूप ब्राह्मण साहित्य, आरण्यक, उपनिषद् साहित्य तथा सूत्र साहित्य की रचना हुई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—ऋग्वैदिक काल में शिक्षा के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

अध्याय ३

उत्तर वैदिक शिक्षा (उपनिषद् काल)

पुरोहित-प्रणाली का विकास

उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा की अवधि साधारणत: १४०० ई० पूर्व से ६०० ई० पूर्व तक मानी जाती है । उत्तर वैदिक काल के विस्तार का समय भी ऋग्वैदिक काल के अन्त एवं बौद्ध तथा जैन धर्म-ग्रन्थों के आरम्भ-काल के बीच का समय माना गया है । इस काल में शिक्षा का ध्येय वही था जो ऋग्वैदिक काल में था, पर साधन-प्रक्रिया में कुछ अन्तर आ गया था । शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में यह पूर्व ही कहा जा चुका है 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् भौतिक बन्धनों से पृथक् होकर आत्मा-परमात्मा के सान्निध्य-सुख (मोक्ष) को प्राप्त करे, यही विद्या या शिक्षा का ध्येय था । प्राचीन आर्यों की शिक्षा का भी यही ध्येय था । ऋग्वैदिक काल में इसी ध्येय की प्राप्ति के लिए छात्र गुरु के परिवार में रह कर विशेष रूप से तप तथा यज्ञ इन दोनों साधनों को उपयोग में लाते थे । कालान्तर में आत्म-चिन्तन-रूप 'तप' का स्थान वाह्य विधानों से परिपूर्ण यज्ञों ने ले लिया । साधना का रूप अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो गया । फलत: उत्तर वैदिक कालीन शिक्षा के विस्तारक्रम के साथ ही यज्ञों का विस्तार हुआ ।

इन यज्ञों के सम्पादनार्थ चतुर्विधि पुरोहितों की आवश्यकता अनुभव की गयी । फलत: होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा इन चार रूपों में पुरोहितों की प्रतिष्ठा हुई । प्रारम्भ में इन पुरोहितों में 'तप' चिन्तन की मात्रा अवश्य ही समधिक रूप में विद्यमान थी । अत: चिन्तन के आधार पर यज्ञों की विधि-विधानों का वितान विस्तृत होता गया । परन्तु कालान्तर में वे ही वि यााँ यज्ञ सम्पादनार्थ पूर्ण मान ली गयीं और चिन्तन-रूप की साधना विलुप्त होने लगी । ऋग्वेद के ज्ञाता को होता, याजमान, के पद पर आसीन किया गया, यजुर्वेद के ज्ञाता को अध्वर्यु के, सामवेद की स्वरलहरियों से परिचित पुरोहित को उद्गाता के रूप में तथा अथर्ववेद के ज्ञाता को अथर्ववेद के ज्ञान के साथ ही साथ तीनों वेदों की सामान्य विधियों से पूर्ण परिचित होने के कारण-ब्रह्मा रूप पुरोहित के गौरवास्पद पद पर प्रतिष्ठित किया गया । तत्कालीन समाज में पुरोहित का पद अत्यन्त गौरवास्पद तथा प्रतिष्ठित समझा जाता था । समाज में सबसे प्रमुख स्थान दिये जाने के

कारण ही उसको पुरोहित की पवित्र पदवी से विभूषित किया गया था। यज्ञशालाएँ; जहाँ कि उपर्युक्त पुरोहितों के तत्वावधान में यज्ञ सम्पादित होते थे; आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं के समान ही परीक्षणात्मक प्रयोग शालाएँ थीं जो कि यज्ञ-शाला के साथ ही सरस्वती के पावन मन्दिर विद्यालय का भी कार्य सम्पन्न करती थीं। ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विज्ञानरूप ज्ञान की चारों धाराओं के अनुरूप ही पुरोहितों को भी चार भागों में विभक्त किया गया था। फलतः सम्बद्ध वेद का ज्ञान प्रत्येक पुरोहित के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य माना जाने लगा और विषय-क्रम के अनुसार ही ऋग्वैदिक विद्यालयों को होतृ, अध्वर्यु, उद्गातृ तथा ब्रह्मन् शाखाओं में विभक्त किया गया।

होतृ विद्यार्थी पद्यात्मक ऋग्वेद का विशेष अध्ययन करते थे, अध्वर्यु गद्यात्मक यजुर्वेद का तथा उद्गातृ सामवेद का। उद्गातृ छात्रों की सुविधा के लिए सामवेद को, जिसमें कि मूल मन्त्र कुल ७५ ही हैं और शेष मन्त्र ऋग्वेदादि अन्य तीनों वेदों से सुगुम्फित किये गये हैं, पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक इन दो रूपों में विभक्त किया गया। पूर्वार्चिक में ५८५ प्रकार की लय सुगुम्फित है। उद्गातृ छात्रों के लिए इन समस्त लयों का पूर्ण अभ्यास अपेक्षित था। ब्राह्मण विद्यार्थी के लिए अथर्ववेद के परिज्ञान के साथ ही अन्य तीनों वेदों का भी ज्ञान अपेक्षित था जिससे याज्ञिक क्रियाओं का सम्यक् निरीक्षण किया जा सके। फलतः छात्रों का रुझान भी परिवर्तित हो गया। शिक्षा की चिन्तन-धारा समाप्तप्राय हो गयी और छात्रों का ध्यान याज्ञिक स्थूल वाह्योपकरणों में ही केन्द्रित हो गया। यज्ञों की शिक्षण-प्रक्रिया भी कण्ठस्थ-प्रणाली के सदृश यान्त्रिक हो गयी और होता आदि पुरोहितों की आवश्यकता पर्त्यर्थ छन्द शास्त्र का सांगोपांग वेदांगों के रूप में ही पूर्ण विकास हुआ। इन होता आदि पुरोहितों द्वारा ही प्रातिशाख्य साहित्य का भी सृजन हुआ, जिसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति, व्याकृति, स्वर तथा उच्चारण आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस प्रकार याज्ञिक रीतियों के समधिक विकास के साथ ही साथ अनेक मत-मतान्तरों का भी प्रचार हुआ। इसी समय यज्ञ-सम्बन्धी उपकरणों के स्वरूप निर्धारण की प्रक्रिया के साथ ही साथ अनेक भौतिक विज्ञानों तथा हस्त कलाओं-प्रक्रियाओं का भी समुचित विकास हुआ। ज्यामिति, ज्योतिष तथा गणित आदि भौतिक विज्ञानों का आविर्भाव तथा शरीर-विज्ञान का आविर्भाव भी इसी समय हुआ। वैदिक कर्म-काण्ड के भौतिक स्वरूप के विकास में जहाँ सूक्ष्म अध्यात्म-चिन्तनधारा का विकास रुद्ध हुआ वहाँ अनेक उपयोगी भौतिक विषयों के प्रकाश में आने से वैदिक कर्मकाण्ड पुष्पित एवं पल्लवित होता रहा। इसी विकसित उत्तर वैदिक कर्मकाण्ड के धार्मिक क्षेत्र में

ब्राह्मण साहित्य का आविर्भाव हुआ जिसके उत्तरोत्तर स्थूल मार्गो काव्य की प्रक्रिया की प्रतिक्रिया-स्वरूप उपनिषद् साहित्य के विशद तात्विक चिन्तन का सुन्दर स्वरूप प्रकाश में आया। इस प्रकार उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड दोनों का ही स्थूल तथा सूक्ष्म रूप में अन्वेपण किया गया जिसके परिणामस्वरूप कालान्तर में एक ऐसे धार्मिक साहित्य की रचना हुई जिसके सुन्दर स्पर्श से भारतीय अध्यात्म का कोई भी क्षेत्र अछूता न रहा। उत्तर वैदिक शिक्षा-पद्धति की पूर्ण पीठिका के रूप में इस धार्मिक साहित्य का एक संक्षिप्त अध्ययन अत्यावश्यक है।

ब्राह्मण साहित्य

उत्तर वैदिक काल में वेदों के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों का ही स्थान माना जाता है। वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा कही गयी यज्ञ आदि विधियों के एकत्र होने के कारण इनको ब्राह्मण कहा गया है। इनके प्रतिपाद्य विषय विधि तथा अर्थवाद हैं। विधि से अभिप्राय यज्ञों की सम्पादन-रीतियों से है। अर्थ-वाद द्वारा मन्त्रों की व्याख्या स्पष्ट की जाती है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में 'कर्मचोदनानि ब्राह्मणानि' कर्मकाण्ड के प्रेरक ब्राह्मण ही हैं ऐसी व्याख्या की गयी है; अथवा 'ब्रह्म वै वेदः तद् व्याख्यानानि ब्राह्मणानि' अर्थात् ब्रह्म शब्द ही वेद-वाचक है, उसकी ही व्याख्या ब्राह्मण है। उत्तर वैदिक काल में कर्मकाण्ड के स्थूलीकरण के कारण वेदों की भाषा बोल-चाल की भाषा से पृथक्-सी हो गयी थी। फलतः मन्त्रों के अर्थ भी जटिल तथा सर्वसाधारण की बुद्धि से परे होने के कारण लुप्तप्राय हो गये थे। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्रों की व्याख्या प्रामाणिक रूप में की गयी है। व्याख्या-प्रकरणों में अलंकारिक रूप में कथा, कहानी तथा राजाओं के शौर्य आदि का विवरण भी चित्रित किया गया है। उपलब्ध वैदिक साहित्य में अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। परन्तु उनमें बहुत से ग्रन्थ अप्राप्य हैं। प्राप्त ब्राह्मण ग्रन्थों में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

ऋग्वैदिक ब्राह्मण	...	ऐतरेय, कौषीतकी
सामवेद	...	ताण्ड्य
यजुर्वेद	...	तैत्तरीय तथा शतपथ
अर्थर्ववेद	...	गोपथ

कर्मकाण्ड-सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रतिष्ठापक होने के कारण इन ब्राह्मण ग्रन्थों को पुरोहितों का ग्रन्थ कहा जाता है। धार्मिक क्षेत्र में जटिल विधि-विधानों की उपख्यापना करके ब्राह्मणों ने न केवल वैदिक कर्मकाण्ड को ही पराकाष्ठा पर पहुँचाया था, अपितु इनके द्वारा आध्यात्मिक क्षेत्र में अपना पूर्ण आधिपत्य भी स्थापित किया था। इन ब्राह्मण ग्रन्थों की शिक्षा सामाजिक अभ्युदय के लिए प्रशंसनीय है।

आरण्यक

आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के ही परिशिष्ट भाग हैं। इनकी रचना गद्य तथा पद्यमय है। वनवासी वानप्रस्थियों के अध्ययन-अध्यापन तथा स्वाध्यायपरक यज्ञ-याग आदि विधि-विधानों के ज्ञापक होने के कारण ही इनको आरण्यक नाम से व्यवहृत किया गया है। इन आरण्यकों में वर्ण तथा आश्रम धर्माचरणों का उल्लेख तथा साथ ही याज्ञिक रहस्यों का उद्घाटन भी किया गया है। आरण्यकों के अनुसार अखिल विश्व यज्ञमय है। परन्तु यज्ञ आदि कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त स्वर्ग-सुख क्षयशील होने के कारण आत्यन्तिक सुख का जनक नहीं है। ज्ञान तथा कर्म एकांगी रूप में किसी को भी पारमार्थिक सुख प्राप्त कराने में असमर्थ हैं। अतः इनके मतानुसार ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय ही आत्यन्तिक सुख का प्रदाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में गृहस्थाश्रमियों के लिए यज्ञयागादि का विधान किया गया है, उसी प्रकार वनस्थी वानप्रस्थियों के लिए यज्ञ आदि महाव्रतों तथा हवनादि विषयक विवरण इन आरण्यकों में संगृहीत किये गये हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के समान ही आरण्यकों की भी शैली अत्यन्त सरल, मधुर, संक्षिप्त तथा क्रियाबहुल है।

उपनिषद्

आरण्यकों के पश्चात् उपनिषदों का समय आता है। इन उपनिषदों में भारतीय अध्यात्म अपने चिन्तन-रूप में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। जर्मन विद्वान् शोपेनहार के समान मैक्समूलर, मकडानल्ड प्रभृति अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी उपनिषदों के आध्यात्मिक सूक्ष्म विवेचन तथा ब्रह्मचिन्तन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए नहीं थकते। विश्व-प्रपंच से विराग लिये हुए ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी महात्माओं के तपःपूत शुद्धान्तःकरण से उपनिषदों के रूप में पुरोहित वाणी मानव संस्कृति के इतिहास की एकमात्र अक्षय निधि ही बन कर नहीं रह गयी, अपितु उसने मानवीय धर्म की एक ऐसी सुदृढ़ आधार-शिला उपन्यस्त की है जिस पर विश्व-संस्कृति पुष्पित एवं पल्लवित हो सकती है। शोपेनहार अपने हार्दिक उद्गारों को प्रकट करते हुए कहता है कि उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित धर्म ही भविष्य में विश्वधर्म होगा।

उपनिषद् शब्द की पर्यालोचना से उपनिषद् शब्द के अर्थ विद्वानों ने विविध रूप में प्रतिपादित किये हैं। परन्तु साररूप में उनका भाव यही है कि उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्या यया सा उपनिषत्..जिससे ब्रह्मविद्या प्राप्त हो, अथवा उपनितरां सादयति विनाशयति इति उपनिषद्..जो ब्रह्म के समीप पहुँचा कर अविद्यामूलक क्लेशों का नाश करे, अथवा उपनिषेत्तुं नितरां समीपे उपवेष्टुं समर्थः भवन्ति साधका

अनया इत्युपनिषद्..अर्थात् जिस ब्रह्म-विद्या के अध्ययन-अध्यापन के द्वारा ब्रह्म के अति समीप बैठने के योग्य हो उसे उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् शब्द की इस शाब्दिक मीमांसा के आधार पर सहज ही इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि उपनिषदों का निर्माण आत्मोत्कर्ष की चरम साधना को लक्ष्य में रख कर निखरे हुए विशुद्ध तात्विक चिन्तन को साकार रूप प्रदान करने के लिए एक अनुपम शिक्षा-पद्धति के आधार पर हुआ। यह शिक्षा प्रतिभासम्पन्न साधनाशील नैष्ठिक ब्रह्मचारियों को उच्च शिक्षा के रूप में आध्यात्मिक गूढ़ रहस्यों के प्रकाशनार्थ गुप्तरूप से दी जाती थी।

उपनिषदों में आये हुए वर्णनों से भी यह स्पष्ट है कि जिनकी ज्ञान-क्षुधा ब्राह्मण वैदिक गुरुकुलों के अध्ययन से शान्त न हो सकी थी, उनकी क्षुधा-शमन के लिए ही उपनिषदों का आविर्भाव हुआ। उपनिषद् काल में कर्मकाण्ड के चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई ब्राह्मण कालीन कर्मकाण्ड-धारा का रुझान पुनः एक बार ऋग्वैदिक कालीन साधनात्मक ज्ञान-चिन्तन-पद्धति की ओर हुआ। उपनिषदों ने कर्मकाण्ड-जनित विधि-विधानों की प्रक्रियाओं के प्रतिरोध के लिए स्पष्ट रूप में यह घोषणा भी की कि ब्रह्म की प्राप्ति याज्ञिक कर्मकाण्ड से कदापि नहीं हो सकती। ब्रह्म-प्राप्ति अनुभूतिजन्य अन्तर्मुखी साधना से ही सम्भव तथा सुलभ है। मुण्डक उपनिषद् में तो याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रत्याख्यान करते हुए, यहाँ तक कहा गया कि 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा:' तथा 'इष्टा पूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रे्यो वेदयन्ते प्रमूढा। नाकस्य पृष्टे ते सुकृतेनुभूत्वेलोकं हीनतरचाविशक्ति। कर्मकाण्ड-रूप यज्ञों में रत यज्ञकर्त्ता गौपुत्रों से बढ़ कर नहीं। वृहदारण्यकोपनिषद में यज्ञ करने वालों को देवताओं के पशु की संज्ञा से सम्बोधित किया गया है।[1] अतः कर्मकांड से पृथक् सत्य ज्ञान को ही मुक्ति का साधन माना गया है। 'ऋते ज्ञानाक्त मुक्तिः' बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं, यही उपनिषदों की घोषणा है। जीवात्मा का परमात्मा अथवा ब्रह्म में लीन होना ही मोक्ष का स्वरूप माना गया है। फलतः उपनिषदों को ऋग्वैदिक ज्ञान-काण्ड की परिणति भी कहा जा सकता है। तात्विक चिन्तन अथवा परम पुरुषार्थ के रहस्यों को जानने की इच्छा के परिणामस्वरूप जो बौद्धिक आन्दोलन उपनिषदों में हुआ, उसकी प्रेरणा से ही व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, तथा ज्योतिष वेदांगों के रूप में विकसित तथा गौरवान्वित हुए। इनका उद्देश्य जिज्ञासु छात्रों के निमित्त सत्य वेदार्थ का निरूपण करना ही था। यास्कीय निरुक्त तथा पाणिनीय व्याकरण के अंकुश के कारण शब्दों के तात्विक अर्थ एवं संस्कृत के शिष्ट भाषित स्वरूप-निर्धारण में विशेष सहयोग मिला है।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद...१।४।१०।

उपर्युक्त विवेचन से उत्तर वैदिक कालीन भारतीय शिक्षण की दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप में सामने आती हैं। प्रथम कर्मकाण्ड-परक तथा द्वितीय ज्ञानकाण्ड-परक। कर्मकाण्ड के निमित्त ही सामवेद तथा यजुर्वेद की रचना हुई। इस शिक्षा-पद्धति का विस्तृत विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुआ। उत्तर वैदिक काल के उत्तरार्द्ध में भारतीय शिक्षा पुनः ज्ञानकाण्ड की ओर अग्रसर हुई जिसकी अभिव्यंजना भारतीय आध्यात्मिक क्षेत्र में उपनिषदों के रूप में हुई। फलतः ब्रह्मवाद का नितान्त निखरा हुआ रूप प्रकाश में आया। इसके साथ ही उत्तर वैदिक शिक्षा-पद्धति का विस्तृत विवरण भी प्रस्तुत किया गया जो कि उपनिषद् साहित्य द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति से विशेष रूप से सम्बद्ध है। इस सुव्यवस्थित औपनिषदिक शिक्षा-पद्धति में मानव-जीवन का एक विशिष्ट लक्ष्य तो निर्दिष्ट किया ही गया था; साथ ही उस लक्ष्य-प्राप्ति के अनुकूल ही यथार्थ ज्ञान की सुव्यवस्थित रूप-रेखा भी प्रस्तुत की गयी। फलतः उपनिषद् साहित्य भारतीय शिक्षा का प्रौढ़ तथा आदर्श रूप कहा जा सकता है। आधुनिक शिक्षा-शास्त्र को भी अधिकांश में उक्त औपनिषदिक सिद्धान्तों का पोषक कहा जा सकता है।

शिक्षा का उद्देश्य

उपनिषद् साहित्य में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्य में ही शिक्षा का सार सुगुम्फित हुआ है। (अर्थात् शिक्षा वह है जिसके द्वारा मानव को सत्य-रूप ज्ञान का परम साक्षात्कार हो तथा साथ ही ब्रह्म की उपलब्धि भी।) अन्य भौतिक ज्ञान ब्रह्म-रूप सत्य-ज्ञान से परे होने के कारण अविद्या तथा अज्ञान कोटि में ही आते हैं; क्योंकि भौतिक ज्ञान साधना में लवलीन रहने पर मानव की न तो सांसारिक माया जाल से और न आवागमन से ही मुक्ति हो पाती है। सत्य ज्ञान की उपलब्धि ब्रह्म साक्षात्कार होने पर ही सम्भव है। जैसा कि उपनिषद् में गम्भीर घोष के साथ कहा गया है। 'भिद्यते हृदयग्रन्थि च्छिद्यन्ते सर्वे संशयः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।' मुण्डक ८।४० अर्थात् सत्य ज्ञानोपलब्धि से समस्त संशयों के निराकरण होने पर ही मानव को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और ब्रह्म-साक्षात्कार ही मानवीय जीवन का मूल उद्देश्य उपनिषद् में प्रतिपादित किया गया है। ऋग्वैदिक साधना तथा औपनिषदिक आत्म-चिन्तन का यही फलितार्थ है।

उपनयन

वैदिक शिक्षा-प्रणाली में 'उपनयन' का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। ऋग्वेद आदि में कई स्थलों पर इसका संकेत है। परन्तु प्रारम्भ में उपनयन

की प्रक्रिया अनिवार्य न थी। प्रायः लोग इस संस्कार के बिना भी पढ़ना प्रारम्भ कर देते थे। परन्तु उत्तर वैदिक काल में 'उपनयन' संस्कार की महत्ता पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो गयी। 'उपनयन' का शाब्दिक अर्थ 'पास ले जाना' है; अर्थात् शिक्षा के लिए गुरु के पास पहुँचाना। अथर्ववेद में उपनयन संस्कार का विस्तार से वर्णन किया गया है। सूत्र काल में द्विजों के लिए उपनयन-संस्कार अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। द्विज शब्द का भाव ही यह है कि जिस के दो जन्म हों। माता-पिता के जन्म देने के उपरान्त भी जब तक आचार्य के द्वारा बालक का उपनयन-संस्कार न होता था, वह द्विज नहीं कहा जा सकता था। उपनीत बालक को ही आचार्य सावित्री मन्त्र (गुरु मन्त्र) का उपदेश कर शिक्षा देना प्रारम्भ करता था। आचार्य द्वारा बालक का आध्यात्मिक जन्म होता था। मानवीय जीवन के उन्नयन की आधार-शिला उपनयन संस्कार द्वारा ही सम्पन्न होती थी। उपनयन की इस आर्य-पद्धति को आज तो सेमेटिक[1] धर्म वाले भी प्रकारान्तर से मानते हैं। बिना बपतिस्मा लिए कोई क्रिश्चियन नहीं कहा जा सकता, बिना कलमा के कोई मुसलमान नहीं होता। इसी प्रकार उस समय जिसका उपनयन-संस्कार सम्पादित नहीं होता था, वह ज्ञान तथा धार्मिक विधि-सम्पादन से वंचित ही रखा जाता था। 'उपनयनमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः' की उक्ति के अनुसार उपनीत बालक को आचार्य के पाणिपल्लव की कोमल छाया प्राप्त होती थी। आचार्य आगन्तुक बालक से अग्नि के समक्ष :—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि ममचित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

इस प्रतिज्ञा-मन्त्र को बोल कर गुरु बालक से न केवल भौतिक सम्बन्ध अपितु आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर उसके जीवन के उन्नयन एवं आत्मिक विकास में सचेष्ट हो जाता था। पुनः आचार्य बालक से पूछता था कि 'कस्य ब्रह्मचारी असि; अर्थात् तुम किसके ब्रह्मचारी हो,। 'व्रती उपनीत बालक भवतः'—आपका, यह कह कर बालक अपनी कोमल एवं निर्मल आत्मा को आचार्य को समर्पण कर मनोयोग पूर्वक अध्ययन एवं अपने नियत कर्त्तव्यों में संलग्न हो जाता था।

आचार्य तथा उपनीत ब्रह्मचारी छात्र का विशुद्ध आध्यात्मिक एवं नैतिक आधार पर आश्रित यह सम्पर्क आधुनिक कृत्रिम तथा यान्त्रिक रीतियों से सर्वथा मुक्त था। उपनीत ब्रह्मचारी की शारीरिक प्रसाधन सामग्री कुश, मेखला, मृगछाला लम्बे जटिल केश, दण्ड तथा कमण्डल थे और उसके आभ्यान्तरिक चिह्न थे—श्रम तपस और दीक्षा;—जो कि ज्ञान, कर्म तथा उपासना के ही स्थूल रूप कहे जा सकते

१. Semetic Religion.

हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य में ब्रह्मचर्य की महिमा विशेष रूप से वर्णित की गयी है। साथ ही अथर्ववेद में तो परब्रह्म को ही परम ब्रह्मचारी के नाम से वर्णित किया गया है। निखिल सृष्टि को ब्रह्मचर्य ही के तप का फल माना गया है। छान्दोग्योपनिषद् में भरद्वाज प्रश्नकर्त्ता के एवं प्रवक्ता के रूप में इन्द्र का यह सम्वाद कि "पुण्यमिति, ब्रह्मचर्यमिति, किं लौक्यमिति, ब्रह्मचर्यमिति, किं सौख्यमिति ब्रह्मचर्यमिति अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत पुण्य, लौकिक तथा पारलौकिक सुख का अक्षय कोष है"—ब्रह्मचर्य की महत्ता पर विशेष प्रकाश डालता है। महाभारत में भगवान् कृष्ण ने मृत परीक्षित के जन्म के समय अपने ब्रह्मचर्य की दुहाई दे कर ही उसको जीवित किया था। यहीं तक नहीं, ब्रह्मचर्य की महिमा की प्रशस्ति में यहाँ तक कहा गया है कि जिस देश में एक भी ब्रह्मचारी होता है वहाँ ईति भीति तथा अकाल का भय नहीं होता।

उपनिषद् काल में जीवन को आनन्दमय बनाने के लिए सभी को समान सुविधाएँ प्राप्त थीं। किसी भी छात्र के लिए वंश परम्परागत जाति-पाँति-परक कोई भी प्रतिबन्ध नहीं था। आचार्य छात्र का नाममात्र जान कर मनोवैज्ञानिक आधार पर उसका आभ्यान्तरिक परीक्षण कर उसको शिष्यत्व की दीक्षा से विभूषित करते थे। सम्भ्रान्त कुलोत्पन्न छात्रों के समान ही अन्य सभी छात्रों को उपनयन तथा ब्रह्मचर्य व्रत-पालन का अधिकार समान रूप से प्रदान किया जाता था। उपनयन-संस्कार की छात्र-जीवन में यही विशेषता थी कि उपनीत छात्र ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा आजीवन अपने ओज, तथा कर्त्तव्य को अक्षुण्ण रखने में समर्थ होता था।

पाठ्य विषय

उत्तर वैदिक काल में पाठ्य विषयों की संख्या ऋग्वैदिक काल के विषयों की अपेक्षा बहुत अधिक हो गयी। ऋग्वैदिक काल में तो पाठ्य विषय प्रधान रूप से ऋग्वैदिक मन्त्रों से ही सम्बद्ध थे। ध्वनि, छन्द तथा व्याकरण की शिक्षा का भी सूत्रपात हो चुका था। परन्तु उत्तर वैदिक काल में चारों वेदों से सम्बन्धित विशाल साहित्य का भी निर्माण हुआ। धार्मिक साहित्य के विकास के साथ ही भौतिक साहित्य का सृजन भी इसी काल में हुआ। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित नारद-सनत्कुमार का सम्वाद इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। सनत्कुमार से आग्रह करते हुए नारद, कहते हैं "भगवन्, मुझे उपदेश दें।" सनत्कुमार उत्तर देते हुए कहते हैं "नारद तुम जो कुछ जानते हो विस्तारपूर्वक उसे बतलाते हुए आस्थावान् होकर समीप बैठो।" नारद विनीत-भाव से बैठ कर निवेदन करते हुए कहते हैं, "भगवन्, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद, वाकोवाक्य इतिहास-पुराणरूपी पाँचवाँ

वेद भी जानता हूँ। साथ ही, वदिक व्याकारण, निरुक्त, श्राद्ध, कल्प-राशि (गणित) दैव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, देव-विद्या, क्षत्र तथा नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या, देवजन-विद्या (नृत्य-संगीत आदि) सभी विद्याएँ जानता हूँ।'

उपर्युक्त विद्याओं से भिन्न उपनिषद् साहित्य में एक विशिष्ट विद्या का उल्लेख मिलता है जिसको परा-विद्या कहा गया है। परा-विद्या ब्रह्म-विद्या की द्योतक हैं और यह समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ है। इस विद्या के अध्ययन से ही उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव थी। आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाली होने से ही इसको परा-विद्या की श्रेष्ठ संज्ञा प्रदान की गयी थी। आत्मा को परमात्मा से पृथक् रखने के कारण अन्य विद्याओं को अविद्या कहा गया है। कठोपनिषद् में वेदान्तों के ज्ञान तक को अपरा-विद्या (अविद्या) के नाम से कहा गया है।[1] फलतः इस परिणाम पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में छात्रों के पाठ्य विषयों का विस्तार बहुत अधिक हो गया था। परन्तु उपर्युक्त सभी विषयों का अध्ययन वैदिक छात्रों के लिए सम्भव न था। अतः कोई छात्र किसी एक वेद तथा उससे सम्बद्ध साहित्य तक ही अपने अध्ययन को सीमित रख सकता था। तीनों वेद के ज्ञाताओं को ब्राह्मण ग्रन्थों में श्रोत्रिय की संज्ञा दी गयी है। कालान्तर में इन्हीं को त्रिवेदी कहा जाने लगा। त्रयी विद्या को ही वास्तविक ज्ञानोपलब्धि का कारण माना गया है। काक संहिता में तीन वेद के ज्ञाता विद्यार्थी को त्रिशुक्रिय भी कहा गया है।

उत्तर वैदिक काल में वेदत्रयी के ज्ञान को तो उत्कृष्टता प्रदान की गयी थी ही, इसके साथ ही विशेषीकृत अध्ययन[2] की भी व्यवस्था प्रगति पाकर बहुत आगे बढ़ चुकी थी। फलतः एक वेद से सम्बन्धित विविध अंगों के ज्ञानार्थ कई तरह के विद्यालय भी प्रचलित हो गये थे। पुस्तकीय ज्ञान की 'जिह्वा-भार' कह कर उपेक्षा की जाती थी और निष्ठापूर्वक श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा अर्जित ज्ञान को ही प्रकृष्टता प्रदान की गयी थी।

अध्यापन-प्रणाली

ऋग्वैदिक कालीन श्रवण, मनन निदिध्यासन तीनों मनोवैज्ञानिक शिक्षा-प्रणाली का उत्तर वैदिक कालीन अध्यापन-प्रणाली में प्रचलन था। वृहदारण्यक उपनिषद् में उपर्युक्त आध्यात्मिक शिक्षा के तीनों चरणों की व्याख्या की गयी है। शिष्य श्रवण द्वारा श्रद्धा पूर्वक गुरु के वचन को सुनता था, मनन के द्वारा उनके वचन

---

१. मुन्डक १।१।५

२. छान्दोग्य उपनिषद् ८।७।११।३।

का बौद्धिक विश्लेषण करता था तथा निदिध्यासन द्वारा विचार किये गये अर्थ की अनुभूति करता था। फलतः ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में शिष्य की संयमित चेष्टा को ही प्रधानता दी गयी थी।

शिक्षक या गुरु की महनीय महत्ता छात्र के मार्ग-दर्शन के कारण ही थी। छात्र के लिए यह आवश्यक था कि वह स्वाध्यायपूर्वक गुरु के उपदेशों का श्रवण करे और तात्विक तथ्यों के प्रत्यक्षीकरण के लिए अपने अनुभव तथा आत्म-चिन्तन से प्राप्त तथ्यों को हृदयंगम करे। उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में इस प्रणाली के अनेक दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। ब्रह्मा ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म-ज्ञान की रूप-रेखा मात्र बतला कर आदेश दिया था कि वे साधनात्मक स्वाध्याय का आशय ग्रहण कर ब्रह्म-ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण करें। भृगु ने इस प्रणाली को हृदयंगम कर लगातार चार बार इसका उपयोग कर अपने अनुभव द्वारा ब्रह्म-ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण किया। छान्दोग्य उपनिषद् में इसी प्रकार का आदेश आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को भी देते हुए दृष्टि-गोचर होते हैं। उन्होंने श्वेतकेतु को १५ दिन तक जल पर आश्रित रख कर मन अन्नमय है, प्राण जलमय है तथा वाक् तेजोमय है, इस शाश्वत सत्य का अनुभवात्मक ज्ञान कराया। इसी प्रकार आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध को बताने के लिए महर्षि आरुणि श्वेतकेतु को वट अश्वत्थ-वृक्ष का फल लाने का आदेश देते हैं। श्वेतकेतु वट-वृक्ष का फल लाकर एवं उसका सम्यक् निरीक्षण करके पिता द्वारा निर्दिष्ट आत्मा तथा सत्य की व्यापक महिमा का ज्ञान प्राप्त करता है।

उपर्युक्त चारों प्रणालियों के साथ ही सर्वप्रथम उपनिषद् साहित्य में प्रश्नोत्तर प्रणाली का भी प्रारम्भ दृष्टिगोचर होता है जिसके द्वारा 'तत्वमसि' महावाक्य के गूढ़तम आध्यात्मिक तथ्यों का स्पष्टीकरण अत्यन्त रोचक तथा हृदय-स्पर्शी ढंग से किया जाता था। इस प्रणाली में मौखिक शिक्षा के समस्त उपादेय उपादानों अर्थात् दृष्टान्त, कथा, कहानी, जीवन-वृत्त आदि सभी का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता था। यूनान के प्रसिद्ध मनस्वी तथा दार्शनिक तत्ववेत्ता सुकरात ने अपने शिष्यों को इसी प्रणाली द्वारा सत्य-ज्ञान का उपदेश दिया था।

छात्र-दिनचर्या

गुरु के आश्रम मे रहने वाले छात्रों के लिए एक निश्चित दिनचर्या का विधान किया गया था जिसके द्वारा उसको ब्रह्मचर्य व्रत में तत्पर रहते हुए सदव विद्याध्ययन में सावधानी के साथ संलग्न रहना आवश्यक था। उसकी दैनिक शिक्षा में व्यावहारिक, मानसिक तथा नैतिक तीनों ही प्रकार की शिक्षाओं का समावेश था। इस दैनिक शिक्षा को एक प्रकार से शिक्षा-प्रणाली का ही अभिन्न अंग माना जा सकता है।

व्यावहारिक शिक्षा—व्यावहारिक शिक्षा के प्रमुख रूप से तीन ही अंग थे:, १—भिक्षाटन, २—होम की अग्नि प्रज्वलित रखना तथा ३—पशुओं की सेवा। इसके साथ ही भूमि-सेवा भी उस के लिए आवश्यक मानी जाती थी। भिक्षाटन से शिष्य का हृदय विनम्रता के भद्र भावों से आवर्जित हो जाता था। होम-शिखा की दिव्य ज्योति के प्रज्वलित रखने से उसका बौद्धिक विकास तो होता ही था, साथ ही तेज भी उदित हो कर प्रवृद्ध होता था। पशुओं की सेवा तथा भूमि-सम्बन्धी कार्य से उसका शरीर स्वस्थ एवं आचरण पवित्र रहता था। फलत: व्यावहारिक शिक्षा द्वारा छात्र विनम्रता की मूर्ति, आध्यात्मिक तेजधारी तथा ऊदीनात्मा होता था। धीर, वीर तथा गम्भीरमना छात्र, ब्राह्मण तथा उपनिषद् काल में सेवा-धर्म के गूढ़ परम रहस्य को उस व्यावहारिक शिक्षा से अनायास ही सीख जाते थे। भिक्षा-वृत्ति, यज्ञ-अग्नि, परिचर्या तथा पशु-सेवा सम्बन्धी अनेक उदाहरण अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक में पाये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में सत्यकाम जावाल के सम्बन्ध में यह उल्लेख पाया जाता है कि वह गुरु की गायों की सेवा तब तक करता रहा जब तक कि ४०० गायें बढ़ कर १००० न हो गयीं। भूमि तथा गौ-सेवा ब्रह्मचारी का पवित्र कर्त्तव्य इसलिए भी माना गया था कि प्राचीन भारत में ये दो पूज्य माताएँ आर्थिक समृद्धि की प्रधान साधिका मानी जाती थीं।

मानसिक शिक्षा—व्यावहारिक शिक्षा की भाँति मानसिक शिक्षा के भी प्रधान अंग श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, ये तीन ही माने गये हैं। इन तीनों अंगों के समुचित सम्पादन से ही शिष्य-छात्र को ज्ञान का साक्षात्कार होता था। शिष्य की यह शिक्षा अनुभवात्मक प्रत्यक्षीकरण पर आश्रित थी। शिक्षा-सम्पादन के लिए गुरु के उपदेशों का श्रवण मात्र ही पर्याप्त था। उत्तर वैदिक काल में अध्ययन-अध्यापन-सम्बन्धी व्यावहारिक नियमों का पालन करना गुरु तथा शिष्य दोनों के ही लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक था। छात्र के लिए स्वाध्याय-रूप ब्रह्म-यज्ञ अनिवार्य था। धर्म के यज्ञ, अध्ययन, दान रूपी तीन स्कन्धों में से छात्र को यज्ञ तथा अध्ययन में सदैव अप्रमत्त (सावधान) रहने का आदेश दिया गया है। स्वाध्याय को ब्रह्म यज्ञ मानते हुए शतपथ ब्राह्मण के ११।५।६।३ में कहा गया है :—

"स्वाध्यायो वै ब्रह्म यज्ञ: ।

प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवत:, युक्तमना भवति, अपराधीन: अहरहरर्थान् साधयते। सुखं स्वपिति, परमचिकित्सक आत्मनो भवति इन्द्रिय संयमश्च। एकात्मता च प्रज्ञाबुद्धि:......प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान्-ब्राह्मण्य मनिष्पादयति।

अर्थात् स्वाध्याय-रूप ब्रह्म यज्ञ के सम्पादन से व्यक्ति स्वाध्याय तथा उपदेश-प्रिय

होते हैं, स्वाध्यायी आप्तकाम होता है, और कभी भी पराधीन नहीं होता। दिन-प्रतिदिन अनेक प्रयोजनीय अर्थों की साधना करता है, सुख से सोता है। आत्मा का परम चिकित्सक होता है, किंबहुना स्वाध्यायी इन्द्रिय-संयमी भी हो जाता है। उसकी एकाग्रता, प्रज्ञा तथा मेधा बुद्धि विकसित हो जाती है और वह अपनी प्रज्ञा का विकास करता हुआ चारों धर्मों का सम्पादन करते हुए ब्रह्म-साक्षात्कार-रूप ब्राह्मण धर्म का पालन करने में समर्थ होता है। तैत्तरीय आरण्यक में स्वाध्याय को पापहन्ता कहा गया है। मानसिक शिक्षा द्वारा छात्र स्वाध्याय-यज्ञ का सम्पादन करता हुआ अपनी आत्मा को निर्मल तथा विशुद्ध पापरहित बनाने में समर्थ होता था। मानसिक शिक्षा का यही प्रधान लक्ष्य था। मानसिक शिक्षा के सम्पादनार्थ छात्र के लिए महाव्रत का विधान किया गया था। महाव्रत १२ साल पर्यन्त एकनिष्ठ होकर ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हुए स्वाध्याय करने पर ही पूर्ण होता था।

नैतिक शिक्षा—नैतिक शिक्षा का सम्बन्ध छात्र के आचार से था। 'सदाचार ही जीवन है' यह पवित्र घूँटी छात्र को प्रारम्भ से ही पिलाई जाती थी। सदाचार की शिक्षा गुरु के उपदेश के श्रवण मात्र से ही सम्भव नहीं, अपितु इसके लिए छात्र को ब्रह्मचर्य के कठोर अनुशासन-व्रत में तो रहना ही पड़ता था; साथ ही कुछ विशिष्ट अभ्यासों की व्यावहारिक साधना भी करनी पड़ती थी। प्रत्येक गुरु, ब्रह्मचारी छात्र के शुद्धाचरण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था। शुद्धाचरण के लिए सात्त्विक आहार आवश्यक था। अतः खानपान के विषय में तामसिक पदार्थों पर प्रतिबन्ध था। मानव-धर्मशास्त्र के अध्याय २ में ब्रह्मचारी के आहार तथा नैतिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में लिखा है :—

> वर्जयेन्मधुमासं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
> सुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
> अभ्यङ्गमन्जाम् चाक्षणोरुपानच्छत्र धारणम्।
> कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम्॥
> द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथा नृतम्।
> स्त्रीकं प्रेक्षणा लम्भृ मुपघातं परस्य च।
> एकः शयीत सर्वत्र नरेतः स्कन्दयेत् क्वचित्॥
> कामाद्धि स्कन्दय नूरेता हिनस्ति व्रकमात्मनः॥ मनु० अ० २
>
> मनु० २। १६७, १८०।

अर्थात् ब्रह्मचारी छात्र को मद्य, मांस, सुगन्धित द्रव्यों का सेवन, रस, स्त्री-प्रसंग, खट्टे, चटपटे भोजन का सेवन, प्राणि-हिंसा, तैल-मर्दन, साथ ही समस्त शृंगारिक प्रसाधन-

सामग्री तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, ईर्ष्यादि दोष; नाच-गान, असत्यभाषणादि सभी सदाचार विरुद्ध बातें छोड़ कर ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करनी चाहिए। स्वेच्छाचारिता छात्र के लिए सदैव त्याज्य है। छात्र के लिए 'शिरोव्रतम्' का भी विधान था। इस व्रत के अनुसार 'जटिलोवास्यात् मुन्डी वा स्यात्' जटाधारी अथवा घुटमुण्ड रहना पड़ता था। शिरोव्रत का सिर द्वारा समिधा ढोने के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता था। उपर्युक्त व्रतों के विधान का छात्र के जीवन के लिए एक ही ध्येय था कि छात्र शारीरिक सौन्दर्य से सर्वथा पृथक् रहता हुआ आत्मिक पवित्रता के लिए सदैव निष्ठावान तथा जागरुक रहे। गुरु का आदर्श जीवन तथा गुरु की सत्कर्मरत दिनचर्या उल्लिखित व्रतों के पालन करने की छात्र को प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान करती थी।

अध्ययन-काल

उपनिषद् काल में यद्यपि विषयों की विविधता के कारण विद्यालयों की संख्या बढ़ गयी थी, फिर भी छात्रों के ज्ञानार्जन की अवधि अथवा अध्ययन-काल सामान्यतः १२ वर्ष का ही था। श्वेतकेतु ने अपने गुरु से १२ वर्ष तक ही अध्ययन किया था। सत्यकाम जावाल की अग्नि को उपकौशल ने १२ वर्ष तक ही प्रज्वलित रखा था। परन्तु जावाल ने स्वयं अपने गुरु की गायों की सेवा इससे भी अधिक काल तक की थी। कुछ ऐसे भी छात्रों का उल्लेख मिलता है जो कि ३२ वर्षों तक विद्याध्ययन करते रहे। ऐतरेय ब्राह्मण में एक ऐसे छात्र का भी उल्लेख किया गया है जो कि अपने गुरु के यहाँ बहुत वर्षों तक रहा और उसके आने की सम्भावना न होने पर पिता ने अपनी सम्पत्ति अन्य पुत्रों में वितरित कर दी। वस्तुतः अनन्तज्ञान-सम्पन्न शास्त्रों के अध्ययन के लिए एक जन्म कभी पर्याप्त नहीं। इस सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित इन्द्र तथा भरद्वाज का एक रोचक वृत्तान्त दृष्टव्य है। भरद्वाज आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर ज्ञानार्जन करते रहे। उनकी इस ज्ञान-निष्ठा को देख कर इन्द्र परिवर्तित वेष में परीक्षार्थ भरद्वाज के सम्मुख उपस्थित हुए। प्रश्नोत्तर-क्रिया के अनन्तर इन्द्र ने उनकी साधना से सन्तुष्ट हो उनको ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण कराने के निमित्त अपने साथ ले जाकर ज्ञान-रूप चार पर्वतों के दर्शन कराये। वे पर्वत चारों वेदों के ही साकार रूप थे। इन्द्र ने भरद्वाज से एक मुट्ठी भर लेने को कहा, आदेशानुसार भरद्वाज ने एक पर्वत की तलहटी में से एक मुट्ठी मिट्टी भर ली। इन्द्र ने कहा कि 'भरद्वाज' अभी तक तुमने एक मुट्ठी मात्र ही ज्ञान प्राप्त किया है, और शेष सब अछूता ही है।' भरद्वाज यह सुनकर आश्चर्य में पड़ गये। इस आख्यायिका से इतना स्पष्ट है कि अनन्त ज्ञान-सम्पत्ति के लिए एक जन्म क्या अनेक जन्म भी नगण्य ही हैं। इसीलिए उपनिषदों में परम ज्ञान-प्राप्त्यर्थ

लम्बी अवधि की आवश्यता पर बल दिया गया है । स्वयं इन्द्र का ज्ञान-प्राप्ति के हेतु प्रजापति के यहाँ १०१ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का सेवन करते हुए रहे थे। वस्तुतः शिक्षा की अवधि का समय बहुत कुछ छात्र की प्रतिभा से सम्बन्ध रखता था। यदि छात्र अपनी नियत पाठ-विधि को १२ वर्षों के निर्धारित समय में पूर्ण करने में असमर्थ रहता था तो वह आगे भी अपना अध्ययन करता ही रहता था। मेगस्थनीज (ईसवी पूर्व ३००) के समय में भी कुछ भारतीय विद्यार्थी ३७ वर्ष की लम्बी अवधि तक विद्याध्ययन करते थे, ऐसा इतिहास में उल्लेख मिलता है। फलतः शिक्षा की अवधि छात्र की क्षमता, रुचि एवम् प्रतिभा पर आश्रित थी ।

गुरु और छात्र का सम्बन्ध

उपनिषद् काल में गुरु और छात्र का सम्बन्ध अत्यन्त मधुर तथा स्निग्ध था। गुरु छात्र से पुत्रवत् स्नेह करते थे और छात्र आज्ञाकारी विनम्र तथा शिष्ट पुत्र की भाँति गुरु की सेवा करना अपना परम पवित्र धार्मिक कर्त्तव्य समझता था। गुरु का संरक्षण प्राप्त करने के लिए गुरु के समक्ष छात्र शिष्य-रूप में हाथ में अग्नि लेकर उपस्थित होता था; इसका पवित्र आशय यह था कि वह गुरु की परिचर्या के साथ ही साथ अपने गुरु की यज्ञ-शाला की अग्नि सदैव प्रज्वलित रखेगा। उपनिषद् काल में यद्यपि कर्मकाण्ड का स्थान तत्व-चिन्तन-ज्ञान ने ले लिया था फिर भी यज्ञों की प्रचुरता कम नहीं हुई थी।

उपनिषदों म अग्निहोत्र को ब्रह्मचारी छात्र का आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य कर्त्तव्य बताया गया है। ब्रह्मचारी छात्र के लिए यज्ञ-अग्निहोत्र संजीवनी शक्ति मानी गयी है। अग्निहोत्र की महत्ता प्रदर्शित करते हुए उपनिषद् में एक सुन्दर आख्यायिका का उल्लेख हुआ है जिसमें मृत्यु यमाचार्य से अपनी क्षुधा-शान्ति के लिए आहार की याचना करते हुए लक्षित होती है। यमाचार्य विश्व की समस्त वस्तुओं को मृत्यु के आहार के लिए दे देता है, परन्तु ब्रह्मचारी को नहीं देता। मृत्यु सब कुछ भक्षण करने के उपरान्त भी अपनी क्षुधा-शान्ति के निमित्त यम से आहार की माँग करती है। यम कहते हैं—'सब कुछ दे दिया, अब क्या दूँ।' मृत्यु ब्रह्मचारी को अपने आहार के लिए, क्षुधा-तुष्टि के लिए उससे माँगती है, यम मृत्यु के आग्रह की रक्षा करते हुए कहते हैं कि 'तुम ब्रह्मचारी को जिस दिन अग्निहोत्र नहीं करेगा उस दिन मार सकती हो; खा सकती हो।' अतः ब्रह्मचारी छात्र के लिए अग्निहोत्र आत्मरक्षा के निमित्त अमरता की ढाल भी था। अग्निहोत्र ज्ञान की प्रयोगशाला ही नहीं थी, अपितु तपस्या तथा सेवा का सुन्दर सोपान भी था।

ब्रह्मचारी का गुरु के यहाँ समित्पाणी होकर जाने का भी यही आशय था कि गुरु की यज्ञाग्नि को वह सदैव प्रज्वलित रखेगा। यज्ञाग्नित के प्रज्वलिन रूप की परिचर्या

करने में ही छात्र में वे सब गुण अनायास ही स्थान पा लेते थे जो कि छात्रावस्था को समुन्नत बनाते हुए आत्मिक विकास में सहायक होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अध्ययन से आत्म-तत्व के जिज्ञासु देवराज इन्द्र तथा असुराधिप विरोचन का समित्पाणी होकर प्रजापति की शरण में जाने का पता चलता है। शतपथ ब्राह्मण में भी शिष्य के लिए समित्पाणी होकर गुरु की शरण में जाने का विधान किया गया है।

छात्रों के कर्त्तव्य के साथ ही गुरु के कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व का भी पूर्ण विवेचन किया गया है। गुरु अपने शिष्यों का पुत्रवत् पालन करता था। शिष्य के रहन-सहन, भरण-पोषण तथा योग-क्षेम का समस्त भार गुरु पर ही होता था। आवश्यकता होने पर गुरु शिष्य की रुग्णावस्था में सेवा भी करते थे। पारस्परिक स्निग्ध-सौहार्द्य के कारण गुरु-शिष्य के सम्बन्ध इतने दिव्य तथा स्नेहपूर्ण हो जाते थे कि, शिष्य शिष्य न रह कर गुरु का पुत्र बन जाता था। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि गुरु के पवित्र वात्सल्य प्रेम को पाकर छात्र अपने घर तक को भुलाकर आजीवन गुरु-गृह पर ही रह कर अपनी जीवन-यात्रा सफल करते रहे। ऐसे शिष्यों को 'अन्तेवासिन' कह कर सम्बोधित किया जाता था। वात्सल्यमयी ममता तथा स्नेहपूर्ण व्यवहार के साथ ही साथ गुरु का यह भी पावन कर्त्तव्य था कि वह ब्रह्म-तत्व का सनातन सत्य-रूप में ही शिष्य को प्रत्यक्ष ज्ञान कराए। अपनी शरण में आये हुए प्रशान्त चिन्तात्मा तथा शमदमादि गुणों से विभूषित शिष्य को अविनाशी ब्रह्म का तात्विक ज्ञान करा देना गुरु अपना परम कर्तव्य समझता था।

जहाँ योग्य शिष्य को शिक्षा प्रदान करने के लिए गुरु पर यह प्रतिबन्ध था, वहाँ उसके साथ ही गुरु को इस बात की स्वतन्त्रता भी थी कि शिष्य की परीक्षा कर अयोग्य शिष्य को ब्रह्म-विद्या के अमृतोपदेश से वंचित रखे, क्योंकि :

न मलिन चेतस्युपदेश वीजप्ररोहोऽजवत्।

सांख्य अध्याय ४। २९

मलिन चित्त में गुरु का उपदेश रूपी बीज अंकुर-रूप में पल्लवित नहीं हो पाता। गुरुदेव वशिष्ठ द्वारा दिया गया उपदेश राजा अज के लिए शोकनाशक न होकर शोकवर्द्धक ही रहा। अतः गुरु को सावधान करते हुए स्पष्ट रूप में यह आदेश दिया गया था कि एक मास, ६ मास अथवा वर्ष पर्यप्त परीक्षोपरान्त ही सम्यक परीक्षा करके पुत्र अथवा शिष्य को ब्रह्म का तात्विक उपदेश देना चाहिए, और अयोग्य पुत्र अथवा अयोग्य शिष्य को भूल कर भी स्नेहवश ब्रह्म का उपदेश नहीं देना चाहिए। उपनिषद् काल में पवित्र आचरण तथा मेधा-बुद्धि विशेष रूप से समादृत हुई। फलतः ब्रह्म-तत्व तथा आध्यात्मिक शिक्षा की पवित्रता अबाध रूप से सुरक्षित चली आ रही है।

उत्तर वैदिक काल में आध्यात्मिक शिक्षा बहुधा पिता ही पुत्र को दिया करता था। छान्दोग्योपनिषद् द्वारा श्वेतकेतु के अपने गुरु के अतिरिक्त अपने पिता आरुणि द्वारा तथा तैत्तरीयोपनिषद् में भृगु के अपने पिता वरुण द्वारा ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मणों के लिए आश्रम-व्यवस्था तथा उपनयन आदि संस्कारों की मर्यादा भी शिथिल कर दी गयी थी। इस सम्बन्ध में जावाल के पुत्र सत्यकाम का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है जिसने कि स्वेच्छा से ही विद्याध्ययन प्रारम्भ किया था। अश्वपति कैकय ने प्राचीन शाला आदि महा गृहस्थ श्रोत्रियों को वैश्वानर आत्मा का ज्ञान बिना उपनीत हुए ही दिया था। फलतः उपर्युक्त दृष्टान्तों से इस परिणाम पर सहज ही पहुँचा जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में ब्रह्मचर्याश्रम की अनिवार्यता न थी। चारों आश्रमों की धार्मिक अनिवार्यता का विधान बाद में आया।

गुरु का गौरवास्पद स्थान

भारतीय जीवन में गुरु का स्थान अत्यधिक गौरवपूर्ण रहा है। इसीलिए सरस्वती के पावन मंदिरों को गुरुकुलों की संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। मानव-जीवन के स्वास्तिक को निर्माण करने वाले ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चारों ही आश्रमों में गुरु की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है। शिक्षा के क्षेत्र में स्वाध्याय की प्रधानता होते हुए भी गुरु को गौरवास्पद स्थान देने का प्रधान कारण यही है कि 'बिनु गुरु होत न ज्ञान', ज्ञान-आत्मसाक्षात्कार बिना गुरु के असम्भव है। स्वाध्याय की प्रक्रिया प्रदर्शित करते हुए शुक रहस्य में कहा गया है :

'श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्
निदिध्यासनमित्येतत् पूर्णं बोधस्य लक्षणम् ॥

गुरु के उपदेश को ध्यानपूर्वक श्रवण करने के उपरान्त ही मनन तथा निदिध्यासन-रूप स्वाध्याय की प्रक्रियाओं को उपयोगी माना गया है। गुरु शब्द का अर्थ भी विशिष्ट भाव-निर्मित है...'गिरति अज्ञानं, गृणाति उपदिशति वा धर्मं सः गुरुः' अर्थात् जो अज्ञान को दूर करे अथवा धर्म का उपदेश दे, वह गुरु कहलाता है। औपनिषदिक शिक्षा-पद्धति में गुरु का यह गौरव अक्षुण्ण ही नहीं, अपितु वह लौकिक पराकाष्ठा पर भी पहुँच गया था। कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता आत्म-जिज्ञासु को उपदेश देते हुए, गुरु की महिमा इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :

न नरेणावरेण प्रोक्तं एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान ह्यतर्क्यमणु प्रमाणात् ॥

अर्थात् आत्म-तत्व का ज्ञान सुयोग्य शिक्षक के बिना शिक्षार्थी के लिए असम्भव ही है।

जो व्यक्ति प्रज्ञागर्वित हो स्वयं ही आत्म-ज्ञान की साधना में तल्लीन होता है उसकी अवस्था 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' अन्धे से ले जाये गये अन्धे के सदृश ही होती है। अतः परम ज्ञान के जिज्ञासु को ब्रह्म-निष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए। जीवन को नियमित तथा अनुशासित रखने के लिए साथ ही लौकिक तथा पारलौकिक प्रकृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिए भी मानवीय जीवन में गुरु की सदैव आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रमों की समाप्ति पर भी वानप्रस्थाश्रमी ब्रह्मजिज्ञासु के लिए तभी तो उपदेश दिया गया है :

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

अर्थात् धर्मचर्यारत वानप्रस्थी को ब्रह्म को जानने के लिए हाथों में समिधा लेकर वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए।

जहाँ जिज्ञासु के लिए आदेशों तथा नियमों का विधान किया गया है, वहाँ गुरु की स्वेच्छाचारिता पर भी प्रतिबन्ध का विधान है। मैत्रायण उपनिषद् में अधिकारी पुत्र अथवा शिष्य को ही माना गया है। पुत्र अथवा शिष्य गुरु का प्रतिबिम्ब ही होता है। अतः उनके सत्पात्र होने में, उनमें सुरुचि तथा सदाशयता के होने में सन्देह का लेश भी नहीं होता। उच्चतम ज्ञान-गरिमा की प्राप्ति के लिए छात्र के लिए श्रद्धा का प्रतिबन्ध भी रखा गया है। शिक्षक में पूर्ण आस्था तथा श्रद्धा रखने से ही छात्र गुरुगत ज्ञानालोक का अधिकारी बनता है। छात्र ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं की खोज में आधुनिक वैज्ञानिक शोधकों की भाँति सदैव सचेष्ट रहते थे, साथ ही गुरु भी चरित्र एवं निष्ठा-सम्पन्न छात्रों की सदैव कामना किया करते थे। तैत्तरीयोपनिषद् में गुरु ने सच्छिष्यों की कामना करते हुए कहा है :

'यथापः प्रवहता भन्ति यथामासा अहर्जरम्।। एवं मां ब्रह्मचारिणो धात-रायन्तु सर्वतः स्वाहा।' अर्थात् जिस प्रकार बहता हुआ जल-प्रवाह समुद्र में तथा महीने तथा दिनों का अन्त करने वाले संवत्सर-रूप काल में समाविष्ट होते हैं उसी प्रकार हे प्रभो, ब्रह्मचारी लोग मेरे पास आवें। गुरु तथा शिष्य की इस कमनीय कामना के प्रतिफलस्वरूप ही एकाकार-रूप में परिणत आत्मा ब्रह्म-साक्षात्कार करने की अधिकारिणी होती थी।

सच तो यह है कि औपनिषदिक काल में गुरु को देव का भी स्थान प्राप्त हो गया था। कबीर की इस उक्ति 'गुरु साहब दोनों खड़े काके लागूँ पाय। बलिहारी गुरु देव की जिन साहब दियो दिखाय..।।' में साधक के लिए औपनिषदिक गुरु का गौरव ही मुखरित हो उठा है। श्वेताश्चतरोपनिषद् में इसीलिए..

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

साधक को उपदेश देते हुए कहा गया है कि भगवान सदृश गुरु में भक्ति रखने से महात्मा मनस्वी पुरुषों के हृदयों में रहस्यमय अर्थ स्वयं ही प्रकाशित हो जाते हैं। यमाचार्य ने इसी भाव का दिग्दर्शन कराते हुए आत्मजिज्ञासु नचिकेता को सम्बोधित करते हुए कहा है :—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः न मेधया न बहुनाश्रुतेन ।
यमेवैष वृनुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्माविवृणुते तनुं स्वाम् ।।

आत्म-साक्षात्कार सर्वगुरु ईश्वर-कृपा के बिना, प्रतिभा अथवा पाण्डित्य के बल पर, सवथा असम्भव ही है। उपनिषदों में ऐसे देवतुल्य गुरु के लिए 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ये दो विशेषण आये हैं जो कि गुरु को गुरु की कोटि से उत्कृष्ट देवत्व के आसन पर आसीन करते हैं। वस्तुतः श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा साक्षात्कार-स्वाध्याय की इन चारों प्रक्रियाओं द्वारा अर्जित अगाध ज्ञान-राशि के संचयकर्त्ता ही गुरु अथवा देव की श्रेष्ठ संज्ञा से विभूषित होते थे।

शिक्षा-प्रसार के लिए संस्थायें

उत्तर वैदिक काल में शिक्षा-प्रसार के निमित्त अनेक संस्थाओं का विकास हुआ जो कि शाखा, चरण, परिषद्, कुल तथा गोत्र नाम से प्रख्यात हुईं। वैदिक शिक्षा के प्रसार-कार्य में इन संस्थाओं का विशेष हाथ रहा। अतः इनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

शाखा

शाखा शब्द अपने मूल अर्थ में उन तीनों वेदों के लिए प्रयुक्त किया गया है जो कि एक ही वेद-मूलवृक्ष से उत्पन्न हुए थे। प्रसिद्ध वेद-भाष्यकर्त्ता सायणाचार्य ने वेदों की तीनों शाखाओं का ही भाष्य किया है। परन्तु कालान्तर में शाखा शब्द से तीनों वेदों के विभिन्न रूपों का बोध होने लगा जो कि भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलों में मूल रूप के परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर हुए। वेदों के मूल रूप को स्थायित्व प्रदान करने के जिन पद-क्रम, जटा, घन पाठादि का आविष्कार किया गया था, उसका संरक्षण बढ़ती हुई गुरु-परम्परा तथा याजमानिक प्रवृत्ति के कारण अक्षुण्ण न रह सका। फलतः वैदिक काल में प्रयत्नसाध्य मौखिक संरक्षण उपनिषद् काल में परिवर्तित होने लगा। कहीं उच्चारण बदला हुआ, कहीं मात्रा च्युत हुई, कहीं स्वर भंग हुआ, कहीं तीनों का ही समावेश एक साथ ही हुआ। इस प्रकार समस्त वेदों की विभिन्न अनुकृतियाँ भिन्न-भिन्न कुलों में विविध रूपों में परिवर्तित होकर

संरक्षित की गयीं और प्रत्येक कुल अपनी अनुकृति को ही स्वतन्त्र शाखा के रूप में संरक्षित रखने एवम् प्रसारित करने में सचेष्ट तथा संलग्न रहने लगा। इन शाखाओं का विस्तार वेदों तक ही सीमित न रहा, अपितु वेदों से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ भी अनेक शाखाओं के रूप में विभक्त हुए।

चरण

प्रायः चरण को शाखा का पर्यायवाची समझा गया है, परन्तु ऐसा समझना भ्रम है। पाणिनि शाखा तथा चरण के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि चरण शाखा में पढ़ने वाले अथवा इसके अनुयायियों के एक समूह का नाम है। जगधर कृत मालती-माधव-भाष्य में भी चरण की यही परिभाषा की गयी है। वेद की किसी एक निर्दिष्ट शाखा के अध्ययन करने वालों के समूह को चरण शब्द से व्यवहृत किया गया है। जहाँ तक चरण की संख्या का प्रश्न है, सूत्रकाल के "चरण व्यूह" नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद के ५ चरण, शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, शांखायन तथा माण्डूकेय नाम से व्यवहृत किये गये हैं। यह सूची वस्तुतः अपूर्ण है। इसमें बहुत से पुराने चरणों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया है। पाणिनि ने अपने सूत्रों में यत्र-तत्र जिन चरणों के नामों का प्रयोग किया है उनकी संख्या २४ है।

परिषद्

परिषद् शब्द का अर्थ है 'परितः सीदति अस्यां' अर्थात् चारों ओर बढ़ा हुआ। उपनिषदों में इसका प्रयोग प्रौढ़ विद्वानों की सभा के लिए किया गया है, जहाँ वे एकत्रित होकर दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए विचार-विमर्श किया करते थे। आगे चलकर उन स्थानों को भी परिषद् कहा जाने लगा जहाँ ब्राह्मण विद्वान् अधिक संख्या में निवास करते थे। वस्तुतः परिषद् उच्च आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार-विनिमय तथा नये-नये तथ्यों के अवधारणार्थ विभिन्न चरणों का एक समूह ही था। परिषद् का दृष्टिकोण सदैव उदार रहता था, क्योंकि एक ही परिषद् में अनेक चरणों के अनुयायी सदस्य-रूप में सम्मिलित होते थे। प्रातिशाख्य साहित्य में भी परिषद् का उल्लेख उपलब्ध होता है। सूत्र काल में इसका उल्लेख विद्वानों की सांस्कृतिक सभा के रूप में ही हुआ है जो कि धार्मिक, नैतिक तथा न्याय-सम्बन्धी जटिल समस्याओं पर अपना निर्णय देती थी। उत्तर वैदिक काल में शिक्षा की प्रगति में परिषदों का विशेष हाथ रहा है।

गोत्र अथवा कुल

गोत्र अथवा कुल का मूल अर्थ वंश का रक्षक होता है। फलतः गोत्र का आधार वंश-परम्परा थी, जो कि वास्तविक तथा काल्पनिक दोनों ही रूपों में सम्भव थी। जहाँ चरणों के मूल में वेद की भिन्न-भिन्न शाखाएँ थीं और उनकी

सीमा ब्राह्मणों तक ही सीमित थी, वहाँ गोत्र की सीमा मन्त्रद्रष्टा ऋषियों तथा ऋषियों से सम्बन्धित विभिन्न कुलों से भी थी। प्रत्येक गोत्र के सदस्य अपने आपको किसी न किसी विशेष ऋषि के वंशज मानते थे और तदनुकूल ही शिक्षा-पद्धति एवं रीति तथा नीतियों का अनुसरण करने में अपने को गौरवान्वित समझते थे। द्विज (ब्राह्मण), क्षत्री, वैश्य मात्र अपने को किसी न किसी ऋषिकुल से उत्पन्न मान कर अपने गोत्र-संरक्षण में सचेष्ट थे। वर्तमान प्रगतिशील युग में भी न केवल ब्राह्मणों के लिए ही, अपितु अन्य वर्णों के लिए भी गोत्र एक परम पवित्र तथा धार्मिक निधि मानी जाती है। विवाह की माङ्गल्य विधि में भी इसका विचार किया जाता है। प्रायः समस्त ब्राह्मणों को भृगु, अंगिरस, विश्वामित्र, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि, अगस्त्य आदि सात ऋषियों का वंशज माना जाता है। परन्तु यथार्थ में ब्राह्मणों के पूर्वज सात नहीं आठ थे; जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, वशिष्ठ, अत्रि, कश्यप, अगस्त्य। ये आठों गोत्र ही ४९ उपगोत्रों में विभाजित हुए हैं; जिनके कि उपविभाजित होने पर समाज में परिवार का रूप आविर्भूत हुआ।

समावर्तन-उपदेश

समावर्तन-उपदेश को ही दीक्षान्त भाषण कहा जाता है। सृष्टि-तत्व के निमित्त आत्मिक ज्ञान की भास्वर ज्योति से आभामय होकर ब्रह्मचारी स्नातक होकर जब घर को लौटते थे, उस समय ब्रह्मचारी के निमित्त आचार्य वर्षों के संचित प्रेम से अभिषिक्त हृदयग्राही समावर्तन का उपदेश देते थे। यह उपदेश ब्रह्मचारी की जीवन-यात्रा को सुखद, सरल तथा सामाजिक मर्यादा को अक्षुण्ण रखने का सारगर्भित उपदेश होता था। उपदेश के एक-एक वाक्य से श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐहिक और पारलौकिक कल्याणों की वृष्टि-सी होती हुई गोचर होती है। उपदेशों की वाक्यावलि निम्न प्रकार से है :

"सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद। आचार्याय प्रियं धनमादृत्य प्रजातन्तु माव्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव-पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयासो ब्राह्मणाः तेषां त्वयासने न प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम् अश्रद्धया मादेयम्। ह्रिया देयम्। श्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्ति विचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः युक्ता अयुक्ता अलूक्षाः धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्

तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः ये च तत्र आयुक्ता अलूक्षाःधर्मं कामास्युः । यथा ते तेषु वर्त्तेरन तथातेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषद् । एवमनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवं चैत-दुपास्यम् ।[1]

"अर्थात्, पुत्र तुम सदा सत्य बोलना । शास्त्रसम्मत कर्त्तव्य का पालन करना । स्वाध्याय में सदा प्रवृत्त रहना । गुरु को सदा उनकी रुचि के अनुसार ही दक्षिणा देना, तत्पश्चात् गार्हस्थ्य धर्म में प्रवेश कर वंश-परम्परा को सुरक्षित रखना । सत्य से कभी विचलित न होना । धर्म से विचलित न होना । शुभ कर्मों से कभी विमुख न होना । अपनी ही वस्तुओं की उपेक्षा न करना, अग्निहोत्र तथा यज्ञानुष्ठान में सदैव प्रवृत्त रहना ।

"माता-पिता, गुरु तथा अतिथि को देवता के समान समझना । जो कर्म निर्दोष हो उन्हीं को करना, अन्य कभी भूल कर भी नहीं । अपने गुरुजनों के जो अच्छे-अच्छे आचरण हों उन्हीं का तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, अन्य का नहीं । जो कोई तुमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण, तथा पूज्य पुरुष तुम्हारे घर पर पधारें उनको तुम्हें ससम्मान आसन देना चाहिए, विश्राम देना चाहिए तथा श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए । लज्जापूर्वक दान देना चाहिए अर्थात् यह समस्त धन भगवान का है, ममतावश इसको अपना मान कर मैंने अपराध किया है ऐसा समझते हुए, साथ ही मैं जो कुछ भी दे रहा हूँ यह कम है यह समझ कर दान देना चाहिये । भय से दान देना चाहिए अर्थात् कहीं प्रदत्त धन अस्वीकृत न हो जाय, इस भावना से दान देना चाहिये । विवेकपूर्वक दान देना चाहिए ।

"यह सब क्रिया-कलाप सम्पादन करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसर पर अपना कर्त्तव्य निश्चित करने में अथवा आचरण निश्चित करने में किसी तरह की अन्यमनस्कता अथवा दुविधा हो तो वहाँ जो उत्तम विचार वाले, परामर्श देने में कुशल, कर्म तथा सदाचार में प्रवृत्त, स्निग्ध स्वभाव वाले, पूर्णतया धर्मपरायण ब्राह्मण हों, वे जिस प्रकार उन कर्मों तथा आचरणों का व्यवहार करते हों वैसा ही तुम्हें भी करना चाहिये । इसके अतिरिक्त किसी दोष से लांछित व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषय में यदि शंका उपस्थित हो जाय तो विचारशील, राय देने में कुशल, सत्कर्म तथा सदाचार में रत एवं धर्म में लीन ब्राह्मण जैसा व्यवहार उस अपराधी के प्रति करें, वैसा ही व्यवहार तुमको भी करना चाहिये ।

---

१. तैत्तरीयोपनिषद्—शिक्षावल्ली १

"यही वेद की आज्ञा है। यही आदेश है। यही वेद और उपनिषद् का मूल तत्व है। यही अनुशासन है। इनका पालन यथार्थ रूप में इसी तरह करना चाहिये।"

उपर्युक्त उपदेशों को हृदयंगम करने से स्पष्ट ही विदित होता है कि इनमें केवल धार्मिक कर्त्तव्यों का ही बोध नहीं कराया गया है, प्रत्युत सच्चे कर्त्तव्य-परायण नागरिक बनने के सभी सुन्दर उपदेश तथा नियम सुगुम्फित कर दिये गये हैं जिनसे कि समाज स्वस्थ तथा समृद्ध बनता है। गृहस्थ के लिये वंश-परम्परा की सुरक्षा के साथ ही साथ, सांस्कृतिक उन्नयन के लिये, स्वाध्याय, माता-पिता, गुरु-जनों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा भौतिक समृद्धि आदि जिन कर्त्तव्यों और कर्मों का इनमें उल्लेख है वे ही समाज की सर्वांगीण उन्नति का पूर्ण विकास करते हैं। वस्तुतः शिक्षा का अधिकार उस समय उसी व्यक्ति को था जो कि शिक्षा-प्राप्ति के उपरांत अवसर आने पर उसका दान भी कर सके।

सामाजिक सम्बन्ध की पवित्र श्रृंखला को सुदृढ़ रूप से आबद्ध रखने के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान की आवश्यकता का शिष्य को अनुभव कराते हुए गुरु दान को धार्मिक कर्त्तव्य इसी अभिप्राय से बताते थे जिससे समाज में पार-स्परिक-आन्तरिक सहानुभूति तथा कल्याण की भावना सदैव बनी रहे, और दाता तथा गृहीता दोनों ही प्रेम-सूत्र में सदैव आबद्ध रहते हुए आजीवन सुखी रहें।

उपर्युक्त दीक्षान्त-भाषण आधुनिक दीक्षान्त-भाषणों के समस्त उपयोगी तत्वों से तो विभूषित रहे ही; साथ ही, उनमें आत्मिक प्रेम की जो पवित्र ज्योति लक्षित होती है, वह भारतीय संस्कृति की अक्षय निधि है।

नारी-शिक्षा

ऋग्वैदिक काल की तरह उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों का सम्मान न किया जा सका। ऋग्वैदिक काल में स्त्रियों को शक्ति का आदि स्रोत, पुरुष के भाग्य की अक्षय निधि, ऐहिक तथा पारलौकिक काम्य-कर्मों की विधायिका तथा सम्पादिका माना गया था, परन्तु उत्तर वैदिक काल में वे समस्त सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दी गयीं। वे सामाजिक उत्सवों में भी भाग लेने की अधिकारिणी नहीं मानी गईं। फलतः सामाजिक विकास के साथ ही उनका बौद्धिक विकास भी अवरुद्ध हो गया। कन्यात्व की पवित्र भावना तो ब्राह्मण काल में ही समाप्त कर दी गई, क्योंकि ब्राह्मण काल में कन्या का जन्म अभाग्य का चिह्न समझा जाता था। परन्तु उपनिषद् काल में समय ने पुनः करवट बदली और स्त्रियों का धार्मिक यज्ञों में अधिकार सुरक्षित कर दिया गया। यज्ञों में अधिकार रहने के कारण वे उच्च वैदिक शिक्षा की भी अधिकारिणी बनी रहीं।

उपनिषद् काल में अनेक विदुषी महिलाओं का परिचय मिलता है। महिलाएँ राज-सभा में सम्पन्न होने वाले शास्त्रार्थों में भाग लेकर अपनी ज्ञान-गरिमा तथा प्रतिभापूर्ण विद्वत्ता का परिचय देती थीं। मिथिलाधिपति राजा जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य तथा वाचक्नवी गार्गी का प्रश्नोत्तर इतिहास-प्रसिद्ध है। गार्गी के प्रतिभापूर्ण तर्कों ने समस्त राज-सभा को विस्मित कर दिया था। याज्ञवल्क्य उसके प्रश्नों से खीझ-से गये थे। एक ऐसा ही कथानक और भी मिलता है जब की महर्षि याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम को त्यागकर वन में जाने लगे तो उन्होंने अपनी भौतिक सम्पत्ति अपनी दोनों पत्नियों में बाँटनी चाही। इस पर मैत्रेयी ने विनम्रतापूर्ण शब्दों में निवेदन किया, "हे पतिदेव, क्या मैं इस धन से मुक्ति-सुख को प्राप्त कर सकूँगी?" इस पर याज्ञवल्क्य बोले, "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" अर्थात् अमृतत्व की आशा धन से सम्भव नहीं। इस पर ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी का उत्तर, "किमहं तेन कुर्याम्। ये नाहं नामृतास्याम्", अर्थात् जिससे अमर पद की प्राप्ति नहीं, उस धन को लेकर मैं क्या करूँ? मैत्रेयी की यह उक्ति बड़े-बड़े ज्ञानियों को न केवल विस्मित ही करने वाली है, अपितु उसकी प्रकृष्ट प्रतिभा का भी प्रमाण है।

उपनिषदों में ऐसी महिलाओं का भी उल्लेख किया गया है जो कि अध्यापिका के रूप में भी कार्य करती दृष्टिगोचर होती हैं। ब्रह्म-विद्या के साथ ही स्त्रियाँ संगीत तथा नृत्य-कला आदि ललित कलाओं की भी शिक्षा ग्रहण करती थीं।

अन्य वर्णों की शिक्षा

वैदिक कालीन शिक्षा की स्वस्थ परम्परा उत्तर वैदिक काल में लुप्त हो चली थी। वैदिक काल में एक ही परिवार के व्यक्ति अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न व्यापारों को करते थे, परन्तु उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था की रूप-रेखा के स्पष्ट हो जाने के कारण रुढ़िवाद का जन्म हो चुका था। वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार न होकर जन्म-गत हो चली थी। फलतः अनेक सामाजिक वर्ण बन गये थे। ब्राह्मणों के अधिकार पर्याप्त रूप में बढ़ गये थे। क्षत्रियों के अधिकारों का यद्यपि ह्रास नहीं हुआ था, फिर भी क्षत्रिय ब्राह्मणों के प्रभुत्व का विरोध करने में तत्पर थे। वैश्यों तथा शूद्रों का सामाजिक ह्रास होने लगा था। ऋग्वेद कालीन स्वतन्त्र तथा महान कृषक वर्ग (वैश्य) छोटे-छोटे व्यावसायिक समूहों[1] में विभक्त हो चले थे। फलतः रथकार, बढ़ई, लोहार आदि जातियों का प्रादुर्भाव हुआ। समाज में रूढ़िवादी प्रवृत्ति के बढ़ने के कारण उक्त जातियों में कुछ एक का सामाजिक सम्मान भी कम होने लगा था। शूद्रों को सामूहिक रूप में अछूत माना जाने लगा

---

१. Functional Groups.

था। शूद्र यज्ञों में न केवल भाग लेने से ही, अपितु यज्ञ के दूध तक को छूने के अधिकार से भी वंचित कर दिये गये थे। इतना सब होते हुए भी वर्ण-व्यवस्था बद्ध-मूल नहीं हुई थी। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आवागमन प्रचलित था और पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध भी प्रचलित थे। महर्षि च्यवन का क्षत्रिय राजा शर्याति की सुपुत्री के साथ पाणिग्रहण का उल्लेख मिलता है। यज्ञों में भी यद्यपि ब्राह्मणों का प्रभुत्व था; फिर भी एकाधिपत्य स्थिर नहीं हुआ था, क्योंकि शान्तनु के भ्राता देवापि ने सिंहासन से वंचित होने पर भी पौरोहित्य कार्य में दक्षता प्राप्त कर शान्तनु के यहाँ यज्ञों को सम्पादित कराया था। राजसूय यज्ञ में रत्न-हवीषि[1] में वैश्यों तथा शूद्रों को भी अधिकार प्राप्त था।

उपर्युक्त परिस्थितियों का शिक्षा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। फलतः वैदिक विद्या के अधिकारी विशेषतः ब्राह्मण ही माने जाते थे। परन्तु क्षत्रिय भी ब्राह्मणों की तरह शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। बहुत से क्षत्रिय राजा अध्यात्म-विद्या में ब्राह्मणों को भी हरा सकते थे। राजा जनक के पास अनेक श्रोत्रिय ब्राह्मण अपनी आध्यात्मिक ज्ञान-पिपासा शान्त करने को आते थे। काशी-नरेश अजातशत्रु के पाण्डित्य की गुण-गरिमा से बालाकि सदृश विद्वान ब्राह्मण भी प्रभावित थे। पांचाल के प्रवाहण जैवाल तथा कैकय के राजा अश्वपति दर्शनों के उद्भट विद्वान थे। पांचाल देशीय सभा में श्वेतकेतु तथा उनके पिता आरुणि क्षत्रिय राजा प्रवाहण जैवाल के एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। फलतः उन्हें जैवाल का शिष्य बनना पड़ा। गर्ग के प्रपौत्र चित्र, जो कि क्षत्रिय महात्मा थे, ब्रह्म-ज्ञान के प्रकृष्ट ज्ञाता थे और आरुणि ने इनको भी अपना गुरु स्वीकार किया। उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि ब्रह्म-ज्ञान के सर्वप्रथम अधिकारी क्षत्रिय थे, न कि ब्राह्मण। जैसे कि ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मकाण्डी ब्राह्मणों के अपने ग्रन्थ थे, वैसे ही ब्रह्म-विद्या-निष्णात क्षत्रियों के ग्रन्थ उपनिषद् थे। परन्तु ब्रह्म-विद्यापारंगत क्षत्रियों की संख्या अत्यन्त सीमित थी। क्षत्रियों के अध्ययन के विषय सामान्यतः राजनीति, युद्ध-नीति, तथा धनुर्विद्या ही थे और इन विषयों की शिक्षा वे ब्राह्मणों से ही ग्रहण करते थे।

उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में वैश्यों तथा शूद्रों की शिक्षा के विषय में बहुत ही कम उल्लेख मिलता है। परन्तु उसमें इतनी बात अवश्य ही मिलती है कि वैश्यों के जीवन का प्रधान कर्म कृषि थी। अन्नोत्पादन तथा उसका वितरण ही उनके दो प्रधान कार्य माने जाते थे। ऋग्वेद में आया हुआ "वाणिज" शब्द वैश्य शब्द का ही द्योतक है। वस्तुतः वैश्यों की कुशलता समाज में अन्न-वितरण

१. Jewel offerings.

की ही थी। ये वैश्य समय आने पर शस्त्र-धारण करने में भी सन्नद्ध रहते थे। वैश्यों की शिक्षा के मुख्य अंग कृषि-कर्म से सम्बद्ध थे। ग्रामोद्योगों की शिक्षा भी इनके लिए अनिवार्य थी। देश की अन्य बौद्धिक बातों से पृथक् रहते हुए, वे सदैव भूमि-संबंधी कार्यों में ही अधिक रुचि रखते थे। उनकी महत्त्वाकांक्षा ग्रामीण अथवा मुखिया होने तक ही सीमित थी।

शूद्रों की अवस्था यद्यपि पहले अधिक गिर चुकी थी, फिर भी जमीन जोतने, गोड़ने, पशु पालने, हस्त-कला-कौशल में वे अपने श्रम का उपयोग करते थे। संगीत, नृत्य तथा वाद्य, (देवजन विद्या) आदि में भी शूद्र रुचि-पूर्वक भाग लेते थे। ब्राह्मण ही शूद्रों को भी इन विषयों में शिक्षा दिया करते थे। महर्षि नारद का संगीत तथा वीणा-वादन में दाक्षिण्य प्रसिद्ध ही है। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण भौतिक शिक्षा प्रदान करते हुए दर्शाये गये हैं। इनके शिष्यों में वैश्य, मछुआ, सँपेरा तथा बहेलिया आदि व्यावसायिक लोग बतलाये गये हैं।

सारांश

ऋग्वैदिक काल में शिक्षा के दो प्रमुख साधन थे; तप तथा यज्ञ। उत्तर वैदिक काल में भी, जहाँ तक शिक्षा के साधनों का सम्बन्ध है, ये ही दो साधन अपनाये गये थे। परन्तु अन्तर इतना था कि जहाँ ऋग्वैदिक काल में 'तप-रूप चिन्तन-धारा पर विशेष बल दिया जाता था, वहाँ उत्तर वैदिक काल में यज्ञों का विशेष आग्रह था।' 'स्वर्गकामो यजेत' सुखाभिलाषी यज्ञ करे इस भावना की मान्यता थी, इसके साथ ही यज्ञीय विधि-विधानों का वितान इतना विस्तृत हो गया था कि छात्र आजीवन कर्मकाण्ड के साधनों में ही उलझा रहता था। शिक्षा का ध्येय दोनों कालों में भक्ति ही रहा, परन्तु साधनों में अन्तर आ गया। ऋग्वैदिक काल की सरल प्रक्रियाएँ उत्तर वैदिक शिक्षा-काल में जटिल हो गयीं। गुरु की प्रतिष्ठा यद्यपि दोनों ही कालों में समान थी, फिर भी उत्तर वैदिक काल में कर्म-काण्ड-जन्य अहं की भावना के विकसित होने के कारण गुरुओं की वह निस्पृहता अक्षुण्ण न रह सकी जो कि ऋग्वैदिक काल में थी।

ब्राह्मण काल में गुरुओं की प्रतिष्ठा कर्मकाण्ड-गत विधि-विधानों के विशेषज्ञ होने के कारण ही विशेष रही। कर्मकाण्ड की प्रक्रिया के विकसित होने के फलस्वरूप पाठ्य विषयों की संख्या भी अत्यधिक बढ़ गयी थी। छात्र के लिए समस्त ज्ञान प्राप्त करना दुरूह हो चला था। फलतः ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ। तदनुसार आरण्यक, प्रातिशाख्य तथा उपनिषदों की सृष्टि हुई। छात्र के ज्ञानार्जन की अवधि भी सामान्यतः १२ वर्ष ही सीमित कर दी गयी थी। इससे

छात्र शाखा-विशेष का ही अध्ययन करने में सचेष्ट रहता था। इसके साथ ही उच्च ज्ञान के लिये भी शाखा, चरण तथा परिषद् की स्थापना की गयी थी, जहाँ कि प्रतिभासम्पन्न छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे।

उपनयन की पद्धति, जो कि पहले अनिवार्य न थी, अब अनिवार्य कर दी गयी थी। आश्रम-व्यवस्था तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था का स्वरूप भी मर्यादित रूप में इसी समय प्रतिष्ठित हुआ। स्त्री-शिक्षा तथा अन्य वर्णों की शिक्षा का भी उत्थान-पतन इसी समय समाज के सम्मुख विविध रूपों में हुआ। समाज में शिक्षा के समस्त अंगों का पूर्ण रूप से विवेचन हुआ। फलतः शिक्षा की विविध प्रणालियों के विकास की रूप-रेखा भी इसी समय प्रस्फुटित हुई। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में शिक्षा विविध शाखाओं के रूप में विभक्त होती हुई भी अपने मूल से कभी भी पृथक् नहीं हुई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. ऋग्वैदिक शिक्षा-प्रणाली की विशेषताएँ प्रदर्शित करते हुए वैदिक कालीन शिक्षा-पद्धति से उसकी तुलना कीजिए।

२. ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् इन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

३. ब्राह्मण कालीन कर्मकाण्ड-गत शिक्षा की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

४. उपनिषदों की महत्ता प्रदर्शित करते हुए औपनिषदिक शिक्षा-प्रणाली की विशेषताएँ प्रदर्शित कीजिए।

५. उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों का समाज में क्या स्थान था? इसका उल्लेख कीजिए।

६. उत्तर वैदिक काल में गुरु की प्रतिष्ठा के क्या कारण थे?

७. उत्तर वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा तथा अन्य वर्णों की शिक्षा का स्वरूप क्या था? इसकी विवेचना कीजिए।

अध्याय ४

सूत्र कालीन शिक्षा-व्यवस्था (उत्तर वैदिक)

सूत्र काल का प्रारम्भ ईसा से ७०० वर्ष पहले बतलाया जाता है। सूत्र काल की समाप्ति सम्भवतः ईसा की द्वितीय शताब्दी में मानी जाती है। सूत्र काल से पूर्व जो धार्मिक साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था, उसका संरक्षण मौखिक रूप से सर्वथा असम्भव था। फलतः यह आवश्यक समझा गया कि उस बिखरे हुए धार्मिक साहित्य को संयोजित किया जाय जिससे उसका वास्तविक स्वरूप यथावत् सुरक्षित रह सके। एक कारण तो यह था ही, दूसरा कारण था बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव, जिसके फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म में प्रचलित कर्मकाण्ड तथा असाधारण उपायों द्वारा धार्मिक प्रतिष्ठापन आदि को कड़ा धक्का लगा। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त तथा भाषा दोनों ही सरल एवं सर्वग्राह्य थे। अतः हिन्दू धर्म को पुनः प्रतिष्ठापित करने के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को ठोस, सरल एवं व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियों के निराकरण-रूप में सूत्र काल का प्रादुर्भाव हुआ। सूत्र काल में पूर्ववर्ती साहित्य को संगठित, संयोजित तथा संरक्षित करने का कार्य सम्पन्न हुआ। भारतीय समाज के अनिश्चित् रूप को विभिन्न रीति-नीति, रहन-सहन आदि के सिद्धान्तों की सीमा में बाँध कर एक निश्चित् रूप प्रदान किया गया तथा भारतीय संस्कृति की विकीर्ण कड़ियों को शृंखला-बद्ध कर दिया गया। इस प्रकार सूत्र काल में किसी प्रकार की नवीनता का प्रतिपादन नहीं किया गया, अपितु पूर्व-प्रचलित परम्पराओं, मान्यताओं तथा धार्मिक विचारों को संयोजित तथा संगठित किया गया।

शिक्षा के क्षेत्र में भी सूत्र काल में कोई नवीनता का समावेश नहीं किया गया। प्रचलित शिक्षा का ही सुसंगठित एवं व्यवस्थित रूप हमको सूत्र काल में देखने को मिलता है। सूत्र साहित्य द्वारा भारतीय शिक्षा के बारे में जो बातें मालूम होती हैं, उन्हीं के आधार पर हम आगे सूत्र कालीन शिक्षा का वर्णन करेंगे।

विद्यारम्भ अथवा अक्षर-स्वीकरण का नया संस्कार

विद्यारम्भ के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य से कोई बात ज्ञात नहीं है, किन्तु परवर्ती साहित्य में संस्कार-प्रकाश, स्मृति-चन्द्रिका, तथा वीरमित्रोदय आदि से विद्यारम्भ का महत्त्व स्पष्ट है। अतः सूत्र काल में प्रचलित इस प्रथा को 'अक्षर स्वीकरण' कहा जाता था। इस 'अक्षर स्वीकरण' के अवसर पर एक समारोह आयोजित किया जाता था। यह विद्यारम्भ का संस्कार उपनयन से पूर्व और 'चूड़ाकरण' के पश्चात् पाँच वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। कभी-कभी किसी विशेष कारणवश यथासमय इस संस्कार के न सम्पादित हो पाने पर उपनयन के साथ ही इस संस्कार को भी सम्पादित किया जाता था। कुल-देवता, गृह-देवता, सरस्वती, लक्ष्मी तथा हरि आदि की उपासना तथा वंदना के पश्चात् शिक्षक बिछे हुए चावलों पर विद्यार्थी से चाँदी अथवा सोने की लेखनी द्वारा अक्षर लिखवाते थे। विद्यार्थी को शिक्षक के संरक्षण में समर्पित कर दिया जाता था और शिक्षक को दक्षिणा देने के साथ-साथ यह संस्कार पूर्ण समझा जाता था। विद्यारम्भ के समय बालक की अल्प आयु तथा उसकी मानसिक अवस्था के कारण सम्भवतः वर्णमाला का ज्ञान ही उसको सर्वप्रथम कराया जाता रहा होगा; क्योंकि उस समय उसको मानसिक शिक्षा देना उपयुक्त नहीं हो सकता था।

वैदिक काल में विद्यारम्भ-संस्कार का अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं था। सम्भवतः शिक्षा का आरम्भ उपनयन के साथ ही माना जाता था। हो सकता है कि इसका कारण लिपि का अभाव रहा हो। अक्षरों का ज्ञान सूत्र काल में आवश्यक समझा गया, क्योंकि उस समय तक वैदिक संस्कृत साधारण बोल-चाल की भाषा से बिल्कुल पृथक् रूप प्राप्त कर चुकी थी। कुछ भी हो, सूत्र काल में विद्यारम्भ-संस्कार का यथेष्ट महत्त्व था और शिक्षा प्रारम्भ करने का यह प्रथम संस्कार था।

प्रथम तीन वर्ण के लिए उपनयन-संस्कार का महत्त्व

सूत्र कालीन शिक्षा का भी वास्तविक प्रारम्भ 'उपनयन' के बाद ही होता था और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीन वर्णों के लिए 'उपनयन' अनिवार्य था। सूत्र काल तक आते-आते शूद्रों को समाज में बहुत निम्न समझा जाने लगा था। अतः उनकी शिक्षा पर कई प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। यद्यपि हम देख चुके हैं कि वैदिक काल में शूद्रों के लिए भी उच्च शिक्षा के उपयुक्त अवसर रहते थे। रथकार, जो कि शूद्र वर्ण के होते थे, के द्वारा अग्न्याधान के अवसर पर मंत्रोच्चारण का वर्णन हमको तैत्तिरीय ब्राह्मण द्वारा प्राप्त होता है।

उपनयन के लिए निश्चित आयु के बालकों को ही इस संस्कार द्वारा शिक्षा आरम्भ करायी जाती थी। भिन्न-भिन्न वर्ण के बालकों के लिए भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ निश्चित थीं। ब्राह्मण-वर्ण के बालक की आयु ८ वर्ष, क्षत्रिय बालक की ११ वर्ष तथा वैश्य बालक की १२ वर्ष निश्चित थी। किन्तु उपनयन की एक अधिकतम अवस्था भी निश्चित थी जिसके उपरान्त यह संस्कार नहीं हो सकता था। यह अधिकतम अवस्था ब्राह्मण-वर्ण के बालक के लिए १६ वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए २२ वर्ष तथा वैश्य बालक के लिए २४ वर्ष निर्धारित की गयी थी।

यह प्रश्न विवादग्रस्त है कि क्षत्रिय और वैश्य-वर्ण के बालकों के लिए उपनयन की अवस्था ब्राह्मण-वर्ण के बालकों से अधिक क्यों निश्चित की गयी थी। सम्भव है कि भिन्न-भिन्न वर्णों की शिक्षा का विभिन्न पाठ्य-क्रम एवं उद्देश्य ही इस भिन्नता का भी कारण रहा हो। ब्राह्मणों की शिक्षा कम आयु में प्रारम्भ करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उनके लिए यज्ञ-सम्पादन आदि के निमित्त उच्च शिक्षा आवश्यक थी जिसको भली प्रकार से समाप्त कर सकने के लिए ही उनकी शिक्षा शीघ्र ही प्रारम्भ कर दी जाती थी। दूसरे वर्ण के लिए वैदिक शिक्षा का उपयोग अधिक न था। अतः उनके लिए शिक्षा प्राप्त करने के लिए कम समय भी पर्याप्त समझा जाता था।

कुछ विद्वान उपनयन की भिन्न अवस्थाओं का कारण यह मानते हैं कि ब्राह्मणों ने अपनी मानसिक श्रेष्ठता की पुष्टि करने के लिए अपने वर्ण के बालकों की आयु कम निश्चित की जिससे यह सिद्ध हो सके कि ब्राह्मण-वर्ण के बालक अधिक प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं और वे इतनी कम आयु में ही शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं। किन्तु डाक्टर अलतेकर इस विचार से सहमत नहीं। उनके मतानुसार ब्राह्मण-वर्ण के लिए उपनयन की कम अवस्था का कारण यह था कि उनकी शिक्षा प्रायः अपने घर पर ही होती थी, किन्तु अन्य वर्ण के बालकों को अपना घर छोड़ कर अन्यत्र गुरु के यहाँ जाना पड़ता था। पाँच वर्ष की आयु वाले बालक के लिए साधारणतः गृह छोड़ना अधिक उपयुक्त नहीं था। जिन ब्राह्मण-बालकों को गृह-परित्याग करना पड़ता था, उनके लिए भी उस समय तक की छूट थी जब तक वे गृह छोड़ सकने के योग्य न हो जायँ। इस प्रकार इस भिन्नता का कारण परिस्थितियों और सुविधाओं पर आधारित था। आधुनिक समय में भी शिक्षा का प्रारम्भ सुविधाओं और परिस्थितियों के अनुकूल ही हो पाता है। ग्रामीण बालकों की अपेक्षा नगर के बालक कम आयु में शिक्षा प्रारम्भ कर देते हैं तथा साधनहीन बालकों की अपेक्षा समृद्ध परिवारों के बालक प्रायः अल्पायु में ही विद्यारम्भ कर देते हैं।

आपस्तम्ब के अनुसार उपनयन की अवस्था शिक्षा के उद्देश्य द्वारा निर्धारित थी तथा विभिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उपनयन-संस्कार सम्पादित करना निश्चित था। आगे हम उसका विवरण देते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य	आयु	वर्ण	ऋतु
ब्रह्म-वर्चस्	७ वर्ष	ब्राह्मण	बसन्त
आयु	८ ,,	क्षत्रिय	ग्रीष्म
तेज	९ ,,	वैश्य	शरद्
अन्नादि	१० ,,		
शक्ति	११ ,,		
पशु वृद्धि	१२ ,,		

इस प्रकार से निश्चित अवस्था और समय पर सभी वर्णों का उपनयन-संस्कार अवश्य सम्पन्न होना चाहिए। इसकी अवहेलना करने वाले धर्मच्युत एवं अपवित्र समझे जाते थे तथा यज्ञ, अध्यापन तथा विवाहादि सामाजिक कार्यों के उपयुक्त नहीं समझे जाते थे। किन्तु प्रायश्चित करने के पश्चात् इनको फिर समाज म स्वीकार किया जा सकता था। प्रायश्चित के लिए भिन्न-भिन्न नियम निर्धारित थे। कुछ भी हो, इससे यह स्पष्ट है कि उपनयन एक अनिवार्य संस्कार था जिसके द्वारा शिक्षा की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि इन धार्मिक प्रतिबन्धों के फलस्वरूप सूत्र काल में तीनों वर्णों के लिए अनिवार्य रूप से शिक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था की गयी थी।

पाठ्य विषय

सूत्र कालीन वैदिक शिक्षालयों के पाठ्य विषय अपेक्षाकृत अधिक थे। सूत्र काल में वेदों तथा वेदांगों का पूर्ण अध्ययन किया जाता था। व्याकरण-साहित्य को अधिक महत्त्व दिया जाता था। 'पाणिनि' की 'अष्टाध्यायी', 'कात्यायन' का 'वार्तिक' और 'पतंजलि' का 'महाभाष्य' आदि ग्रन्थ व्याकरण-साहित्य की समृद्धि के द्योतक हैं। वेदों के अध्ययन के लिये वेदांगों का अध्ययन आवश्यक था। सूत्र काल में व्याकरण, शिक्षा, छन्द, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष आदि के अध्ययन के बिना वेदों का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं समझा जाता था। संख्याओं का ज्ञान तो विश्व में भारत द्वारा ही प्रचारित किया गया था, किन्तु बीजगणित और अंकगणित का प्रचलन भी इसी काल में हो गया।

आर्य भट्ट ने ४७६ ई० में ज्योतिष शास्त्र को एक सुसंगठित एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया। चिकित्सा-विद्या का प्रसार भी इस काल में पर्याप्त हुआ। सम्भवतः

बौद्ध धर्म का प्रभुत्व होने के कारण अहिंसा के व्यावहारिक रूप में जीव-रक्षा की प्रेरणा मिली और इसके फलस्वरूप चिकित्सा-विद्या की असाधारण प्रगति हुई। औषधि-विज्ञान के प्रणेता 'चरक' बौद्ध राजा कनिष्क के समकालीन थे। कालान्तर में भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का प्रसार अन्य देशों में भी हुआ। सम्भवतः अरबों द्वारा पाश्चात्य देशवासियों ने भारतीय चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया था। सूत्र काल में दर्शन-शास्त्र की अभूतपूर्व प्रगति हुई। भारतीय दर्शन का उद्‌गम स्वयं वैदिक संहिताओं में निहित है। अतः सूत्र काल में पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, सांख्य, न्याय, वैशेषिक तथा योग आदि श्रेणियों के रूप में दार्शनिक चिन्तन का श्रोत प्रवाहमय हो चला।

सूत्र कालीन विद्यालयों में विद्यार्थी-विशेष को वेद से सम्बन्धित सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन कर लेना सम्भव नहीं था। फलतः वैदिक अध्ययन भिन्न-भिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगा। एक धारा किसी भी वेदांग के विशेषीकरण की ओर प्रवाहित हो जाती थी, जिससे वैदिक विषयों की अपेक्षा अन्य सम्बन्धित विषयों की विशेषीकृत शिक्षा का महत्त्व बढ़ता गया। वेदांग भी इसी प्रकार की धाराओं द्वारा ही उत्पन्न हुए। विशेषीकरण के परिणामस्वरूप ही पाणिनि का व्याकरण निर्मित हुआ। धर्म-सूत्रों से सम्बन्धित स्वतन्त्र धाराएँ ओजमयी गति में प्रवाहित होने लगीं। ज्योतिष-शास्त्र को भी स्वतन्त्र, संगठित एवं वैज्ञानिक रूप मिल गया। सूत्र कालीन शिक्षा की भिन्न-भिन्न धाराओं की गतिशीलता के कारण ही मानव-धर्म-शास्त्र का संयोजन हुआ। मनुस्मृति का आधार मानवधर्म-शास्त्र ही है। इस प्रकार सूत्र काल में वैदिक विद्यालयों के पाठ्य-विषयों में पर्याप्त वृद्धि हुई।

अध्यापन-पद्धति

प्राचीन भारत की अध्यापन-पद्धति वैयक्तिक थी, सामूहिक अथवा वर्गिक नहीं। इसलिए गुरु और शिष्य का परस्पर का वैयक्तिक सम्बन्ध अटूट था। शिक्षण-कार्य का सम्पादन लौकिक व्यवहार के रूप में नहीं होता था, अपितु उसे धर्म समझा जाता था। सूत्र काल में इस धर्म का उचित निर्वाह करने के लिए शिष्य और शिक्षक दोनों ही के लिए रीति, नीतियाँ तथा नियम निर्धारित थे। शिक्षण-क्षेत्र में इन नियमों का उल्लंघन पाप समझा जाता था, तथा इस पाप के निराकरण के लिए प्रायश्चित करना पड़ता था। अतः नियमानुकूल ही शिक्षक पाठ प्रारम्भ करता था और शिष्य उसका अध्ययन करता था।

श्रद्धा एवं प्रेम पर आधारित अध्ययन और अध्यापन महान् धार्मिक कृत्य समझे जाते थे। अतः आधुनिक विद्यार्थियों की भाँति अशिष्टता का व्यवहार करना वे पाप

समझते थे। विद्याध्ययन के समय छात्र परम श्रद्धावान् होकर ध्यानपूर्वक गुरु की पवित्र वाणी तथा उपदेशों को भक्ति-भाव से श्रवण करता था। आधुनिक सामूहिक शिक्षालयों के छात्रों की भाँति वह अध्ययन की ओर से उदासीनता का प्रदर्शन नहीं कर सकता था।

गौतम धर्म-सूत्र के अनुसार तत्कालीन पाठ्यारम्भ की विधि का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है:—पाठ आरम्भ करने से पूर्व गुरु के चरणस्पर्श करके आशीर्वाद प्राप्त करता हुआ शिष्य गुरु की आज्ञा से उत्तर या पूर्व की ओर आसन ग्रहण करता था। पहले कुश के स्पर्श द्वारा अपने मस्तिष्क को पवित्र करता और फिर चित्त में एकाग्रता लाने के लिए प्राणायाम भी करता था। शिष्य अपने दाहिने हाथ की उँगलियों द्वारा गुरु के बायें हाथ को छू कर प्रार्थना करता था, "प्रभु, मंत्रोच्चारण आरम्भ करें।" गुरु की वाणी से ओऽम् भूः ओऽम् भुवः ओऽम् स्वः आदि मंत्र प्रस्फुटित होते थे। इन मंत्रों के क्रमिक उच्चारण द्वारा वातावरण शान्त एवं पवित्र हो जाता था। फिर गुरु उस दिन का काम आरम्भ करते हुए गम्भीर तथा स्पष्ट वाणी द्वारा पाठ के एक खंड का उच्चारण करते थे। शिष्य गुरु का अनुकरण करता हुआ उन शब्दों को ठीक-ठीक दुहराता था। यह क्रम कुछ समय तक चलता रहता था जिससे शिष्य गुरु की मुखरित वाणी को शुद्ध रूप से हृदयंगम् कर सके। इस को समाप्ति पर इस 'खंड' की व्याख्या की जाती थी। तत्पश्चात दूसरा खंड इसी क्रम से पढ़ाया जाता था। अलग-अलग खंडों के अतिरिक्त पाठ की सम्पूर्ण पुनरावृत्ति होती थी और इस प्रकार पाठ समाप्त समझा जाता था। शिष्य बिदा होते समय फिर गुरु के चरण को स्पर्श करता था।

लगभग ५०० या ६०० ई० पूर्व में रचित ऋगवेद प्रातिशाख्य में भी इसी प्रकार की शिक्षण-पद्धति का वर्णन मिलता है। इस प्रकार के वर्णनों के आधार पर कहा जा सकता है कि सूत्र काल में भी शिक्षण-पद्धति प्रधानतः मौखिक ही थी। पाठ को स्मरण करना आवश्यक था। किन्तु साथ ही साथ ऋगवदिक काल से प्रतिष्ठित व्याख्या की आवश्यकता सूत्र काल में अधिक समझी गई। सूत्रों के तात्पर्य को ठीक से जानने के लिए व्याख्यात्मक टीका आवश्यक प्रतीत हुई।

स्मृति-चन्द्रिका के अनुसार निम्नांकित सात अंग अध्ययन के हैं :

१. शुश्रूषा (सेवा)
२. श्रवणम् (सुनना)
३. ग्रहणम् (ग्रहण करना)
४. धारणम् (मनन करना)
५. ऊहापोहः (शंका-समाधान करना)

६. अर्थ-विज्ञानम् (तर्क-वितर्क का प्रयोग)
७. तत्व-ज्ञानम् (ज्ञान की वास्तविक प्राप्ति)

वाचस्पति मिश्र ने निम्नांकित ५ चरण तत्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए बतलाये हैं :—

१. अध्ययन (वाक्य को सुनना)
२ शब्द (सुने हुए शब्द का अर्थ ग्रहण करना)
३. ऊह (तर्क तथा उसका सामान्यीकरण)
४. सुहृद् प्राप्ति (मित्र-सहपाठियों का समर्थन)
५. दान (प्रयोग द्वारा अनुभव)

इन पाँचों चरणों को हम आधुनिक शिक्षाशास्त्री डिवी के ज्ञान प्राप्त करने के लिये आवश्यक तीन अंगों के समकक्ष रख सकते हैं। डिवी के ज्ञानार्जन के तीन अंग ये हैं :—

१.	समस्या की पहचान[1]	अध्ययन शब्द
२.	विभिन्न आये हुए समाधानों में से किसी एक समाधान को चुनना[2]	ऊह-सुहृद्-प्राप्ति
३.	प्रयोग[3]	दान

मनु ने इन सभी का समन्वित लघु रूप इस प्रकार से प्रस्तुत किया है :—

१. किसी तथ्य का ज्ञान शिक्षक द्वारा
२. निज बुद्धि द्वारा
३. सहपाठियों तथा मित्रों से
४. स्वयं के अनुभव से

इन प्रक्रियाओं के आधार पर स्पष्ट है कि शास्त्रार्थ की प्राचीन पद्धति सूत्र काल में भी प्रचलित रही। प्रश्नोत्तर द्वारा शिक्षण-कार्य के सम्पादन में गति मिलती रही।

आपस्तम्ब के अनुसार अनुभवी एवं समर्थ छात्रों को शिक्षक की अनुपस्थिति में शिक्षण-कार्य का भार ग्रहण करना पड़ता था। बालचर-प्रणाली[4] भारतीय शिक्षण-

1. A Problem and its location.
2. Suggested solutions and the selection of a problem.
3. Application.
4. Monitorial system.

पद्धति में प्राचीन काल से व्यवहृत होती रही। तक्षशिला जैसे विख्यात शिक्षा-केन्द्र में भी इस प्रथा के दर्शन होते हैं।

आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी बालचर-प्रणाली की उपादेयता स्वीकार करते हैं। इस प्रथा के द्वारा गुरु को विश्वसनीय सहायक बिना किसी व्यय के ही मिल जाता था तथा छात्र को भी आत्मविकास का अवसर मिलता था। योग्य छात्रों को इस प्रकार शिक्षक के उत्तरदायित्व का क्रियात्मक ज्ञान हो जाता था। इस प्रथा के अनुसरण के कारण भारतीय विद्यालय प्रशिक्षण का भी कार्य सम्पन्न करते थे।

वैयक्तिक शिक्षण-पद्धति के कारण छात्र-विशेष की क्षमताओं के अनुकूल उसे शिक्षा-प्राप्ति के अवसर मिलते थे। सुयोग्य छात्र शीघ्र ही ज्ञानार्जन करने में समर्थ होते थे। साधारण छात्र तीव्र गति से बढ़ने वाले प्रतिभासम्पन्न छात्रों के समान नहीं बढ़ पाते थे। किन्तु वैयक्तिक शिक्षा-पद्धति में छात्रों की प्रगति का निरीक्षण शिक्षक भली प्रकार कर सकता था। फलतः निम्न मानसिक स्तर के छात्र भी उपेक्षित नहीं रह सकते थे। शिक्षक इस बात का निश्चय कर लेता कि पढ़ा हुआ पाठ विद्यार्थियों को भली प्रकार स्मरण है कि नहीं। तत्पश्चात् ही नए पाठ को आरम्भ किया जाता था। व्यक्तिगत प्रतिभासम्पन्नता के फलस्वरूप प्राचीन विद्यालयों में समर्थ एवं विद्यानुरागी छात्र ही स्थायित्व ग्रहण कर पाते थे।

अनुशासन और दण्ड

प्राचीन भारतीय शिक्षा में आयोजित दैनिक कार्य छात्रों में स्वतः अनुशासन का समावेश करते थे। छात्र-जीवन ब्रह्मचर्य-वास था जिसमें सदाचार की व्यावहारिक शिक्षा मिलती रहती थी। विद्यार्थियों की जीवन-धारा कुछ इस ढंग से प्रवाहित होती थी कि आचार तथा अनुशासन-सम्बन्धी शिक्षाएँ उनको बिना किसी प्रयास के ही मिलती जाती थीं। फलतः आजकल की पेचीदी एवं गम्भीर अनुशासन-संबंधी समस्याओं का नाम भी नहीं मिलता। किन्तु ऐसा नहीं कि अनुशासन बनाए रखने के प्रति वे उदासीन थे। निर्धारित कर्त्तव्यों की किसी भी रूप में अवहेलना करने वाले छात्रों के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था स्मृतिकारों ने की है। ये दण्ड प्रायः आध्यात्मिक होते थे, जैसे उपवास आदि। आध्यात्मिक दण्ड से छात्र अपने अपराधों पर ग्लानि का अनुभव करता हुआ अपने अन्तःकरण को शुद्ध करने की प्रेरणा भी ग्रहण करता था। स्पष्ट है कि दण्ड-व्यवस्था की आधार-शिला आत्म-सुधार पर अवलम्बित थी। आधुनिक बाह्य दण्डों की अपेक्षाकृत ये दण्ड अधिक उपयुक्त थे। बाह्यात्मक दण्ड बहुधा आत्म-शुद्धि की अपेक्षा अपराधों की वृद्धि का कारण बन जाते हैं।

आपस्तम्ब तो शारीरिक दण्ड के बारे में सोचते भी नहीं। उनके विचार से शिक्षक को दोषी छात्र को अपने सामने से हटा देना चाहिए या उसके लिए किसी व्रत को निर्धारित कर देना चाहिए। मनु भी इसी प्रकार की धारणा के पोषक हैं तथा वे शिक्षक द्वारा उचित समझाव-बुझाव को भी दोष-निराकरण में सहायक मानते हैं। किन्तु यदि इन प्रयासों से दोष-निराकरण सम्भव न हो सके तो वे हल्के शारीरिक दण्ड को भी अनुचित नहीं मानते। गौतम भी इस प्रकार के हलके शारीरिक दण्ड से सहमत थे। किन्तु कठिन दण्ड के पूर्णतः विरुद्ध थे। उनका स्पष्ट निर्देश था कि कठिन दण्ड देने वाले शिक्षकों को सम्राट द्वारा दण्ड मिलना चाहिए। शारीरिक दण्ड में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि अपराधी के मर्मस्थल को आघात न पहुँचे। अतः रस्सी या पतले बेंत से अपराधी की पीठ पर चोट पहुँचाई जा सकती थी। प्राचीन भारतीय विद्यालयों में इस रीति का प्रचलन था। तक्षशिला का एक छात्र, जिसको चोरी करने की आदत पड़ गयी थी, इसी प्रकार के शारीरिक दण्ड का भागी बना था। इस प्रथा के प्रचलन के अतिरिक्त विद्यालयों में शिक्षक और छात्रों के आदर्श सम्बन्ध के कारण विद्यालय का जीवन अनुशासित एवं शान्त होता था।

शिक्षा-शुल्क

पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन भारत में शिक्षण एक धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। गुरु का ऋण चुकाने का एकमात्र साधन यही था। समस्त विद्याध्ययन करने वालों से यह आशा की जाती थी कि विद्याध्ययन के उपरान्त वे ही गुरु-रूप में सुयोग्य छात्रों को शिक्षित करने का कार्य सम्पादन करेंगे। ज्ञानार्जन की सार्थकता की आधारशिला यही थी। जीविकोपार्जन के लिए शिक्षण-कार्य नहीं होता था, अपितु ज्ञान-प्रसार शिक्षण का प्रमुख उद्देश्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति द्वारा एक धार्मिक उत्तरदायित्व का स्वतः निर्वाह होता रहता था। शिक्षण-पद्धति पूर्णतः आध्यात्मिक तथा नैतिक थी।

जो शिक्षक शुल्क के निमित्त अध्यापन-कार्य करता था उसे पातकी समझा जाता था। स्मृति-चन्द्रिका के अनुसार शुल्क का प्रस्ताव भी करना शिक्षक के लिए नितान्त निन्दनीय समझा जाता था। गुरु के घर नवीन शिष्य का पदार्पण नवीन शिशु के जन्म लेने के समान था। शिष्य के आगमन के कारण गुरु के उत्तरदायित्व का क्षेत्र अवश्य बढ़ जाता था, किन्तु उससे किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की आशा नहीं की जाती थी। सौर पुराण में निर्धारित शुल्क द्वारा शिक्षा प्रदान करने तथा ग्रहण करने वाले दोनों ही नरक के भागी माने गये हैं।

शिक्षा की समाप्ति के समय गुरु-दक्षिणा दी जाती थी। गुरु को अधिकार था कि वह उचित दक्षिणा को स्वीकार करे और शिष्य का यह कर्त्तव्य था कि वह शिक्षा की समाप्ति पर उचित दक्षिणा अर्पित कर गुरु का सम्मान करे। समर्थ छात्रों से ही गुरु-दक्षिणा प्राप्त की जाती थी। किन्तु गुरु-दक्षिणा में शाक, भाजी आदि को भी अर्पित किया जा सकता था। अतः साधनहीन विद्यार्थी भी स्वयं प्रयत्न करके गुरु-दक्षिणा चुकाते थे। इन प्रयत्नों में उनको अनेक कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ती थीं। जातकों में ऐसे छात्रों के प्रयत्नों का वर्णन है। साधनहीन छात्रों को गुरु के लिए कुछ शारीरिक परिश्रम तो अवश्य करना पड़ता था, जैसा कि तक्षशिला के बहुसंख्यक विद्यार्थी करते थे, किन्तु उनको समृद्ध छात्रों की भाँति ही शिक्षा सुलभ थी और ज्ञानार्जन के अवसर प्राप्त थे। दिन में परिश्रम करने वाले छात्रों की शिक्षा गुरु द्वारा रात में सम्पादित होती थी।

नियमतः शिक्षा समाप्त कर चुकने पर ही दक्षिणा देने की छात्रों के लिए व्यवस्था थी। किन्तु समृद्धिशाली व्यक्तियों के बालक प्रारम्भ में ही दक्षिणा की धनराशि गुरु को समर्पित कर देते थे। जातक ग्रन्थों में इस प्रकार के कई प्रमाण मिलते हैं। मिलिन्दपह्न के अनुसार नागसेन के पिता ने नागसेन की शिक्षा के लिए दक्षिणा अध्ययन आरम्भ के समय ही दे दी थी। गुरु द्रोण को भी कौरव राजकुमारों की शिक्षा के लिए समुचित दक्षिणा पहले ही प्राप्त हो गई थी।

इस प्रकार प्राचीन भारत म अनिवार्यतः शिक्षा प्राप्त करने के लिए कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था। किन्तु अध्यापन-कार्य को इतना महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानित स्थान प्राप्त था कि शिक्षक के लिए कोई भी भौतिक वस्तु अलभ्य न थी। फलतः भारतीय शिक्षा-पद्धति शताब्दियों तक समाज के अधिकांश (लगभग ८० प्रतिशत) व्यक्तियों में ज्ञान के आलोक द्वारा जीवन को नवीन गति प्रदान करती हुई भारतीय संस्कृति का मस्तक विश्व में उच्च रखने में समर्थ हो सकी। भारतीय समाज के विचारक सदा प्रयत्नशील रहते थे कि अर्थाभाव के कारण कहीं शिक्षक के अध्यापन में बाधा न उपस्थित हो और उसको अपना कार्य स्थगित न करना पड़ जाय। शिक्षक की अर्थ-सम्बन्धी आवश्यकताओं का ध्यान समाज को सदैव बना रहता था तथा शिक्षक समाज में पूज्य समझा जाता था।

सह-शिक्षा

प्राचीन भारत में सह-शिक्षा का यथेष्ट प्रचलन नहीं था, किन्तु सह-शिक्षा वर्जित भी नहीं थी। प्राचीन साहित्य में कुछ प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिनके आधार

पर कहा जा सकता है कि सह-शिक्षा के प्रति लोग आशंकित नहीं थे। भवभूति की रचना मालती-माधव के अनुसार "कामन्दकी", "भूरिवसु" तथा "देवरात" के साथ शिक्षित हुई थी। उत्तर रामचरित में "ऐतरेयी" लवकुश के साथ शिक्षा ग्रहण करती वर्णित है। पुराणों में सुजात, कहोद, रुरु तथा प्रमदवरा की कक्षाओं का वर्णन सह-शिक्षा के प्रचलित होने के प्रमाण हैं। छात्र-छात्राओं में प्रेम-विवाह भी कभी-कभी हो जाया करता था। प्रेम-विवाह के प्रति लोगों का दृष्टि कोण बुरा न था और न वह निन्दनीय ही समझा जाता था। गंधर्व-विवाह को समाज में अनुचित नहीं समझा जाता था, अपितु उसके प्रति लोगों का अनुराग था।

शिक्षा-सत्र[1]

श्रावण मास की पूर्णिमा को एक विशेष कार्यक्रम आयोजित किया जाता था और वैदिक शिक्षालयों के कार्यकाल का प्रारम्भ भी इस समारोह के साथ ही आरम्भ होता था। इस समारोह को "उपाकर्मन" कहा जाता था। इस समारोह में आचार्य और विद्यार्थी दोनों सम्मिलित रूप से भाग लेते थे तथा वैदिक देवताओं की पूजा के उपरान्त मेधा, प्रज्ञा और श्रद्धा; मानसिक विकास की तीनों अधिष्ठात्रियों की वन्दना की जाती थी। तत्पश्चात् विद्यालय के विभागीय भूतपूर्व महान् संचालकों तथा प्रतिपादकों आदि को श्रद्धांजलि अर्पित की जाती थी।

विद्यालय का कार्य उपाकर्म-समारोह के बाद से लगभग ६ महीने तक नियमित रूप से चलता रहता था और पौष मास की पूर्णिमा के दिन 'छन्दसाम् उत्सर्जनम्' समारोह के आयोजन के साथ-साथ विद्यालय का नियमित अध्यापन-काल समाप्त समझा जाता था। इसके बाद शेष महीनों में वेद का अध्यापन स्थगित रहता था। सामान्यत: विद्यालयों का नियमित अध्यापन काल पाँच या साढ़े पाँच महीनों का होता था। किन्तु अन्य शेष महीनों में विद्यार्थी स्वयं अध्ययन करते रहते थे। इस प्रकार नवीन शिक्षा सत्र के साथ-साथ नये वैदिक अध्याय का अध्यापन प्रारम्भ होता था। सत्र के बीच में पड़ने वाली पूर्णिमा, प्रतिपदा तथा अन्य धार्मिक अवसरों पर विद्यालय में छुट्टी रहती थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गम्भीर अध्ययन के लिए उस समय जाड़े और बरसात का ही समय अधिक उपयुक्त समझा गया था। ऋतुओं की उपयुक्तता के साथ-साथ विद्यालय में शान्त वातावरण भी विद्यार्थियों की एकाग्रता के लिए आवश्यक था। धर्म-सूत्रों के अनुसार तूफान आने पर, रोगियों की दर्दभरी आवाज सुनाई

१. Academic Session.

देने पर, नगाड़े आदि की तीव्र ध्वनि होने पर, कुत्ते और शृगाल आदि के बोलने पर, एकाग्रता में विघ्न पड़ता है; इसलिए इस प्रकार की घटनाओं के समय पठन-पाठन बन्द रहना चाहिए।

गौतम तथा आपस्तम्ब के अनुसार जब विद्यालय के कुछ विद्यार्थी बाहर कहीं भ्रमण करने के लिए गये हों तो अन्य उपस्थित विद्यार्थियों को तब तक नया अध्याय नहीं प्रारम्भ कराना चाहिए जब तक बाहर यात्रा पर गये विद्यार्थी लौटकर न आ जायँ। शिक्षा-सम्पादन का कार्य सामाजिक दुर्घटनाओं तथा राजनीतिक अव्यवस्था के समय पर भी नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार उपयुक्त विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक शिक्षालयों का कार्य वर्ष में पर्याप्त समय तक बन्द रहता था। साथ ही यह स्पष्ट है कि इन विद्यालयों में वैदिक शिक्षा के निर्विघ्न सम्पादन के लिए यथेष्ट व्यवस्था थी तथा वैदिक शिक्षक और शिक्षा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं पवित्र समझा जाता था।

अध्ययन-काल

पाठ्य विषय के अनुसार अध्ययन-काल भी निर्धारित रहता था। वैदिक काल में ही विशेषीकृत अध्ययन की व्यवस्था थी। सूत्र काल में इस भावना को और भी आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। गौतम धर्म-सूत्र के आधार पर हम देखते हैं कि एक वेद का पूर्ण अध्ययन करने के लिए १२ वर्ष का समय अपेक्षित था। इस प्रकार चार वेदों के अध्ययन में स्वभावतः ४८ वर्ष लग जाते होंगे। सम्भवतः अधिकांश विद्यार्थी अपना इतना समय विद्यार्जन में व्यतीत कर सकने में समर्थ न हो पाते होंगे। किन्तु कुछ ऐसे विद्यार्थी अवश्य पाये जाते थे जो अपना सम्पूर्ण जीवन साधना एवं अध्ययन में व्यतीत कर देते थे। किन्तु साधारण विद्यार्थी किसी एक ही वेद का अध्ययन १२ वर्ष तक करते थे। मेगास्थनीज के वर्णन में ३७ वर्षों तक अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों की चर्चा की गयी है।

शिक्षा की अवधि का आधार विद्यार्थी की मानसिक क्षमता थी। वैयक्तिक शिक्षण में विद्यार्थी की क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग होता था और निर्धारित समय से पूर्व शिक्षा समाप्त कर लेने वाले विद्यार्थियों को घर जाने की आज्ञा मिल जाया करती थी। किन्तु वैदिक शिक्षा तब तक जारी रक्खी जा सकती थी जब तक केश श्वेत न हो जायँ।

नारी-शिक्षा

सूत्र कालीन शिक्षा-पद्धति में भी नारी-शिक्षा को वैदिक कालीन शिक्षा के समान ही महत्त्व प्रदान किया गया। गोभिल गृह्यसूत्र में यज्ञानुष्ठान में भाग लेने

के लिए पत्नी का शिक्षित होना अनिवार्य बतलाया गया है। जैमिन पूर्व मीमांसा के अनुसार यज्ञानुष्ठान में पुरुष के समान ही स्त्री का स्थान भी निर्धारित किया गया है। सूत्र काल में ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ उपनयन ग्रहण करती थीं। ब्राह्मण बालकों की भाँति ही ८ वर्ष में बालिकाओं को भी उपनयन ग्रहण करने का अधिकार था। उस समय बालिकाओं के लिए भी उपनयन अनिवार्य समझा जाता था। अत्यन्त शुष्क कहे जाने वाले मीमांसा साहित्य के अध्ययन की ओर नारियों की रुचि उनकी योग्यता की द्योतक थी। 'काशकृत्स्नी' नामक ग्रन्थ की रचना एक विदुषी नारी ने ही की थी जिसका नाम था 'काशकृत्स्नन्'। इस ग्रन्थ का विशेष अध्ययन करने वाली स्त्रियों को 'काशकृत्सना' कहा जाता था। इस शब्द का आविष्कार सिद्ध करता है कि उस समय अध्ययन में रुचि रखनेवाली नारियाँ बहुत थीं।

प्राचीन साहित्य में प्रचलित उपाध्याय के स्त्रीलिंग शब्द 'उपाध्यायानी' और 'उपाध्याया' इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन भारत में नारियाँ अध्यापन-कार्य भी करती थीं। इन शब्दों का प्रचलन सिद्ध करता है कि तत्कालीन अध्यापिकाएँ पर्याप्त संख्या में रही होंगी। पाणिनि के अनुसार कुछ छात्रालय थे जिनमें केवल छात्राएँ ही निवास करती थीं तथा इन छात्रावासों का निरीक्षण स्त्री-शिक्षिकाओं के ही हाथ में था।

मौर्य काल तक स्त्रियों को समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था, किन्तु ईसवी पूर्व २०० के लगभग नारियों की समाज में प्रतिष्ठा क्षीण होने लगी। परिणामतः स्त्री-शिक्षा को भी आघात पहुँचा और उपनयन की अनिवार्यता धीरे-धीरे लुप्त होने लगी। नारियों की सामाजिक प्रतिष्ठा की अवनति के कारण स्त्री-शिक्षा पर बुरा प्रभाव पड़ा। दूसरी शताब्दी (ईसा के बाद) के पश्चात् बालिकाओं का पाणिग्रहण अनिवार्य रूप से ऋतुमति होने के पूर्व हो जाना आवश्यक बतलाया गया। ऋतुमति होने के पश्चात् बालिकओं का पाणिग्रहण करने वाले व्यक्तियों की निन्दा यम, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने की। परिणामतः ८, ६ वर्ष में ही बालिकाओं का विवाह हो जाता था। इस परिस्थिति में स्त्री-शिक्षा की प्रगति सर्वथा असम्भव थी और न हो सकी।

इतना होने के बाद भी सम्पन्न घराने की बालिकाएँ योग्य शिक्षकों द्वारा घर पर ही साहित्य, नृत्य तथा संगीत आदि विषयों की शिक्षा ग्रहण किया करती थीं। दक्षिण भारत में कई उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्रियों ने प्राकृत में काव्य रचना भी की है। इनका वर्णन हमको गाथा सप्तशती में मिलता है। इन कवयित्रियों के नाम, रेवा, रोहा, अनुलक्ष्मी, माधवी, पाहई, वद्धवही और शशिप्रभा हैं। बरार प्रान्त की कवयित्री विजया को कालिदास के बाद स्थान प्राप्त था। विजया की राजशेखर

ने भी प्रशंसा की है। सीलोभट्टारिका ने भी संस्कृत साहित्य में स्थान प्राप्त किया था। अभी हाल में ही विद्या अथवा विज्जका नामक कवयित्री का लिखा 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक उपलब्ध हुआ है। चिकित्सा-शास्त्र की पुस्तकों की रचना भी स्त्रियों द्वारा की गई। ८वीं शताब्दी में अरबी भाषा में अनूदित 'जच्चा-विद्या'[१] की अरबी लेखिका का नाम 'रुसा' था। वाद-विवाद तथा दार्शनिक क्षेत्र में भी स्त्रियाँ प्रगतिशील थीं। मण्डन मिश्र की पत्नी ने पंच बन कर अपने पति और शंकराचार्य का शास्त्रार्थ सुना था।

युद्ध-विद्या तथा राजनीति में भी योग्यता प्राप्त स्त्रियों के वर्णन मिलते हैं। मसग की रानी ने अपने पति की मृत्यु के उपरान्त स्वयं सिकन्दर का सामना किया। शासिका-रूप में सुगन्धा और दिद्धा का नाम काश्मीर के इतिहास में अमर है। अपने पुत्रों की बाल्यावस्था के समय आंध्र वंश की नयनिका तथा वाकटक वंश की प्रभावती गुप्ता ने राज्य-संचालन किया था। मुस्लिम आक्रमणों के पश्चात् भारतीय नारियों की शिक्षा की गति पूर्णतः अवरुद्ध हो गई जो लगभग ८०० वर्ष तक अवरुद्ध रही।

परिषद्

भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से परिषदों का प्रचलन धार्मिक समस्याओं पर विचार-विनिमय एवं अन्तिम निर्णय देने के लिए रहा। सूत्र काल में परिषदों तथा उनके कार्य को सुसंगठित करने के लिए उचित नियमों तक की व्यवस्था की गई। जहाँ पर ब्राह्मण विद्वान अधिक संख्या में होते थे उन्हीं स्थानों पर परिषदों का संयोजन होता था। साधारणतः परिषद् में १० सदस्य होते थे। इन दस सदस्यों के संयोजन के बारे में गौतम धर्म-सूत्र में इस प्रकार का विवरण मिलता है:

१. चार सदस्य, चार वेदों का पूर्ण ज्ञान रखने वाले

२. तीन सदस्य, जो कि धर्म-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान हों

३. तीन प्रतिनिधि सदस्य, प्रत्येक ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों के प्रतिनिधि।

कुल सदस्य-संख्या इस प्रकार १० होती थी जिसको कि बोधायन धर्म-सूत्र में भी माना गया है। किन्तु धर्म-शास्त्र के तीन पंडितों में से इसमें माना गया है कि एक मीमांसा का ज्ञाता हो, दूसरा वेदांगों का पूर्ण ज्ञान रखने वाला हो और तीसरा धर्म-सूत्र का प्रकाण्ड विद्वान हो।

---

१. Midwifery.

परिषद् की सदस्य-संख्या के बारे में मनु भी एकमत हैं, किन्तु उनके सदस्यों का विभाजन निम्नांकित है :

१. (क)	ऋगवेद का ज्ञाता	..	सदस्य १	३
(ख)	सामवेद का ज्ञाता	..	,, १	
(ग)	यजुर्वेद का पंडित	..	,, १	
२. (क)	तर्कशास्त्र में पारंगत	..	,, १	४
(ख)	मीमांसा का विद्वान	..	,, १	
(ग)	निरुवस्त का पंडित	..	,, १	
(घ)	धर्मशास्त्रों का ज्ञाता	..	,, १	
३. (क)	ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रतिनिधि	..	,, १	३
(ख)	गृहस्थ आश्रम का प्रतिनिधि	..	,, १	
(ग)	वानप्रस्थ आश्रम का प्रतिनिधि	..	,, १	
			कुल सदस्य-संख्या १०	

मनु के मतानुसार तीन वेदों के तीन पंडितों से भी परिषद् का संगठन हो सकता था। यहाँ तक कि यदि तीन पंडित न मिल सकें तो वेदों का मर्मज्ञ एक पंडित ही परिषद् का स्थान प्राप्त कर सकता था और उस एक विद्वान पंडित का निर्णय सहस्रों सामान्य व्यक्तियों के निर्णय से श्रेष्ठ समझा जाता था। परिषद् के निर्णय की सर्वमान्यता के फलस्वरूप इनका विरोध अवैध समझा जाता था।

पराशर का मत भी बहुत कुछ मनु की विचार-धारा से मेल खाता है। उनके अनुसार ३ या ४ वेदज्ञ ब्राह्मणों के द्वारा परिषद् का संगठन हो सकता है तथा वेदांग एवं धर्म-सूत्रों के पूर्ण पंडित ५ ब्राह्मणों से भी परिषद् संगठित हो सकती थी। परम ज्ञान की प्राप्ति वाले एक ऋषि द्वारा भी परिषद् बन सकती थी और ऐसे वैदिक यज्ञानुष्ठानों को विधिवत् सम्पादित कराने वाले ऋषि का निर्णय परिषद् के समान ही सर्वमान्य होता था।

परिषद् के संगठन की व्याख्या से कई परिणाम निकलते हैं, जिनका विवरण हम नीचे प्रस्तुत करते हैं।

१. सूत्र काल में परिषदों का रूप सामान्यतः एक-सा ही था। परिषद् की सदस्य-संख्या प्रायः १० होती थी, किन्तु ५, ४, ३ अथवा १ सदस्य द्वारा भी परिषद् का संगठन सम्भव था :

२. परिषदों के सदस्यों को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना अनिवार्य था। उनको ज्ञान तथा कर्म-सम्बन्धी सभी मान्यताओं[1] का ज्ञाता भी होना चाहिए।

१. Values.

परिषद् के धार्मिक विचार-विमर्श और निर्णय के उत्तरदायित्व की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक था।

३. विशेष विषय में पारंगत सदस्यों का होना इस बात का प्रमाण है कि सूत्र काल में विशेषीकृत अध्ययन[१] की पर्याप्त प्रगति हो गई थी। गौतम तथा बोधायन धर्म-सूत्रों में परिषद् के चार सदस्य चार वेदों के विशेषज्ञ होने चाहिए। यद्यपि मनु अथर्ववेद के विशेषज्ञ का सदस्य होना आवश्यक नहीं समझते, फिर भी विशेषीकृत अध्ययन का प्रमाण तो इन विशेषज्ञ सदस्यों की मान्यता से मिल ही जाता है।

४. परिषदों में जहाँ वेद और धर्म-सूत्र के प्रकाण्ड विद्वानों को स्थान प्राप्त था वहाँ छात्र, गृहस्थ और वानप्रस्थ के प्रतिनिधि भी सदस्य होते थे। संन्यास आश्रम के प्रतिनिधि सम्भवतः इसलिए नहीं रखे गये थे, क्योंकि उनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन से प्रायः बिल्कुल नहीं होता था। परिषद् उस समय उच्च तथ्यों के निर्धारण और धार्मिक विचार विमर्श की सर्वोच्च संस्था थी। इस प्रकार की संस्था में छात्रों का प्रतिनिधित्व आज से २५०० वर्ष पूर्व छात्रों के सामाजिक सम्मान का द्योतक है। भारतीय प्राचीन शिक्षा में जो स्थान छात्रों को प्राप्त था वह आज के प्रगतिवादी तथा जनतन्त्रात्मक काल में दुष्प्राप्य है।

५. परिषदें विवादग्रस्त प्रश्नों के निराकरण तथा नवीन तथ्यों के निर्धारण की सर्वोच्च सांस्कृतिक संस्थाएँ थीं जिनका निर्णय सर्वमान्य होता था। परिषद् के सदस्यों में प्रमुख ज्ञानों के प्रतिनिधियों के साथ-साथ समाज के भी तीन प्रतिनिधि होते थे। इस प्रकार संगठन तथा उत्तरदायित्व-निर्वाह के आधार पर प्राचीन भारत की परिषदों को आधुनिक विश्वविद्यालयों का पथ-प्रदर्शक मानना अनुचित नहीं होगा।

इस प्रकार परिषदों का संगठन, उनके सदस्यों का मानदण्ड तथा छात्रों और समाज के अन्य प्रतिनिधियों का उनका सदस्य होना, परिषदों का महत्व स्वतः स्पष्ट करते हैं।

समावर्तन

ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के उपरान्त जब छात्र स्नातक बन कर फिर गृहस्थ-जीवन में समाविष्ट होता था उस समय 'समावर्तन' संस्कार सम्पादित होता था। यह संस्कार ब्रह्मचर्य-जीवन का अन्त और गृहस्थ-जीवन के आरम्भ का सूचक था।

समावर्तन संस्कार का सम्पादन किसी शुभ दिन ही किया जाता था। उस दिन ब्रह्मचारी प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व नित्यकर्म से निवृत्त होकर एक कमरे में

१. Specialised.

बन्द हो जाया करता था। कोठरी में बन्द हो जाने का तात्पर्य यह था कि ब्रह्मचारी से प्रस्फुटित ज्योति की प्रखरता कहीं नवोदित रवि को लज्जित न कर दे। शिक्षार्थी के महत्त्व का मूल्यांकन इससे बढ़ कर और क्या हो सकता है! दोपहर के समय जब ब्रह्मचारी कमरे से बाहर निकलता था तब उसके नख, दाढ़ी, केश आदि बना दिये जाते थे और दण्ड तथा कमण्डल आदि ब्रह्मचारी के अन्य चिह्न जल में विसर्जित कर दिये जाते थे। गुरु उसको शीतल जल से स्नान करवाता था। ब्रह्मचर्य-जीवन में त्याज्य सभी वस्तुओं के उपभोग का अधिकार उसको प्राप्त हो जाता था। वह नवीन वस्त्र धारण करता। इस विशेष संस्कार के लिए निर्मित कुण्डल धारण करता तथा अन्य आराम की वस्तुएँ जैसे-छतरी, जूता, पगड़ी आदि ग्रहण करता था।

इस समय एक विशेष हवन का आयोजन किया जाता था। कुलदेवता, गुरु आदि की अभ्यर्थना के उपरान्त स्नातक समीप आए हुए शिक्षार्थियों को विद्यादान करने का व्रत लेता था। इसके पश्चात् गुरु उसको प्रसाद-रूप में 'मधुपर्क' प्रदान करते थे जो कि विशिष्ट सम्मानित व्यक्तियों को ही दिया जाता था; जैसे राजा, गुरु, जामाता आदि को। तत्पश्चात् हाथी या रथ पर स्नातक को स्थानीय विद्वन्मण्डली में ले जाया जाता तथा उसका परिचय विद्वज्जनों से कराया जाता था। गुरु उसे पंडित तथा योग्य होने की घोषणा करते और विद्वत्मंडली स्नातक को आशीर्वाद देती थी।

इन कार्यों के बाद विद्यार्थी गुरु के चरणों में उचित दक्षिणा अर्पित कर स्नातक बन घर वापस लौटता था। समावर्तन संस्कार की पूर्ति इस प्रकार होती थी जो कि स्नातक के सामाजिक स्थान को स्वतः व्यक्त करने में समर्थ है।

सारांश

सूत्र काल और तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था

ईसा से ७०० वर्ष पूर्व सूत्र काल माना जाता है। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव तथा पूर्व निर्मित धार्मिक साहित्य के संरक्षण के कारण सूत्र काल में भारतीय संस्कृति की कड़ियों को शृंखलाबद्ध किया गया। शिक्षा में भी प्रचलित रीतियों को ही संगठित एवं व्यवस्थित करने का कार्य सम्पन्न हुआ। सूत्र-साहित्य द्वारा ज्ञातव्य बातों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

१—विद्यारम्भ

एक विशेष समारोह द्वारा यह संस्कार सम्पन्न होता था। पाँच वर्ष की आयु में देवताओं की अभ्यर्थना के बाद विद्यार्थी चाँदी या सोने की लेखनी से

चावलों पर अक्षर लिखता था। तत्पश्चात उसको गुरु के संरक्षण में ही रहना होता था।

२—उपनयन

वास्तविक शिक्षा का प्रारम्भ 'उपनयन' से ही होता था। शूद्रों के अतिरिक्त तीनों वर्णों के लिए उपनयन अनिवार्य था। उपनयन के लिए आयु निश्चित थी, जैसे ब्राह्मण के लिए ८ वर्ष, क्षत्रिय ११ वर्ष और वैश्य १२ वर्ष। अधिकतम आयु, ब्राह्मण के लिए १६ वर्ष, क्षत्रिय २२ वर्ष और वैश्य २४ वर्ष निर्धारित थी। वर्णानुकूल आयु की भिन्नता का कारण, कुछ विद्वान ब्राह्मणों की मानसिक श्रेष्ठता मानते हैं, कुछ अन्य ब्राह्मण के लिए उच्च शिक्षा का आवश्यक होना मानते हैं। डा० अल्तेकर मानते हैं कि ब्राह्मण-बालकों की शिक्षा उनके घर पर ही होती थी, अन्य वर्ण के बालकों को घर त्यागना पड़ता था। उपनयन की अवहेलना करने वाले सामाजिक कार्यों के उपयुक्त नहीं समझे जाते थे।

३—पाठ्य विषय

वेद, वेदांग, व्याकरण, साहित्य, छन्द, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष का अध्ययन सूत्र काल में होता था। गणित का प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ। चिकित्सा-विज्ञान की भी प्रगति हुई। विशेषीकृत अध्ययन के कारण वैदिक शिक्षा उप-शाखाओं में विभक्त हो गई। मानव धर्म-शास्त्र का संयोजन हुआ।

४—अध्यापन-पद्धति

अध्यापन एक धार्मिक कर्त्तव्य था। गुरु-शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध होता था। गुरु का चरण-स्पर्श करके विद्यार्थी एक स्थान पर बैठ कर प्राणायाम द्वारा एकाग्रता प्राप्त करने के पश्चात् गुरु से पाठ आरम्भ करने की प्रार्थना करता। गुरु गंभीर वाणी में मंत्रों का उच्चारण करते और छात्र उनका अनुसरण करता। पाठ को कंठस्थ करने के अतिरिक्त पाठ की व्याख्या भी की जाती थी।

५—अनुशासन और दण्ड

विद्यालयों में दैनिक कार्यों की नियमित पूर्ति स्वतः अनुशासन स्थापित करने में सहायक थी। निर्धारित कार्यों की अवहेलना करने वालों को आध्यात्मिक दण्ड उनके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए दिया जाता था। आध्यात्मिक दण्ड पाने के बाद भी यदि विद्यार्थी अपराध करता था तो उसको शारीरिक दण्ड भी दिया जाता था, किन्तु यह ध्यान रक्खा जाता था कि अपराधी के मर्मस्थल को चोट न लगने पाये।

६—शिक्षा-शुल्क

शिक्षा के लिए शुल्क की व्यवस्था न थी। शिक्षा के लिए शुल्क निर्धारित करने वाले शिक्षक और शिक्षित दोनों पापी समझे जाते थे। हाँ, शिक्षा के समाप्त होने पर गुरु-दक्षिणा दी जाती थी। गुरु-दक्षिणा साधारण और बहुमूल्य वस्तु भी हो सकती थी। साधनहीन विद्यार्थी परिश्रम द्वारा उपलब्ध गुरु-दक्षिणा देते थे। कुछ समृद्ध छात्र शिक्षा प्रारम्भ करते समय ही दक्षिणा दे दिया करते थे। शिक्षक के कार्य को निरन्तर चलाने के लिए तत्कालीन सामाजिक विचारक स्वयं प्रयत्नशील रहते थे।

७—सह-शिक्षा

सह-शिक्षा के यथेष्ट प्रचलन के कुछ प्रमाण मिलते हैं। 'मालती माधव' के अनुसार 'कामन्दकी', 'भूरिवसु' और 'देवरात' के साथ शिक्षा ग्रहण करती थी। उत्तर रामचरित में 'ऐतरेयी' लव-कुश के साथ पढ़ती थी। प्रेम-विवाह भी होता था और उसको समाज में बुरा नहीं माना जाता था।

८—शिक्षा-सत्र

श्रावण मास की पूर्णिमा को 'उपाकर्म' समारोह के द्वारा विद्यालय कार्य प्रारम्भ करते थे जो पौष मास की पूर्णिमा को 'छन्दसाम उत्सर्जनम्' समारोह के साथ स्थगित होता था। वर्षा और जाड़े की ऋतुएँ अध्ययन के लिए अधिक उपयुक्त समझी जाती थीं। वातावरण की नीरवता नितान्त अपेक्षित थी। ध्यान की एकाग्रता में बाधा पड़ने वाले उपाक्रमों के कारण पठन-पाठन स्थगित कर दिया जाता था। केवल ५ या साढ़े ५ माह तक विद्यालयों का कार्य होता था।

९—अध्ययन का काल

एक वेद का विशेषज्ञ होने में १२ वर्ष लग जाते थे। सम्भवत: विद्यार्थी विषय-विशेष का ही विशेषीकृत अध्ययन करते थे। किन्तु कुछ छात्र जीवनपर्यन्त अध्ययन ही करते रहते थे। निश्चित समय से पूर्व विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले अवधि के पूर्व ही घर जा सकते थे।

१०—स्त्री-शिक्षा

यज्ञानुष्ठान में स्त्री का स्थान पुरुष के समान ही था। बालिकाओं के लिए 'उपनयन' अनिवार्य था। स्त्रियाँ पढ़ाने का कार्य भी करती थीं। उनके लिए 'उपाध्याया' शब्द प्रयुक्त होता था। कुछ छात्रावासों में केवल स्त्रियाँ ही रहती थीं।

कई नारियों ने ग्रन्थ-रचना भी की; जैसे—रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, शशिप्रभा, विजया, सीलो भट्टारिका तथा विद्या आदि ।

११—परिषद्

एक उच्च सांस्कृतिक संस्था थी । सदस्य-संख्या सामान्यत: १०, किन्तु कम भी हो सकती थी । सदस्य विशेष विषयों के विशेषज्ञ तथा समाज के प्रतिनिधि होते थे । धार्मिक वाद-विवाद तथा निर्णय परिषद् का उत्तरदायित्व था । छात्रों को भी इस उच्च संस्था में प्रतिनिधित्व प्राप्त था । परिषदों के आधार पर विशेषीकृत शिक्षा का प्रमाण मिलता है । परिषद् का निर्णय सर्वमान्य होता था ।

१२—समावर्तन

ब्रह्मचर्य-व्रत के उपरान्त स्नातक बन कर ब्रह्मचारी अपने घर लौटता था । समावर्तन संस्कार शुभ दिन को सम्पन्न होता था । दोपहर के समय स्नातक को ब्रह्मचर्य के चिह्न कमण्डल, दण्ड आदि जल में विसर्जित कर देना होता और उसको आराम की वस्तुएँ दी जाती थीं । ब्रह्मचर्य-जीवन में वर्जित सुख-साधनों के उपभोग का वह अधिकारी हो जाता था । हवन आदि के बाद स्नातक को नवीन वस्त्रों में हाथी या रथ पर बिठाकर विद्वत्मण्डली में ले जाकर गुरु उसका परिचय करवाते और उसके पंडित होने की घोषणा करते । स्नातक गुरु को उचित दक्षिणा अर्पित कर घर को लौटता ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सूत्र कालीन शिक्षा की विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।

२. सूत्र कालीन शिक्षण-पद्धति की तुलना वैदिक शिक्षण-पद्धति से करते हुए पाठ्य विषयों के बारे में भी लिखिए ।

३. स्त्री शिक्षा और सह-शिक्षा का क्या रूप सूत्र कालीन शिक्षा में था ?

४. सूत्र कालीन शिक्षा-पद्धति में उपनयन का क्या महत्त्व था, स्पष्ट कीजिए ?

५. परिषद्, दण्ड-व्यवस्था, समावर्तन तथा शिक्षा-शुल्क पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ।

अध्याय ५

महाकाव्य, व्याकरण साहित्य तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शिक्षा

सूत्र-काल या इसी के आस-पास के समय में धर्म-सम्बन्धी साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी साहित्य की रचना की गयी। इन ग्रन्थों में भी भारतीय शिक्षा के व्यावहारिक रूप के दर्शन होते हैं। इनके आधार पर भारतीय व्यावहारिक शिक्षा के बारे में जो भी विवरण मिलता है उसका एक संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है:—

क—रामायण और महाभारत

रामायण और महाभारत के अध्ययन से भारतीय संस्कृति का विस्तृत स्वरूप सामने आ जाता है। किन्तु ये महाकाव्य शिक्षा के क्षेत्र पर प्रकाश डालने में मुख्यतः सहायक नहीं हो सकते। इनमें सामाजिक परिस्थितियों, क्षत्रिय जीवन की प्रमुख विशेषताओं आदि के वर्णन में प्रसंगवश कुछ शिक्षा-सम्बन्धी बातें आ गयी हैं। उन्हीं के आधार पर हम नीचे तत्कालीन शिक्षा-सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं।

सामाजिक वर्ण-व्यवस्था के अनुसार विभिन्न वर्णों के व्यवसाय भिन्न-भिन्न होते थे। महाभारत में इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि ब्राह्मण का प्रधान कर्त्तव्य था कि वह वैदिक संस्कृति का अध्ययन करे और उसकी रक्षा का उत्तरदायी बने। क्षत्रियों का प्रधान कर्त्तव्य था कि वे अपने क्षत्रित्व की मान व मर्यादा को भंग न होने दें। वैश्यों का मुख्य कर्त्तव्य था अर्थोपार्जन, दान देना और यज्ञ करना आदि। फलतः इसी के अनुसार अलग-अलग वर्ण वालों की शिक्षा में भी भिन्नता थी। ब्राह्मण को वैदिक शिक्षा का विशेषज्ञ होना आवश्यक था जिससे वह उच्च शिक्षा देने में भी समर्थ हो सके। क्षत्रियों को साधारणतः युद्ध-कला की शिक्षा वेद आदि की शिक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण थी। वैश्यों की शिक्षा में भी वैदिक शिक्षा का महत्त्व उनकी व्यावसायिक शिक्षा की अपेक्षा कम था। किन्तु वर्णगत् व्यवसायों का बन्धन ऐसा नहीं था कि उसका उल्लंघन न किया जा सके। जैसे आवश्यकता पड़ने पर अथवा

निःसहाय व्यक्ति की रक्षा के लिए ब्राह्मण का कर्त्तव्य था कि वह शस्त्र ग्रहण करे और युद्धरत हो। निराश्रितों की रक्षा अथवा सहायता करने वाले शूद्र भी पूज्य समझे जाते थे। किन्तु तीन वर्णों के लिए ही शिक्षा अनिवार्य थी।

यद्यपि तीन वर्णों के लिए शिक्षा अनिवार्य थी तथा इन्हीं वर्णों के लोग ही वैदिक यज्ञ के अधिकारी थे, फिर भी शिक्षा का द्वार शूद्रों के लिए बन्द नहीं था और वे यज्ञ आदि में भी भाग ले सकते थे। प्राचीन भारतीय समाज में यज्ञों का अनुष्ठान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। शूद्र भी यज्ञों में सम्मिलित होते तथा सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्र में अपना स्थान रखने वाले थे।

राष्ट्र के मंत्रिमंडल में ५० वर्ष की अवस्था प्राप्त कर चुकने वाले सभी वर्ण के सदस्य होते थे। वर्णानुसार उनकी सदस्य-संख्या मंत्रिमंडल में भिन्न-भिन्न तो अवश्य होती थी, किन्तु सदस्यता का मापदण्ड वर्ण नहीं, अपितु प्रौढ़ अनुभव और योग्यता होती थी। मंत्रिमंडल में भिन्न-भिन्न वर्णों की सदस्य-संख्या का वर्णन इस प्रकार मिलता है।

१—ब्राह्मण वर्ण के	४ सदस्य
२—क्षत्रिय वर्ण के	८ सदस्य
३—वैश्य वर्ण के	२१ सदस्य
४—शूद्र वर्ण के	३ सदस्य
५—और (सूक्त) वर्ण के	३ सदस्य

मंत्रिमंडल में सदस्यता के लिए शूद्रों का भी स्थान निर्धारित था। वे यज्ञ आदि में भी भाग लेते थे। किन्तु साधारणतः उनको वैदिक यज्ञों में सम्मिलित होने का अधिकार न था। हाँ, वे वैदिक शास्त्रार्थ तथा प्रवचनों का श्रवण कर सकते थे। अतः यह शत प्रतिशत सम्भव है कि शूद्र की शिक्षा का भी प्रबन्ध रहा होगा।

१—ब्राह्मणों और क्षत्रियों की शिक्षा

१ **ब्राह्मणों की शिक्षा**—अधिकतर ब्राह्मणों को ही अध्यापन-कार्य करना होता था। अतः उनके लिए आवश्यक था कि वे वेदों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें। महाभारत में वर्णित कठिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना ब्राह्मण छात्रों के लिए अनिवार्य था। ये छात्र अपने आचार्य के साथ ही रहकर अपनी शिक्षा प्राप्त करने में संलग्न रहते थे। शिष्य को गुरु की हर आज्ञा का पालन करना होता था। शिष्य के दैनिक कार्य और गुरु-सेवा भी उसकी शिक्षा के अंग थे। प्रातः काल वह गुरु से पूर्व जागता और गुरु के भोजन करने के उपरान्त भोजन करता था। गुरु के शयन करने पर ही वह विश्राम कर सकता था। गुरु के समक्ष शिष्य बिना

गुरु की आज्ञा के आसन नहीं ग्रहण कर सकता था। गुरु की सेवाओं से अवकाश मिलने पर गुरु की आज्ञा प्राप्त कर वह अपने अध्ययन में लगता था। गुरु के आश्रम में रहते हुए शिष्य को २५ वर्ष तक आश्रम के नियमों का पालन करना पड़ता था। २५ वर्ष आश्रम में रहकर शिक्षा समाप्त कर लेने के पश्चात् शिष्य को गुरु के समक्ष उचित दक्षिणा प्रस्तुत करनी पड़ती थी।

महाभारत के अनुसार भीष्म, द्रोग और धौम्य, राजकुमारों को शिक्षा दिया करते थे।

२ **क्षत्रियों की शिक्षा**--महाभारत के अनुसार क्षत्रिय राजकुमारों को वेद, धनुर्विद्या, गदा-युद्ध, तलवार, हस्तिवाहन, पुराण तथा नीति-शास्त्र आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। पाण्डु, विदुर, धृतराष्ट्र ने इन विषयों का ज्ञान भीष्म से प्राप्त किया था। पाण्डव और कौरव राजकुमारों ने इन विषयों की शिक्षा द्रोणाचार्य से ग्रहण की थी। किन्तु द्रोणाचार्य के शिष्यों की धार्मिक शिक्षा का उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, वे सभी युद्ध तथा शस्त्र-विद्या में पारंगत थे। अर्जुन धनुर्विद्या में अद्वितीय था और द्रोण का सबसे अधिक प्रिय शिष्य था। दुर्योधन और भीम को गदा-युद्ध का विशेष ज्ञान था। तलवार चलाने में पाण्डव-राजकुमार नकुल और सहदेव निपुण थे। युधिष्ठिर जो पाण्डव-राजकुमार में सबसे बड़े थे, रथवाहन में दीक्षित थे। दो पीढ़ियों की शिक्षा तो इस प्रकार भीष्म और द्रोणाचार्य द्वारा सम्पादित हुई, किन्तु तीसरी पीढ़ी में उत्पन्न अभिमन्यु की शिक्षा स्वयं उसके पिता अर्जुन द्वारा सम्पादित हुई। मुख्यतः सैनिक शिक्षा अर्जुन ने इस प्रकार अभिमन्यु को दी कि वह शीघ्र ही अस्त्र-विद्या की चारों शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता के समान विख्यात हो गया।

रामायण के अनुसार राजाओं को लिखना, कूदना, फाँदना, तैरना, न्याय, नीति-शास्त्र तथा गंधर्व-विद्या आदि विषय पढ़ाये जाते थे। इसके अतिरिक्त महाभारत में आयुर्वेद की शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है।

इन महाकाव्यों के अनुसार क्षत्रिय राजकुमारों को १६ वर्ष की अवस्था में शिक्षा समाप्त कर लेनी चाहिए। जिससे वे शीघ्र ही सांसारिक उत्तरदायित्व को वहन करने में समर्थ हो सकें। जैसा कि राम और अभिमन्यु की शिक्षा से प्रमाण मिलता है। इतने अल्प काल में शिक्षा समाप्त कर लेने से अभिप्राय यह निकलता है कि क्षत्रिय-कुमारों की शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का स्थान गौण था।

२--स्त्री-शिक्षा

रामायण और महाभारत दोनों में कुछ विदुषी स्त्रियों का उल्लेख किया गया है। फलतः यह सिद्ध है कि उस समय स्त्रियाँ शिक्षित अवश्य रही होंगी। रामायण

में वर्णित शबरी, पम्पापुर के आश्रम में रहकर गुरु मतंग ऋषि से उच्च आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करती थी। राजा जनक के साथ सुलोमा भिक्षुणी दार्शनिक वाद-विवाद करती थी। महाभारत में एक वृद्धा ब्रह्मचारिणी का अष्टावक्र से धार्मिक संवाद का वर्णन मिलता है। शांडिल्य और गार्ग्य ऋषि की पुत्रियाँ भी ब्रह्मचारिणी थीं।

३—कुछ प्रमुख आश्रम

१ प्रयाग—गंगा-यमुना के संगम के पास भरद्वाज-आश्रम था जहाँ शिक्षा की व्यवस्था थी। इसी आश्रम में भरद्वाज ऋषि ने राजा भरत का स्वागत किया था। राजा भरत के सम्मान में एक विशाल प्रासाद तथा उनके अनुचरों और घोड़े-हाथियों के रहने के लिए भी भवन बनवाये गये थे। इस कार्य की अल्पकालीन सम्पन्नता इस आश्रम की ख्याति और ऋषि भरद्वाज के सम्मान की द्योतक है। स्पष्ट है कि आश्रम के समीपवर्ती स्थानों में ऋषि भरद्वाज का कितना आदर था; तभी तो यह सब प्रबन्ध थोड़े समय में सम्भव हो सका।

२ अयोध्या—ब्राह्मणीय शिक्षा के लिए उस समय अयोध्या बहुत प्रसिद्ध था। वहाँ के सभी ब्राह्मण शिक्षित थे। मेखली महासंघ के नाम से ब्रह्मचारियों की एक सभा थी जो कि राजा के समक्ष सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए उपस्थित हुई थी। स्त्रियों की एक सभा का भी उल्लेख मिलता है जो कि वधूसंघ के नाम से थी। इस सभा द्वारा नारियों की सांस्कृतिक उन्नति में योग प्राप्त होता था। नगर में अनेक छात्रावास थे जिनको आश्रम या आवसथ कहा जाता था। विद्यार्थियों के इन छात्रावासों में नगर-निवासी भी धार्मिक व्याख्यान सुनने जाया करते थे। नगर-वासियों द्वारा अन्य शिक्षा-संस्थाएँ भी संचालित की गयी थीं जिनका सम्पूर्ण प्रबन्ध नगर-निवासियों के ही द्वारा होता था। इनके अतिरिक्त नगर वासियों का एक नाटक-संघ था। नाटक-संघ द्वारा समीपस्थ उपयुक्त स्थानों पर अनेक उत्सवों का आयोजन किया जाता था।

३ नैमिष—शौनक ऋषि का प्रसिद्ध आश्रम नैमिष वन प्रदेश में था। यहाँ सहस्रों की संख्या में विद्यार्थी रहते थे। शौनक ऋषि को कुलपति कहा जाता था। नैमिषारण्य तीर्थ में शौनक ने एक द्वादशवर्षीय यज्ञ किया जिसमें मुख्यतः सभी विद्वान बुलाये गये थे। यज्ञ के कार्यक्रमों में धार्मिक व्याख्यानों, प्रवचनों, सम्भाषणों का प्रमुख स्थान था।

४ कण्व का आश्रम—मालिनी के किनारे बहुत-से छोटे-छोट आश्रम अवस्थित थे। इन सभी आश्रमों के सर्वेसर्वा कण्व ही थे। मालिनी-तट का सम्पूर्ण वन-प्रान्त यज्ञ-कुण्ड की अग्नि से पवित्र तथा वेदवाणी द्वारा प्रतिध्वनित हुआ करता

था । इन आश्रमों में वेद, न्याय, दर्शन, स्मृति तथा व्याकरण आदि के प्रमुख विद्वान रहते थे ।

५ वसिष्ठ तथा विश्वामित्र के आश्रम—इनके आश्रमों का परिचय तो प्राप्त है, किन्तु विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है ।

६ व्यास मुनि का आश्रम—मुनिवर वेदव्यास के कुछ विद्यार्थी प्रसिद्ध विद्वान थे । सुमन, वैशम्पायन तथा जैमिन आदि की विद्वत्ता सर्वविदित है ।

४—आश्रमों की व्यवस्था

आदर्श विद्यार्थियों के गुणों से युक्त कुछ विद्यार्थियों का उल्लेख इन महाकाव्यों में मिलता है । ये विद्यार्थी अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध थे । धौम्य ऋषि के शिष्य वेद, अरुणि और उपमन्यु मुख्य छात्रों में से थे जिनका उल्लेख मिलता है । अरुणि अपनी गुरुभक्ति के कारण विशेष प्रसिद्ध था तथा उसकी गुरु-भक्ति अद्वितीय थी । नाना प्रकार के कष्टों का सामना करके उत्तंक (वेद के शिष्य) ने गुरु-दक्षिणा प्रस्तुत करने के प्रयास में अपूर्व गुरुभक्ति तथा गुरु के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है । गुरु और शिष्य के पावन सम्बन्ध को दूषित न होने देने के आशय से कच ने अपने गुरु की पुत्री देवयानी से पाणिग्रहण करना स्वीकार नहीं किया ।

इस प्रकार जो भी शिक्षा-सम्बन्धी विवरण हमको इन महाकाव्यों में उपलब्ध होता है, उसके आधार पर उस समय की शिक्षा के स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है ।

ख—व्याकरण साहित्य

पाणिनि और पतजलि व्याकरण साहित्य के दो प्रमुख स्तम्भ हैं । इन भारतीय वैयाकरणों ने तत्कालीन भाषा साहित्य के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत करने के साथ-साथ सामाजिक स्थिति पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है । अतः व्याकरण साहित्य से अनेक शिक्षा-सम्बन्धी बातों का भी परिचय प्राप्त होता है । व्याकरण साहित्य द्वारा उपलब्ध सामग्री के आधार पर शिक्षा के स्वरूप का विवरण हम नीचे प्रस्तुत करते हैं ।

१—शिक्षण-पद्धति

पाणिनि के सूत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वेदों की शिक्षा मुख्यतः मौखिक थी और विद्यार्थियों को उसे रटना पड़ता था । मंत्रों के उच्चारण में अशुद्धि होने पर विद्यार्थी विभिन्न संज्ञाओं द्वारा श्रेणीबद्ध किये जाते थे; जैसे एक

अशुद्धि होने पर छात्र को 'एकान्विक' कहा जाता था। इस प्रकार मौखिक परीक्षा भी हुआ करती थी। इसका भी संकेत मिलता है।

कुछ ऐसे विषय प्रचलित थे, जिनके लिए केवल रटना अपर्याप्त था तथा उनका सूक्ष्म विश्लेषण आवश्यक था। स्वयं पाणिनि का व्याकरण ही इस प्रकार का विषय था। अर्थ समझने के लिए 'समझने' की आवश्यकता यद्यपि समझी जाती थी, किन्तु व्यावहारिक रूप से रटन्त-पद्धति का ही प्रचलन था। यास्क ने निरुक्ति में 'समझने' की आवश्यकता पर विशेष बल दिया—"केवल वेद का उच्चारण कर सकने वाला व्यक्ति भार ढोने वाले की भाँति है। किन्तु जो व्यक्ति वेद का अर्थ जानता है वह दुष्कर्मों से बच जाता है और उसका लोक और परलोक दोनों सुधर जाता है"।

२—अध्यापक और विद्यार्थी

पाणिनि और पतंजलि के मत से उपनयन के पश्चात् छात्रों की शिक्षा प्रारंभ होती थी। दोनों ही मत शिक्षक के बारे में साधारणतः समान हैं, किन्तु वाह्य वर्णन में अन्तर है। पाणिनि के अनुसार शिक्षक छात्रों को आचार्यत्व प्राप्त कराने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होते थे। पतंजलि के अनुसार आचार्य के निरीक्षण का प्रमुख उद्‌देश्य छात्र को दुर्गुणों से मुक्त करना था। कुछ भी हो, दोनों ही वैयाकरणों के मतानुसार शिक्षक और छात्र का निकटतम सम्बन्ध होता था। सामान्यतः छात्र शिक्षक के साथ ही रहते थे, किन्तु कुछ ऐसे भी छात्र थे जो प्रतिदिन अपन घरों से गुरु के निवास-स्थान पर आया करते थे। वैदिक परम्परा के अनुकूल इस समय भी छात्र भिक्षाटन द्वारा अपने भोजन का प्रबन्ध करते थे। छात्रों के लिए निर्धारित वाह्य चिह्न दण्ड और कमण्डल उनके छात्रत्व के द्योतक होते थे। पठन-पाठन में भी पूर्व प्रचलित प्रणाली ही मान्य थी। गुरु शुभ मुहूर्त में एकाग्रचित्त होकर पाठ प्रारम्भ करते थे। पाठ प्रारम्भ करते समय आचार्य अपने हाथ में 'कुश' या 'दूब' धारण किये रहते थे। छात्र विद्याध्ययन में कठिन परिश्रम करते और शुद्ध शरीर एवं एकाग्रचित्त होकर गुरु के प्रवचन को सुनते थे। अनेक छात्र अपना अधिक समय स्वाध्याय में ही व्यतीत करते थे। उस समय प्रकाश के साधनों की सुलभता आज जैसी नहीं थी। अतः साधारणतः सूखे गाय के गोबर के उपले आदि जला कर प्रकाश में रात्रि को पढ़ने का कार्य सम्पादित किया जाता था। जो छात्र परिश्रमी नहीं होते थे, वे सम्भवतः अपना अध्ययन जारी रखने में समर्थ नहीं हो पाते थे। कुछ छात्र अन्य कारणों से, जैसे अनुशासन का बन्धन, गुरु के नियन्त्रण आदि से घबड़ा कर, अध्ययन स्थगित कर देते थे। ऐसे छात्र निन्दनीय समझे जाते थे और उनको 'खट्वारूढ' जैसे घृणित नाम से सम्बोधित किया जाता था। एक गुरु को छोड़ दूसरे,

तीसरे और चौथे आचार्य के पास जाने वाले उपहास के पात्र थे और उनको 'तीर्थ-काक' की संज्ञा दी जाती थी। इस प्रकार नियमित कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए छात्र और शिक्षक अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहते थे।

३—शिक्षकों के भेद

व्याकरण साहित्य के अन्तर्गत अध्यापन-कार्य करने वालों को भिन्न-भिन्न योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न सम्बोधनों द्वारा सम्बोधित किया जाता था :

अ—आचार्यः, जो उच्च कोटि के विद्वान तथा मौलिक विचारक हों।

ब—गुरु, शिक्षक और उपाध्यायः, इनकी योग्यता तथा विचार-शैली सामान्य होती थी।

स—ब्रह्मवादिनः, जो धार्मिक साहित्य की व्याख्या करने में संलग्न रहते थे।

द—परिव्राजकः, जो अपने जीवन के अन्तिम चरण में घूम-घूम कर शिक्षा-प्रसार में योग देते थे।

परिव्राजक शिक्षकों दो को भागों में बाँटा जाता था :

१—जो जनसमूह से दूर रहते थे, उनको 'आरण्यक' कहा जाता था।

२—जो ग्रामवासियों के निकटतम् विचरण करते थे, उनको 'नैकटिक' कहा जाता था।
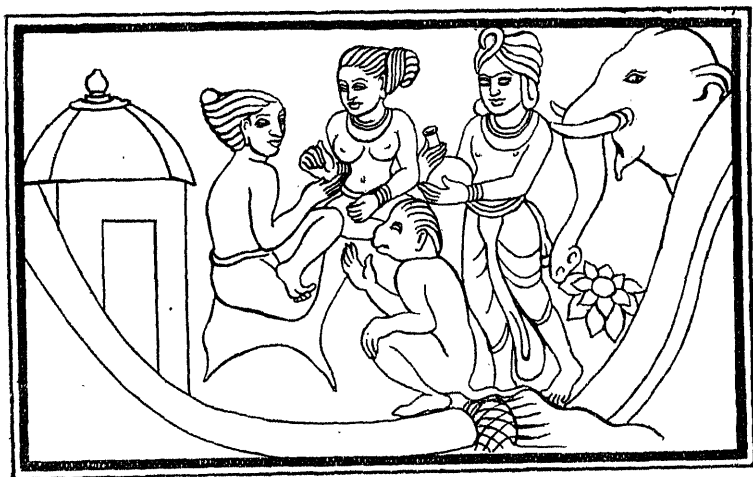
चित्र ४—एक आश्रम का दृश्य (भरहुत)

आचायर्त्व की श्रेणी में आने वाले उन कुछ शिक्षकों के नाम पाणिनि ने दिये हैं, जिनके भाष्य नये विचारों को उत्पन्न करने में समर्थ हुए और उनके शिष्यों ने उन विचारों का प्रचार किया। इनमें 'वैशम्पायन' और 'कलाप' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपर्युक्त सभी प्रकार के शिक्षक अपने-अपने आश्रम स्थापित करते थे। चित्र ४ में एक आश्रम की चित्रकारी का दृश्य अंकित किया गया है।

४—पाठ्य विषय

पाणिनि के समय में नैतिक और धार्मिक साहित्य का क्षेत्र वृहद् था। ये दोनों साहित्य चार प्रकार के होते थे। इनकी ओर पृथक्-पृथक् नीचे संकेत किया जा रहा है:

अ—वह साहित्य जिसका आधार स्वानुभव हो अथवा वर्णित विषय स्वावलोकित हो। ऐसे साहित्य को 'दृष्टम् साहित्य' कहते थे। सामवेद इसी प्रकार के साहित्य का उदाहरण है।

ब—महाऋषियों तथा अन्य विद्वान आचार्यों के द्वारा प्रवाहित वाणी जिनमें विभिन्न श्रुतियाँ थीं। ऐसे साहित्य को 'प्रोक्तम् साहित्य' कहा जाता था। कल्प, ब्राह्मण तथा छन्द आदि का समावेश इस प्रकार के साहित्य में था।

स—तीसरे प्रकार के साहित्य वे थे जिनकी रचना अन्वेषण पर आधारित थी। 'काशकृत्स्न' और 'आपिशलि' की रचनाएँ इसी साहित्य के के अन्तर्गत आती हैं।

द—चौथी श्रेणी के अन्तर्गत वह साहित्य आता था जिसमें जन-सामान्य के लिए कथा-कहानी आदि का वर्णन रहता था। पतंजलि आख्यान और आख्यायिका में भेद स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि आख्यान जिनमें ऐतिहासिक पुरुषों की जीवनियों का वर्णन किया जाता है और आख्यायिका के पात्र सामान्यतः कल्पित होते हैं। शिशुकन्द्रीय, वासवदत्त, यम-सभीय तथा सुमनोत्तर चौथी श्रेणी के साहित्य में स्थान पाते हैं।

इन चार प्रकार के साहित्यों के अतिरिक्त उस समय वार्तिक साहित्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई। श्लोक वार्तिक, विरुद्धवार्तिक[1], परम्परावार्तिक[2] इस साहित्य के तीन प्रमाणित एवं ऐतिहासिक स्तर हैं।

---

१. Opposites.
२. Traditional.

नैतिक और धार्मिक साहित्य के साथ ही साथ भौतिक साहित्य की भी वृद्धि हुई। 'गौलाक्षणिक' 'बापस विधिक' तथा 'अश्वलाक्षणिक' आदि ग्रन्थों की रचना इस काल में हो चुकी थी।

५—जन-शिक्षा

पतंजलि के समय में जन-साहित्य द्वारा, जन-शिक्षा के प्रसार में पर्याप्त योग प्राप्त हुआ। पतंजलि का समय वह था जिसमें इतिहास, पुराण, आख्यान, आख्यायिकाएँ एवं नाटक आदि की रचना की गयी। जन-सामान्य में रामायण और महाभारत की हृदयग्राही एवं मधुर पदावली का प्रचुर प्रचलन न था। स्वयं पतंजलि से एक रथ-वाहक से वाद-विवाद हुआ था। रथवाहक 'सूत' ने शब्दों के प्रांजल रूप का प्रमाण-युक्त वर्णन किया। यह बात इस बात का प्रमाण है कि जन-समान्य में शिक्षा का पर्याप्त प्रचार था, तभी तो एक साधारण रथ चलाने वाला एक युग-प्रतिनिधि वैयाकरण के सन्मुख वाद-विवाद करने में समर्थ हो सका।

६—स्त्री-शिक्षा

यद्यपि व्याकरण-ग्रन्थ स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में अधिक बातों का ज्ञान नहीं करा सकते; तथापि पतञ्जलि की 'शाक्तिकी' अस्त्र धारण करने वाली स्त्री का द्योतक है। पाणिनि ने भी वैदिक काल की नारियों का वर्णन किया है। वैदिक ज्ञान रखने वाली विदुषी नारियों का विवरण 'बाल मनोरमा' में मिलता है। वार्तिक में प्रयुक्त 'उपाध्यायी' और 'उपाध्याया' शब्द स्त्री-शिक्षा के प्रमाण हैं।

७—विशेषीकृत शिक्षा

व्याकरण साहित्य में 'नाट्य' शब्द का प्रादुर्भाव नाट्य साहित्य और नाट्य कला का द्योतक है। पतंजलि ने कुछ वाद्य-विशेषज्ञों जैसे मार्दंगिक (मृदंग बजाने वाला) आदि का वर्णन किया है। 'कथावाचक' आदि विशिष्ट शब्द विशेषीकृत अध्ययन के प्रमाण हैं। सूत्र काल में तो विशेषीकृत अध्ययन के प्रचुर प्रमाण मिल जाते ह, परन्तु उपर्युक्त संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि विशेषीकृत शिक्षा का प्रचलन इस समय भी रहा अवश्य होगा।

ग—कौटिल्य का अर्थशास्त्र

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सूत्र काल की शिक्षा-पद्धति का संक्षेप में स्पष्ट विवरण मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर ज्ञातव्य बातों का संक्षिप्त विवरण यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—छात्रों का कर्त्तव्य

छात्रों में ज्ञानार्जन की आन्तरिक इच्छा होनी चाहिए। विद्यार्थियों को आचार्य द्वारा पढ़ाये गये पाठ को भली प्रकार ग्रहण करना तथा समझना चाहिए। पढ़ाये गये पाठ को याद रखना चाहिए और उन पर सोचना तथा उनकी आलोचनात्मक मीमांसा करनी चाहिए। सत्य में अटूट विश्वास रखना चाहिए और गुरु की सेवा से कभी विमुख नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के नैतिक एवं मानसिक अवस्थाओं वाले छात्र ही कौटिल्य के अनुसार गुरु की शिक्षा का पूर्ण लाभ उठा पाते थे। इनके अभाव में छात्र के लिये ज्ञान प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वर्णित विद्यार्थियों के कर्त्तव्य पूर्वकथित ब्रह्मचारियों के लक्षणों के समान ही हैं।

२—प्रारम्भिक शिक्षा

प्रारम्भिक शिक्षा चूड़ाकरण संस्कार के पश्चात् आरम्भ होती थी। अर्थशास्त्र से प्रारम्भिक शिक्षा के कुछ नवीन विषयों का परिचय मिलता है। प्रारम्भिक शिक्षा के प्रारम्भ में 'लिखना' और 'अंकगणित' आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। किन्तु वास्तविक शिक्षा का प्रारम्भ 'उपनयन' के बाद से ही होता था।

३—विशेषीकृत शिक्षा

सूत्र-कालीन विशेषीकृत शिक्षा का प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। कौटिल्य ने पराशर, कात्यायन, भरद्वाज आदि अर्थशास्त्र के महान पण्डितों का वर्णन किया है। अर्थशास्त्र से पूर्व प्रचलित, अर्थशास्त्र की शाखाओं का भी परिचय प्राप्त होता है—जैसे पराशर, वार्हस्पत्य, मानव आदि शाखाएँ बहुत समय पहले से प्रचलित थीं।

४—राजकुमारों की शिक्षा

धर्म सूत्रों के अनुसार क्षत्रियों के उपनयन की आयु ११ वर्ष थी। राजकुमारों को केवल ६, ७ वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् १६ वर्ष की आयु में गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करना पड़ता था। स्पष्ट है कि इतने अल्प समय में उनको वैदिक और दार्शनिक विषयों की पूरी शिक्षा नहीं दी जा सकती थी। कौटिल्य ने समस्त ज्ञान को अधोलिखित चार भागों में बाँट दिया था :—

१. 'अन्वीक्षिकी'—सूक्ष्म चिन्तन के और दार्शनिक विषयों का ज्ञान।

२. 'त्रयी'—ऋक्, साम्, यजुष् तथा छः वेदांगों का ज्ञान।

३. 'वार्ता'--वाणिज्य, पशुपालन, कृषि तथा व्यवसाय सम्बन्धी विषयों का ज्ञान ।

४. 'दण्ड-नीति'--शासन सम्बन्धी आवश्यक बातों का ज्ञान ।

राजकुमारों को अन्वीक्षिकी और त्रयी की शिक्षा भी ग्रहण करनी पड़ती थी । किन्तु मुख्यतः उनके लिये दण्ड-नीति और वार्ता सम्बन्धी शिक्षा का विशेष महत्त्व था ।

धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त उनको राज्य के सुयोग्य पदाधिकारियों द्वारा भूमि, वाणिज्य, पशुपालन, कृषि आदि के व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा लेनी होती थी ।

तत्पश्चात शासन-सम्बन्धी अनुभव-प्राप्त योग्य शिक्षकों से वे दण्ड-नीति सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त करते थे ।

विवाह के बाद, १६ वर्ष की आयु के उपरान्त, भी राजकुमारों को शिक्षा जारी रखनी होती थी । दोपहर से पहले वे सैनिक शिक्षा ग्रहण करते थे । सैनिक शिक्षा के अन्तर्गत हाथी, अश्वारोही, रथ और पैदल चतुरंगिणी सेना से सम्बन्धित ज्ञान की भी व्यवस्था थी । दोपहर के बाद वे योग्य विद्वानों द्वारा इतिहास से सम्बन्धित प्रवचन सुनते थे । इतिहास में धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, पुराण, उदाहरण, आख्यायिका तथा तिवृति आदि विषयों का समावेश था ।

स्त्रियों की सैनिक शिक्षा

कौटिल्य ने इस बात पर बल दिया है कि प्रातः काल राजा जब सो कर उठे तो उसका स्वागत 'धनुर्धारिणी' स्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए । महाकवि कालिदास ने भी अपने 'शकुन्तला' नाटक में शार्ंगहस्त यवनी को प्रवेश कराते हैं । यवनी स्त्रियों के राजा की अंगरक्षिका होने की प्रथा बहुत समय तक प्रचलित रही । मेगास्थनीज ने भी चन्द्रगुप्त की ऐसी अंगरक्षिकाओं का वर्णन किया है जो शस्त्रधारण करने के साथ-साथ शक्तिशालिनी भी थीं । इस विवरण से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के रचना-काल के समय भारत वर्ष में स्त्रियों को सैनिक शिक्षा मिलती थी ।

सारांश

महाकाव्य, व्याकरण और कौटिल्य-अर्थशास्त्र के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित पद्धतियों का जो परिचय मिलता है वह संक्षिप्त रूप में आगे दिया जा रहा है ।

शिक्षा-पद्धति

शिक्षा सामान्यतः मौखिक थी। साथ ही कुछ विषयों के समझने के लिए व्याख्या भी आवश्यक थी। विषय को समझने पर अधिक बल दिया जाता था। प्रारम्भिक शिक्षा में 'लिखना और 'अंकगणित' प्रमुख रूप से सीखना पड़ता था।

शिक्षक

शिक्षकों का कर्त्तव्य था कि वे छात्रों को भावी शिक्षक बनाने में सफल हों। शिक्षक के घर पर ही अधिकांश विद्यार्थी रहते थे। वे छात्रों को अपने परिवार का सदस्य समझते थे। कुछ शिक्षक परम विद्वान एवं विचारक होते थे। कुछ शिक्षक धार्मिक साहित्य की व्याख्या में विशेष निपुण तथा कुछ ऐसे थे जो भ्रमण करते हुए शिक्षा-प्रसार करते रहते थे।

छात्र

छात्रों के लिए निर्धारित चिह्न दण्ड और कमण्डल थे। वे भिक्षाटन द्वारा अपने भोजन का प्रबन्ध किया करते और शिक्षा की समाप्ति पर गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए घोर परिश्रम करते थे। विद्याध्ययन में छात्र दत्तचित्त रहते और गु का उचित सम्मान करते थे। उनमें ज्ञानार्जन की प्रबल इच्छा, पाठ को समझने का सामर्थ्य एवं उसको स्मरण रखने तथा चिन्तन करने की शक्ति तथा गुरु में अटूट श्रद्धा होनी चाहिए थी। अनेक गुरु-आश्रमों पर घूमते रहने वाले तथा अनुशासन आदि के कारण शिक्षा स्थगित कर देने वाले छात्र निन्दनीय समझे जाते थे।

ब्राह्मणों की शिक्षा

आचार्यत्व ब्राह्मण ही ग्रहण करते थे। अतः उनके लिए उच्च ज्ञान आवश्यक था। फलतः वे आचार्य के साथ रह कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए अध्ययन में संलग्न रहते थे। उनको भी दैनिक कार्यों के अतिरिक्त गुरु-सेवा करनी होती थी। २५ वर्ष तक आश्रम के नियमों का पालन करते हुए उचित गुरु-दक्षिणा देकर वे अपनी शिक्षा पूरी करते थे।

क्षत्रियों की शिक्षा

क्षत्रियों के उपनयन की आयु ११ वर्ष और उनके गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने की आयु १६ वर्ष थी। अतः वे साधारणतः व्यावहारिक ज्ञान के लिए युद्ध-विद्या, पुराण, इतिहास, दण्ड-नीति, अर्थशास्त्र, तिवृति आदि का अध्ययन करते थे। सैनिक शिक्षा तथा दण्ड-नीति का उनके लिए विशेष महत्त्व था।

सैनिक-शिक्षा

सैनिक शिक्षा में धनुर्विद्या, गदायुद्ध तलवार चलाना, रथवाहन, सैन्य-संचालन आदि की शिक्षा दी जाती थी। द्रोणाचार्य और भीष्म ने अपने शिष्यों को युद्ध-कौशल में बहुत निपुण बना दिया था।

जन-शिक्षा

जन-शिक्षा—जैसे आख्यान, आख्यायिकाएँ, नाटक, इतिहास और पुराण आदि जन-साहित्य की रचना, जन-शिक्षा के प्रमाण हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि से एक रथवाहक का वाद-विवाद इसका प्रमाण है।

पाठ्य विषय

वेद, वेदांग, श्रुतियाँ, इतिहास, पुराण, वार्तिक तथा अन्य लौकिक साहित्य पढ़ाया जाता था।

विशेषीकृत शिक्षा

पराशर, कात्यायन, भरद्वाज आदि अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ थे। 'नाट्य' शब्द नाट्य-कला विशेषज्ञों का परिचायक है। पतंजलि ने कुछ वाद्य-विशेषज्ञों का उल्लेख भी किया है।

स्त्री-शिक्षा

शबरी, सुलोमा, शाण्डिल्य तथा गार्गी ऋषि की पुत्रियाँ सुशिक्षित एवं विदुषी थीं। उपाध्यामी और उपाध्याया सम्बोधन भी स्त्रियों की शिक्षा के द्योतक हैं। स्त्रियों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। "शाक्तिकी' अस्त्र धारण करने वाली स्त्री को कहते थे। राजाओं की अंगरक्षिकाएँ शस्त्र चलाने में निपुण होती थीं।

प्रमुख आश्रम

प्रयाग—जहाँ भरद्वाज ऋषि शिक्षा दिया करते थे। उनका समाज में बड़ा सम्मान था। अयोध्या—यहाँ अनेक आश्रम थे, जहाँ दूर-दूर के छात्र पढ़ते और निवास करते थे। नैमिष, यहाँ सहस्रों ब्रह्मचारी रहते थे। शौनक ऋषि ने यहाँ एक वृहत् यज्ञ किया था। इनके अतिरिक्त वसिष्ठ, विश्वामित्र, कण्व और व्यास आदि के आश्रम प्रमख शिक्षा-केन्द्र थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—धर्मेतर साहित्य के आधार पर सैनिक शिक्षा का महत्त्व स्पष्ट करते हुए सैनिक शिक्षा की व्यवस्था स्त्रियों के लिए क्या थी ? इसका सप्रमाण उल्लेख कीजिए ।

२—व्याकरण और महाकाव्य तथा अर्थशास्त्र में वर्णित क्षत्रियों की शिक्षा की विशद् व्याख्या कीजिए ।

३—स्पष्ट कीजिए कि विशेषीकृत शिक्षा का आभास इस साहित्य से होता है ।

४—धार्मिक साहित्य के साथ-साथ इस समय लौकिक साहित्य की पर्याप्त प्रगति हुई । इस कथन की पुष्टि कीजिए ।

अध्याय ६

बौद्ध शिक्षा का सामान्य रूप

परिचय

बौद्ध धर्म

वैदिक धर्म के अन्तर्गत हिन्दू धर्म में अनेक दोष आ गये थे। इन दोषों के निराकरण के रूप में बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार बौद्ध धर्म को पूर्णतः नवीन धर्म नहीं कहा जा सकता। हिन्दू धर्म का परिवर्तित रूप ही हमको बौद्धधर्म में देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध के पहले से ही भारतीय अध्यात्मवाद बौद्ध धर्म की ओर मुड़ता-सा प्रतीत होता है। जिन महापुरुषों को वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा आत्म-तुष्टि न हो सकी, उन्होंने चिन्तन द्वारा उपनिषदों की रचना की। औपनिषदिक आध्यात्मिक चिन्तन-प्रणाली में जगत की मिथ्यावादिता स्पष्ट की गयी और आत्म-ज्ञान की पुष्टि की गयी। बौद्ध धर्म की आधार-शिला भी संसार की असारता ही है। उपनिषदों में भी तपस्या तथा बलि आदि पर शंका प्रकट की गयी। बौद्ध धर्म में भी वाह्य प्रकरणों की अपेक्षा आत्म-ज्ञान पर बल दिया गया। अन्तर यह रहा कि उपनिषदों में वर्णित आत्म-ज्ञान केवल ऋषियों तक ही सीमित था। बौद्ध धर्म द्वारा वह जन-सामान्य के लिए भी सुलभ हो सका। आत्मा, दुःख, पुनर्जन्म तथा मोक्ष आदि सिद्धान्त हमको दोनों धर्मों में समान रूप से देखने को मिलते हैं। सर्वसाधारण के लिए मार्ग उपलब्ध करने के कारण बुद्ध ने तात्विक प्रश्नों का विवेचन न करके दुःख के कारण और उसके निवारण के मार्ग से ही अवगत कराने का प्रयत्न किया। मोक्ष का महत्त्व हिन्दू धर्म में भी समान था। किन्तु मोक्ष-प्राप्ति के साधन को महात्मा बुद्ध ने नये दृष्टिकोण से रखा। इस दृष्टि-कोण के द्वारा तृष्णा, अनासक्ति, दुःख का अन्त होकर ज्ञान, प्रज्ञा, मानसिक शान्ति तथा निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों का सम्बन्ध इसी विचार से है। बुद्ध ने जीवन को दुःखमय बताते हुए दुःखों के कारण और उनके अन्त करने का मार्ग प्रशस्त किया। बुद्ध ने सांसारिक जीवन को दुःखपूर्ण माना और समस्त दुःखों का मूल अविद्या को बतलाया। अविद्या का तात्पर्य अज्ञान से

है जिसको मिथ्या ज्ञान बता कर उपनिषदों ने भी सभी दुःखों का कारण माना। यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण ही प्राणी में जन्म लेने की प्रवृत्ति बनी रहती है और वह आवागमन के चक्कर से मुक्ति नहीं पाता।

दुःखों का अन्त हो जाने पर निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना है कि निर्वाण का अर्थ जीवन के अन्त से नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि महात्मा बुद्ध ने अपने जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त कर लिया था; जैसा कि उनके प्रवचनों से स्वयं विदित होता है।

दुःखों के अन्त करने का एक मार्ग बुद्ध ने बताया और उन्हीं दुःखों के नाश करने के मार्ग को निर्वाण-मार्ग भी कहा गया। बौद्ध धर्म में निर्वाण-मार्ग को अष्टांग मार्ग के नाम से ख्याति मिली। निम्नांकित आठ अंग इस मार्ग को संन्यासी तथा गृहस्थ दोनों के लिए सुगम बनाते हैं :

१—सम्यक् दृष्टि	..	सम्मादिट्ठि
२—सम्यक् संकल्प	..	सम्मा संकल्प
३—सम्यक् वाक्	..	सम्मा वाचा
४—सम्यक् कर्मान्त	..	सम्मा कमन्त
५—सम्यक् आजीव	..	सम्मा आजीव
६—सम्यक् व्यायाम	..	सम्मा व्यायाम
७—सम्यक् स्मृति	..	सम्मा सति
८—सम्यक् समाधि	..	सम्मा समाधि

इस प्रकार बुद्ध ने जनसाधारण के लिए एक ऐसा मार्ग उपलब्ध कर दिया जो न तो अधिक कष्टप्रद था और न अधिक योगमय। इस मार्ग पर चलकर एक सामान्य व्यक्ति भी निर्वाण प्राप्त कर सकता है और उसको आवागमन से छुटकारा मिल सकता है। हिन्दू धर्म में प्रतिष्ठापित पद्धतियों के प्रतिकूल बुद्ध ने यज्ञों, वैदिक वाक्यों, देवताओं की पूजा, बलि, कठोर तपस्या आदि को निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करने के लिए व्यर्थ बतलाया तथा हिन्दू धर्म की अध्यात्म-धारा जो निर्जन, एकान्त व वन-प्रदेशों में प्रवाहित हो रही थी, उसको जन-सामान्य के लिए उपलब्ध कर दिया जिससे एक नई ज्योति प्रस्फुटित हुई जिसके आलोक से समस्त जगत प्रकाशित हो गया। सांसारिक दुःखों से आक्रान्त प्राणियों के लिए यह बुद्ध की देन थी।

बौद्ध शिक्षा-पद्धति और ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति

समानता

शिक्षा के मूल आधार बौद्ध तथा ब्राह्मणीय शिक्षा में समान थे। बौद्ध शिक्षा के स्थान भी प्रायः शान्त वातावरण में गृहस्थ जीवन से दूर होते थे। ब्राह्मणीय शिक्षा के अन्तर्गत ब्रह्मचारियों की भाँति ही बौद्ध भिक्षुओं का समुदाय था और लगभग दोनों की दिनचर्या भी एक प्रकार की थी। ब्रह्मचारी तथा भिक्षु दोनों का नित्य भिक्षाटन करना एक प्रमुख कर्त्तव्य था। ब्रह्मचारियों तथा भिक्षुओं के लिए हिंसा के प्रति समान कठोर नियम थे जिससे वे हिंसा से बचे रह सकें। यहाँ तक कि वे जुते हुए खेत अथवा वर्षा ऋतु में बाहर नहीं घूम सकते थे। बौद्ध भिक्षुओं के आचार-विचार से सम्बन्धित नियम लगभग वही थे जो ब्रह्मचारियों के लिए थे। हाँ इनका रूप कुछ संशोधित था। इस प्रकार ब्रह्मचारी ब्राह्मणीय शिक्षा में वह समुदाय था जो अपना समस्त जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ज्ञानार्जन में समाप्त कर देता था और बौद्ध भिक्षु भी गृह वातावरण से सर्वथा दूर रहकर समस्त जीवन मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हुए व्यतीत कर देते थे। स्मरण रखना चाहिए कि मोक्ष को प्राप्त करने के लिए यथार्थ ज्ञान नितान्त आवश्यक था।

विभिन्नता

दोनों शिक्षा-पद्धतियों में प्रथम अन्तर यह था कि ब्राह्मणीय शिक्षा का रूप पारिवारिक था और वह गुरु के निवास-स्थान पर ही प्राप्त की जाती थी, जब कि बौद्ध शिक्षा का प्रबन्ध व्यवस्थित रूप में मठों में था। बौद्ध शिक्षा-संस्थाएँ सुसंगठित थीं। ब्राह्मणीय शिक्षा का एक प्रधान अंग था पारिवारिक जीवन। बौद्ध शिक्षा-पद्धति में परिवार के प्राकृतिक सम्बन्धों को तोड़ कर धर्म पर आधारित 'बन्धु-समाज' स्थापित करना पड़ता था। एक में व्यक्ति पर अधिक बल दिया जाता था, तो दूसरे में समूह पर।

द्वितीय अन्तर इन शिक्षा-पद्धतियों में यह था कि ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत विद्यार्थी के लिए समस्त सुख-सामग्री का उपभोग वर्जित था तथा उसको कठोर मानसिक व शारीरिक अनुशासन में रहना पड़ता था। इस प्रकार ब्राह्मणीय शिक्षा में विद्यार्थी का जीवन स्वयं एक तपश्चर्या थी। बौद्ध शिक्षा प्रणाली में इसके विपरीत शारीरिक सज्जा, स्वच्छता, नियमित आहार, सुरक्षित स्थान आदि वर्जित नहीं थे, वरन् उनके उपयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान था। विद्यार्थी की शारीरिक अस्वस्थता पर सुयोग्य चिकित्सकों द्वारा उसके उपचार की व्यवस्था थी। ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति

के 'सुखार्थिनः कुतो विद्या, नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्' का सिद्धान्त बौद्ध शिक्षा में पूर्णतः मान्य न था ।

तीसरा अन्तर दोनों शिक्षा के सिद्धान्तों का था । ब्राह्मणीय शिक्षा का आधार-भूत सिद्धान्त एकतन्त्रात्मक था और बौद्ध शिक्षा का जनतन्त्रवादी । इसको इस प्रकार से समझने में सरलता होगी कि ब्राह्मणीय शिक्षा में गुरु की 'प्रधानता' और 'उच्चता' जीवनपर्यन्त बनी रहती थी, किन्तु बौद्ध शिक्षा में शिष्य संघ के सम्मिलित होकर समान रूप से मत देने के अधिकारी हो जाते थे और गुरु-शिष्य में भेद केवल आध्यात्मिक ज्ञान के स्तर का रहता था । इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दो शिक्षा-पद्धतियों में समानता होते हुए भी भिन्नता है ।

संघ की जनतान्त्रिक पद्धति के दुरुपयोग के कारण कालान्तर में संघ का आन्तरिक वातावरण दूषित हो गया और किसी संयोजक अथवा केन्द्रीय शक्ति के अभाव में संघों का ह्रास होने लगा और धीरे-धीरे बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमि से विलीन होने लगा । उसके स्थान पर ब्राह्मण आचार्यों ने अपने प्रयत्नों द्वारा शिक्षा-क्षेत्र में फिर ब्राह्मणीय शिक्षा का प्रभुत्व स्थापित कर लिया । शंकराचार्य और मध्वाचार्य का नाम इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है ।

शिक्षा-संगठन का प्रारम्भिक रूप

भूमिका

बौद्ध धर्म का विकास संघों के रूप में हुआ । संघ ही बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे । संघों के अतिरिक्त बौद्ध शिक्षा का कोई स्वतन्त्र स्थान न था, क्योंकि बौद्ध शिक्षा का सम्बन्ध पूर्णतः संघों से ही था । बौद्ध शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत केवल संघ के श्रमणों को ही धार्मिक तथा सांसारिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी । श्रमणों के अतिरिक्त अन्य लोगों को शिक्षा देने का अधिकार संघों को न प्राप्त था । वैदिक कालीन शिक्षा-प्रद्धति यज्ञ के अनुष्ठान में ही पल्लवित हुई थी । बौद्ध काल में संघ ने यज्ञ का स्थान ले लिया । अतः बौद्ध संघ की पद्धति ही बौद्ध शिक्षा-पद्धति है । कहना न होगा कि संघ और बौद्ध शिक्षा के नियम व रीतियाँ समान हैं । इन नियमों व रीतियों के अनुसार ही बौद्ध शिक्षा का रूप निर्धारित किया जा सकता है ।

संघ-प्रवेश

संघ में प्रवेश पाने के लिए विद्यार्थियों के लिए विशेष नियम थे, जिनको हम ब्राह्मणीय शिक्षा के अन्तर्गत भी पाते हैं । ब्रह्मचारियों की भाँति ही बौद्ध भिक्षु को

गुरु के सामने जाकर यह प्रार्थना करनी पड़ती थी कि गुरु उसको शिष्य-रूप में ग्रहण करे। बौद्ध संघों में शिष्य का सम्बन्ध गुरु से होता था, संघ के भिक्षु से नहीं। गुरु ही पर भिक्षु विद्यार्थी का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व रहता था, संघ उसका उत्तरदायी न होता था। इस प्रकार गुरु-शिष्य का वैयक्तिक संबंध बौद्ध शिक्षा में भी पाया जाता है।

पब्बजा (प्रव्रज्या)

पब्बजा (प्रव्रज्या) का शाब्दिक अर्थ 'बाहर जाना' है। भावी भिक्षु इस प्रथा के अनुसार अपने पारिवारिक सम्बन्ध से विलग होकर बाहर आकर बौद्ध संघ में प्रविष्ट होता था। संघ में सभी वर्ण के लोग प्रवेश पाने के अधिकारी थे। संघ में आ जाने के बाद उनका कोई वर्ण नहीं रह जाता था। यहाँ तक कि उनका पहला चरित्र और पहले के वस्त्र भी बदल जाते थे। किन्तु साधारणतया उच्च वर्ण के लोग ही अधिकतर संघ में प्रवेश पाते थे। भावी भिक्षु को पब्बजा ग्रहण करने के समय ८ वर्ष से कम आयु का नहीं होना चाहिए। ८ वर्ष की आयु से १२ वर्ष तक संघ में शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त २० वर्ष की आयु में वह 'उपसम्पदा' संस्कार ग्रहण करता था। उपसम्पदा संस्कार के उपरान्त वह संघ का पूर्ण-रूपेण सदस्य बन जाता था।

संघ-प्रवेश के समय ८ वर्ष की उम्र का भावी भिक्षु सिर मुड़ा कर पीला वस्त्र हाथ में लिए हुए स्वेच्छा से किसी मठ में जाकर तथा किसी प्रमुख भिक्षु के समक्ष उपस्थित होता और उसकी शरण में अपने को अर्पित करते हुए संघ में प्रवेश पाने के लिए प्रार्थना करता था। भिक्षु उस भावी भिक्षु को पीला वस्त्र धारण करवाता तथा 'सरणत्तय' के बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि, तीन प्रणों का तीव्र ध्वनि में उच्चारण करवाता था। इस प्रकार पब्बजा के उपरान्त भिक्षुओं को 'सामनेर' कहा जाता था। तदुपरान्त सामनेर को दस आदेश दिये जाते थे, जो निम्न लिखित हैं :

१—जीव हिंसा न करना।

२—अशुद्ध आचरण से दूर रहना।

३—असत्य भाषण न करना।

४—कुसमय में आहार न करना।

५—मादक वस्तुओं का उपयोग न करना।

६—किसी की निन्दा न करना।

७—श्रृंगारिक वस्तुओं का उपभोग न करना।

८—नृत्य आदि तमाशों के निकट न जाना।

९—बिना दिए हुए किसी की वस्तु को ग्रहण न करना।

१०—सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य पदार्थों का दान न लेना।

इन दस आदेशों को 'दस सिक्खा पदानि' कहते थे और सामनेर अथवा श्रमण के लिए इनका पालन करना अनिवार्य था। २० वर्ष की आयु तक श्रमण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व गुरु पर रहता था। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि बालक का संघ में प्रवेश उसके माता-पिता की सहमति पर ही होता था तथा कोढ़, क्षय, खुजली आदि संक्रामक रोग ग्रस्त भी संघ-प्रवेश नहीं पा सकते थे और दास, राज्य-कर्मचारी तथा सैनिक आदि के लिए भी प्रवेश निषिद्ध था।

उपसम्पदा

'उपसम्पदा' के सम्पादन की विधि पब्बजा से भिन्न होती थी। श्रमण १२ वर्ष तक निरन्तर शिक्षा में संलग्न रहने के उपरान्त २० वर्ष की आयु पूर्ण कर लेनें पर संघ के समस्त भिक्षुओं के समक्ष उपस्थित होता था। 'उपसम्पदा' के सम्पादन की प्रणाली जनतान्त्रिक थी। संघ के सदस्यों के मतैक्य अथवा बहुमत द्वारा कोई भिक्षु 'उपसम्पदा' ग्रहण करके समस्त जीवन के लिए संघ का स्थायी सदस्य बन जाता था। 'उपसम्पदा' के बाद श्रमण पक्का भिक्षु बन जाता और उसका गृहस्थी अथवा सांसारिक बंधनों से कोई सम्बन्ध न रह जाता था।

यह ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति और बौद्धि शिक्षा-पद्धति का महत्त्व पूर्ण अन्तर है। ब्राह्मणीय शिक्षा में ब्रह्मचारी स्नातक बनकर सामान्यत: २५ वर्ष की आयु में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते थे। हाँ, कुछ आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले छात्र होते थे, उनको 'नैष्ठिक' कहा जाता था, किन्तु वे बहुत कम ही होते थे। बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत ब्राह्मणीय शिक्षा के बिल्कुल विपरीत शिक्षा प्राप्त करने के बाद भिक्षु घर नहीं लौटते, वरन् संघ के स्थायी सदस्य बन कर अपना सम्पूर्ण जीवन सांसारिक सम्बन्धों से दूर, भिक्षु के रूप में व्यतीत कर देते थे।

गुरु का कर्तव्य

संघ पर गुरु-शिष्य दोनों ही आश्रित थे। संघ द्वारा गुरु के कर्त्तव्य निर्धारित किए जाते थे। शिष्य का पूर्ण उत्तरदायित्व गुरु पर होता था। गुरु के लिए आवश्यक था कि वह शिष्य को पुत्र की भाँति स्नेह से शिक्षा दे तथा दैनिक कार्यों के अन्तर्गत शिष्य के भिक्षाटन के लिए यदि बरतन की आवश्यकता है तो उसका प्रबन्ध करे, वस्त्र

अथवा अन्य किसी वस्तु की कमी को भी गुरु ही को पूरा करना होता था। शिष्य के शारीरिक विकास का उत्तरदायित्व भी गुरु पर था। शिष्य के अस्वस्थ होने पर गुरु को उसकी पूरी-पूरी परिचर्या करनी पड़ती थी और जब तक वह बीमारी के पश्चात् पूर्ण स्वस्थ न हो जाय, गुरु उसकी सेवा करता था। मानसिक विकास के लिए गुरु व्याख्यान एवं प्रश्नोत्तर आदि रीतियों से शिष्य को सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में सहायता पहुँचाते थे।

छात्र की दिनचर्या

छात्र नियमित रूप से अपने गुरु की सेवा करते थे। गुरु-सेवा शिक्षा का एक प्रमुख अंग थी। छात्र की दिनचर्या उसके अनेक कर्त्तव्यों से पूर्ण होती थी। प्रातः काल उठकर वे गुरु के लिए आसन लगाते, दातवन रखते तथा हाथ-मुँह धोने के लिए पानी का प्रबन्ध करते थे। इसके बाद भोजन तैयार करना भी शिष्य का कार्य था। पहले गुरु को भोजन करवाते और फिर उनका बरतन आदि धोना होता था। गुरु के भिक्षाटन के लिए पात्र, वस्त्र आदि गुरु के समक्ष प्रस्तुत करते और गुरु की आज्ञा होने पर उनके साथ भिक्षाटन के लिए भी जाते।

भिक्षाटन के लिए जाने पर शिष्य को आचार्य से पहले विहार में लौट आना पड़ता था और यहाँ आकर गुरु के हाथ-पैर धोने, वस्त्र बदलने तथा विश्राम के लिए प्रबन्ध करना होता था। शिष्य आचार्य की इच्छानुकूल कुछ भोजन भी प्रस्तुत करता था। अपने स्नान आदि से शीघ्र निवृत्त होकर वह गुरु के लिए शीतल अथवा गर्म जल की आवश्यकतानुसार व्यवस्था करता तथा शरीर-लेप के लिए मिट्टी आदि प्रस्तुत करता।

आचार्य की इच्छा होने पर वह शिक्षा ग्रहण करने के लिए तत्पर होता और तत्कालीन सामान्य प्रचलित प्रणाली के अनुसार शिष्य गुरु से प्रश्न करता और गुरु उनके उत्तर में उपदेश देता था। आचार्य की सेवा के अतिरिक्त आचार्य के निवास-स्थान की सफाई, सामान को ठीक ढंग से रखना, भण्डार तथा रसोई आदि की व्यवस्था करना भी शिष्य का कार्य था। शिष्य पर गुरु की आज्ञा का पूर्ण अनुशासन था। गुरु की आज्ञा बिना वह कहीं नहीं जा सकता था। शिष्य किसी अन्य से सेवा भी नही करवा सकता था और न किसी की आज्ञा ही उसके लिए मान्य थी।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

विहारों में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहयुक्त और समता का था। गुरु-शिष्य के उपर्युक्त अलग-अलग कर्त्तव्य निर्धारित थे। उनको पूरा करते हुए वे

परस्पर सम्बन्धित रहते थे । गुरुओं का जीवन बड़ी सादगी का होता था तथा उनकी आवश्यकताएँ सीमित होती थीं । गुरु की सेवा में तत्पर न रहने वाले छात्र को विहार से निकाल दिया जाता था । साथ ही समुचित आदर पाने के लिए गुरु को विद्वान, उच्च चरित्र वाला, आत्मदर्शी तथा आत्मसंयमी होने की आवश्यकता थी ।

पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता शिष्य को गुरु की मानसिक स्थिति पहचान लेने में समर्थ बना देती थी। शिष्य गुरु के समक्ष धार्मिक बातचीत द्वारा अथवा अन्य उपायों से उनके मानसिक कष्ट को दूर करने की चेष्टा करता । गुरु की त्रुटिपूर्ण धार्मिक धारणा के समाधान के लिए शिष्य उनकी उस धारणा को दूर करने की चेष्टा करता । शिक्षक के संघ की मर्यादा के विरुद्ध किये गये काम को शिष्य संघ के समक्ष प्रस्तुत कर उसकी उचित दण्ड-व्यवस्था की प्रार्थना करता और शिक्षक के पूर्ण प्रायश्चित के पश्चात् उसके पुनःस्थापन के लिए अनुरोध करना तथा उसके सुधार के लिए प्रयत्न करना शिष्य के लिए आवश्यक था।

इस प्रकार शिष्य-गुरु-सम्बन्ध समता का सम्बन्ध था। गुरु के सुधार, उनकी सेवा तथा मानसिक शान्ति का भार शिष्य पर था और शिष्य के शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का उत्तरदायित्व गुरु पर था ।

निष्कासन

विहार से विद्यार्थी के अलग होने के लिए निश्चित अवस्थाएँ थीं । गुरु को शिष्य के निष्कासन का अधिकार था। जब वह अनुभव करता कि शिष्य में श्रद्धा, सम्मान, तथा शिक्षक के प्रति भक्ति की कमी आ गयी है अथवा वह ऐसा कर सकने में सर्वथा समर्थ नहीं है, तब गुरु शिष्य को अपने शिष्यत्व से अलग कर सकता था। इसके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में; जैसे शिक्षक की मृत्यु हो जाने पर, उसके अन्य धर्म को स्वीकार कर लेने पर, संघ से बाहर चले जाने पर तथा गृहस्थ हो जाने पर शिष्य की शिक्षा सम्भवतः समाप्त समझी जाती थी और उसको संघ से अलग हो जाना होता था ।

छात्रों की संख्या तथा निवास-स्थान

बौद्ध शिक्षा में एक भिक्षु एक भावी भिक्षु की शिक्षा के सम्पादन का कार्य ग्रहण करता था। किन्तु समर्थ शिक्षकों को अधिक शिष्यों को भी शिक्षा देने की अनुमति बुद्ध ने प्रदान की थी । बौद्ध विहार मठों के द्वारा ही संघ बनते थे । मठों में विद्यार्थी और आचार्य एक साथ निवास करते थे । साधारणतया अनुकूल मौसमों में बौद्ध

भिक्षु पेड़ों के नीचे या गुफाओं में रहते थे, किन्तु वर्षा ऋतु में आँधी, तीव्र धूप, हिमपात होने पर उनको मठों और विहारों में रहने की आज्ञा थी। इन विहारों और मठों के विशाल भवनों का निर्माण सम्राटों अथवा धनिकों द्वारा होता था। किसी-किसी विहार के प्रासाद में सहस्रों विद्यार्थियों के निवास की व्यवस्था थी। नालन्दा विश्वविद्यालय के अवशेष इस कथन की पुष्टि करते हैं। विहारों में शयन, भोजन, स्नान, अध्ययन, वाचन, शास्त्रार्थ तथा अतिथि-सम्मान के लिए अलग-अलग कमरे बने होते थे। राजकुमार अनाथ पिण्डक द्वारा निर्मित तेतवन विहार में इसी प्रकार की व्यवस्था थी।

इन विहारों का उपयोग केवल धार्मिक कार्यों के लिए ही नहीं होता था, वरन् ये उस समय बौद्ध शिक्षा के केन्द्र भी थे, जहाँ कला-कौशल आदि भौतिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विश्वविद्यालयों के साथ विद्यार्थियों के लिए अलग छात्रावासों का भी वर्णन मिलता है।

अध्यापन-पद्धति

बौद्ध शिक्षा के अन्तर्गत आचरण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था। वैयक्तिक विकास में मानसिक तथा नैतिक स्तर का उच्च होना स्वाभाविक था और पूर्ण वैयक्तिक विकास के बिना बोधिसत्व की स्थिति प्राप्त करना सर्वथा असम्भव था। प्रारम्भिक शिक्षा में धार्मिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। सम्भवतः प्रारम्भ में छात्र सुनते रटते तथा एक दूसरे को सुनाकर उनको कण्ठस्थ करते थे। विनय की शिक्षा भी आवश्यक थी। विनय के पश्चात् उनको विभिन्न शैलियों के अन्तर्गत धर्म के प्रशिक्षण द्वारा भविष्य के लिए समस्त धार्मिक विशेषताओं से परिचित कराया जाता था। इसके लिए विद्यार्थी अपने सहपाठियों के साथ वाद-विवाद करके धर्म-सम्बधी बातों की गहराई तक पहुँच कर भविष्य में धार्मिक शिक्षा देने के लिये अपने को तैयार करता था। अजन्ता गुफा नं० १६ का चित्र पृष्ठ ८८ पर दिया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्धकाल में सामान्यतः विद्यालय की कैसी स्थिति रहती थी और अध्यापन कैसे किया जाता था।

शिक्षा में भिन्नता भी थी। ऐसे भी भिक्षुओं का वर्णन मिलता है जो निर्जन स्थानों में रहकर चिन्तन व मनन किया करते थे। तपस्या और साधना के द्वारा उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करते। इनके विपरीत ऐसे भी भिक्षु थे जिनमें सांसारिक प्रवृत्ति की प्रबलता होती थी और वे भौतिक विषयों के ज्ञान तथा शारीरिक शक्ति पर अधिक ध्यान देते थे। इन भिन्न प्रकार के भिक्षुओं को अलग-अलग रहना होता था, जिससे एक दूसरे के अध्ययन में बाधक न बनें। आगे बौद्ध शिक्षण-पद्धति की प्रचलित प्रणालियों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

मौखिक---लेखन-कला का प्रचार बौद्ध काल तक हो चुका था, किन्तु शिक्षा-पद्धति में मौखिक प्रणाली पूर्णतः प्रचलित थी। हो सकता है कि लेखन-सामग्री
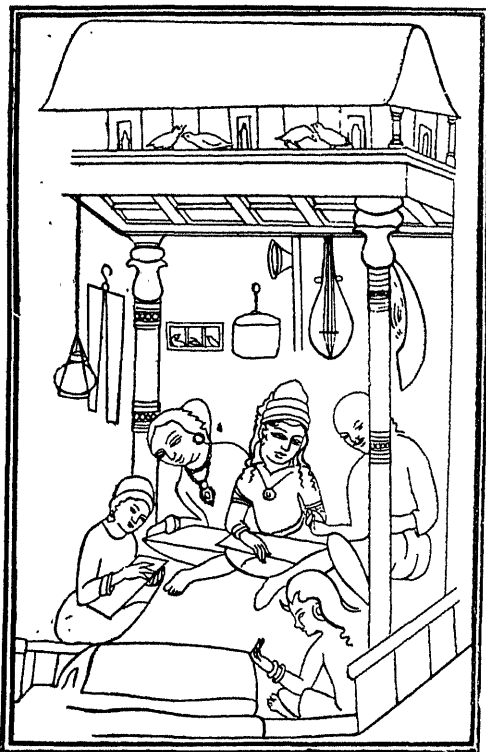
चित्र ५---विद्यालय में गौतम (अजन्त चित्रकला, गुफा नं० १६, छठीं शताब्दी) राज्य-दरबार के बरामदे में विद्यालय लगा है। तीन अन्य बालकों के साथ एक ब्राह्मण अध्यापक के द्वारा गौतम को शिक्षा दी जा रही है। पिंजड़े में पक्षी, वाद्य यन्त्र, युद्ध के लिए कुल्हाड़ी, धनुष तथा जल का बर्तन दीवाल से टँगा है। राजकुमार के रूप में गौतम को साहित्यिक शिक्षा के साथ-साथ संगीत तथा सैनिक शिक्षा भी दी गई थी।

का अभाव रहा हो। वैदिक शिक्षा में वैदिक मंत्रों की लिपिबद्धता धर्म के विपरीत थी, किन्तु बौद्ध धर्म में तो लेखन-कला सीखने की सम्मति दी गयी है,[1] तथा उसको

---

१ देखिये महावग्ग ३।५।६।६

जीवकोपार्जन का साधन बताया गया है ।[1] केवल लेखन-सामग्री की अप्राप्यता ही मौखिक शिक्षा प्रणाली के प्रचलन का मूल थी ।

बौद्ध धर्म एक नवीन धर्म था । इसके प्रचार की आवश्यकता थी और प्रचार की सफलता प्रचारक के ज्ञान और वाक्शक्ति पर निर्भर करती थी । अतः बौद्ध शिक्षा में प्रश्नोत्तर, व्याख्यान एवं वाद-विवाद आदि का विशेष स्थान था । अतः ब्राह्मण संन्यासियों अथवा अन्य धर्माचार्यों के सम्मुख वे शास्त्रार्थ में विजयी होकर जन-समुदाय को प्रभावित करने में समर्थ हो सके—इसलिए उच्च शिक्षा में वाद-विवाद का निजी महत्त्व था । विरोधियों के अतिरिक्त बौद्ध धर्मावलम्बियों की शंका के समाधान के लिये भी वाद-विवाद में पूर्ण अभ्यस्त होना आवश्यक था । इस वाद-विवाद का परवर्ती प्रभाव यह हुआ कि विद्वानों में वाचालता की वृद्धि इतनी हुई कि तर्क "तर्क के लिए" होने लगा । किन्तु बौद्ध साहित्य में वाद-विवाद के नियमों का उल्लेख है ।[2] वाद-विवाद किसी उपयोगी विषय पर उपयुक्त स्थान जैसे—विद्वन्मंडल, राजप्रासाद, तथा परिषद् आदि में होना चाहिए । विषय की पुष्टि के लिए :

१. सिद्धान्त	५. वैधर्म्य
२. हेतु	६. प्रत्यक्ष
३. उदाहरण	७. अनुमान
४. साधर्म्य	८. आगम

प्रमाण आवश्यक बतलाये गये हैं । वाद-विवाद करने वाले को अपने विषय की पूर्ण जानकारी हो, उसको स्पष्ट ध्वनि में व्यक्त करने की क्षमता हो तथा ध्वनि में श्रोताओं को आकृष्ट करने की शक्ति अथवा ढंग हो । बुद्ध ने साधारण बोल-चाल की भाषा को अपने प्रवचनों का माध्यम बनाया था । अतः प्रादेशिक भाषाओं के प्रसार के निमित्त पर्याप्त प्रयत्न किये गये । संस्कृत को बौद्ध शिक्षा में स्थान नहीं प्राप्त था । तत्कालीन स्थानीय भाषाएँ बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारत के बाहर भी प्रचलित हो गयीं । व्याख्यान तथा तर्क का महत्त्व होने तथा लेखन-सामग्री के अभाव के कारण बौद्ध शिक्षा मौखिक ही रही ।

विद्वत्सभा

नैतिकता को शिक्षा का अंग समझा जाता था । बौद्ध धर्म में विद्वत्सभा का आयोजन नैतिक शिक्षा का एक माध्यम था, क्योंकि प्रतिमास दो बार विद्वत्सभा

---

१ देखिये महावग्ग १, ४९, १

२ सप्तदश भूमि शास्त्र योगाचार्य (१५वाँ भाग)

का आयोजन कर विभिन्न संघों के भिक्षुओं को अपने अनैतिक काय सभा में उपस्थित करने पड़ते थे। सभा में सभी भिक्षुओं का सम्मिलित होना अनिवार्य था। कभी-कभी बीमार भिक्षु को भी उठवा कर सभा के मध्य उपस्थित किया जाता था। यदि वह इस योग्य भी न हुआ तो सभा उसी के घर पर आयोजित की जाती थी जिससे वह भी अपनी त्रुटियों को सबके समक्ष स्वीकार कर सके, यदि की है तो, और सभा में उसकी उपस्थिति का भी प्रमाण रहे। इन सभाओं का आयोजन पूर्णमासी और प्रतिपदा को किया जाता था। यहाँ अधिकतर वैयक्तिक अपराधों पर विचार होता था। सामूहिक अपराध दूसरे क्षेत्र के विद्वानों के सामने रखे जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रति वर्ष वार्षिक सभा का आयोजन किया जाता था, जहाँ संघ को इस प्रकार की चुनौती सम्मानित भिक्षु देते थे कि संघ उनको यदि दोषी या अपवित्र सिद्ध कर सकता है तो करे। इस प्रकार नैतिक शिक्षा के क्षेत्र में विद्वत्सभा का बड़ा महत्त्व था।

एकान्त साधन

ब्राह्मण तपस्वियों के एकान्त-साधन, चिन्तन और वास को बड़ा धार्मिक महत्व प्राप्त था। यहाँ हम बौद्ध भिक्षुओं को भी एकान्त-वास करते हुए चिन्तन और मनन में व्यस्त पाते हैं, किन्तु ब्राह्मण तपस्वियों और बौद्ध भिक्षुओं के एकान्त-वास में अन्तर था। बौद्ध भिक्षु प्रायः ऐसे स्थानों पर वास करते थे, जहाँ से उनको भिक्षाटन के लिए दूर न जाना पड़े तथा आने-जाने वाले भिक्षुओं की उचित सेवा करने में समर्थ हो सकें। ध्यान देने की बात यह है कि केवल वही भिक्षु निर्जन वन, अथवा गुफाओं में निवास कर आध्यात्मिक चिन्तन करते थे जिनको संघ के उत्तर-दायित्व से शान्ति पाने की इच्छा होती तथा सांसारिक माया-मोह का सर्वस्व लगाव छूट गया होता। इसके लिए योग्य व्यक्ति जो संघ में पर्याप्त समय तक रहकर एकान्तवास की क्षमता प्राप्त कर चुके हों, वही उपयुक्त होते थे। एक सीमा तक भौतिक जगत के बन्धनों से पूर्ण रूप से छुटकारा पाने के लिए निर्जन स्थान ही अधिक उपयुक्त होते थे।

जन-सामान्य की शिक्षा

सामान्यतः बौद्ध संघ ग्रहस्थ जीवन त्याग कर आए हुए बौद्ध धर्मावलम्बी भिक्षुओं के लिए था। संघ के ये ही स्थायी सदस्य होते थे और संघ इन्हीं की शिक्षा का प्रबन्ध करता था। संघ में बौद्ध धर्म के गृहस्थ-अनुयायियों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। किन्तु अपने धर्म के मानने वालों को धार्मिक सिद्धान्तों तथा आचरणों का ज्ञान कराना आवश्यक था और संघ भी अपने इस आवश्यक कर्त्तव्य

के प्रति जागरूक था। इसका एक कारण और भी था कि गृहस्थ बौद्ध धर्मावलम्बियों के दान द्वारा ही संघ के भिक्षुओं की दैनिक शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी होती थीं। फिर इन गृहस्थों के प्रति संघ सर्वथा उदासीन कैसे रह सकता था? इन गृहस्थों को शिक्षा देना बौद्ध भिक्षुओं का कर्त्तव्य था और ये परिभ्रमण करते समय धार्मिक शिक्षा द्वारा इनकी शंकाओं का समाधान करते हुए धर्म के प्रति उनके मन में आस्था उत्पन्न करते थे। ऐसा वर्णन मिलता है कि राजा बिम्बसार ने भगवान बुद्ध के उपदेश को ग्रहण करने के लिए अपने राज्य के अस्सी सहस्र ग्रामों के वासियों को आदेश दिया था। किन्तु इन गृहस्थों के बच्चों की मौलिक शिक्षा का कोई प्रबन्ध संघ की ओर से न था। सम्भवतः बौद्ध धर्म के मानने वाले भी मौलिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए तत्कालीन अन्य शिक्षा-संस्थाओं में जाते थे।

नीचे हम बौद्ध कालीन जन-सामान्य के शिक्षा-सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य उल्लेख करेंगे, जैसा कि जातकों में इस सम्बन्ध में वर्णित है।

१—बौद्ध शिक्षा-पद्धति में बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त गृहस्थों को भी धार्मिक शिक्षा दी जाती थी।

२—ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति की भाँति बौद्ध शिक्षा संघों के बाहर बौद्ध श्रमणों द्वारा उनके आश्रम अथवा कुटी पर भी दी जाती थी।

३—बौद्ध तथा ब्राह्मण शिक्षाएँ परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक थीं।

४—सूत्र काल के उपरान्त ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति में भी गुरु को शुल्क, शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व देना पड़ता था। बौद्ध शिक्षा-पद्धति में भी यही व्यवस्था थी।

मिलिन्द पन्ह (पण्ह) के अनुसार ब्राह्मण और बौद्ध शिक्षा के विषय निम्नांकित थे—

(अ) बौद्ध शिक्षा के विषय :

१. बौद्ध साहित्य (धार्मिक) २. विहारों के बनाने का क्रियात्मक ज्ञान, ३ विहारों को उपलब्ध दान-सम्पत्ति का लेखा रखने का ज्ञान आदि।

(ब) ब्राह्मण शिक्षा के विषय :

चारों वेद, पुराण, इतिहास, व्याकरण, पद्य, ध्वनि, छन्द, वेदान्त, जीवों की बोली, भूकम्प, अपशकुन आदि का ज्ञान, सांख्य, न्याय, योग, वैशेषिक, संगीत, मंत्र, औषधि, युद्ध-विद्या आदि।

जातकों में तत्कालीन उच्च शिक्षा की व्यवस्था तथा तत्कालीन शिक्षा, वृहत् शिक्षा-संस्थाएँ और उनके बारे में भी वर्णन मिलता है जिसके अनुसार हम तत्कालीन शिक्षा-सम्बन्धी अवगत बातों का विवरण आगे देते हैं :

१. भारत में कई शिक्षा-केन्द्र ऐसे थे, जहाँ पर विदेशों से विद्यार्थी आकर शिक्षा प्राप्त करते थे और उन शिक्षा-केन्द्रों में तक्षशिला का स्थान सर्वोच्च था, जिसका प्रमुख कारण यह था कि तक्षशिला में आचार्य सुविख्यात विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता सारे भारत में प्रसिद्ध थी। उनको अपने विषय के बारे में पूर्ण ज्ञान होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन भारत में तक्षशिला का शिक्षा के दृष्टि-कोण से बड़ा महत्त्व था।

२. तक्षशिला में विद्यार्थी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त विशेष शिक्षा प्राप्त करने आते थे। अतः यहाँ की शिक्षा का प्रारम्भ १६ वर्ष की आयु में होता था। आजकल भी लगभग इसी उम्र में विद्यार्थी विश्वविद्यालय में शिक्षा प्रारम्भ करते हैं।

३. प्रतिभावान् साधनविहीन विद्यार्थियों को राज्य की ओर से शिक्षा का व्यय मिलता था। राजकुमारों के साथ भी राज्य की ओर से कुछ विद्यार्थी जाते थे जिनके खर्च की व्यवस्था राज्य की ओर से रहती थी।

४. शिक्षा-शुल्क सम्भवतः एक सहस्र प्रचलित मुद्राओं के रूप में शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व चुकाना पड़ता था। किन्तु शुल्क देने में असमर्थ छात्रों को शारीरिक श्रम के रूप में शुल्क देना होता था तथा कभी-कभी छात्रों को शिक्षा समाप्त कर चुकने के बाद भी शुल्क चुकाने की अनुमति मिल जाया करती थी। अन्य छात्र जो शुल्क देने में सर्वथा असमर्थ थे उनकी शिक्षा का व्यय दान से चल जाता था। स्मरण रहे कि शुल्क और दान से विद्यालय का संचालन, जिसमें विद्यार्थियों के भोजन तथा रहन-सहन का व्यय भी सम्मिलित रहता था, होता था। शुल्क गुरु के पारिश्रमिक रूप में नहीं लिया जाता था।

५. सामान्यतः छात्र गुरु के साथ ही रह कर शिक्षा ग्रहण करते थे, किन्तु ऐसा भी वर्णन मिलता है कि विद्यालयों के बाहर रहकर, विवाह कर लेने के उपरान्त तथा गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वालों को भी शिक्षा

से रोका नहीं जाता था। इनको वाह्य विद्यार्थी[1] समझा जाता था। ऐसी रीति का प्रचलन उस समय था जब कि शिक्षक अपनी युवती कुमारी का पाणिग्रहण अपने किसी योग्य एवं सुशील विद्यार्थी के साथ कर देते थे। वे विद्यार्थी भी अपनी इच्छानुसार अध्ययन करते रहने में स्वतन्त्र थे।

६. एक प्रधान शिक्षक अपने सहायक शिक्षकों[2] की सहायता से ५०० छात्रों की शिक्षा का भार ग्रहण करता था। सहायक शिक्षक प्रायः योग्य विद्यार्थियों को ही नियुक्त किया जाता था। नियुक्त न होने पर भी कुछ छात्र अपने छोटे साथियों को शिक्षा दिया करते थे।

७. शुल्क की भिन्न व्यवस्था के कारण शुल्क न देने वाले छात्र दिन भर काम करते और रात को विद्याध्ययन करते थे। शुल्क देने वाले छात्रों की शिक्षा का प्रबन्ध दिन में था। इस प्रकार छात्रों की सुविधा का पूरा ध्यान रक्खा जाता था तथा रात और दिन दोनों ही समय में शिक्षा दी जाने की व्यवस्था थी।

८. उच्च शिक्षा के अन्तर्गत विशेषतः साहित्यिक और वैज्ञानिक विषयों का समावेश था। साहित्यिक शिक्षा में धार्मिक साहित्य सम्मिलित था। वैज्ञानिक विषय जिनका वर्णन जातकों में मिलता है, निम्नांकित हैं, क. तंत्र-मंत्र, ख. आखेट शिक्षा, ग. धनुर्विद्या, घ. औषधि, च. काम तन्त्र, छ. जीवों की बोली का ज्ञान, ज. हाथी सूत्र, झ. मृत को जीवन देने की विद्या। स्मरण रहे कि इन वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शिक्षाओं का व्यवहृत रूप भी था। धनुर्विद्या तथा चिकित्सा में औषधि ज्ञान की शिक्षा का रूप व्यावहारिक था और उनकी परीक्षा व्यावहारिक रूप से होती थी।

९. इन शिक्षा-केन्द्रों में पुस्तकें भी पढ़ाई जाती थीं और लेखन-कला भी व्यवहृत की जाती थी। जातकों में बोधिसत्व से सम्बन्धित धार्मिक पुस्तक को शुद्ध लिखित रूप देने तथा उसके पढ़ने से उपदेश का वर्णन मिलता है, जिससे उस समय में प्रचलित लेखन-कला का आभास मिलता है।

---

१. External Student.

२. इनको पिट्ठव आचार्य कहते थे।

१०. शुल्क देने वाले तथा न देने वाले छात्र एक-सा ही जीवन व्यतीत करते थे। राजकुमारों को भी सामान्य छात्रों के समान ही रहना होता था। तक्षशिला विश्वविद्यालय में ऊँच-नीच का भेद-भाव न था। रहन-सहन, भोजन-वस्त्र सबको समान रूप से उपलब्ध होते थे। विद्यालय के नियम राजकुमारों तथा श्रम करके पढ़ने वाले निर्धन विद्यार्थियों के लिए समान थे। कोई भी पढ़ते समय व्यक्तिगत सम्पत्ति रख कर उसका उपभोग नहीं कर सकता था।

११. उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी कुछ छात्रों को मानसिक संतुष्टि न होती थी। वे किसी निर्जन वन-प्रदेश में जाकर किसी विख्यात तपस्वी के आश्रम में रहते और अपना समस्त जीवन अन्तिम सत्य की खोज में व्यतीत कर देते थे। किसी-किसी आश्रम में ऐसे ५०० तपस्वी तक रहते थे। निर्जन प्रदेशों के अतिरिक्त आश्रम जन-समुदाय के निकट भी अवस्थित थे।

विहार

बौद्ध शिक्षा-पद्धति की मुख्य आधार-शिला मठ अथवा विहार थे। विहारों में रहने वाले भिक्षुओं के संघ से शिक्षा-व्यवस्था की पूर्ति होती थी। किसी-किसी विहार अथवा मठ में १,००० तक भिक्षु रह सकते थे। संघ के कुछ सामूहिक नियम होते थे जिनका पालन करते हुए आचार्य (उपाज्झ्याय) अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को पूरा करते थे। नये भिक्षु अपने आचार्य 'उपाज्झ्याय' की संरक्षता में विद्याध्ययन करते थे और आचार्य को प्रत्येक नवागन्तुक भिक्षु की शिक्षा का उत्तरदायित्व वहन करना होता था। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा-पद्धति में छोटे-छोटे विद्यालय एक सामूहिक समुदाय के अनुशासन में रहते थे। छात्र इस बड़ी संख्या के सदस्य होते थे तथा उसके प्रत्येक व्यापार में उनको भाग लेने का अधिकार था। अतः कहा जा सकता है कि ब्राह्मणीय पद्धति के विपरीत बौद्ध शिक्षा-पद्धति वैयक्तिक होते हुए भी संघीय प्रणाली[१] के अन्तर्गत आती थी।

स्त्री-शिक्षा

महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं दी थी, किन्तु अपनी विमाता महाप्रजापति जो कि बाद में ५०० शाक्य क्षत्राणियों सहित संघ में प्रविष्ट हुई तथा अपने प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह से बुद्ध ने संघ में स्त्रियों को प्रवेश करने की अनुमति दे दी थी। स्त्रियों पर संघ के नियम

१. Federal Principles.

अति कठोर थे। नव भिक्षुणी का परीक्षा-काल २ वर्ष का होता था। उनको भिक्षुओं से अलग रहना पड़ता था। दैनिक जीवन भिक्षु और भिक्षुणी का समान होने पर भी संघ में भिक्षुणी का स्थान भिक्षु से नीचा समझा जाता था और वे आचार्य के साथ अकेले नहीं रह सकती थीं। एक विशेष भिक्षु द्वारा मास में दो बार दूसरे भिक्षु की उपस्थिति में उन्हें शिक्षा तथा उपदेश देने की व्यवस्था थी। किसी को भी स्थायी भिक्षुणी बनने के लिए सम्पूर्ण संघ की सहमति प्राप्त करना अनिवार्य था।

ये सब प्रतिबन्ध संघ में नारियों पर थे। फिर भी भारतीय समाज में तथा बौद्ध धर्म में भिक्षुणियों का महत्त्व स्पष्ट है। अनेक भिक्षुणियों के उच्च आत्म-ज्ञान तथा विद्वत्ता के कारण संघ की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। भिक्षुणियों में अधिक-तर धार्मिक प्रेरणावश संघ में सम्मिलित होने वाली महिलाएँ थीं। किन्तु कुछ भौतिक जगत के संकटों से ऊब कर शान्ति प्राप्त करने के निमित्त भिक्षुणी बन जाती थीं। इन दोनों प्रकार की भिक्षुणी महिलाओं में से कुछ तो अपनी विद्वत्ता के लिए विख्यात थीं। सुक्का का नाम इस विषय में उल्लेखनीय है। उसके प्रवचन द्वारा जन-समुदाय अपने को कृतकृत्य करता था। भिक्षुणियाँ शोकग्रस्त महिलाओं के कष्ट-निवारण के लिए तत्पर रहती थीं। पटचारा नामक भिक्षुणी का नाम दयालु प्रवृत्ति के लिए सराहनीय है।

बौद्ध साहित्य द्वारा संघ की भिक्षुणियों की शिक्षा-पद्धति का वर्णन नहीं मिलता, किन्तु उनके नवागन्तुक भिक्षुणियों की शिक्षा के भार ग्रहण करने का विवरण है। जो स्वतः सिद्ध करता है कि भिक्षुणियों की शिक्षा का प्रबन्ध था तथा उन आचार्या भिक्षुणियों को आचार्य के लिए सर्वथा अपेक्षित 'धम्म' का पूर्ण ज्ञान रहा होगा। तभी तो ये आचार्या भिक्षुणी संघ की शिक्षा में अध्यापन-कार्य करने में समर्थ रही होंगी।

संघ के बाहर भी स्त्रियों में धर्म के प्रति बड़ी रुचि थी। बिसाखा, सुपिया, अम्बपाली आदि महिलाएँ धर्मानुरागी थीं तथा उनकी दानशीलता का बौद्ध संघ बड़ा आभारी था। अतः संघ के भीतर तथा बाहर बौद्ध धर्म के प्रसार में नारियों ने पुरुषों का साथ दिया तथा भारतीय नारियों के मानसिक तथा नैतिक उत्थान में भिक्षुणियों की सेवा, आत्मीयता एवं सहानुभूति ने पर्याप्त योग दिया।

व्यावसायिक शिक्षा

बौद्ध कालीन शिक्षा का प्रमुख आधार धर्म था और इस उद्देश्य की पूर्ति विहारों में होती थी। किन्तु उस समय औद्योगिक ज्ञान को भी उपेक्षित

नहीं किया गया। तत्कालीन शिक्षा में व्यवसायिक शिक्षा का प्रमुख स्थान था। भिक्षुओं तक को सिलाई, कताई, बुनाई आदि का ज्ञान इसलिए होना अनिवार्य था जिससे वे अपनी वस्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। विहारों के भवनों का उचित निर्माण करवाने के लिए उनको मकान बनाने की कला से भी परिचित होना आवश्यक था। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने वाले बौद्ध धर्म के अनुयायियों को जीविकोपार्जन में सहायक अन्य उद्योगों की शिक्षा भी दी जाती थी।

औषधि:—आयुर्वेद और शल्य-विद्या उस समय अपनी बहुत उन्नति कर चुकी थी। आयुर्वेद-पिता चरक का प्रादुर्भाव उस काल में ही हुआ था। राज-परिचारिका सालवती का पुत्र जीवक उस समय का प्रसिद्ध चिकित्सक था। उसने तक्षशिला में किसी ख्याति-प्राप्त औषधिवेत्ता का शिष्य रहकर सात वर्ष तक औषधि विज्ञान का अध्ययन किया। तत्पश्चात् परीक्षा में सफलता प्राप्त कर गुरु का अशीर्वाद पाकर घर लौटा। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त जीवक ने विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण किया और रोगियों की चिकित्सा की। अनन्य असाध्य रोगों को उसने अच्छा किया। जीवक द्वारा राजगृह के एक सेठ के मस्तिष्क को तथा काशी के एक वणिक-पुत्र के पेट को चीर कर, अच्छा किये जाने का वर्णन मिलता है। अंग-विशेष को चीरने के उपरान्त जीवक मलहम लगा कर घाव को शीघ्र आराम पहुँचाता था। जीवक के अतिरिक्त "मिलिन्द पण्ह" में अन्य तत्कालीन औषधिवेत्ताओं का विवरण मिलता है। नारद, कपिल, अंगिरस, धन्वन्तरि, पुब्बक्खायन और अतुल आदि प्रमुख चिकित्सा-शास्त्री थे। चिकित्सा शास्त्र के अध्ययन की एक सुव्यवस्थित प्रणाली थी जिसके अन्तर्गत व्याधि की उत्पत्ति का कारण, उसका स्वभाव, उसकी चिकित्सा, उपचार की रीति, रोगी की परिचर्या-सम्बन्धी ज्ञान की शिक्षा किसी योग्य शिक्षक के द्वारा दी जाती थी। शिक्षा-शुल्क मुद्रा तथा पारिश्रमिक-रूप में चुकाना पड़ता था। शल्य-विद्या (आपरेशन) का विधिवत् ज्ञान कराया जाता था। शिक्षा का व्यावहारिक रूप[1] भी प्रचलित था। उपर्युक्त बातों से निम्नांकित निष्कर्ष निकलता है :

१. उस समय चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा उन्नत अवस्था में थी। फलतः देश में अनेक प्रसिद्ध चिकित्सक थे।
२. चिकित्सा के साथ-साथ तत्कालीन वैद्य चीर-फाड़ करने में भी निपुण थे। उनको घाव को ठीक करने वाले मलहमों का भी ज्ञान था जो आरोग्यप्रद तथा कीटाणु-विनाशक होते थे।

१. Practical Education.

३. तक्षशिला उस समय चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था जहाँ निर्धारित पाठ्यक्रम तथा समय के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। छात्रों की पूर्ण योग्यता का माप-दण्ड उनकी परीक्षा की सफलता थी।

४. विख्यात चिकित्सकों का पारिश्रमिक निश्चित न रहने पर भी आज-कल के चिकित्सकों से उनका पारिश्रमिक अधिक था।

५. आजकल की भाँति उस समय स्थानान्तरण के लिए यातायात सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध न थीं। फिर भी ख्याति-प्राप्त चिकित्सक सुदूर प्रदेशों में जाकर असाध्य रोगों की चिकित्सा करते थे।

६. चिकित्सा-विज्ञान की सुव्यवस्थित प्रणाली थी तथा शिक्षा का व्याव-हारिक रूप भी प्रचलित था।

७. साँप काटने के उपचार का भी यथेष्ट ज्ञान था।

अन्य जीवनोपयोगी कलाओं में शिल्प, वास्तु, गणना (अरिथमेटिक), मूर्ति एवं चित्रकला, कृषि तथा पशुपालन आदि की शिक्षा दी जाती थी। उस समय बनाये गए बौद्ध विहार तथा स्तूप, नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों के भवन तत्कालीन चित्र एवं मूर्तिकला के सजीव प्रमाण हैं। बौद्ध कालीन व्यावसा-यिक शिक्षा में भी ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति की भाँति गुरु-शिष्य-सम्बन्ध स्नेह तथा आदर का था।

सारांश

बौद्ध धर्म

हिन्दू धर्म में आये हुए दोषों के निराकरण के लिए बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। बुद्ध ने जनसाधारण के लिए एक सरल मार्ग बतलाया जिससे वह सांसारिक दुःखों से छुटकारा पा सके। बौद्ध धर्म में सर्वसाधारण के लिए निर्वाण-मार्ग का स्पष्टीकरण किया गया है।

बौद्ध शिक्षा-पद्धति तथा ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति

समानता

शिक्षा के आधार दोनों प्रणालियों में समान थे। बौद्ध शिक्षा-केन्द्र भी शान्त वातावरण में स्थित थे। दोनों पद्धतियों के अन्तर्गत छात्र को अपने गुरु के अनुशासन के अन्दर अपना विकास करना होता था।

विभिन्नता

ब्राह्मणीय शिक्षा का रूप पारिवारिक था। बौद्ध शिक्षा का प्रबन्ध मठों अथवा विहारों में था। बौद्ध शिक्षा में छात्रों के शारीरिक सुख पर ब्राह्मणीय शिक्षा की तरह प्रतिबन्ध नहीं लगाए गए थे। ब्राह्मणीय शिक्षा का सिद्धान्त एकतन्त्रात्मक था और बौद्ध शिक्षा का जनतन्त्रवादी।

बौद्ध शिक्षा सम्बन्धी नियम तथा शिक्षा-पद्धति

संघ बौद्ध शिक्षा के केन्द्र थे। केवल श्रमणों को धार्मिक और सांसारिक शिक्षा देने का अधिकार संघ को था। बौद्ध शिक्षा के नियम संघ के नियम ही थे। संघ-प्रवेश का विशेष नियम था। गुरु-शिष्य का पारस्परिक एवं वैयक्तिक सम्बन्ध था। ८ वर्ष की निश्चित आयु में भावी भिक्षु संसार से विमुख होकर संघ में प्रवेश करता था। संघ में सभी वर्ण के लोग आ सकते थे। भावी भिक्षु को सिर मुड़ा कर पीला वस्त्र धारण करना पड़ता और "शरणत्यं" के प्रणों का उच्चारण करना होता। तदुपरान्त "पब्बज्जा" हो जाने पर उसको "सामनेर" की संज्ञा दी जाती थी। माता-पिता की अनुमति प्राप्त करके संघ में प्रवेश पा लेने वाले "सामनेर" को 'दस सिक्खा पदानि' का पालन करना अनिवार्य होता था। २० वर्ष की आयु में 'सामनेर' 'उपसम्पदा के सम्पादन के उपरान्त पक्का "भिक्खु" बनता था। 'उपसम्पदा' की विधि पूर्णतः जनतान्त्रिक तथा 'पब्बज्जा' से भिन्न होती थी। भिक्षु शिक्षा ग्रहण कर समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करता था।

आचार्य के कर्त्तव्य संघ द्वारा निर्धारित किए जाते थे। शिष्य की शिक्षा, शारीरिक विकास तथा आवश्यकता पड़ने पर भिक्षाटन के लिए पात्र आदि का प्रबन्ध गुरु करता था। रोगी होने पर गुरु शिष्य की यथावत् परिचर्या करता और पारस्परिक वाद-विवाद द्वारा उसको सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने में सहायता करता था।

शिष्य के लिए दैनिक कार्य निर्धारित थे। गुरु की सेवा, उसके स्नान, भोजन तथा शयन आदि का प्रबन्ध, भिक्षाटन के लिए जाना, शिष्य के कर्त्तव्यों में था। आचार्य की आज्ञा प्रत्येक कार्य से पूर्व प्राप्त करना अनिवार्य था। शिष्य गुरु से प्रश्न पूछ कर ज्ञान प्राप्त करता था।

गुरु शिष्य के भिन्न-भिन्न कर्तव्य निर्धारित थे। फिर भी उनमें समता और स्नेह का सम्बन्ध था। गुरु पर शिष्य का पूर्ण उत्तरदायित्व रहता था। किन्तु संघ

की मर्यादा का उल्लघंन करने पर गुरु के लिए उचित दण्ड की व्यवस्था करवाना शिष्य का कर्त्तव्य होता था।

आचरण की शुद्धता का विशेष महत्त्व था। प्रारम्भिक शिक्षा पूर्ण धार्मिक होती थी। अध्ययन-अध्यापन का कार्य मठों तथा विहारों में होता था। भावी भिक्षु को धार्मिक क्षेत्र में अपनी स्थिति स्थायी करने योग्य बनाना आवश्यक था। कुछ भिक्षु निर्जन वनों में मनन एवं चिन्तन करते थे। लेखन-कला का ज्ञान लोगों को था किन्तु शिक्षा पद्धति में मौखिक प्रणाली ही प्रचलित थी। व्याख्यान, वाद-विवाद, तत्कालीन शिक्षा-पद्धति का एक आवश्यक अंग था। वाद विवाद के नियम निर्धारित थे। साधारण बोल-चाल की भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया था। माह में दो बार विद्वत्सभा का आयोजन किया जाता था। संघ के समक्ष सभी भिक्षुओं को अपने अनैतिक कार्य को उपस्थित करना पड़ता था।

परिभ्रमण द्वारा गृहस्थों को भी बौद्ध भिक्षु शिक्षा दिया करते थे, किन्तु उनके बच्चों की मौलिक शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। बौद्ध साहित्य की धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त विहार-निर्माण का क्रियात्मक ज्ञान भी कराया जाता था। अनेक भारतीय शिक्षा-केन्द्रों में विदेशी छात्र अध्ययन करते थे। प्रतिभासम्पन्न एवं साधनहीन छात्रों की शिक्षा का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था। छात्र आचार्य के साथ रहकर ही शिक्षा ग्रहण करते थे।

स्त्री शिक्षा का भी प्रचलन था। अनेक विदुषी नारियों ने तत्कालीन नारी-समाज को ज्ञान से आलोकित किया। यद्यपि संघ में दैनिक जीवन भिक्षु और भिक्षुणी का समान था, किन्तु भिक्षुणियों पर विशेष प्रतिबन्ध लगाए गये थे।

व्यावसायिक शिक्षा के अन्तर्गत चिकित्सा एवं शल्य-विद्या का विशेष स्थान था। मूर्ति-कला तथा चित्र-कला आदि की शिक्षा भी दी जाती थी।

निश्चित अवस्थाओं में गुरु को शिष्य के निष्कासन का अधिकार था। शिष्य में आचरण-सम्बन्धी अशुद्धता, श्रद्धा, सम्मान का अभाव उसके निष्कासन के कारण होते थे। अन्य धर्म को स्वीकार कर लेने पर भी उसको संघ से अलग हो जाना पड़ता था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—बौद्ध शिक्षा और ब्राह्मणीय शिक्षा का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

२—बौद्ध शिक्षा में गुरु-शिष्य के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए शिक्षा-पद्धति पर उनके प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

३—बौद्ध शिक्षा-पद्धति की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

४—बौद्ध शिक्षा-पद्धति में जन-सामान्य की शिक्षा का क्या रूप था तथा स्त्रियों की शिक्षा की क्या व्यवस्था थी? वर्णन कीजिए।

५—बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों का उल्लेख करते हुए उनके महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

६—बौद्ध शिक्षा और वैदिक कालीन शिक्षा का तुलनात्मक विवरण दीजिए।

अध्याय ७

बौद्ध शिक्षा-पद्धति की प्रौढ़ता

बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ-साथ बौद्ध शिक्षा-पद्धति में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति में प्रचलित भौतिक विषयों की शिक्षा बौद्ध विद्यालयों में भी दी जाने लगी, क्योंकि संघ का प्रभुत्व स्थापित रखने के लिए यह आवश्यक था। वैदिक साहित्य का अध्ययन भी भिक्षुओं को शास्त्रार्थ में सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक था और इन्हीं सब पर आधारित थी बौद्ध धर्म की प्रगति। अतः जो बौद्ध शिक्षा प्रारम्भ में पूर्णतः धार्मिक थी वह भौतिक भी बन गई। प्रारम्भ में भिक्षुओं के लिए संघ द्वारा धर्म तथा नैतिकता की शिक्षा की व्यवस्था थी, किन्तु कालान्तर में भिक्षु धार्मिक तथा भौतिक दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने लगे और भौतिक विषय भी धार्मिक शिक्षा में महत्त्वपूर्ण समझे जाने लगे। बौद्ध शिक्षा में सांसारिक विषयों के समावेश का प्रमुख कारण यह था कि भिक्षुओं को विहार को छोड़ कर गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की अनुमति प्राप्त थी। इसका आगे चल कर प्रचुर उपयोग होने लगा। फलतः अस्थायी भिक्षुओं की संख्या स्थायी भिक्षुओं से कई गुनी बढ़ कर होती थी। राजा भर्तृहरि के सात बार संघ छोड़ने और संघ में आने का वर्णन मिलता है। इस प्रकार से ब्राह्मण विद्यालयों तथा बौद्ध धर्म के उदार नियमों के प्रभाव-स्वरूप बौद्ध शिक्षा का रूप परिवर्तित होने लगा।

बौद्ध विहारों में श्रमण तथा नवागत भिक्षुओं के साथ-साथ वे लोग भी शिक्षा ग्रहण करने जाते थे जिनको आगे चलकर सांसारिक जीवन व्यतीत करना होता था। पहले संघ में केवल भिक्षुओं की शिक्षा की व्यवस्था थी और उनको मठ का सदस्य बन कर रहना पड़ता था। जन-सामान्य की शिक्षा को संघ की शिक्षा में कोई स्थान न था। हाँ, भिक्षु भ्रमण करते समय बौद्ध धर्मावलम्बी गृहस्थों को धार्मिक उपदेश दिया करते थे। बौद्ध कालीन शिक्षा अपनी प्रौढ़ावस्था में एक पूर्ण उदार शिक्षा-पद्धति के रूप में परिणत हो गई। जन-सामान्य की शिक्षा की व्यवस्था की गई। सभी वर्ग अथवा धर्म के लोगों को शिक्षा दी जाती थी। धार्मिक विषयों के साथ-साथ सांसारिक विषयों को स्थान दिया गया। दोनों प्रकार की विद्याओं से विभूषित भिक्षुओं को "बहुश्रुत" कहा जाता था

और सांसारिक विषयों के विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहते थे। जन-सामान्य के बच्चों के संघ-प्रवेश की विधि उस प्रकार की न थी जिस प्रकार से एक नवागत भिक्षु की हुआ करती थी। दोनों ही प्रकार के विद्यार्थियों के विहारों में रहने की व्यवस्था थी।

इस प्रकार तत्कालीन बौद्ध विहारों की सहानुभूति एवं सेवा का क्षेत्र व्यापक हो गया। फलतः इन शिक्षा-केन्द्रों से ज्ञान का आलोक विश्व को प्रकाशित कर सकने में समर्थ हो सका। किन्तु इस जनवादी शिक्षा के स्वरूप के विस्तार पर बौद्ध धर्म के समय में एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ। कुछ कट्टर बौद्ध धर्म के आचार्य बौद्ध धर्म के मूल आदर्शों में परिवर्तन करना बिल्कुल न चाहते थे और कुछ ऐसे थे जो जन-सामान्य में बढ़ रहे धर्म के प्रभाव को कम करना नहीं चाहते थे और वे उन बौद्ध धर्मावलम्बियों को छोड़ना नहीं चाहते थे जो स धर्म के मूल आदर्शों का पालन करने में समर्थ न थे। अतः बौद्ध धर्म दो शाखाओं में विभाजित हो गया। बौद्ध धर्म के मूल आदर्शों की अक्षुण्णता के प्रयत्न में लगे रहने वालों के सम्प्रदाय को "हीनयान" तथा बहुसंख्यक व्यक्तियों को अपनाने वालों के सम्प्रदाय को "महायान" नाम से ख्याति प्राप्त हुई। कालान्तर में ये दो सम्प्रदाय भी अन्य उपशाखाओं में विभक्त हो गये। महायानी सम्प्रदाय की शिक्षा-पद्धति में अनेक विषयों का समावेश हुआ और शिक्षा का माध्यम पाली ही न रह कर उसमें संस्कृत को भी प्रवेश मिला। इस प्रकार ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति का यथेष्ट प्रभाव परवर्ती बौद्ध शिक्षा पर पड़ा।

चीनी यात्रियों के अनुसार बौद्ध शिक्षा

तीन चीनी यात्रियों ने उस समय भारत का पूर्ण भ्रमण किया और अपने प्रत्यक्ष अनुभवों को लिपिबद्ध कर इतिहास के लिए अपूर्व सम्पत्ति प्रस्तुत की। इन यात्रियों का वर्णन उनका आँखों देखा है। अतः उसमें वास्तविकता अधिक है। तत्कालीन शिक्षा के व्यावहारिक रूप का वर्णन इन चीनी यात्रियों ने किया है। इन तीनों चीनी यात्रियों का संक्षिप्त परिचय तथा उनके वर्णन, जो आगे दिए जाते हैं, बौद्ध शिक्षा को समझने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होंगे।

१. फाहियान

प्रथम बार जो चीनी यात्री पुण्यभूमि भारत में आया, वह फाहियान था। फाहियान ने भारत-यात्रा ५वीं शताब्दी में की। उसने परिभ्रमण में लगभग १५ वर्ष व्यतीत किए, जिसमें उसने ३० प्रदेशों को देखा और सब जगह उसको बौद्ध

धर्म के व्यापक प्रभाव के दर्शन हुए । फाहियान सुप्रसिद्ध भारतीय गुरु कुमार-जीव की शिष्यता में रहा । गुरु ने उसको केवल बौद्ध धर्म के ज्ञान के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति का भी ज्ञान अर्जित करने का उपदेश दिया। पाटलिपुत्र में उसने ब्राह्मण साहित्य का भी अध्ययन किया । उसने अनेक बौद्ध केन्द्रों का परि-भ्रमण करते हुए अपनी यात्रा के ६ वर्ष व्यतीत किए। भारतीय संस्कृति से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसके चीन वापस जाने के बाद अनेक चीनी-यात्री इस पावन-भूमि के दर्शन के लिए समस्त मानवीय तथा प्राकृतिक आपत्तियों का सामना करते हुए यहाँ आए ।

फाहियान ने अपने वर्णन में तक्षशिला का उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके वर्णन से स्पष्ट है कि उस समय लगभग समस्त भारतवर्ष में बौद्ध संघ फैले हुए थे, जिनमें लाखों की संख्या में भिक्षु निवास करते थे और लगभग सभी तत्कालीन शासक बौद्ध धर्म के मानने वाले थे । फाहियान ने जिन प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों का वर्णन किया है उनका विवरण आगे दिया जाता है ।

पाटलिपुत्र—फाहियान के समय में यह बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था । यहाँ सुविख्यात विद्वान अध्यापन-कार्य करते थे । हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदाय के लगभग सात सौ भिक्षु अपने-अपने विहारों में निवास करते थे। सुदूर प्रान्तों से भिक्षु आकर यहाँ उच्च शिक्षा ग्रहण करते थे । कई ब्राह्मण आचार्य भी महायान सम्प्रदाय में थे ।

श्रावस्ती—भगवान बुद्ध ने २५ वर्ष तक यहाँ रह कर धर्म का उपदेश दिया। जेतवन विहार के लिए श्रावस्ती का इतिहास विख्यात है । फाहियान के समय में जेतवन के निकटस्थ ९८ विहारों में से कुछ ही शेष रह गये थे । फिर भी इन ९८ विहारों का केन्द्र क्यों न सुप्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र रहा होगा !

राजगृह—यहाँ जीवक ने जिस विहार का निर्माण करवाया था उसकी स्थिति ठीक थी । बिम्बसार के बनवाए विहार भी थे, किन्तु उनमें भिक्षुओं की संख्या अधिक न थी ।

वैशाली—यहाँ जो विहार अम्बपाली ने बनवा कर भगवान बुद्ध को समर्पित किया था वह अपनी पूर्वावस्था में वर्तमान था ।

गया—यहाँ पर तीन संघाराम थे जिनमें रहने वाले भिक्षु अपने धर्म का पालन करने में पूर्णतः संलग्न थे ।

कुशीनगर—यहाँ भगवान बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था । इस स्थान पर अनेक मठ थे जो शिक्षा-केन्द्र रहे होंगे ।

कान्यकुब्ज—हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदाय के भिक्षु यहाँ रहते थे और इनके मठ अलग-अलग थे ।

संकाश्य—यहाँ भी दोनों सम्प्रदायों के असंख्य भिक्षु-भिक्षुणी रहते थे और उनके अनेक मठ बने हुए थे ।

काशी—यहाँ दो संघाराम थे जिनमें असंख्य भिक्षु निवास करते थे ।

ताम्रलिप्ति—यहाँ पर २२ संघाराम थे और यह बौद्ध धर्म का एक विख्यात केन्द्र था ।

पुरुषपुर—यहाँ पर लगभग ७०० भिक्षु रहते थे ।

चम्पा—यहाँ के बौद्ध विहार में भी भिक्षु निवास करते थे और यह एक पुराना विहार था ।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम तत्कालीन बौद्ध शिक्षा के विस्तृत रूप को भली प्रकार समझ सकते हैं । नीचे हम फाहियान के वर्णन के आधार पर बौद्ध शिक्षा की पद्धति, संगठन, पाठ्य विषय आदि का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं :

शिक्षा-पद्धति

पूर्वी सीमा को छोड़ कर लगभग समस्त उत्तर भारत में फाहियान ने मौखिक शिक्षा-पद्धति को पाया । लिखित सामग्री के रूप में फाहियान को धार्मिक ग्रन्थों की प्रतियाँ पाटिलपुत्र और ताम्रलिप्ति के महायान मठों में मिलीं । नैतिक आचरण का शिक्षा में विशेष महत्त्व था । वैयक्तिक शिक्षा के साथ-साथ सामूहिक शिक्षा की व्यवस्था भी थी । "धार्मिक गोष्ठी" में बौद्ध भिक्षु एकत्र होकर अनेक धार्मिक प्रश्नों का समाधान किया करते थे । प्रायः सभी संघों में शिक्षण की रीति ब्राह्मणीय शिक्षा-पद्धति से मिलती-जुलती थी और श्रवण, मनन, चिन्तन आदि का अध्ययन में विशेष महत्त्व था । फाहियान ने बौद्ध सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य कुछ ऐसे सम्प्रदायों का भी वर्णन किया है जो सार्वजनिक संस्थाओं के रूप में जन-कल्याण करने का प्रयास करते थे, किन्तु उसके वर्णन में उन संस्थाओं के द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में क्या प्रभाव पड़ा इसका कोई विवरण नहीं मिलता ।

पाठ्य विषय

फाहियान के समय तक बौद्ध शिक्षा धार्मिक शिक्षा ही थी । उसमें भौतिक विषयों का समावेश न हो पाया था । किन्तु बौद्ध धर्म की दो सम्प्रदायों में विभक्ति

के कारण शिक्षा-क्षेत्र में भी दोनों सम्प्रदायों की शिक्षण-प्रणाली में अन्तर आ गया। हीनयान सम्प्रदाय अपने अनुसार धार्मिक शिक्षा अपने संघों में दिया करता था, और महायान सम्प्रदाय अपने अनुसार अपने संघों में। धार्मिक विचारों की भिन्नता का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। फाहियान ने स्वयं पाटिलपुत्र में तीन वर्ष रह कर संस्कृत का अध्ययन तथा ब्राह्मण साहित्य का ज्ञान प्राप्त किया था। फाहियान ने कई ग्रन्थों को प्रतिलिखित किया था जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. विनय, २. परिनिर्वाणवैपुल्य सूत्र का एक अध्याय, ३. सरवास्तिवाद, ४. ढाई सहस्र गाथाओं का सूत्र ग्रन्थ, ५. महासंघिक अभिधर्म, ६. सम्युक्ताभिधर्म हृदय शास्त्र। इन सभी ग्रन्थों में धार्मिक उपाख्यानों का समावेश था, किन्तु लगभग समस्त संघों में संस्कृत का समावेश हो चुका था।

संगठन

बौद्ध विद्यालय बौद्ध मठों में ही होते थे। आरम्भ में संघ की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षाटन पर निर्भर रहती थी, किन्तु बाद में संघ भारतीय समाज के अंग समझे जाने लगे और उनकी स्थायी सम्पत्ति होने लगी। स्थायी सम्पत्ति राजाओं, सेठों और सामान्य जनता से प्राप्त दान द्वारा एकत्र होती थी। इसका लेखा धातु-पत्रों पर अंकित रहता था। विहारों के साथ भवन, भूमि, उद्यान आदि लगे रहते थे जिनकी समस्त आय पर संघ का एकमात्र स्वामित्व होता था। संघ की सम्पत्ति पर कोई भी राजा अधिकार नहीं करता था। ऐसा करना घृणित समझा जाता था। किन्हीं-किन्हीं संघों के पास पर्याप्त स्थायी सम्पत्ति होने के कारण उन्हें भिक्षाटन की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

स्थायी सम्पत्ति के अतिरिक्त राजा तथा धनी लोग बहुधा भिक्षुओं को भोजन के लिए बुलाया करते थे। जन-सामान्य की ओर से भी संघ को दान प्राप्त होता रहता था। दान के लिए एक ऋतु निर्धारित थी, किन्तु अन्य समय में भी दान दिया जाता था और संघ उसको स्वीकार करता था। संघ को निश्चित नियमों के प्रतिबन्ध में कार्य करना पड़ता था। संघ के कर्त्तव्य निश्चित थे। बौद्ध भिक्षुओं को धार्मिक, जनोपकारी कार्यों के साथ-साथ साधना तथा सूत्र गान भी करना होता था।

२—हुएनत्सांग

फाहियान की भारत-यात्रा के विवरण से प्रभावित होकर सातवीं शती ई० हुएनत्सांग ने भारत-यात्रा आरम्भ की। हुएनत्सांग के भारत आने के समय भारत

में सम्राट् हर्षवर्द्धन का राज्य था। हुएनत्सांग ने लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष का परिभ्रमण किया, जिसमें उसको अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ा। एक बार उसकी समस्त सामग्री लुटेरों ने छीन ली। दूसरी बार गंगा में यात्रा करते समय वह जल-डाकुओं द्वारा पकड़ा गया। वे उसको बलि देना चाहते थे। किन्तु प्राकृतिक अस्थिरता हुएनत्सांग को मुक्त कराने में सहायक हुई। उसने भारतीय संस्कृति का व्यापक ज्ञान प्राप्त किया। नालन्दा विश्वविद्यालय में कई वर्षों तक उसने अध्ययन किया और वहाँ से धर्माचार्य की उपाधि से विभूषित हो विश्वविद्यालय का उपकुलपति नियुक्त किया गया। उसने भारतवर्ष से बौद्ध ग्रन्थ तथा अन्य बौद्ध स्मारकों को चीन ले जाने का प्रयास किया। किन्तु कई पुस्तकें उसके सिन्धु नदी पार करते समय जल में डूब गईं और वे सभी चीन न पहुँच सकीं। उनको मँगाने के लिए हुएनत्सांग ने स्थविर प्रज्ञादेवी से निवेदन किया। स्वयं उसने कई भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया। हुएनत्सांग के समय भारतवर्ष में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हो रहा था। बौद्ध धर्म फाहियान के समय में ही दो सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। ब्राह्मण धर्म का प्रचुर प्रभाव होने के कारण इस समय तक महायान सम्प्रदाय ही का महत्त्व बौद्ध धर्म के अन्तर्गत अधिक था। फाहियान के समय की अपेक्षा अब भारत-वर्ष का रूप बदल चुका था और बौद्ध देश के स्थान पर हुएनत्सांग को भारत ब्राह्मण देश के रूप में देखने को मिला। फलतः हिन्दू-संस्कृति का अध्ययन न करने पर भी हुएनत्सांग अपने को इसके प्रभाव से मुक्त न रख सका और उसके वर्णन में बौद्ध शिक्षा के साथ-साथ हिन्दू शिक्षा का भी वर्णन मिलता है। हुएन-त्सांग के वर्णन के अनुसार बौद्ध शिक्षा पर जो प्रकाश पड़ता है उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

शिक्षण-पद्धति

हुएनत्सांग के समय तक बौद्ध धर्म में अनेक समप्रदाय बन गए गए थे। फलतः आन्तरिक विरोधों का सामना करने के लिए भी भिक्षुओं को तत्पर रहना पड़ता था। पहले अन्य धर्मों के समक्ष ही अपने धर्म का प्रभाव स्थापित करना होता था। इस कारण वाद-विवाद का स्थान बौद्ध शिक्षा में विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा। सभी उच्च शिक्षा-केन्द्रों में व्याख्यान, तर्क, सम्भाषण आदि की शिक्षा की व्यवस्था थी। इस कला को प्रोत्साहित करने के लिए सिद्धहस्त बौद्ध विद्वानों को पुरस्कृत किया जाता था। वाद-विवाद में सफलता प्राप्त करने वालों का बड़ा सम्मान होता था। उनको हाथी पर चढ़ाया जाता तथा उनके साथ अनेक सेवक रहते थे। इसके प्रतिकूल असफल वाद-विवाद करने वालों को दण्ड भी दिया

जाता था। उनका अपमान करने के लिए उनके मुँह पर मिट्टी पोत दी जाती थी। धार्मिक ग्रन्थों की व्याख्या करने में समर्थ भिक्षुओं को अनेक सुविधाएँ दी जाती थीं। ग्रन्थों की संख्या के अनुसार उनकी सुविधाएँ निर्धारित थीं। नीचे इसका विवरण दिया जाता है :

एक ग्रन्थ की व्याख्या कर सकने वालों को आचार्य की सेवा से मुक्त कर दिया जाता था।

दो ग्रन्थों की व्याख्या में समर्थ भिक्षु को 'श्रेष्ठ' की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

तीन ग्रन्थों की व्याख्या में सफल भिक्षु की सेवा में अन्य भिक्षु रहते थे।

चार ग्रन्थों की व्याख्या कर लेने वाले को सामान्य भृत मिलते थे।

पाँच की व्याख्या जो कर सकते थे, उनको वाहन के रूप में हाथी दिया जाता था।

पाँच से अधिक ग्रन्थों की व्याख्या करने की सामर्थ्य रखने वालों को हाथी की सवारी के साथ-साथ सेवक भी मिलते थे।

इस प्रकार उस समय के समाज में योग्यता का माप-दण्ड व्याख्यान में पाण्डित्य ही था। इसका प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक पड़ा और समय-समय पर आयोजित सभाओं द्वारा ज्ञान-प्रसार का कार्य सम्पादित होता रहता था। हुएनत्सांग ने स्वयं कई सभाओं को देखा था, जिनमें भारतवर्ष के कोने-कोने से विद्वान आकर भाग लिया करते थे। सम्राट् हर्षवर्धन प्रति पाँच वर्ष पर विद्वत्सभा का आयोजन करता था जिसमें अन्य धर्म के विद्वान भी सम्मिलित होते थे।

आचरण-सम्बन्धी शिक्षा का महत्त्व भी कम नहीं था। संघ के नियमों के पालन द्वारा स्वाभाविक रूप से आचरण-सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा मिला करती थी। सभी भिक्षुओं को शारीरिक श्रम करना पड़ता था और संघ के विशेष पदाधिकारी को 'कर्मदान' की आज्ञा माननी होती, जिससे निस्तार पाने का एकमात्र मार्ग वाद-विवाद में सफलता प्राप्त करना था। संघ का सामूहिक जीवन भी आचरण सम्बन्धी शिक्षा के अवसर प्रदान करता था।

नैतिकता का महत्त्व बौद्ध शिक्षा में बहुत था। नैतिकता की परीक्षा के लिए सभाओं का आयोजन होता और वहाँ शुद्ध आचरण वाले भिक्षुओं को विशेष रूप से सम्मानित किया जाता था। नैतिक अशुद्धता के फलस्वरूप अनेक दण्ड भोगने पड़ते थे। यहाँ तक कि सबसे अधिक कष्टप्रद दण्ड संघ से निष्कासन तक दिया जाता

था। आत्म-चिन्तन की विधि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न थी। महायानी साधनात्मक चिन्तन करते तथा हीनयानी मौन चिन्तन करते थे।

सामान्यतः हुएनत्सांग के समय में भी बौद्ध शिक्षा-पद्धित में श्रवण, चिन्तन, मनन आदि का समावेश था। कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

पाठ्य विषय

संघों में उच्च तथा प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था थी। प्राथमिक शिक्षा द्वारा छात्रों को उच्च शिक्षा के उपयुक्त बनाया जाता था। प्राथमिक शिक्षा के सम्पादन के लिए अनेक शिक्षक थे। भौतिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार के विषयों का समावेश बौद्ध शिक्षा में था। प्रायः ५, ६ वर्ष की अवस्था में छात्र शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ करते थे। प्रारम्भ में संस्कृत भाषा के वर्णों का ज्ञान कराया जाता था और सात वर्ष की आयु में निम्नांकित पाँच शास्त्रों से उनको अवगत कराया जाता था।

१. व्याकरण
२. आध्यात्म विद्या
३. शिल्पस्थान विद्या
४. हेतु विद्या
५. चिकित्सा-शास्त्र

इनके अतिरिक्त अन्य विषय भी बौद्ध शिक्षा में सम्मिलित थे। जैसे—ज्योतिष, गणना, प्रेत विद्या आदि। भौतिक विषयों का समावेश रहने पर भी बौद्ध शिक्षा मुख्यतः धार्मिक ही थी। विनय, सूत्र तथा अभिधर्म आदि विषय प्रमुख थे। बौद्ध संघों में यद्यपि अन्य मतावलम्बी छात्र भी शिक्षा ग्रहण करते थे, किन्तु अधिकतर छात्र बौद्ध धर्म को मानने वाले ही होते थे।

हुएनत्सांग के समय में बौद्ध धर्म कई सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। अतः सभी विद्यालयों में शिक्षा के विषय समान न थे। सम्प्रदाय-सम्बन्धी शिक्षा के विषय ही शिक्षालयों में पढ़ाये जाते थे।

बौद्ध शिक्षा-केन्द्र

बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षु भिन्न-भिन्न संघों में अपने सम्प्रदाय सम्बन्धी अध्ययन करते और रहते थे। इस प्रकार के कुछ मठों का वर्णन आगे किया जाता है।

गान्धार—हुएनत्सांग के समय में गान्धार के मठ गिरी दशा में थे, किन्तु किसी समय में यह बौद्ध शिक्षा का एक वृहत् केन्द्र था और यहाँ पर लगभग १००० मठ थे।

कान्यकुब्ज—बौद्ध धर्म के दोनों सम्प्रदायों के श्रमण यहाँ रहते थे। फाहियान के समय में यहाँ केवल दो मठ थे। किन्तु हर्षवर्धन के प्रयास-स्वरूप हुएनत्सांग के समय में यहाँ पर १०० मठ थे। जिनमें दस सहस्र से भी अधिक भिक्षु रहते थ। उस समय का यह सबसे बड़ा बौद्ध धर्म का केन्द्र था।

श्रावस्ती—फाहियान के समय की श्रावस्ती का रूप बदल चुका था। ९२ मठों के स्थान पर अब यहाँ केवल १ मठ शेष था। जेतवन विहार नष्ट हो गया था।

तक्षशिला—यहाँ पर महायान सम्प्रदाय के कुछ भिक्षु रहते थे। इसका प्राचीन गौरव नष्ट हो चुका था। केवल मठों के ध्वंसावशेष मात्र देखने को मिलते थे।

वाराणसी—बौद्ध धर्म के केवल ३०० श्रमण यहाँ रहते थे। किन्तु अन्य धर्मानुयायियों की संख्या अधिक थी और यह एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था।

सारनाथ—उपवन मठ, जो कि भगवान बुद्ध के समय का था; उस समय तक विद्यमान था, जिसके आठ विभाग थे। यहाँ भी लगभग ३०० श्रमण रहते थे।

नालन्दा—तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालय नालन्दा द्वारा बौद्ध जगत ज्ञान के प्रकाश से आलोकित था। इस विश्वविद्यालय के शिक्षकों की योग्यता दूर-दूर तक विख्यात थी। यहाँ लगभग दस सहस्र छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे।

कपिलवस्तु—यहाँ पर केवल एक मठ शेष था, जिसमें केवल ३० भिक्षु थे। प्राचीन गौरव के प्रमाणस्वरूप यहाँ लगभग एक सहस्र मठों के भग्नावशेष देखने को मिलते थे।

मुंगेर—यहाँ अधिकतर हीनयान सम्प्रदाय के भिक्षु रहते थे। हुएनत्सांग ने स्वयं एक वर्ष तक यहाँ अध्ययन किया था। अनेक बौद्ध विहारों में लगभग ४००० भिक्षु रहते थे।

आनन्धर—यहाँ के एक विद्वान् चन्द्रवर्मा के पास रह कर लगभग ४ माह तक हुएनत्सांग ने अभिधर्म की शिक्षा प्राप्त की थी। उस समय यहाँ पर २००० के लगभग भिक्षु रहते थे और पचास से अधिक मठ विद्यमान थे।

उद्यन—हुएनत्सांग के समय में यह प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र गिरी अवस्था में था। कहा जाता है कि इससे पूर्व यहाँ १४०० मठ थे, जिनमें भिक्षुओं की संख्या १८,००० थी।

मथुरा--फाहियान के समय में मथुरा की जो स्थिति थी लगभग वही हुएनत्सांग के समय में थी। यहाँ पर २,००० भिक्षु रहते थे तथा २० से अधिक मठ थे।

अयोध्या--१०० मठों में लगभग ३,००० भिक्षु रहते थे। हुएनत्सांग ने यहाँ पर श्री लब्ध असंग, वासुबन्धु आदि दिवंगत आचार्यों के प्राचीन मठ भी देखे।

वैशाली--किसी समय यह प्रमुख बौद्ध केन्द्र था। किन्तु इस समय इसकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी और केवल तीन-चार मठ ही शेष रह गये थे।

बोलोर--यहाँ के अनेक मठों में सहस्रों भिक्षु रहते थे, किन्तु उनका आचरण तथा धार्मिक ज्ञान उच्च कोटि का नहीं था।

नभसावन--विख्यात बौद्ध ग्रन्थ रचयिता "कात्यामनीपुत" ने यहीं शिक्षा प्राप्त की थी। किसी समय यह एक सुप्रसिद्ध बौद्ध धर्म का केन्द्र था, किन्तु हुएनत्सांग ने केवल ३०० भिक्षु यहाँ देखे जो सरवास्तिवादिन सम्प्रदाय के थे।

स्थानेश्वर--यहाँ पर हीनयान सम्प्रदाय के लगभग ७०० भिक्षु तीन बौद्ध विहारों में निवास करते थे।

मगध--यहाँ के सभी मठों में महायान सम्प्रदाय के भिक्षु रहते थे। मगध प्रान्त में १०,००० से भी अधिक भिक्षु ५० मठों में रहते थे।

महाबोधिविहार--यहाँ पर महायान सम्प्रदाय के लगभग १००० भिक्षु रहते थे। यहाँ के भव्य विहार का निर्माण लंका के राजा ने करवाया था जिसकी चहारदीवारी के भीतर ३ महल तथा अनेक कमरे थे।

विशोक--यहाँ सम्मतिया भिक्षु लगभग ३०० की संख्या में थे तथा मठों की संख्या भी पर्याप्त थी। पहले यहा पर देव श्रमण गोप नामक सुविख्यात विद्वान रहते थे।

चीनमुक्ति--यहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् "विनीत प्रभ" के पास रहकर हुएनत्सांग ने लगभग डेढ़ वर्ष तक अभिधर्म की शिक्षा ग्रहण की थी। यहाँ पर उस समय १० मठ थे।

मतिपुर--यहाँ के मठों में रहने वाले विद्वान् गुणप्रभ ने लगभग १०० पुस्तकें लिखी थीं। हुएनत्सांग ने उनके ग्रन्थ 'तत्वसन्देश शास्त्र' का अध्ययन किया था। यहाँ पर हीनयान सम्प्रदाय के दस मठों में लगभग ८०० भिक्षु रहते थे।

कपिस—यह एक समुन्नत बौद्ध केन्द्र था। एक बार स्वयं हुएनत्सांग वर्षा ऋतु में यहाँ रहा था। महायान संप्रदाय के भिक्षु १००० मठों में रहते थे।

पुमशा—यहाँ पर एक मठ में केवल ५० हीनयानी भिक्षु रहते थे और यहीं के ईश्वर नामक विद्वान् ने एक धार्मिक ग्रन्थ लिखा था जो कि प्राप्त नहीं है।

कश्मीर—कश्मीर में जब हुएनत्सांग गया तो उसका सम्मान हुआ और उसने वहाँ रह कर अनेक सूत्रों का अध्ययन किया। कश्मीर प्रान्त में बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव था और यहाँ के १०० बौद्ध मठों में ५००० से भी अधिक भिक्षु रहते थे। सबसे पहले कश्मीर में ही बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द के शिष्य 'अर्हत मध्यान्तिकी' ने धर्म-प्रचार किया।

श्रुघ्नन—यहाँ के आचार्य प्रसिद्ध विद्वान् थे। स्वयं हुएत्सांग ने जय गुप्त से "श्रौतान्तिक" शाखा का ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय यहाँ के पाँच विहारों में लगभग १०० श्रमण रहते थे जिनमें अधिकांश हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

तिलोषिक विहार—यह विहार नालन्दा के पश्चिम लगभग २० मील की दूरी पर अवस्थित था। यहाँ का विहार बड़ा भव्य बना हुआ था। सुदूर प्रदेशों के विद्वान् यहाँ पर एकत्र होते थे।

गज—यहाँ पर कई हजार भिक्षु रहते थे, जिनमें अधिकांश 'सरवास्ति वादिन' सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

पुष्करावती—वसुमित्र यहीं के आचार्य थे। यहाँ पर मध्य भारत के अनेक बौद्ध भिक्षु निवास करते थे।

लम्प—यहाँ के एक विद्वान् ने चीन-भ्रमण किया था तथा एक संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। महायान सम्प्रदाय के यहाँ दस मठ थे। किन्तु भिक्षुओं की संख्या कम थी।

चोला (दक्षिण भारत)—द्रविड़ देश में १० संघों में १,००० के लगभग भिक्षु रहते थे। यहाँ पर लंका के विद्वानों से हुएनत्सांग ने योगविद्या के बारे में जानकारी प्राप्त की थी।

बेजवाड़ा (दक्षिण भारत)—यहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रचुर प्रभाव था और यहाँ के विकेन्द्रित २० संघों में ३,००० से भी अधिक भिक्षु रहते थे।

अन्य—वलभी, कांजिपुर तथा कोनकान, मालवा, भरोच, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार था, जो बौद्ध शिक्षा के विस्तार एवं स्वरूप को स्वतः सिद्ध करने में समर्थ है ।

३—ईत्सिंग

अपने गुरु फाहियान से प्रेरणा प्राप्त कर ईत्सिंग जल-मार्ग से भारतवर्ष आया । उसने यहा संस्कृत का अध्ययन किया और अधिक भ्रमण न करके १० वर्ष तक नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन करता रहा । ईत्सिंग ने व्याकरण तथा कोष का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था और लगभग ४०० बौद्ध ग्रन्थों को उसने संगृहीत किया । चीन लौट जाने पर उसने ५६ ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया जिसके फलस्वरूप चीन में एक नवीन बौद्ध सम्प्रदाय चल पड़ा । ईत्सिंग के विवरण में अनेक ऐसे स्थानों का भी वर्णन मिलता है जिनको उसने स्वयं देखा नहीं था, किन्तु प्रमुख बौद्ध केन्द्रों में वह अवश्य गया था ।

ईत्सिंग के वर्णन में पहले आये चीनी यात्रियों के द्वारा दिए गये वर्णन की अपेक्षा नई बातों का भी समावेश है । उसने प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य बातों का उल्लेख किया है जिसको अध्ययन करने से तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । बौद्ध संघ-प्रवेश की विधि तथा नियमों का वर्णन करते हुए ईत्सिंग ने बौद्ध शिक्षा व्यवस्था का व्यापक विवरण प्रस्तुत किया है । नीचे हम ईत्सिंग द्वारा वर्णित प्राथमिक तथा उच्च शिक्षा का उल्लेख करेंगे ।

प्राथमिक शिक्षा

पठित विषयों को स्मरण रखने के लिए विद्यार्थियों की प्रति-दिन प्रातःकाल परीक्षा हुआ करती थी । गुरु-शिष्य-सम्बन्ध पूर्ववत् था । विनय की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सूत्र तथा शास्त्र पढ़ाये जाते थे । धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत् 'अश्वघोष' का "बुद्ध चरित्र" 'मात्रिचेत', के दो ग्रन्थ तथा 'नागार्जुन' की "जातक माला" और "श्रीलेखा" का अध्यापन भी किया जाता था । सम्भवतः हीनयान और महायान दोनों ही सम्प्रदायों में इन ग्रन्थों का पढ़ना अनिवार्य था ।

नैतिक शिक्षा का महत्त्व कम नहीं था । विनय के नियम-पालन पर विशेष बल दिया जाता था । आचार्य शिष्य के आचरण के प्रति विशेष ध्यान रखते थे तथा उसमें किसी त्रुटि का आभास पाने पर उसको सचेत कर देते थे । यदि कोई त्रुटि हो जाय तो प्रायश्चित भी करना पड़ता था ।

तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार ६ वर्ष की अवस्था में बालक की शिक्षा आरम्भ होती और पहली पुस्तक "सिद्धिस्तु" को पढ़ाया जाता था जो कि लगभग ६ मास में समाप्त होती थी। इसमें संस्कृत वर्णमाला संयोजित रहती थी। वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ३०० सरल श्लोक पढ़ाये जाते थे। ८ वर्ष की अवस्था में पाणिनि के १,००० श्लोकों को कंठस्थ करना होता था। १० से १५ वर्ष की आयु में "धातु" "काशिकावृत्ति" को पढ़ाया जाता तथा त्रथादित्य द्वारा लिखित पाणिनि के सूत्रों का भाष्य, जिसमें १८,००० श्लोक थे, पढ़ना पड़ता था।

हेतु विद्या में नागार्जुन की 'न्याय द्वारा तर्कशास्त्र' का प्रमुख स्थान था। दर्शन का अध्यापन भी साथ-साथ होता था। गद्य-पद्य रचना भी सिखलाई जाती थी। चिकित्सा-विज्ञान के पढ़ने-पढ़ाने को आठ भागों में विभाजित कर दिया गया था। प्रत्येक भाग में भिन्न-भिन्न पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं, किन्तु कालान्तर में उनको एक में संकलित कर दिया गया था। शल्य-विद्या का भी उल्लेख ईत्सिंग ने किया है।

उच्च शिक्षा

उपर्युक्त विषयों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेने पर विशेष शिक्षा का प्रबन्ध उच्च शिक्षा के अन्तर्गत होता था। व्याकरण की उच्च शिक्षा में साहित्य की शिक्षा भी दी जाती थी, जिसमें निम्नांकित काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन करना होता था।

(क) **भर्तृहरि शास्त्र**—भर्तृहरि का २५,००० श्लोकों का भाष्य उस समय बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

(ख) **भर्तृहरि का व्याकरण ग्रन्थ**—इस ग्रन्थ में ३,००० श्लोक थे। इसमें एक भाष्य १४,००० श्लोकों का सम्मिलित था जिसको धर्मपाल द्वारा लिखित बताया जाता है।

(ग) **पतंजलि का "चूर्णि"**—इस महाभाष्य में २४,००० श्लोक थे और इसके अध्ययन के लिए ३ वर्ष का समय अपेक्षित था।

(घ) **वाक्य पदीय**—इसमें ६०० श्लोक थे। इसके रचयिता भी भर्तृहरि ही थे। इसके साथ में ७,००० श्लोकों का एक भाष्य भी सम्मिलित था।

इन ग्रन्थों का विधिवत् अध्ययन कर लेने पर विद्यार्थियों को 'बहुश्रुत' कहा जाता और उनको व्याकरण विद्या में पारंगत समझा जाता था। बौद्ध संघों में

स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया जाता था। और प्रतिदिन अनिवार्यतः व्यायाम करना होता था। व्यायाम में टहलने का प्रमुख स्थान था। ईत्सिंग के समय में "नालन्दा" और "वलभी" दो प्रमुख विश्वविद्यालय थे। उच्च शिक्षा के अन्तर्गत व्याकरण, चिकित्सा, हेतु, शिल्प तथा अध्यात्म विषयों की विशेष शिक्षा दी जाती थी।

सारांश

बौद्ध शिक्षा की प्रौढ़ता और चीनी यात्री

बौद्ध धर्म के दो सम्प्रदायों में बँट जाने के कारण तथा ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान होने से बौद्ध शिक्षा में धार्मिक शिक्षा-विषयों के साथ-साथ भौतिक विषयों का भी समावेश हो गया था। पाँचवी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक भारतवर्ष में तीन चीनी यात्री—फाहियान, हुएनत्सांग तथा ईत्सिंग आए। इन यात्रियों ने देश का भ्रमण कर बौद्ध धर्म के बारे में प्रचुर ज्ञान प्राप्त किया। इन यात्रियों ने प्रमुख बौद्ध विहारों के दर्शन किए तथा उनका विवरण दिया है। भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर ये सभी विदेशी यात्री अत्यन्त प्रभावित हुए। इन विवरणों से बौद्ध शिक्षा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बौद्ध शिक्षा की दो श्रेणियाँ थीं, प्राथमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा। विषयों का सामान्य ज्ञान प्राथमिक शिक्षा द्वारा प्राप्त कर विद्यार्थी उच्च शिक्षा के अन्तर्गत उनका विशेष ज्ञान प्राप्त करते थे। 'धार्मिक शिक्षा' शिक्षा का प्रधान अंग थी। किन्तु चिकित्सा, शिल्प तथा मूर्तिकला, चित्रकला आदि भौतिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। उस समय बौद्ध धर्म का प्रभाव उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक व्याप्त था। विदेशों से अनेक विद्यार्थी आकर भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे। बौद्ध विद्यालयों में अन्य धर्मावलम्बियों को भी शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति थी। वाद-विवाद योग्यता का सर्वमान्य माप-दण्ड था। स्वाभाविक रूप से बौद्ध धर्म का प्रभुत्व स्थापित रखने के लिए वाक्-शक्ति अनिवार्य थी। विद्वत्सभाओं का भी आयोजन होता था। बौद्ध विहारों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्थायी सम्पत्ति द्वारा होती थी। यह स्थायी सम्पत्ति राजाओं, सेठों तथा जन-सामान्य द्वारा दान की जाती थी, जिस पर संघ का एकमात्र अधिकार होता था। लेखन-कला का ज्ञान लोगों को था, किन्तु शिक्षा में मौखिकता प्रधान थी। चीनी यात्रियों द्वारा वर्णित शिक्षा-केन्द्रों तथा विद्वानों के नाम आगे दिए जाते हैं :

शिक्षा-केन्द्र

पाटिलपुत्र, श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, गया, कुशीनगर, कान्यकुब्ज, संकाश्य, काशी, ताम्रलिप्ति, पुरुषपुर, चम्पा, गांधार, तक्षशिला, सारनाथ, नालन्दा, कपिलवस्तु, मुंगेर, अनंधर, उदयन, मथुरा, अयोध्या, बोलोर, नभसावन, स्थानेश्वर, मगध, विशोक, चीनभुक्ति, मतिपुर, कपिस, पुलश, कश्मीर, श्रुघ्नन, गज, पुष्करावती, लम्प, वेजवाड़ा, चोला, कांजीपुर तथा वलभी ।

विद्वान

महाकात्यायन, नागार्जुन, देव, वसुमित्र, ईश्वर, पार्श्व, असंग, दिंगनाग, कुमारलब्ध, स्थिरमति, नारायण देव, गुणप्रभ, वसुबन्धु, गुणमति, धर्मपाल, जयगुप्त, मित्रसेन, चन्द्रवर्मा, प्राज्ञभद्र, वीर्यसेन, क्षान्तिसेन, तथागत गुप्त, पतंजलि, भर्तृहरि आदि ।

इस समय अनेक ग्रन्थों की रचना हुई । चीनी यात्री यहाँ से अनेक ग्रन्थ अपने साथ स्वदेश ले गए और उनका अनुवाद अपनी मातृभाषा में करके बौद्ध धर्म का प्रचार चीन में किया ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. बौद्ध शिक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत क्या परिवर्तन हुए ? उनका वर्णन करते हुए प्रमुख कारण भी समझाइए ।

२. बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों में विभाजित हो जाने के क्या कारण थे तथा उसका शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३. चीनी यात्रियों के वर्णन में बौद्ध शिक्षा के स्वरूप को समझने का क्या महत्त्व है ? समझाइए ।

४. शिक्षा-पद्धति की व्याख्या करते हुए प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों का उल्लेख कीजिए और उनकी व्यवस्था के बारे में भी लिखिए ।

अध्याय ८

प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप और विशेषताएँ

यह भली-भाँति नहीं जाना जा सकता कि प्राचीन भारतवर्ष की प्राथमिक शिक्षा का क्या रूप था, क्योंकि यह ज्ञात करने के लिए हमें पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं। प्रागैतिहासिक सभ्यता के प्रतीक मात्र जो सामग्री हमें मोहनजोदड़ो और हरप्पा की खोदाई से प्राप्त हुई है उसमें मिले मिट्टी के बर्तनों पर जो लिखावट है वह इस बात की पुष्टि करती है कि उस समय भी लोग लेखन-कला से अवगत थे, किन्तु उस लिपि को आज तक पढ़ा जा सकना सम्भव नही हो सका है। कुछ प्राचीन कालीन भारतीय मिट्टी के पात्रों पर ब्राह्मी लिपि में भी लिखा पाया जाता है: ईसा से ४५० वर्ष पूर्व के आस-पास की प्राप्त हुई एक मुहर 'सील' द्वारा बच्चों के तत्कालीन प्रचलित खेलों के बारे में जानकारी होती है। एक विशेष प्रकार के खेल 'अक्खारिका' में बालक अपने साथी की पीठ पर सांकेतिक लिपि का अनुमान लगाया करते थे। बालकों के इस खेल द्वारा यह कहा जा सकता है कि लोगों को पढ़ने-लिखने का ज्ञान था। मनु ने वैश्यों के लिए जो कर्त्तव्य बताये हैं, उनके ज्ञान के लिए हो सकता है कि व्यापारियों द्वारा किसी प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था हो जिसके द्वारा वे अपने दैनिक कार्य सम्बन्धी ज्ञान का उपार्जन करते रहे हों।

मेगस्थनीज तथा अन्य विदेशी यात्रियों द्वारा वर्णित विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय भी कोई न कोई शिक्षा की व्यवस्था अवश्य रही होगी। यदि विधिवत् शिक्षा का व्यापक प्रचार न रहा होगा तो हो सकता है कि कारबार से सम्बन्धित कार्य-कलापों द्वारा ही शिक्षा प्राप्त की जाती रही होगी। स्पष्ट रूप से कुछ कह सकना सम्भव नहीं; परन्तु यह सत्य है कि कि प्राचीन भारत में लोग लिखना-पढ़ना अवश्य जानते रहे होंगे।

ब्राह्मण शिक्षा-पद्धति में प्रारम्भ से ही उच्च कोटि की धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा दी जाया करती थी जो सर्वथा मौखिक होती थी। अतः प्राथमिक शिक्षा का अस्तित्व अलग नहीं था। बालकों को प्रारम्भ से ही वैदिक मंत्रों का शुद्ध उच्चारण तथा उनको कण्ठस्थ करना होता था। यद्यपि ईसा से १,००० वर्ष

पूर्व के लोग लिखने की कला जानते थे, किन्तु देववाणी वेदों को लिपिबद्ध करने को पाप समझने के कारण वे अपनी उस कला को व्यवहृत न कर सके और न उसकी प्रगति ही हुई।

भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के उद्‌भव के पश्चात् पर्याप्त शिक्षा-प्रसार हुआ और प्राथमिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। बौद्ध धर्म के केन्द्रस्थल विहार और मठ विद्यालय बन गये थे। अशोक के शिला-लेखों से इस बात का प्रमाण मिलता है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष के पर्याप्त लोग बोल-चाल की भाषा में शिक्षित थे। इसका श्रेय बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों को था जो जन-सामान्य के बीच जाकर बोल-चाल की भाषा द्वारा धार्मिक प्रवचन दिया करती थीं। मौर्य कालीन भारत में धार्मिक प्रेरणा के अतिरिक्त शान्त वातावरण में व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी। बुद्ध तथा लव-कुश ने छः वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्रारम्भ की थी जैसा कि उस समय प्रचलित रहा होगा। प्रारम्भ में इनको अक्षरों की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रथा को 'अक्षर स्वीकरणम्' कहा जाता था। (गन्धार शिल्पकला के निम्नांकित चित्र से यह स्पष्ट हो

चित्र नं० ६—(बाँयीं ओर) गौतम विद्यालय में लिखने का अभ्यास करते हुए। (दाहिनी ओर) गौतम विद्यालय में संगीत का अभ्यास करते हुए।

रहा है)। इस प्रकार ई० पू० दूसरी शताब्दी में ही भारतीय शिक्षा-पद्धति में प्राथमिक शिक्षा को स्वतन्त्र स्थान मिल गया था।

पाँचवीं शताब्दी में भारतीय सामाजिक व्यवस्था का रूप बदल गया। शूद्र प्राथमिक शिक्षा के लिए उपयुक्त न समझे गये। समाज में नारियों को कड़े प्रतिबन्धों में रखा जाने लगा। फलतः प्राथमिक शिक्षा का विस्तार रुक गया और जहाँ पहिले भारतवर्ष में ८० प्रतिशत लोग साक्षर थे, वहाँ अब केवल ४० प्रतिशत लोग साक्षर थे। उत्तरोत्तर प्राथमिक शिक्षा की अवस्था दयनीय होती गयी। राजनीतिक उथल-पुथल तथा भारत पर बाह्य आक्रमणों के फलस्वरूप भारतवर्ष की प्राथमिक शिक्षा को ऐसा आघात पहुँचा कि बारहवीं शती के अन्त में यहाँ केवल १० प्रतिशत लोग साक्षर थे।

प्राचीन साहित्य से हमको केवल वैदिक शिक्षालयों के विषय में ही ज्ञात होता है, प्राथमिक शिक्षा के विषय में हमको कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। अतः यह कह सकना कि प्राथमिक शिक्षा-संस्थाओं का परिचालन किस प्रकार से होता था, सर्वथा कठिन है। किन्तु जो कुछ ज्ञातव्य है उसकी ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

शिक्षा-व्यवस्था

व्यावसायिक प्राथमिक शिक्षा तो बालक अपने पूर्वजों द्वारा घर पर ही प्राप्त किया करते थे। किन्तु कुछ व्यापारिक वर्ग की बस्तियों में व्यावसायिक समाज द्वारा स्वतन्त्र शिक्षकों की नियुक्ति कर कारबारी शिक्षा की व्यवस्था थी। कुछ समय पश्चात् अन्य प्रकार के व्यावसायिक भी इस प्रकार के शिक्षालयों की स्थापना करने लगे, जैसा कि उपालि आख्यान से ज्ञात होता है। बौद्ध-युग के प्रारम्भ में संघों के अतिरिक्त ग्रामों में प्राथमिक शिक्षा देने वाले विद्यालय अवस्थित थे। इन शिक्षा-संस्थाओं का संचालन गाँव की ओर से सामूहिक रूप से किया जाता था। बौद्ध धर्म जब हीनयान और महायान सम्प्रदायों में बँट गया तब महायान सम्प्रदाय की शिक्षा-व्यवस्था में भौतिक विषयों को महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा और महायानी संघों द्वारा प्राथमिक शिक्षा-प्रसार में पर्याप्त योग प्राप्त हुआ। चीनी यात्री इत्सिंग ने संघों की उच्च शिक्षा के साथ ही प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था के बारे में भी वर्णन किया है।

ईस्वी सन् ४०० तक यद्यपि कहीं कुछ समर्थ व्यक्ति प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करते थे, किन्तु अधिकांश प्राथमिक शिक्षा गाँव की ओर से संचालित की जाती थी। शिक्षक व्यक्तिगत रूप से शिक्षा दिया करते थे। उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध समाज की ओर से होता था।

पाँचवी शताब्दी के पश्चात् कुछ शिक्षा-संस्थाएँ राज्याश्रय में संचालित होने लगीं। इन शिक्षा-संस्थाओं से उच्च शिक्षा प्राप्त करके निकलने वाले छात्र प्राथमिक शिक्षा के शिक्षक बन कर प्राथमिक शिक्षा देने लगते थे।

प्राचीन भारतवर्ष में जो भी प्राथमिक पाठशालाएँ थीं, वे गाँवों में थीं। श्री मथाई ने इन पाठशालाओं का प्रारम्भ ग्रामों के संगठन के समय से माना है। गाँवों के पुरोहित ही बहुधा इन शिक्षालयों में अध्यापक होते थे। गाँव के मंदिर में ही इस प्रकार की पाठशालाओं की व्यवस्था थी। पुरोहित अपने धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के साथ-साथ शिक्षक का कार्य भी किया करते थे। इन पाठशालाओं की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति ग्राम-समुदाय द्वारा होती थी। शिक्षकों का निर्वाह छात्रों से प्राप्त शुल्क अथवा मंदिर के साथ लगी हुई भूमि द्वारा होता था। प्राचीन भारत के प्राथमिक विद्यालय जनतंत्रात्मक थे और ये व्यक्तिगत संस्था के रूप में जन-कल्याण की कामना से प्रेरित होकर कार्य करते थे।

शिक्षण-पद्धति

प्राचीन काल में लेखन-सामग्री तथा पाठ्य पुस्तकों का पूर्ण अभाव था। एक हस्तलिखित पुस्तक का रचना-काल वर्षों का होता था। ऐसी अवस्था में प्राकृतिक साधनों द्वारा ही प्राथमिक शिक्षा सम्पादित होती थी। जन-सामान्य के बालक जमीन पर बालू बिछा कर उँगली अथवा पतली लकड़ी से लिखते थे। कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के बालक काठ की तख्ती का प्रयोग करते थे। शिक्षक बड़े से लकड़ी के श्याम-पट पर एक अक्षर लिख दिया करते थे और छात्र उसको अपनी-अपनी तख्तियों पर लिखते तथा साथ-साथ उसका उच्चारण भी करते थे। अलग-अलग अक्षर जान जाने के पश्चात् छात्रों को संयुक्ताक्षरों का ज्ञान कराया जाता था, जिसमें कि लगभग छः मास का समय लग जाता था। इसके उपरान्त एक वर्ष तक अंक लिखना तथा पढ़ना सीखना पड़ता था। गणित का अध्यापन भी अक्षरों के अध्यापन की रीति पर ही होता था। शिक्षक की अनुपस्थिति में प्रतिभावान छात्र 'बालचर शिक्षक'[1] का कार्य सम्पन्न करते थे।

जब छात्र तख्ती पर भली-भाँति लिखना सीख जाते थे तो उनको ताड़-पत्र पर लिखना सिखाया जाता था। अध्यापक ताड़-पत्र पर किसी नोकदार लकड़ी से अक्षर लिख दिया करते थे। तत्पश्चात् छात्र उस पर कोयले की स्याही से दुहरा कर सुलेख का अभ्यास करते थे। यह क्रम बहुत दिनों तक चलता था तब कहीं जाकर

---

१. Monitor-teacher.

छात्र सुलेखन-क्रिया का ज्ञान प्राप्त कर पाता था। उस समय छापाखाने तो थे नहीं, अतः सुलेखन पर बल दिया जाना स्वभावतः आवश्यक था।

पाठ्य विषय

उपालि आख्यान से हमको इस बात का प्रमाण मिल जाता है कि भारत की प्राथमिक शिक्षा में पठन-पाठन के साथ लेखन-कला का भी समावेश हो गया था। लेखन-सामग्री के अभाव में इन प्राथमिक विद्यालयों में मौखिकता का साम्राज्य स्थापित रहा। प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा व्यावसायिक तथा धार्मिक थी। व्यावसायिक और ज्ञान-सम्बन्धी पाठ्य विषय ही इन शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश पा सकते थे। वैदिक विद्यालयों की शिक्षा तो वैदिक मंत्रों के शुद्ध उच्चारण तक ही सीमित थी, केवल सहायक विषयों को पढ़ने-लिखने की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। किन्तु व्यावसायिक शिक्षा अधिकतर परिवार में ही वंशगत दी जाया करती थी। कुछ समय पश्चात् ऐसे शिक्षालय स्थापित किए गये जिनमें लिखने-पढ़ने की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। ऐसे विद्यालयों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। दैनिक कार्यों को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखने-पढ़ने तथा अंकगणित की शिक्षा दी जाती थी। ई० पू० ४५० के लगभग ही भारतवर्ष में लेखन-कला का प्रचलन पर्याप्त रूप में था, इसकी पुष्टि बालकों के (अक्खारिका) खेल से होती है। संघों से बाहर जो प्राथमिक शिक्षा की सामान्य व्यवस्था थी, उसमें लिखने-पढ़ने तथा अंकगणित की शिक्षा दी जाती थी। कलिंग-नरेश ने बचपन में इन विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी। 'सिगलोवाद सुत्त' में माता-पिता तथा शिक्षक-शिष्य के कर्त्तव्य निर्धारित किए गये हैं, जिनको देखने से ज्ञात होता है कि ज्ञान-विज्ञान तथा कहानी की शिक्षा बालक को दी जाती थी।

अशोक के शिलालेख इस बात के प्रमाण हैं कि शिक्षा में लेखन-कला का समावेश था और प्राथमिक शिक्षा बोल-चाल की भाषा से ही अधिकांशतः सम्बन्धित थी। इससे इस बात का प्रमाण भी मिल जाता है कि उस समय तक प्राथमिक शिक्षा का पर्याप्त विकास हो चुका था।

संस्कृत का प्रभाव ई० सन् २५० के बाद फिर बढ़ने लगा और प्राथमिक शिक्षा में इसका विशेष स्थान निर्धारित हो गया। छात्रों को विशेष आयु में व्याकरण के सूत्रों की शिक्षा दी जाती था। सन् ८०० के बाद फिर बोल-चाल की भाषाओं का उत्थान प्रारम्भ हुआ और संस्कृत का पतन होने लगा तथा नवीं शताब्दी के बाद संस्कृत का लोप-सा हो गया। प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में बोल-चाल की भाषा का साम्राज्य हो गया। स्थानीय भाषाओं के अतिरिक्त हिसाब-किताब, भूमि की नाप-

जोख, क्रय-विक्रय तथा जमा-खर्च आदि व्यावहारिक विषयों को प्राथमिक शिक्षा में स्थान प्राप्त रहा।

व्याख्या

प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थियों को उन विषयों की ही व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी जो कि उनके व्यक्तिगत दैनिक कार्य-संचालन से सम्बन्धित थे। केवल लिखने-पढ़ने और गणित आदि का ज्ञान प्राथमिक शिक्षा द्वारा सम्भव था। इस प्रकार इस शिक्षा को पूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बालकों का मानसिक विकास केवल दैनिक व्यापार के ज्ञान तक ही सीमित रह जाता था। विद्यार्थियों की कलात्मक प्रवृत्तियाँ दबी पड़ी रह जाती थीं तथा उनको प्रकाश में आने का अवसर न मिल पाता था। साथ ही उनका जीवन भी सुसंस्कृत तथा उन्नत नहीं हो पाता था। रटन्त पद्धति इस शिक्षा की एक और कमी थी जो बालकों में स्वतः अपनी बुद्धि का प्रयोग कर आगे बढ़ने में बाधक थी।

ध्यान देने पर ज्ञात होगा कि प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा जिन विषम परिस्थितियों के बीच से गुजरती हुई ज्ञान का दान करती थी, वह सर्वथा सराहनीय है। शताब्दियों तक ये प्राथमिक शिक्षालय पेड़ों की छाया अथवा छप्पर के नीचे बिना पुस्तक, कागज, नक्शे आदि के जन-साधारण के बीच व्यावहारिक तथा उपयोगी शिक्षा प्रदान करते रहे। प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा की कुछ विशेषताएँ भी थीं जिनका आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण अभाव है। इन विशेषताओं की ओर हम नीचे संकेत कर रहे हैं।

(अ) इन शिक्षालयों का कार्यक्रम जीवन से सम्बन्धित था और इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र अपनी दैनिक सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकने के योग्य बन जाते थे।

(ब) प्राचीन प्राथमिक शिक्षा वैयक्तिक होती थी जो स्वाभाविक रूप से वैयक्तिक क्षमताओं और आवश्यकताओं की ओर अग्रसर की जा सकती थी। इसके फलस्वरूप छात्रों को अपनी क्षमताओं के अनुकूल प्रगति के अवसर मिलते थे। आधुनिक वर्गीय शिक्षा-पद्धति में इस प्रकार की सम्भावनायें नहीं के बराबर हैं।

खुदे हुए अक्षरों पर उँगली फिराकर सुलेख का ज्ञान प्राप्त करने का जो ढंग था, वह इस बात का प्रमाण है कि मॉन्तेसरी[1] के लेखन से भारतीय प्राथमिक शिक्षा-संस्थाएं बहुत पूर्व से परिचित थीं।

---

१. Montessori

(द) शिक्षक की अनुपस्थिति में योग्य छात्रों को शिक्षण का भार सौंपा जाता था, जिससे योग्य छात्रों को अपने विकास का अवसर मिल जाता था और उनको उत्तरदायित्व संभालने का प्रशिक्षण भी मिलता था। फलतः भावी जीवन में वे भली प्रकार सफल हो सकते थे।

(ध) इन शिक्षालयों में पढ़ने, लिखने तथा हिसाब-किताब का व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता था। केवल किताबों तक ही इन विषयों की शिक्षा सीमित न थी। कुछ समय पूर्व तक इस प्रकार की शिक्षा प्राथमिक विद्यालयों में दी जाती थी।

(न) इन शिक्षालयों में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध स्नेह और आदर का था। इनके पारस्परिक सम्बन्ध का आधार आध्यात्मिक आदर्श था, अपनत्व की भावना थी और था पवित्र सम्बन्ध जो सम्भवतः आधुनिक विद्यालयों में चिराग लेकर ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकता।

इस प्रकार प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा में कई कमियों के होते हुए भी उसका महत्त्व कम नहीं है। प्राचीन काल की अपेक्षा आज की शिक्षा के क्षेत्र में जो सुविधाएँ प्राप्त हैं और शिक्षा-क्षेत्र में जिन अपूर्णताओं के दर्शन होते हैं, उनको देखते हुए हम इस शिक्षा की यहाँ सराहना करना अतिशयोक्ति नहीं समझते। प्राथमिक शिक्षा के द्वारा ही वैदिक उच्च शिक्षालय भारतीय संस्कृति को विकसित करने में समर्थ हो सके। भारतीय संस्कृति अथवा ज्ञान की आधार-शिक्षा ये प्राथमिक विद्यालय ही थे।

सारांश

प्राचीन भारत का इतिहास इस बात का द्योतक है कि भारतवर्ष में प्रागैतिहासिक काल में भी किसी न किसी प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था अवश्य रही होगी। ई० पू० ४५० के आस-पास प्रचलित खेल 'अक्खारिका' लोगों के पढ़ने-लिखने का प्रमाण है। कारबार से सम्बन्धित शिक्षा का प्रचार अवश्य था। ब्राह्मणीय शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा भी उच्च शिक्षा के अन्तर्गत ही थी। बौद्ध धर्म के साथ प्राथमिक शिक्षा का भी प्रसार हुआ। छः वर्ष की अवस्था से यह शिक्षा प्रारम्भ होती थी। तीसरी शताब्दी में लोग काफी संख्या में साक्षर थे। प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था का सम्बन्ध राज्य से न था। गाँव के सामूहिक प्रयत्नों द्वारा इसका संचालन होता था। शिक्षक व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे। समाज उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध करता था। मन्दिर के पुजारी बहुधा शिक्षक हुआ करते थे। शुल्क देने की भी

प्रथा थी। पाठ्य तथा लेखन-सामग्री का अभाव था। बालक लकड़ी की तख्ती अथवा ताड़-पत्र पर लिखा करते थे। अक्षरों का ज्ञान आवश्यक था। 'बालचर' प्रथा का प्रचलन भी था। सुलेख पर विशेष ध्यान दिया जाता था। मौखिक पढ़ाई विशेष स्थान प्राप्त किए हुए थी। वैदिक मंत्रों का शुद्ध उच्चारण तथा व्याकरण-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था। व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था थी। बोल-चाल की भाषा शिक्षा का माध्यम थी। हिसाब-किताब, नाप-जोख, क्रय-विक्रय, जमा-खर्च आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। बालकों को दैनिक कार्य-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। उनकी कलात्मक प्रवृत्तियों के विकसित होने के अवसर कम थे। रटन्त-पद्धति प्रचलित थी। बालक शिक्षा प्राप्त कर दैनिक सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हो जाता था। वैयक्तिक क्षमताओं की प्रगति के अनुकूल अवसर मिलते थे। शिक्षा वैयक्तिक होती थी, वर्गीय नहीं। सुलेख की प्रथा की रीति 'मॉन्तेसरी' की लेखन-रीति के समान थी। योग्य छात्रों को आत्म-विकास का अवसर 'बालचर की प्रथा' द्वारा प्राप्त था। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध पवित्र, आत्मीय तथा स्नेह और आदर का था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्राचीन भारत की प्राथमिक शिक्षा-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

२. प्राचीन प्राथमिक शिक्षा-पद्धति का वर्णन करते हुए उसके प्रचलन के क्या प्रमाण मिलते हैं, लिखिए।

३. प्राचीन प्राथमिक शिक्षा के गुणों दोषों का विवेचन करते हुए लिखिए कि उसमें कौन-सी विशेषताएँ थीं जिनका आधुनिक शिक्षा में अभाव है।

अध्याय ९

व्यावसायिक शिक्षा[1] का रूप

प्राचीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा का क्या रूप था, क्या व्यवस्था थी, इसका प्रमाण प्राचीन साहित्य से बहुत कम मिलता है। जो कुछ प्रमाण मिलते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य होता था। तभी तो प्राचीन भारतीय समाज को औद्योगिक निपुणता और आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त हो सकी थी। प्राचीन भारत के उद्योगों द्वारा निर्मित अनेक वस्तुओं का व्यापार विदेशों तक विस्तृत था। जल-मार्ग से प्राचीन भारतवासी परिचित थे और उनका सम्बन्ध पाश्चात्य देशों से था। जातकों में वर्णित अनेक व्यावसायिक यात्राएँ इसका प्रमाण हैं। जल-मार्ग द्वारा व्यापार करने के लिए जलपोतों की आवश्यकता थी और भारतवर्ष में बड़े मजबूत विशाल जहाज बड़ी संख्या में बनाए जाते थे। सुदूर देशों को माल ले जाने तथा वहाँ से ले आने वाले जहाज के व्यापारियों को पर्याप्त आर्थिक आय होती थी। थल-मार्ग से भी सीमा प्रान्त के किरातों के साथ चमड़े, दरी तथा कपड़े का व्यापार होता था। प्राचीन भारत की व्यापारिक प्रगति ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित किया और भारतीय गृह-उद्योगों द्वारा अनेक वस्तुओं का निर्माण होने लगा। भारतवर्ष में सुन्दर, मजबूत तथा आकर्षक मिट्टी के बर्तन बनते थे। बढ़ई अनेक प्रकार की लकड़ी की वस्तुएँ; जैसे पलंग, कुर्सी, नाव, जहाज, रथ आदि बनाया करते थे। गृह-कारखानों द्वारा ऊनी, रेशमी मलमल आदि महीन कपड़ों की माँग पूरी हो जाती थी। हाथीदाँत का सामान भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही बहुत अच्छा बनता था। इसके अतिरिक्त, कारपोजी, सुगन्धित द्रव्य, सोना, रत्न, अस्त्र, शस्त्र भारतीय व्यवसाय की प्रमुख वस्तुएँ थीं।

राज्य द्वारा कुशल कारीगरों को प्रोत्साहन प्राप्त था। अशोक के शासन-काल में कुशल कारीगरों को हानि पहुँचाने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था थी। जहाज तथा अस्त्र-शस्त्र बनाने वाले कारीगरों को राज्य की ओर से वेतन तथा पारिश्रमिक मिलता था। सूत्रकाल में व्यावसायिक शिक्षा में लोग विशेष योग्यता प्राप्त किया करते थे। अतः सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारत में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था अवश्य रही होगी। प्राप्त सामग्री के आधार पर इस शिक्षा-व्यवस्था पर आगे विचार किया जायेगा।

---

१. Vocational Education.

चिकित्सा-शिक्षा[1]

प्राचीन भारत में चिकित्सा-विद्या का अध्ययन उन्नत अवस्था में था। तक्षशिला विश्वविद्यालय में विदेश से भी विद्यार्थी आकर चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन करते थे। तक्षशिला विश्वविद्यालय चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा के लिए प्रख्यात था। चिकित्सा प्राचीन भारत का एक समादृत तथा लाभदायक व्यवसाय था। पहली शताब्दी में भारतवर्ष में चिकित्सा-शास्त्र की व्यापक प्रगति हुई। प्राचीन भारत के चिकित्सा-शास्त्र में औषधि-उपचार के साथ-साथ शल्य-विद्या की सम्पूर्ण रीतियों का भी स्थान था। 'सुश्रुत' ने शल्य-विद्या पर एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें छोटे-छोटे घावों से लेकर पेट चीरना, हाथ-पैर काटने आदि की रीतियों का विवेचन किया गया। नाक की शल्य-क्रिया का ज्ञान भी प्राचीन भारतीय चिकित्सकों को था। सुश्रुत ने शल्य के व्यावहारिक ज्ञान के लिए मृत शरीर का विश्लेषण करने की व्यवस्था बतलाई।

चरक ने औषधि पर एक ग्रन्थ लिखा जिसमें रोग-उत्पत्ति के कारण, रोग के लक्षण, उसकी परख तथा औषधि-निर्धारण आदि का विवेचन किया गया है।

मानव-चिकित्सा के साथ-साथ पशु-चिकित्सा की व्यवस्था भी प्राचीन भारत में थी। 'शालिहोत्र' को पशु-चिकित्सा का जन्मदाता बताया जाता है। ई० पू० चौथी शताब्दी में ही भारतवर्ष में अनेक पशु-चिकित्सालय थे। जैन और बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के साथसाथ पशु-चिकित्सा को भी प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। अशोक के समय में राज्य के पशु-चिकित्सालयों में बहुसंख्यक पशु-चिकित्सक कार्य करते थे। 'कौटिल्य' ने सेना विभाग में हाथी, घोड़ों की चिकित्सा के लिए योग्य चिकित्सकों को नियुक्त करने की व्यवस्था का 'अर्थशास्त्र' में वर्णन किया है। हाथी, घोड़ों तथा अन्य पशुओं के रोग तथा उनकी चिकित्सा से सम्बन्धित कई किताबें भी लिखी गईं।

शताब्दियों तक भारतवर्ष चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध रहा। बगदाद के खलीफा ने वहाँ के योग्य युवकों को आठवीं शदी में चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला भेजा। उसने अनेक भारतीय चिकित्सा-शास्त्रियों को अपने दरबार में बुलाया तथा कई औषधि-विज्ञान की पुस्तकों को संस्कृत से अरबी में अनुवाद कराया।

चिकित्सा-शिक्षा की व्यवस्था

चिकित्सा-विद्या का अध्ययन प्रारम्भ करने की एक रीति थी जिसको 'उपनयन' कहा जाता था। शुभ दिन निश्चित कर एक चौकोर वेदी बनाई जाती थी, हवन

---

१. Medicine, the science of curing diseases.

सामग्री एकत्र की जाती थी और पहले आचार्य तत्पश्चात् विद्यार्थी घी और शहद से हवन करते थे। शिक्षक और विद्यार्थी दोनों हवन-कुण्ड की प्रदक्षिणा करते थे और उपस्थित वैद्य और ब्राह्मणों की पूजा की जाती थी। अग्नि को साक्षी करने के पश्चात् विद्यार्थी अपने छात्र-जीवन तथा व्यावसायिक जीवन को आदर्श रूप में व्यतीत करने के निमित्त प्रतिज्ञा करता था। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन जन-कल्याण की भावना के उद्देश्य से किया जाता था, अर्थोपार्जन के साधन के रूप में नहीं। फिर भी तत्कालीन चिकित्सकों को पर्याप्त आर्थिक आय हो जाया करती थी। छात्रों को परीक्ष्यमाण के रूप में ६ महीन तक रखा जाता था और इस समय में जो छात्र निर्धारित माप-दण्ड के विरुद्ध सिद्ध होता था उसको आयुर्वेद की शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं समझा जाता था। सामान्यतः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करते थे। किन्तु शूद्रों को भी 'उपनयन' ग्रहण करने की आज्ञा थी। ब्राह्मण शिक्षकों के अतिरिक्त वैश्य और क्षत्रिय भी आयुर्वेद की शिक्षा देते थे। चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा में सभी वर्णों के लोग सम्मिलित हो सकते थे, यदि वे अन्य प्रकार से उपयुक्त हों। वैदिक विद्यालयों की भाँति ही आयुर्वेद विद्यालयों में भी नियम लागू होते थे। निश्चित तिथियों तथा प्रतिकूल वातावरण में विद्यालय प्रायः बन्द रहते थे।

समावर्तन

आयुर्वेद के स्नातकों को उनके व्यवसाय-सम्बन्धी कर्त्तव्यों के बारे में उपदेश दिए जाते थे। चिकित्सक के जो कर्त्तव्य इन उपदेशों में बताए गए हैं उनके आधार पर हम नीचे प्राचीन काल के चिकित्सकों के बारे में कुछ बातों का उल्लेख करेंगे।

१. चिकित्सक के समक्ष रोगी के आरोग्य का उद्देश्य रहता था, पारिश्रमिक तथा शुल्क का नहीं।

२. आयुर्वेद-सम्बन्धी ज्ञानोपार्जन के लिए उसे निरन्तर जागरूक रहकर सतत् प्रयत्न करते रहना होता था जिससे वह नए-नए प्रयोगों से लाभ उठाने में समर्थ हो सके।

३. अपने प्राणों का मोह त्याग कर चिकित्सक को रोगी के कल्याण के लिए क्रियाशील रहना होता था।

४. चिकित्सक विद्वत्ता का मद न करके मृदु भाषण, सत्य बोलना, सदाचारी रहना आदि कर्त्तव्यों का पालन करता था जो उसकी व्यावसायिक सफलता के लिए नितान्त आवश्यक थे।

५. ब्राह्मण और गऊ की सेवा करना चिकित्सा का पुनीत कर्त्तव्य समझा जाता था।

६. मद्यपान, पर-सम्पत्ति और पर-स्त्री पर कुदृष्टि डालना उनके लिए सर्वथा वर्जित कर्म थे ।

७. व्यावसायिक ज्ञान के साथ-साथ नैतिकता के विकास पर विशेष बल दिया जाता था ।

सैनिक शिक्षा[१]

राजकुमारों की शिक्षा के अन्तर्गत, वार्ता तथा दण्डनीति आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी । मनु ने वेद, वार्ता और राजनीति की शिक्षा राजकुमारों के लिए आवश्यक बतायी । अस्त्र-शस्त्र-सम्बन्धी विषय सभी क्षत्रिय कुमारों के लिए उपयुक्त समझे जाते थे । (चित्र नं० ७ देखिये) कुछ राजकुमारों को व्याकरण की शिक्षा अत्यन्त कठिन प्रतीत होती थी और वे अन्य विषयों की शिक्षा प्राप्त किया करते थे ।
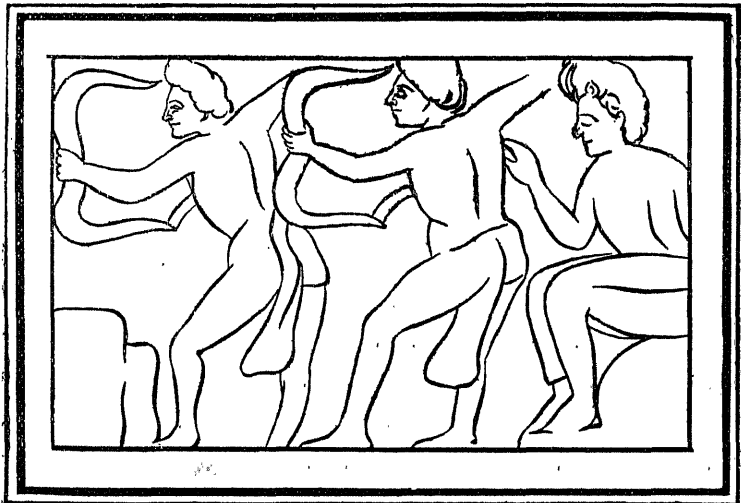
चित्र नं० ७ गौतम को विद्यालय में धनुष चलाना सिखाया जा रहा है (गान्धार शिल्प-कला, द्वितीय शताब्दी)

क्षत्रिय राजकुमारों के लिए आवश्यक विषयों के लिए नए पाठ्य क्रम का समावेश शिक्षा-क्षेत्र में हुआ । किन्तु साधारणतया ब्राह्मण शिक्षालयों में प्रचलित पाठ्य पुस्तकें ही क्षत्रियों के पाठ्य विषयों में सम्मिलित थीं । दण्डनीति, राज-

१. Military Education

नीति, वार्ता आदि के ज्ञान के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक समझा जाता था। क्षत्रिय कुमारों की शिक्षा के लिए तीसरी शताब्दी में 'कामन्दक" की लिखी पुस्तक नीतिसार का प्रचलन था, छठी शताब्दी में अन्य राजनीति-सम्बन्धी पुस्तकें लिखी गयीं। इन पुस्तकों की सामग्री रुचिकर थी। सम्भवतः 'अर्थशास्त्र' और 'नीतिसार' रुचि के अनुकूल न हो कर शुष्क ग्रन्थ थे। 'पंचतन्त्र" 'हितोपदेश' 'सरित्सागर' 'रामायण' 'महाभारत' आदि ग्रन्थ ऐसे ही थे जिनके द्वारा रोचक ढंग से क्षत्रियों की शिक्षा के लिए उपयुक्त सामाजिक तथा वैयक्तिक उलझनों के निराकरण के मार्ग प्रशस्त किए गए थे। राजस्थान में बाद में जो वीरगाथा, पद्धति चली और इस प्रथा के अन्तर्गत जो पुस्तकें लिखी गयीं वे सभी क्षत्रियों की शिक्षा के अनुकूल तथा लाभप्रद थीं।

मनु ने क्षत्रियों के लिए अध्यापन करना निषेध बतलाया। क्षत्रियों की शिक्षा में भी ब्राह्मण प्रमुख थे। यद्यपि अन्य वर्ण के लोग भी शिक्षा दे सकते थे, किन्तु क्षत्रियों की व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मणों का ही बोलबाला था। ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा राजस्थान के क्षत्रिय कुमारों की शिक्षा बाद तक सम्पादित होती रही। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को सदा पुरोहित के सामने शिष्यवत् व्यवहार करने के लिए कहा है। ब्राह्मण शिक्षक अधिकतर चरित्रवान तथा योग्य होते थे। उनकी देखभाल तथा शिक्षण द्वारा अनेक क्षत्रिय कुमार उच्च कोटि की शिक्षा ग्रहण किया करते थे।

रामायण, महाभारत-काल के उपरान्त सम्भवतः सैनिक शिक्षा के विद्यार्थियों के लिए 'उपनयन' प्रथा का प्रचलन हुआ, जिसके अनुसार किसी निश्चित शुभ तिथि को भावी छात्र व्रत रखता था, हवन होता था और ब्राह्मण को भोजन कराया जाता था। शिक्षक वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करते थे और शिष्य को शस्त्र ग्रहण कराते थे। शिष्यों के वर्ण के अनुसार ब्राह्मण को 'धनुष', क्षत्रिय को 'तलवार', वैश्य को 'भाला' और शूद्र के लिए 'दण्ड' धारण कराया जाता था। आचार्य को इन सभी शस्त्रों को चलानें का ज्ञान होना आवश्यक था।

शिक्षा की समाप्ति पर एक विशेष समारोह का आयोजन किया जाता था। हवन आदि कृत्यों के सम्पादन के पश्चात् आचार्य, शिष्य के वस्त्र में एक छोटी असि (भुजाली) लगा देता था। सैनिक शिक्षा के स्नातकों के लिए यह भुजाली प्रमाण-पत्र समझी जाती थी। इस प्रथा को "धुरिका बन्धन" कहा जाता था। १९वीं शती के प्रारम्भ तक यह प्रथा राजस्थान के राजघरानों में प्रचलित रही किन्तु इसका नाम बदल कर 'खंग बँधाई, हो गया था। राजपूत नौजवान इस प्रथा द्वारा शस्त्र धारण कर सैनिक जीवन आरम्भ करते थे।

इस शिक्षा-पद्धति के द्वारा क्षत्रिय कुमार कर्त्तव्य परायणता, जन-सेवा तथा जीवन के अन्य मूल्यों का आदर्श ज्ञान प्राप्त करते थे। इस प्रकार की शिक्षा का प्रभाव क्षत्रिय कुमारों के जीवन पर ऐसा पड़ा कि इसके कारण वे क्षत्रित्व की रक्षा करते हुए इतिहास में विख्यात रहे। यह शिक्षा-व्यवस्था बहुत समय तक सफलता पूर्वक अपने उद्देश्य की पूर्ति करती रही। परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ युग की आवश्यकताएँ भी बदल गयीं। किन्तु यह शिक्षा-पद्धति रुढ़िवादिता का पल्ला छोड़ कर प्रगतिवाद का दामन न पकड़ सकी, जिसके कारण सैनिक ज्ञान के क्षेत्र में इसका महत्त्व घट गया।

औद्योगिक शिक्षा[1]

भारतवर्ष में प्राचीन काल में ही उच्च कोटि की वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। ये भारतीय उत्पादन विदेशों को भी भेजे जाते थे जिसका वर्णन हम इस अध्याय के आरम्भ में कर चुके हैं। यहाँ की इस औद्योगिक कुशलता का आधार भारत की औद्योगिक शिक्षा ही रही होगी। प्राचीन भारत की औद्योगिक शिक्षा वंशगत् शिक्षा थी। परिवारों में वयोवृद्ध लोगों के द्वारा परिवार के सदस्य उद्योग-विशेष की शिक्षा ग्रहण करते थे। कालान्तर में अन्य परिवारों के लोग भी इन पारिवारिक शिक्षालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रवेश पाने लगे। इन वाह्य परिवार के व्यक्तियों के साथ भी कारीगर-शिक्षक का सम्बन्ध उसी प्रकार का था जैसा कि उसका सम्बन्ध उसके स्वयं के परिवार के सदस्य के साथ था। औद्योगिक शिक्षा में भी वैदिक शिक्षा की भाँति शिक्षक और शिष्य का सम्बन्ध वैयक्तिक ही रहा। शिक्षक शिष्य को पुत्रवत् मानता था। जिस समय कोई छात्र शिक्षा प्राप्त करने के लिए किसी कारीगर के पास जाता उस समय कारीगर तथा शिक्षा ग्रहण करने वाले दोनों को कुछ प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं जिनका पालन शिक्षक तथा शिष्य दोनों ही करते थे। शिक्षक और शिष्य की मुख्य प्रतिज्ञाओं का उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं।

१. शिष्य के लिए निर्धारित नियम

अ. शिक्षा के लिए निर्धारित समय से पूर्व बिना शिक्षा समाप्त किए शिष्य किसी विशेष अनिवार्य कारण के बिना गुरु का परित्याग नहीं करेगा।

ब. अपनी इच्छा से गुरु के पास से चले जाने वाले शिष्य को फिर उसके पास आना होगा तथा उसको प्रायश्चित करने के लिए दण्ड भोगना

१. Industrial Education

पड़ेगा। सम्बन्धियों की सम्मति होने पर उनके विरुद्ध भी वैधानिक कार्यवाही की जा सकेगी।

स. यदि शिष्य निश्चित समय से पूर्व शिक्षा में दक्षता प्राप्त कर लेता है तब भी उसको गुरु के पास रह कर औद्योगिक कार्य करना पड़ेगा। शिष्य के अल्पकाल में दक्षता प्राप्त करने का श्रेय गुरु को था जिसकी निपुणतावश ही शिष्य अवधि से पूर्व शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ होता था। समय के भीतर शिक्षा न समाप्त कर सकने वाले छात्रों की शिक्षा के लिए निर्धारित समय के बाद भी गुरु अवधि बढ़ा सकता था।

२. शिक्षक के लिए निर्धारित नियम

(अ) शिक्षक शिष्य को परिवार का अंग समझेगा और पुत्रवत् उसके भोजन, वस्त्र और निवास के प्रबन्ध का उत्तरदायी रहेगा।

(ब) गुरु उद्योग-सम्बन्धी ज्ञान के विषय में कोई बात शिष्य से नहीं छिपाएगा और गुरु सहर्ष उद्योग-सम्बन्धी पूरा ज्ञान शिष्य को प्रदान करेगा।

(स) गुरु शिष्य को निर्धारित समय के भीतर उद्योग-सम्बन्धी पूरी शिक्षा दे देगा। शिक्षा के सम्बन्ध में टाल-मटोल करने वाले शिक्षक को पातकी तथा निन्दनीय समझा जाता था।

(द) शिष्य के दैनिक कार्य शिष्य के हित में होंगे। गुरु अपने लिए शिष्य के औद्योगिक ज्ञान तथा दैहिक श्रम का उपयोग न करेगा।

इस प्रकार प्राचीन औद्योगिक शिक्षा-पद्धति में यह ज्ञान वैयक्तिक होता था। गुरु के निकटतम सम्बन्ध और लगातार साथ रहने के कारण उद्योग के ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना छात्र के लिए सम्भव था। साथ ही साथ वह गुरु के व्यक्तित्व, जिसका प्रभाव उसके उद्योग पर स्वभावतः पड़ता था, से प्रभावित होता रहता था। प्राचीन काल में उद्योग समाज के अंग विशेष से सम्बन्धित था। शिष्य गुरु-परिवार में रहकर आस-पास के सामाजिक कृत्यों में भी सम्मिलित होता रहता था, फलतः उसको उन सभी सामाजिक सम्बन्धों और परिस्थितियों का ज्ञान हो जाता था, जिनके मध्य में प्राचीन उद्योग पनपता था।

जिस औद्योगिक शिक्षा पद्धति का वर्णन हम ऊपर कर आए हैं उसका प्रमाण हमको अन्वेषण में प्राप्त हुए दो शिला-लेखों में मिलता है।

प्राचीन समय में कुछ ऐसी व्यावसायिक समितियाँ[1] थीं जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न उद्योगों की व्यवस्था और नियन्त्रण होता था। इन समितियों को 'श्रेणी' कहा जाता था। उद्योग का आयोजन, वस्तुओं का निर्माण अथवा उत्पादन, उनके वितरण आदि की व्यवस्था इन 'श्रेणियों' द्वारा ही होती थी। प्रत्येक उद्योग की श्रेणी अलग होती थी। उद्योग की शिक्षा की व्यवस्था कारीगर के घर पर ही थी जहाँ बहुत से विद्यार्थी औद्योगिक ज्ञान प्राप्त करते थे।

श्रेणी[2]

प्राचीन भारत में विभिन्न व्यवसायों की व्यवस्था के लिए स्थानीय सहयोग समितियाँ होती थीं, किन्तु इनका उद्भव किस काल में हुआ यह बताना कठिन है। ये सहयोग समितियाँ 'श्रेणी' के नाम से प्रसिद्ध थीं। जातकों में १८ सहयोगी समितियों अर्थात् श्रेणियों का उल्लेख हुआ है, किन्तु 'रंगकार संघ' 'काष्ठकार संघ' 'लौहकार संघ' और 'चर्मकार संघ' के ही नाम मिलते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इन समितियों का वर्णन किया गया है।

श्रेणी के सदस्य प्रायः वंशगत होते थे। पूर्वजों की मृत्यु के बाद अगली पीढ़ी के सदस्य उसका स्थान प्राप्त करते थे। जो सदस्य नए होते थे उनको सम्भवतः कुछ शुल्क भी देना पड़ता था। श्रेणी की जो आय होती थी वह दान आदि में व्यय की जाती थी। समिति को यह अधिकार होता था कि नियम का उल्लंघन करने वाले सदस्य को आर्थिक दण्ड दे। उद्योग-क्षेत्र में 'श्रेणियों' का महत्त्व बहुत बढ़ गया, यहाँ तक कि राजा भी इसके प्रभुत्व को स्वीकार करता था। राजा की दृष्टि में पुरोहित के बाद श्रेणी का अध्यक्ष 'श्रेष्ठी' ही सम्मानित स्थान पाता था। कालान्तर में श्रेणियों का अधिकार-क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि कारीगरों की नियुक्ति, कार्य-काल, पारिश्रमिक, तथा उत्पादित वस्तु आदि की व्यवस्था श्रेणी द्वारा ही होने लगी। अधिकारों के साथ-साथ उनके कर्त्तव्य भी बढ़ते गये और कारीगरों में भ्रातृभाव को प्रोत्साहन देना और सदस्यों के हितों की रक्षा करना प्रमुख कर्त्तव्य बन गए थे। इन श्रेणियों की उच्च व्यवस्था में भारतवर्ष की व्यावसायिक शिक्षा की पर्याप्त उन्नति हुई। फलतः भारतीय औद्योगिक उत्पादन बड़े उच्च कोटि के होते थे।

भारतवर्ष में उद्योग को एक सम्यक् धर्म के रूप में माना गया। उद्योग को जीविकोपर्जन का साधन मात्र नहीं समझा गया। औद्योगिक धर्म के निर्वाह के निश्चित

---

१ Guilds.

२ Local Industrial Association or small guild.

नियम थे, जिनकी अवहेलना करने से कारीगर के लोक और परलोक दोनों ही खराब हो सकते थे। इस प्रकार कारीगरों में धार्मिक प्रेरणा द्वारा कार्य-संचालन होता था, केवल भौतिक प्रेरणावश ही नहीं। दूसरा कारण भारतीय औद्योगिक समृद्धि का भारत की वर्ण-व्यवस्था थी। वर्ग-व्यवस्था के परिणाम चाहे समाज के ऊपर कुछ भी पड़े हों, किन्तु उद्योग के क्षेत्र में इसका अच्छा प्रभाव पड़ा।

प्राचीन भारत की औद्योगिक शिक्षा सांस्कृतिक शिक्षा से बिल्कुल अलग थी। अतः जो छात्र औद्योगिक क्षेत्र में पूर्ण कुशल होते थे वे सांस्कृतिक ज्ञान के बारे में कुछ शिक्षा नहीं प्राप्त कर पाते थे। कहानी, कथा, रामायण आदि का मौखिक तथा पठित ज्ञान तो इन पारिवारिक विद्यालयों में अनायास हो जाता था किन्तु दर्शन, साहित्य आदि की शिक्षा वहाँ सम्भव न थी। ग्रामों में साधु-सन्तों के आगमन प्रायः हुआ करते थे जिनके उपदेशों द्वारा कारीगर छात्र भी धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेते थे। ग्राम के सामाजिक उत्सवों में अन्य उपयोगी शिक्षाएँ मिला करती थीं। किन्तु ८ वीं शताब्दी के बाद साक्षरता की कमी हो गई और हाथ की कारीगरी करने वालों को गिरी निगाह से देखा जाने लगा। फलतः उस समय कारीगरी की शिक्षा पूर्णतः व्यावसायिक बन गई। कुछ भी हो, जहाँ तक कारीगरी का सम्बन्ध है, भारतीय औद्योगिक शिक्षा का महत्त्व स्पष्ट है।

सारांश

प्राचीन भारत की व्यावसायिक शिक्षा का रूप

प्राचीन भारत की व्यावसायिक शिक्षा के बारे में प्राचीन साहित्य में बहुत कम वर्णन है। जातकों आदि में व्यवसायिक यात्राओं का वर्णन है तथा जल मार्ग से भी यात्रा का वर्णन मिलता है। प्रागैतिहासिक काल की मिली वस्तुओं पर जो कारीगरी की गयी है, उसके द्वारा भी कुछ प्रमाण इस बात के मिल जाते हैं कि प्राचीन भारत में उच्च कोटि के औद्योगिक उत्पादन होते थे जिनकी माँग विदेशों में भी थी। चिकित्सा का स्थान भारतीय व्यावसायिक शिक्षा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विदेश से भी छात्र आकर तक्षशिला विश्वविद्यालय में चिकित्सा-विद्या का अध्ययन करते थे। औषधि-ज्ञान के साथ-साथ शल्य-क्रिया की भी शिक्षा दी जाती थी। मनुष्य की चिकित्सा के अतिरिक्त पशु-चिकित्सा का भी ज्ञान लोगों को था। शल्य तथा औषधि पर 'सुश्रुत' तथा 'चरक' ने ग्रन्थ लिखे। पशुओं की चिकित्सा पर भी कई पुस्तकें लिखी गयीं। भारतीय चिकित्सक विदेशों में भी आमन्त्रित किए गए। कई औषधि-शास्त्र की संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद बगदाद के खलीफा ने

अरबी में करवाया। एक उपनयन द्वारा चिकित्सा-शिक्षा प्रारम्भ होती थी। छात्र को अग्नि की साक्षी देकर अपना जीवन आदर्श रूप में व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य जन-कल्याण था, अर्थोपार्जन नहीं। चिकित्सा-शिक्षा के लिए सभी वर्णों के लोग प्रवेश पा सकते थे। शिक्षक भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के होते थे। आयुर्वेद के स्नातकों को उपदेश देकर कर्त्तव्य समझाए जाते थे।

दूसरी महत्त्वपूर्ण शिक्षा थी सैनिक शिक्षा। राजकुमारों तथा क्षत्रिय कुमारों के लिए इसकी व्यवस्था थी। आचार्य प्रायः ब्राह्मण ही होते थे। सैनिक शिक्षा के लिए भी उपनयन होता था। हवन आदि धार्मिक कृत्य होते और वर्णानुकूल अस्त्र ग्रहण कराए जाते थे। राजनीतिक शिक्षा, कर्त्तव्यपरायणता का पाठ तथा जनसेवा आदि का ज्ञान क्षत्रिय कुमारों को कराया जाता था। स्नातक के प्रमाण-पत्र के रूप में उसके वस्त्र के साथ शिक्षा समाप्त होने पर एक छूरी लगा दी जाती थी। इसको "छुरिका बन्धन" तथा बाद में "खंग बँधाई" प्रथा के नाम से बताया गया है। इस शिक्षा का प्रभाव क्षत्रियों के क्षत्रित्व की रक्षा में अब भी दीख पड़ता है।

तीसरी प्रकार की महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक शिक्षा थी औद्योगिक शिक्षा। इस शिक्षा की व्यवस्था सामान्यतः परिवारों में ही होती थी, किन्तु अन्य परिवारों के सदस्य भी इसमें सम्मिलित हो सकते थे। शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध स्नेह और आदर का रहता था। शिक्षक और शिष्य दोनों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। कारीगर-शिक्षक के व्यक्तिगत सम्पर्क में रहने के कारण छात्र को कार्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के अवसर मिलते रहते थे। गुरु के परिवार में रहते हुए छात्र आस-पास के सामाजिक कृत्यों में सम्मिलित होकर औद्योगिक समाज की परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। इन पारिवारिक विद्यालयों का संचालन कुछ सहयोग-समितियों द्वारा होता था। समितियों के अधिकार और कर्त्तव्य निर्धारित थे।

भारतवर्ष में उद्योग को एक सम्यक् धर्म माना गया। अतः मूल में धार्मिक प्रेरणा होने के कारण भारतीय औद्योगिक उत्पादन उच्च कोटि के होते थे। औद्योगिक शिक्षा प्राप्त करने वालों को सांस्कृतिक शिक्षा से वंचित रहना पड़ता था। किन्तु कुछ सामाजिक उत्सवों तथा साधु-सन्तों द्वारा उनको भी धार्मिक तथा नैतिक ज्ञान की शिक्षा मिलती ही रहती थी। औद्योगिक क्षेत्र में प्राचीन भारतवर्ष का स्थान विश्व में एक था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्राचीन भारतवर्ष के प्रमुख उद्योगों का वर्णन करते हुए उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

२. चिकित्सा-शिक्षा की प्राचीन भारत में क्या व्यवस्था थी ? इस कथन की पुष्टि कीजिए कि 'चिकित्सा-अध्ययन का उद्देश्य जन-कल्याण था, अर्थोपार्जन नहीं' ?

३. सैनिक शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए प्राचीन भारत की सनिक शिक्षा का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

४. भारतीय औद्योगिक विद्यालय 'वंशगत अथवा पारिवारिक थे' इस कथन की प्रमाण सहित व्याख्या कीजिए ?

अध्याय १०

विश्वविद्यालय और शिक्षा-केन्द्र

१—बनारस

वैदिक शिक्षा-काल में बनारस का मुख्य स्थान न था। आर्य-संस्कृति बहुत काल तक पश्चिमी प्रान्तों में ही सीमित रही। उपनिषद् काल से बनारस का स्थान सांस्कृतिक केन्द्रों में माना गया। शिक्षा के क्षेत्र में फिर भी इसका महत्त्व नहीं था। यहाँ के राजकुमार आदि भी तक्षशिला विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे।

किन्तु कुछ समय बाद बनारस का स्थान भी शिक्षा-केन्द्रों में महत्त्वपूर्ण हो गया। सुदूर प्रान्तों के लोग बनारस में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने लगे। भगवान बुद्ध के समय में यह पूर्वी भारत का सबसे बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र था और यहीं पर सारनाथ में बुद्ध ने सर्व प्रथम अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया। तक्षशिला की तरह यहाँ भी १८ शिल्पों की शिक्षा तथा वेदों की शिक्षा दी जाती थी। सारनाथ बौद्ध संस्कृति तथा शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। सम्राट् अशोक ने सारनाथ को समृद्ध बनाने के लिए सराहनीय प्रयत्न किए।

बनारस का स्थान ब्राह्मण शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ऊँचा था। सारे देश में यहाँ के पण्डितों की विद्वत्ता विख्यात थी। शंकराचार्य ने भी बनारस के विद्वानों की अनुमति लेकर अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की थी। यहाँ पर योग्य आचार्य व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे। नालन्दा आदि बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों की भाँति यहाँ पर व्यवस्थित शिक्षा-संस्थाओं का अभाव था। भारतवर्ष पर मुस्लिम आधिपत्य का प्रभाव बनारस पर भी पड़ा और यहाँ की शिक्षा पर तो इसका प्रभाव पड़ा ही, किन्तु फिर भी बनारस का अस्तित्व शिक्षा-केन्द्र के रूप में बना ही रहा।

२—तक्षशिला

प्राचीन भारत की संस्कृति और शिक्षा का केन्द्र तक्षशिला गान्धार प्रान्त की राजधानी थी। अत्यन्त प्राचीन समय में तक्षशिला ब्राह्मणीय शिक्षा-केन्द्र के रूप में

प्रतिष्ठित थी। तक्षशिला के बारे में रामायण में वर्णन मिलता है कि भरत ने इसको अपने पुत्र 'तक्ष' के नाम पर बसाया था। कुछ भी हो, तक्षशिला की ख्याति सहस्रों वर्ष तक विदेशों तक में रही और अनेक विदेशी छात्र यहाँ पर विद्याध्ययन के लिए आते रहे।

तक्षशिला में भी किसी व्यवस्थित विश्वविद्यालय के होने का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यहाँ पर सहस्रों विद्वान शिक्षकों द्वारा शिक्षा का कार्य व्यक्तिगत रूप से सम्पादित होता रहता था और तक्षशिला की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति इन्हीं शिक्षकों की विद्वत्ता के कारण ही थी।

तक्षशिला की भौगोलिक स्थिति के कारण इसे अपने दीर्घकालीन वैभव के मध्य अनेक उत्थान और पतन देखने पड़े। इस पर अनेक आक्रमण हुए। इन आक्रमणों के फलस्वरूप परिवर्तित राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव शिक्षा-क्षेत्र में भी पड़ा और शिक्षा का रूप भी स्वभावतः परिवर्तित होता रहा। ई० पू० छठीं शताब्दी में पारसियों ने ई० पू० दूसरी शताब्दी में भारतीय यूनानियों ने तथा ई० पू० प्रथम शताब्दी में कुशान और शकों ने तक्षशिला पर आक्रमण कर अपना आधिपत्य स्थापित किया। किन्तु इन आक्रमणकारी भूचालों के मध्य तक्षशिला गिरती-उठती अपना अस्तित्व किसी न किसी रूप में बनाए रखने मे समर्थ रही। किन्तु भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क का प्रभाव शिक्षा पर पड़ा और फारसी-संस्कृति के प्रभावस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी तक्षशिला में न रह पायी और तक्षशिला में ग्रीक भाषा की भी शिक्षा दी जाने लगी।

तक्षशिला के पाठ्य विषयों में जो १८ 'शिल्प' थे उनमें यूनानी शिल्पकला भी सम्मिलित थी। तक्षशिला उच्च शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थी। सोलह वर्ष की आयु में छात्र तक्षशिला में जाया करते थे। यहाँ उनको, सैनिक-विद्या, ज्योतिष-विद्या, चिकित्सा-विद्या, वेदान्त तथा व्याकरण आदि का अध्ययन कराया जाता था। तक्षशिला में अनेक ऐसे विद्वान थे जो अपने विषय पर पूर्ण ज्ञान तथा अधिकार रखते थे। इनके संरक्षण में ही विद्यार्थी विषय-विशेष की विशेषीकृत शिक्षा ग्रहण किया करते थे। व्याकरण-पितामह पाणिनि, चिकित्सा-शास्त्र के प्रसिद्ध वेत्ता जीवक ने यहीं शिक्षा पायी थी। चिकित्सा-विद्या के अध्ययन में सात वर्ष का समय लगता था। जीवक ने यहाँ सात वर्ष रहकर अपनी शिक्षा पूरी की थी। अर्थशास्त्र के लेखक तथा प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ चाणक्य ने भी इसी विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। तक्षशिला भारतीय युद्ध-विद्या के लिए प्रसिद्ध था, किन्तु यहाँ पर ग्रीक-युद्ध के भी प्रशिक्षण की व्यवस्था थी।

सैकड़ों वर्षों तक तक्षशिला ने अपने ज्ञानपुंज द्वारा स्वदेश को ही नहीं, वरन् अन्य देशों को भी आलोकित किया। तक्षशिला की ज्ञान-ज्योति अनेक आक्रमण-कारी विघ्नों के बीच विकट झंझावतों के उत्थान-पतन के मध्य प्रज्ज्वलित रही। किन्तु अन्त में तक्षशिला को हूणों ने विनष्ट करके वहाँ से प्रकाशित ज्ञान-ज्योति को सदा के लिए बुझा दिया।

३—नालन्दा

बिहार प्रदेश में राजगृह से सात मील उत्तर तथा पटना से ४० मील दक्षिण-पश्चिम की ओर आज भी प्राचीन नालन्दा विहार के ध्वंसावशेष अपनी पूर्व श्री को विकीर्ण अवस्था में लिए विद्यामान हैं। नालन्दा प्रारम्भ में एक छोटा-सा गाँव था, किन्तु यह किस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का विश्वविद्यालय बन गया था। नालन्दा विश्वविद्यालय के भवन के अनुमान के लिए चित्र नं० ८ देखिए। इस विश्वविद्यालय की कुछ विशेषताओं की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

१. नालन्दा जैन तथा बौद्ध दोनों ही धर्मों के अनुयायियों का प्रिय स्थान रहा। जैन साहित्य के आधार पर महावीर के यहाँ ४० वर्षा ऋतुओं के व्यतीत करने का वर्णन मिलता है। भगवान बुद्ध ने भी यहाँ पर कई बार धार्मिक उपदेश दिये। महायान सम्प्रदाय के समय में नालन्दा ने विशेष उन्नति की।
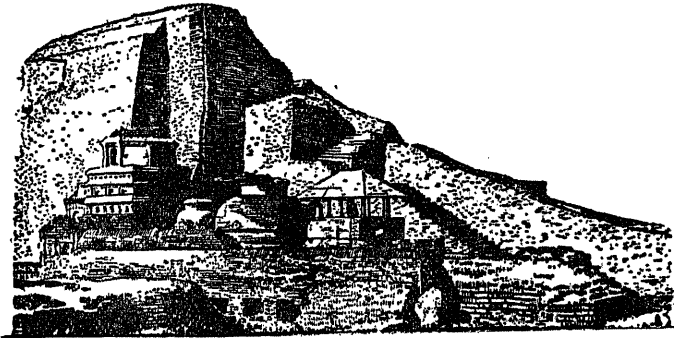
चित्र नं० ८—नालन्दा विश्वविद्यालय

२. चीनी यात्री हुएनत्सांग के अनुसार ५०० व्यापारियों ने दस करोड़ स्वर्ण मुद्राओं में नालन्दा विहार की भूमि खरीद कर भगवान बुद्ध को दी थी। अनेक राजाओं ने यहाँ पर संघाराम बनवाए।

हुएनत्सांग ने ६ राजाओं के नाम दिए हैं। कुमारगुप्त प्रथम, बुद्धगुप्त, बालादित्य, तथागत गुप्त, बजु और हर्ष। पाल वंश के राजाओं ने भी नालन्दा की उन्नति में अनेक रूप से सहायता की। नवीं शताब्दी में जब सुवर्णाद्वीप के राजा बालपुत्र देव नालन्दा के सुयोग्य विद्वानों द्वारा प्रभावित हुए। उस समय भगवान बुद्ध के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए सांसारिक वैभव को निस्सार समझ कर नालन्दा विहार को ६ गांव दिए।

३. नालन्दा बुद्ध भगवान के प्रिय शिष्य 'सारी पुत्त' की जन्म-भूमि थी। अशोक ने जब सारी पुत्त का चैत्य देखा तब उसने यहाँ पर एक विहार का निर्माण कराया। नालन्दा विहार का प्रथम संस्थापक अशोक को ही कहा जाता है।

४. प्रसिद्ध विद्वान यहाँ रहते थे तथा अनेक प्रान्तों से प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी आकर यहाँ विद्याध्ययन करते थे। नागार्जुन और उनके शिष्य आचार्य देव ने भी नालन्दा को गौरवान्वित किया और वहाँ पर कुछ काल तक रहे?

नालन्दा में जो अनेक मठ अनेक राजाओं द्वारा बनवाए गये, वे एक चहारदीवारी से घिरे थे, जिसमें दक्षिण की ओर एक प्रवेश-द्वार था, जहाँ पर ही द्वार-पण्डित का

चित्र नं० ६—नालन्दा विश्वविद्यालय (इस चित्र द्वारा विश्वविद्यालय भवन के कमरों, बरामदों, आँगन तथा कुओं आदि का अनुमान हो सकता है)।

निवास स्थान था और यहीं पर वह प्रवेश परीक्षा लेता था। नालन्दा की खुदाई से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि नालन्दा विहार के लगभग सभी भवन, विशाल, भव्य एवं कलात्मक थे। प्रवेश-द्वार के भीतर जाते ही उन आठ बड़े सभा मण्डपों के दर्शन होते थे जहाँ पर विद्यार्थियों को सामूहिक भाषण दिए जाया करते थे। इनके अतिरिक्त छोटे परिमाण के ३०० अध्ययन कक्ष अलग थे जिनमें विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। प्राचीन भारत की वास्तु-कला की उच्चतम अभिव्यक्ति नालन्दा विहार में देखने को मिलती थी। सभी भवन एक पूर्व निश्चित योजना के अन्तर्गत निर्मित हुए थे। मुख्य भवन की ऊँची-ऊँची गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ थीं। भवन कई खण्डों के थे और इनके गुम्बद तथा मीनारें अवश्य बहुत ऊंची रही होंगी। विश्वविद्यालय के सुरम्य प्रांगण में स्वच्छ जल-पूरित कई विशाल सरोवर भी थे जिनमें नील कमल कनक पुष्पों के सम्मिलन द्वारा शोभा बढ़ाते थे। ईत्सिंग ने १० ऐसे सरोवरों का वर्णन किया है जिनमें विद्यार्थी जलक्रीड़ा करते थे। चित्र नं० ६ देखिये।

विद्यार्थियों के लिए वहीं रहने की भी व्यवस्था थी। छात्रावासों के भवन लगभग दो खण्ड के होते थे। छात्रावास के कमरे दो प्रकार के होते थे। एक प्रकार के कमरों में केवल एक ही विद्यार्थी के रहने की व्यवस्था थी तथा दूसरे प्रकार के कमरों में दो विद्यार्थी एक साथ रह सकते थे। प्रत्येक कमरे में पुस्तकें, दीप आदि रखने की उचित व्यवस्था के साथ-साथ एक पत्थर की चौकी बनी रहती थी जिस पर विद्यार्थी शयन करता रहा होगा। जल-प्राप्ति की सुगमता के लिए प्रत्येक भवन में एक कुआँ बना होता था। छात्रावासों में विद्यार्थियों के भोजन की सामूहिक व्यवस्था थी जिसके प्रमाणस्वरूप बड़े-बड़े चूल्हे वहाँ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः उच्च श्रेणी के भिक्षुओं को अधिक सुविधाएं प्रदान की जाती थीं। भोजन तथा निवास के लिए भिक्षु विद्यार्थियों को किसी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ता था। इस प्रकार हुएनत्सांग के समय में नालन्दा भारत का सबसे प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र था।

(अ) शिक्षक

नालन्दा में शिक्षकों की संख्या हुएनत्सांग के समय में लगभग १,५१० थी और योग्यतानुसार ये शिक्षक तीन श्रेणियों के माने जाते थे। प्रथम श्रेणी के आचार्य ५० सूत्र तथा शास्त्र ग्रन्थों के संग्रहों की व्याख्या कर सकने में समर्थ होते थे। ऐसे शिक्षक उस समय में १० थे जिनमें से हुएनत्सांग भी एक था। द्वितीय श्रेणी के शिक्षक ३० संग्रहों की व्याख्या कर सकने की क्षमता रखते थे और इस श्रेणी के

शिक्षकों की संख्या उस समय ५०० थी। तृतीय श्रेणी के आचार्य २० संग्रहों की व्याख्या करने की योग्यता रखते थे। ऐसे शिक्षक उस समय १,००० थे।

शीलभद्र, जिन्होंने समस्त सूत्रों और शास्त्रों के संग्रहों का अध्ययन किया था और वे उनकी व्याख्या भी अच्छी तरह कर सकते थे, विश्वविद्यालय के प्रधान थे। हुएनत्सांग के वर्णन के अनुसार अन्य कोई व्यक्ति शीलभद्र की योग्यता की समता नहीं कर सकता था। इसलिए विश्वविद्यालय के विद्वान उनका आदर करते थे। विश्वविद्यालय के अन्य अनेक शिक्षक भी अपनी विद्वता के कारण प्रसिद्ध थे। चन्द्रपाल, जिनमित्र, धर्मपाल, नागार्जुन स्थिरमति, ज्ञानमति, आदि प्रमुख विद्वान् आचार्यों का ज्ञान अपरिमित था। नालन्दा की ख्याति का वास्तविक श्रेय इन प्रसिद्ध विद्वान आचार्यों को ही था।

(ब) निःशुल्क शिक्षा

नालन्दा विश्वविद्यालय में छात्रों के भोजन-वस्त्र से लेकर रहने और औषधि आदि तक का उत्तरदायित्व विश्वविद्यालय पर ही रहता था। शिक्षा के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। छात्रों को विद्याध्ययन के अतिरिक्त किसी प्रकार की चिन्ता न रहती थी और इसी आर्थिक निश्चिन्तता को हुएनत्सांग ने उनकी सफलता का मुख्य कारण बताया है। सहस्रों की संख्या में छात्र, आचार्य और अतिथि यहाँ उपस्थित रहते थें। हुएनत्सांग की जीवनी लिखने वाले श्रमण ली ने नालन्दा विश्वविद्यालय में 'नवागन्तुक और आवासिकों की संख्या १०,००० बतलाई। डा० अलतेकर के अनुसार विश्वविद्यालय को छात्र-संख्या ७ वीं शती में ५,००० के लगभग थी। ईत्सिंग के समय में ३,००० छात्रों के भोजन, निवास आदि का प्रबन्ध संघ द्वारा होता था।

नालन्दा विश्वविद्यालय का क्षेत्र विदेशों तक विस्तृत था। सुदूर देशों के प्रतिभावान व्यक्ति अपनी ज्ञान वृद्धि के लिए यहाँ आते थे। चीन मंगोलिया, तिब्बत, तथा कोरिया आदि के अनेक ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक छात्र यहाँ आकर अपनी ज्ञान पिपासा को तृप्त किया करते थे। विश्वविद्यालय के उच्चतम् आदर्श को बनाए रखने के लिए बहुत कठिन प्रवेश परीक्षा की व्यवस्था थी जिसमें लगभग २० प्रतिशत विद्यार्थी ही सफल हो पाते थे। केवल सफल विद्यार्थी ही विश्वविद्यालय में प्रवेश पाते थे, फिर भी विश्वविद्यालय की छात्र संख्या दस सहस्र थी। विदेशी विद्वान भी प्रवेशक परीक्षा में असफल होकर अपने देश को लौट जाते थे।

उच्च शिक्षा के अतिरिक्त विश्वविद्यालय में माध्यमिक श्रेणी की शिक्षा भी दी जाती थी। संघ के नवीन भिक्षु, ब्रह्मचारी तथा मानवों की शिक्षा आरम्भ की

अवस्था अवश्य कम रही होगी और इनके लिए प्रवेशक परीक्षा का प्रबन्ध न रहा होगा। संघ के सामान्य नियमों के अनुसार इनके आचरण की परीक्षा अवश्य होती थी जिससे अशुद्ध आचरण वाले संघ में न प्रवेश पा सकें।

(स) पाठ्य विषय

नालन्दा विश्वविद्यालय में ब्राह्मण तथा बौद्ध धर्म ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य प्रमुख भौतिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। महायान सम्प्रदाय का प्रमुख स्थान होते हुए भी यहाँ हीनयान सम्प्रदाय के छात्रों की उपेक्षा नहीं की जाती थी। दस वर्ष तक यहाँ रह कर शिक्षा प्राप्त करने वाला ईत्सिंग स्वयं हीनयान सम्प्रदाय का प्रबल समर्थक था। हुएनत्सांग ने यहाँ पर रहकर, योगशास्त्र, हेतु-विद्या, शब्द-विद्या, व्याकरण, दर्शन तथा ज्योतिष आदि का अध्ययन किया था।

नालन्दा के भौतिक विषयों में इन सभी ज्ञान-विज्ञानों का समावेश था। विविध विषयों से सम्बन्धित प्रायः १,००० व्याख्यान यहाँ प्रतिदिन दिए जाया करते थे। रात्रि के शयन करते समय को छोड़ कर प्रायः पूरे समय में अध्यापन और अध्ययन-कार्य चलता रहता था। व्याख्यानों में छात्रों की उपस्थिति अनिवार्य थी, किन्तु छात्र स्वयं भी एक क्षण के लिए व्याख्यान होते समय अनुपस्थित रहना स्वीकार नहीं कर सकते थे। नालन्दा विश्वविद्याल के स्नातकों की ख्याति इतनी फैल गयी थी कि कुछ सामान्य लोग अपने को यहाँ का झूठा स्नातक बता कर इससे लाभ उठाया करते थे।

(द) अध्यापन-पद्धति

मौखिक तथा पुस्तक की व्याख्या, व्याख्यान और शास्त्रार्थ ये तीन शिक्षण-पद्धतियाँ विश्वविद्यालय में प्रचलित थीं। मौखिक पद्धति के अनुसार विद्यार्थियों को पुस्तकों का पाठ दिया जाता था। छात्र उनका व्याख्यासहित अध्ययन करते और आचार्य को सुनाते थे। जो अंश सहज बुद्धिगम्य नहीं होते थे, उनकी विशद व्याख्या की जाती थी। प्रश्नोत्तर द्वारा शंका-समाधान होता था। व्याख्यान-पद्धति में विषय विशेष के विद्वान अलग-अलग विषयों पर व्याख्यान देते थे। शंका होने पर व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् विद्यार्थी व्याख्यान करने वालों से प्रश्न भी करते थे।

शास्त्रार्थ-पद्धति के अन्तर्गत विद्वान लोग विषय-विशेष पर शास्त्रार्थ करते थे। शास्त्रार्थ-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। चीनी यात्रियों के अनुसार आचार्यों का अधिकांश समय शास्त्रार्थ में ही व्यतीत हो जाता था

और गम्भीर प्रश्नों के पूछने और उत्तर देने के लिए दिन का समय पर्याप्त न था।

(ध) प्रबन्ध

संघ द्वारा नियुक्त दो सभाओं के परामर्श से विश्वविद्यालय का प्रबन्ध कुलपति अथवा अध्यक्ष द्वारा किया जाता था। अध्यक्ष और कुलपति समस्त भिक्षुओं द्वारा निर्वाचित किए जाते थे। इस पद के लिए वे ही भिक्षु उपयुक्त थे जिनके आचरण, विद्वत्ता और अनुभव को संघ के सभी भिक्षु स्वीकार करते हों। अध्यक्ष की दोनों परामर्शदात्री समितियों की कार्य-प्रणाली निम्न प्रकार थी।

पहली समिति शिक्षा-सम्बधी समस्त बातों में अध्यक्ष को उचित सलाह देती थी। विश्वविद्यालय के प्रवेश, पाठ्य विषय, शिक्षकों का कार्यक्रम आदि कामों में यह सभा परामर्श देती थी। उन दिनों छापाखाने न होने के कारण पुस्तकालय का महत्त्व बहुत था। प्राचीन पुस्तकालयों का रूप प्रायः आजकल के पुस्तकालयों से सर्वथा भिन्न था। पुस्तकालय पर ही पुस्तकों के संग्रह, संरक्षण तथा प्रकाशन का भी भार था। अतः विभिन्न छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक पुरानी पुस्तकों को नया रूप देना पड़ता था तथा उनकी प्रतिलिपियाँ भी करानी पड़ती थीं। इन सभी कामों का भार पुस्तकालय की प्रबन्ध-समिति पर ही था। पुस्तकों की प्रतिलिपि बनाते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता था कि प्रतिलिपि गलत तो नहीं बन रही है। इस कार्य का सम्पादन प्रायः अध्यापकों और छात्रों द्वारा होता था, किन्तु प्रतिलिपि बनाने के लिए अन्य कार्यकर्त्ता भी रहते थे। पुस्तकालय का उपर्युक्त समस्त कार्य-संचालन इसी प्रथम समिति द्वारा होता था।

दूसरी समिति का सम्बन्ध विश्वविद्यालय की आर्थिक व्यवस्था और प्रशासन से था। विश्वविद्यालय के साथ २०० गाँव लगे हुए थे। इन गाँवों की देख-रेख, उसकी उपज की ठीक व्यवस्था करना इसी समिति का कार्य था। विश्वविद्यालय के दस सहस्र विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध करना कोई सरल काम नहीं था। फिर भी आर्थिक व्यवस्था को इस प्रकार से ठीक रखा जाता था कि दैनिक आवश्यकता की सभी वस्तुएँ हर समय उपलब्ध रहती थीं। विश्वविद्यालय के नए भवनों को बनवाना, छात्रावासों में छात्रों के निवास की उचित व्यवस्था करना, प्राचीन भवनों की देख-रेख करना तथा भिक्षुओं के वस्त्र और पाठ्य-सामग्री की व्यवस्था का भार इस समिति पर ही था।

विश्वविद्यालय म संघ द्वारा निर्वाचित भिक्षु भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे और विश्वविद्यालय के समस्त कार्य इन्हीं विभागाध्यक्षों के संरक्षण में ही

सम्पन्न होते थे। छात्रों के भी अपने संघ थे। अपराधी छात्रों के दण्ड की व्यवस्था विद्यार्थियों के संघ द्वारा ही होती थी। छात्रावास में भी अपने विभागाध्यक्ष के द्वारा निर्देशित छात्र ही स्वयं सब प्रबन्ध करते थे। अध्यापक उन सभी कामों को विद्यार्थियों के उत्तरदायित्व पर छोड़ देते थे जिनके सम्पादन द्वारा छात्रों में स्वावलम्बन की वृद्धि हो। साथ ही आचार्य की योग्यता और उच्चता का प्रतिपादन छात्रों द्वारा होता था। इस प्रकार विश्वविद्यालय का सारा प्रबन्ध जनतन्त्रात्मक प्रणाली के अन्तर्गत होता था।

नए भिक्षुओं की अपेक्षा पुराने भिक्षुओं को अधिक सुविधाएँ प्राप्त थीं। विश्वविद्यालय का सारा कार्य अध्यापकों और विद्यार्थियों के मिले-जुले प्रयत्नों और सहयोग द्वारा अत्यन्त सुचारु रूप से होता रहता था। फलतः ७०० वर्ष तक इस विश्व-विद्यालय के सजीव रहने पर भी कोई ऐसी घटना का विवरण नहीं मिलता जिसके द्वारा इस बात का प्रमाण मिल सके कि कभी भी विद्यार्थियों और अध्यापकों में सहयोग की कमी आई हो या विद्यार्थियों में अनुशासन का अभाव रहा हो।

(न) पुस्तकालय

नालन्दा विश्वविद्यालय की विशालता के अनुकूल ही यहाँ का पुस्तकालय भी विशाल था। रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक नामक तीन विशाल भावनों में पुस्तकालय की व्यवस्था थी और इस भाग को धर्मगंज कहा जाता था। 'रत्न सागर' में अप्राप्त बहुमूल्य पुस्तकें संगृहीत थीं। इसका भवन दो खण्डों का था। सम्भवतः भारत पर मुसलमानों के आक्रमण के बाद तक नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के कुछ भाग शेष थे। विदेशों के विद्वान इस पुस्तकालय की पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ बना कर अपने देश ले जाया करते थे। हम कह चुके हैं कि हुएनत्सांग ने ४०० पुस्तकें अपने देश ले जाने के लिए यहाँ से संगृहीत की थीं।

४—विक्रमशिला

पाल वंश के सम्राट् धर्मपाल ने विक्रमशिला विहार की स्थापना ८ वीं शताब्दी में की। यह उत्तरी मगध में एक पहाड़ी चट्टान पर गंगा के कूल पर स्थित था। विक्रमशिला विहार के भवनों का निर्माण एक योजना के अन्तर्गत हुआ जान पड़ता है। विहार को चारों ओर से घेरे एक दृढ़ प्राचीर खड़ी थी जिसके मध्य में महाबोधि का एक विशाल मंदिर था। इस मंदिर के अतिरिक्त अन्य मंदिर भी थे जिनकी संख्या लगभग १०८ के थी। भवनों की प्राचीरों पर विख्यात आचार्यों के चित्र बने हुए थे।

विक्रमशिला में अनेक विद्वान शिक्षक थे। इन आचार्यों की संख्या १०८ थी और ६ अन्य विद्वान मन्दिरों की देख-भाल के लिए नियुक्त थे। इस प्रकार ११४

विद्वान विश्वविद्यालय में थे। इन आचार्यों की विद्वत्ता के कारण इस विद्यालय की ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक फैल गई। तिब्बत से लगभग ४०० वर्ष तक विद्यार्थी यहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आया करते थे। विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध विद्वान दीपंकर ने भी तिब्बत जाकर धर्म-प्रचार का कार्य किया था।

परम विद्वान और पूर्ण धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्ति का बड़ी सतर्कता के साथ प्रधान अथवा कुलपति के पद के लिए निर्वाचन होता था। विश्वविद्यालय का प्रबन्ध एक समिति द्वारा होता था। भिन्न-भिन्न कार्य विभिन्न अधिकारियों के हाथ में थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए नवागन्तुक छात्र को परीक्षा देनी पड़ती थी। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही विश्वविद्यालय में प्रवेश सम्भव था। प्रमुख भवन के प्रमुख द्वारों पर 'द्वार पण्डित' रहते थे, वे ही प्रवेश परीक्षा लिया करते थे। द्वार पण्डित विशेष विषय का विशेषीकृत ज्ञान रखते थे और विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा बनाए रखने में इनका योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। विश्वविद्यालय में लगभग ३,००० छात्र १२ वीं शताब्दी में विद्याध्ययन करते थे। यहाँ के पुस्तकालय में असंख्य बहुमूल्य पुस्तकें थीं जिनको देख मुसलमान आक्रमणकारी भी दंग रह गए थे।

इस विश्वविद्यालय में प्रायः भौतिक विषयों के शिक्षण की व्यवस्था विशेष रूप से थी। कर्मकाण्ड, व्याकरण, तर्क, तंत्र तथा दर्शन आदि प्रमुख विषय यहाँ पढ़ाये जाते थे। ऐसा भी पता लगता है कि यहाँ के स्नातकों को प्रमाण-पत्र भी दिए जाते थे। तत्कालीन किसी भी शिक्षा-संस्था में इस प्रकार की व्यवस्था न थी। अतः यह प्रमाणित होता है कि इस विश्वविद्यालय की शिक्षण-पद्धति अन्य विश्वविद्यालय की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित थी। कालान्तर में तान्त्रिक विद्या का प्रभाव शिक्षण-क्षेत्र में अधिक बढ़ जाने के फलस्वरूप कुछ घातक परिणाम भी हुए। किन्तु दीर्घ काल तक विक्रमशिला द्वारा दूर-दूर तक ज्ञान का प्रकाश फैलता रहा। तेरहवीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रमणकारी बख्तियार खिलजी ने इस प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र को नष्ट कर डाला। पुस्तकालय की समस्त पुस्तकों को अग्नि के मुँह में झोंक दिया। विश्वविद्यालय को सैनिक गढ़ समझकर समस्त ब्राह्मणों को कत्ल करवा दिया। विश्वविद्यालय का अधिष्ठाता श्रीभद्र भाग कर तिब्बत चला गया और वहाँ धर्म प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार इस 'शिक्षा सम्राज्ञी' विक्रमशिला का अन्त हो गया।

५—वलभी

बौद्ध कालीन भारत का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र वलभी आधुनिक काठियावाड़ के निकट भारत के पश्चिमी किनारे पर स्थित मैत्रक राजाओं की राजधानी के रूप

में ४७५ से ७७५ तक रहा । इस प्रमुख शिक्षा-केन्द्र की ख्याति नालन्दा के समान दूर-दूर तक फैली थी । वलभी के स्नातकों का सम्मान नालन्दा के स्नातकों के समान ही किया जाता था । हुएनत्सांग के समय में वलभी अपनी उत्कृष्ट उन्नति पर था । यहाँ पर विशाल मठ और विहार थे जिनमें लगभग ६,००० श्रमण रहते थे । देश के प्रत्येक प्रान्त से विद्यार्थी यहाँ विद्याध्ययन के लिए आते थे । यहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी राज-दरबारों में उच्च पद अथवा मान प्राप्त करते थे । इससे स्पष्ट है कि यह धार्मिक शिक्षा का ही केन्द्र नहीं था, वरन् यहाँ पर राजनीति, अर्थ-शास्त्र तथा चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा भी दी जाया करती थी ।

विश्वविद्यालय की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति दो प्रकार से होती थी; एक तो वलभी व्यापारिक केन्द्र होने के कारण यहाँ अनेक धनी व्यापारी निवास करते थे । उनके द्वारा विश्वविद्यालय को आर्थिक संरक्षण प्राप्त था । दूसरे मैत्रक सम्राटों द्वारा समय-समय पर आर्थिक योग प्राप्त हुआ करता था । अन्य विश्व-विद्यालयों की भाँति यहाँ पर भी सुसम्पन्न पुस्तकालय था । गुहसेन के दान-पत्र में पुस्तकें खरीदने के आदेश का उल्लेख मिलता है । इस विश्वविद्यालय द्वारा लग-भग १२ वीं शताब्दी तक शिक्षा-प्रसार का कार्य सम्पन्न होता रहा । तत्पश्चात् यह पश्चिम भारत का मुख्य शिक्षा-केन्द्र विदेशी आक्रमणकारियों का कोप-भाजन बन कर नष्ट हो गया ।

६—ओदन्तपुरी

इस विश्वविद्यालय के बारे में बहुत कम ज्ञात है । कदाचित् पाल वंश के अस्तित्व में आने से पूर्व यह प्रमुख विश्वविद्यालय स्थापित हो चुका था । पाल वंश के सम्राटों ने इस विश्वविद्यालय का और विस्तार करने में योग दिया और एक सुसम्पन्न पुस्तकालय स्थापित किया जिसमें बौद्ध तथा ब्राह्मण साहित्य की बहुमूल्य पुस्तकें संगृहीत थीं । यद्यपि इस विश्वविद्यालय की ख्याति नालन्दा और विक्रमशिला के समान न हो सकी, फिर भी यहाँ पर लगभग १,००० भिक्षु निवास तथा विद्याध्ययन करते थे । प्रायः तिब्बत के विद्यार्थी यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करते थे । तिब्बत का प्रथम विहार इसी के आधार पर सन् ७४९ ई० में निर्मित हुआ । बौद्ध धर्म के प्रचार करने में ओदन्तपुरी का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा ।

७—जगद्दली

बंगाल के पाल वंश के सम्राट् रामपाल ने ११ वीं शताब्दी में रामवती नामक एक नई नगरी गंगा के किनारे पर बसाई और एक विहार की स्थापना

की जिसको उसने जगद्दली नाम दिया। लगभग १०० वर्ष तक यह एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध रहा। तदुपरान्त १२०३ ई० में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने इसको नष्ट कर डाला। यहा पर कई सुविख्यात विद्वान आचार्य थे जिनमें दानशील, मोक्षाकर गुप्त, सुधाकर और विभूति चन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तिब्बत के विद्यार्थियों ने यहाँ रह कर संस्कृत ग्रन्थों को तिब्बती भाषा में अनूदित किया। साथ ही दानशील और विभूति चन्द्र ने भी संस्कृत ग्रन्थ तिब्बती भाषा में अनूदित कर महापण्डित की उपाधि प्राप्त की। मोक्षाकर गुप्त और सुधाकर ने क्रमशः न्याय तथा तन्त्र पर कुछ ग्रन्थों की रचना की जिनका आगे चल कर तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया।

८—नदिया

नवद्वीप या नदिया की बंगाल के सेन राजाओं ने गंगा तथा जलांगी के संगम पर ११ वीं शताब्दी में नींव डाली और राजा लक्ष्मणसेन ने इसको अपनी राजधानी बनायी। व्यापारिक महत्त्व के कारण भी नदिया बहुत समय तक प्रसिद्ध रहा। इसके प्राचीन भग्नावशेष अब तक नदिया की प्राचीन गौरव-गाथा के प्रहरी के रूप में विद्यमान हैं। पाल वंश के सम्राटों का भी संरक्षण सम्भवतः इसे प्राप्त था। अनेक प्रसिद्ध विद्वानों ने यहाँ पर जन्म लिया। स्वयं लक्ष्मणसेन का प्रधान मंत्री प्रसिद्ध विद्वान था। 'स्मृति सर्वस्व', 'मीमांसा सर्वस्व' और 'ब्राह्मण सर्वस्व' आदि ग्रन्थों का रचयिता इसी को बताया जाता है। प्रधान मंत्री हलायुध के बड़े भाई ने पशुपति पद्धति नामक ग्रन्थ लिखा था। सुप्रसिद्ध कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' की वाणी अब तक यहाँ गूँजती है। यहाँ पर उमापति, धोमी तथा शूलपाणि आदि ऐसे अन्य ग्रन्थकार हुए जिनमें साहित्य के अतिरिक्त न्यायशास्त्र पर 'स्मृति के विवेक' के रचयिता भी सम्मिलित हैं। नदिया का महत्त्व नालन्दा और विक्रमशिला के पतन के पश्चात् बहुत बढ़ गया। मुस्लिम काल में भी नदिया हिन्दू शिक्षा का प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र बना रहा।

मिथिला में विद्यार्थियों को पुस्तक रटाने तथा उसकी प्रतिलिपि या अनुवाद करने की अनुमति न थी। यहाँ के स्नातकों को केवल प्रमाण-पत्र ही मिल पाता था। मिथिला के एक विद्यार्थी वासुदेव सार्वभौम ने 'तत्व चिन्तामणि' को कंठस्थ कर लिया था। उसने ही नदिया में तर्कशास्त्र का सूत्रपात किया। फिर आगे चलकर उसी के शिष्य रघुनाथ शिरोमणि ने नदिया में न्याय की एक नवीन विचारधारा प्रतिपादित की तथा न्याय-शास्त्र के अध्ययन के लिए एक नया विभाग स्थापित

किया। इस प्रकार नदिया न्याय-शास्त्र की शिक्षा के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हो गया। न्याय-विभाग में अनेक विद्वान आचार्य थे, जिनमें गदाधर भट्टाचार्य, रामभद्र, मथुरानाथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

न्याय के साथ-साथ नदिया में स्मृति की शिक्षा की व्यवस्था भी थी। स्मृति की शिक्षा को प्रारम्भ करने वाले विद्वान रघुनन्दन की ख्याति उस समय (१७ वीं शती) में बहुत थी। कृष्णानन्द वागीश ने नदिया में तन्त्र-शिक्षा के लिए एक अलग विभाग स्थापित किया। ज्योतिष-विभाग की स्थापना करने वाले आचार्य रामभद्र विद्यानिधि थे।

विश्वविद्यालय में शिक्षक की नियुक्ति उसकी विद्वत्ता के साथ-साथ वाद-विवाद में दक्षता पर आधारित थी। शिक्षण में भी वाद-विवाद-पद्धति प्रचलित थी। दो शिक्षकों के विशेष विषय पर वाद-विवाद को छात्र सुनते तथा उसमें स्वयं भी भाग लेते थे। विश्वविद्यालय में शिक्षा नवद्वीप, गोपाल पाड़ा, शान्तिपुर तीन केन्द्रों में दी जाती थी। किसी-किसी छात्र का अध्ययन-काल २० वर्ष तक का होता था। सन् १६८० ई० में विश्वविद्यालय की छात्र-संख्या ४,००० और अध्यापकों की संख्या ६०० थी।

६—मिथिला

मिथिला का औपनिषदिक नाम विदेह था। अति प्राचीन काल से विदेह ब्राह्मणीय शिक्षा का केन्द्र था। औपनिषदिक काल में राजर्षि जनक यहाँ धार्मिक शास्त्रार्थ किया करते थे। शास्त्रार्थ में भाग लेने के लिए देश के सुदूर प्रान्तों के विद्वान यहाँ एकत्र होते थे। बौद्ध काल में भी इस शिक्षा-केन्द्र का पर्याप्त महत्त्व रहा। बंगाल और बिहार को अपनी सरस वाणी द्वारा प्रेरणा प्रदान करने वाले कवि मैथिलकोकिल विद्यापति का जन्म यहीं हुआ था। यहीं के एक विद्वान जगद्धर ने मेघदूत, गीता, देवी महात्म्य, गीत गोविन्द, मालती माधव आदि ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी थीं।

इस शिक्षा-केन्द्र में साहित्य और ललित कलाओं के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। बारहवीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक न्याय शास्त्र के कई विद्वानों ने इस शिक्षा-केन्द्र की ख्याति को देश के प्रत्येक कोने में प्रसारित किया। पंडित गंगेश उपाध्याय ने 'नव्य न्याय' के नाम से एक नवीन संस्था को जन्म दिया तथा 'तत्व चिन्तामणि' की रचना कर न्याय-साहित्य के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इनके पुत्र वर्धमान भी न्याय-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने न्याय-शास्त्र पर ८ पुस्तकों की रचना की। इन विद्वानों के

अतिरिक्त मिथिला को गौरवान्वित करने वाले विद्वानों में पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, महेश ठाकुर का नाम अग्रगण्य है। मिथिला तर्क तथा न्याय-शास्त्र की शिक्षा के लिए भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध था। मुगल सम्राट् अकबर के समय में भी इस शिक्षा-केन्द्र की बड़ी ख्याति थी। महेश ठाकुर के शिष्य रघुनन्दन दास ने सम्राट् की आज्ञा लेकर देश के अनेक प्रान्तों में अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया था। इसके फलस्वरूप सम्राट् की ओर से इस विद्वान को मिथिला की समस्त भूमि दे दी गई थी। मिथिला में स्नातकों की अन्तिम परीक्षा बहुत कठिन होती थी। इस परीक्षा को 'शलाका' परीक्षा के नाम से कहा जाता था। 'शलाका' परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही स्नातकों को उपाधि दी जाती थी।

सारांश

शिक्षा-केन्द्र, उनकी शिक्षा-पद्धति और विद्वान

१—बनारस

पूर्वी भारत का शिक्षा-केन्द्र ब्राह्मणीय शिक्षा की व्यवस्था भी थी। शिक्षण-पद्धति व्यक्तिगत थी। कोई सुव्यवस्थित शिक्षा-संस्था नहीं थी।

२—तक्षशिला

गाँधार प्रान्त की राजधानी तथा प्राचीन भारत का सांस्कृतिक और शिक्षा केन्द्र। सहस्रों विद्वान व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे। शिक्षा-केन्द्र की ख्याति शिक्षकों की विद्वत्ता के कारण थी। तक्षशिला पर पारसियों, यूनानियों, कुशान और शकों ने आक्रमण किए। अठारह शिल्पों की शिक्षा यहाँ दी जाती थी। ज्योतिष चिकित्सा, व्याकरण, वेदान्त तथा सैनिक शिक्षा की व्यवस्था थी। ब्राह्मी के स्थान पर ग्रीक भाषा शिक्षा का माध्यम थी। यहाँ शिक्षा प्राप्त करने वाले प्रमुख विद्वान थे:—चाणक्य, पाणिनि तथा जीवक।

३—नालन्दा

बिहार प्रान्त की राजधानी। यह जैन और बौद्ध दोनों धर्मों के अनुयायियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा। बुद्ध के प्रिय शिष्य 'सारीपुत्त' की जन्मभूमि यही थी। यहाँ अनेक राजाओं द्वारा निर्मित अनेक मठ थे। विश्वविद्यालय में प्रवेशक-परीक्षा द्वारा प्रवेश होता था। विश्वविद्यालय के सभी भवन दृढ़ और सुन्दर थे। प्रांगण में पुष्पोयुक्त एक तड़ाग था। छात्रों के रहने और खाने की व्यवस्था की जाती थी। तीनों श्रेणी के शिक्षकों की संख्या हुएनत्सांग के समय में १५१० थी। शीलभद्र

विश्वविद्यालय के प्रधान थे। 'श्रमण ली' के अनुसार छात्र-संख्या १०,००० थी। योग-शास्त्र, हेतु-विद्या, न्याय, शब्द-विद्या, व्याकरण, दर्शन-ज्योतिष तथा बौद्ध और ब्राह्मण धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा दी जाया करती थी। व्याख्यान देने की प्रथा शिक्षकों में प्रचलित थी। मौखिक पद्धति का भी प्रचलन था। विश्वविद्यालय का प्रबन्ध दो समितियों के परामर्श द्वारा अध्यक्ष किया करता था। शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था एक समिति के हाथ में थी। पुस्तकालय का महत्त्व उन दिनों बहुत था। यहाँ के पुस्तकालय की व्यवस्था भी इसी समिति द्वारा होती थी। दूसरी समिति का सम्बन्ध विश्वविद्यालय के प्रशासन और आर्थिक व्यवस्था से था। छात्रों के अपने संघ होते थे। विभागाध्यक्षों को निर्वाचित किया जाता था। यहाँ के प्रसिद्ध विद्वानों के नाम ये हैं—चन्द्रपाल, जिनमित्र, धर्मपाल, नागार्जुन, स्थिरमति, ज्ञानमति, शीलभद्र आदि।

४—विक्रमशिला

विक्रमशिला विहार का संस्थापक धर्मपाल था। यहाँ मंदिरों की संख्या १०८ थी। विश्वविद्यालय में ११४ आचार्य थे। प्रधान को निर्वाचित किया जाता था। प्रवेशक-परीक्षा द्वारा ही प्रवेश होता था। बारहवीं शताब्दी में यहाँ ३,००० छात्र थे। कर्मकाण्ड, व्याकरण, तर्क, तन्त्र, दर्शन आदि प्रमुख विषय पढ़ाए जाते थे। स्नातकों को प्रमाण-पत्र दिए जाते थे। यहाँ एक सुव्यवस्थित पुस्तकालय भी था। १३ वीं शताब्दी में बख्तियार खिलजी ने इस विश्वविद्यालय को नष्ट कर दिया। दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत में धर्म-प्रचार किया तथा श्रीभद्र भी अन्त में भागकर तिब्बत चले गये थे।

५—वलभी

बौद्धकालीन भारत का मुख्य शिक्षा-केन्द्र और मैत्रक राजाओं की राजधानी। यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र भी था। विश्वविद्यालय की आर्थिक आय के साधन प्रमुख व्यापारी और मैत्रक राजा थे। यहाँ पर पुस्तकालय भी था। यहाँ पर ६,००० श्रमण रहते थे। राजनीति, अर्थशास्त्र, चिकित्सा आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

६—ओदन्तपुरी

यहाँ पर १,००० भिक्षु थे। पालवंश के राजाओं ने इसकी उन्नति में योग दिया। तिब्बत के छात्र यहाँ पढ़ने आते थे। मुख्यतः बौद्ध धर्म के प्रचार में इसका महत्त्व रहा।

७—जगद्दली

११ वीं शती में इस विहार की स्थापना रामपाल ने की। दानशील मोक्षाकर गुप्त, सुधाकर तथा विभूति चन्द्र प्रसिद्ध विद्वान यहाँ पर थे। विभूति चन्द्र ने संस्कृत

ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया। मोक्षाकर गुप्त और सुधाकर ने न्याय और तन्त्र पर ग्रन्थ लिखे।

८—नदिया

लक्ष्मणसेन की राजधानी। राजा के मंत्री 'हलायुध' तथा उनके भाई ने कई ग्रन्थ लिखे। नदिया में न्याय की विशेष शिक्षा दी जाती थी। स्मृति, तन्त्र तथा ज्योतिष की शिक्षा के लिए अलग विभाग थे। गोपाल पाड़ा, नवद्वीप और शान्तिपुर तीन शिक्षा-केन्द्रों में शिक्षा दी जाती थी। यहाँ के प्रसिद्ध विद्वान जयदेव, उमापति, धोमी, शूलपाणि, वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर भट्टाचार्य, रामभद्र, मथुरानाथ, रघुनन्दन, कृष्णानन्द वागीश आदि थे।

९—मिथिला

प्राचीन नाम विदेह। राजा जनक के समय में यहाँ अनेक विद्वान शास्त्रार्थ करने आते थे। विद्यापति का जन्म यहीं हुआ था। साहित्य और ललित कक्षाओं के साथ-साथ न्याय की शिक्षा के लिए मिथिला प्रसिद्ध था। यहा के प्रमुख विद्वान जगद्धर, गंगेश उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, वासुदेव मिश्र, महेश ठाकुर आदि थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्राचीन भारत के किन्हीं पाँच विश्वविद्यालयों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

२. नालन्दा और तक्षशिला की शिक्षण-पद्धति का तुलनात्मक वर्णन कीजिए।

३. नदिया, मिथिला वलभी पर संक्षिप्त नोट लिखिए।

४. तत्कालीन विश्वविद्यालयों के आधार पर उस समय की शिक्षा पर क्या प्रकाश पड़ता है, स्पष्ट कीजिए।

अध्याय ११

मठ-विद्यालय और उनकी शिक्षा

दसवीं शताब्दी से पूर्व मठ-विद्यालयों की शिक्षा के निश्चित प्रमाण नहीं मिलते। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ बौद्ध संघों द्वारा शिक्षा का कार्य भी सम्पन्न होता था। सम्भवतः इससे प्रभावित होकर हिन्दू मन्दिर और मठों में भी पुरोहित शिक्षा देने लगे थे। मन्दिरों और मठों में इस प्रकार की व्यवस्था कब से प्रारम्भ हुई इस बात का प्रमाण नहीं मिलता। जो भी प्रमाण उपलब्ध हैं वे दक्षिण भारत में पाये जाने वाले शिला-लेख और दान-पत्र हैं। ये ही दक्षिण भारत के मठ-विद्यालयों पर प्रकाश डालने में समर्थ हैं। अनुमान किया जाता है कि इसी प्रकार की व्यवस्था उत्तर भारत में भी रही होगी। जिसके प्रमाण न मिलने के कारण उत्तर भारत के मन्दिरों पर मुसलमानों के आक्रमण हैं। इन आक्रमणों के फलस्वरूप मन्दिरों के साथ-साथ वे सभी सामग्रियाँ लुप्त हो गयीं जिनके आधार पर हम उत्तर भारत के मठ विद्यालयों के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त कर पाते। दक्षिण भारत में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर वहाँ के कुछ मुख्य मठ-विद्यालयों के बारे में हम नीचे उल्लेख कर रहे हैं।

१—एन्नारियम्

ग्यारहवीं शताब्दी में यह प्रसिद्ध मठ आरकोट जिले में विद्यमान था। इस मठ-विद्यालय का विवरण हमको राजेंद्र चौल प्रथम के अभिलेख में मिलता है। यहाँ पर १५ अध्यापक तथा ३४० विद्यार्थी थे। अलग-अलग विषयों के अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न छात्र-संख्या निश्चित थी और उससे अधिक विद्यार्थी किसी विषय के अध्ययन के लिए प्रवेश नहीं पा सकते थे। विषय और उनके छात्रों की निर्दिष्ट संख्या का विवरण इस प्रकार है।

विषय	छात्र-संख्या	शिक्षक
अ. ऋग्वेद	७५	३
ब. यजुर्वेद (शुक्ल)	७५	१
स. सामवेद	४०	२
द. यजुर्वेद (कृष्ण)	२०	३

विषय	छात्र-संख्या	शिक्षक
ध. अथर्ववेद	१०	१
न. वेदान्त	१०	१
प. व्याकरण	२५	१
फ. वैधायन धर्म सूत्र	१०	१
ब. मीमांसा	३५	२
भ. रूपावतार	४०	१
योग. १०	३४०	१५

विद्यार्थियों के भोजन की व्यवस्था विद्यालय की ओर से की जाती थी जिसके लिए छात्रों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। छात्रों को १ सेर (६ नालि) चावल रोज मिलता था। $\frac{1}{2}$ तोला ($\frac{1}{2}$ कलंजु) सोना प्रत्येक छात्र को प्रतिवर्ष दिया जाता था जो सम्भवतः छात्र की वस्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता था। राधाकुमुद मुकुर्जी के अनुसार दर्शन और व्याकरण के छात्रों को अन्य छात्रों की अपेक्षा ६६ प्रतिशत अधिक चावल और स्वर्ण मिलता था। शिक्षकों को प्रतिदिन १६ सेर (१ कलम) चावल दिया जाता था। इस प्रकार शिक्षकों को १६ व्यक्तियों के खर्च भर को अन्न मिलता था। शिक्षकों को भी अन्य खर्च के लिए प्रति वर्ष $\frac{1}{2}$ तोला सोना मिला करता था, किन्तु वेदान्त की शिक्षा देने वाले अध्यापक को २५ प्रतिशत अधिक पारिश्रमिक दिया जाता था।

विद्यालय के इन समस्त व्ययों की व्यवस्था विद्यालय को अर्पित की गई ३०० एकड़ भूमि द्वारा होती थी ।

२—सलोतिग

सन् ९४५ ई० में राष्ट्रकूट-राजा कृष्ण तृतीय के मंत्री ने यहाँ पर एक मन्दिर बनवाया था। इसी मन्दिर में शिक्षा की भी व्यवस्था थी। इस मठ-विद्यालय की ख्याति देश भर में थी और देश के अनेक प्रान्तों के विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने आते थे। यहाँ पर २७ छात्रावास थे जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ छात्रों की संख्या भी अधिक रही होगी। विद्यालय के अलग-अलग व्यय के लिए भिन्न-भिन्न दान-पत्र थे। जैसे—

अ. भोजन हेतु	....	५०० निवर्त्तन
ब. प्रकाश हेतु	....	१२ ,,
स. प्रधान के व्यय हेतु	....	५० ,,

गाँव की ओर से अन्य प्रकार से भी विद्यालय को आर्थिक सहायता दी जाती थी, जैसे—

(अ) चूड़ाकर्ण होने पर	१$\frac{1}{4}$ रुपया
(ब) उपनयन के समय	२$\frac{1}{2}$,,
(स) पाणिग्रहण के समय	५ ,,

विद्यालय के लिए मिला करते तथा अनेक उत्सवों पर विद्यालय के शिक्षक और छात्र आमन्त्रित किए जाते थे। इस प्रकार विद्यालय के लिए दी गयी भूमि तथा गाँव के सामूहिक प्रयासों द्वारा विद्यालय का कार्य सुचारु रूप से चलता था।

३—तिरुभुक्कुदल

वेंकटेश जिले के पेरुमल मन्दिर में यह विद्यालय ११ वीं शताब्दी में विद्यमान था। यहाँ पर छात्रावास में विद्यार्थियों को भोजन दिया जाता था जिसके लिए किसी प्रकार के शुल्क की व्यवस्था न थी। छात्रावास में जो ६० छात्र रहते थे, उनकी जगह विषय के अध्ययन के आधार पर निश्चित थी। इसका विवरण इस प्रकार है—

ऋग्वेद के छात्रों के लिए	१०
यजुर्वेद के छात्रों के लिए	१०
व्याकरण के छात्रों के लिए	२०
पंचतंत्र के विद्यार्थियों के लिए	१०
शैवागम के विद्यार्थियों के लिए	३
संन्यासियों और वानप्रस्थों के लिए	७
	६०

यहाँ के क्षिक्षकों को एन्नारियम् के शिक्षकों की अपेक्षा कम पारिश्रमिक दिया जाता था।

४—मलकपुरम् मठ-विद्यालय

इस विद्यालय का विवरण हमको १९१२ के अभिलेख नं० ११० से प्राप्त होता है। इस अभिलेख के अनुसार इस विद्यालय के साथ छात्रावास भी था, जहाँ पर छात्रों को निःशुल्क भोजन भी मिलता था। विद्यालय की कुल अध्यापक-संख्या ८ थी, जिसमें ५ व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विषयों के शिक्षक थे और ३ पूर्णतः वेद

की शिक्षा के लिए थे। तत्कालीन दक्षिण भारत में प्रायः २० छात्र एक अध्यापक के संरक्षण में शिक्षा प्राप्त किया करते थे। इस प्रकार इस विद्यालय में छात्रों की संख्या १६० के लगभग रही होगी।

विद्यालय के सामान्य कर्मचारियों के भरण-पोषण के लिए विद्यालय की ओर से १ 'पुट्टि' भूमि मिली रहती थी किन्तु अध्यापकों को उससे दूनी अर्थात् २ 'पुट्टि' भूमि दी जाती थी। विद्यालय के अध्यक्ष को पारिश्रमिक के रूप में १०० 'निश्क' मिलता था। इस प्रकार विद्यालय के अध्यापकों को सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत करने भर को पारिश्रमिक मिल जाता था।

५—तिरुवोर्रियूर विद्यालय

इस विद्यालय का परिचय हम १९१२ के अभिलेख नं० ११० और २०२ के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। यह विद्यालय एक शिव मन्दिर में अवस्थित था। विद्यालय की आर्थिक व्यवस्था के लिए १० वेलि अर्थात् ४१० एकड़ भूमि मिली हुई थी। विद्यालय के शिक्षकों की संख्या लगभग २० तथा छात्रों की संख्या ४५० के लगभग थी। विद्यालय की आर्थिक व्यवस्था के लिए कुछ करों की भी व्यवस्था थी। यह विद्यालय १४ वीं शताब्दी तक क्रियाशील रहा।

एक किंवदन्ती के अनुसार यहीं पर सुविख्यात वैयाकरण पाणिनि को भगवान शिव ने स्वयं प्रकट होकर १४ दिनों तक अष्टाध्यायी के प्रथम १४ सूत्रों की शिक्षा दी थी। इसी घटना की पूण्य स्मृति में इस शिवालय का निर्माण हुआ।

६—अन्य मठ-विद्यालय

अ. शिमोग जिले के प्राणेश्वर मन्दिर में एक विद्यालय १२ वीं शताब्दी में विद्यमान था। इस विद्यालय में कुल ४८ छात्र वेद और अन्य विषयों का अध्ययन करते थे। शिक्षा के लिए शुल्क नहीं देना पड़ता था। छात्रावास में विद्यार्थियों की भोजन-व्यवस्था के निमित्त २ रसोइए रक्खे गए थे।

ब. ग्यारहवीं शताब्दी में एक मठ-विद्यालय आधुनिक हैदराबाद राज्य के नगई नामक स्थान पर विद्यमान था। यहाँ पर २०० स्मृति, २०० वेद, १०० महाभाष्य और ५२ दर्शन के विद्यार्थी थे। विद्यालय के साथ एक पुस्तकालय था जिसके निरीक्षण के लिए ६ पुस्तकालयाध्क्ष नियुक्त थे।

स. एक विद्यालय धरवर जिले के भुन्वेश्वर मन्दिर में था । इस विद्यालय के खर्च के लिए २०० एकड़ भूमि मिली हुई थी । छात्रों के भोजन का भी प्रबन्ध विद्यालय की ओर से था । यहाँ पर लगभग २०० छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे ।

द. व्याकरण की शिक्षा के लिए विख्यात एक विद्यालय तंजेर जिले के पुन्नर्वलिय स्थान पर अवस्थित था । इस विद्यालय की छात्र-संख्या सम्भवतः ५०० थी । विद्यालय की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ४०० एकड़ भूमि प्राप्त थी ।

ध. बीजापुर के एक मन्दिर में पण्डित योगेश्वर मीमांसा की शिक्षा निःशुल्क प्रदान करते थे । यहा पर आने वाले संन्यासियों तथा विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्र आदि के लिए सन् १०७५ में १२०० एकड़ भूमि प्रदान की गई थी ।

७ —अग्रहार

मैसूर (दक्षिण भारत) में मिले अभिलेखों द्वारा एक विशेष प्रकार के शिक्षा-केन्द्र का परिचय प्राप्त होता है । इस शिक्षा केन्द्र को अग्रहार के नाम से ख्याति प्राप्त थी । सुशिक्षित ब्राह्मणों की बस्ती को जो कि शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में क्रियाशील रहती थी अग्रहार कहा जाता था । सभी अग्रहार स्वावलम्बी तथा स्वयं संचालित होते थे । बस्ती के विद्वान ब्राह्मणों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राजाओं तथा समृद्ध नागरिकों द्वारा भूमि प्रदान की जाती थी । इस प्रकार ये विद्वान ब्राह्मण पूर्णतः शिक्षा-प्रसार के कार्य में लगे रहने में समर्थ थे । अग्रहार की भूमि तथा अन्य प्रबन्ध के लिए एक 'सभा' होती थी । इस प्रकार के दो प्रसिद्ध अग्रहारों का वर्णन हम आगे करते हैं :

अ. सर्वज्ञपुर अग्रहार

यह अग्रहार मैसूर राज्य के हस्सन जिले में था । इस अग्रहार में वेदों की शिक्षा की मुख्य व्यवस्था थी । किन्तु पुराण, छन्द, स्मृति आदि अन्य विषय भी पढ़ाए जाते थे । यहाँ के सभी शिक्षक अपना समय पठन-पाठन में व्यतीत करते हुए अपना जीवन सदाचार एवम् धार्मिक मूल्यों से युक्त रखते थे ।

ब. कादिपुर अग्रहार

यह अग्रहार १० वीं शताब्दी में कर्नाटक में शिक्षा प्रदान किया करता था । अग्रहार के अध्यापकों के पारिश्रमिक तथा अन्य खर्च के लिए राष्ट्रकूट राज्य की

ओर से भूमि मिली हुई थी। इस अग्रहार में वेद, व्याकरण, पुराण, राजनीति, तर्कशास्त्र तथा छन्द आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। विद्यालय की ओर से साधन-विहीन छात्रों को निःशुल्क भोजन भी प्रदान किया जाता था।

८—टोल

उत्तर और पूर्वी भारत के प्रान्तों में प्रचीन काल से ही टोल शिक्षा-क्षेत्र में क्रियाशील रहे। बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश में वर्तमान समय में भी कुछ टोल विद्यमान हैं। टोल को भी अग्रहार की भाँति भूमि मिली रहती थी। जिस टोल के साथ भूमि संलग्न न होती थी, वहाँ के पंडित समीपवर्ती समृद्ध नागरिकों से चन्दा प्राप्त करके अपना तथा विद्यार्थियों का भरण-पोषण करते थे। टोल के विद्यार्थियों के भोजन की व्यवस्था का भार पंडित पर ही होता था। जन-सामान्य की ओर से टोल को सामाजिक संस्कारों और पर्वों पर कुछ आय हो जाया करती थी। अब कहीं-कहीं टोलों को राज्य सरकारें भी वार्षिक सहायता देती हैं।

सारांश

मठ-विद्यालय और उनकी शिक्षा

मठ विद्यालय की स्थापना किस काल में हुई यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता। दक्षिण भारत में प्राप्त अभिलेखों के आधार पर १० वीं शताब्दी के बाद प्रचलित मठ-विद्यालयों का विवरण मिलता है। सम्भवत: इसी प्रकार के मठ-विद्यालय उत्तर भारत में भी थे। इनके प्रमाणों को मुस्लिम आक्रमण कारियों ने नष्ट कर दिया।

दक्षिण भारत के मुख्य मठ-विद्यालय

१—एन्नारियम

छात्र-संख्या ३४०, शिक्षक-संख्या १५। भिन्न-भिन्न विषयों के अध्ययन के लिए छात्र-संख्या निर्धारित थी। छात्रों के भोजन और वस्त्र के लिए चावल और सोना मिला करता था। शिक्षकों के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी। इन खर्चों के लिए ३०० एकड़ भूमि विद्यालय को प्राप्त थी।

२—सलोत्गि

यहाँ २७ छात्रावास थे। भिन्न-भिन्न खर्चों की व्यवस्था के लिए अलग-अलग दान-पत्र थे। सामाजिक संस्कारों पर निश्चित धन-राशि विद्यालय को मिलती थी।

३—तिरुभुक्कुदल

छात्रावास में ६० विद्यार्थी थे । छात्रों की संख्या विषयों के अनुसार निश्चित थी । एन्नारियम् की अपेक्षा यहा शिक्षकों को कम पारिश्रमिक मिलता था ।

४—मलकपुरम्

छात्र-संख्या १६०, अध्यापक-संख्या ८ । शिक्षकों और कर्मचारियों को भूमि मिली थी । वेद, न्याय, साहित्य तथा व्याकरण आदि पाठ्य विषय थे ।

५—तिरुवोरियूर

यह एक शिव मन्दिर में था । पाणिनि ने यहाँ 'अष्टाध्यायी' की शिक्षा स्वयं योगीश्वर शिव से पायी थी । यहाँ की छात्र-संख्या ४५० और शिक्षकों की संख्या २० थी । विद्यालय के साथ ४१० एकड़ भूमि संलग्न थी ।

६—अन्य मठ-विद्यालय :

जिनमें शिमोग जिले में, हैदराबाद राज्य के नगई नामक स्थान में, धरवर जिले के भुवेश्वर मन्दिर में, तंजोर जिले के पुन्नवंलिय स्थान पर और बीजापुर में इस प्रकार के मठ-विद्यालय थे ।

७—अग्रहार

ब्राह्मणों की बस्ती द्वारा शिक्षा-प्रसार होता था । विद्वान ब्राह्मणों के भरण-पोषण के लिए भूमि प्राप्त रहती थी । इस प्रकार के सर्वज्ञपुर और कादिपुर अग्रहार प्रमुख थे ।

सर्वज्ञपुर, मैसूर राज्य के हस्सन जिले में था यहाँ वेद, छन्द, स्मृति आदि पाठ्य विषय थे । शिक्षक धार्मिक तथा सदाचारी थे ।

कादिपुर कर्नाटक में था । शिक्षकों को राष्ट्रकूट के राजाओं से प्राप्त भूमि से पारिश्रमिक मिला करता था । छात्रों के भोजन का भी प्रबन्ध निःशुल्क था । राजनीति, व्याकरण, पुराण, तर्कशास्त्र, छन्द आदि पाठ्य विषय थे ।

८—टोल

बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में प्राचीन काल से विद्यमान थे । टोलों को भी भूमि मिली रहती थी । यहाँ के विद्यार्थियों के भोजन का भार पंडितों पर रहता

था । अब जो टोल पाये जाते हैं, उनमें किसी-किसी को राज्य सरकारों की ओर से सहायता भी मिलती है ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. दक्षिण भारत में मठ-विद्यालयों द्वारा किस प्रकार से शिक्षा प्रसार का कार्य सम्पन्न होता था ? वर्णन कीजिए ।

२. दक्षिण भारत के प्रमुख मठ-विद्यालयों का संक्षिप्त विवरण दीजिए ।

३. मठ-विद्यालयों की आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार की थी तथा उनके परिणाम क्या होते थे ? लिखिए ।

४. टोल और अग्रहार से आप क्या समझते हैं ? विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए ।

अध्याय १२

प्राचीन भारतीय शिक्षा की समालोचना

प्राचीन भारत की सुव्यवस्थित शिक्षा का रूप हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं। इस बात का प्रमाण भी हमको मिल चुका है कि प्राचीन भारत की ख्याति जो जावा, सुमात्रा, जापान, स्याम, तिब्बत, कोरिया, चीन, मध्य एशिया आदि में सहस्रों वर्ष तक रही उसका एकमात्र श्रेय प्राचीन भारत की शिक्षा को ही है। हम यहाँ पर प्राचीन भारत की शिक्षा के गुणों और दोषों की ओर अति संक्षेप में संकेत करेंगे।

गुण

१. भारतीय शिक्षा का सम्बन्ध मानव जीवन के लौकिक और पारलौकिक दोनों स्तरों से था। अतः मानव के वाह्य और आन्तरिक विकास के लिए शिक्षा का महत्त्व था। भौतिक जगत् में सफलता प्राप्त करने के लिए उसमें कर्त्तव्य, निष्ठा, आचरण और अनुशासन की प्रेरणा भर दी जाती थी। जीवन के चरम विकास अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के लिए उसको परम ज्ञान की प्राप्ति धार्मिक शिक्षा द्वारा मिलती थी।

२. प्राचीन भारतीय शिक्षा में विद्यार्थी का जीवन आदर्श जीवन था। प्रकृति की स्नेहपूर्ण गोद में ये विद्यार्थी गुरु-आश्रमों में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। विद्यार्थियों का जीवन नियमित तथा नियन्त्रित होता था। उनको शीघ्र जागरण, स्नान, भूमि-शयन, अल्पवस्त्र, अल्पाहार आदि द्वारा कर्त्तव्य-परायणता सिखाई जाती थी। विद्यार्थियों का जीवन विलासिता से कोसों दूर था। मांस, मद्य और नृत्य आदि से वे सदैव दूर रहते थे। इन्द्रिय दमन और इच्छाओं पर प्रतिबन्ध उन दिनों के विद्यार्थियों की विशेषता थी। इस प्रकार तत्कालीन शिक्षा द्वारा व्यक्तियों का जीवन पवित्र, महान् और दिव्य बनाने में सहायता मिलती थी।

३. सामाजिक क्षेत्र में भी प्राचीन शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योग रहा। तत्कालीन शिक्षा-प्राप्त गृहस्थ अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर

लेता था। परिवार, समाज, ग्राम आदि के प्रति वह अपने उत्तरदायित्व को सदा निभाने का प्रयत्न करता था। प्राचीन शिक्षा विद्यार्थियों को समाज से पृथक् नहीं, अपितु उसे पूर्ण सामाजिक बनाने में योग देती थी। प्राचीन भारत की संस्कृति का विकास यहाँ की सामाजिक सुव्यवस्था का ही परिणाम था। प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति में उच्चतम व्यक्तित्व का निर्माण सामाजिक मान्यताओं के आधार पर ही होता था।

४. प्राचीन भारत के विद्यालयों में लगभग सभी ज्ञात विषयों की उच्च तथा विशेषीकृत शिक्षा की व्यवस्था थी। प्राचीन विद्यालयों के छात्र विषय विशेष का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते थे। फलतः अनेक प्राचीन भारतीय विद्वानों ने विदेशों तक अपनी विद्वत्ता की पताका फहराई। इन विद्यालयों में विषय-विशेष की शिक्षा उस विषय के प्रकाण्ड विद्वान द्वारा सम्पादित होती थी।

५. प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति धार्मिक होते हुए भी सभी वर्णों के छात्रों को अध्ययन का अवसर प्रदान करती रही। बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के उपरान्त बोल-चाल की भाषा का शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग होने लगा, फलतः ८० प्रतिशत तक लोग साक्षर थे।

६. बहुत समय तक स्त्रियों के लिए भी शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण अवसर था। बौद्धकालीन शिक्षा-पद्धति में तो नारियाँ भिक्षुओं के समान ही संघों में रहती और अध्ययन करती थीं। उस समय अनेक विदुषी स्त्रियाँ थीं जिनकी समाज-सेवाएँ इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

७. प्राचीन भारतीय शिक्षा द्वारा भारतीय उद्योगों की भी पर्याप्त प्रगति हुई। भारतीय कला-कौशल से अन्य समीपवर्ती देश भी प्रभावित हुए और वहाँ पर भी हमको भारतीय कला के दर्शन मिलते हैं। इसके अतिरिक्त चिकित्सा-शास्त्र की जितनी प्रगति हुई उसका प्रमाण भारतीयों को अन्य देशों से आमन्त्रित किया जाना है। औषधि-विद्या के क्षेत्र में भारत अग्रगण्य था।

८. अन्य भौतिक विषयों के प्रकाण्ड विद्वान इस शिक्षा-पद्धति ने भारतवर्ष में उत्पन्न किए। अर्थशास्त्र के रचयिता चाणक्य के मौलिक विचारों से आज भी विश्व के अनेक देश प्रभावित हैं। गणित में शून्य (०) की कल्पना सर्व प्रथम भारत में ही की गयी; तथा अरब और योरुप आदि देशों में गणित का ज्ञान भारत द्वारा ही पहुँचा। पाणिनि का व्याकरण विश्व की महानतम रचनाओं में से एक माना जाता है।

दोष

१. धार्मिक दृष्टिकोण प्रमुख होने के कारण कालान्तर में भारतीय शिक्षा की प्रगति रुक गयी। आचार्यों के संसार असार के उपदेशों ने जन-सामान्य को भौतिक उन्नति की ओर से विमुख कर दिया। "अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष" में से परवर्ती शिक्षा का उद्देश्य केवल 'धर्म-मोक्ष' का रहा। फलतः यह शिक्षा एकांगी रह गयी और इसका सम्बन्ध केवल धार्मिक विषयों तक ही रह गया। भौतिक विषयों की उपेक्षा की जाने लगी।

२. स्मृतियाँ तथा पुराण आदि शास्त्रों को शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक महत्त्व दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि साधारण लोग यह समझने लगे कि जो शास्त्रों में लिखा है वही सत्य है। शास्त्र द्वारा बता दिया गया कि मिथ्या कभी सत्य हो ही नहीं सकता। फलतः जन-सामान्य की कल्पना-शक्ति मध्यम कोटि की हो गयी और उसमें तर्क का अभाव रहने लगा। स्मरण रहे कि ऐसा भविष्य में जाकर हुआ, उपनिषद् काल में तो तर्क का महत्त्व शिक्षा-क्षेत्र में बहुत था।

३. वर्ण-व्यवस्था के कुप्रभावस्वरूप हाथ से कार्य करने वालों को हेय समझा जाने लगा। उच्च वर्ण के लोगों ने औद्योगिक शिक्षा को प्रोत्साहित न किया। फलतः हस्तकला, नृत्य, गायन आदि कलाओं का कार्य शूद्रों और नारियों का समझा जाने लगा। इस प्रकार व्यावसायिक क्षेत्र में कोई नए अन्वेषण न हो सके और शिक्षा वंशगत लीक पर ही घिसटती रही।

४. बौद्धकालीन शिक्षा में जनतन्त्र की धारणा के नीचे स्वेच्छाचार का पौधा पनपता गया, फलतः संघ का नियन्त्रण ढीला पड़ने लगा। बौद्ध कालीन शिक्षा में संघ ही सर्वेसर्वा था। अतः जब संघ का ही पतन आरम्भ हुआ तो फिर शिक्षा का पतन तो स्वाभाविक ही था।

५. बौद्ध धर्म में अहिंसा का प्रमुख स्थान होने के कारण शिक्षा में सैनिक शिक्षा को, अस्त्र-शस्त्र-निर्माण-कला को कोई प्रोत्साहन न मिला, फलतः विद्यार्थी संसार के दुःखमय होने के कारण, उनके निराकरण के उपाय ही समझते रहे। देश पर जब विदेशियों ने आक्रमण किया तो भारतीय उनका सामना करने में पूर्ण रूप से समर्थ न हो सके।

उपसंहार

प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति के गुण-दोषों के विवेचन से स्पष्ट है कि तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में दोषों की अपेक्षा गुण अधिक थे। लगभग १,५०० वर्ष तक

भारतीय शिक्षा-पद्धति प्रचलित रही। इस शिक्षा-पद्धति द्वारा शारीरिक, मानसिक, तथा आध्यात्मिक विकास में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। भारतीय शिक्षा द्वारा उत्पन्न जो नैतिक गुण भारतीयों में पाए जाते थे उनकी सराहना विदेशियों ने भी की। नीचे हम कुछ विदेशी परिव्राजकों की सम्मतियों का उल्लेख करते हैं।

मेगास्थनीज

भारतीयों की दृष्टि में सत्य और सदाचार का बड़ा मूल्य है। किसी भारतीय पर झूठ बोलने का अपराध न लगा।

स्ट्रावो

धरोहर रखने में लोगों का पारस्परिक विश्वास इतना दृढ़ है कि गवाहों और मुहरों की आवश्यकता नहीं पड़ती; और न ही भारतीयों को अपने घरों की रक्षा ही करनी होती है।

हुएनत्सांग

भारतवासियों का आचरण पूर्णतः शुद्ध होता है। वे किसी की वस्तु को अनधिकृत रूप से ग्रहण नहीं करते और दूसरों के संतोष के लिए बहुत विनम्रता का बर्ताव करते हैं। वे अपने वचन का पूर्ण-रूपेण पालन करते हैं और किसी को धोखा नहीं देते।

अल इद्रिस

भारतीय न्याय-पथ का अनुसरण सदैव करते हैं। उनकी न्याय-प्रियता, ईमानदारी, विश्वासपात्रता तथा श्रद्धा और भक्ति के कारण वहाँ चारों ओर से लोग एकत्र होते हैं।

मार्कोपोलो

भारतीय व्यापारी ब्राह्मण संसार के कुशल व्यापारी हैं। किसी भी प्रकार से वे सत्य को नहीं छोड़ते। बाहर के व्यापारियों के माल की रक्षा अपने माल की भाँति ही करते हैं। वे व्यापार में किए गए अपने परिश्रम का कमीशन नहीं चाहते। विदेशी व्यापारियों से प्राप्त धन से ही वे प्रसन्न रहते हैं।

इब्नबतूता (देवगिरी के मराठों के बारे में)

वे स्वच्छ हृदय, विश्वास करने योग्य एवं धार्मिक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार तत्कालीन शिक्षा ने भारतीयों के नैतिक स्तर को उच्च बना दिया था।

औद्योगिक क्षेत्र में भी भारत विश्व-विख्यात था। कपड़े का काम तो भारतवर्ष में हाल तक अत्यन्त उत्तम कोटि का होता रहा। ढाके की मलमल हाथ से बने कपड़ों में विश्व में अद्वितीय थी।

संक्षेप में इस शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, वैयक्तिक निरीक्षण बौद्धिक स्वतन्त्रता, सदाचार, शिक्षा-संस्थाओं का शान्त वातावरण, बालचर-प्रणाली, औद्योगिक शिक्षा का सांस्कृतिक शिक्षा में समावेश, गुरुकुल आदर्श आदि आज की शिक्षा में भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

सारांश

भारतीय शिक्षा का सम्बन्ध मानव-जीवन के लौकिक तथा पारलौकिक दोनों अंगों से था। विद्यार्थियों का जीवन सादा था। विलासिता से वे दूर रहते थे। कर्त्तव्यपरायणता और अनुशासन की कमी न थी। सामाजिक क्षेत्र के लिए उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था थी। आध्यात्मिक, मानसिक, शारीरिक विकास में यह शिक्षा विशेष उपयोगी थी। विषय-विशेष के विद्वान द्वारा विषय-विशेष की उच्च शिक्षा दी जाती थी। सभी वर्णों के छात्रों को समान अवसर मिलते थे। औद्योगिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी। भारतीय औद्योगिक उत्पादन विदेशों तक में भेजे जाते थे। इस शिक्षा को प्राप्त कर अनेक विद्वान विश्वख्याति पा चुके हैं, जैसे—चाणक्य, पाणिनि, चरक आदि। गणित में भारत शून्य (०) की कल्पना का अन्वेषक है। लगभग १,५०० वर्षों तक यह प्रणाली प्रगतिशील रही। विदेशी परिव्राजकों ने भारतीय नैतिकता की प्रशंसा की है। इनमें से कुछ के नाम मेगास्थनीज, स्ट्रावो, हुएनत्सांग अल इद्रिस और मार्कोपोलो हैं।

किन्तु कालान्तर में धार्मिक प्रवृत्ति घातक सिद्ध हुई। भौतिक उन्नति की ओर से ध्यान मोड़ कर 'मोक्ष' की ओर ही लगाया गया। शास्त्रों की सर्वमान्यता स्वतन्त्र विचारों की प्रगति में बाधक सिद्ध हुई। वर्ण-व्यवस्था के फलस्वरूप औद्योगिक कार्यकर्त्ताओं को निम्न समझा जाने लगा। जनतन्त्र की भावना का दुरुपयोग किया गया और बौद्ध कालीन संघ भ्रष्ट हो गए। अहिंसा का प्रमुख सिद्धान्त होने के कारण बौद्ध कालीन शिक्षा में अस्त्र-शस्त्र-निर्माण और सैनिक विद्या का समावेश नहीं था।

फिर भी भारतीय शिक्षा जिसके कारण भारत विश्व के अनेक देशों में प्रसिद्ध रहा, आज भी अपने कुछ अमूल्य सिद्धान्तों के कारण उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति के गुणों का वर्णन कीजिए और समझाइए कि किस प्रकार इन गुणों के कारण भारत की ख्याति अन्य देशों में थी।

२. वे कौन-से दोष भारतीय शिक्षा में थे जो उसकी प्रगति में बाधक सिद्ध हुए? विस्तारपूर्वक लिखिए।

३. भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का प्रभाव भारतीय समाज पर क्या पड़ा और उसका प्रभाव विदेशियों पर क्या पड़ा? समझा कर लिखिए।

४. प्राचीन भारतीय शिक्षा के किन-किन गुणों को देश की आधुनिक शिक्षा में अपनाना चाहिए? उदाहरणसहित लिखिए।

द्वितीय खण्ड

मध्य काल

अध्याय १३

मुस्लिम कालीन शिक्षा का सामान्य रूप

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना

सातवीं सदी में अरब देश में हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम नाम का एक नवीन धर्म फैलाया। इसके अनुयायी मुसलमान कहलाए। कुछ ही समय में इसके अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गई। फलतः यह धर्म संसार के एक बड़े भू-भाग पर फैल गया। सन् ७११ ई० तक इस्लाम धर्म अतलान्तिक के पूर्वी किनारे से चीन तक फल गया था। सन् ७१२ ई० में अरबों ने मुहम्मद बिन कासिम के सेनापतित्व में प्रथम बार भारत पर आक्रमण किया, और वे केवल सिन्ध प्रान्त पर अधिकार कर सके, जिससे आगे गुर्जर राजा नाग भट्ट ने उनको बढ़ने नहीं दिया। इसके बाद लगभग २७५ वर्षों तक भारत पर कोई वाह्य आक्रमण न हुआ।

ये आक्रमण भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव न डाल सके, किन्तु भारतीय साहित्य और संस्कृति[1] का प्रभाव मुसलमानों पर पड़ा जिसके फलस्वरूप अनेक भारतीय विद्वानों को बगदाद आमन्त्रित कर प्रमुख भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में कराया गया। यह ध्यान देने की बात है कि योरोपवासियों को भारतीय ज्ञान और विज्ञान से परिचित अरबों ने ही कराया। इस प्रकार इन आक्रमणकारियों द्वारा भारतीय संस्कृति का प्रसार सुदूर देशों में हो गया। फिर लगभग ३०० वर्ष पश्चात् गजनी की ओर से वहाँ के शासक सुबुक्तगीन ने भारत पर आक्रमण किया और सीमान्त प्रदेश के राजा जयपाल को पराजित कर वहाँ अपने शासन की नींव डाली। इसके पुत्र महमूद ने भारत पर कई बार आक्रमण किये और यहाँ की अतुल सम्पत्ति लूट कर गजनी ले गया। उसके इन आक्रमणों के कारण भारत के विशाल नगर नष्ट हो गए और अनेक दर्शनीय भवनों का विनाश हो गया। महमूद का सबसे प्रसिद्ध आक्रमण सोमनाथ के मन्दिर पर हुआ। महमूद ने भारत में राज्य स्थापित करने की कोई इच्छा न की। उसका एकमात्र उद्देश्य भारतीय सम्पत्ति को गजनी ले जाकर अपने देश को समृद्धिशाली बनाना

१. Indian literature and culture.

था। इसीलिए उसने पंजाब के अतिरिक्त भारत के किसी अन्य भाग को अपने अधिकार में नहीं रखा, किन्तु अन्य आक्रमणकारियों को पंजाब द्वारा एक सरल मार्ग मिल गया।

महमूद के पश्चात् कुछ काल तक भारत फिर वाह्य आक्रमणों से सुरक्षित रहा। सन् ११९१ ई० नें फिर गजनी की ओर से ही वहाँ के शासक मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया। भारतीय वीर पृथ्वीराज चौहान ने मुहम्मद गोरी को परास्त कर भगा दिया। फिर भी गोरी का साहस कम न हुआ और एक साल बाद ही उसने तराइन के युद्धस्थल में चौहान राजा को पराजित कर दिया। मोहम्मद गोरी पहला मुसलमान आक्रमणकारी था जिसने भारतवर्ष पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहा। उसने सन् ११९४ ई० में कन्नौज के राजा जयचन्द को भी पराजित कर दिया। इस प्रकार भारत में मुस्लिम शासन की नींव पड़ गयी।

मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक उसकी गद्दी का अधिकारी हुआ। इसने मुस्लिम शासन में गुलाम वंश की स्थापना की। फिर अन्य वंशों—खिलजी, तुगलक, सैयद तथा लोदी ने शासन किया। इन पाँच वंशों के राज्य-काल का अन्त सन् १५२६ ई० में तैमूर लग के वंशज बाबर ने इब्राहीम लोदी को पानीपत के प्रथम युद्ध में हरा कर कर दिया। बाबर ने यहाँ मुगल-राज्य की स्थापना की जो इस वंश के छठवें सम्राट् औरंगजेब के समय तक पूर्ण सम्पन्नता के साथ भारत में स्थापित रहा। किन्तु इतना अवश्य ध्यान देना है कि बिहार में ससराम के शासक शेरशाह ने कुछ समय के लिए मुगलों के हाथ से भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। किन्तु उसको सँभाले न रह सका। पानीपत के द्वितीय युद्ध में हुमायूँ ने अन्तिम बार अफगानों को परास्त कर दिया, जिसके पश्चात् तुर्क अफगान भारत में कभी भी शक्तिशाली न हो सके। मुगल-शासन को सन् १८५७ ई० में अंग्रेजों ने भारत भूमि से सदैव के लिए बिदा कर दिया। अन्तिम मुगल-सम्राट् बहादुर शाह को बन्दी बना कर रंगून भेज दिया गया। तब से भारतीय इतिहास में एक नवीन अध्याय जुड़ गया और भारत का शासन अंग्रेजों के हाथ में चला गया।

उपर्युक्त मुस्लिम शासन लगभग ६५० वर्ष तक भारत में रहा। इन ६५० वर्षों के बीच की भारतीय शिक्षा के इतिहास का आगे हम संक्षिप्त विवरण देंगे। अगले पृष्ठों को देखने से ज्ञात होगा कि शिक्षा के क्षेत्र में सम्राट्-विशेष की रुचि एवम् विशेषताओं का ही अनुशासन रहा। अतः तत्कालीन शिक्षा के इतिहास को भली-भाँति समझने के लिए सम्राट्-विशेष के शासन-काल के अन्तर्गत ही वर्णन किया गया है। आगे हम इस काल की शिक्षा की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत कर रहे हैं।

भारत में मुस्लिम कालीन शिक्षा का सामान्य रूप

प्राचीन भारतीय शिक्षा-संक्षाओं का विनाश

जिस समय भारत का शासन मुसलमानों के हाथ में आया, उस समय भारत में यहाँ की प्राचीन ब्राह्मणीय तथा बौद्ध शिक्षा का बोल-बाला था। ये नये शासक एक सर्वथा नवीन भाषा और संस्कृति के पोषक थे। इस सांस्कृतिक एवं भाषा की भिन्नता ने भारतीय सांस्कृतिक संस्थाओं को पर्याप्त क्षति पहुँचाई। धार्मिक कट्टरता के कारण अनेक प्राचीन भारतीय शिक्षा-संस्थायें धूल में मिला दी गयीं। भारतीय साहित्य की असंख्य पुस्तकें अग्नि में हवन हो गयीं। बख्तियार, अलाउद्दीन, फीरोज तथा औरंगजेब जैसे शासकों ने भारतीय शिक्षा पर कुठाराघात किया। बख्तियार ने बौद्ध विद्यालयों को नष्ट कर उनके स्थान पर इस्लामी शिक्षा का प्रसार किया। मन्दिर के स्थान पर मस्जिद एवं विद्यालय के स्थान पर मकतब और मदरसे बनवाए जाने लगे।

फारसी का आधिपत्य

प्राचीन भारतीय शिक्षा को कोई प्रश्रय न मिला और संरक्षण के पूर्ण अभाव के कारण संस्कृत तथा पाली आदि भारतीय भाषाएँ मृतप्राय हो गयीं। कुछ इनेगिने भारतीय पंडित ही इन भाषाओं के अध्ययन में लगे रहे। मुस्लिम शासन में राज्य-भाषा का पद फारसी को मिला। अतः फारसी का ज्ञान रखने वाले ही शासन-व्यवस्था में स्थान पा सकते थे। इस लोभ ने भारतीय हिन्दुओं को भी फारसी के अध्ययन की ओर आकृष्ट किया और अनेक हिन्दू अरबी, फारसी की शिक्षा ग्रहण करने लगे। मुस्लिम शासकों तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रयत्नों द्वारा शिक्षा में कुरान तथा अन्य इस्लाम धर्म के ग्रन्थों का समावेश किया गया। शिक्षा को धार्मिक आधार प्राप्त हुआ जिसके कारण शिक्षा की समुचित उन्नति न हो सकी।

शिक्षा सम्राटों के इशारे पर

भारत में मुस्लिम शासन प्रायः एकतंत्रात्मक था। साम्राज्यवादी सम्राटों की स्वेच्छाचारिता का बोल-बाला था। उनकी व्यक्तिगत रुचि तथा विशेषताओं के कारण भिन्न-भिन्न सम्राटों के शासन-काल में शिक्षा-प्रसार भी भिन्न रहा। केवल कुछ उदारचित्त एवम् विद्यानुरागी शासकों ने ही भारतीय शिक्षा की ओर थोड़ा ध्यान दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप भारतीय शिक्षा की कुछ न कुछ उन्नति अवश्य हुई। वैयक्तिक रुचि एवम् विशेषता के कारण सम्पूर्ण मुस्लिम शासन-काल में शिक्षा का एक स्थायी

रूप न रह सका। शासन की ओर से शिक्षा को व्यवस्था का अंग न माना गया और न जन-शिक्षा-पद्धति का निर्माण ही सम्भव हो सका। सुदृढ़ आधार के बिना शिक्षा भी सम्राटों के इशारों पर चलती रही। कभी शिक्षा को पूर्ण धार्मिक बनाने का प्रयास किया गया, तो कभी पूर्ण व्यावहारिक।

उपर्युक्त आपदाओं के बीच भी यह कहना पड़ेगा कि मुस्लिम शासन-काल में कई रूपों में शिक्षा की प्रगति हुई। पर सत्य तो यह है कि प्रगति मुस्लिम शिक्षा-प्रसार के उद्देश्य से ही सम्बन्धित रही। गौण रूप से कुछ अन्य उद्देश्य भी अवश्य पूर्ण होते रहे। मुस्लिम शिक्षा का प्रसार निम्नलिखित रूपों में हुआ।

मस्जिद, मकतब और मदरसों के निर्माण की प्रवृत्ति

भारतवर्ष में मुस्लिम सत्ताधारी शासक इस्लाम के कट्टर अनुयायी थे। इस्लाम धर्म में ज्ञानार्जन को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। अतः इन मुसलमान शासकों ने भी ज्ञान का प्रसार करने के निमित्त सराहनीय प्रयास किया। जिस समय भारत में मुस्लिम शासन भली प्रकार से स्थापित हो गया तथा अनेक मुसलमान यहाँ बस्तियाँ बना कर रहने लगे और अनेक हिन्दू मुसलमान धर्म के अनुयायी हो गये, तब यहाँ दोनों प्रकार के मुसलमानों की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज्ञान का प्रसार आवश्यक हो गया। फलतः अनेक मस्जिदें बनवाई गयीं, जिनके साथ मदरसे और मकतब भी खोले गये। इस प्रकार तत्कालीन शासकों ने शिक्षा द्वारा धर्म का वृहत् स्तर पर प्रचार किया।

मुस्लिम सम्राटों द्वारा भारत के कोने-कोने में मस्जिदें बनवाई गयीं, साथ ही समस्त भारतवर्ष में मकतब और मदरसे भी फैल गए। इन मकतब और मदरसों में कुरान का अध्ययन तथा विद्यार्थियों को इस्लाम धर्म की अन्य बातों से अवगत कराया जाता था। उच्च स्तर पर भी दर्शन, इतिहास तथा साहित्य के माध्यम द्वारा भी इस्लाम धर्म की ही शिक्षा दी जाती थी। इस धार्मिक प्रवृत्ति के कारण ही मुस्लिम शासकों के लिए मकतब और मदरसों का निर्माण एक पवित्र कार्य समझा जाने लगा। मस्जिदों के साथ मकतब अनिवार्यतः बनवाए जाने लगे। धार्मिक प्रवृत्ति वाले मुसलमान नागरिकों ने साधारण शिक्षा को धार्मिक शिक्षा का अंगमात्र मान लिया। गुरु को अत्यन्त पवित्र समझा गया, साथ ही गुरु के स्नेहपात्र विद्यार्थी भी पवित्र समझे जाने लगे। किन्तु यह स्मरण रहे कि इसी तीव्र धार्मिक भावना ने ही भारतीय हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिरों और विद्यालयों को नष्ट करने की प्रेरणा प्रदान की और उनके स्थान पर मस्जिदें बनाने के कार्य को प्रोत्साहित किया।

कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति वाले शासकों के विपरीत कुछ ऐसे भी मुस्लिम शासक हुए जिन्होंने अपनी हार्दिक इच्छा से अनेक मकतब-मदरसे तथा पुस्तकालयों का निर्माण कराया। शासक ही क्यों, अन्य प्रतिष्ठित नागरिकों ने भी शिक्षा-प्रसार में सराहनीय योग दिया। राज्य-व्यवस्था में शिक्षित व्यक्तियों को उच्च पद मिलते थे, जिससे पढ़ने-लिखने की ओर उन लोगों का ध्यान विशेषतः आकृष्ट हुआ जो सरकारी नौकरियों के लिए लालायित थे।

विद्वन्मंडली द्वारा ज्ञान-प्रसार

मध्यकालीन राज्य-दरबारों में कवियों तथा साहित्यिकों का होना आश्रयदाता के गौरव को बढ़ाने वाला समझा जाता था। अतः दरबार के रत्न एवम् शोभा की खानि इन साहित्यिकों एवम् कवियों को शासन की ओर से पर्याप्त सम्मान मिलता था, तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भी उन्हें पुरस्कार आदि दिये जाते थे। राज्य-दरबार में विद्वानों की उपस्थिति सम्राट् के यश को उज्ज्वल करती थी। फलतः महत्त्वाकांक्षी अन्य अमीर-उमराव भी अपने दरबारों में विद्वानों को आश्रय देते तथा उनका आदर करते थे। इस प्रकार राजधानी तथा अन्य प्रमुख नगरों में एक विद्वन्मण्डली स्थापित हो जाती थी। इस मण्डली द्वारा ज्ञान के प्रसार का कार्य सम्पन्न होता रहता था।

दीन विद्यार्थियों के लिए सुविधा

साधनहीन किन्तु प्रतिभासम्पन्न छात्रों की शिक्षा का प्रबन्ध शासन की ओर से किया जाता था। अनाथालय आदि खुलावने का मुख्य उद्देश्य यही था। प्रायः राज्य-कोष से छात्र-वृत्तियों के रूप में दीन विद्यार्थियों की सहायता कर उनको प्रोत्साहित किया जाता था। इस प्रकार साधन-विहीन विद्यार्थियों के लिए शिक्षा ग्रहण करने की सुविधायें उपलब्ध थीं।

भारतीय शिक्षा की प्रमुख धारा जीवित

प्राचीन भारतीय वैयक्तिक शिक्षा-प्रणाली में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्नेह तथा आदर का था। गुरु शिष्य को अपने परिवार का अंग मानता तथा उसको पुत्रवत् प्यार करता था। शिष्य भी गुरु का समुचित आदर करता था। हम मुस्लिम-काल की शिक्षा-पद्धति में उस भारतीय परम्परा को पूर्ववत् पाते हैं। मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत भी शिक्षक और छात्र का सम्बन्ध प्राचीन काल की तरह ही प्रायः बना रहा। समृद्धिशाली व्यक्तियों के बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध किसी विख्यात शिक्षक को व्यक्तिगत रूप में सौंप दिया जाता था। किन्तु अन्य शिक्षक भी सम्भवतः

१०-१२ बालकों से अधिक को शिक्षा देने का उत्तरदायित्व प्रायः नहीं ग्रहण करते थे। फलतः शिक्षक और विद्यार्थी भली भाँति पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। इस वैयक्तिक सम्बन्ध के कारण ही शिक्षक अपनी पूर्ण अभिरुचि के साथ छात्रों को शिक्षित एवम् निर्देशित करते रहते थे। मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा में आधुनिक शिक्षा की भाँति विद्यालयों का महत्त्व विद्यार्थियों के लिए न था जिसका एकमात्र कारण उनका शिक्षक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही रहा होगा। यह छात्र और शिक्षक का व्यक्तिगत सम्बन्ध बहुत पवित्र था जिसके कारण विद्यार्थियों में प्रायः अनुशासन का अभाव नहीं था।

धार्मिक दृष्टिकोण

मध्यकालीन मुस्लिम शिक्षा-पद्धति में धार्मिक शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस शिक्षा-पद्धति का आधार ही धार्मिक था। मुस्लिम शासकों ने मदरसे तथा मकतबों का निर्माण ही धार्मिक भावना से प्रेरित हो कर कराया था। शिक्षा-क्षेत्र के अन्तर्गत शासन की ओर से हिन्दू व मुसलमान छात्रों को अपने-अपने धर्म-सम्बन्धी शिक्षा-ग्रहण करने में कोई बाधा न पहुँचाई गई। यद्यपि भारतीय शिक्षा-संस्थायें मुस्लिम शासकों की धार्मिक कट्टरता के कारण मृतप्राय हो गई थीं, तथापि जिन विद्यालयों ने इन विषम परिस्थितियों का सामना कर अपने को जीवित बनाए रखा उनकी शिक्षण-प्रणाली में तत्कालीन सरकार ने कोई विशेष हस्तक्षेप नहीं किया। वे अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतः स्वतन्त्र थीं।

मकतबों तथा मदरसों में प्रमुख स्थान धार्मिक शिक्षा को प्राप्त था। जैसा कि हमको प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में भी देखने को मिलता है कि शिक्षा के क्षेत्र में धर्म का बोलबाला था। समस्त धार्मिक विवादों का हल ज्ञान था और ज्ञान का आधार थी शिक्षा। मुस्लिम काल में भी शिक्षा धार्मिक उलझनों का समाधान करने में समर्थ हुई।

शिक्षा का उद्देश्य मुख्यतः अर्थोपार्जन न था और न विद्यार्थियों को यन्त्रवत् व्यवहृत किया जाता था। विद्यार्थी शिक्षा द्वारा साहित्यिक तथा अन्य विषय-सम्बन्धी ज्ञान अर्जित करते थे, किन्तु शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना था, जीविकोपार्जन का साधन-मात्र नहीं।

शिक्षा की साधारण रूपरेखा

मुस्लिम शिक्षा-संस्थायें

समाज के कुछ समृद्ध व्यक्तियों के बालक तो घर पर ही किसी योग्य शिक्षक के निरीक्षण में शिक्षा प्राप्त करते थे, किन्तु सर्वसाधारण के लिए ऐसा प्रबन्ध कर

सकना पूर्णतः दुर्लभ था। अतः जन-साधारण के बच्चे अपनी शिक्षा विद्यालयों में जाकर ग्रहण करते थे।

प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए मकतबों का प्रबन्ध था। मदरसा उच्च धार्मिक तथा साहित्यिक आदि शिक्षा का केन्द्र होता था। मकतब प्रायः किसी न किसी मस्जिद से संलग्न रहते थे। मकतबों में विद्यार्थियों को शब्द-ज्ञान के साथ-साथ धार्मिक प्रार्थनाएँ भी सिखलाई जाती थीं। मकतबों की शिक्षा अधिकांशतः धार्मिक थी, किन्तु मदरसों में अन्य उपयोगी विषयों को भी स्थान प्राप्त था। तत्कालीन कुछ मदरसे आधुनिक विश्वविद्यालयों की समता कर सकते थे। आगे हम इन मुस्लिम विद्यालयों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

मकतब की कार्य-प्रणाली

मुस्लिम काल में मकतब प्रारम्भिक शिक्षा के विद्यालय थे। एक निश्चित आयु का हो जाने पर बालक इन मकतबों में प्रवेश पाता था। मकतब में प्रवेश पाने की एक सर्वथा पृथक् विधि थी। प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति में भी बालक के विद्यारम्भ के समय एक विशेष परिपाटी का अनुसरण किया जाता था। इस्लामी शिक्षा-पद्धति में भी हम देखते हैं कि बालक को नए-नए वस्त्र पहिना कर कुरान की कुछ धार्मिक शब्दावली को दुहराना पड़ता था। शिक्षा का आधार धार्मिक था। अतः प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थी को इस्लाम धर्म के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ कुरान के अंशों को कंठस्थ करना पड़ता था। इन मकतबों में बालकों को धर्म-सम्बन्धी अनेक बातों का ज्ञान कराया जाता था। साथ ही साथ प्रायः पढ़ना, लिखना तथा अंकगणित आदि की शिक्षा भी दी जाती थी।

राजकुमारों की शिक्षा का प्रबन्ध राजमहलों के भीतर ही हो जाता था। महल के भीतर ही उनको राज्य-संचालन-सम्बधी ज्ञान से लेकर सैनिक शिक्षा, साहित्यिक अथवा धार्मिक शिक्षा ग्रहण करने के लिए योग्य शिक्षक नियुक्त कर दिए जाते थे। कहीं ऐसा भी वर्णन मिलता है कि राजकुमारों को पढ़ाने का कार्य नपुंसक व्यक्तियों को सौंपा जाता था, जो उनको हरम के भीतर ही शिक्षा देने जाया करते थे।

जन-साधारण के बालक मकतबों में जाकर अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते थे। मकतबों में प्रायः हिन्दू बालक भी पढ़ने जाते थे। यहाँ उनको भी अरबी-फारसी ही पढ़नी पड़ती थी। मकतबों में फारसी का प्रारम्भिक ज्ञान इसकी लिपि के ज्ञान से आरम्भ होता था और बाद में कुरान के कुछ अंशों का अध्ययन

विद्यार्थी को कराया जाता था। आगे चल कर विद्यार्थियों को अन्य फारसी साहित्य के ग्रन्थों का अध्ययन भी कराया जाता था जिससे मुस्लिम संस्कृति का ज्ञान बालक को भली प्रकार से हो जाय। प्रमुख फारसी पुस्तकों में 'यूसुफ जुलेखा', 'गुलिस्ताँ' 'लैला मजनू' तथा 'सिकन्दर नामा' आदि पढ़ाई जाती थीं। व्यावहारिक ज्ञान के लिए इन मकतबों में अर्जी नवीसी तथा पत्र लिखना आदि भी सिखा दिया जाता था। इस प्रकार मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली में बालक की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध था।

मदरसों की कार्य-प्रणाली

मदरसे मुस्लिम शिक्षा में उच्च शिक्षा के विद्यालय थे। मकतब की शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी मदरसे में प्रविष्ट होता था। मरदसों में प्रवेश पाने की कोई विधि न थी और न कोई रस्म ही अदा करनी पड़ती थी। मदरसों का प्रबन्ध राज्य अथवा कुछ दानशील व्यक्तियों द्वारा किया जाता था। किन्तु राज्य की ओर से शिक्षा-संचालन की व्यवस्था ठीक प्रकार से न थी। शासक अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही इन मदरसों का निर्माण करता था, तथा आर्थिक सहायता प्रदान करता था। कभी-कभी कुछ जागीरें भी मदरसों के साथ लगा दी जाया करती थीं।

धार्मिक शिक्षा का मदरसों में भी प्रचलन था, किन्तु साथ ही अन्य विषय; जैसे साहित्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, आइन, (कानून) तथा छन्द-शास्त्र आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।

मदरसों में योग्य शिक्षक नियुक्त किए जाते थे। इन शिक्षकों की नियुक्ति प्रायः राज्य की ओर से होती थी, किन्तु कभी-कभी अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति भी शिक्षकों को नियुक्त करते थे। मदरसों में शिक्षा का माध्यम फारसी भाषा थी, किन्तु प्रत्येक मुसलमान विद्यार्थी के लिए अरबी पढ़ना अनिवार्य था। उच्च शिक्षा के अन्तर्गत इतिहास के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता था। कहीं-कहीं पर मदरसों के साथ छात्रावासों का भी प्रबन्ध था, जहाँ पर विद्यार्थियों के भोजन आदि की भी व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी।

शिक्षक

प्राचीन भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। शिक्षक की विद्वत्ता उसको समाज में प्रतिष्ठित बनाये रखती थी तथा शिक्षक का चरित्र उसके सम्मान का आधार समझा जाता था। मुस्लिम कालीन शिक्षा में

भी शिक्षक के प्रति विद्यार्थियों में उतना ही आदर तथा सम्मान था जितना कि ब्राह्मणीय शिक्षा के अन्तर्गत ।

छात्र और शिक्षक का पारस्परिक सम्बन्ध प्राचीन शिक्षा-प्रणाली की भाँति आदर तथा स्नेह का रहा । विद्यार्थी अपने गुरु का सम्मान करते थे । शिक्षक भी अपने शिष्य को पुत्र की भाँति मानते थे । विद्यार्थी के कल्याण के लिए शिक्षक हर प्रकार का प्रयास करता था । इस प्रकार मुस्लिम शिक्षा में भी शिक्षक और विद्यार्थी में वैयक्तिक सम्बन्ध बना रहा जो दोनों के पवित्र बन्धन की रश्मियों को दृढ़ करने में सहायक सिद्ध हुआ । मदरसों में जहाँ कहीं भी छात्रावासों की व्यवस्था थी वहाँ विद्यार्थी और शिक्षक प्रायः एक ही साथ रहते तथा एक ही प्रकार का भोजन करते थे । इस प्रकार उनकी पारस्परिक निकटता के अवसर और अधिक सुलभ थे । ऐसा विश्वास किया जाता था कि गुरु की कृपा के बिना सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं । किन्तु औरंगजेब का अपने गुरु के प्रति किया गया व्यवहार इसका अपवाद है ।

मदरसों में शिक्षक की अनुपस्थिति में योग्य विद्यार्थी स्वयं विद्यालय में शिक्षक का कार्य-भार सम्भालते थे । प्राचीन शिक्षा में भी 'बालचर-प्रणाली'[1] प्रचलित थी । इसका प्रतिरूप हमें मध्यकाल में भी देखने को मिलता है ।

विशेष

भारत में जिस समय मुस्लिम सत्ता पूर्णतः स्थापित हो गयी, उस समय अनेक भारतीयों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया । इन नव धर्मावलम्बियों के लिए नितान्त आवश्यक था कि वे अपने धर्म के बारे में व्यापक ज्ञान प्राप्त करें । इस कारण मुस्लिम शिक्षा-क्षेत्र में उनका आना अनिवार्य ही था, जहाँ शिक्षक प्रायः इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों और आदर्शों का ज्ञान छात्रों को कराते थे ।

शासन-व्यवस्था में भी उच्च पद प्राप्त करने के लिए राज्यभाषा फारसी का ज्ञान आवश्यक था । अतः अनेक हिन्दू पद-लालसा से प्रभावित होकर इन मुस्लिम विद्यालयों में जाते और अरबी-फारसी का अध्ययन करते थे । मकतब और मदरसों में किसी भी जाति के लोगों को विद्याध्ययन करने के लिए रोकथाम न थी । अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मुस्लिम शिक्षा, जहाँ कि वर्ग-विशेष का ध्यान नहीं रक्खा जाता था, सांस्कृतिक समन्वय में सहायक सिद्ध हो सकती थी । किन्तु धार्मिक कट्टरता ने ऐसा न होने दिया । मुस्लिम शिक्षा द्वारा प्रशस्त मार्ग

---

१. Monitorial System.

का अनुसरण यदि उदारता के साथ किया जाता तो भारत में साक्षरता की कमी न होती।

सारांश

भारत में मुस्लिम राज्य और शिक्षा

भारतवर्ष में मुस्लिम राज्य की स्थापना मुहम्मद गोरी ने सन् ११९२ ई० में पृथ्वीराज चौहान को हरा कर की। उसके बाद भारतीय शासन की बागडोर कई वंशों के हाथ में रही। गुलाम वंश, खिलजी वंश, तुगलक वंश, सैयद तथा लोदी वंश सत्ताधारी रहे। इन सुल्तानों के शासन-काल में भारत में मुस्लिम शिक्षा का प्रसार हुआ। मुस्लिम शिक्षा के दो रूप थे, प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा। धार्मिक शिक्षा का महत्त्व विशेष रूप से बना रहा। शिक्षा-प्रसार का कार्य शासन की वैयक्तिक रुचि अथवा इच्छा द्वारा संचालित होता था। अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए शासक शिक्षा-क्षेत्र में कार्य करते थे। धार्मिक प्रचार भी शिक्षा-प्रसार का आधार था। यह आधार मुगलों के समय में भी लगभग बना रहा।

मुस्लिम शिक्षा-पद्धति में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध

शिक्षक को यथोचित सम्मान प्राप्त था। शिष्य और गुरु परस्पर स्नेह से सम्बन्धित थे। विद्यालयों में विद्यार्थी शिक्षक के न होने पर उसका कार्य सँभाल लेते थे। छात्रावासों में शिक्षक और विद्यार्थी समान रूप से रहते थे। शिक्षकों की विद्वत्ता तथा उनका चरित्र उनको समाज में प्रतिष्ठित बनाये रखता था।

शासन और शिक्षा

शासन की ओर से कोई भी ऐसा विभाग न था जो पूर्णत: शिक्षा की देख-भाल करता। मुसलमान शासन एकतंत्रात्मक था, किन्तु शिक्षा-प्रसार को एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। राज्य की ओर से साधनहीन विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता मिलती थी। विद्वानों का आदर किया जाता था। राजधानी के अतिरिक्त प्रान्तों में भी अमीर-उमरावों के यहाँ विद्वानों की मण्डली जुटा करती थी। मकतब और मदरसों में शिक्षकों की नियुक्ति राज्य की ओर से की जाती तथा मदरसों का प्रबन्ध किया जाता था। कभी-कभी मदरसों के साथ जागीरें भी लगा दी जाती थीं। राज्य की ओर से शिक्षा-प्रणाली में भी परिवर्तन किए जाते थे। अकबर का प्रयास इस ओर उल्लेखनीय है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पर मुस्लिम शिक्षा का प्रभाव

मुस्लिम राज्य की स्थापना के साथ ही कट्टर इस्लाम के अनुयायी शासकों ने भारतीय शिक्षा-संस्थाओं को काफी हानि पहुँचाई। अनेक बौद्ध अथवा ब्राह्मणीय शिक्षा के केन्द्र नष्ट कर दिये गए और असंख्य पुस्तकें जला दी गयीं। किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दुओं को मुस्लिम शिक्षा प्राप्त करने की रोकथाम न की गयी तथा उनको अपने धार्मिक साहित्य के अध्ययन से भी वंचित न रक्खा गया। अवशिष्ट भारतीय शिक्षा-संस्थायें आन्तरिक कार्य में स्वतंत्र गति से चलती रहीं।

मकतबों और मदरसों की शिक्षा का रूप

मकतबों में शिक्षा पूर्णतः धार्मिक थी। फारसी की लिपि का ज्ञान सर्व प्रथम कराया जाता, उसके बाद कुरान की आयतों को पढ़ाया जाता था। मकतब-प्रवेश की एक रस्म मनाई जाती थी। मकतबों की शिक्षा रटन्त-पद्धति पर आधारित थी। मदरसों में शिक्षक व्याख्यान देते थे। मकतबों में व्यावहारिक शिक्षा पर बल नहीं दिया जाता था, किन्तु मदरसों में धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ अन्य विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी, जिनमें साहित्य, तर्कशास्त्र, दर्शन, गणित, व्याकरण, आइन (कानून) तथा छन्द-शास्त्र आदि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। मदरसों में भी शिक्षा का उद्देश्य अर्थोपार्जन न था।

मुस्लिम शिक्षा की विशेषताएँ

मुस्लिम शिक्षा के प्रसार का प्रेरणा-श्रोत पूर्णतः धार्मिक प्रवृत्ति पर अवलम्बित था, किन्तु उसमें कुछ विशेषताएँ ऐसी रहीं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

१. हिन्दुओं के लिए विद्यालयों के द्वार खुले रहे।
२. गुरु-शिष्य-सम्बन्ध प्रेम और आदर का रहा।
३. विद्यार्थियों का सम्बन्ध विद्यालय से न हो कर शिक्षक से रहा।
४. मुस्लिम शिक्षा यान्त्रिक नहीं थी।
५. मुस्लिम शिक्षा का उद्देश्य अर्थोपार्जन न होकर ज्ञानोपार्जन का था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना का संक्षिप्त वर्णन कीजिए

और बतलाइए कि मुस्लिम शिक्षा का आविर्भाव किस प्रकार यहाँ हुआ ?

२. मुस्लिम शिक्षा-संगठन का उल्लेख करते हुए मकतब और मदरसों की शिक्षा की विशेषता का उल्लेख कीजिए।

३. कौन-कौन सी बातों में हम मुस्लिम शिक्षा और प्राचीन भारतीय शिक्षा में समानता पाते हैं ?

४. 'मुस्लिम शिक्षा पूर्णतः धार्मिक शिक्षा थी' इस कथन की पुष्टि कीजिए ।

५. 'मुस्लिम शिक्षा में व्यवस्था का अभाव था'—इस कथन से आप कहाँ तक सहमत है ? अपने विचारों द्वारा इस कथन की आलोचना कीजिए ।

अध्याय १४

मुस्लिम सुलतान और शिक्षा

(सन् १२०६—१५६० ई०)

गुलाम वंश

कुतुबुद्दीन

गुलाम वंश की स्थापना करने वाला कुतुबुद्दीन ऐबक स्वयम् एक विद्याप्रेमी शासक था। उसने बहुत थोड़े ही दिनों तक राज्य किया। परन्तु धार्मिक प्रवृत्ति तथा विद्या-प्रेम के कारण उसने सैकड़ों मस्जिदें बनवाईं। इन मस्जिदों के साथ अनेक मकतबों का भी प्रबन्ध किया गया। मुस्लिम शिक्षा को तो वह आगे बढ़ाना चाहता था, परन्तु हिन्दू धर्म से उसे चिढ़ थी। फलतः उसके शासन-काल में अनेक हिन्दू मंदिर धराशायी हुए और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ। इसका फल यह हुआ कि भारतीय शिक्षा को बहुत बड़ी क्षति पहुँची। मुहम्मद गोरी के प्रमुख सिपहसालार बख्तियार ने भारतीय शिक्षा-संस्थाओं के साथ ही भारतीय शिक्षा-पद्धति को भी अकथनीय क्षति पहुँचाई। नालंदा, नदिया तथा विक्रमशिला आदि को ध्वंस करके उसने भारतीय शिक्षा और संस्कृति की नींव हिला दी और इन भारतीय शिक्षा-संस्थाओं के ध्वंसावशेष पर मस्जिदें बनवाईं और साथ ही मुस्लिम शिक्षा का भी विस्तार किया।

अलतमश

यद्यपि अलतमश एक शिक्षाप्रेमी शासक था, किन्तु वह अपना अधिक ध्यान शिक्षा-प्रसार की ओर न देकर शासन-व्यवस्था को दृढ़ करने के प्रयास में ही लगाये रहा। फलतः उसके समय में शिक्षा की समुचित उन्नति न हो सकी और न कोई विशेष प्रयास ही शासन की ओर से इस हेतु किया गया। किन्तु उसकी उदारता और शिक्षा-प्रेम के कारण उसके दरबार में विद्वानों का आदर था और अनेक विद्वान उसके दरबार में थे। दिल्ली में उसने एक मदरसा भी बनवाया जिसको सुलतान फिरोज के समय में नष्ट कर दिया गया।

रजिया

रजिया स्वयं कुरान की विदुषी थी। उसे विद्या से बड़ा ही प्रेम था। अतः अपने दरबार में उसने विद्वानों का बड़ा आदर किया। उसके राज्य-काल में दिल्ली में 'मुईज्जी मदरसा' नामक एक वृहत् शिक्षा-संस्था थी।

नासिरुद्दीन

सुलतान नासिरुद्दीन ने शिक्षा-प्रसार की ओर जो कदम उठाया वह उसकी विद्वत्ता एवम् मितव्ययिता का अनूठा उदाहरण है। सुलतान स्वयं अपनी लेखनी द्वारा अपनी जीविका कमाता था। सुलतान के इस कार्य ने भावी विद्याप्रेमियों को प्रोत्साहित किया। सुलतान विद्या-प्रसार को अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझता था। उसके लगभग २० वर्ष के शासन-काल में भारतवर्ष में मुस्लिम शिक्षा की अच्छी प्रगति रही और साथ ही फारसी साहित्य का भी विकास हुआ। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'तबकाती नासिरी' उसी के दरबार में उसी के निरीक्षण में लिखी गई।

बलबन

बलबन स्वयं एक ऐसा शासक था जिसमें साहित्य-प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ था। उसके दरबार में भी अनेक विद्वान सम्मानित थे। पश्चिमी सरहद पर चंगेज खाँ के आक्रमणों से भयभीत अनेक छोटे-छोटे राजा-महराजा आकर दिल्ली में रहने लगे थे। इन राजा-महराजाओं में अनेक साहित्यिक तथा विद्वान भी थे। इस प्रकार बलबन के दरबार में विद्वानों और साहित्यिकों का अच्छा समूह था।

प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो, जो कि अपनी फारसी कृतियों के लिए भारत के बाहर भी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, सुलतान के बड़े पुत्र राजकुमार मुहम्मद के उस्ताद थे। वे अपने शिष्य मुहम्मद के साथ साहित्यिक समारोहों में बहुधा योग दिया करते थे। बलबन के शासन-काल में साहित्यिक सभाओं का बहुधा आयोजन हुआ करता था। अमीर हसन देहलवी दूसरे तत्कालीन कवि थे। ये भी राजकुमार मुहम्मद को काफी प्रोत्साहन दिया करते थे। राजकुमार को भी साहित्य से प्रगाढ़ प्रेम था। वह विदेशी विद्वानों को भी दिल्ली की श्रीवृद्धि के लिए जब तब आमन्त्रित किया करता था। राजकुमार ने शेख उसमान तूरानी तथा सिराज के प्रसिद्ध कवि शेख शादी को भी दिल्ली बुलवाने का प्रयत्न किया, किन्तु सफल न हो सका। बलबन की अपने पुत्रों को यह शिक्षा कि 'विद्वानों की खोज के लिए कुछ भी बाकी न रखो' उसके विद्या-प्रेम का द्योतक है। इस प्रकार उसने अपने पुत्रों को अपनी भावना से प्रभावित किया। फलतः बलवन का दूसरा पुत्र भी साहित्य-प्रेमी हुआ

और उसने एक ऐसी संस्था को जन्म दिया जहाँ संस्था के सदस्य के रूप में अनेक गायक, नर्तक तथा कहानीकार आदि उपस्थित रहते थे। इस प्रकार इस सांस्कृतिक संस्था द्वारा बलबन का राज्य तो सम्मानित हुआ ही; शिक्षा-प्रसार में भी पर्याप्त सहायता मिली। इन प्रयासों के अतिरिक्त बलबन विद्वानों से प्रत्यक्ष वार्तालाप कर उनको पुरस्कृत किया करता था। बलबन के राज्य-काल में शिक्षा का बड़ा विकास हुआ और दिल्ली की सांस्कृतिक उन्नति भी हुई। अमीर खुसरो ने अपनी कविता में इसकी ओर स्वयं संकेत किया है।

खिलजी वंश

खिलजी वंश का संस्थापक जलालुद्दीन था। उसे विद्या और साहित्य से बड़ा ही प्रेम था। उसके दरबार में पूर्ववर्ती शासन-काल के प्रसिद्ध कवि एवम् विद्वान समान रूप से सम्मानित थे। साथ ही विद्याध्ययन की सुविधा प्रदान करने के लिए उसने पुस्तकालय स्थापित किया और अमीर खुसरो को उस शाही पुस्तकालय का अध्यक्ष नियुक्त किया। किन्तु उसके परवर्ती शासक अलाउद्दीन को विद्या से कोई लगाव न था। वह पूर्णतः क्रूर तथा साम्राज्यवादी शासक था। अपनी उपेक्षा के कारण उसने उस समय प्रचलित शिक्षा-संस्थाओं को अत्यधिक हानि पहुँचाई। उसने मकतब व मदरसों के साथ लगी हुई जमीन को पुनः अधिकृत कर लिया। परिणामतः अनेक शिक्षा-संस्थायें धनाभाव के कारण बन्द हो गईं।

फिर भी अलाउद्दीन की शिक्षा के प्रति घोर उदासीनता दिल्ली की अग्रसर होती हुई सांस्कृतिक उन्नति को अवरुद्ध न कर सकी। तत्कालीन समाज के प्रतिष्ठित एवं शिक्षा-प्रेमी व्यक्तियों ने अपने निजी प्रयासों द्वारा उस परम्परा को जीवित बनाए रखा और विद्वानों की मण्डली जो स्थापित हो चुकी थी वह छिन्न-भिन्न न होने पायी। अलाउद्दीन के शासन-काल में भी विद्वान मुसलमानों के श्रद्धा के पात्र बने रहे। मुस्लिम जगत् में उस समय भी उनका यथोचित सम्मान था। अनेक श्रेणियों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न विद्वान अपने-अपने क्षेत्र में प्रगति करते रहे। इतिहास, न्याय-शास्त्र, धर्मशास्त्र तथा तर्कशास्त्र आदि के विद्वान अलाउद्दीन के राज्य-काल में भी बहुत थे। अलाउद्दीन के बाद भी खिलजी वंश में कोई शिक्षा-प्रेमी शासक न हुआ जो शिक्षा-प्रसार में सहायता करता। हाँ, उस अव्यवस्थित शिक्षा की अवस्था में मुबारक खिलजी ने अपने पूर्वज द्वारा छीन ली गई विद्यालयों की भूमि उनको यथावत् लौटा दी जिससे कुछ मृतप्राय धार्मिक संस्थाओं ने पुनः जीवन प्राप्त किया और अनेक विद्यालय फिर जीवित हो कर अपना कार्य-संचालन करने में समर्थ हो सके।

तुगलक वंश

तुगलक वंश ने शिक्षा को जो प्रोत्साहन दिया, वह सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। इस वंश के लगभग सभी सुलतान शिक्षा-प्रेमी थे और उनके शिक्षा-सम्बन्धी उत्थान की चेष्टाएँ सराहनीय हैं।

गियासुद्दीन तुगलक

वह स्वयं एक विद्यानुरागी एवं विद्वान शासक था। इस वंश के संस्थापक गियासुद्दीन ने सांस्कृतिक क्षेत्र में एक ऐसे भवन की नींव डाली जिसका निर्माण आगे चलकर फीरोज द्वारा हुआ। गियासुद्दीन के दरबार में विद्वानों का बड़ा आदर था। अनेक विद्वानों को वह अपने दरबार में आमंत्रित कर पुरस्कृत करता था। राजधानी के बाहर के विद्वानों को भी राज्य द्वारा अनेक सुविधायें प्रदान की जाती थीं।

मुहम्मद तुगलक

मुहम्मद तुगलक एक सुविख्यात विद्वान एवं सफल लेखक था। उसके दरबार में कवि, दार्शनिक, चिकित्सक तथा तर्कशास्त्री रहते थे और लगभग इन सभी विषयों का ज्ञान सुलतान को था। अतः स्वाभाविक ही था कि ऐसे विद्वान शासक के संरक्षण में शिक्षा की पर्याप्त उन्नति हो। सुलतान की विद्वत्ता, प्रतिभा एवं दानशीलता तथा अपूर्व सहयोग द्वारा शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। अनेक बाहरी विद्वान भी सुलतान के उपर्युक्त गुणों से आकृष्ट होकर उसके दरबार में रहने लगे थे। मौलाना मुईउद्दीन उमरानी उसके समय का प्रसिद्ध साहित्यकार था। सुलतान के सामूहिक शिक्षा-प्रसार के प्रयत्नों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट विद्यार्थियों को उसकी ओर से वजीफे भी मिलते थे। उसने अनेक मकतबों का निर्माण भी करवाया।

शिक्षा की यह प्रगति अधिक समय तक न चल पायी और मुहम्मद तुगलक की शक्की प्रकृति का शिकार जब दिल्ली बनी तो साथ ही अनेक विद्वान भी मृत्यु के मुख में झोंक दिये गये। राजधानी के परिवर्तन ने दिल्ली से विद्वन्मण्डली को आमूल नष्ट कर दिया और वह सुरम्य उद्यान निर्जन हो गया। विद्वान आश्रय-विहीन होकर तितर-बितर हो गए। वर्षों की संयोजित समृद्धि क्षणमात्र में विनष्ट हो गयी। जन-समुदाय क्लान्त हो उठा। समस्त देश में आतंक छा गया। फिर ऐसे वातावरण में शिक्षा की प्रगति कैसे सम्भव थी ? दौलताबाद जाने के बाद सुलतान ने नवीन राजधानी को सुसज्जित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वह अंशतः भी सफल न हो सका और दिल्ली का गौरव दौलताबाद को न प्राप्त हो सका।

फ़ीरोज तुगलक

फीरोज तुगलक न केवल एक योग्य शासक ही था, वरन् वह एक उदार शिक्षा प्रेमी एवं प्रतिभावान् व्यक्ति भी था । भारतीय शिक्षा के इतिहास में फीरोज अमर है। उसके शिक्षा-प्रसार, शान्ति-स्थापन, सांस्कृतिक उत्थान के प्रति किए गए प्रयत्न सर्वदा सराहनीय रहेंगे ।

बचपन से ही फीरोज को सुयोग्य शिक्षकों का संरक्षण एवं विद्वानों का साहचर्य प्राप्त था । मुहम्मद तुगलक स्वयं भी फीरोज की शिक्षा पर विशेष ध्यान देता था । परिणामतः बड़े होने पर फीरोज के व्यक्तित्व में साहित्य और कला के प्रति प्रेम प्रत्यक्ष रूप से प्रस्फुटित हो गया । इस अपूर्व प्रतिभा के द्वारा सुलतान फीरोज ने देश में साहित्य की आनन्दमयी सरिता प्रवाहित कर दी । विद्वानों की आर्थिक सहायता द्वारा फीरोज उन्हें प्रोत्साहित करता रहता था। उसके संरक्षण में लगभग १८ सहस्र दास-बालक शिक्षा ग्रहण करते थे । लगभग ३० ऐसे मदरसों का निर्माण फीरोज ने कराया जहाँ विद्यार्थी एवं शिक्षक साथ-साथ रहा करते थे । व्यक्तिगत विद्वानों को आर्थिक सहायता देने के अतिरिक्त शिक्षा-संस्थाओं को भी राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी। मस्जिद से जुड़े प्रत्येक मकतब में एक शिक्षक स्थायी रूप से नियुक्त किया गया था ।

विद्वानों तथा साहित्यकारों को फीरोज के हृदय में विशेष स्थान प्राप्त था । महलों में सबसे सुन्दर महल विद्वानों के लिए अलग किया हुआ था । निर्दिष्ट दान की १३६ लाख धनराशि में से ३६ लाख रुपया केवल विद्वानों तथा धार्मिक व्यक्तियों को ही दिया जाता था ।

अपनी उदार प्रकृति के कारण वह अपने दासों की उन्नति का समुचित ध्यान रखता था । उसके राज्य में १२,००० दास ऐसे सुयोग्य कलाकार थे जो सुलतान की आज्ञानुसार विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादक कार्य करते थे । धार्मिक कार्यों में भी दासों का हाथ रहता था । कुरान पढ़ने तथा लिखने के साथ अन्य धार्मिक ग्रंथों की नकल करने का कार्य दासों को सौंपा गया था ।

फीरोज के सुव्यवस्थित शासन के नियमों में से एक नियम पूर्णतः शिक्षा-प्रसार से ही सम्बन्धित था, जिसमें शिक्षा-प्रसार को राज्य की एक जिम्मेदारी बताया गया था और अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित संस्थाओं के संचालन तथा पुनुरुद्धार के भार ग्रहण करने को सुलतान ने अपना परम कर्त्तव्य घोषित किया । सुलतान ने स्वयं अपनी आत्मकथा 'फतूहाते फीरोजशाही' में इन शिक्षालयों के निर्माण का वर्णन किया

है। कांगड़ा-विजय में सुलतान को एक ऐसा बड़ा पुस्तकालय मिल गया था जिसमें संस्कृत की सहस्रों पुस्तकें थीं। विद्यानुरागी सुलतान ने उस पुस्तकालय की असंख्य पुस्तकों को फारसी में अनूदित कराया।

फीरोज ने फीरोजाबाद में फीरोजशाही मदरसा स्थापित किया। इसका भवन बड़ा ही रमणीक एवं आकर्षक बना था। भवन के साथ ही एक विस्तृत उद्यान भी था। इस विद्यालय में तत्कालीन सुविख्यात विद्वान अध्यापक थे। विद्यालय में विद्यार्थी और अध्यापक साथ-साथ रहते थे। यहाँ धार्मिक अध्ययन पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। विद्यार्थियों का नियमतः नमाज में सम्मिलित होना अनिवार्य था। विद्यालय के खर्च के साथ शिक्षकों तथा विद्यार्थियों की दैनिक आवश्यकताओं का भार-वहन भी राज्य की ओर से होता था। विद्यालय की ओर से दान-पुण्य भी किया जाता था। मुस्लिम धार्मिक शिक्षा के अनिवार्य होने के कारण स्वभावतः इन विद्यालयों में हिन्दू मतानुयायियों के लिए स्थान न था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि फीरोज की दृष्टि में हिन्दू उपेक्षित थे। फीरोज ने खान जहान का उच्च पद एक हिन्दू राजा को सौंप रखा था। कुछ मुसलमान भी भारतीय भाषा और सांस्कृतिक ज्ञान से रुचि रखते थे। फीरोज के राज्य काल में भारतीय तथा इस्लामी सांस्कृतिक सम्मिश्रण के प्रमाण मिलते हैं। अनेक भारतीय धार्मिक तथा सांस्कृतिक पुस्तकों का अनुवाद इस बात का द्योतक है।

फीरोज की मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य का कोई भी उत्तराधिकारी शासक इतना योग्य न था कि शिक्षा-प्रसार की ओर वह ध्यान देता। परिस्थिति भी अनुकूल न थी। बहुत से सूबेदार हो गए थे। तैमूरलंग के आक्रमण ने देश के वातावरण में एक हलचल-सी व्याप्त कर दी थी। फिर भी कुछ छोटे-छोटे राजाओं ने शिक्षा-प्रसार के लिए प्रयास किये, जो सराहनीय हैं।

सैयद वंश

सैयद वंश का शिक्षा-प्रसार में कोई हाथ नहीं था। सैयद वंश के किसी भी शासक ने इस ओर कोई उल्लेखनीय प्रयास नहीं किया। फलतः इस वंश के काल में शिक्षा और दिल्ली का सांस्कृतिक विकास प्रायः अवरुद्ध-सा ही रहा।

लोदी वंश

बहलोल लोदी

बहलोल लोदी के समय में देश में फिर से शान्ति स्थापित हुई। बहलोल स्वयं बहुत शिक्षित न था, किन्तु विद्वानों का आदर करता था। उसने कुछ मदरसों का भी निर्माण कराया और इस प्रकार भारत में सांस्कृतिक संस्थाओं को पनपने का फिर अवसर प्राप्त हुआ।

सिकन्दर लोदी

सिकन्दर लोदी का कवि होने के नाते साहित्य-सेवी होना स्वाभाविक ही था। वह गुलरुख के उपनाम से कविता किया करता था। शेख जमाल सुलतान के गुरु थे। सुलतान का लिखा दीवान लगभग ९,००० पद्यों का है। विदेशी विद्वानों को भी सिकन्दर अपनी राजधानी आगरा में बुलाया करता था। अरब, फारस तथा बुखारा के अनेक प्रसिद्ध विद्वान आकर आगरा में रहने लगे थे। सुलतान ने सैनिक पदों पर भी शिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति पर जोर दिया, जिससे युद्ध-विभाग में भी शिक्षा का समावेश हुआ। सुलतान के संरक्षण में अनेक पुस्तकों का संकलन तथा अनुवाद किया गया और इस प्रकार मुस्लिम विद्या की समुचित उन्नति हुई। साथ ही सुलतान की धार्मिक कट्टरता द्वारा हिन्दू संस्कृति को बड़ी हानि पहुँची। अनेक मन्दिर ध्वंस कर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाई गयीं। सैकड़ों भारतीय विद्यालयों को नष्ट कर उनके स्थान पर मकतबों का निर्माण कराया गया।

इब्राहीम लोदी के राज्य-काल में तुर्क अफगानों का प्रकाशित भाग्य सितारा धूमिल पड़ गया और मुगलों के भारत पर आक्रमण ने भारत के इतिहास की धारा ही बदल दी, तथापि शेरशाह ने कुछ दिनों के लिए भारत में तुर्क अफगानों की शक्ति का पुनरुद्धार किया, किन्तु वह स्थायी न हो सका और सत्ता पूर्णरूपेण मुगलों के हाथ में ही चली गयी।

सारांश

मुस्लिम सुलतानों द्वारा शिक्षा का विकास

भारत में मुस्लिम शासन स्थापिन होने के पश्चात् सत्ता कई वंशों के हाथ में रही और लगभग सभी वंशों के शासकों ने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ न कुछ योग दिया। क्रमानुसार गुलाम वंश, खिलजी बंश, तुगलक वंश, सैयद वंश तथा लोदी वंश का शासन रहा जिनके शासकों के नाम ये हैं:—कुतुबुद्दीन, अलतमश, रजिया, नासिरुद्दीन, बलबन..जलालुद्दीन, अलाउद्दीन, गियासुद्दीन, मुहम्मद तुगलक, फीरोज तुगलक.. बहलोल लोदी तथा सिकन्दर लोदी आदि।

हिन्दूशिक्षा-संस्थाओं को नष्ट कराकर कुतुबुद्दीन ऐबक ने मुस्लिम शिक्षा का प्रसार करने का प्रयास किया। अलतमश के दरबार में विद्वान सम्मानित थे तथा दिल्ली में एक मदरसा भी उसके शासन काल में बनवाया गया। रजिया के समय में 'मुईज्जी मदरसा' नामक एक शिक्षा-संस्था थी तथा उसके दरबार में भी विद्वानों का आदर था। प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'तबकाती नासिरी' नासिरुद्दीन के दरबार में उसके ही निरीक्षण में लिखी गई थी। बलबन के समय में अनेक प्रसिद्ध

विद्वान थे। उसके पुत्र स्वयं बड़े विद्या-प्रेमी थे तथा विदेश से भी विद्वानों को बुलाया करते थे। गियासुद्दीन तुगलक ने विद्वानों को पुरस्कृत किया तथा एक विद्यालय की नींव डलवाई। मुहम्मद तुगलक स्वयं विद्वान था, किन्तु उसका राजधानी-परिवर्तन शिक्षा के विकास में बाधक सिद्ध हुआ। फीरोज के शासन-काल में शिक्षा की ओर समुचित ध्यान दिया गया। सुलतान ने शिक्षा-संस्थाओं के संचालन का भार स्वयं ग्रहण किया तथा 'फतूहाते फीरोज शाही' नाम से अपनी आत्म-कथा लिखी। बहलोल लोदी के शासन-काल में भी मदरसों का निर्माण हुआ और विद्वानों का आदर किया गया। सिकन्दर लोदी स्वयं कवि था। उसके लिखे ६,००० पद्यों के दीवान का वर्णन मिलता है। इस प्रकार इन सुलतानों द्वारा शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ।

शिक्षा का रूप

मुस्लिम शिक्षा में प्रचलित प्रारम्भिक एवं उच्च शिक्षा मकतबों तथा मदरसों में दी जाती थी। धार्मिक शिक्षा की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। भारतीय शिक्षा के प्रति अधिकांश सुलतान अनुदार थे। फारसी को प्रोत्साहित किया गया। हिन्दुओं को शिक्षा के क्षेत्र में उचित स्थान न मिल पाया। किसी-किसी सुलतान ने शिक्षा को जीविकोपार्जन का माध्यम बनाया[1], किन्तु व्यावहारिकता को शिक्षा के क्षेत्र में न लाया गया। साहित्य-सभाओं आदि का आयोजन[2] भी किया जाता था। कुछ सुलतानों ने संगीत, नृत्य आदि को भी प्रोत्साहित किया। अधिकतर फारसी साहित्य के सृजन की ओर विशेष ध्यान दिया गया। किसी भी व्यवस्थित शिक्षा-विभाग का प्रबन्ध न था। इससे विशेष रूप से शिक्षा का लाभदायक रूप सामने न आ सका।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सन् १२०६ से १५६० ई० तक के मुस्लिम सुलतानों के शासन-काल में शिक्षा के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई ? बतलाइए।

२. भारतीय साहित्य को इन सुलतानों ने किस दृष्टि से देखा और उसका शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३. जिन सुलतानों के समय में शिक्षा-प्रसार-सम्बन्धी कार्य विशेष रूप से हुए, उनका वर्णन कीजिए।

४. मुस्लिम सुलतानों के शासन-काल में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की विवेचना कीजिए।

---

१. गुलाम वंश का शासक नासिरुद्दीन स्वयं लिखकर अपनी जीविका कमाता था।

२. बलबन के शासन-काल में साहित्य-सभाओं का आयोजन हुआ करता था।

अध्याय १५

छोटे-छोटे मुस्लिम राज्यों में शिक्षा की प्रगति

केन्द्रीय शासन के अतिरिक्त तुर्क अफगान-काल के अन्य छोटे-छोटे मुस्लिम राज्यों में भी शिक्षा की प्रगति के कुछ सराहनीय प्रयत्न किये गए, किन्तु विस्तृत क्षेत्र में नहीं। तत्कालीन प्रमुख राज्यों में बहमनी राज्य, बीजापुर राज्य, गोलकुण्डा, मालवा, खानदेश, जौनपुर एवं बंगाल आदि हैं। नीचे हम इन राज्यों में शिक्षा की प्रगति की ओर अति संक्षप में संकेत कर रहे हैं :—

बीजापुर राज्य

कहा जाता है कि बीजापुर 'विद्यापुर' का अपभ्रंश है। बीजापुर का संस्थापक मुहम्मद आदिल एक सुसंस्कृत साहित्यिक व्यक्ति था। उसमें गद्य तथा पद्य दोनों को अच्छी भाषा में लिपिबद्ध करने की क्षमता थी। उसके दरबार में साहित्यिकों तथा संगीतज्ञों का बड़ा सम्मान था। फारस, रूस एवं तुर्किस्तान आदि के विदेशी विद्वान उसके दरबार में रहते थे।

बीजापुर का द्वितीय सुलतान इसमाइल आदिल का साहित्य और कला से बड़ा प्रेम था। संगीत तथा चित्रकारी में भी उसकी बड़ी रुचि थी। फलतः बीजापुर कलाकारों तथा विद्वानों से सुशोभित था। एक महत्त्वपूर्ण घटना इसके शासन-काल में यह हुई कि राज्य का आय-व्यय-लेखा फारसी के स्थान पर हिन्दी में रखा जाने लगा और इस कार्य को सम्पन्न करने के हेतु योग्य ब्राह्मणों को रक्खा गया। यूसुफ आदिल ने एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह करके सांस्कृतिक सम्मिश्रण को प्रोत्साहन दिया। उसने अन्य भारतीय भाषाओं को भी प्रश्रय दिया। 'तारीखी फेरिस्ता' का लेखक मुहम्मद कासिम इसी सुलतान के दरबार में था। राजकीय पुस्तकालय के अवशेष बीजापुर के असीरी महल में अब भी मिलते हैं।

बहमनी राज्य

बहमनी राज्य के प्रमुख शासकों में मुहम्मद शाह बहमनी विद्या-प्रेमी था। उसके दरबार में विदेशी विद्वान भी रहते थे। अनाथों की शिक्षा का प्रबन्ध करने के अन्तर्गत उसने एक बड़ा मदरस खोला, जिसमें योग्य शिक्षक नियुक्त किये गये तथा अन्य

मकतब भी खोले गये जहाँ अनाथ बालकों की देख-रेख की जाती थी। इन संस्थाओं की आवश्यक आर्थिक माँग की पूर्ति-हेतु भूमि दे दी गई थी, जिसकी पर्याप्त आय से विद्यालय निजी व्यय सुविधापूर्वक वहन कर सकते थे। विद्वत्ता के कारण मुहम्मद शाह को लोग 'अरस्तू' कहा करते थे। मुहम्मद शाह के बाद फीरोज बहमनी ने भी विद्या-प्रसार में पर्याप्त योग दिया। वह स्वयं कई भाषाओं का ज्ञाता था। उसके अन्तःपुर में कई देशों की रमणियाँ रहती थीं, जिनसे वह उनकी मातृभाषा में बातचीत किया करता था। फीरोज तर्कशास्त्र, ज्यामिति, विज्ञान तथा काव्य आदि का प्रेमी था तथा वह स्वयं एक कुशल कवि था। प्रकृति के अध्ययन में अपनी विशेष रुचि के कारण उसने नक्षत्रों के अन्वेक्षण के लिए दौलताबाद के समीप एक पहाड़ी पर प्रयोगशाला बनवानी चाही, किन्तु तत्कालीन खगोलशास्त्री हुसेन जिलानी की मृत्यु के कारण वह प्रयोगशाला न बन सकी। विदेशों के विद्वानों को लाने के लिए फीरोज प्रति वर्ष बाहर जलपोत भेजा करता था। धार्मिक शिक्षा में उसका पूर्ण अनुराग था। वह स्वयं नित्य प्रति कुरान की १५ पंक्तियाँ लिखता था। परन्तु खेद है कि उसकी धार्मिक प्रवृत्ति ने उसके द्वारा कई भारतीय शिक्षा-संस्थाओं का विनाश भी करवा दिया।

बहमनी राज्य के तृतीय विद्वान शासक मुहम्मद शाह द्वितीय ने भी अपने दरबार में विदेशी विद्वानों को आमंत्रित कर उनका स्वागत किया और निजी साधनों द्वारा कई संस्थायें स्थापित कीं। इसके विख्यात शिक्षा-प्रेमी मंत्री मुहम्मद गावाँ ने एक मदरसे के लिए विशाल भवन का निर्माण कराया था, जहाँ छात्रों के निवास का भी प्रबन्ध था। विद्यालय में एक पुस्तकालय भी था। विद्यालय के एक भाग में सैनिकों के रहने का प्रबन्ध था और इसी भाग में बारूद में आग लग जाने पर उसका अधिकांश ध्वंस हो गया। बहमनी वंश के अन्य शासकों ने शिक्षा के प्रति कोई उदार रुख न अपनाया।

खानदेश

यहाँ के शासक नासिर खाँ फरूकी के ४० वर्षी दीर्घ शासन-काल में विभिन्न प्रकार से शिक्षा-प्रसार को प्रोत्साहन मिला। खानदेश की राजधानी बुरहान पुर के मदरसे का भग्नावशेष तत्कालीन शिक्षा-प्रगति का प्रमाण है। फरूकी स्वयं विद्यानुरागी था और उसने अपने दरबार में अनेक विद्वानों को प्रश्रय भी दे रखा था।

गोलकुण्डा

गोलकुण्डा के शासक मुहम्मद कुली कुतुबशाह ने हैदराबाद में एक सुन्दर मस्जिद तथा चार मीनार निर्मित करवाये, जिन में मस्जिद से संलग्न मदरसे

के शिक्षक और छात्रों के लिए स्थान निर्धारित थे। अन्य छोटे-छोटे मदरसों को भी स्थापित किया गया जिनमें योग्य अध्यापक नियुक्त किये गये। इन मदरसों में शिक्षा के साथ सजावट को भी स्थान मिला था। मदरसों के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे-छोटे विद्यालय शिक्षकों के घर पर ही बने थे।

बंगाल

बंगाल मुस्लिम काल में शिक्षा के उन्नत शिखर पर था। बंगाल के शासकों में विशेष गुण एवं विशेषता यह थी कि उन्होंने मुस्लिम साहित्य के साथ-साथ हिन्दू साहित्य के सृजन में भी योग दिया। बख्तियार ने नदिया के विद्यालयों को नष्ट कर उनके स्थान पर कई मदरसे बनवाये थे। गियासुद्दीन सूबेदार ने लखनौती में एक विशाल मस्जिद, सराय तथा मदरसा बनवाया और विद्वानों को सम्मानित कर शिक्षा-प्रसार के लिए प्रोत्साहित किया। नासिरशाह, जिसको कि मैथिल-कोकिल विद्यापति ने अपना एक गीत समर्पित किया था, की बंग भाषा में विशेष रुचि थी। फलतः उसने महाभारत को बंगला में अनुवाद करने का प्रोत्साहन दिया। हुसेन शाह ने भी भागवत पुराण के बंगला अनुवाद के लिए मालधर बसु नामक विद्वान को नियुक्त कर बंगला के उत्थान के लिए प्रयास किया, तथा कुतुब आलम नामक संत की स्मृति में एक मुस्लिम विद्यालय की स्थापना की। इसके एक सिपहसालार ने महाभारत के कुछ भागों का बंगला में अनुवाद किया। इन मुसलमान शासकों के बंगला-प्रेम के परिणाम स्वरूप भारतीय राजाओं तथा पंडितों ने भी प्रभावित होकर बंगला साहित्य की उन्नति में हाथ बटाया। बंगला के साहित्यिकों को दरबार में सम्मान मिला। इस प्रकार बंगला भाषा का बहुत विकास हुआ।

नवाब मुर्शिद कुली खाँ ने दो सौ लेखकों द्वारा कुरान की प्रतियाँ लिखवाईं तथा स्वलिखित कुरान की प्रतियों को मक्का व मदीना भेजा। उसकी यह प्रवृत्ति उसके विद्या-प्रेम को स्वतः सिद्ध करती है। उसी समय के बीरभूमि के जमीन्दार अब्दुल्ला ने अपनी आय का आधा भाग शिक्षा-प्रसार के लिए नियत कर दिया था।

इस प्रकार बंगाल में उस समय मुस्लिम शिक्षा के साथ-साथ बंगभाषा की प्रगति का भी मार्ग स्पष्टतः प्रशस्त हो गया था।

जौनपुर

मुगल सम्राट हुमायूँ को सत्ताविहीन करने वाले शेरशाह की शिक्षा जौनपुर के एक मदरसे में ही सम्पन्न हुई थी। तुर्क अफगानों के समय में जौनपुर

भारतवर्ष का एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था। 'तजकीरात-उल्उलमा' के मतानुसार इब्राहीम शारकी के शासन-काल में जौनपुर में सैकड़ों मदरसे थे जहाँ देश के प्रत्येक भाग से विद्यार्थी आकर विद्याध्ययन करते थे। अध्यापकों तथा विद्यार्थियों को अध्यापन और अध्ययन में अबाधित संलग्न रहने के निमित्त उनके भरण-पोषण के लिए धन एवं जागीरें अलग कर दी गईं थीं। शाहजहाँ जौनपुर को 'शिराजे हिन्द' कहता था। दिल्ली-सम्राट् जौनपुर के प्रति रुचि रखते हुए जौनपुर के विद्यालयों के उत्थान में योग देते थे जिससे प्रभावित होकर अन्य अमीर-उमराव भी ऐसा करते थे। नवाब सआदत खाँ ने जौनपुर के विद्यालयों को छिन्न-भिन्न कर दिया।

मालवा

इस राज्य के प्रतिष्ठापक महमूद खिलजी को विद्या से बड़ा प्रेम था। उसने अनेक प्रकार से शिक्षा-प्रसार को प्रोत्साहित किया। देश-विदेश के अनेक विद्वान, साहित्यिक तथा दार्शनिकों को सुलतान ने आमंत्रित किया और उनका सम्मान किया। उस समय मालवा, फेरिस्ता के अनुसार, साहित्यिक क्षेत्र में शिराज तथा समरकन्द के समकक्ष सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र था। गियासुद्दीन के समय में अन्त:पुर की महिषी रमणियों की शिक्षा का प्रबन्ध यहीं पर किया गया। हरम की ७० रमणियों को कुरान कंठस्थ थी जिसको सुन कर सुलतान बड़ा प्रसन्न होता था।

सारांश

मुस्लिम राज्यों के अन्तर्गत शिक्षा का विकास

केन्द्रीय शासन द्वारा शिक्षा की प्रगति के लिए पर्याप्त व्यवस्था थी। किन्तु प्रान्तीय शासकों द्वारा भी मुस्लिम शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ। तत्कालीन मुस्लिम राज्य, बीजापुर, गोलकुण्डा, जौनपुर, बहमनी राज्य, मालवा, खानदेश तथा बंगाल में प्रमुख रूप से शिक्षा का विकास हुआ। इन राज्यों में अनेक मकतब तथा मदरसों का निर्माण हुआ। प्रान्तीय शासक अपने दरबार में विद्वानों को आमन्त्रित करते थे। कुछ राज्यों में विदेशी विद्वान भी आमन्त्रित किए जाते थे। राज्यों की ओर से विद्यार्थियों को भी प्रोत्साहित किया जाता था और उनको छात्रवृत्तियाँ तथा पुरस्कार आदि दिए जाते थे। बंगाल के नवाब ने फारसी के साथ-साथ बंगला साहित्य की प्रगति के लिए भी प्रयास किया। बंगला साहित्य के विद्वानों का दरबार में उचित सम्मान किया गया। मालवा में गियासुद्दीन ने नारी-शिक्षा को विशेष महत्व दिया। बहमनी राज्य के अन्तर्गत खगोल-विद्या की प्रगति के लिए प्रयास किया गया। बीजापुर राज्य में साहित्य के साथ-साथ संगीत तथा चित्र-कला को भी

प्रोत्साहन मिला। शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त इन राज्यों में छात्रावासों तथा पुस्तकालयों का भी निर्माण कराया गया था।

मुस्लिम राज्यों की शिक्षा के स्वरूप

धार्मिक दृष्टिकोण राज्यों में भी प्रधान रहा। प्रारम्भिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा दोनों ही का समुचित प्रबन्ध था। राज्य-कार्य में फारसी के स्थान पर हिन्दी में भी काम किया गया।[1] इन राज्यों के कई शासक कई भाषाओं का ज्ञान रखते थे। नारी-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया। मदरसों में साहित्य के साथ-साथ व्यावहारिक विषयों का भी समावेश था।

मुस्लिम राज्यों द्वारा साहित्य-वृद्धि में योग

इन छोटे-छोटे मुसलमानी राज्यों द्वारा भी तत्कालीन साहित्य में पर्याप्त वृद्धि हुई। अनेक रचनायें इन शासकों के प्रश्रय में रहने वाले विद्वानों द्वारा की गईं। 'तारीखी फेरिस्ता' का लेखक मुहम्मद कासिम बहमनी राज्य में यूसुफ आदिल के दरबार में ही था। बंगाल के नासिर शाह ने महाभारत को बंगला में अनूदित करने को प्रोत्साहित किया। हुसेन शाह ने मालधर बसु नामक विद्वान को भागवत पुराण का अनुवाद बंगला में करने के लिए नियुक्त किया। नवाब मुर्शिद कुली खाँ ने २०० लेखकों द्वारा कुरान की अनेक प्रतियाँ लिखवाईं। इस प्रकार इन राज्यों द्वारा साहित्य-वृद्धि में पर्याप्त योग दिया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. छोटे-छोटे मुसलमानी राज्यों द्वारा शिक्षा को किस प्रकार प्रोत्साहन मिला? बताइए।
२. कौन-कौन से प्रमुख मुसलमानी राज्यों द्वारा शिक्षा-प्रसार में योग दिया गया? पृथक्-पृथक् राज्यों की शिक्षा-व्यवस्था का संक्षेप में विवरण दीजिए।
३. मुसलमानी राज्यों में शिक्षा का कौन-सा रूप प्रचलित था? उदाहरण-सहित उल्लेख कीजिए।
४. शिक्षा के क्षेत्र में इन मुस्लिम राज्यों का क्या महत्त्व है? स्पष्ट कीजिए।

---

१. बीजापुर राज्य में इसमाइल आदिल ने राजकीय आय-व्यय का लेखा हिन्दी में रखवाया।

अध्याय १६

मुगल काल में शिक्षा की प्रगति

भारतीय शिक्षा के इतिहास की धारा ही मुगल काल से बदल जाती है। मुस्लिम शिक्षा के इतिहास में सर्वथा एक नवीन अध्याय का समावेश इस काल में होता है। किसी भी मुस्लिम शासक के संरक्षण में शिक्षा को इतना प्रोत्साहन न मिल पाया था, जितना मुगल काल में मिला। मुगल राज्य के संस्थापक बाबर ने स्वयं अपनी आत्मकथा "बाबर नामा" में पूर्ववर्ती भारतीय मुस्लिम शासकों की शिक्षा के प्रति उदासीनता का उल्लेख किया है। बाबर के अनुसार भारत में कोई विद्यालय तथा सभ्य समाज का न पाया जाना कहना यद्यपि ठीक नहीं है, फिर भी उसकी यह गलत धारणा उच्च शिक्षा के प्रति उसकी अभिरुचि की ओर ही संकेत करती है।

बाबर

मुगल राज्य का संस्थापक जहीरुद्दीन मोहम्मद बाबर अपने समय का अद्वितीय विद्वान था। वह एक प्रतिभासम्पन्न कवि तथा लेखक था। बाबर द्वारा रचित अन्य कृतियों के मध्य उसकी आत्म-कथा का निजी महत्त्व है जिसके कारण उसको आत्मकथा-लेखकों का सम्राट् कहा गया है। उसकी लेखन-पद्धति को 'बाबरी' के नाम से विख्यात किया गया जो सम्भवतः उसके नाम के आधार पर ही है। इस लेखन-शैली के अन्तर्गत लिखी कुरान की एक प्रति बाबर ने मक्का को भी भेजी थी। बाबर ने 'शुहरत ए आम' नामक एक विभाग खोल रखा था जिसका मुख्य काम प्रकाशन तथा नवीन विद्यालयों का निर्माण कराना था। इस प्रकार उसने शिक्षा-प्रसार को राज्य-कार्य का एक अंग बना दिया जिसको पूरा करना शासक का कर्त्तव्य था। बाबर को चित्र-कला से भी बड़ा अनुराग था। फलतः तत्कालीन भारतीय चित्रकारी पर उसकी रुचि का प्रभाव पड़ने से उसकी पर्याप्त प्रगति हुई। कला-प्रेमी बाबर साहित्यिकों का यथोचित सम्मान करता था। वह विद्वानों को पुरस्कृत कर सुयोग्य व्यक्तियों को प्रोत्साहित करता था और इस प्रकार शिक्षा की प्रगति में योग देता था। दिल्ली के पुस्तकालय की सजावट के

लिए बाबर ने अपने देश के सुन्दरतम चित्रों को एकत्र किया था। बाबर की शासन व्यवस्था में शिक्षा-प्रसार का महत्त्व बहुत था और इसको एक पुनीत राज्य-कार्य समझा जाता था। उसकी मित्र-मंडली में तत्कालीन गण्यमान विद्वान थे, जिनमें गियासुद्दीन मुहम्मद खुदामीर फारसी के प्रसिद्ध इतिहासकार तथा मौलाना साहबुद्दीन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हुमायूँ

सुशिक्षित एवम् विद्वान पिता का पुत्र होने के नाते हुमायूँ स्वाभाविक रूप से साहित्य-प्रेमी था। पुस्तकों से हुमायूँ को इतना लगाव था कि उसने अपने अव्यवस्थित शासन-काल में उनको संग्रहीत करवाने में अथक परिश्रम किया। इन संग्रहीत पुस्तकों से शाही पुस्तकालय सुशोभित था। बाहर जाते समय हुमायूँ आवश्यक पुस्तकों को अपने साथ ले जाया करता था। भारत से पलायन के समय भी हुमायूँ ने अपनी प्रिय पुस्तकों को अपने साथ ले जाना न भूला और साथ ही अपने प्रिय पुस्तकालयाध्यक्ष लाला बेग अथवा बाज बहादुर को भी साथ लेता गया।

पुस्तकों के साथ ही हुमायूँ को विद्वानों के प्रति भी प्रेम और श्रद्धा थी। उसके दरबार में अनेक प्रसिद्ध विद्वान रहते थे। 'तजकीरात उलवाकियात' का लेखक एक साधारण कर्मचारी के रूप में हुमायूँ के यहाँ काम करता था। उसने दिल्ली में एक मदरसा भी स्थापित करवाया था। अन्य भी कई मदरसों का निर्माण उस काल में हुआ। पुनः भारत पर सत्तारूढ़ होने पर हुमायूँ ने शेरशाह के शेरमण्डल को पुस्तकालय के रूप में परिवर्तित कर दिया। यहाँ तक कहा जाता है कि हुमायूँ के मकबरे के दुतल्ले पर एक मदरसा लगता था।

अकबर

अकबर का शासन-काल स्वर्णयुग के नाम से भारतीय इतिहास में विख्यात है और अकबर महान् सम्राट् के रूप में। अकबर के सर्वसम्पन्न शासन-काल में शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति सर्वथा स्वाभाविक थी। अकबर के समय में शिक्षा एवं साहित्य की जितनी श्रीवृद्धि हुई, वह सराहनीय है। अकबर के शासन-काल में भारतीय संस्कृति की सर्वांगीण प्रगति हुई। अकबर के शिक्षा तथा विद्या-प्रेम की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

राज्य-दरबार

अकबर के दरबार में विद्वानों तथा साहित्यि ों का बाहुल्य था। दरबार में नवरत्नों की शोभा सांस्कृतिक जगत् को गौरवान्वित करती थी। दरबारी नवरत्नों

ने लगभग सभी इतिहासकारों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। अबुल फजल तथा उनके भाई अबुल फईज फैजी, अब्दुर्रहीम खानखाना, अबुल कादिर तथा बदायूनी आदि प्रसिद्ध विद्वान शाही दरबार द्वारा पोषित एवम् सम्मानित थे। अकबर स्वयं भी प्रायः दरबार में उपस्थित होकर बीरबल जैसे विद्वानों दारा साहित्यिक चर्चा कराकर उल्लसित होता था।

शिक्षा में उदारता

पूर्ववर्ती तुर्क अफगानों के शासन-काल में हमने देखा कि धार्मिक कट्टरता के कारण भारतीय संस्कृति एवं साहित्य को बड़ी हानि पहुँचाई गयी, परन्तु अकबर ने शिक्षा क्या सभी क्षेत्रों में उदार प्रवृत्ति का परिचय दिया। इस काल में हिन्दू-मसलमान विद्यार्थी साथ-साथ एक ही विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते थे। मुस्लिम शिक्षा के अतिरिक्त प्रथम बार सम्राट् अकबर द्वारा हिन्दू शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया और इस पद्धति को प्रोत्साहित कर भारतीय विद्यालयों के उत्थान की चेष्टा की गयी। मदरसों में पहले से चले आये पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर हिन्दू विद्यार्थियों को उनकी भाषा और संस्कृति की शिक्षा दिलाने की भी उचित व्यवस्था की गयी।

शिक्षा-प्रणाली

विद्यार्थियों को बहुत कुछ आत्म-निर्भर बनाने का प्रयास किया जाता था। शिक्षक केवल विद्यार्थी को निर्देश देते थे तथा निजी योग द्वारा उसको सहारा देते रहते थे। विद्यार्थी का उत्तरदायित्व था कि वह निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार किसी भी वस्तु को स्वयं समझे तथा सीखे। वर्णमाला को सुगम बनाने के लिए अकबर ने प्रयत्न किया। विद्यार्थी को अनिवार्यतः कुछ न कुछ पद्यांश प्रति दिन कंठस्थ करना पड़ता था। लिपि-सम्बन्धी ज्ञान के विकास के लिए विद्यार्थी को कुछ न कुछ प्रतिदिन लिखना भी अनिवार्य था। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों विद्यार्थियों को उनकी धार्मिक शिक्षा देने के अतिरिक्त अकबर की चेष्टा उन्हें वैज्ञानिक शिक्षा देने की भी थी। अतः कृषि, शरीर-विज्ञान, ज्यामिति, अंक-गणित तथा अन्य आवश्यक परम्परागत विषयों को भी प्रधानता दी गयी।

साहित्य-सृजन

अकबर के समय में अनेक रचनायें की गयीं तथा बहुत से भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। विद्यानुरागी अकबर के संरक्षण में साहित्य-सृजन पर्याप्त मात्रा में हुआ। विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी गयीं। अकबर ने स्वयं भी

'अकबर नामा' नामक एक पुस्तक लिखी थी। अबुल फजल द्वारा रचित ग्रन्थ 'आइने अकबरी' अकबर के शासन-कालीन अधिनियमों का वर्णन करती है। बदायूनी की 'तारीख-ए-बदायूनी', निजामुद्दीन अहमद की 'तबकात-ए-अकबरी' तथा अबुल फतेह की 'मुन्शियात' फारसी साहित्य की अमर रचनायें हैं। इन मूल रचनाओं के अतिरिक्त उस समय के बहुत से अनूदित साहित्य भी हमें मिलते हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना तुर्की भाषा से अनुवाद करके 'वाकयाते बाबर' नामक ग्रन्थ अकबर को भेंट कर पुरस्कृत हुआ था। 'जाम-ए-रशीदी' नामक ग्रन्थ अरबी से बदायूनी ने अनूदित किया था। बादशाह नामा, हयातुल हयवान, आदि अन्य ग्रन्थ फारसी में लिखे गए। इन अरबी, तुर्की भाषा की पुस्तकों के साथ ही संस्कृत तथा हिन्दी की भी अन्य कृतियों को भिन्न नामों से फारसी में अनूदित किया गया। भारतीय महान् धार्मिक ग्रन्थ रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, अथर्ववेद आदि का भी अनुवाद फारसी में किया गया। राजतरंगिणी तथा सिंहासन बत्तीसी आदि का भी शाही संरक्षण में अनुवाद किया गया।

सामूहिक शिक्षा-प्रसार सम्बन्धी प्रयास

विद्वानों को आर्थिक सहायता जागीरों अथवा नकद रुपयों के रूप में दी जाती थी। मौखिक वाद-विवाद के लिए फतेहपुर सीकरी के इबादतखाना में अनेक विद्वान जुड़ते थे और सूक्ष्म विषयों की आलोचना की जाती थी। आगरा में दूर-दूर से विद्यार्थी आकर विद्याध्ययन करते थे तथा प्रख्यात विद्वानों के भाषण सुनते थे। शिराज के प्रमुख विद्वान तथा दार्शनिकों को अकबर मदरसों में प्राध्यापक नियुक्त करता था। शाही पुस्तकालय में अनेक विषयों की पुस्तकों को सुरक्षित रखा जाता था। अरबी, फारसी, हिन्दी तथा संस्कृत की पुस्तकें पृथक्-पृथक् रखी जाती थीं जिससे उनकी खोज करने में विशेष असुविधा न हो। भारतीय कला-प्रेमी फारसी कवि फैजी उस पुस्तकालय का अध्यक्ष था। पुस्तकालय की उत्तम पुस्तकों को चित्रों आदि से सुसज्जित किया जाता था।

विद्या-प्रसार के साथ ही अन्य अनेक ललित कलायें भी अकबर के राज्य में अपनी चरम सीमा पर थीं। प्रसिद्ध संगीतज्ञ रामदास व तानसेन जैसे उसके दरबारी गायक थे। चित्र-कला की उन्नति के हेतु तथा दिल्ली में कुशल चित्रकारों को शिक्षित करने के निमित्त एक चित्र-कला-भवन का निर्माण किया गया था।

जहाँगीर

अपने पूर्वजों से प्राप्त साहित्यिक सम्पत्ति की रक्षा जहाँगीर ने भली प्रकार से की। उसने कई मदरसों का निर्माण कराया और उसके काल में आगरा में

स्थित विद्यालय अपनी पूर्व अवस्था में कार्यरत थे। कुछ उजड़े मदरसों का पुनरुद्धार भी जहाँगीर ने करवाया। उसको कलाकारों व साहित्यिकों से विशेष प्रेम था। स्वयं उसने 'बाबर नामा' के कई अध्यायों की प्रतियाँ तैयार की थीं। विशेष नियम बनाकर संतानहीन व्यक्तियों की सम्पत्ति को राज्याधिकार में लेकर वह शिक्षा-संस्थाओं को दे दिया करता था। चित्र-कला का उसके शासन-काल में बहुत उत्थान हुआ। धार्मिक कट्टरता का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। आगरा में सभी धर्मावलंबी एवम् विद्वान निवास करते थे। भारतीय चित्रकार विदेशी चित्र-कला से भी अवगत थे।

शाहजहाँ

अपने पूर्वजों के मार्ग पर चलने वाला बादशाह शाहजहाँ, जहाँगीर से कम गौरवशाली न था। यद्यपि विदेशी लेखक बर्नियर ने शाहजहाँ के शासन-काल में शिक्षा के अभाव की ओर संकेत किया है तथा इस क्षेत्र में उस काल की बड़ी निन्दा की है, किन्तु वास्तविकता यह न थी। शाहजहाँ स्वयं एक विद्वान था और विद्वानों का आदर करता था। जगत्प्रसिद्ध ताजमहल का निर्माण कराने वाला बादशाह जिसके हृदय में अथाह प्रेम सागर लहराता था, भला शिक्षा की उपेक्षा कैसे कर सकता था? शाहजहाँ के पूर्वजों ने अनेक विद्यालयों का निर्माण करवाया था, उनकी देख-भाल शाहजहाँ बड़ी निष्ठा से करता था। वह विद्वानों को सदा सम्मान की दृष्टि से देखता और उनको पुरस्कृत करता था। उसके दरबार के रत्नों में से अमीन कज़वीनी और अब्दुल हकीम स्यालकोटी का नाम उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि दिल्ली में जामा मस्जिद के समीप शाहजहाँ ने एक राजकीय शिक्षा-संस्था का निर्माण कराया था। 'दारु उल बका' एक ख्याति-प्राप्त मदरसा था और शाहजहाँ के समय तक उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। शाहजहाँ ने उसके पुनरुद्धार के लिए सफल प्रयास किया और उसका पुनः निर्माण करा कर उसके संचालक के रूप में खानबहादुर मौलाना सदरुद्दीन को नियुक्त किया। आगरा और दिल्ली के विद्यालयों में उसने सुयोग्य शिक्षकों की नियुक्ति की।

शाहजहाँ स्वयं भी शिक्षा के क्षेत्र में निजी महत्त्व रखता है। सम्भवतः वह प्रति दिन रात्रि के समय नियमित रूप से अध्ययन किया करता था। शाहजहाँ का पुत्र दारा एक माना हुआ लेखक था। अरबी और फारसी के अतिरिक्त उसको हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान था। संस्कृत की कई पुस्तकों का अनुवाद दारा ने स्वयं फारसी में किया। भारतीय संस्कृति का दारा पर पर्याप्त प्रभाव था।

औरंगजेब

औरंगजेब के शासन-काल में हमको अकबर की धार्मिक उदारता के स्थान पर धार्मिक कट्टरता का दर्शन होता है। वह कट्टर इस्लाम धर्मानुयायी था। इस्लाम धर्म में उसकी पूर्ण भक्ति थी। अतः उसका ध्यान केवल मुस्लिम शिक्षा की ओर ही था। पूज्य पैगम्बरों द्वारा निर्देशित मार्ग का अवलम्बन लेकर औरंगजेब शिक्षा के प्रति उदासीन न रहा और न वह हिन्दू विद्यालयों को विशिष्ट करने में ही हिचका। गुजरात के विद्यालयों में योग्य शिक्षकों को नियुक्त कर वहाँ उसने मासिक परीक्षा की प्रणाली प्रचलित की जिनके परिणामों का विवरण वह अपने पास मँगाया करता था। गुजरात के प्राचीन विद्यालयों के उद्धार के लिए एक बड़ी धन-राशि की उसने स्वीकृति दी और अन्य प्रान्तीय शासकों को भी शिक्षा-प्रसार के लिए उसने आदेश दिया। इन विद्यालयों के विद्यार्थियों को भी आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था।

धार्मिक शिक्षा का पक्षपाती होते हुए भी औरंगजेब तत्कालीन मुस्लिम शिक्षा से सन्तुष्ट न था। वह शिक्षा के व्यावहारिक रूप को अधिक पसन्द करता था और इस क्षेत्र में उसने कुछ सुधार भी किये। जीवन की विषम परिस्थितियों में व्यक्ति को स्वावलम्बी सिद्ध करने में शिक्षा को सहायक होना चाहिए...ऐसा औरंगजेब का विचार था।

पुस्तकालय में भी औरंगजेब ने प्रमुख धार्मिक पुस्तकों को संग्रहीत किया और 'फतवा-ए-आलमगीरी' की रचना उसने स्वयं अपनी देख-रेख में करवाई। यह रचना राजकीय पुस्तकालय में रखी गयी थी।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी शासक

औरंगजेब के बाद भारतीय इतिहास में फिर अस्थिरता आ गई और पारस्परिक असहयोग एवं वैमनस्य ने राज्य (सल्तनत) की समृद्धि को विनष्ट कर दिया। परवर्ती शासक बहादुरशाह प्रथम, मुहम्मद शाह, शाहआलम द्वितीय और बहादुर शाह द्वितीय यद्यपि सभी सुशिक्षित शासक थे और उनको साहित्यिक ज्ञान का महत्त्व मालूम था, परन्तु इन शासकों ने भारत में शिक्षा-प्रसार के निमित्त विशेष उल्लेखनीय प्रयास कोई नहीं किया। भारतवर्ष पर बाहर की ओर से भी आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। सामाजिक स्थिति भी सामान्य न थी और विलासी नवाब भी अपने क्षेत्रों में रँगरेलिया मना रहे थे। फिर शिक्षा-प्रसार कहाँ सम्भव था? हाँ, कुछ ललित कलायें अवश्य प्रोत्साहित की गईं।

सारांश

मुगल कालीन शिक्षा की विशेषतायें

मुगल काल में शिक्षा की सर्वांगीण उन्नति हुई। धार्मिक भिन्नता का शिक्षा के क्षेत्र में कोई प्रतिबन्ध न था। धार्मिक मुस्लिम शिक्षा के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी अध्ययन किया गया। सम्राटों ने स्वयं साहित्य-रचना द्वारा अपने को चिर-मरणीय बनाने का प्रयास किया। रटन्त-पद्धति के स्थान पर शिक्षा में लिपि को उचित स्थान मिला। व्यावहारिक शिक्षा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया।

तत्कालीन विद्वान

लगभग सभी मुगल-सम्राटों के दरबार में कुछ न कुछ विद्वान रहते थे। उनका सम्मान किया जाता था। विदेशी विद्वान भी यहाँ आमन्त्रित किये जाते थे। कई विद्यालयों में विदेशी विद्वान अध्यापक का कार्य करते थे। दरबार में विद्वानों का होना सम्राट् की महानता एवं कलाप्रियता का द्योतक था। विद्वान लोग नकद एवं जागीरों के रूप में पुरस्कार पाते थे। विद्वानों की रुचि भारतीय सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सामग्री का अनुवाद करने में थी। भारतीय विद्वान भी मगल कालीन शासकों के प्रिय पात्र थे।

मुगल काल के प्रमुख विद्वानों का नाम इस प्रकार है—गियासुद्दीन मुहम्मद खुदामीर (बाबर), लाला बेग (हुमायूँ), फैजी, खानखाना, बदायूनी आदि (अकबर), अब्दुल हकीम स्यालकोटी, अमीन कज़वीनी (शाहजहाँ)।

शिक्षा प्रसार के प्रयत्न

लगभग सभी मुगल-सम्राटों ने मदरसे स्थापित करवाये तथा सुयोग्य अध्यापकों की नियुक्ति की। विद्यार्थियों के रहने का भी प्रबन्ध विद्यालय के छात्रावासों में किया गया। दीन विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता दी जाती थी। शिक्षित व्यक्तियों को उच्च राज्यपद प्राप्त थे। सम्राट् स्वयं वादविवाद में भाग लेता था। राजकीय पुस्तकालयों में अनेक पुस्तकें संग्रहीत थीं। पुस्तकों को भाषानुकूल वर्गीकृत किया जाता था जिससे पुस्तक प्राप्त करने में सुगमता हो। विद्वानों को आर्थिक सहायता द्वारा चिन्तामुक्त कर दिया जाता था।

साहित्य का निर्माण

इस समय साहित्य का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ। इतिहास लिखने की प्रवृत्ति लोगों में उत्पन्न हुई। कई सम्राटों ने स्वयं अपनी आत्मकथायें लिखीं।

अनेक कवियों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। हिन्दी तथा संस्कृत की प्रमुख पुस्तकों का फारसी में अनुवाद किया गया। अरबी तथा तुर्की भाषा की पुस्तकों को भी फारसी में अनूदित किया गया। कुछ मौलिक एवं अनूदित ग्रन्थों के नाम ये हैं; बाबर नामा, अकबर नामा, आइने अकबरी, तबकात-ए-अकबरी, वाकयाते बाबर, जाम-ए-रशीदी आदि

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मुगल कालीन शिक्षा-प्रसार के प्रयासों का वर्णन करते हुए धार्मिक शिक्षा का महत्त्व स्पष्ट कीजिये।

२. तत्कालीन विद्वानों का सामाजिक स्थान निर्धारित करते हुए उनका भारतीय साहित्य के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित कीजिए।

३. 'शिक्षा के इतिहास में मुगल काल स्वर्णयुग समझा जाता है।' इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए।

अध्याय १७

मुस्लिम शिक्षा के कुछ प्रमुख केन्द्र

प्रारम्भिक मुस्लिम आक्रमण तो केवल भारतीय सम्पत्ति-हरण के लिए किये गये थे, परन्तु बाद में भारतवर्ष में मुस्लिम राज्य स्थापित होने पर यहाँ मुसलमानों की अनेक बस्तियाँ स्थापित हो गईं। इन बस्तियों में बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध मुख्यतः मस्जिद से संलग्न किसी मकतब से प्रारम्भ होता था, और उच्च शिक्षा मदरसे में दी जाती थी। मुस्लिम धार्मिक प्रवृत्ति के प्रभाव ने भारत के कोने-कोने में मस्जिदें स्थापित कर दीं, किन्तु मदरसे केवल बड़े-बड़े नगरों में स्थापित किये गये। ये बड़े नगर किसी न किसी प्रान्तीय शासक की राजधानी अथवा उसके निवास-स्थान के रूप में महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। केन्द्रीय राजधानी का महत्त्व तो स्वतः स्पष्ट है। धार्मिक स्थानों में भी बहुसंख्यक मुसलमानों के रहने के कारण नगर प्रमुख समझा जाता था और इन्हीं नगरों में शिक्षा का स्तर ऊँचा करने के हेतु विशाल विद्यालय बनवाये जाते थे। दिल्ली, आगरा, बीदर, जौनपुर, मालवा आदि कुछ तत्कालीन प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है। इन केंद्रों के स्थान के लिए चित्र नं० १० देखिए।

दिल्ली

प्रारम्भिक सुल्तानों ने दिल्ली को राजधानी बना कर गौरवान्वित किया तथा मुगल बादशाहों ने भी दिल्ली के स्तर को उच्च बनाए रखा। दिल्ली में नासिरुद्दीन ने नसीरिया मदरसा बनवाया था। गुलाम वंश के शासन-काल में दिल्ली में विद्वानों की संख्या पर्याप्त थी। अलाउद्दीन के राज्य-काल में विद्वानों का मेला-सा दिल्ली में लगा रहता था। अनेक मदरसों में अनेक विख्यात विद्वान शिक्षक नियुक्त थे। अलाउद्दीन द्वारा निर्मित मदरसों में लगभग चालीस से अधिक मुस्लिम धर्म के प्रकांड विद्वान एवं इस्लामी कानून के पण्डित अध्यापक थे। मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली में विद्वानों का बड़ा मान था। सुल्तान स्वयं शिक्षा-प्रेमी था और शिक्षा-प्रसार में प्रयत्नशील था। उस समय दिल्ली में शिक्षा की पर्याप्त उन्नति हुई और दिल्ली प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बन गई थी। किन्तु मुहम्मद तुगलक के राजधानी-परिवर्तन

के कारण दिल्ली की शिक्षा को कुछ ठेस पहुँची। परन्तु फीरोज तुगलक के प्रयासों तथा शिक्षानुराग ने दिल्ली की फिर उन्नति की। फीरोज ने विद्वानों के स्वागत-हेतु
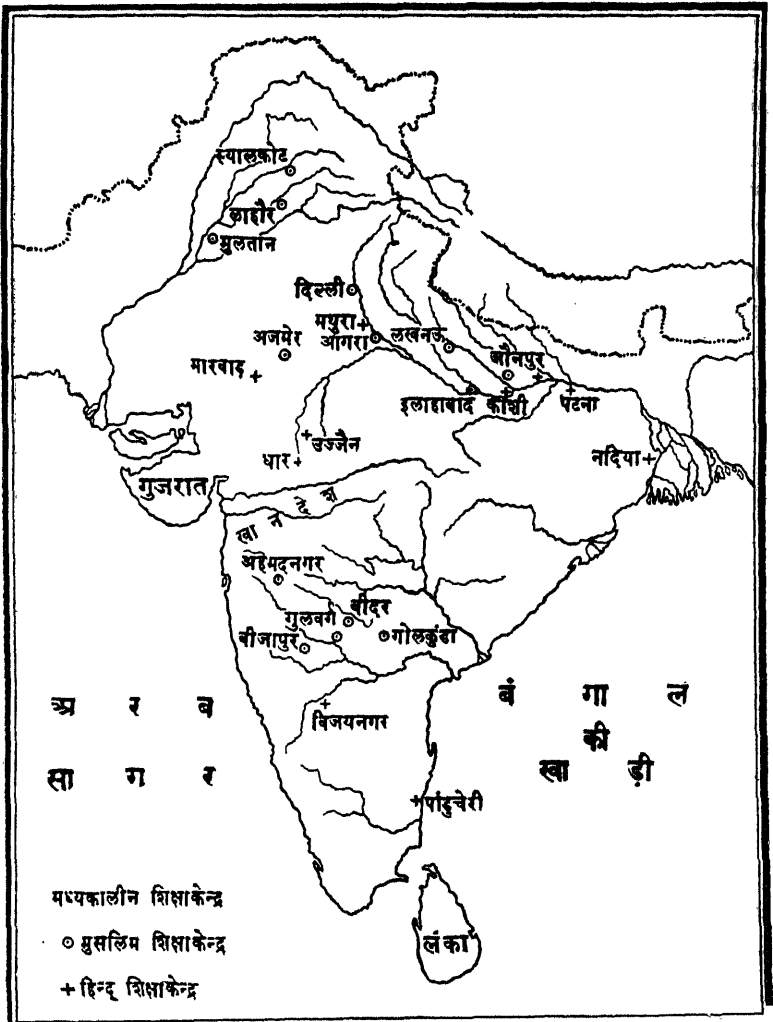
चित्र नं० १०—मध्यकालीन शिक्षा केन्द्र

निर्मित महल अलग कर रखा था। लगभग ५० नए मदरसे उस समय दिल्ली में खोले गये। अनेक पुराने मदरसों का जीर्णोद्धार किया गया। अपने बहुसंख्यक

दासों की शिक्षा का प्रबन्ध फीरोज ने किया और उनसे साहित्य-सृजन में भी सहायता ली ।

तुर्क अफगानी शासन के ह्रास का दिल्ली पर शिक्षा के क्षेत्र में विशेष प्रभाव न पड़ा, क्योंकि नवागत मुगलों का शिक्षा-प्रेम परवर्ती शासकों से कहीं बढ़ कर था। हुमायूँ ने दिल्ली में मदरसों के साथ-साथ शिक्षा में नए विषयों का भी समावेश किया। दिल्ली में ज्योतिष तथा भूगोल का मदरसा स्थापित किया गया। शेख जैनुद्दीन खफी ने भी एक मरदसे का निर्माण कराया था। कहा जाता है कि वह विख्यात विद्वान मरने के बाद इसी मदरसे में गाड़ा गया। अकबर के शासन-काल में दिल्ली में कई मदरसे खोले गये तथा बदायूनी ने जिस मदरसे में शिक्षा पायी थी उसका निर्माण अकबर की आया ने करवाया था। जहाँगीर ने भी दिल्ली में शिक्षा के स्तर को गिरने न दिया। उसने अपने पूर्वजों द्वारा निर्मित विद्यालयों की देख-रेख की और उनकी यथासम्भव मरम्मत करवाई। जामा मस्जिद के समीप शाहजहाँ ने एक मदरसा बनवाया तथा शिक्षकों की नियुक्ति की। औरंगजेब के शासन-काल में भी प्रयास निरन्तर किये जाते रहे और दिल्ली एक ऐसा प्रमुख शिक्षा केन्द्र बना रहा जहाँ विद्वान एवम् विद्यार्थी पठन-पाठन में रत रहते थे।

आगरा

शेख जमाल के शिष्य, कवि सिकन्दर लोदी ने आगरा नगर को बसाया था। नौ सहस्र पद्यों का दीवान लिखने वाले सिकन्दर लोदी ने आगरा में अनेक मदरसों का निर्माण करा कर इसको एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बना दिया। सिकन्दर लोदी के बाद मुगल राज्य के संस्थापक बाबर ने भी आगरा में कई मदरसे बनवाये। परन्तु अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् तो आगरा शिक्षा का ही नहीं, वरन् संस्कृति का भी केन्द्र बन गया। देश-विदेश से विद्वान एवं विद्यार्थी आगरा में आकर एकत्र होते थे। सम्राट् स्वयं विद्वानों से शास्त्रार्थ करता तथा उनको पुरस्कृत करता था। अकबर के समय में आगरा में कई मदरसे स्थापित किये गये। आगरा उन दिनों विभिन्न कलाओं का केन्द्र था। अनेक विषयों--जैसे साहित्य, गणित, कृषि, ज्योतिष, चिकित्सा तथा वाणिज्य आदि की शिक्षा आगरा में स्थित मदरसों में उच्च कोटि के विशेषज्ञों द्वारा दी जाती थी। विद्यार्थियों के रहने की भी समुचित व्यवस्था थी और वाह्य देशों के विद्यार्थी आकर आगरा में रहते और विद्याध्ययन करते थे।

आगरा का गौरव अकबर के समय में चरमसीमा पर था। इस गौरव को जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने भी स्फुट प्रयासों द्वारा बनाये रखा। आगरा में जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा भी कुछ मदरसों का निर्माण कराया गया। धार्मिक प्रवृत्ति के

शासक औरंगजेब ने भी आगरा में धार्मिक शिक्षा को प्रोत्साहित किया और मकतबों आदि की ओर ध्यान देकर प्रारम्भिक शिक्षा के उत्थान का प्रयास किया। तत्पश्चात् मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही आगरा का वैभव भी संकटग्रस्त होकर विनाशप्राय हो गया। इस विगत वैभव की गाथा का गान करते हुए आज भी हमको आगरा में कुछ प्राचीन परम्परा पर आधारित मकतब दृष्टिगोचर होते हैं।

आगरा के समीप ही फतेहपुर सीकरी में भी अकबर द्वारा कई मदरसे बनवाए गये थे। यहाँ के इबादतखाना में अनेक विद्वान आकर भाषण दिया करते थे और परस्पर वाद-विवाद द्वारा ज्ञान-विनिमय करते थे। इस प्रकार आगरा एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था जहाँ पर विदेशी शिक्षक एवं विद्यार्थी रहते थे।

बीदर

बहमनी वंश के प्रसिद्ध विद्वान शासक मुहम्मद शाह द्वितीय के योग्य मंत्री मुहम्मद गावाँ ने निजी साधनों द्वारा बीदर में एक मदरसे की स्थापना की थी। तीन वर्ष के अथक परिश्रम एवं लाखों रुपया व्यय करके बनवाए गये इस मदरसे के प्रांगण में एक विशाल मस्जिद थी तथा मदरसे से संलग्न तीन सहस्र पुस्तकों से सुसज्जित एक पुस्तकालय भी था। बीदर के समीपवर्ती बहमनी राज्य के लगभग प्रत्येक गाँव में मकतब स्थापित किये गये थे। इसके पूर्व अलाउद्दीन अहमद ने भी अनेक मकतब व मदरसों का निर्माण कराया था। बहमनी राज्य में बीदर एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बन गया था। तत्कालीन बीदर के आस-पास शिक्षा का पर्याप्त प्रचार था। साहित्य की भी प्रगति में यहाँ योग दिया गया। धार्मिक शिक्षा के सिद्धान्तों का प्रचार भी शासक निजी रुचि की पुष्टि एवं ख्याति के लिये किया करते थे। फारसी और अरबी भाषाओं का प्रभाव इस क्षेत्र में पूर्णरूपेण देखने को मिलता है। इस प्रकार दक्षिण भारत के इस शिक्षा-केन्द्र द्वारा वहाँ पर शिक्षा-स्तर काफी उच्च हो गया था। बीदर के आस-पास अनेक मस्जिदें थीं, जिनसे संलग्न अनेक मकतब थे, जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी।

जौनपुर

मध्ययुगीय पेरिस तथा शिराज के समकक्ष रखे जाने वाले इस विद्यानगरी जौनपुर का मुस्लिस काल में बड़ा महत्त्व था। विभिन्न देशों के विद्यार्थी यहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। मदरसों में इतिहास, राजनीति, दर्शन आदि के साथ सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। इब्राहीम शारकी ने जौनपुर में अनेक मदरसों का निर्माण कराया जिनके प्रबन्ध के लिए राज्य की ओर से जागीरें लगी थीं। सफल विद्यार्थियों तथा

विद्यालयों की स्थिति के बारे में सम्राट् के फरमान इसके प्रमाण हैं। सम्राट् शाहजहाँ ने जौनपुर का गौरव इसको 'शिराज-ए-हिन्द' कहकर बढ़ाया था। सूर-वंश के संस्थापक शेरशाह सूरी ने जौनपुर में ही शिक्षा पायी थी। उस समय जौनपुर की हस्त एवं शिल्प-कला उन्नति की शिखर पर थी और कालान्तर में भी बनी रही। यहाँ विद्वानों को बहुत सम्मानित किया जाता था तथा उनके भरण-पोषण के लिए आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। उस समय जौनपुर में विद्यालयों की बहुत बड़ी संख्या थी। जौनपुर के प्रति ऐसा ही दृष्टिकोण दिल्ली-सम्राटों का लगभग मुहम्मद शाह के समय तक बना रहा और यह देश का एक प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बन गया था। मुहम्मद शाह के शासन-काल में यहाँ बीस विद्यालय स्थापित किए गये। इब्राहीम शारकी की बनवाई मस्जिदें अब भी जौनपुर के प्राचीन गौरव की स्मृति कराती हैं।

मालवा

अकबर जिस समय भारत का सुलतान था उस समय मालवा संगीत-कला का एक सुविख्यात केन्द्र था। फेरिस्ता के अनुसार मालवा पूर्वी एशिया के सुप्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र शिराज तथा समरकन्द की बराबरी करता था। मालवा में अनेक विद्यालय थे। हुसैन शाह की मस्जिद के निकट एक विद्यालय बना हुआ था। विश्व के भिन्न-भिन्न भागों से विद्वान मालवा की समृद्धि द्वारा आकृष्ट होते थे और आमन्त्रित किए जाते थे। मालवा राज्य के संस्थापक महमूद के समय में मालवा की बड़ी उन्नति हुई।

मुस्लिम शिक्षा का प्रसार मालवा के आस-पास काफी हुआ। समीपवर्ती प्रान्तों में भी अनेक मकतब तथा मदरसे बनवाये गये थे। स्त्री-शिक्षा का ज्वलन्त उदाहरण हमको यहाँ मिलता है। मालवा के अन्तःपुर की रमणियों में से बहुतों को कुरान कण्ठस्थ थी।

इन प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों के अतिरिक्त भी देश में अनेक शिक्षा-केन्द्र थे। मुस्लिम शिक्षा-केन्द्रों में से बीजापुर, खानदेश, गोलकुण्डा, लखनऊ, लाहौर, जलन्धर, मुलतान, फीरोजाबाद तथा स्यालकोट आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन स्थानों में इस्लामी शिक्षा की समुचित प्रगति हुई और समस्त मुस्लिम शासन-काल में ये शिक्षा के केन्द्र बने रहे।

सारांश

शिक्षा का व्यापक क्षेत्र

मध्यवर्ती भारत में यातायात के साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध न थे। फिर भी शिक्षा का क्षेत्र व्यापक रहा। देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्थानीय शासकों

की संरक्षता में विद्या-प्रसार का कार्य सम्पन्न होता रहा । छोटे-छोटे शासक भी विद्वानों का आदर करते थे । देशी विद्वानों के अतिरिक्त विदेशी विद्वान भी आमन्त्रित किये जाते थे । केन्द्रीय सम्राट् प्रान्तीय शिक्षा से अवगत रहता था । धार्मिक शिक्षा के साथ ही अन्य विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी । प्रान्तीय शासक निजी ख्याति-हेतु शिक्षा-प्रसार के लिए छोटे-छोटे गाँवों में भी मकतब आदि खुलवा देते थे । धार्मिक प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित मस्जिद-निर्माण के साथ-साथ मकतब का निर्माण स्वाभाविक था ।

शिक्षा-केन्द्रों का महत्त्व

स्पष्ट है कि एक विशेष स्थान पर देश के विभिन्न भागों के बालक एकत्र नहीं हो सकते थे । विभिन्न भागों में शिक्षा-केन्द्रों के होने से छात्रों को यातायात का व्यय नहीं वहन करना पड़ता था । इन केन्द्रों में विद्वानों को प्रश्रय मिल जाता था । केन्द्रीय शासन का उत्तरदायित्व हलका बना रहता था । स्पर्धा के कारण प्रत्येक शासक अपने क्षेत्र में अधिक मकतब, मदरसे व मस्जिद बनवा कर ख्याति प्राप्त करना चाहता था । विभिन्न भागों की सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव भिन्न-भिन्न देखने को मिलता है । इन केन्द्रों द्वारा शिक्षा की जितनी प्रगति हुई वह सर्वथा सराहनीय है । भारतीय इतिहास में शिक्षा के केन्द्र वाले नगर अमर हो गये । विदेशी यात्रियों के निमित्त ये स्थान दर्शनीय थे ।

प्रान्तीय शिक्षा के स्वरूप

यद्यपि कोई सामान्य पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं था फिर भी, इस्लामी शिक्षा लगभग एकसी ही रही । कुछ अन्य विषयों की शिक्षा इन केन्द्रों में दी जाती थी । नारी-शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है । सैनिक शिक्षा भी किन्हीं-किन्हीं प्रान्तों में दी जाती थी । ललित कला तथा हस्त-कला को भी प्रोत्साहित किया गया । शासकों की रुचि का प्रभाव शिक्षा के स्वरूप पर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मध्यकालीन भारत के प्रमुख शिक्षा-केन्द्रों का उल्लेख कीजिये ।

२. क्या मुस्लिम काल में प्रचलित शिक्षा-केन्द्रों द्वारा व्यापक शिक्षा-प्रसार हुआ ? यदि हाँ, तो समझाइय ।

३. 'मुस्लिम काल में केवल केन्द्रीय शासन द्वारा देश में पर्याप्त शिक्षा-प्रसार सम्भव नहीं था'—कारणसाहित इस कथन की पुष्टि कीजिये ।

अध्याय १८

मुस्लिम काल में शिक्षा का संगठन, विशिष्ट शिक्षाएँ, साहित्य और संस्कृति

सामान्य परिचय

मुस्लिम शिक्षा का प्रेरणा-स्रोत धार्मिक प्रवृत्तियाँ थीं । पैगम्बरों के अनुसार ज्ञानार्जन अनिवार्य है । इस्लाम के बन्दों को धर्म-प्रचार कर कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए । अतः इस उद्देश्य से मस्जिदों के निर्माण के साथ अनिवार्यतः मकतबों का भी निर्माण कराया गया । इन प्रयासों द्वारा भारतवर्ष में मुस्लिम धर्म का पर्याप्त प्रचार किया गया और अनेक हिन्दुओं को, जिन्होंने परिस्थितिवश इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, इस्लामी परम्पराओं से अवगत कराया गया । तत्पश्चात् मुगल कालीन उदार शासकों ने व्यावहारिक विषयों को भी शिक्षा में स्थान दिया । इस प्रकार मुस्लिम शिक्षा के दो रूप हमारे सामने आते हैं, एक प्रारम्भिक शिक्षा, दूसरी उच्च शिक्षा जो क्रमशः मकतब और मदरसों में दी जाती थी । तेरहवें अध्याय में मकतब और मदरसों की कार्य-प्रणाली की ओर संकेत किया जा चुका है । परन्तु पृष्टिपेषण का भय होते हुए भी, पाठकों की सुविधा के लिए उनकी पुनः सविस्तार चर्चा करना आवश्यक जान पड़ रहा है । नीचे हम इसी की ओर आ रहे हैं :

मकतब

समाज में सम्पन्न व्यक्ति तो अपने बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध व्यक्तिगत रूप में कर लेते थे, किन्तु जनसाधारण के बालक इन्हीं मकतबों में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करते थे । इन मकतबों में धार्मिक प्रार्थनाओं के साथ-साथ वर्ण-ज्ञान और उनका उच्चारण करना बालकों को सिखाया जाता था, जैसा कि प्रायः आधुनिक प्रारम्भिक शिक्षा-संस्थाओं में भी देखने को मिलता है ।

विद्यारम्भ

ब्राह्मणीय शिक्षा के अन्तर्गत बालक का विद्यालय-प्रवेश एक संस्कार समझा जाता था । लगभग इसी प्रकार की भावना मुस्लिम कालीन शिक्षा में

भी व्याप्त दिखायी पड़ती है। निश्चित आयु का हो जाने पर बालक को 'मकतब रस्म' मनानी पड़ती थी। बालक को विद्यारम्भ की प्रसन्नता में नए-नए वस्त्र पहिनाये जाते थे। सर्वप्रथम बालक के मुँह से इस्लाम धर्म की धार्मिक पुस्तक कुरान के कुछ अंशों का उच्चारण करवाया जाता था। शिक्षक कुरान की पंक्तियों को कहता था और बालक को उसे दोहराना पड़ता था। यदि विद्यार्थी दोहराने में असमर्थ होता था तो केवल उसको विस्मिल्लाह ही कहना पड़ता था। नियत दिन पर विद्यार्थी द्वारा कुछ लिखवाया भी जाता था। इस अवसर पर विद्यार्थी के सम्बन्धी भी उपस्थित होते थे। इस प्रकार से मुस्लिम शिक्षा का भी श्रीगणेश होता था और विद्यार्थी मकतब में प्रविष्ट होता था।

पाठ्य-क्रम

प्रारम्भिक शिक्षा की अवस्था में बालक को पढ़ना, लिखना तथा प्रारम्भिक गणित का ज्ञान कराया जाता था। कुरान का अंश विशेष विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था। विद्यार्थी को कुरान के अंशों का समझना आवश्यक न था, केवल उन्हें याद कर लेने से ही काम चल जाता था। मुसलमान बालकों के अतिरिक्त हिन्दू बालकों को भी मकतब में फारसी पढ़ाई जाती थी। विद्यार्थी को लिपि का ज्ञान हो जाने पर उसको फारसी का व्याकरण कंठस्थ करना पड़ता था। नैतिक शिक्षा का भी ध्यान रखा जाता था। फारसी के प्रमुख काव्य-ग्रन्थों, जैसे—लैला मजनू, यूसुफ जुलेखा आदि को भी पढ़ाया जाता था। व्यावहारिक शिक्षा में पत्र-व्यवहार, अर्जीनवीसी एवं अंकगणित आदि की भी पढ़ाई होती थी।

जन-साधारण के बालकों के विपरीत राजकुमारों की प्रारम्भिक शिक्षा महलों में ही होती थी। अपने पिता के संरक्षण में किसी योग्य शिक्षक द्वारा राजकुमार हरम में ही शिक्षा प्राप्त करते थे। इनको साधारण अरबी, फारसी के ज्ञान के अतिरिक्त राजनीतिक शिक्षा भी दी जाती थी। राज्य के पेचीदा मामलों को योग्यतापूर्वक सुलझा सकने के योग्य बनाने के हेतु राजकुमारों को समानता, न्याय और कानून का भी ज्ञान कराया जाता था। भविष्य में राज्य-भार ग्रहण करने वाले राजकुमारों को सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। राष्ट्र के कल्याण-कारी निर्माण के लिए इनको इस्लाम धर्म का ज्ञान भी देना आवश्यक समझा जाता था। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा द्वारा विद्यार्थी कुछ विषयों के ज्ञान के साथ ही व्यावहारिक शिक्षा भी ग्रहण करता था।

मदरसा

मुस्लिम काल में मदरसे उच्च शिक्षा के केन्द्र थे। इन मदरसों का निरीक्षण एवं परिचालन का कार्य किसी सुशिक्षित योग्य व्यक्ति के हाथ में रहता था। यही योग्य व्यक्ति अन्य विद्वानों की सहायता से अध्यापन-कार्य भी करता था। शिक्षकों तथा विद्यालय के व्यय के लिए राज्य की ओर से नकद धनराशि अथवा जागीरें दी जाती थीं। यदा-कदा समाज के प्रतिष्ठित एवं उदार व्यक्ति भी मदरसों की व्यवस्था में भाग लेते थे और धन तथा सहयोग द्वारा उनकी प्रगति के लिए प्रयत्न करते थे।

मकतबी शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् मदरसों में विद्यार्थी को प्रवेश मिलता था। तत्कालीन केन्द्रीय शासन का कोई विभाग विशेषरूप से शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण नहीं करता था। यद्यपि बाबर ने इस कार्य को राज्य का कर्त्तव्य बताया था, फिर भी मदरसों का प्रबन्ध समितियों तथा प्रतिष्ठित नागरिकों द्वारा ही होता था। बहुधा शिक्षकों की नियुक्ति भी इसी प्रकार होती थी। हाँ, राज्य की ओर से कुछ नियमित आर्थिक सहायता मदरसों को मिलती रहती थी।

सम्राट् अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊँची करने अथवा इसको एक धार्मिक कृत्य समझ करके ही शिक्षा-प्रसार करता था। अकबर का समय, इसका अपवाद अवश्य है। कुछ मदरसों के साथ छात्रावासों की भी व्यवस्था थी जहाँ बहुधा विद्यार्थी और शिक्षक एक साथ रहते थे।

पाठ्य-क्रम

मुस्लिम शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था धार्मिक शिक्षा देना, किन्तु मदरसों की उच्च शिक्षा में लौकिक एवं व्यावहारिक ज्ञान सम्बन्धी विषयों का भी समावेश था। अकबर ने तो प्रचलित शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन कर अनेक सुधार किये और शिक्षा के व्यावहारिक महत्त्व को स्पष्ट किया।

मदरसों की उच्च शिक्षा हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मानुयायी विद्यार्थी ग्रहण करते थे। प्रारम्भ में तो सभी को मुस्लिम धर्म का ज्ञान आवश्यक रूप से कराया जाता था। किन्तु अकबर के शासन-काल से हिन्दू विद्यार्थियों को उनके धार्मिक एवं सांस्कृतिक ग्रन्थों को पढ़ाया जाने लगा। मुसलमान विद्यार्थियों को कुरान का गहन अध्ययन करना पड़ता था। सूफी धर्म के सिद्धान्त, मुहम्मद साहब के प्रवचन तथा इस्लाम धर्म की अन्य महत्त्वपूर्ण बातों का ज्ञान विद्यार्थी को कराया जाता

था। शासन-व्यवस्था में उच्च पद पाने के लोभ में हिन्दू फारसी का स्वत: अध्ययन करते थे और राज्य में उच्च पद भी ग्रहण करते थे। इस प्रकार की धार्मिक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यह था कि मुस्लिम धर्म का प्रचार हो तथा भारत के कुछ हिन्दू, जो मुसलमान हो गये थे, इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों से अवगत हो जायँ। कहना न होगा कि यह धार्मिक शिक्षा व्यक्ति को व्यावहारिक क्षेत्र में कुशल न बना सकती थी।

अत: सर्व प्रथम अकबर ने धार्मिक शिक्षा की व्यावहारिक अनुपयोगिता को लक्ष्य किया और उच्च शिक्षा में जीवनोपयोगी विषयों को स्थान मिला। देश और काल की माँग को ध्यान में रखने का आदेश सम्राट् ने दिया था। फलत: व्यावहारिक विषयों में अर्थशास्त्र, दर्शन, कानून, चिकित्सा, कृषि, गणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, क्षेत्रमिति, राजतंत्र तथा गृहशास्त्र आदि का ज्ञान बालकों को कराया जाने लगा।

अकबर के समय में फारसी पढ़ने वाले मुसलमान विद्यार्थियों को छोड़कर संस्कृत पढ़ने वालों को न्याय, वेदान्त, पतंजलि आदि का अध्ययन करना पड़ता था। इसका वर्णन हमें आइने अकबरी में मिलता है। औरंगजेब ने तो अपने गुरु शेख मुल्ला शाह सालेह को केवल इसी लिए फटकारा था कि उसने सम्राट् को वास्तविक व्यावहारिक ज्ञान से वञ्चित रखा था और केवल शब्द-ज्ञान तथा व्याकरण का ज्ञान कराया था। औरंगजेब द्वारा अपने गुरु को फटकारने का जो वर्णन बर्नियर ने किया है उससे विदित होता है कि लौकिक शिक्षा का महत्त्व सम्राट् की दृष्टि में कितना था, जब कि औरंगजेब स्वयं कट्टर इस्लाम धर्म का अनुयायी था। फिर भी सम्राट् यौवन के अमूल्य समय को केवल भाषागत साहित्य के पठन-पाठन में व्यतीत करना सर्वथा अनुपयुक्त समझता था। शिक्षा द्वारा बालक को व्यावहारिक जगत् के उपयुक्त बनाने पर सम्राट् ने विशेष बल दिया, किन्तु औरंगजेब का यह प्रयास केवल राजकुमारों की शिक्षा तक ही सीमित रह गया, और जनसाधारण के बालकों की शिक्षा में वास्तविक तथा उपयोगी व्यावहारिक पाठ्यक्रम का समावेश न हो पाया।

मदरसों की शिक्षा में आधुनिक शिक्षा की भाँति अनेक विषय पढ़ाये जाते थे। साहित्य, व्याकरण, और पिंगल-शास्त्र का प्राधान्य था। सम्राटों की रुचि के अनुकूल इतिहास को इस काल में अधिक प्रोत्साहित किया गया। प्राचीन भारतीय हिन्दू सम्राटों के प्रतिकूल हम प्राय: मध्ययुगीय सभी सम्राटों के दरबार में इतिहासकार पाते हैं। सम्राट् स्वयं भी अपनी आत्मकथाएँ लिखते थे जिनमें तत्कालीन ऐति-

हासिक घटनाओं का स्वतः समावेश रहता था। कानून का अध्ययन धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित था। संगीत की शिक्षा को भी अनेक मदरसों में स्थान प्राप्त था।

अध्यापन-विधि

प्रारम्भिक शिक्षा-संस्थाओं की शिक्षण-विधि कोई विशेष न थी। वहाँ धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। अतः बोलना सीखने के पश्चात् बालक को कुरान के कुछ अंश तथा कलमा कंठस्थ करा दिया जाता था। धार्मिक प्रार्थनाएँ भी कंठाग्र करा दी जाती थीं। मकतब की शिक्षा प्रायः मौखिक थी। अति प्राचीन काल की परम्परा 'रटन्त' का प्रयोग मकतबी शिक्षण-विधि के अन्तर्गत भी किया जाता था। साधारण लिखना भी बालकों को सिखाया जाता था। कुछ थोड़े से हिसाब-किताब की भी शिक्षा मकतबों में दी जाती थी। किन्तु विद्यार्थी का अधिक समय शब्दों का उच्चारण और कुरान के अध्ययन करने में ही व्यतीत होता था। इस विधि की ओर अकबर ने लक्ष्य कर यह आज्ञा दी कि नियत समय में विद्यार्थी को वर्णमाला के अक्षरों को लिखना सिखा दिया जाय। पूर्ण अभ्यस्त हो जाने के बाद ही गद्य और पद्य को कंठस्थ करने का कार्य बालक को दिया जाय। शिक्षक पर पूर्णतः न निर्भर रहकर विद्यार्थी को स्वावलम्बी बनाने पर भी अकबर ने बल दिया। क्रमानुसार अक्षर-ज्ञान, शब्दार्थ, छन्द तथा पूर्वपाठ आदि की शिक्षण-विधि का समावेश करके सम्राट् ने शिक्षण की एक वैज्ञानिक विधि प्रचलित की।

मौखिक शिक्षण-विधि के परिणामस्वरूप शिक्षक को भाषण-विधि भी अपनानी पड़ती थीं। ग्रन्थावलोकन का अभ्यास भी विद्यार्थियों में था। प्रत्येक विद्यार्थी भिन्न-भिन्न विषय तथा पाठ को व्यक्तिगत रूप से याद करता था। इस स्वतंत्रात्मक विधि के कारण कमजोर विद्यार्थी की प्रगति भी गतिशील बनी रहती थी। साथ ही साथ अलग-अलग पढ़ना-लिखना सीखने से विद्यार्थियों का पर्याप्त समय व्यर्थ नष्ट होने से बच जाया करता था।

बौद्धकालीन बालचर (मानीटर) प्रथा भी इस शिक्षण-विधि के अन्तर्गत मिलती है। उच्च कक्षा के विद्यार्थी, अध्यापक की अनुपस्थिति में गुरु की आज्ञा से शिक्षक का कार्य-सम्पादन करते थे। संगीत, चिकित्सा तथा हस्तकला की व्यावहारिक शिक्षण-विधि का स्वरूप भी देखने को मिलता है। इन विषयों की शिक्षा में मस्तिष्क के साथ-साथ शारीरिक परिश्रम भी करना पड़ता था। इस प्रकार रटन्त शिक्षा-विधि के प्रतिकूल प्रयोगात्मक शिक्षण-विधि का भी मुस्लिम काल में प्रारम्भ किया गया।

परीक्षायें

आधुनिक शिक्षा की भाँति उस समय परीक्षाएँ नहीं हुआ करती थीं और न किसी प्रकार का प्रमाण-पत्र ही छात्रों को दिया जाता था, क्योंकि उस समय शिक्षा का महत्त्व शिक्षा के लिए था, न कि जीविकोपार्जन के साधन-मात्र के रूप में। शिक्षा उस समय व्यक्तित्व के विकास[1] के लिए थी। अतः विशेष स्तर तक पहुँचने के लिए कोई नियत समय न था और न कोई वर्गीकरण का भौतिक मापदण्ड ही था। अध्यापक स्वयं विद्यार्थियों की सम्पूर्ण कक्षा का परीक्षण कर आगामी कक्षा में प्रविष्ट कर देता था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस समय सभी विद्यार्थी समान योग्यता के होते थे एवं योग्य विद्यार्थियों को पदक, छात्रवृत्ति और अन्य पुरस्कार न मिलते थे। किन्तु मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक तथा वार्षिक आदि आधुनिक परीक्षा-पद्धति उस समय नहीं थी।

सबसे बढ़कर योग्यता की परीक्षा तो विद्वानों की सम्राटों के दरबारों में हुआ करती थी जहाँ पर अनेक विद्वान उपस्थित होते थे और परस्पर वाद-विवाद एवं शास्त्रार्थ करते थे। मुशायरा आदि में जन-समुदाय के हृदय में स्थान प्राप्त करने वाले सफल कवि धन-यश दोनों प्राप्त करते थे। विद्वत्ता के कारण ही व्यक्ति-विशेष सम्राट् का प्रिय बन पाता था और उसके द्वारा पुरस्कृत होता था।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध

प्राचीन भारतीय शिक्षा में गुरु का बड़ा महत्त्व माना गया है। कुछ प्राचीन भक्त लेखकों ने गुरु का स्थान उपास्य देव से भी उच्च निर्धारित किया है। मध्य-कालीन मुस्लिम शिक्षा में भी लगभग गुरु का पूर्ववत् सम्मान किया जाता था। विद्यार्थी द्वारा ही नहीं, वरन् समाज द्वारा भी शिक्षक समादरित था। लोगों का विश्वास था कि सच्चा ज्ञान गुरु के बिना सम्भव नहीं है। अतः श्रद्धा का पात्र गुरु विद्यार्थियों का पूज्य बन जाता और इस गुरु के आदर का परिणाम यह होता कि विद्यार्थियों में अनुशासन की कमी न रहती थी। विद्यार्थी स्वतः विनम्र एवं कर्मनिष्ठ बन जाता था।

शिक्षक और गुरु में दुराव का भाव न था। छात्रावासों में शिक्षक और विद्यार्थी एक साथ रहते थे। गुरु-शिष्य का पारस्परिक सहवास न केवल आत्मीयता की ही वृद्धि करता था, वरन् विद्यार्थियों को उत्तरदायित्व निभाने

१. The Development of Personality.

की प्रेरणा भी प्रदान करता था। किन्तु यह सौभाग्य मकतब में पढ़ने वाले बालकों को न प्राप्त था, क्योंकि वे दिन भर ही मकतब में गुरु के सम्पर्क में रह पाते थे ।

शिक्षक भी शिष्य को अपने पुत्र के समान प्यार करते और परिवार का एक सदस्य मानते थे। गुरु सर्वथा योग्य एवं विद्वान होते थे जिसका प्रभाव स्वतः विद्यार्थी पर पड़ता और विद्यार्थी गुरु-सेवा द्वारा विद्वान का आदर करना सीखता था। शिक्षक मकतब तथा मदरसों के परिचालन का भी उत्तरदायी होता था। कहीं-कहीं पर तो विद्यार्थी शिक्षक के निवास-स्थान पर ही पढ़ने जाया करते थे और इस प्रकार शिक्षक शिक्षा-विभागीय प्रबन्धक भी होता था।

लेकिन इतना सब होते हुए भी मुस्लिम कालीन शिक्षा के अन्तर्गत विद्यार्थियों में गुरु के लिए वह बलिदान की भावना न रह गयी थी जो हमको भारतीय प्राचीन शिक्षा-परम्परा में अनेक स्थानों पर देखने को मिलती है।[१] औरंगजेब ने अपने गुरु का भरे दरबार में अपमान करके इस बात को सिद्ध कर दिया था कि राज्याभिमानी शासक गुरु के स्थान से अपना स्थान बढ़ कर समझता है।

अनुशासन और दण्ड-विधान

मध्यकालीन विद्यार्थी अधिकतर अनुशासित थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सभी की मनोवृत्ति समान थी। विभिन्न मनोवृत्ति वाले छात्र भिन्न-भिन्न कार्य करते थे। कुछ न कुछ उच्छृंखलता उनमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान रही होगी। बालकों की मनोवृत्ति का वास्तविक पता लगाने के लिए उस समय मनोविज्ञान विकसित न था। अतः शारीरिक दण्ड द्वारा बालकों की मनोवृत्तियों को दबाने का प्रयास किया जाता था।

राजकीय कोई भी दण्ड-विधान निर्धारित नहीं था। शिक्षक स्वेच्छा से बालक को दण्ड देते थे, जिसका माप-दण्ड शिक्षक की मानसिक अवस्था हुआ करती थी। अत्यन्त क्रोधित होने पर कभी-कभी शिक्षक बालक को कपड़े में बँधवा कर टँगवा देते थे। साधारणतः छोटे-छोटे अपराधों पर बेंत अथवा कोड़े से विद्यार्थियों को मारा जाता था। अन्य शारीरिक दण्ड भी दिये जाते थे, जैसे—दिन भर खड़े रहना, मुर्गा बन जाना आदि-आदि ये उस समय के सामान्यतः प्रचलित दण्ड थे।

---

१. गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति बनाकर उससे धनुर्विद्या सीखने वाले 'एकलव्य' ने गुरु के दक्षिणा माँगने पर अपने हाथ का अँगूठा दे दिया और समस्त जीवन के लिए अपनी शिक्षा की उपयोगिता नष्ट कर दी।

पुरस्कार

मानव-मात्र में क्रोध की भावना के साथ ही प्यार और स्नेह का भाव भी समान रूप से मिलता है। जहाँ मध्य कालीन शिक्षा-पद्धति में शिक्षक क्रोधवश विद्यार्थी को कठोर दण्ड देते, वहाँ विद्यार्थियों की कुशलता एवं योग्यता से प्रसन्न होकर वे उनको पुरस्कृत कर भविष्य के लिए प्रोत्साहित भी करते थे। शिक्षा के एक विशेष निर्धारित स्तर तक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्रों और पदकों आदि द्वारा पुरस्कृत किया जाता था।

शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त राज्य-दरबारों द्वारा भी विद्यार्थियों को पुरस्कृत कर प्रोत्साहित किया जाता था। राज्य के विभिन्न विभागों में मदरसे के स्नातकों को उच्च पद दिए जाते थे। समाज के प्रतिष्ठित नागरिक भी विद्यार्थियों को पारितोषिक देकर उनको प्रोत्साहित करते और उनमें स्पर्धा की भावना उत्पन्न करते थे, जिससे छात्रों में ज्ञान की पिपासा बढ़ती जाती थी और वे एक दूसरे से आगे बढ़ना चाहते थे।

छात्रालय

प्राचीन भारतीय परम्परा में विद्यार्थियों को गुरु के साथ आश्रम में रहना पड़ता था और अनेक छात्र एक स्थान पर रहते तथा विद्याध्ययन करते थे। छात्रों को आश्रमों में स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दी जाती थी। विलास-सामग्री का उपयोग उनके लिए वर्जित था। वे स्वयं भरण-पोषण का प्रबन्ध करते तथा निर्जन स्थान पर निवास करते थे।

मध्य कालीन छात्रावास बहुधा प्रसिद्ध मुस्लिम शिक्षा-केन्द्रों के बड़े-बड़े मदरसों के साथ बने होते थे। यहाँ पर राज्य की ओर से विद्यार्थियों के लिए भोजन तथा वस्त्र आदि का भी प्रबन्ध रहता था। इब्नबतूता ने एक मदरसे का वर्णन करते हुए लिखा है कि लड़कों के रहने के हेतु ३०० कमरे उस मदरसे के साथ बने थे। विद्यार्थियों के भोजन का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि उनको उत्तम प्रकार की भोज्य-सामग्री उपलब्ध थी। मुस्लिम भोजन के अन्तर्गत उनको मुर्गी, कोर्मा तथा पोलाव आदि के साथ-साथ मिठाई भी खाने को मिलती थी। इब्नबतूता बहुधा यात्रा करता हुआ इन छात्रावासों में ही रुकता था। छात्रालयों में विद्यार्थियों के लिए कालीन, तेल, पठनसामग्री तथा लेखन-सामग्री भी राज्य की ओर से उपलब्ध थी। किन्हीं-किन्हीं छात्रावासों के साथ चिकित्सालय और मनोरंजनार्थ बने सरोवरों का भी मध्य कालीन ग्रन्थों में वर्णन मिलता है।

विद्यार्थियों को पौष्टिक पदार्थ; जैसे फल, दूध और सब्जी आदि भी खाने को मिलते थे जिससे उनके मानसिक विकास में वृद्धि हो। कहीं-कहीं पर विद्यार्थियों के निजी व्यय हेतु मासिक-वृत्ति रूप में धन भी प्राप्त होता था जिसका वर्णन 'अल्लामा शिरवली' ने किया है। 'फीरोज' के समय के एक मदरसे की सजावट का वर्णन 'जफर'[1] ने किया है, जिसकी रमणीयता चित्ताकर्षक थी।

छात्रावासों में विद्यार्थियों के साथ ही शिक्षकों के भी रहने की व्यवस्था थी। छात्रावास में शिक्षक तथा छात्र समान रूप से एक स्तर के निवासी थे। छात्रावास में छात्रों को शिक्षक के नैकट्य से अनेक लाभ थे।

मुस्लिम काल की कुछ विशिष्ट शिक्षायें

१—सैनिक-शिक्षा

भारतीय पौरुष, वीरता तथा साहस के पुतले राजपूतों में सैनिक शिक्षा के अभाव ने ही भारतवर्ष की भूमि पर मुसलमानी शासन का बीजारोपण किया। मुसलमानों का सैनिक संगठन हिन्दुओं से सर्वथा उत्तम था। मुसलमानों ने भारत में अनेक युद्ध किये, तब कहीं जाकर वे सत्तारूढ़ हो सकने में समर्थ हुए। अतः उनकी दृष्टि में स्वभावतः सैनिक शिक्षा का बड़ा महत्त्व था। प्रारम्भिक सुलतानों ने सैनिक शिक्षा के प्रसार के निमित्त विशेष प्रयास किया था। राजकुमारों की प्रारम्भिक शिक्षा में सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। महल में बचपन ही से उनको इस प्रकार की शिक्षा दी जाने लगती थी और तत्पश्चात् अश्वारोहण तथा तलवार, भाला, तीर आदि का चलाना उनको सिखाया जाता। युद्ध के अनेक दाँव-पेचों से भी उनको अवगत कराया जाता था। किले को घेरना, तथा सैन्य-संचालन करना आदि कूट-नीति की शिक्षा भी राजकुमारों को दी जाती थी।

मुगल काल में सैनिक शिक्षा और युद्ध-कला का प्रसार और अधिक बढ़ा, क्योंकि केन्द्रीय शासक सुदूर प्रान्तों को अपने अधिकार में रखता तथा भारत में राज्य-विस्तार की कामना करता था। अतः सैनिक संगठन का सुव्यवस्थित होना अनिवार्य था।

२—ललित-कलाएँ[2]

भारतवर्ष के तत्कालीन वैभव एवं सम्पत्ति की ओर आकृष्ट होकर मुसलमानों ने भारत को हस्तगत करना चाहा था। वास्तव में उस समय भारत को सोने

१. Jaffar, S. M. Education in Muslim India, Published by S. Mohammad Sadiq Khan, Kissakhani, Peshawar, 1936.

२. Fine Arts.

की चिड़िया कहा जाता था। अनेक युद्धों में रत मुसलमानों ने इस स्वर्णभूमि को अधिकृत किया जहाँ की संस्कृति विश्व में अपना स्थान रखती थी। मुसलमानों के राज्य-काल में यद्यपि विध्वंसात्मक कार्यों में अधिक समय अवश्य व्यतीत हुआ, तथापि कुछ शासकों के समय में यहाँ पूर्ण शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रही। उस समय भारत में साहित्य के साथ-साथ अन्य कलाओं की पर्याप्त उन्नति हुई। कुछ मुसलमान शासक अपनी विलास-प्रियता के लिए इतिहास में विख्यात हैं। उनके लिए ऐसा बन जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि हिन्दुओं द्वारा अर्जित अतुल धन राशि के वे स्वामी जो बन गये थे। इस प्रकार सम्पन्न शासन में ललित कलाओं की प्रगति स्वाभाविक ही थी। राज्य-दरबारों की शोभा बढ़ाने के लिए अतुल सम्पत्ति व्यय की जाती थी। सांसारिक ऐश्वर्य अधिकतर मुस्लिम शासकों के जीवन का एक अंग बन गया था। संगीत तथा चित्रकला की पर्याप्त उन्नति उस समय हुई। राज्य-दरबारों में अनेक गवैये रहते थे। अकबर के दरबारी गायक तानसेन अपने समय में अद्वितीय थे। नृत्यकला को भी राज्य-दरबारों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसके अतिरिक्त जन-समुदाय तथा छोटे-छोटे अमीर-उमरावों के यहाँ भी नृत्य-प्रथा का समावेश था। उस्ताद लोग संगीत अथवा नृत्यकला की शिक्षा देते थे।

सम्राट् के महल अनेक सुन्दर चित्रों से सजाये जाते थे। यहाँ तक कि पुस्तकालय, विद्यालय आदि भी चित्रों से सुसज्जित थे। चित्रकारों को भी राजदरबार में सम्मानित स्थान प्राप्त था। उच्च कोटि के चित्रकार अपनी कलाकृतियों द्वारा सम्राट् का मन मोहकर पुरस्कार प्राप्त करते थे। इस प्रकार मुस्लिम काल में संगीत, नृत्यकला एवं चित्रकला की पर्याप्त प्रगति हुई।

३—हस्त-कलाएँ[१]

प्राचीन प्रचलित हिन्दू-हस्तकलाओं को मुसलमान काल में भी अपनाया गया। वैभवसम्पन्न सम्राटों के ऐश्वर्यमय जीवन की आवश्यक सामग्री के निर्माण द्वारा हस्त-कलाओं को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला और इसकी काफी उन्नति हुई। आभूषण-निर्माण, हाथीदाँत का काम तथा उसपर पच्चीकारी, मलमल व जरी का काम, उस समय की हस्तकला के चरम सीमा तक पहुँच जाने के द्योतक हैं। इन कलाओं की शिक्षा युवकों को प्राय: परम्परागत उनके परिवार द्वारा ही मिलती थी, क्योंकि कोई भी औद्योगिक शिक्षा-प्रसार-केन्द्र राज्याश्रय द्वारा परिचालित नहीं था।

---

१. Crafts.

युद्ध-सामग्री के निर्माण द्वारा भी हस्तकला की प्रगति हुई। जलयान तथा रथ आदि का निर्माण उस समय बड़ी संख्या में होता था। कला केवल कला के लिए नहीं, वरन् जीविकोपार्जन का भी साधन थी।

आगरा का ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, फतेहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा आदि तत्कालीन वास्तुकला के प्रमाण हैं और साथ ही साथ वे मुस्लिम शासकों के भवन-निर्माण के व्यसन का भी परिचय देते हैं।

४—नारी-शिक्षा

मुस्लिम संस्कृति में पर्दा-प्रथा का प्रचलन विशेष महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में इतने काल तक रहने के उपरान्त भी हमको मुसलमान स्त्रियों में पर्दे का प्रचलन पूर्ववत् ही देखने को मिलता है। मध्य काल की मुसलमान महिलायें इससे भी अधिक कट्टरता के साथ पर्दा-प्रथा की अनुगामिनी रही होंगी। अतः बालिकायें लड़कों की भाँति मदरसों में उस समय जाकर शिक्षा ग्रहण नहीं करती थीं। यदा-कदा कुछ छोटी उम्र की बालिकायें मस्जिद से संलग्न मकतबों में जाती थीं और प्रारम्भिक शिक्षा के रूप में साधारणतः पढ़ना और लिखना सीखती थीं। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मुस्लिम शासन-काल में नारी-शिक्षा का पूर्ण अभाव ही था, क्योंकि उस काल की अनेक विदुषी महिलाओं को विद्या से प्रेम था, साथ ही इन विदुषी नारियों ने साहित्य-सृजन में भी योग दिया। सम्राज्ञी नूरजहाँ का नाम शिक्षित नारी सामाज में बड़े सम्मान के साथ लिया जा सकता है जिसने अपने पति के राज्य-कार्यों में भी कुशलतापूर्वक योग देकर अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी।

उपर्युक्त दृष्टान्त इस बात का प्रमाण है कि राजघराने की स्त्रियों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध उस समय निजी रूप से महलों में किया जाता था और सम्भवतः इनको साहित्य के साथ-साथ धर्म एवं गृह-शास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी। सुलतानों की भाँति प्रतिष्ठित नागरिकों की बालिकायें भी व्यक्तिगत रूप से घर पर ही शिक्षा पाती थीं जिनमें हिन्दू बालिकायें भी अवश्य ही सम्मिलित रही होंगी।

राजघराने की कुछ कलाप्रेमी बालिकायें संगीत आदि की भी शिक्षा ग्रहण करती थीं। उस्ताद उनको नियमित रूप से घर पर संगीत की शिक्षा देने आया करते थे। किन्तु आधुनिक काल की भाँति मुस्लिम काल में स्त्री-शिक्षा विस्तृत रूप में न थी।

तत्कालीन विदुषी नारियों में सुलताना रजिया स्वयं सुशिक्षित थी तथा विद्वानों का आदर करती थी। मुगल राज्य के संस्थापक बाबर की पुत्री गुल बदन

एक सफल लेखिका के रूप में इतिहास में विख्यात है। उसकी कृति 'हुमायूँनामा' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा को अरबी और फारसी का अच्छा ज्ञान था और उन भाषाओं में सफलतापूर्वक कविता लिखती थी। अन्य शिक्षित नारियों में सुलताना सलीमा, मुमताज महल, जहाँनारा आदि को भी साहित्य और कला का व्यापक ज्ञान था और इन सबों ने साहित्य का अध्ययन भी किया था। इस प्रकार मुसलमान नारियों में शिक्षा का प्रचार था, किन्तु समृद्ध घराने की स्त्रियाँ ही शिक्षा ग्रहण कर पाती थीं। लड़कियों की शिक्षा के निमित्त राज्य अथवा समाज की ओर से कोई पृथक् प्रबन्ध न था। अतः उस समय नारी-शिक्षा का क्षेत्र व्यापक न हो सका।

मुस्लिम काल में साहित्य का विकास[1]

तत्कालीन मुस्लिम साहित्य अपने समय की साहित्यिक प्रगति का स्वतः दिग्दर्शक है। उस समय के साहित्य को देखने से पता चलता है कि किस प्रकार से मुसलमान शासकों द्वारा उनकी संरक्षता में साहित्य का उत्थान हुआ। मुसलमान शासकों में अपना यश चिरस्थायी बनाने की भावना बड़ी ही प्रबल थी, जिसके परिणामस्वरूप इतिहास के अनेक ग्रन्थ इस काल में लिखे गए। दूसरे, इन शासकों के ऐश्वर्यमयी जीवन में कला-प्रेम की भी कमी न थी। अतः विद्वानों का दरबार में होना शासक की महत्ता का सूचक था। तीसरे, विधर्मी होने के नाते भारत में इनको अपने धर्म का प्रचार करना था और भारतीय संस्कृति का भी ज्ञान ये शासक प्राप्त करना चाहते थे। उपर्युक्त तीन कारणों से मुसलमान काल में अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ और साहित्य की प्रगति हुई जिसका पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण के अन्तर्गत नीचे संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

इतिहास-प्रेम

लगभग सभी मुस्लिम शासकों के समय में इतिहास के रूप में किसी न किसी प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। तुर्क अफगानों के समय में लिखे गए जिया-उद्दीन बरुनी का 'तवारीखे फीरोज शाही' और यहिया बिन अब्दुल्ला का 'तारीखे मुबारक शाही' ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। मुगलों के शासन-काल में तो इस प्रकार की रचनाओं का और भी बाहुल्य था। बाबर ने स्वयं अपनी आत्मकथा 'बाबर नामा' के नाम से लिखी थी। अकबर के समय में भी सम्राट् के नाम पर अनेक इतिहास की रचनाएँ की गयीं जिनमें अबुलफजल का 'आइने अकबरी' तथा 'अकबर

१. The Development of Literature during Muslim Period.

नामा', दाऊद की 'तारीख-ए-अलफी' तथा बदायूनी की 'मुन्तखाबुत तवारीख' सर्वविदित हैं।

कला-प्रेम

मुस्लिम शासकों को कला के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। यद्यपि भारतीय कलाकृतियों को प्रारम्भिक मुसलमान शासकों में नष्ट करने की कोई हिचक न थी, किन्तु फारसी के साहित्यकार एवं मुस्लिम कलाकार का इनके दरबार की बड़ा सम्मान था। उच्च कोटि के फारसी काव्य-ग्रन्थों की रचना इन मुसलमान शासकों के समय में हुई। तुगलक और खिलजी वंशों के शासन-काल में अमीर खुसरो एक उच्च कोटि का विद्वान था। मुहम्मद तुगलक के समय में मीर हसन देहलवी ने दीवान की रचना की जिसका भारत के बाहर भी आदर किया गया। बाबर स्वयं अरबी और फारसी का एक कवि था। उसकी लेखन-कला 'बाबरी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'अबुल फजल' तथा 'अबुल फतेह' अकबर के दरबार के रत्नों में से थे तथा फारसी का प्रसिद्ध कवि 'फैजी' अकबर के राजकीय पुस्तकालय का अध्यक्ष था।

मुस्लिम काल में संगीत-कला की भी शिक्षा दी जाती थी तथा गायकों का दरबार में मान था। सुविख्यात गायक तानसेन और रामदास अकबर के रत्न थे। इस प्रकार मुस्लिम शासकों की कलापूर्ण रुचि ने साहित्योत्थान में योग दिया।

मुस्लिम काल में सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावनायें

मुस्लिम शासक प्रायः सभी धर्मों को प्रधान स्थान देते थे और राजनीति का परिचालन भी धार्मिक संकेतों के आधार पर ही होता था। अतः धार्मिक दृष्टिकोण को लेकर मुसलमान काल में साहित्य की पर्याप्त प्रगति हुई। साहित्यकारों ने मुसलमान धर्म की पुस्तकों की प्रतियाँ तैयार कीं। फीरोज ने अपने अनेक दासों को कुरान की प्रतियाँ तैयार करने की आज्ञा दी थी। मुगल सम्राट् बाबर ने भी स्वयं कुरान की एक प्रति अपनी शैली में लिख कर मक्का भेजी थी।

सांस्कृतिक ज्ञान के हेतु उदारचरित्र शासक अकबर के राज्यकाल में अनेक भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद संस्कृत और हिन्दी से फारसी में हुआ जिनमें रामायण, महाभारत, भगवद्गीता आदि धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त राजतरंगिणी व सिंहासन बत्तीसी का भी उल्लेख आवश्यक है। अकबर के पहले १०वीं सदी में संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान अलबरूनी भारत आया था, जिसने भारतीय ज्योतिष तथा

दर्शन के संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में किया। फीरोज तुगलक के भी समय में संस्कृत के ग्रंथों के अनुवाद को 'दलायल फीरोज शाही' नाम से ख्याति मिली।

मुसलमान शासन-काल में फारसी के साथ-साथ हिन्दी साहित्य का भी उत्थान हुआ, अकबर के समय में उर्दू के नाम से एक नई भाषा का जन्म हुआ और इसमें भी साहित्य-रचना हुई।

सारांश

शिक्षा-संस्थायें और शिक्षा-पद्धति

मुस्लिम काल में प्रारम्भिक और उच्चतर शिक्षा क्रमशः मकतबों और मदरसों में दी जाती थी। शिक्षा-संस्थाओं का परिचालन राज्य अथवा समृद्ध नागरिकों द्वारा होता था। कभी-कभी अध्यापक का निवास-स्थान ही विद्यालय का काम देता और शिक्षक प्रबन्धक के रूप में भी कार्य करता था। अनेक मदरसों के साथ छात्रावास भी संलग्न थे, जहाँ पर विद्यार्थियों के रहन-सहन से लेकर भरण-पोषण तक का सारा कार्य-भार राज्य अथवा अमीर-उमरावों द्वारा प्राप्त आर्थिक सहायता पर था। विद्यालयों की सजावट तथा रमणीयता का भी महत्त्व था। बालक प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर मदरसे में प्रवेश पाता था। प्रारम्भिक शिक्षा पूर्णतः रटन्त द्वारा धार्मिक ज्ञान के रूप में दी जाती थी, यद्यपि यहाँ साधारण लिखना-पढ़ना भी विद्यार्थी सीख लेता था।

उच्च शिक्षा के अन्तर्गत अनेक विषयों का ज्ञान विद्यार्थी को कराया जाता था। अकबर के दृष्टिकोण से परिवर्तित शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी को स्वावलम्बी तथा व्यवहार-कुशल बनने की शिक्षा दी जाती थी। छात्रावासों में शिक्षक और छात्र साथ-साथ रहते थे। साहित्यिक ज्ञान के साथ अनेक जीविकोपार्जन सम्बन्धी विषयों का भी उच्च शिक्षा में समावेश था। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध ब्राह्मणीय शिक्षा की भाँति ही आदर्श था। गुरु की आज्ञा से विद्यार्थी शिक्षक की अनुपस्थिति में उसका कार्यभार सम्भालते थे। 'मानीटर' की प्रथा भी प्रचलित थी।

आधुनिक परीक्षाओं की भाँति उस समय की शिक्षा-पद्धति में परीक्षा का कोई स्थान न था। जनसमुदाय के समक्ष 'सफलता' योग्यता का मापदण्ड थी, वैसे शिक्षक योग्यतानुसार विद्यार्थियों को पुरस्कृत करते थे, तथा अगली कक्षा में बढ़ा देते थे। राज-दरबारों में योग्य व्यक्ति ही पद, यश तथा धन द्वारा सम्मानित होता था।

शिक्षा के प्रकार

शिक्षा-क्षेत्र में कई विशिष्ट प्रकार की शिक्षाओं का प्रसार था। राज-कुमारों को अनिवार्य रूप में सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। राज्य-संचालन सम्बन्धी शिक्षा भी राजकुमारों को मिलती थी। नारी-शिक्षा की संस्थाओं का यद्यपि कोई भी प्रबन्ध न था, फिर भी राजकुमारियों की शिक्षा वैयक्तिक रूप से घर पर होती थी। रजिया, नूरजहाँ, जेबुन्निसा, मुमताज महल, सुलताना सलीम और जहाँनारा का तत्कालीन शिक्षित नारियों में मुख्य स्थान है। मुसलमान कालीन शिक्षा में ललित कलायें, हस्तकला तथा वास्तु-कला का व्यापक प्रसार था। ललित कलाओं में संगीत तथा नृत्य-कला को शिक्षा विशिष्ट रूप से दी जाती थी। हस्तकला में जरी, मलमल तथा हाथीदाँत का काम प्रमुख था। इन हस्तकलाकारों की शिक्षा उनकी पैत्रिक परिपाटी के अन्तर्गत ही होती थी। कोई औद्योगिक शिक्षण-केन्द्र न था। वास्तुकला में मुसलमान कालीन विश्वविख्यात ताजमहल के साथ दिल्ली का किला, फतेहपुर सीकरी के महल अद्वितीय हैं।

शिक्षा में अनुशासन

यद्यपि उस समय मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा निर्धारित कोई भी दण्ड-विधान शिक्षा के क्षेत्र में नहीं लागू था, तथापि शिक्षक शारीरिक दण्ड द्वारा विद्यार्थियों में अनुशासन बनाये रखते थे। शिक्षक के पुत्रवत् प्यार का विद्यार्थी की विनयशीलता, आज्ञाकारिता एवं चरित्र-निर्माण पर स्वत: प्रभाव पड़ता था। राज्य की ओर से छात्रावासों में विद्यार्थियों के मानसिक विकास में सहायक भोजन प्रदान किया जाता था जो राज्य की कर्त्तव्यनिष्ठा का द्योतक है। प्रमाण-पत्रों, एवं पदकों द्वारा अनुशासित एवं योग्य विद्यार्थियों को पुरस्कृत भी किया जाता था।

तत्कालीन साहित्यिक उत्थान

मुसलमान शासकों की यश-प्राप्ति की भावना, कलाप्रियता तथा धार्मिक प्रवृत्ति ने तत्कालीन साहित्य की प्रगति में बड़ा योग दिया। सम्राटों ने स्वयं अपनी आत्मकथाएँ लिखीं तथा उनके दरबारी विद्वानों ने अपने समकालीन शासकों के बारे में लिखा। अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना सम्राटों की कलाप्रियता का द्योतक है। संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक धार्मिक एवं सांस्कृतिक ग्रन्थों का अनुवाद अरबी, फारसी में किया गया। उस समय की प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं :—

'तवारीखे फीरोज शाही' 'तारीखे मुबारक शाही' 'आइने अकबरी' 'अकबर नामा' 'तारीख-ए-अलफी' 'मुन्तखाबुत तवारीख'। इन बहुमूल्य ग्रन्थों के अतिरिक्त भारतीय ग्रन्थ—रामायण, महाभारत, अथर्ववेद, भगवद्गीता, राजतरंगिणी, सिंहासन बत्तीसी तथा अन्य ज्योतिष, चिकित्सा तथा तंत्र आदिके ग्रन्थों को अनूदित भी किया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मुस्लिम शिक्षा के प्रारम्भिक व उच्च रूपों की व्याख्या करते हुए उस समय की शिक्षण-पद्धति का विवेचन कीजिए।

२. 'मुस्लिम काल में अनुशासन एवं योग्यता की प्रधानता ही उनकी सफलता का मापदण्ड थी' इस कथन की प्रमाणसहित पुष्टि कीजिए।

३. मुस्लिम काल की विशेष शिक्षाओं का वर्णन करते हुए उनकी व्यापकता पर प्रकाश डालिए।

४. मुस्लिम कालीन साहित्यिक प्रगति का प्रमाणसहित वर्णन कीजिए।

अध्याय १६

मुस्लिम शिक्षा की समालोचना

गुण-दोष-विवेचन

लगभग ६०० वर्ष के दीर्घ कालीन मुस्लिम शासन में शिक्षा की जो प्रगति हुई वह बहुतेरे गुणों और दोषों को साथ लिए हुए थी। इस गुण-दोष-युक्त शिक्षा-प्रणाली का स्थायी प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ा। आज तक मकतब आदि के रूप में उस प्राचीन एवं मुस्लिम शासकों द्वारा पोषित शिक्षा की अवशेष पद्धति मिलती है। यद्यपि जनसाधारण के लिए इन अवशिष्ट मकतबों की कुछ भी उपयोगिता नहीं, फिर भी इनके धार्मिक महत्त्व तथा तत्कालीन विशेषताओं का आभास हमें इन मकतबों के अनेक राजनीतिक उथल-पुथल के बाद भी विद्यमान रहने से मिलता है। आगे हम इस चिरस्थायी एवं महत्त्वपूर्ण शिक्षा के गुणों एवं दोषों का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

गुण

१—शिक्षा की अनिवार्यता

इस्लाम धर्म में ज्ञानार्जन एक कर्तव्य बताया गया है। बिना ज्ञान के ईश्वर की भक्ति सम्भव नहीं। कुरान में वर्णित आदेशों को देखने से पता चलता है कि ज्ञान को ही सच्चा मित्र, सच्चा सुख-प्रदायक तथा ऐश्वर्य बढ़ाने वाला माना गया है। इस धार्मिक पृष्ठ-भूमि के साथ चलने वाली शिक्षा-प्रणाली को धार्मिक प्रवृत्ति वाले नागरिकों तथा शासकों द्वारा प्रोत्साहन मिला और शिक्षा-प्रसार का कार्य एक धार्मिक कृत्य समझा गया। इस प्रकार इस शिक्षा का क्षेत्र बढ़ता गया और भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए भी शिक्षा को अनिवार्य समझा गया। लौकिक तथा पारलौकिक दोनों दृष्टि से इस्लामी शिक्षा अनिवार्य थी। इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद के अनुसार तो शिक्षा द्वारा अर्जित ज्ञान मनुष्य को अमर कर देता है।

२—व्यक्तिगत सम्पर्क

प्राचीन भारतीय प्रणाली की तरह मुस्लिम कालीन शिक्षा-पद्धति में भी गुरु-शिष्य में पर्याप्त निकट सम्पर्क रहता था तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्नेह एवं आदर का होता था। इस व्यक्तिगत् सम्बन्ध का प्रभाव विद्यार्थी की योग्यता, कुशलता और प्रतिभा को विकसित करने में विशेष रूप से सहायक होता था। प्रारम्भिक तथा उच्च दोनों प्रकार की शिक्षा-पद्धति में शिक्षक छात्रों पर अलग-अलग ध्यान रखते तथा छात्र भिन्न-भिन्न पाठों का अध्ययन स्वतन्त्र रूप से करते और अपनी प्रतिभा द्वारा शिक्षक तथा अन्य व्यक्तियों के प्रिय बन जाते थे। इस प्रकार इस व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण ही इस शिक्षा-पद्धति में गुरु और शिष्य दोनों के गुणों का आदर राज्यसत्ता तथा जनसमुदाय द्वारा हो पाता था।

३—व्यावहारिकता

मुस्लिम शिक्षा धार्मिक अवश्य थी, किन्तु भौतिक जगत् के प्रति पूर्णतः उदासीन नहीं थी। शिक्षा का उद्देश्य केवल शिक्षा-मात्र प्राप्त करना ही न था, वरन् सांसारिक व्यावहारिकता के लिए विद्यार्थी को उपयुक्त बनाना भी था। नैतिकता का व्यापक प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में रहते हुए भी इसका प्रचलन पूर्णरूपेण आध्यात्मिक उत्थान के लिए न था। अतः मुस्लिम शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी अपने आगामी जीवन के लिए सर्वथा उपयुक्त होता था। मुगल-सम्राट् अकबर तथा औरंगजेब ने शिक्षा के व्यावहारिक रूप को अधिक महत्त्व दिया और कोरी रटन्त-शिक्षा की अवहेलना कर शिक्षा में आवश्यक परिवर्तन भी किये। राजकुमारों को कुशल बनाने के लिए किये गये शिक्षा-प्रसार इसके प्रमाण हैं। मुसलमानों की कर्म-प्रधानता ने ही तो उनको वृहत् भारत का शासक बना दिया था। फिर कर्मक्षेत्र के उपयुक्त शिक्षा का महत्त्व उनकी दृष्टि में क्यों न होता।

४—धार्मिक एवं सांसारिक शिक्षा का समन्वय

उपर्युक्त उद्धरणों के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम शिक्षा में धार्मिक तथा भौतिक शिक्षा की एकात्मकता पर विशेष बल दिया गया है। यह इस्लामी शिक्षा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आने के पश्चात् भी मुस्लिम-संस्कृति की प्रगति स्वाभाविक रूप से करने के लिए आवश्यक था कि इस्लामी शिक्षा-पद्धति में धार्मिक दृष्टि को प्रधानता दी जाय। इस्लामी शिक्षा-प्रसार का प्रेरणा-स्रोत ही धार्मिक था। पैगम्बर मुहम्मद के आदेशानुसार ही तो प्रत्येक मुसलमान ज्ञानार्जन को आवश्यक मानता है। किन्तु इस्लाम धर्म में

पुनर्जन्म अथवा परलोक जैसी कोई भी मान्यता न होने के कारण भौतिक आकर्षण तथा अन्य सांसारिक वैभवपूर्ण सम्पदाओं की उपयोगिता पर ही उनका ध्यान केन्द्रीभूत था, जिसका फल यह हुआ कि शिक्षा में जीवनोपयोगी सिद्धान्त को बड़ा महत्त्व दिया गया और शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को सासांरिक ज्ञान दिया गया। शासन-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए उपयुक्त व्यक्तियों की आवश्यकता-पूर्ति इन मदरसों से शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों द्वारा आसानी से हो जाती और इन स्नातकों की नियुक्ति सेनापति, वजीर तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पदों पर हो जाया करती थी। मुस्लिम कालीन विलास-प्रिय शासकों की अभिरुचि ललित कलाओं के विकास की ओर भी रही। उच्च शिक्षा के अन्तर्गत चिकित्सा, कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि विषयों को पढ़ाया जाना इस बात को स्वतः सिद्ध कर देता है कि तत्कालीन शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक शिक्षा के साथ सांसारिक शिक्षा का समन्वय करना भी था। उच्च शिक्षा के अतिरिक्त प्रारम्भिक शिक्षा में पूर्ण धार्मिक आधार होते हुए भी सांसारिक शिक्षा को स्थान दिया गया था।

५—सरस साहित्य व इतिहास का विकास

भारतीय हिन्दू शासकों की रुचि कभी भी इतिहास में ख्याति-प्राप्त करने की न रही। फलतः प्राचीन भारतीय इतिहास-सामग्री पुराणों आदि को छोड़ कर कहीं उपलब्ध नहीं होती है। किसी भी सम्राट् ने सच्ची सांसारिक घटनाओं को लिपिबद्ध कराने का प्रयास नहीं किया। इसके प्रतिकूल हम मुसलमान शासकों में देखते हैं कि वे स्वयं अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध करते हैं। मुस्लिम शासकों की इस प्रवृत्ति ने अनेक इतिहासकारों को कार्य-क्षेत्र में ला खड़ा किया और उस समय पर्याप्त सांसारिक तत्कालीन घटनाओं का वर्णन ग्रन्थों में किया गया। पिछले पृष्ठों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम शासकों के दरबारों में अनेक इतिहास-कार रहते थे।

तत्कालीन शासकों के जीवन में सांसारिक भोग-विलास तथा कृत्रिम सौंदर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी इस प्रवृत्ति का प्रभाव सरस साहित्य के सृजन में सहायक हुआ और साहित्यिक क्षेत्र में कोमल भावनाओं से सम्बन्ध रखने वाले गद्य और पद्य का समावेश हो गया।

६—निःशुल्क शिक्षा

मुस्लिम कालीन शिक्षा में विद्यार्थी को किसी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ता था। शिक्षा-संस्थाओं का सम्पूर्ण व्यय राज्य अथवा किसी समिति द्वारा वहन किया जाता था। यहाँ तक वर्णन मिलता है कि छात्रावासों में रहने के साथ-साथ

खाने का भी प्रबन्ध किया जाता था। वहाँ उनको पौष्टिक खुराक मिलती थी जो एक विद्यार्थी के मानसिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

७——अन्य विशेषतायें

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त इस्लामी शिक्षा-पद्धति में शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण प्रायः शान्त एवं मनोरम स्थान पर सांसारिक कोलाहल से दूर किया जाता था, जहाँ पर छात्र अधिक रुचि से अध्ययन कर सकें। विद्यार्थी को विद्याध्ययन के अतिरिक्त और कोई भी कार्य न रहता था तथा उनको छात्र-वृत्तियाँ एवं पुरस्कारों द्वारा विद्याध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। सफलता का मापदंड परीक्षा न होकर वास्तविक योग्यता होने के कारण विद्यार्थियों में चरित्र-निर्माण की भी रुचि स्वतः उत्पन्न हो जाती थी।

इस प्रकार से हम यदि मुस्लिम शिक्षा के गुणों का अवलोकन करें तो हमको आधुनिक शिक्षा-पद्धति की अपेक्षा मुस्लिम शिक्षा में कई गुण ऐसे मिल जाते हैं जिनका अभाव आज की शिक्षा में भी अखरता है।

दोष

१——अरबी व फारसी भाषाओं का प्राधान्य

शिक्षा का माध्यम मातृभाषा न होकर फारसी एवं अरबी होने के कारण प्रान्तीय भाषाओं का विकास पूर्णतः रुक गया। राज्य में उच्च पद पाने की लालसा के कारण हिन्दुओं को भी अरबी और फारसी का अध्ययन करना पड़ा। प्रारम्भिक शिक्षा फारसी वर्णमाला की रटन्त से प्रारम्भ होती थी। उच्च शिक्षा का माध्यम भी फारसी ही थी, क्योंकि फारसी राज्य-भाषा थी और इसक अध्ययन करना सर्वथा अनिवार्य था। अकबर की उदार नीति में अरबी और फारसी के साथ-साथ हिन्दी की प्रगति का भी समावेश था किन्तु यह व्यवहृत न हो सकी और केवल नीति-रूप में ही रह गई। औरंगजेब ने उर्दू को प्रोत्साहन दिया और अरबी और फारसी की रटन्त-पद्धति की हानियों की ओर संकेत भी किया, परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में अरबी और फारसी का ही प्राधान्य रहा जिससे हिन्दू संस्कृति को किसी प्रकार का लाभ न हो सका और एक वृहत् जनसमुदाय शिक्षा की दृष्टि से उपेक्षित रहा।

२——लेखन व पाठन की असमानता

इस्लामी शिक्षा-पद्धति के अन्तर्गत लिखना और पढ़ना अलग-अलग सिखाये जाते थे। विद्यार्थी को सर्व प्रथम शब्दों को पढ़ने का अभ्यास करना पड़ता था,

तत्पश्चात् पढ़ने का ज्ञान हो जाने पर लिखना सिखाया जाता था जिससे विद्यार्थी का दोहरा समय नष्ट होता था और उसका विकास भी समान स्तर पर नहीं हो पाता था। अकबर का ध्यान इस ओर गया और उसने राजाज्ञा दी कि नियत समय में बालक को लिखना तथा पढ़ना साथ-साथ सिखा दिया जाना चाहिये, किन्तु पूर्णरूपेण इस दोष का निराकरण सम्राट् न कर सका और हमको अन्त तक मुस्लिम शिक्षा में यह दोष दिखाई पड़ता है।

३—दृष्टिकोण अधिक सांसारिक

मुस्लिम शिक्षा में धार्मिकता का पर्याप्त स्थान रहा, किन्तु इस्लाम धर्म के अन्तर्गत केवल इस लोक की वास्तविकता के माने जाने के कारण भौतिक सम्पदा के प्रति मुसलमान अधिक आकृष्ट हुए। फलतः शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक सांसारिकता का समावेश हो गया। प्राचीन भारतीय शिक्षा में प्रचलित आध्यात्मिकता का, जिसके कारण भारत प्राचीन विश्व का गुरु समझा जाता रहा, मुस्लिम शिक्षा में पूर्ण अभाव रहा। शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य केवल भौतिक सुख, ऐश्वर्य, मान तथा पद आदि की प्राप्ति के लिए हो रह गया था। बौद्धिक संतोष[1] के लिए शिक्षा का महत्व नहीं के बराबर था और इस प्रकार इस्लामी शिक्षा जीवन-दर्शन की तह तक न पहुँच सकी, जिसके लिए भारतीय शिक्षा प्राचीन काल में विख्यात थी। इस भाँति हम देखते हैं कि मुस्लिम शिक्षा परिस्थिति तथा काल-विशेष की आवश्यक माँग पर आधारित थी न कि बौद्धिक विकास[2] के लिए थी।

४—शिक्षालय अस्थायी

मुस्लिम शिक्षा-संस्थाएँ पूर्णतः राज्याश्रय पर आधारित थीं। शासन-व्यवस्था में शिक्षा-विभाग जैसा कोई प्रबन्धकारक विभाग न था जो स्थायी रूप से शिक्षा-संस्थाओं का निरीक्षण करता। बहुधा आर्थिक अभाव में ये संस्थाएँ बन्द हो जाया करती थीं और शीघ्र ही विद्यालय उजड़ जाते थे। वैसे भी कहीं-कहीं पर शिक्षक अपने घर पर ही विद्यार्थियों को शिक्षा देता था जो केवल उस शिक्षक की मनोवृत्ति द्वारा ही संचालित होता था। अतः मुस्लिम शिक्षा में यह एक बड़ा दोष था।

५—शिक्षा की व्यापकता का अभाव

शिक्षा-संस्थाओं के वातावरण पर व्यापक धार्मिक कट्टरता की छाप लगी थी। फलतः हिन्दू जनता इन शिक्षा-संस्थाओं से लाभ नहीं उठा पाती थी, क्योंकि

---

१. For the Satisfaction of Intellect.
२. Intellectual Development.

किसी प्रकार प्रवेश पा लेने के उपरान्त भी पूर्ण स्वाधीनता का अभाव उनको इस लाभ से वंचित रखता था। मुसलमानों में भी उच्च वर्ग ही इससे अधिक लाभान्वित हो पाता था। बड़े-बड़े नगरों में जहाँ कि मुसलमानों की संख्या अधिक थी अथवा कोई अमीर-उमराव रहता था, वहीं पर मकतब और मदरसे बनते थे जिससे जनसाधारण के बालक शिक्षा पाने के लिए सर्वथा साधनहीन थे।

६—नारी-शिक्षा की अवहेलना

मुस्लिम संस्कृति में पर्दा-प्रथा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः राजघराने की स्त्रियाँ ही शिक्षा प्राप्त करने में समर्थ थीं, जिनकी शिक्षा का प्रबन्ध हरम में ही हो जाया करता था। किन्तु सर्वसाधारण के लिए सम्भव नहीं था कि स्वयं अपने घर पर बालिकाओं की शिक्षा का प्रबन्ध कर सकें। राज्य की ओर से स्त्री-शिक्षा के लिए कोई भी प्रबन्ध नहीं था। मकतबों में कहीं-कहीं कुछ बालिकाएँ भी पढ़ने चली जाया करती थीं। इस प्रकार मुस्लिम शिक्षा में नारी-शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, जिससे चन्द कुमारियों के अतिरिक्त सर्वसाधारण की बालिकाएँ शिक्षा न ग्रहण कर सकीं। इस दोष के अपवाद रूप में हमें कुछ विदुषी राजकुमारियों का भी वर्णन मिलता है जिनका साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

७—अन्य दोष

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त मुस्लिम शिक्षा में 'निर्दयता की सीमा तक पहुँची दण्ड-व्यवस्था', पाठन-विधि में मौखिकता, विद्यार्थियों की 'विलास-प्रियता' तथा 'जीवन-दर्शन का अभाव' इस्लामी शिक्षा के अन्य दोष हैं।

सामान्य

अनेक गुण-दोष युक्त मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली ने जहाँ धार्मिक कट्टरता की प्रतिक्रिया द्वारा अनेक भारतीय शिक्षा-संस्थाओं को नष्ट करा दिया, वहीं पर मध्य एशिया तथा योरोप तक भारतीय संस्कृति को पहुँचाने का भी माध्यम बनी। मुसलमानों की एकता बनाए रखने के लिए यह शिक्षा-प्रणाली वरदान ही थी, साथ ही, इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेने वाले भारतीयों में भी समानता एवं भाई-चारे के सम्बन्ध को दृढ़ करने में सहायक सिद्ध हुई। इस प्रकार मुस्लिम संस्कृति का वृहत् प्रचार करती हुई इस शिक्षा-प्रणाली ने समस्त मुस्लिम समाज को एक सूत्र में बाँधने का काम किया। फलतः भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में रहने पर भी मुस्लिम संस्कृति की प्रगति अबाध गति से होती रही।

अनेक भारतीयों द्वारा राज्य-पद-प्राप्ति के लिए पढ़े गये उर्दू-फारसी के ज्ञान ने भारतीय साहित्य को भी प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप हिन्दी काव्य-धारा म भी हमको फारसी की मसनवी पद्धति[1] के दर्शन मिलते हैं।

सारांश

मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था

मुस्लिक काल में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में गुणों के साथ-साथ अनेक दोष भी थे। एक ओर तो इस शिक्षा-पद्धति में गुरु-शिष्य का प्रेम तथा आदर का सम्बन्ध, आत्मनिर्भरता, शान्त वातावरण में स्थित विद्यालय, छात्रावासों में रहने के साथ-साथ भोजन आदि का प्रबन्ध, छात्र-वृत्ति तथा पुरस्कारों द्वारा योग्य छात्रों को प्रोत्साहन देना, धार्मिक शिक्षा के साथ ही व्यावहारिक शिक्षा का एकीकरण तथा साहित्य-सृजन में सहायक प्रवृत्तियों का समावेश इसके गुणों को स्वतः स्पष्ट कर देते हैं; वहीं दूसरी ओर कठोर दण्ड-विधान, धार्मिक कट्टरता का शिक्षा के क्षेत्र में पाया जाना, लिखने तथा पढ़ने में समय का अलग-अलग दुरुपयोग, अरबी और फारसी का शिक्षा के क्षेत्र में आधिपत्य, जीवन-दर्शन से विद्यार्थियों को दूर रखना, विद्यालयों का अस्थायी होना, स्त्री-शिक्षा को स्थान न देना तथा सर्व-साधारण के लिए इस की व्यवस्था न होना इस प्रणाली के दोषों को पुकार-पुकार कर कहते हैं।

भारतीय समाज पर मुस्लिम शिक्षा का प्रभाव

मुस्लिम शिक्षा में धार्मिक दृष्टिकोण के कारण हिन्दुओं के लिए इसका उपयोग करना सर्वथा सम्भव न हो सका। फिर भी अरबी और फारसी का अध्ययन कर अनेक हिन्दू राज्य-पदों पर आसीन हुए। अनेक भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन करने की सुगमता के लिए अनुवाद किया गया। भारतीय साहित्य का प्रसार योरोप तक हो गया। किन्तु हिन्दू-संस्कृति को किसी प्रकार का भी प्रश्रय अथवा प्रोत्साहन इस शिक्षा-प्रणाली में न मिला।

मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली का स्थायित्व

अनेक दोषों के रहते हुए भी लगभग ६०० वर्ष तक मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली प्रचलित रही। अब भी इस प्रणाली की स्मृति दिलाने के लिए कहीं-कहीं पर

१. मलिक मुहम्मद जायसी-कृत 'पद्मावत' मसनवी पद्धति का उदाहरण है

मकतब देखने को मिल जाते हैं। इसके स्थायी रहने का एकमात्र कारण धार्मिक प्रधानता है जिसने मुसलमानों को इसमें संलग्न रखा। इसी प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों ने शिक्षा को प्रोत्साहित किया और आर्थिक सहायता भी दी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मुस्लिम शिक्षा की विशेषताओं पर एक निबन्ध लिखिए।

२. मुस्लिम शिक्षा में वे कौन-से गुण थे जिनके कारण उसका महत्त्व कई अर्थों में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से बढ़ कर है। प्रमाणसहित लिखिए।

३. मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली के दोषों की विवेचना कीजिए।

४. प्राचीन भारतीय शिक्षा और मुस्लिम शिक्षा की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

अध्याय २०

मध्य काल में हिन्दू शिक्षा

भारतवर्ष पर मुसलमानों का आधिपत्य होने से पहले यहाँ पर शिक्षा का पर्याप्त प्रचार था। बौद्ध तथा ब्राह्मणीय शिक्षा यहाँ भली प्रकार से उन्नत अवस्था में थी। अनेक विद्यालय ऐसे थे जहाँ विदेशों से आकर विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। किन्तु मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता के कारण भारतीय हिन्दू शिक्षा के अनेक प्रसिद्ध विद्यालय नष्ट कर दिये गए तथा उनकी असंख्य पुस्तकें भस्म कर दी गयीं। यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि भारतवर्ष की संस्कृति इतनी प्राचीन अथवा सुव्यवस्थित थी कि उसको नष्ट कर सकना कोई सरल काम न था। मुसलमानों ने भारतीय सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न करने का पूरा प्रयास किया, किन्तु वे पूर्णतः सफल न हो सके। प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति पर तो मुस्लिम शासन का कोई प्रभाव न पड़ा। हाँ, सामूहिक शिक्षा के केन्द्रों को अवश्य नष्ट कर दिया गया। मध्य काल में भी हिन्दू शिक्षा अबाध गति से आगे बढ़ती रही। जिन प्रसिद्ध नगरों म मुसलमान बड़ी संख्या में रहते थे अथवा कोई शासक रहता था, वहीं पर उनका काफी प्रभाव रहा। भारत के वास्तविक सांस्कृतिक केन्द्र-गाँव प्रायः मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से बचे रहे। हिन्दू शिक्षा की धारा इन्हीं ग्रामों से लेकर निर्जन में स्थित आश्रमों तक प्रवाहित होती रही। इतना ही नहीं, भारतीय साधु-सन्त तथा अन्य सामाजिक नेताओं ने वाह्य संस्कृति के विरुद्ध रहते हुए, अपने सांस्कृतिक उत्थान का सराहनीय प्रयास किया। फलतः मध्य काल में हिन्दू शिक्षा पूर्ववत् विद्यमान रही और उस समय में उच्च कोटि का साहित्य लिखा गया। हिन्दू शिक्षा-पद्धति को मुस्लिम आक्रमणकारी भौतिक हानि के अतिरिक्त किसी प्रकार से प्रभावित न कर सके। मध्य काल में मारवाड़, मथुरा, काशी, पटना, नदिया, उज्जैन, धार, विजयनगर और पाण्डीचेरी प्रमुख हिन्दू शिक्षा-केन्द्रों में गिने जा सकते हैं। पृष्ठ १९९ पर चित्र नं० १० को देखिए।

शिक्षा का स्वरूप

इस काल में भारतीयों के सामने अपनी संस्कृति की रक्षा करने का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। फलतः धार्मिक व सामाजिक नेताओं ने जन-साधारण को जागरूक करने का प्रयास किया। इस समय तक साहित्य-सृजन से प्राकृत भाषाओं का प्रभाव दूर हो चला था। अब प्राकृत भाषा से निकली हुई हिन्दी भाषा ही जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा बन गई थी। हिन्दी भाषा की प्रचलित अन्य बोलियों में भी रचनाएँ की गयीं और धार्मिक अथवा सामाजिक विचारकों ने अपने मत से सर्व-साधारण को अवगत कराया। मध्य काल में कुछ सन्त—जैसे कबीर, नानक, तुलसी तथा सूर आदि—ऐसे हुए, जिनके धार्मिक दृष्टिकोण के साथ साहित्यिक महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मध्य काल तक आते-आते बौद्ध धर्म के साथ-साथ बौद्ध शिक्षा का अस्तित्व भी नष्ट हो चुका था। परन्तु ब्राह्मणीय शिक्षा परम्परागत् उसी प्रकार से चलती रही। मुस्लिम प्रभाव से वंचित स्थानों में हिन्दू शिक्षा का प्राचीन धार्मिक रूप प्रचलित रहा। गुरु लोग विद्यार्थियों को अपने आश्रमों में हिन्दू धर्म के ग्रन्थ वेद, पुराण, उपनिषद् तथा स्मृति इत्यादि का अध्ययन करवाते रहे। गुरु के व्यक्तिगत सम्पर्क में विद्यार्थी संयम के साथ रहते और आश्रम के नियमों का पालन करते थे। गुरु का आदर करना विद्यार्थी का परम पुनीत कर्त्तव्य था।

हिन्दू शिक्षा का स्तर और उसके विषय

मध्यकालीन हिन्दू शिक्षा को राज्य की ओर से किसी प्रकार की सहायता न प्राप्त थी। किन्तु भारतीय शिक्षा-पद्धति में गुरु का त्याग तथा विद्यार्थी के बलिदान की भावनाएँ पूज्य हैं। अतः हिन्दू शिक्षा निराश्रित रहते हुए भी उच्च स्तर पर रही। भारतीय अपनी संस्कृति और शिक्षा के समक्ष मुस्लिम संस्कृति और शिक्षा को श्रेष्ठ मानने के लिए कभी सहमत न रहे। फलतः मध्य काल में हिन्दू शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ उच्च कोटि के साहित्य का भी सृजन किया गया।

दर्शन-शास्त्र, इतिहास, संगीत, नाटक, नृत्य, व्याकरण तथा तर्कशास्त्र आदि विषय थे, जिन पर उस समय विशेष रूप से ग्रन्थों की रचना की गई। साथ ही वास्तु-कला और चित्र-कला को भी प्रोत्साहित किया गया। धर्म-साहित्य की तो प्रचुर रचनाएँ उपलब्ध हैं।

मध्य कालीन हिन्दू शिक्षा और भाषायें

संस्कृत भाषा भारतवर्ष की अति प्राचीन भाषा है। मध्य काल में भी संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करनी धार्मिकों ग्रन्थों के अध्ययन के लिए आवश्यक थी और विद्यार्थी इसका अध्ययन करते थे। संस्कृत भाषा के अतिरिक्त शिक्षा-क्षेत्र में अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी प्रवेश पा गई थीं। राजस्थानी, गुजराती, मराठी तथा बंगला इत्यादि भी शिक्षा का माध्यम बनने लगी थीं। पाली तथा प्राकृत भाषाओं ने अपना विकास कर हिन्दी का रूप धारण कर लिया था। तामिल तथा कन्नड़ आदि द्रविड़ भाषाओं में भी मध्य काल में जैन साहित्य की रचना की गई। इन भाषाओं के अतिरिक्त कुछ प्रादेशिक बोलियों में भी साहित्य-सृजन हुआ। तुलसी ने अपना वृहत् प्रबन्ध-काव्य 'रामचरित-मानस' की रचना इसी काल में 'अवधी'[1] बोली में की। सूरदास ने इसी समय 'सूर सागर' की रचना ब्रज भाषा[2] में की। इस प्रकार अनेक प्रान्तीय भाषाओं ने मध्य काल में पर्याप्त प्रगति की।

शिक्षा-प्रसार, साहित्यकार और साहित्य-सृजन

मध्य काल में उत्तर भारत से लगा कर दक्षिण भारत तक हिन्दू शिक्षा का प्रसार था। दक्षिण भारत में विजयनगर तत्कालीन हिन्दू शिक्षा का केन्द्र था। विजय-नगर के राजा कृष्णदेव राय के दरबार में अनेक कवि और कलाकारों को आश्रय प्राप्त था। हिन्दू शिक्षा के प्रसार के लिए उसने सराहनीय प्रयास किये। शैव मतावलम्बियों द्वारा १३ वीं शताब्दी में साहित्यिक प्रगति में काफी सहायता पहुँचाई गई। उत्तर भारत में शिक्षा-प्रसार धार्मिक अथवा सामाजिक नेताओं द्वारा हुआ। पवित्र तीर्थ-स्थानों पर विख्यात सन्तों के आश्रमों में बहुसंख्यक शिष्य शिक्षा ग्रहण करते थे। काशी, अयोध्या और मथुरा में उस समय विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिए जाते थे।

मध्य काल में भारतीय साहित्य को जितने साहित्यकार मिले प्राचीन काल में भी उतने नहीं मिले थे। कुछ प्रमुख साहित्यकारों के नाम ये हैं—कबीर, दादू, नानक, जायसी, कुतबन, तुलसी, सूर, नन्ददास, बिहारी, भूषण, कल्हण, सायण, माधव, विद्यारण्य।

मध्य काल में साहित्य का प्रचुर सृजन हुआ। उसका विवरण इन ग्रंथों को नाम देखने से स्वतः मिल जायगा—पद्मावत, अखरावट, रामचरित-मानस, सूर

१. अवधी—उत्तर भारत में अवध प्रान्त की बोली

२. ब्रजभाषा—उत्तर भारत के आगरा-मथुरा के आस-पास की बोली।

सागर, सतसई, शिवराज भूषण, छत्रसाल दसक, कविप्रिया, रसिकप्रिया, राज तरंगिणी इत्यादि।

इस काल में वेदों पर टीकायें लिखी गईं तथा दर्शन-शास्त्र की शाखायें; जैसे—योग, न्याय, वैशेषिक और वेदान्त आदि के साथ-साथ जैन तथा बौद्ध दर्शन तथा तर्क-शास्त्र की रचनाएँ की गईं।

उपसंहार

मध्य युग में भारतवर्ष में इस्लाम का साम्राज्य स्थापित हो चुका था। मुसलमान शासक इस्लाम धर्म का प्रचार करने में संलग्न थे। मुस्लिम संस्कृति को भारतीयों पर लादने के प्रयास-रूप में भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों को नष्ट कर दिया गया। भारतवर्ष में मुस्लिम संस्कृति को सुदृढ़ आधार देने के अथक प्रयत्न किये जा रहे थे। ऐसे समय में भी भारतीय संस्कृति अपना मस्तक उन्नत रखते हुए अपना अस्तित्व बनाने में समर्थ हुई। साथ ही साथ हिन्दू शिक्षा भी प्रगति की ओर अग्रसर होती रही। राज्य की ओर से हिन्दू शिक्षा को संरक्षण न प्राप्त था। सामाजिक संगठनों द्वारा उस समय शिक्षा-प्रसार का कार्य सम्पन्न होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस संकट-काल में भी हिन्दू शिक्षा जीवित रही और उसने अनेक ऐसे साहित्यिकों को जन्म दिया जिनकी कृतियाँ भारतीय साहित्य को अमर बनाए हैं।

भारत में अंग्रेजों के आने के बाद हिन्दू शिक्षा का ह्रास होने लगा और अंग्रेजों ने भारतवासियों को दासता की बेड़ियों में जकड़े रखने के लिए यहाँ की संस्कृति को शिक्षा के माध्यम द्वारा परिवर्तित करना चाहा। संस्कृति को तो वह पूर्णतः नष्ट न कर पाए, किन्तु भारतीय शिक्षा-प्रणाली का लोप अवश्य हो गया।

सारांश

मध्य कालीन हिन्दू शिक्षा की सम्पन्नता

हिन्दू शिक्षा प्राचीन काल से चली आ रही परम्परा के अनुकूल उच्च स्तर पर इस काल में भी विद्यमान रही। धार्मिक शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया गया। प्रणाली वही रही जो प्राचीन काल में थी। शिक्षा का प्रसार उन स्थानों में विशेष रूप से रहा जो मुसलमानों के प्रभाव से दूर थे।

इस युग में हिन्दू साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई। संगीत, नाटक, नृत्य, व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन-शास्त्र तथा अन्य विषयों पर रचनाएँ की गईं। रचनाएँ प्रान्तीय भाषायें; जैसे—गुजराती, मराठी, राजस्थानी, बंगला, तामिल, कन्नड़, प्राकृत,

पाली, हिन्दी आदि में भी लिखी गईं। अनेक संस्कृत ग्रन्थों की टीकायें लिखी गईं। शिक्षा का माध्यम भी प्रान्तीय भाषाएँ बनने लगी थीं। धार्मिक एकता के प्रयास द्वारा प्रेरित कुछ मुसलमानों ने भी भारतीय साहित्य में योग दिया। कबीर, जायसी, कुतबन, रसखान आदि प्रमुख मुसलमान कवि थे जिनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य-जगत् की अमूल्य निधि हैं। विद्यार्थी धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन के लिए संस्कृत को भी पढ़ते थे तथा तत्कालीन प्रचलित प्रादेशिक भाषाओं का भी ज्ञान अर्जित करते थे। गुरु-शिष्य सम्बन्ध पूर्ववत् था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मध्य कालीन हिन्दू शिक्षा के समक्ष कौन-कौन-सी कठिनाइयाँ थीं ?

२. मध्य काल की हिन्दू शिक्षा का रूप बताते हुए उसकी विशेषताएँ भी बताइये।

३. 'मध्य काल में हिन्दू साहित्य की पर्याप्त प्रगति हुई' इस कथन की प्रमाणसहित पुष्टि कीजिए।

तृतीय खण्ड

वर्तमान काल

अध्याय २१

विषय-प्रवेश

भारतीय शिक्षा का वर्तमान काल भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व के संस्थापन से माना जा सकता है। अंग्रेजी राज्य के प्रगति-काल में हमारे समाज को अनेक विचार-धाराओं से गुजरना पड़ा है (वस्तुतः ऐसी बात तो संसार के प्रत्येक समाज की प्रगति के सम्बन्ध में कही जा सकती है)। इन विचारधाराओं के फलस्वरूप देश अनेक उथल-पुथल का सामना करता रहा है। इनसे पाठक अवगत ही हैं। शिक्षा पर समाज का प्रभाव पड़ता ही है, क्योंकि वह उसी से और उसी के लिए विकसित होती है। फलतः इन उथल-पुथल का हमारी शिक्षा पर भी सदा प्रभाव पड़ता रहा है। अतः कहना न होगा कि भारतीय शिक्षा पर सदैव ही कुठाराघात होता आया है। परन्तु इन कुठाराघातों को सहकर भी वह अपने जीर्ण और जर्जर काया को लिए हुए निरन्तर अपने मार्ग पर बढ़ती चली आई है। आज भी वह न संघर्षों से छुटकारा नहीं पा सकी है।

वर्तमान कालीन भारतीय शिक्षा को दो भागों में बाँटा जा सकता है :

१—बृटिश कालीन भारत की शिक्षा

२—स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत की शिक्षा

अंग्रेजों के शासन-काल में भारत की शिक्षा की रूप-रेखा विलायत से बनती थी। ऐसी दशा में इस पर वहाँ की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः भारत की शिक्षा पर इंगलैंड की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा, इसे समझने के लिए हमें वहाँ की तत्कालीन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करना होगा।

यों तो अंग्रेज भारतवर्ष में सन् १६०० ई में ही आ चुके थे। परन्तु उस समय वे केवल व्यापार के उद्देश्य से आए थे। शासन से उनका कोई सम्बन्ध न था। शासक के रूप में उनका काल ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना के लगभग १५० वर्ष बाद प्रारम्भ होता है। आधुनिक कालीन भारतीय शिक्षा के इतिहास को इन कालों में बाँटा जा सकता है :—

१—सन् १७०० से १८१३ ई०	प्रथम काल
२—सन् १८१३ से १८५४ ई०	द्वितीय काल
३—सन् १८५४ से १९०० ई०	तृतीय काल
४—सन् १९०१ से १९२१ ई०	चतुर्थ काल
५—सन् १९२१ से १९४७ ई०	पंचम् काल
६—सन् १९४७ से अब तक	षष्ठम् काल

उपर्युक्त छः कालों की लगभग २५० वर्षों की लम्बी अवधि पर एक साथ दृष्टिपात करना सम्भव एवं सुविधाजनक नहीं। प्रत्येक काल को स्वतंत्र रूप से अध्ययन करने में भी इसके अन्तर्गत घटनाओं की विस्तारपूर्वक विवेचना नहीं की जा सकती। अतः पाठकों की सुविधा एवं बोधगम्यता तथा विषय-विस्तार की दृष्टि से छहों कालों की विविध शिक्षा-घटनाओं और कार्य-क्रमों का विवरण अगले अध्ययों में क्रमानुसार दिया गया है। इस विवरण पर आने के पूर्व विगत २५० वर्षों की अवधि में शिक्षा की सामान्य प्रगति का परिचय आवश्यक है। अतः नीचे हम इसी ओर आ रहे हैं।

प्रथम काल (१७०० से १८१३

ऊपर कह चुके हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी १६०० ई० में केवल व्यापार के लक्ष्य को लेकर आई और उसके लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद बंगाल का शासन उसके हाथ में आ गया। फलतः अब उसका सम्बन्ध केवल व्यवसाय से ही न होकर यहाँ की राजनीति से भी हो गया। इस सम्बन्ध में प्लासी के युद्ध का विशेष महत्त्व है। यह महत्त्व युद्धकला की दृष्टि से नहीं, वरन् राजनीतिक दृष्टि से है। इस युद्ध के बाद अंग्रेज बंगाल के मालिक बन गए। सारे सूबे की सम्पत्ति उनके हाथ में आ गई और नवाब उनके हाथों की कठपुतली बन गया। बंगाल के धन का ही सदुपयोग करके अंग्रेज दक्षिणी भारत में फ्रान्सीसियों को परास्त कर सके। यों तो प्लासी के युद्ध से ही अंग्रेजों के हाथ में बंगाल तो आ ही गया था, परन्तु जो कुछ अभाव था उसे बक्सर के द्वितीय युद्ध (१७६४) ने पूरा कर दिया। बक्सर की विजय ने भारत में अंग्रेजों की शक्ति अच्छी प्रकार स्थापित कर दी। इन दोनों युद्धों के कारण बंगाल अंग्रेजों के हाथ में आ गया और आगे चल कर धीरे-धीरे पूरे भारत पर उन्होंने अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

बंगाल कम्पनी के राज्य में आ जाने पर अंग्रेजों के सामने उस प्रान्त के बच्चों की शिक्षा का प्रश्न आया। कम्पनी इस उत्तरदायित्व से दूर रहना चाहती

थी। इस उपेक्षा के यों तो अनेक कारण हो सकते हैं, परन्तु मुख्यतः दो कारण थे। पहला कारण यह था कि कम्पनी का मुख्य उद्देश्य था धन कमाना, न कि यहाँ की जनता की सेवा करना। दूसरा कारण यह था कि उस समय इंगलैंड की सरकार भी शिक्षा को राज्य का काम नहीं समझती थी। तो आश्चर्य नहीं यदि यही आदर्श कम्पनी के सामने भी था। कम्पनी सोचती थी कि शिक्षा देना उसका काम नहीं। परन्तु कम्पनी में काम करने वाले जो अंग्रेज भारत आये उनमें से कई व्यक्तियों ने अनेक कारणों से कम्पनी को शिक्षा के उत्तरदायित्व को अपने हाथ में लेने के लिए विवश किया। अब प्रश्न यह उठता है कि उन कुछ अंग्रेजों ने कम्पनी को शिक्षा का उत्तरदायी होने के लिए क्यों विवश किया? कारण स्पष्ट है। अंग्रेज बाहर से आए थे। भारत की जनता उनकी भाषा को नहीं समझती थी। ऐसी दशा में कार्य चलाना बड़ा कठिन था। अतः शासन का कार्य चलाने के लिए पढ़े-लिखे कर्मचारियों की आवश्यकता थी। उन्हीं कर्मचारियों द्वारा अंग्रेज जन-सम्पर्क में आकर उनकी बातों को समझ सकते थे। इन अधिकारियों का यह भी विचार था कि ऐसा न हो कि यहाँ की जनता हमारे शासन को नवाब के शासन से खराब समझने लगे। यहाँ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ अंग्रेज तो मानवता की भावना से भी प्रेरित होकर कम्पनी को शिक्षा का भार अपने ऊपर लेने के लिए प्रेरित किया।

शिक्षा के कम्पनी के हाथ में जाने का कुछ अंग्रेजों ने विरोध भी किया। इस प्रकार इस सम्बन्ध में दो विरोधी दल बन गए। पहला दल तो कम्पनी के संचालकों का था जो शिक्षा अपने हाथ में लेने के विरोधी थे। दूसरा दल उन अंग्रेजों का था जो कम्पनी में काम करने वाले थे और भारत में रह रहे थे। यह दल चाहता था कि कम्पनी शिक्षा का भार अपने ऊपर ले ले। इन दो दलों का परस्पर मतभेद लगभग ६० वर्ष तक चलता रहा। जिस समय यह मतभेद चल रहा था उसी समय कम्पनी को अंग्रेज धर्म-प्रचारकों[१] से भी टक्कर लेनी पड़ी। वे कम्पनी की स्थापना के बहुत समय पहले ही भारत में आ चुके थे, परन्तु अभी उनको धर्म-प्रचार के लिए कुछ प्रोत्साहन न मिल सका था, क्योंकि तबतक कम्पनी को कोई राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त था। ज्यों-ज्यों कम्पनी का क्षेत्र बढ़ता गया त्यों-त्यों इन धर्म-प्रचारकों को भी अपना क्षेत्र बढ़ाने का खुला रास्ता मिलता गया। अन्त में जब कम्पनी के हाथ में बंगाल का शासन आ गया तो धर्म-प्रचारकों ने अपने कार्य में कुछ सहायता चाही, परन्तु कम्पनी इसके लिए भी तैयार न थी। अंग्रेज धर्म-प्रचारक अपने धर्म-प्रचार के कार्य में आगे बढ़ना ही चाहते थे। कम्पनी सोचती थी कि भारतवर्ष में धार्मिक प्रश्न बड़ा टेढ़ा है और ऐसा न हो कि ईसाई धर्म-प्रचार से यहाँ के लोग भड़क उठें और

---

१. Missionaries.

सरलता से प्राप्त शासन हाथ से निकल जाय। उधर इंगलैंड में पार्लियामेंट के कुछ सदस्य धर्म-प्रचारकों का साथ दे रहे थे। वे समय-समय पर पार्लियामेंट में प्रस्ताव रखकर इनका समर्थन करते रहते थे और उनका यह मत था कि भारत में ज्ञान और प्रकाश को फैलाने के लिए धर्म-प्रचारकों को अवसर दिया जाय। धर्म-प्रचारकों का उद्देश्य यद्यपि प्रधानतः धार्मिक था, परन्तु उनके उद्देश्य का शिक्षा से घनिष्ट सम्बन्ध था। इसीलिए धर्म-प्रचार के क्षेत्र में उन्होंने जो कुछ किया उसका शिक्षा पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

कम्पनी के कर्मचारियों की इच्छा के विरुद्ध इंगलैंड में रहने वाले कम्पनी के पदाधिकारी विजयी हुए। कम्पनी को अधीनस्थ प्रान्तों के बालकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने हाथ में लेने के लिए बाध्य होना पड़ा और सन् १८१३ ई० के आज्ञापत्र[1] के अनुसार भारतवासियों की शिक्षा के लिए कुछ प्रबन्ध किया गया और इस कार्य को चलाने के लिए एक निश्चित रकम देने की व्यवस्था की गई। इसके साथ ही साथ धर्म-प्रचारकों को भी कुछ सफलता मिली। उन्हें धर्म-प्रचार के लिए सुविधाएँ दी गईं। इस प्रकार सन् १८१३ ई० से शिक्षा सरकार के हाथ में आ गई और अब वह शासन का एक मुख्य अंग मानी जाने लगी।

द्वितीय काल (१८१३-१८५४)

इस काल में शिक्षा दो विरोधी दलों के बीच कुचली गई। प्रथम दल तो उन लोगों का था जो चाहते थे कि भारतवर्ष की भाषा में ही शिक्षा देना उचित और कल्याणकारी है। भारतीय विषयों के साथ ही साथ विज्ञान तथा योरोपीय विचार भी पढ़ाये जा सकते हैं; परन्तु ये दोनों ही भारतीय भाषा के माध्यम से पढ़ाए जाने चाहिए, क्योंकि यही भारतीयों के लिए उचित और बोधगम्य है। इस दल में पुराने कर्मचारी थे। इन लोगों को भारतीय भाषाओं एवं भारतीय परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान था और उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। दुर्भाग्य यह रहा कि उस समय भी सभी एकमत नहीं थे। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' वाला प्रश्न था। बंगाल की धारणा थी कि संस्कृत, अरबी और फारसी ही शिक्षा के माध्यम के लिए उचित, उपयोगी एवं सरल है। दूसरी ओर बम्बई अपना राग अलग अलाप रहा था। उसका कहना था कि संस्कृत, अरबी और फरसी आदि सांस्कृतिक भाषाएँ तो पाठ्यक्रम के स्वतंत्र विषय होने चाहिए और शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए तो बोलचाल की भाषा होनी चाहिए।

---

१. Charter

दूसरा दल उनका था जो अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि शिक्षा के लिए अंग्रेजी अधिक उचित और उपयोगी है। वे लोग प्राचीन परम्परा को नहीं बनाए रखना चाहते थे। वे प्राचीनता और रूढ़िवादिता को ही दूर फेंकना चाहते थे और उनके स्थान पर नवीन विचारों और भावनाओं को लाना चाहते थे। उनका विश्वास था कि इन विचारों और भावनाओं को केवल अंग्रेजी माध्यम द्वारा ही भरा जा सकता है। इस दल में विशेष कर कम्पनी के वे नए अधिकारी तथा भारतीय थे जो तत्कालीन इंगलेंड के उदारवाद[1] से ओतप्रोत थे। इस दल के सदस्यों में प्रसिद्ध विद्वान मैकाले[2] और राजा राममोहनराय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

मैकाले की उत्कट इच्छा थी कि भारतवर्ष में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो। उसका विचार था कि अंग्रेजी के द्वारा पाश्चात्य संस्कृति का प्रसार हो सकेगा और भारतीय अपनी संस्कृति को भूलकर पाश्चात्य संस्कृति में पग जायँगे और इस प्रकार भारतवर्ष इंगलेंड के चंगुल में अच्छी तरह आ जायगा। राजा राम-मोहनराय अपने देश में पाश्चात्य विज्ञान और नवीन विचारों को प्रसारित करना चाहते थे। इस प्रकार प्राच्य[3] और पाश्चात्य[4] दोनों दलों में लगभग ४० वर्षों तक निरन्तर संघर्ष चलता रहा जिसका अन्त वुड के शिक्षा-घोषणापत्र (१८५४) के साथ हुआ।

दोनों दलों का संघर्ष निम्नांकित बातों पर आधारित था :—

१—**शिक्षा का माध्यम**—शिक्षा का माध्यम अरबी, फारसी और संस्कृत आदि प्राच्य भाषाओं को बनाया जाय अथवा बोलचाल की भाषाएँ (जैसा कि बम्बई का प्रस्ताव था) अथवा अंग्रेजी रखी जाय।

२. **जन-समूह अथवा वर्ग-विशेष की शिक्षा**—यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था। कुछ लोगों का विचार था कि भारतवर्ष में शिक्षा केवल उच्च वर्ग को ही दी जानी चाहिए। दूसरा दल ऐसे लोगों का था जो चाहता था कि शिक्षा सार्वजनिक हो।

३. **शिक्षा का उद्देश्य**—लोगों के सामने एक जटिल प्रश्न था कि शिक्षा का उद्देश्य प्राच्य संस्कृति को सुरक्षित रखना है अथवा अंग्रेजी माध्यम के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान को प्रसारित करना।

---

१. Liberalism.
२. Macauly.
३. Orientalist.
४. Occidentalist.

४. शिक्षा का साधन—शिक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णरूप से सरकार पर होना चाहिए अथवा यह भार वैयक्तिक संस्थाओं पर डाल दिया जाय। कुछ अंग्रेजों का विचार था कि यह उत्तरदायित्व सरकार पर हो और कम्पनी तथा धर्म-प्रचारकों के अपने विद्यालय होने चाहिए। दूसरे लोग चाहते थे कि शिक्षा भारतीय विद्यालयों में ही दी जाय।

यों तो समय-समय पर कुछ न कुछ परिवर्तन और विकास कम्पनी की शिक्षा-सम्बन्धी नीति में होते रहे, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न हुआ। अन्त में चल कर १८५३ ई० में एक समिति बनाई गई जिसका उद्देश्य था कि भारतीय शिक्षा की प्रगति की जाँच करे। उसने कम्पनी के अधिकारियों को बताया कि भारतीय जनता को शिक्षित बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है और इसकी उपेक्षा अधिक दिनों तक नहीं की जा सकती। इस समिति ने यह भी बताया कि भारतीयों को शिक्षित बनाने से कम्पनी की राजनीति को कोई धक्का न लगेगा। इन प्रस्तावों के परिणामस्वरूप सन् १८५४ ई० में वुड का शिक्षा-सन्देश-पत्र[1] प्रकाशित हुआ। इस संदेश-पत्र ने ४० वर्षों से चलने वाले संघर्ष को समाप्त कर दिया। यहीं से भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नए अध्याय का आरम्भ होता है। इसके सिद्धान्त की विशेष बातें नीचे दी जा रही हैं :—

१—सार्वजनिक शिक्षा का प्रसार

संदेश-पत्र ने स्पष्ट कर दिया कि शिक्षा सार्वजनिक होनी चाहिए, न कि वर्ग-विशेष की।

२—शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य अंग्रेजी माध्यम द्वारा योरोपीय विचारों का प्रचार ही होना चाहिए, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि प्राच्य ज्ञान को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाय।

३—शिक्षा-विभाग

वुड के संदेश-पत्र ने यह भी सिफारिश की कि प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा-विभाग खोला जाय और उसका सर्वोच्च अधिकारी जन-शिक्षा-संचालक[2] होना चाहिए।

१. Wood's Despatch.

२. Director of Public Instructions.

४—माध्यमिक शिक्षा का माध्यम

माध्यमिक शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के साथ-साथ बोलचाल की भाषाएँ भी रखी जायँ।

५—सहायता-अनुदान

आज्ञा-पत्र ने सहायता-अनुदान पर विशेष बल दिया। उसने कहा कि प्रारम्भिक विद्यालयों से लेकर कालेजों तक उन सभी विद्यालयों को जो अच्छी लौकिक एवं धर्म-रहित शिक्षा देते हैं और बालकों से शुल्क बहुत कम लेते हैं, आर्थिक सहायता दी जायगी।

६—प्रायः व्यक्तिगत संस्थाओं पर ही शिक्षा का उत्तरदायित्व

शिक्षा का उत्तरदायित्व विशेष रूप से व्यक्तिगत संस्थाओं पर ही होना चाहिए।

७—स्त्री-शिक्षा

आज्ञा-पत्र के अनुसार यह निश्चय किया गया कि सरकार बालिका-विद्यालयों को भी आर्थिक सहायता प्रदान करेगी।

८—विश्वविद्यालय

भारत में विश्वविद्यालयों को स्थापित करने की सिफारिश आज्ञा-पत्र ने की। आज्ञा-पत्र ने घोषित किया कि इन विश्वविद्यालयों की स्थापना लन्दन विश्वविद्यालय के आदर्श पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में होनी चाहिए।

९—अध्यापकों की दीक्षा का प्रबन्ध

आज्ञा-पत्र ने शिक्षण-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अध्यापकों का दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक समझा।

तृतीय काल (सन् १८५४ से १९०० ई० तक)

वुड का सन्देश-पत्र प्रकाशित हो जाने के बाद भारतीय शिक्षा की आशा-लता हरित हो चुकी थी। परन्तु जल और प्रकाश तथा उचित वातावरण के अभाव के कारण वह पनप न सकी और निरन्तर सूखती ही गयी। भारतीय शिक्षा-पद्धति पूर्ण रूप से पाश्चात्य ढंग पर बह चली। यद्यपि सन्देश-पत्र के अनुसार प्राच्य ज्ञान को ही प्रधान आश्रय एवं प्रोत्साहन मिलना चाहिए था, परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न

हो सका। प्राच्य ज्ञान की उपेक्षा की गयी और अंग्रेजी-पद्धति को उत्तरोत्तर बढ़ावा दिया गया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि शासन अंग्रेजों के हाथ में था। प्राच्य ज्ञान की उपेक्षा और पाश्चात्य पद्धति के नित्य-प्रति विकास के कारण निम्नलिखित माने जा सकते हैं :—

१. नयी शिक्षा के प्रति आस्था और श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति सदैव छात्रों के अभिभावकों को इस बात के लिए प्रेरित किया करते थे कि वे अपने बालकों को नये विद्यालयों में प्रवेश दिलाएँ।

२. प्रश्न शासक और शासित का था। शासक अंग्रेज थे। अतः अंग्रेजी पद्धति को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक था। कम्पनी के सभी नए अधिकारी भारतीय विद्यालयों को हेय की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि में इन विद्यालयों का कोई मूल्य न था।

३. भारतीय विद्यालय प्राचीन परम्परा के अनुसार चल रहे थे, और उनकी उन्नति तभी सम्भव थी जब उनको उचित सुझाव दिए जाते, परन्तु ऐसा कोई प्रबन्ध न था।

४. चौथा बड़ा कारण यह था कि नये विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वालों को सरकारी नौकरी सरलता से मिल जाती थी; अतः लोगों का ध्यान इस ओर अधिक जाने लगा।

५. एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि नयी शिक्षा का प्रसार चाहे भारतीयों द्वारा हो या अंग्रेजों द्वारा, परन्तु उसके लिए विदेशी अध्यापकों का होना स्वाभाविक था, क्योंकि नए विचारों के वे ज्ञाता माने जाते थे। इन विदेशी अध्यापकों के कारण पाश्चात्य ज्ञान को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही था।

फल यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय विद्यालय प्रायः निर्जीव-से हो गए और अंग्रेजी का प्रभाव फैल गया। दूसरी ओर सन् १८८० ई० तक अंग्रेजी पद पर तमाम व्यक्ति शिक्षक का पद ग्रहण करने के लिए तैयार हो गए। सन् १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा कमीशन के अनुसार यह निश्चित किया गया कि शिक्षा-प्रसार के लिए तथा उनको प्रोत्साहित करने के लिए समुचित प्रबन्ध किया जाय और इन संस्थाओं का संचालन विशेष रूप से भारतीयों के हाथ में होना चाहिए, और परिणाम-स्वरूप ऐसा ही हुआ।

चतुर्थ काल (सन् १९०१-१९२१ ई०)

इस काल में भी शिक्षा का रूप व्यवस्थित न हो सका। प्रथम, द्वितीय और तृतीय कालों की भाँति इस काल में भी शिक्षा दो विरोधी दलों के बीच पीसी गयी।

पहला दल उन व्यक्तियों का था जो कहते थे कि १८८० में हंटर कमीशन के सुझाव के अनुसार विद्यालयों का प्रबन्ध अधिकतर जनता के हाथ में चला गया है। इन व्यक्तिगत पाठशालाओं में अनेक दोष आ गए हैं। अतः उनमें सुधार की आवश्यकता है और उनका जीर्णोद्धार होना चाहिए।

दूसरा दल उन लोगों का था जिसमें सभी भारतीय नेता और शिक्षा-शास्त्री थे। इन लोगों का कथन था कि प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए और अधिक से अधिक पाठशालाएँ खुलनी चाहिए। इनका विश्वास था कि भारत का राष्ट्रीय पुनरुद्धार पाश्चात्य ज्ञान के प्रसार बिना सम्भव नहीं। अतः शिक्षा का विस्तार सुधार से अधिक आवश्यक है। दुर्भाग्यवश २० वर्षों के अनवरत प्रयत्नों पर विजय-लक्ष्मी सुधारवादियों के हाथ रही। विश्वविद्यालय शिक्षा-कमीशन ने भी सुधारवादियों का साथ दिया। अनुदान के नए नियमों के अनुसार माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी बड़ा परिवर्तन हुआ, क्योंकि अब अनुदान के नियमों में कठोरता आ गयी थी। उधर गोखले का अनिवार्य शिक्षा सम्बन्धी विधेयक भी सरकार द्वारा ठुकरा दिया गया था। अब भारतीयों के धैर्य की सीमा न रही। अपनी शिक्षा के प्रति सरकार की इस कटु नीति को देखकर जनता क्षुब्ध हो उठी और शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं अपने हाथ में ले लेने की माँग सरकार से की। उसका विचार था कि शिक्षा-संचालन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले लेने से वह सुचारु रूप से उसे चला सकेगी।

पंचम काल (सन् १९२१–१९४७ ई०)

सन् १९२१ में सभी प्रान्तों की शिक्षा जन-प्रिय भारतीय मंत्रियों को हस्तांतरित कर दी गयी। शिक्षा के भारतीय मंत्रियों के हाथ में आ जाने से पूरे भारतवर्ष में प्रसन्नता छा गयी और लोगों को शिक्षा की उन्नति एवं प्रसार की आशा हुई। इन मंत्रियों ने भारतीय दृष्टिकोण से जनता के लाभ के लिए कुछ नई-नई योजनाएँ और नए-नए कार्यक्रम बनाना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु वे इस योजना को पूर्ण न कर सके, क्योंकि उनके समक्ष आर्थिक समस्या आ खड़ी होती थी। इस आर्थिक समस्या के निम्नांकित कारण थे :—

१. उस समय पूरे विश्व भर में आर्थिक विपन्नता थी। अतः भारत उससे कब बच सकता था।

२. केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा-अनुदान बन्द कर दिया था।

एक ओर आर्थिक समस्या थी, तो दूसरी ओर सुधारवादी और प्रसारवादी का झगड़ा। इन दोनों दलों के कारण अभी तक एक निश्चित नीति न अपनायी

जा सकी थी। यह संघर्ष तो चल ही रहा था कि १९२९ में 'हरटॉट' कमेटी की रिपोर्ट ने जलती हुई अग्नि में घी का काम किया। अब दोनों दलों का संघर्ष और प्रबल हो उठा।

सन् १९३५ ई० के शासन-विधान के अनुसार भारत में स्वायत्त शासन का श्रीगणेश हुआ तथा १९३७ ई० में ११ प्रान्तों की सरकारी में से ७ प्रान्तों में कांग्रेस-मंत्रिमंडल निर्मित हुआ। अब इन मंत्रियों को अपने देश के लिए लाभ-दायक योजनाओं को बनाने और कार्यान्वित करने का सुन्दर अवसर था। भारतीय जनता यह भली भाँति समझ गयी थी कि राष्ट्र के उत्थान के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। सौभाग्य से उस समय शिक्षा के कुछ मर्मज्ञ भी उत्पन्न हो गए थे जो तत्कालीन शिक्षा-समस्याओं से पूर्णरूपेण परिचित थे तथा उनके निदान का रास्ता भी जानते थे। कांग्रेस-मंत्रिमंडल के बनने के पश्चात् ३-४ वर्षों का समय भारतीय शिक्षा के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अब साक्षरता, प्रौढ़-शिक्षा, अछूतोद्धार और स्त्री-शिक्षा का आन्दोलन बड़े उत्साह के साथ प्रारम्भ हो गया। गाँधी जी की बेसिक शिक्षा भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नया कदम था। अब निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की आशाएँ बन रही थीं। उसी समय दुर्भाग्य से द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध सम्बन्धी नीति में मतभेद हो जाने के कारण कांग्रेस-मंत्रि-मंडल ने त्यागपत्र दे दिया। परिणामतः आन्दोलन प्रायः बन्द हो गया।

षष्ठम् काल (१९४७ से अब तक)

१५ अगस्त, १९४७ को भारत से ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त हो गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के मूल्य-रूप में हमें अपने देश का विभाजन तथा लाखों व्यक्तियों का संहार सहना पड़ा। देश की बागडोर अपने हाथ में आ जाने से हम अपनी सभी नीतियों का निर्धारण करने में स्वतन्त्र हो गये। इस स्वतन्त्रता का प्रभाव शिक्षा पर भी पड़ा। फलतः १९४७ के बाद हम शिक्षा-क्षेत्र में बड़ी हलचल देख रहे हैं। आज हम शिक्षा के सहारे राष्ट्र-निर्माण की ओर आरूढ़ हैं। इससे हमारी शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। स्वतन्त्र भारत की शिक्षा-नीति में भी एक संघर्ष चल रहा है। अभी तक हम पूर्णरूपेण यह नहीं निश्चित कर सके हैं कि शिक्षा का रूप उपयोगवादी हो अथवा अंग्रेज-कालीन तथाकथित उदारवादी। इस द्वन्द्व के होते हुए भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश में शिक्षा का जो विकास हुआ है उसका विवरण पुस्तक के अन्त में यथा-स्थान दिया जायगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हमारे देश की शिक्षा की प्रगति बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी रही है और वह अनेक ठोकरों से होकर विकसित हुई है। अगले पृष्ठों में इस प्रगति की हम सविस्तार चर्चा करेंगे।

सारांश

भारतीय शिक्षा का वर्तमान इतिहास अंग्रेजी राज्य के संस्थापन से माना जा सकता है। विदेशी राज्य के प्रगति-काल में भारतीय शिक्षा को कई विचार-धाराओं से होकर गुजरना पड़ा है। परन्तु वह निरन्तर अपने मार्ग पर बढ़ती चली आई है। वर्तमान शिक्षा के इतिहास को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, ब्रिटिश कालीन भारत की शिक्षा और द्वितीय, स्वतन्त्र भारत की शिक्षा। ब्रिटिश काल में भारतीय शिक्षा की रूप-रेखा इंगलैंड से बनती थी। अतः इस पर इंगलैंड के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः विलायत की तत्कालीन परिस्थितियों को समझना आवश्यक है।

प्रारम्भ में अंग्रेजों का एकमात्र उद्देश्य व्यापार ही था, परन्तु आगे चल कर वे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाकर शासक बन बैठे। ब्रिटिश कालीन शिक्षा के इतिहास को सरलता से समझने के लिए उसे छः कालों में बाँटा जा सकता है :—प्रथम काल सन् १७०० ई० से १८१३ ई०, द्वितीय काल सन् १८१३ से १८५४ ई०, तृतीय काल १८५४ से १९०० ई०, चतुर्थ काल १९०१ से १९२१ तक और पंचम काल १९२१ से १९४७ ई० तक षष्ठम् काल १९४७ से अब तक।

प्लासी के युद्ध में विजयी होने के पश्चात अंग्रेज भारत के स्वामी बन बैठें और रही-सही कमी को सन् १७६४ ई० में बक्सर-युद्ध ने पूरा कर दिया। बंगाल और बिहार की दीवानी अंग्रेजों के हाथ में आ गयी और अब वे व्यापारी न रहकर स्वामी बन गए। ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य धनोपार्जन था, न कि भारतीय जनता की सेवा करना। कम्पनी सरकार अपने प्रदेश के बालकों को शिक्षित बनाना अपना उत्तरदायित्व नहीं मानती थी, परन्तु तत्कालीन भारत स्थित कई अंग्रेज-कर्मचारियों ने कम्पनी को शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने हाथ में लेने के लिए विवश कर दिया। कारण यह था कि शासन का कार्य चलाने के लिए भारतीयों का सहयोग आवश्यक था। अंग्रेज नये-नये आए थे और वे भारतीय संस्कृति से अनभिज्ञ थे। कम्पनी के संचालक यह कार्य कम्पनी का नहीं समझते थे। अतः दो विरोधी दल हो गए। इन विरोधी दलों का संघर्ष लगभग ६० वर्षों तक चलता रहा। कम्पनी को धर्म-प्रचारकों से भी संघर्ष लेना पड़ा। कम्पनी धर्म-प्रचार को भारत में अंग्रेजी शासन के लिए अहितकर समझती थी। परन्तु धर्म-प्रचारक धर्म-प्रचार को उचित और लाभदायक समझकर पार्लियामेंट में आन्दोलन चला रहे थे।

धर्म का शिक्षा से अटूट सम्बन्ध है। अतः धर्म का प्रभाव शिक्षा पर पड़ना स्वाभाविक था। धर्म-प्रचारकों को सफलता मिली और १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र

के अनुसार कम्पनी को अपने अधीनस्थ प्रान्तों की शिक्षा का भार अपने ऊपर लेना पड़ा।

द्वितीय काल में भी शिक्षा दो दलों में कुचली गयी। प्रथम दल उन व्यक्तियों का था जो भारतीय ज्ञान को भारतीय संस्कृति द्वारा देना चाहते थे। दूसरा दल उन लोगों का था जो पाश्चात्य ज्ञान को ही लाभदायक समझते थे और अंग्रेजी को माध्यम बनाना चाहते थे। वे प्राचीनता और रूढ़िवादिता के कट्टर विरोधी थे। अंग्रेजी के माध्यम द्वारा पाश्चात्य ज्ञान देने के समर्थकों में मैकाले और राजाराम-मोहन राय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मैकाले का विचार था कि अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीय संस्कृति को भुला कर भारतीयों को अधिक दिनों तक चंगुल में रखा जा सकता है। ४० वर्षों तक निरन्तर संघर्ष चलता रहा और अन्त में १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार यह समाप्त हुआ।

यह संघर्ष, शिक्षा के माध्यम, सार्वजनिक शिक्षा, शिक्षा का उद्देश्य और शिक्षा और शिक्षा के साधन आदि महत्वपूर्ण बातों के विषय में चलता रहा। समय-समय पर कम्पनी की शिक्षा-नीति में कुछ परिवर्तन होता रहा, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न हुआ। १८५३ में भारतीय शिक्षा की प्रगति की जाँच करने के लिए एक समिति बनाई गई और उसी के परिणाम-स्वरूप सन् १८५४ ई० में वुड का शिक्षा-संदेश-पत्र प्रकाशित हुआ। इस संदेश-पत्र से भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है।

वुड के संदेशपत्र ने निम्नांकित बातों पर प्रकाश डाला:—(१) सार्वजनिक शिक्षा-प्रसार, (२) शिक्षा का उद्देश्य अंग्रेजी माध्यम द्वारा योरोपीय विचारों के प्रसार के साथ ही साथ प्राच्य ज्ञान का वर्द्धन, (३) शिक्षा-विभाग खोलकर शिक्षा को एक सुव्यवस्थित ढाँचा प्रदान करना, (४) शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के साथ-साथ बोल-चाल की भाषाएँ, (५) आर्थिक सहायता प्रदान कर विद्यालयों को प्रोत्साहन देना, (६) व्यक्तिगत शिक्षा-संस्थाओं को प्रोत्साहित करना, (७) स्त्री-शिक्षा (८) विश्वविद्यालय खोलना तथा उच्च शिक्षा का प्रबन्ध करना, (९) अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना।

तृतीय काल में वुड के संदेश-पत्र से भारतीय शिक्षा-पद्धति पाश्चात्य ढंग पर तीव्र वेग से चल पड़ी। प्राच्य ज्ञान की उपेक्षा कर पाश्चात्य ज्ञान को प्रोत्साहन दिया गया। पाश्चात्य पद्धति की उन्नति के मुख्य कारण—(१) कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों की अंग्रेजी के प्रति आस्था और श्रद्धा का होना, (२) शासक और शासित का सम्बन्ध, (३) भारतीय विद्यालयों की परम्परा का प्राचीन होना और सुझावों का अभाव, (४)

अंग्रेजी पढ़े व्यक्तियों को नौकरी का शीघ्र मिलना, (५) विदेशी अध्यापकों का होना, आदि थे । परिणामतः उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय विद्यालय निर्जीव और निष्क्रिय हो गए और अंग्रेजी का प्रचार बढ़ गया । सन् १८८० ई० तक अनेक भारतीय अंग्रेजी पढ़कर तैयार हो गए थे और वे शिक्षक हो सकते थे । फलतः १८८२ में भारतीय शिक्षा-समिति के अनुसार निश्चय किया गया कि शिक्षा-संस्थाओं का संचालन मुख्यतः भारतीयों के हाथ में दिया जाय ।

चतुर्थ काल में भी शिक्षा को दो दलों से टक्कर लेना पड़ा । प्रथम दल सुधारवादियों का और दूसरा दल भारतीय नेताओं और शिक्षा-शास्त्रियों का, जो शिक्षा को अनिवार्य करना तथा अधिक विद्यालय खोलना चाहते थे । सुधारवादियों की विजय हुई । अनुदान-नियम कठोर हो गए । गोखले का प्रस्ताव गिर जाने के कारण जनता को क्षोभ हुआ ।

पंचम काल में भारतीय मंत्रियों ने शिक्षा के विस्तार की योजना बनाई, परन्तु आर्थिक कठिनाई के कारण उसे स्थगित करना पड़ा । आर्थिक समस्या के कारण—(१) विश्वव्यापी आर्थिक संकट, (२) प्रान्तीय आर्थिक दशा का शोचनीय होना, (३) केन्द्रीय अनुदान स्थगित होना आदि थे । हरटॉट कमेटी ने संघर्ष और बढ़ा दिया । १९३५ ई० में कांग्रेस-मंत्रिमंडल बना, प्रौढ़-शिक्षा, अछूतोद्धार, स्त्री-शिक्षा आदि की योजनाएँ बनीं, परन्तु द्वितीय महायुद्ध में मतभेद होने से इस मंत्रिमंडल को त्याग-पत्र दे देना पड़ा और यह आन्दोलन समाप्त हो गया ।

१९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—'भारतीय शिक्षा का आधुनिक इतिहास अनेक वादों का सम्मिश्रण है' इस उक्ति पर अपने विचार प्रकट करो ।

२—ब्रिटिश कालीन भारतीय शिक्षा की साधारण प्रगति पर एक छोटा लेख लिखो ।

अध्याय २२

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय शिक्षा का रूप

प्राथमिक शिक्षा

भारतवर्ष पर मुसलमानों का पूर्ण आधिपत्य हो जाने के पश्चात् एक नवीन शिक्षा-प्रणाली का जन्म हुआ। इस नवीन प्रणाली के कारण तत्कालीन प्राथमिक विद्यालयों को बड़ा धक्का लगा। मुसलमान शासकों ने धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मस्जिदों और मकतबों का निर्माण कराया। यही नहीं, फीरोज और औरंगजेब ने धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर हिन्दू-संस्कृति और शिक्षा को सदैव के लिए काल के गाल में झोंकने का प्रयत्न किया। शासन के साथ प्रजा में भी परिवर्तन का आना स्वाभाविक था। राज्य-भाषा फारसी हो चुकी थी। अतः लोगों का विचार हुआ कि जीविकोपार्जन के लिए फारसी पढ़ना आवश्यक है। अब मकतबों में हिन्दू छात्रों की वृद्धि हुई। परन्तु इन मकतबों में प्रवेश लेने वाले हिन्दू छात्रों में प्रायः कृषक वर्ग एवं व्यावसायिक वर्ग के ही बच्चे थे। इस प्रकार अब एक ओर मकतबों की छात्र-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी, तो दूसरी ओर प्राथमिक हिन्दू पाठशालाओं की प्रवेश-संख्या का घटना स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। इतने पर भी प्राथमिक विद्यालय अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में निरन्तर चलते रहे तथा समाज की सेवा करते रहे। इधर अंग्रेज भारत में जम चुके थे और शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य ने मान लिया था। बम्बई, मद्रास और बंगाल में देशी शिक्षा की दयनीय दशा की जाँच ब्रिटिश सरकार ने करवाई एवं जाँच के बाद कलक्टरों ने रिपोर्ट भेजी।

बम्बई प्रान्त के गवर्नर एलफिंस्टन ने अपने प्रान्त के कलक्टरों को तत्कालीन शिक्षा की जाँच करके रिपोर्ट भेजने का आदेश दिया। परन्तु इस १८२३-२५ की रिपोर्ट से अधिक संतोष न हुआ। इसलिए पुनः १८२९ में न्यायाधीशों से रिपोर्ट माँगी गयी। मद्रास के गवर्नर सर टामस मुनरो ने भी इसी प्रकार जाँच करवाई। विदेशी धर्म-प्रचारक ऐंडम, ने जो कि स्काटलैंड से आए थे, विलियम बैंटिक के अनुसार

बंगाल की तथा अन्य स्थानों की जाँच-पड़ताल कर १८३५ से १८३८ ई० के तीन वर्षों की अवधि में अपनी तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं। इन रिपोर्टों से उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की भारतीय शिक्षा की एक झलक मिलती है। यद्यपि ये भारत के कुछ ही अंशों से संबन्धित हैं परन्तु इनका बड़ा महत्त्व है। इन रिपोर्टों को हम संक्षेप में इस प्रकार दे सकते हैं :—

बम्बई

सन् १८२३ ई० तक बम्बई सरकार प्रान्त की शिक्षा के लिए बहुत थोड़ा ही कर सकी थी। ब्राह्मणीय शिक्षा के प्रसार के लिए पूना में एक संस्कृत कालेज खोला गया था, परन्तु उसका भी मुख्य उद्देश्य वहाँ के ब्राह्मणों को प्रसन्न करना था, न कि शिक्षा का विस्तार। सन् १८१६ ई० में एलफिस्टन बम्बई प्रान्त के गवर्नर के पद पर आये। पद-ग्रहण करते ही उन्होंने शिक्षा की ओर दृष्टि डाली। प्रान्त के सभी कलेक्टरों से कहा गया कि वे अपने-अपने स्थान की शिक्षा-सम्बन्धी बातों की जाँच करके रिपोर्ट भेजें। कलक्टरों ने १८२४-२५ में रिपोर्ट तो अवश्य भेज दी, परन्तु इससे बम्बई प्रान्त की शिक्षा का पूरा ज्ञान न हो सका; अपितु केवल परिचय-मात्र प्राप्त हुआ। अतः सन् १८२६ ई० में दूसरी रिपोर्ट न्यायालय के न्यायाधीशों से माँगी गयी। इन रिपोर्टों का पूर्ण रूप से वर्णन करना सम्भव नहीं है। अतः उनकी केवल मुख्य बातें ही नीचे दी जा रही हैं :—

चित्र नं० ११—एलफिस्टन

(१) विद्यालयों की छात्र-संख्या बहुत कम थी। केवल इने-गिने विद्यालयों में छात्रों की उच्चतम संख्या १५० थी अन्यथा औसत संख्या १५ थी।

(२) पूरे प्रान्त में १,७०५ विद्यालय थे, जिनमें केवल २५ को ही सरकार आर्थिक सहायता देती थी। इन विद्यालयों में छात्रों की संख्या ३५,१५३ थी।

(३) विद्यालयों के लिए प्रायः कोई अपना भवन न था। अध्यापन-कार्य प्रायः शिक्षकों के घर अथवा मन्दिर या लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के निवास-स्थानों पर हुआ करता था।

(४) शिक्षकों की आय केवल नाममात्र की थी। यह आय लगभग साढ़े तीन रुपये मासिक से अधिक न थी। इसके अतिरिक्त प्रान्त के सभी अध्यापकों को

समान आय नहीं होती थी। कभी-कभी उत्सवों-त्योहारों और अन्य ऐसे पुण्य अव-सरों पर अध्यापकों को कुछ अतिरिक्त लाभ हो जाया करता था। विवाहों के अवसर पर शिक्षकों को दक्षिणा मिल जाया करती थी।

(५) शिक्षक-वर्ग में अधिकतर ब्राह्मण होते थे। उस समय के शिक्षकों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था और यही कारण था कि शिक्षक इतनी कम आय होते हुए भी शिक्षक बनना पसन्द करते थे।

(६) कुशाग्र बुद्धि तथा उच्च कक्षा के छात्र निम्न योग्यता के छात्रों को शिक्षा दिया करते थे और चरित्र तथा अन्य बातों की देख-रेख तथा उन पर नियं-त्रण रखते थे।

(७) पाठशालाओं में दण्ड का नियम कठिन था। अनुशासन रखने के लिए कठोर दण्ड आवश्यक समझा जाता था। पाठ्य-विषयों में गिने-चुने विषय ही रखे जाते थे जिनमें लिखना, पढ़ना और गणित ही प्रधान विषय थे। प्रायः छात्रों को जीवन में प्रति दिन काम आने वाली बातों का अभ्यास कराया जाता था, जैसे बड़े लम्बे पहाड़े उनको रटा दिए जाते थे जिससे वे मौखिक रूप से अपना हिसाब-किताब कर सकें।

(८) आर्थिक दशा हीन होने के कारण विद्यालयों के पास उपयुक्त साधन न थे; और उपयुक्त साधन न होने के कारण शिक्षा का स्तर न तो अधिक ऊँचा हो सकता था और न शिक्षा अधिक उपयोगी ही हो सकती थी।

(९) मानीटर की प्रथा वहाँ प्रचलित थी। बालकों का विभाजन कक्षानुसार न करके उन्हें दो-दो के जोड़ों में बाँट दिया जाता था।

मद्रास

मद्रास के गवर्नर सर टामस मुनरो ने भी मद्रास प्रान्त की शिक्षा की जाँच करायी। इस जाँच के फल का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

विद्यालय में प्रवेश के समय सर्वप्रथम छात्र के घर में गणेशजी की पूजा होती थी और इस पुण्य अवसर पर विशेष उत्सव मनाया जाता था। पाँच वर्ष की आयु में बालक को विद्यालय में प्रविष्ट कराया जाता था और १४ या १५ वर्ष की आयु तक वह वहाँ अध्ययन करता था। विद्यालय का कार्य-क्रम ६ बजे प्रातः काल सरस्वती-वन्दना से प्रारम्भ होता था। विद्यालय में सर्वप्रथम आने वाले छात्र के हाथ पर सरस्वती शब्द लिख कर उसे सम्मानित किया जाता था। इसका तात्पर्य यह था कि वह बहुत अच्छा छात्र है। दण्ड-विधान कठोर था। अपराधी

बालकों को कोड़े लगाए जाते थे और बेंत से मारकर छत से लटकाना, बैठक कराना आदि दण्ड भी दिए जाते थे। छात्रों का वर्गीकरण उनकी योग्यता के अनुसार होता था। प्रायः एक विद्यालय में चार वर्ग होते थे। विद्यालय में प्रवेश करने पर बालकों को सर्वप्रथम लिखना सिखाया जाता था। लिखना सिखाने का ढंग उपयुक्त था। सर्वप्रथम बालू पर अक्षरों का बोध करा कर उनको स्वयं उसी प्रकार अभ्यास करना बताया जाता था। इस प्रकार अभ्यास के पश्चात् काष्ठ की तख्ती पर अभ्यास कराया जाता था। बालकों को अक्षर का बोध हो जाने के पश्चात मात्राएँ, संयुक्ताक्षर और फिर पशुओं, ग्राम और मनुष्यों का नाम लिखना सिखाया जाता था। अंकगणित में भी लगभग यही नियम था। पहले गणना, फिर जोड़-घटाव और फिर अन्य बातें सिखाई जाती थीं।

पाठ्य-विषय—पाठ्य-विषयों में पद्यों का स्मरण करना, पत्र लिखना, हस्त-लिखित प्रतियों का पढ़ना तथा दस्तावेज तैयार करने की रीति थी। इसके अतिरिक्त सुन्दर और उपदेशात्मक कहानियाँ भी बालकों को स्मरण करायी जाती थीं। इस प्रकार प्राथमिक विद्यालयों में केवल ये ही विषय मुख्य थे।

विद्यालयों की संख्या और दशा—छात्र-संख्या दयनीय थी। एक विद्यालय की औसत छात्र-संख्या १२ थी। छात्रों में अधिकांश हिन्दू थे। हिन्दुओं के बाद मुसलमानों की संख्या थी। लड़कियों को भी शिक्षित करने की प्रथा थी। परन्तु केवल नाममात्र के लोग ही ऐसा करते थे। बेलारी जिला के आँकड़ों से पता चलता है कि ६,६४१ छात्रों में केवल ६० लड़कियाँ थीं, जो सभी हिन्दू थीं।

इन विद्यालयों में एक विद्यालय अंग्रेजी भाषा के लिए भी था। तेईस विद्यालय संस्कृत में उच्च शिक्षा के लिए थे। संस्कृत विद्यालयों में ज्योतिष, अर्थ-शास्त्र, तर्कशास्त्र और दर्शन-शास्त्र संस्कृत माध्यम से पढ़ाये जाते थे। इसके अतिरिक्त तामिल, तेलगू, कर्नाटकी, मराठी और फारसी आदि के लिए भी विद्यालय थे।

शिक्षकों की दशा—यद्यपि बेलारी और कनाड़ा के कलक्टरों की रिपोर्ट में कुछ मतभेद है, परन्तु सामान्यतः सभी की रिपोर्ट का भाव एक है। इस रिपोर्ट से मद्रास प्रान्त की शिक्षा की दशा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

शिक्षक प्रायः अयोग्य होते थे, क्योंकि उन्हें वेतन बहुत कम मिलता था और यही विशेष कारण था कि योग्य व्यक्ति शिक्षक नहीं बनना चाहते थे। इसके अतिरिक्त शिक्षक अदीक्षित होते थे। शिक्षकों की ऐसी दशा होने के कारण शिक्षा का स्तर निम्न था।

बंगाल

बंगाल भारत का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रान्त है। सम्पूर्ण भारत के लिए उसकी सेवाएँ अपूर्व हैं। अतः वहाँ की शिक्षा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक बंगाल शिक्षा का केन्द्र रहा है। ब्रिटिश सत्ता ने भी अपना प्रारम्भिक प्रयास यहीं किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बम्बई और मद्रास की भाँति यहाँ की भी शैक्षिक दशा की जाँच कराई गई। इस जाँच का श्रेय विदेशी धर्म-प्रचारक ऐडम महोदय को है। वे शिक्षा के बड़े मर्मज्ञ थे और भारत आकर उन्होंने संस्कृत और बंगला का गहन अध्ययन कर प्रचुर ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने विलियम बैंटिक के समक्ष बंगाल की शिक्षा-स्थिति की जाँच कराने का प्रस्ताव रखा और परिणाम-स्वरूप इन्हीं को इस कार्य के लिये नियुक्त किया गया। सन् १८३५-३८ ई० की तीन वर्ष की अवधि में इन्होंने तीन रिपोर्टें प्रकाशित कीं।

ऐडम के अनुसार बंगाल में सार्वजनिक शिक्षा पूर्ण रूप से प्रचलित थी। सम्पूर्ण प्रान्त में असंख्य प्रारम्भिक विद्यालय थे। कहा जाता है कि लगभग कोई ऐसा गाँव नहीं था जहाँ एक प्रारम्भिक पाठशाला न हो और इस प्रकार इनकी संख्या लगभग एक लाख थी।[1]

ऐडम की प्रथम रिपोर्ट बहुत संक्षिप्त है। परन्तु दूसरी रिपोर्ट पूर्ण विस्तार के साथ है। ऐडम की प्रथम रिपोर्ट के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। वार्ड का कथन है कि बंगाल के लगभग सभी गाँवों में एक प्राइमरी पाठशाला थी जिसमें पढ़ना-लिखना और अंकगणित की साधारण शिक्षा दी जाती थी। पारुलेकर भी वार्ड के समर्थक हैं। परन्तु फिलिप हरटॉट ने इसको कोरी कल्पना माना है। इसका कारण सम्भवतः यह जान पड़ता है कि उन्होंने उन पाठशालाओं की गणना नहीं की जो व्यक्तिगत रूप से गृह-पाठशालाओं का कार्य कर रही थीं। उस समय व्यक्तिगत शिक्षा का प्रचार प्रचुर मात्रा में था।

ऐडम की द्वितीय रिपोर्ट से हमें जिला राजशाही में विद्यालयों की अवस्था का विस्तृत ज्ञान जिलों के थानों की भाँति कराया गया है। इस विषय में ऐडम ने

---

१. The elementary system was intended for the masses. It was a widespread system consisting of numerous primary schools scattered all over the countryside. Practically every village had its primary schools, its Pathshalas. In Bengal alone, it is said, there were about the year 1835 a hundred thousand such Pathshalas.

Basu A. N., Education in Modern India P. 5

भली-भाँति जानकारी प्राप्त की थी। उनके अनुसार वहाँ ४८५ गाँव थे, जिनमें लगभग १,६५,२९६ व्यक्तियों की जन-संख्या थी और उन गाँवों में कुल २७ प्राइमरी पाठशालाएँ थीं। इन पाठशालाओं में संस्कृत, अरबी और फारसी पढ़ाई जाती थी। इनकी दशा अच्छी न थी। शिक्षा बड़ी निम्न कोटि की और सस्ती थी। स्त्री-शिक्षा का सर्वथा अभाव था। पारिवारिक रूप से शिक्षा देने वाली पाठशालाओं की संख्या इन पाठशालाओं की अपेक्षा कहीं अधिक थी। अध्यापकों की आय अत्यन्त अल्प थी। उनको केवल पाँच रुपया आठ आना वेतन दिया जाता था।

ऐडम की प्रथम और द्वितीय रिपोर्ट की अपेक्षा तृतीय रिपोर्ट अधिक महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। इसमें इन्होंने मुर्शिदाबाद, बर्दवान, वीरभूमि, दक्षिण बिहार और तिरहुत जिलों की शिक्षा की दशा का वर्णन किया है। इन पाँचों जिलों में २,५६७ पाठशालाएँ थीं जिनमें ८ विद्यालयों में अंग्रेजी की भी शिक्षा दी जाती थी और ६ बालिका-विद्यालय थे, जिनमें ८१४ लड़कियाँ शिक्षा प्राप्त कर रही थीं।

इन विद्यालयों का व्यय कुछ धनी परिवारों, तालुकेदारों तथा जमीदारों की कृपा पर चलता था। धनी परिवार के व्यक्ति भूमि और रुपया देकर घर के निकट या घर पर ही पाठशालाएँ स्थापित करवा दिया करते थे। हिन्दू छात्र प्रायः संस्कृत और बंगला पढ़ते थे और मुसलमान अरबी और फारसी। लड़कियों को शिक्षा केवल कुछ धनी परिवार के व्यक्ति ही दिलवाते थे। शिक्षा के नाम से लोग डरते थे। मुसलमानों का तो विचार था कि लड़कियों को शिक्षित करना अशुभ है।

इस प्रकार बम्बई, मद्रास और बंगाल की प्राथमिक शिक्षा का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में असंख्य प्रारम्भिक पाठशालाएँ थीं। ये पाठशालाएँ वर्ग-विशेष के लिए नहीं, अपितु जन-साधारण के लिए थीं। यद्यपि इनका अपना अलग ढंग था, फिर भी इनका महत्त्व अधिक था। बम्बई, मद्रास और बंगाल की पाठशालाओं की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद चाहे जितना हो और संख्या भी चाहे जितनी हो, परन्तु इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि विद्यालयों की संख्या बहुत अधिक थी और वे जन-साधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति में बड़े सहायक थे।

उच्च शिक्षा

ऐडम के कथनानुसार उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में केवल बर्दवान जिले में १९० ऐसे संस्कृत विद्यालय थे जिनमें उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। इसी प्रकार उन्होंने अपनी तृतीय रिपोर्ट में दक्षिणी बिहार के उच्च विद्यालयों का वर्णन करते समय फारसी और अरबी के क्रमशः २९९ और १२ विद्यालयों का आँकड़ा दिया

है। ये संस्कृत-विद्यालय और मकतब प्राचीन ढंग के थे। मुसलमानों के युग में उच्च शिक्षा का प्रबन्ध मकतबों में होता था। इनमें योग्य अध्यापक रहते थे और भाषण द्वारा शिक्षा दिया करते थे। इन विद्यालयों का व्यय अधिकांशतः सम्राटों की कृपा पर निर्भर था और कहीं-कहीं मकतबों के नाम पर जागीर लगी थी। उन्हीं जागीरों की आय से इनका खर्च चलता था। इन विद्यालयों में लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थीं, परन्तु पाठ्यक्रम और प्रगति संतोषजनक नहीं थी। अकबर ने पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर उसे व्यापक और उपयोगी बनाया तथा हिन्दू विद्यालयों को प्रोत्साहन दिया। इन विद्यालयों में फारसी के साथ दर्शन, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और साहित्य का अध्ययन कराया जाने लगा। ये संस्कृत-विद्यालय और मदरसे उच्च शिक्षा के केन्द्र थे और ब्रिटिश सत्ता के पूर्व तक उसी रूप में चलते रहे।

ऐडम ने लिखा है कि इन विद्यालयों के प्रायः अपने भवन थे, जिन्हें या तो शिक्षक ने स्वयं या किसी धनी व्यक्ति अथवा कोई अन्य दयालु और शिक्षा-प्रेमी बनवा देता था। एक विद्यालय में केवल एक ही अध्यापक होता था और सारा कार्य वही करता था। इन विद्यालयों की आय के अनेक साधन थे, जैसे कुछ विद्यालयों के पास भूमि थी, इसी की आय से उनका खर्च चलता था। कुछ विद्यालयों को राजा, जमींदार अथवा अन्य धनी परिवार के व्यक्ति दान दिया करते थे। कुछ विद्यालयों के पास भूमि थी और अन्य स्रोतों से भी धन प्राप्त हो जाता था। जिन विद्यालयों के पास अपने भवन नहीं थे, वे अध्यापक के घर या किसी सम्मानित व्यक्ति की चौपाल में लगा करते थे।

अध्यापकों की आर्थिक दशा दयनीय थी। उनको लगभग ६३ रुपया ४ आना ५ पाई वार्षिक वेतन मिलता था और इस के अतिरिक्त आय का अन्य कोई साधन न था।

ये संस्कृत-विद्यालय प्रायः गाँवों में होते थे। किसी-किसी गाँव में तो ६-६ विद्यालयों का होना बताया जाता है। एक विद्यालय की औसत छात्र-संख्या ६ थी।

पाठ्यक्रम—धर्मशास्त्र, साहित्य, व्याकरण कोष, पिंगल और वेदान्त, ज्योतिष, पुराण, मंत्र, तर्कशास्त्र और औषधि मुख्य विषय थे। विषयों में अधिकतर विद्यार्थी व्याकरण, तर्कशास्त्र और धर्म-शास्त्र का अध्ययन करते थे। इन विषयों के पढ़ने वाले छात्रों की संख्या इस प्रकार थी:—व्याकरण ६४४, तर्कशास्त्र २७७, धर्मशास्त्र २३८।

हिन्दुओं के संस्कृत-विद्यालयों की भाँति मुसलमानों के लिए भी अरबी और फारसी की शिक्षा के लिए उच्च अध्ययन के विद्यालय थे। ये विद्यालय गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक थे और संस्कृत-विद्यालयों की भाँति इनमें भी एक ही अध्यापक होता था।

इन विद्यालयों के निजी भवन न थे। वे प्रायः अध्यापकों के घर पर लगा करते थे। ऐडम ने केवल दो अरबी और दो फारसी-विद्यालयों के निजी भवन के सम्बन्ध में लिखा है। फारसी-विद्यालयों में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू छात्र अधिक थे, यह एक विशेष बात थी। इन हिन्दू छात्रों में लगभग ६० प्रतिशत कायस्थ थे। अरबी के विद्यालयों में सभी मुसलमान पढ़ते थे।

इन अरबी और फारसी-विद्यालयों में सभी अध्यापक मुसलमान थे। ऐडम ने केवल एक हिन्दू अध्यापक का नाम दिया है। ये सभी अध्यापक योग्य होते थे और प्रायः लेखक होते थे। इनकी आय कम थी। कुछ अध्यापक तो अपने छात्रों को भोजन भी देते थे।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य काल तक उच्च शिक्षा देने वाले इन विद्यालयों की संख्या तो बहुत अधिक थी, किन्तु आकार-प्रकार में वे आधुनिक कालेजों की भाँति न थे। इन विद्यालयों का ढंग प्राचीन था और लगभग सभी विद्यालय धनी-मानी व्यक्तियों की कृपा के सहारे पर ही थे। बंगाल के इन विद्यालयों को ही ध्यान में रख कर भारत के अन्य प्रान्तों की उच्च शिक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि अन्य प्रान्तों की शिक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं हैं।

बंगाल प्रान्त की भाँति मद्रास में भी उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। मद्रास प्रान्त में उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयों की संख्या तो कम नहीं थी, परन्तु उनकी रूप-रेखा दूसरे प्रान्तों के विद्यालयों से भिन्न अवश्य थी। इन विद्यालयों में अध्यापकों को अध्यापन-कार्य के लिए वेतन नहीं मिलता था, केवल अपनी सेवा-भावना से ही प्रेरित हो कर वे इस कार्य को करते थे। परन्तु कभी-कभी कुछ शिक्षकों को अपनी आजीविका चलाने के हेतु राजा और तालुकेदार कुछ भूमि दानस्वरूप दे दिया करते थे। इन विद्यालयों में कुछ ही छात्रों को प्रवेश मिलता था। पाठ्य-विषयों में धर्मशास्त्र, ज्योतिष और दर्शनशास्त्र मुख्य थे। कुछ जिलों में तो केवल ब्राह्मण और व्याव-सायिक व्यक्ति ही उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। ब्राह्मण और उच्च वर्ग की स्त्रियों को शिक्षा देना उचित नहीं समझा जाता था। परन्तु कुछ अन्य जातियों की स्त्रियाँ पढ़ती थीं, पर उनकी संख्या नहीं के बराबर थी। मद्रास प्रान्त की उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से नहीं कहा जा सकता।

बम्बई प्रान्त में भी उच्च शिक्षा देकर जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले अनेक विद्यालयों का वर्णन रिपोर्टों में मिलता है। इन विद्यालयों में हिन्दू और मुसलमान दोनों पद्धतियों के विद्यालय थे। हिन्दू-विद्यालयों की संख्या कम न थी। केवल पूना में १६४ विद्यालय उच्च शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते थे। इसी प्रकार अन्य नगरों में भी उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयों का अभाव न था। अहमदनगर में भी १६ विद्यालयों का नाम आया है।

मुसलमानों के लिए भी उच्च विद्यालयों की व्यवस्था थी। सूरत में मुस्लिम शिक्षा का एक उच्च विद्यालय चल रहा था। इसकी आर्थिक दशा बड़ी अच्छी थी। लगभग ३२,००० रुपया इसका वार्षिक व्यय था। इस धन को प्राप्त करने के अनेक साधन थे। किन्तु लगभग सभी व्यक्तिगत थे। इस विद्यालय में अरबी की शिक्षा प्रदान की जाती थी। इसका निर्माण बोहरा जाति के लोगों की शिक्षा के लिए हुआ था; परन्तु इसमें सम्पूर्ण भारत से छात्र शिक्षा ग्रहण करने आते थे। यह विद्यालय बड़े महत्त्व का था और उच्चकोटि की शिक्षा प्रदान करता था। उस समय इस विद्यालय की छात्र-संख्या १२५ थी।

इस प्रकार मुसलमान-काल में हिन्दू और मुस्लिम विद्यालय अलग-अलग उच्च शिक्षा प्रदान करने में क्रियाशील रहे। उन्नीसवीं शताब्दी के ये विद्यालय प्राचीन परम्परा पर अवश्य आधारित थे, परन्तु जनता की आवश्यकता की पूर्ति में कुछ सीमा तक सफल थे; किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय इन संस्थाओं की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और उचित साधनों का सर्वथा अभाव था।

नारी-शिक्षा

इतिहास के पन्नों को पलटने से पता चलता है कि प्राचीन युग से आज तक भारतीय नारियों को सदैव अपने आत्म-विकास का अवसर प्राप्त होता रहा है। उनको अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उन्नति करने में किसी प्रकार की बाधा न थी। यही कारण है कि जब कभी अवसर आया नारियाँ पुरुषों से पीछे न रहीं। उन्होंने पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाया और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनको सहयोग दिया। समय ने पलटा खाया और भारत पर यवनों का आधिपत्य हो गया। देश की स्थिति बदल गयी। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए और इन्हीं परिवर्तनों के कारण मध्य-युग में स्त्रियों की स्थिति दयनीय हो गयी। वे केवल विलासिता का साधन समझी जाने लगीं। सुरा और सुन्दरी का सुभोग दरबार की शान समझी जाने लगी। बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा तथा अन्य ऐसी ही सामाजिक कुरीतियों के कारण नारी-शिक्षा की दशा गिर गयी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उस युग में विदुषी नारियों का सर्वथा अभाव था।

मुगलकाल में कुछ राजकुमारियाँ तो साहित्य और संगीत में बड़ी ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। इनमें बाबर की पुत्री गुलबदन बेगम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसने 'हुमायूँनामा' की रचना कर संसार में अपना नाम अमर कर दिया। नूरजहाँ का नाम अत्यन्त योग्य महिलाओं में आता है। वह एक अत्यन्त कुशला और योग्या साम्राज्ञी थी। उसको कला और साहित्य का ज्ञान था। औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा तो अरबी और फारसी में कविताएँ भी करती थी।

मुसलमान स्त्रियों के साथ-साथ कुछ हिन्दू स्त्रियाँ भी ऐसी थीं, जिन को भारत अपना गौरव समझता है। मध्य काल में अनेक हिन्दू नारियों के पराक्रम, आध्यात्मिकता तथा विद्वत्ता का परिचय मिलता है। भारत के सन् १८५७ के विद्रोह में प्रमुख भाग लेकर सक्रिय सहयोग देने वाली स्त्रियों में रानी लक्ष्मी बाई का नाम अग्रगण्य है। उसके पराक्रम, सैन्य-संचालन और युद्धकला आदि गुणों से अनुमान लगाया जा सकता है कि उसको किस प्रकार की शिक्षा मिली होगी। कृष्ण-भक्ति में मग्न होकर सहर्ष विषपान करने वाली मीरां का नाम कौन भूल सकता है। उसके द्वारा रचित ललित पद आज भी करोड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनाई पड़ते हैं। यही नहीं कि वे केवल गेय पद हों, उनका साहित्यिक दृष्टिकोण से भी बड़ा महत्त्व है। उन पदों से तत्कालीन स्थिति का आभास होता है।

अठारहवीं शताब्दी का अवलोकन करने से पता चलता है कि उस युग में बहुत-सी हिन्दू नारियाँ सुशिक्षित थीं। उन्हें दर्शन-शास्त्र, तर्कशास्त्र, व्याकरण और ज्योतिष आदि की भी जानकारी थी। उस समय राघरानों की स्त्रियाँ भी विदुषी हुआ करती थीं। इनमें नदिया की रानी भवानी और नतोर की रानी भवानी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि मध्य काल में स्त्रियाँ सुशिक्षिता, लेखिका और कवियित्री हुआ करती थीं।

परन्तु उस समय स्त्री-शिक्षा के व्यापक रूप का प्रचलन न था। जन-साधारण की बालिकाएँ शिक्षा नहीं ग्रहण करती थीं; और न उनके लिए अलग व्यवस्था ही थी। यदि यह कहा जाय कि सर्वसाधारण रूप में स्त्री-शिक्षा की उपेक्षा की गयी और उसे हेय समझा गया, तो अधिक उपयुक्त होगा। विशेषतः सम्पन्न परिवार के व्यक्ति ही अपनी पुत्रियों को कुछ लिखने-पढ़ने की शिक्षा देने के पक्ष में थे और वह भी प्रायः घर रहकर ही। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा को सर्वसाधारण रूप में प्रोत्साहन नहीं मिला और यही कारण है कि उस समय की सुशिक्षिता नारियों में प्रायः केवल महिषियों और राजकुमारियों का ही नाम आता है। जो कुछ शिक्षा-

व्यवस्था थी भी वह नगरों तक ही सीमित थी। अतः जन-साधारण की शिक्षा का अभाव स्वाभाविक ही था।

आर्थिक परिस्थिति, धार्मिक संकीर्णता, बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों ने इस प्रकार येनकेन प्रकारेण आगे बढ़ने वाली स्त्री-शिक्षा को और भी अन्धकार की ओर ढकेल दिया। बम्बई, मद्रास और बंगाल की शिक्षा-जाँच की प्रकाशित रिपोर्टों से पता चलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्री-शिक्षा अपनी अन्तिम साँसें भर रही थी। बालिका-विद्यालयों का सर्वथा अभाव था और सार्वजनिक विद्यालयों में पढ़ने वाली छात्राओं का नाम उँगलियों पर गिना जा सकता था।

बम्बई की रिपोर्ट में पारुलेकर के अनुसार बालिकाओं की शिक्षा के लिए केवल गृह-विद्यालय ही पर्याप्त थे। उनसे बाहर जाना उनके लिए आवश्यक और उचित नहीं था।

मद्रास की रिपोर्ट में मुनरो ने भी नारी-शिक्षा को नहीं के बराबर ही बताया है। बम्बई और मद्रास की दशा को देखकर बंगाल और फिर सम्पूर्ण भारत की स्त्री-शिक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है।

पाठ्य-क्रम—बालिकाओं की शिक्षा का पाठ्यक्रम बालकों से भिन्न होता था। उनको मुख्यरूप से गृह-शासन और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन कराया जाता था। प्रायः कुलीन और सम्पन्न परिवार की कन्याएँ संगीत और साहित्य का अध्ययन करती थीं। उनको साधारण लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त जीवन में काम आने वाली अन्य सामान्य बातों का भी अध्ययन कराया जाता था।

यह तो गौरव की बात है कि साधनों की कमी, स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन न मिलने और सामाजिक कुरीतियों के होने पर भी अनेक महिलाएँ विदुषी हुईं और उन्होंने सत् साहित्य का सृजन कर मानव-समाज को अपनी प्रतिभा का परिचय दिया और उसका बड़ा कल्याण किया है।

देशी शिक्षा की अवनति के कारण

भारतवर्ष पर उन्नीसवीं शताब्दी तक अंग्रेजों का पूर्ण आधिपत्य जम चुका था। उनको इस नये साम्राज्य का विस्तार करने एवं संचालन करने के लिए अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों की आवश्यकता थी। अतः अंग्रेजों ने एक नवीन शिक्षा-पद्धति को प्रोत्साहित किया। फलतः देशी शिक्षा की अवनति होने लगी। शासन-सत्ता अंग्रेजों

के हाथों में थी और उसका ध्यान नयी शिक्षा के प्रसार की ओर था। राजकीय सेवाओं में नवीन शिक्षा प्राप्त किए व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जाती थी। इससे निर्धन जनता का ध्यान भी नवीन शिक्षा-प्रणाली की ओर आकर्षित होने लगा। धीरे-धीरे देशी शिक्षा के प्रति सरकार एवं जनता की उदासीनता बढ़ती गयी और वह निष्प्राणवत् हो गयी।

भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। निर्धनता का आतंक छाया हुआ था। जनता के समक्ष जीविकोपार्जन का प्रश्न था और इधर ब्रिटिश सरकार नवीन शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को प्राथमिकता दे रही थी। अतः राज्य में पद प्राप्त करने की लालसा ने लोगों को अंग्रेजी पढ़ने को बाध्य कर दिया।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की योरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के प्रभा से भारत भी अछूता न रहा। यहाँ के समस्त घरेलू धन्धे नष्ट होने लगे और बेकारी की समस्या भी बढ़ने लगी। जनता के पास इतना भी पैसा न था कि वह इस सस्ती शिक्षा को भी बच्चों के लिए सुलभ बना सके। दूसरी ओर, अंग्रेजी का कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने से उनको जीविकोपार्जन की कुछ आशा दिखाई पड़ने लगती थी। अतः इन भावनाओं से प्रेरित होकर अंग्रेजी पढ़ना उचित और उपयोगी समझा गया और इस प्रकार निर्धन जनता प्रायः नवीन शिक्षा-प्रणाली की ओर झुकी। परिणामतः देशी शिक्षा की अवनति होने लगी।

देशी राज्यों की समाप्ति हो जाने के कारण देशी शिक्षा-संस्थाओं को बड़ी क्षति पहुँची, क्योंकि ये देशी राज्यों के संरक्षण में रहती थीं और अब वह संरक्षण समाप्त हो गया तथा उनकी आय का स्रोत बन्द हो गया। अतः देशी शिक्षा का पतन अवश्यम्भावी था।

अंग्रेजी सरकार ने राजकीय प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना कराई और उनके विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रही। दूसरी ओर देशी प्रारम्भिक शिक्षा से निरन्तर उसका ध्यान हटता गया। इस प्रकार उपेक्षित देशी शिक्षा का ह्रास हुआ।

बंगाल, मद्रास और बम्बई की रिपोर्टों से हमें ज्ञात होता है कि अध्यापकों को वेतन केवल नाममात्र को मिलता था और वेतन के अतिरिक्त प्रायः अन्य आय के साधन न थे। अतः योग्य और कुशल व्यक्तियों का आकर्षण शिक्षण-कार्य की ओर से हटता गया। परिणामस्वरूप शिक्षा का स्तर निम्न हो गया और जनता इस शिक्षा से निराश और असन्तुष्ट हो गयी।

प्रशिक्षण-संस्थाओं के अभाव के कारण अध्यापक अशिक्षित होते थे और अशिक्षित होने के कारण वे शिक्षण-कार्य को कुशलतापूर्वक चलाने में असमर्थ होते थे। दूसरी ओर अंग्रेजों ने प्रशिक्षण महाविद्यालय खोलकर और छात्राध्यापकों को छात्रवृत्तियाँ देकर योग्य व्यक्तियों को आकर्षित किया।

उस समय भारत के कुछ सम्मानित व्यक्ति कई कारणों से अंग्रेजी से प्रभावित थे। अतः वे अपने बच्चों को नए विद्यालयों में भेजने लगे। परिणामतः देशी विद्यालयों की प्रवेश-संख्या घटने लगी।

देशी शिक्षा-संस्थाओं में प्रायः ऐसे विषय पढ़ाये जाते थे जो जीवन के लिए अधिक उपयोगीक और प्रायोगिक नहीं थे। वे विद्यालय प्राचीन परम्परा पर चले आ रहे थे। अब नवीन युग का प्रारम्भ हो गया था और योरोप में विज्ञान ने अपने चमत्कार दिखाने प्रारम्भ कर दिये थे। नए-नए आविष्कार हो चुके थे। ऐसी दशा में विद्यालयों का कर्तव्य था कि वे इन नए विचारों को देकर जनता का ज्ञान-वर्द्धन कर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। तत्कालीन देशी शिक्षा में इस क्षमता का सर्वथा अभाव था; और दूसरी ओर नवीन शिक्षा इस कमी की पूर्ति करने में सक्षम थी। अतः उसने अपनी इस क्षमता के कारण जनता को अपनी ओर आकर्षित कर लिया।

देशी शिक्षा के पतन के कारणों में सरकार की उस ओर उदासीनता का कारण सबसे महत्त्वपूर्ण है। सरकार ने देशी शिक्षा की उपेक्षा की। यदि सरकार किंचित् मात्र भी उस ओर ध्यान देती तो उसकी यह दशा न होती। सन् १८५४ ई० के संदेश-पत्र और भारतीय शिक्षा-आयोग के प्रयत्नों का भी देशी शिक्षा पर बुरा प्रभाव पड़ा। प्रारम्भिक पाठशालाओं की सुधार-सम्बन्धी जो योजनाएँ बनीं वे बड़ी भ्रामक थीं और उनका भी परिणाम अहितकर ही सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त परिणामों के फलस्वरूप देशी शिक्षा प्रायः सदैव के लिए उठ चली। इस देशी शिक्षा के पतन से भारत को बड़ा आघात पहुँचा। यह शिक्षा तत्कालीन भारत के लिए बड़ी उपयुक्त थी। उस समय देश की आर्थिक समस्या विकट थी और ऐसी दशा में जनसाधारण की आवश्यकता की पूर्ति कुछ सीमा तक यही शिक्षा-पद्धति कर सकती थी, क्योंकि यह बड़ी सुलभ और सस्ती थी। सम्पूर्ण भारत में प्रारम्भिक शिक्षा का वृहत् और विस्तृत जाल फैला हुआ था और शिक्षा सार्वजनिक थी, व्यक्ति-विशेष की नहीं। उस समय की शिक्षा की महत्ता को सन् १९३१ ई० में महात्मा गाँधी ने भी स्वीकृत किया है कि वर्तमान भारत से १०० वर्ष

के पूर्व का भारत अधिक साक्षर था। भारत की साक्षरता में अभी कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं हो सका है। अन्य राष्ट्रों के सामने इसे शिक्षा के क्षेत्र में तो लज्जित भी होना पड़ता है, क्योंकि ८० प्रतिशत से अधिक जनता अशिक्षित है। आज भारत के इतने लोग अशिक्षित न दिखाई पड़ते, यदि हम देशी शिक्षा-प्रणाली के विकास में जुटते और उसी के आधार पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को आधारित करते।

सारांश

मुसलमानों ने भारत आकर एक नवीन शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया। इस नवीन शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप देशी विद्यालयों को बड़ा धक्का लगा। फिर भी वे निरन्तर अपने पथ पर बढ़ते रहे। भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित हो जाने पर ब्रिटिश सरकार ने कलकत्ता, बम्बई एवं मद्रास में शिक्षा की जाँच कराई। बम्बई में अभी एक कालेज खोला गया था। परन्तु वह भी ब्राह्मणों को प्रसन्न करने के प्रयोजन से खोला गया था। एलफिंस्टन ने दो बार शिक्षा की जाँच करके रिपोर्टें प्रकाशित कराईं। उसके अनुसार प्रान्त में १,७०५ विद्यालयों में केवल १५ को ही सरकारी सहायता मिलती थी। छात्र-संख्या कम थी। विद्यालयों के अपने भवन न थे। अध्यापकों का वेतन नाममात्र का था। अधिकतर शिक्षक ब्राह्मण थे। मानीटर-प्रथा प्रचलित थी। दण्ड-विधान कठोर थे तथा उपयुक्त साधनों का अभाव था।

मद्रास में विद्यालय में प्रवेश के समय गणेशजी की पूजा होती थी। ५ वर्ष की आयु में छात्र विद्यालय में प्रविष्ट किये जाते थे। विद्यालय ६ बजे प्रातःकाल से लगता था। दण्ड-विधान कठोर था। छात्रों का वर्गीकरण योग्यतानुसार होता था। लेखन-शिक्षा बालू से प्रारम्भ होती थी। अध्यापन-विधि उपयुक्त और क्रमिक थी। कहानी, कविता एवं पद्य आदि पाठ्य-विषय होते थे। छात्रों की संख्या कम थी और अधिकतर छात्र हिन्दू थे। स्त्री-शिक्षा नहीं के बराबर थी। एक विद्यालय अंग्रेजी शिक्षा के लिए और २३ संस्कृत की उच्च शिक्षा के लिए थे। ज्योतिष, तर्क-शास्त्र एवं दर्शन-शास्त्र के अतिरिक्त तामिल, तैलगू, मराठी भी पढ़ाई जाती थी। वेतन कम होने के कारण योग्य अध्यापकों का सर्वथा अभाव था।

बंगाल में सार्वजनिक शिक्षा का सबसे अधिक प्रसार था। अंकगणित और लिखने-पढ़ने की साधारण शिक्षा दी जाती थी। ऐडम की द्वितीय रिपोर्ट महत्त्वपूर्ण है। इसमें राजशाही जिला में थाना नतोर की शिक्षा का विस्तृत विवरण मिलता है। शैक्षिक दशा अच्छी न थी, परन्तु सस्ती अवश्य थी। पारिवारिक पाठशालाओं की संख्या अधिक थी। अध्यापकों की दशा दयनीय थी।

तृतीय रिपोर्ट और अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें पाँच जिलों की शिक्षा की दशा का वर्णन दिया गया है। पाठशालाओं की संख्या २,५२७ थी। ८ विद्यालयों में अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी। ६ बालिका-विद्यालय भी थे। विद्यालय धनी और सम्भ्रान्त व्यक्तियों की कृपा पर आधारित थे। हिन्दू छात्र संस्कृत और बंगला का तथा मुसलमान छात्र अरबी और फारसी का अध्ययन करते थे। लड़कियों को शिक्षित बनाना उचित नहीं समझा जाता था। शिक्षा सार्वजनिक थी, परन्तु ढंग अपना निजी और पुराना था।

उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध था। १९० संस्कृत-पाठशालाएँ बर्दवान जिले में थीं। इसी प्रकार अरबी, फारसी के लिए स्कूल थे। इन विद्यालयों के अपने भवन थे। विद्यालयों का व्यय सम्पन्न व्यक्तियों की कृपा पर चलता था और कुछ विद्यालयों के पास भूमि थी जिसकी आय से व्यय चलता था। विद्यालय में प्रायः एक ही अध्यापक होता था।

अध्यापकों की आर्थिक दशा दयनीय थी। संस्कृत-विद्यालय प्रायः गाँवों में थे। इनमें धर्मशास्त्र, साहित्य, व्याकरण, वेदान्त तथा ज्योतिष आदि पढ़ाये जाते थे। मुसलमानों के विद्यालय प्रायः शहरों में थे। इन विद्यालयों के निजी भवन न थे। अध्यापकों की आय कम थी। वे योग्य लेखक होते थे। १९ वीं शताब्दी तक इन विद्यालयों की संख्या तो अधिक न थी, परन्तु आकार-प्रकार आज के विद्यालयों से भिन्न था। बंगाल के इन विद्यालयों से ही अन्य प्रान्तों के विद्यालयों की दशा का अनुमान लगाया जा सकता है।

मद्रास में भी उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। शिक्षकों को वेतन नहीं मिलता था। कभी-कभी उनको राजा भूमि दे दिया करते थे। स्त्री-शिक्षा भी प्रचलित थी। बम्बई में ऐसे विद्यालयों का प्रबन्ध था। हिन्दू विद्यालयों की संख्या कम थी। सूरत का विद्यालय बोहरा जाति को प्रसन्न करने के हेतु खुला था। अपेक्षित साधनों का अभाव होने पर भी यह विद्यालय जनसेवा में सफल था।

स्त्री-शिक्षा की दशा प्राचीन काल में अच्छी थी। परन्तु मुसलमानों के युग में गिर गयी। केवल उच्च वर्ग के लोग ही स्त्री-शिक्षा देना उचित समझते थे। अट्ठारहवीं शताब्दी में बहुत सी नारियाँ शिक्षित थीं। स्त्री-शिक्षा का पाठ्यक्रम बालकों की शिक्षा के पाठ्यक्रम से भिन्न था।

देशी शिक्षा की अवनति के निम्नलिखित कारण थे :—(१) भारतीयों की निर्धनता, (२) औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ, (३) देशी राज्यों की समाप्ति, (४)

अंग्रेजी के सरकारी विद्यालयों की स्थापना, (५) अध्यापकों की शोचनीय दशा, (६) प्रशिक्षण महाविद्यालयों का अभाव, (७) सम्मानित व्यक्तियों की आंग्लभाषा में आस्था, (८) देशी स्कूलों में उपयोगी विषयों का न होना। देशी शिक्षा की अवनति से भारत को बड़ा आघात पहुँचा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'प्राचीन शिक्षा-प्रणाली भारत के लिए अधिक उपयुक्त थी।' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

२. देशी शिक्षा की अवनति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए इससे भारतीय शिक्षा पर पड़े हुए प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।

३. उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शिक्षकों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति का चित्रण कीजिए।

अध्याय २३

प्रारम्भिक मिशनरी प्रयास

भारतवर्ष में पश्चिमी देशों के लोगों का आगमन पन्द्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम सन् १४९८ ई० में प्रथम पुर्तगाली वास्कोडिगामा आया था। इसने पहले कालीकट में अपना डेरा डाला और फिर शनैः शनैः अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। पुर्तगालियों के पश्चात् डच और फिर फ्रान्सीसियों का आगमन प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् स्पेन-निवासी और अंग्रेज भारत पधारे। अपने देशों से चलने के पूर्व सबका उद्देश्य व्यापार के अतिरिक्त और कुछ न था। परन्तु भारत पहुँच कर यहाँ की जर्जर राजनीतिक स्थिति से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न सभी ने किया। इन लोगों ने अपनी कोठियाँ खोलना प्रारम्भ कर दिया और धीरे-धीरे भारत में राज्य स्थापित करने के विचार का श्रीगणेश हुआ और फिर धर्म-प्रचार का। जिसको बैठने का स्थान मिलता है वह पैर फैलाने का प्रयत्न करता है—यह कहावत विदेशियों के विषय में अक्षरशः चरितार्थ हुई। इधर मुगल साम्राज्य का दीपक मन्द ज्योति से टिमटिमा रहा था और उधर विदेशियों की कोठियाँ खुल चुकी थीं। ये कोठियाँ प्रारम्भ में बन्दरगाहों के समीप खुली थीं।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इन विदेशी कम्पनियों का व्यापार चमक गया था और इन लोगों ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। अकबर की दक्षिण-विजय के कारणों में जहाँ राज्य-विस्तार की भावना थी, वहीं पुर्तगालियों को नष्ट करने की भावना भी विद्यमान थी। दक्षिणी समुद्रतट पर पुर्तगालियों ने अपनी शक्ति बहुत काफी बढ़ा ली थी। तभी से अकबर को यह बात खटकने लगी थी। इसी प्रकार अन्य कम्पनियाँ भी शक्तिशाली हो गयी थीं। फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही पश्चिमी देशवासियों ने उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया। ये कम्पनियाँ अपना-अपना राज्य स्थापित करना चाहती थीं। इन कम्पनियों में ईस्ट इन्डिया कम्पनी मुख्य रही और इसको अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सफलता भी मिली। इसने बंगाल, मद्रास और बम्बई तथा आगे चलकर पूरे भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया।

हम पहले बता चुके हैं कि इन विदेशी कम्पनियों का उद्देश्य भारत से व्यापार करने के अतिरिक्त साम्राज्य-विस्तार और धर्म-प्रचार भी था। यहाँ आकर

व्यापार के साथ-साथ इन्होंने धर्म-प्रचार भी प्रारम्भ कर दिया। इसके लिए उन्होंने शिक्षा को ही एक उचित साधन समझा और प्रारम्भिक शिक्षा को अपने उत्तरदायित्व में ले लिया यद्यपि इस उत्तरदायित्व को ये विदेशी निभा न सके। ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने भी ऐसा ही किया था। परन्तु आगे चलकर वह शिक्षा को धर्म-प्रचार का साधन न रख सकी और उसे अपना यह विचार त्याग देना पड़ा।

पुर्तगाली

प्रथम ईसाई धर्म-प्रचारकों में सन्त जावियर और राबर्ट डी० नोवोली का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सन्त जावियर भारत आने वाला प्रथम ईसाई धर्म-प्रचारक है। यह शिक्षा-कार्यों के लिए विश्वविद्यालय पादरी जैसुएट धर्म-शाखा का था। ईसाई धर्म के प्रचार में इसने अपूर्व कार्य किया है। इसने तन, मन, धन से ईसाई धर्म का प्रचार किया। गाँवों में इसी ने धर्म की पुस्तकें वितरित कीं और दिन-रात अनेक कष्टों का सहन कर दूर-दूर गाँवों और नगरों में जाकर ईसाई धर्म का प्रचार किया। परन्तु ईसाई धर्म के प्रचार में डी० नोवोली का कार्य-क्रम कम सराहनीय नहीं है। उसका तो भारतीयों पर विशेष प्रभाव पड़ा। उसकी रहन-सहन भारतीय संन्यासियों की भाँति थी और वह स्वयं अपने को पाश्चात्य ब्राह्मण बताता था। वह ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य किसी का छुआ भोजन नहीं करता था। इन बातों का भारतीयों पर अधिक प्रभाव पड़ा और वह अधिक भारतीयों को ईसाई बना सका।

वास्कोडिगामा के आने के पश्चात् ही ईसाई धर्म-प्रचारकों की कई टोलियों ने आकर पश्चिमी भारत के समुद्री किनारों पर अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने शिक्षा को धर्म-प्रचार का एक उत्तम साधन समझा था। अतः गोवा, डामन, ड्यू, लंका, हुगली, चिरगाँव आदि स्थानों पर उन्होंने शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं और एक नवीन शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया। इन विद्यालयों में उन बच्चों के लिए शिक्षा का उचित प्रबन्ध था, जिनके अभिभावकों ने अपना धर्म परिवर्तित कर लिया था। ये विद्यालय प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करते थे। इनमें पुर्तगाली धर्म, गणित, कुछ कारीगरी और स्थानीय भाषाएँ पढ़ाई जाती थीं। ये विषय जीवन के लिए लाभदायक थे और इनका बड़ा महत्त्व था। उच्च शिक्षा का प्रबन्ध भी इन लोगों ने किया। इसके लिए उन्होंने ग्रेजुएट कालेजों की स्थापना की और उनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इन कालेजों में धर्म, लटिन, संगीत और तर्क-शास्त्र ऐसे गम्भीर विषयों का अध्ययन कराया जाता था। इसे देखकर यदि यह कहा जाय कि आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के शिलान्यास का श्रेय पुर्तगालियों को ही है, तो अत्युक्ति न होगी।

भारतवर्ष में कालेज खोलने का प्रथम प्रयास पुर्तगालियों ने ही किया था। सन् १५७५ ई० में गोवा में उन्होंने एक जैसुएट कालेज की स्थापना की और आगे चलकर उन्होंने कालेजों की संख्या में वृद्धि करने का भी प्रयत्न किया। सम्राट् अकबर भी इन पादरियों के प्रभाव से बच न सका। यद्यपि वह इनका पूर्ण विरोधी था और इनको मूलत: नष्ट करने में सदैव प्रयत्नशील रहता था। अकबर ने इन पादरियों से प्रभावित होकर आगरा में एक जैसुएट कालेज का निर्माण कराया। परन्तु पुर्तगालियों के प्रयत्नों का कोई विशेष लाभ न हो सका क्योंकि इनकी शिक्षा, शिक्षा के लिए नहीं अपितु, धर्म-प्रचार के लिए भी थी। भारत में उस समय भी असंख्य मतमतान्तर के व्यक्ति रहते थे और उन्होंने ऐसी दशा में भारतीय धर्म पर आक्षेप लाने वाली बातों का विरोध किया। कुछ भारतीयों ने इनकी तीव्र आलोचना की और इनको सदैव के लिए उखाड़ फेंकने में प्रयत्नशील हो गए। परिणामस्वरूप इनकी शिक्षा पनप न सकी और सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों के पतन के साथ-साथ उनकी शिक्षा भी चली गयी।

पुर्तगालियों का पतन होने पर भारतीय ईसाइयों ने उनकी शिक्षा को जीवित रखने का प्रयत्न किया, परन्तु वे सफल न हो सके। दूसरी ओर इनकी धार्मिक नीति ने अंग्रेजों को भी सतर्क कर दिया था। पुर्तगालियों को पतन की सीमा पर पहुँचाने का एकमात्र श्रेय सम्राट् शाहजहाँ को है। सन् १६३२ ई० के युद्ध में सम्राट् ने इनके कई सहस्र सैनिकों को मृत्युशैया पर सुला दिया और कई सहस्रों को कारा-वास का दण्ड दिया। परिणामत: वे इसके बाद केवल नाममात्र के लिए रहे और फिर सिर न उठा सके।

डच

भारत के लाभजनक व्यापार को देखकर अन्य व्यापारी राष्ट्र भी इधर आक-र्षित हुए। हालैण्ड-निवासी डच बड़े कुशल नाविक और परिश्रमी थे। सामुद्रिक यात्रा करने में ये बड़े अभ्यस्त और प्रवीण थे। इन्होंने भी अन्य कम्पनियों की भाँति व्यापार के उद्देश्य से एक कम्पनी खोली और १७ वीं शताब्दी में भारत के समुद्रतट पर इन्होंने अपना डेरा डाला। इन्होंने बंगाल में चिनसुरा और हुगली नामक स्थानों पर कारखानों का निर्माण कराया। डच बड़े राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने पुर्तगालियों का पतन देखा था और उनके पतन के कारणों से भी पूर्णरूपेण परिचित थे। अत: ये कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहते थे जिससे इनको भी मुँह की खानी पड़े।

व्यापार चमकाने के लिए इन्होंने देशी राजाओं से मैत्री आवश्यक समझी। परन्तु दूसरी ओर अंग्रेज इनके कट्टर विरोधी बन गए। अन्त में अंग्रेजों ने डचों से युद्ध

छोड़ दिया । यह युद्ध सन् १६१६ ई० तक चलता रहा । परन्तु अन्त में इंगलैंड के राजा की मध्यस्थता के कारण दोनों कम्पनियों में समझौता हो गया । कुछ डचों ने इस सन्धि का विरोध किया और आगे चलकर अपनी सीमा में रहने वाले अंग्रेजों को निकाल दिया तथा अन्य कई कारणों से युद्ध फिर छिड़ गया और इस युद्ध ने डचों को पतनोन्मुख कर दिया ।

व्यापार बढ़ने के साथ-साथ इन्होंने भी भारत में अपनी कुछ पाठशालाएँ निर्मित कराईं । इन विद्यालयों का कार्य धर्म-प्रचार न होकर कम्पनी के कर्मचारियों के बच्चों को शिक्षित बनाना था । परन्तु इनका मुख्य उद्देश्य शिक्षा देना न था, अपितु व्यापार करना था । परन्तु अंग्रेजों से शत्रुता के कारण ये भारत में अधिक दिनों तक न टिक सके और इनके जाते ही इनकी शिक्षा भी समाप्त हो गई ।

फ्रान्सीसी

अन्य देशों की भाँति फ्रान्सीसियों ने भी भारत में अपनी व्यापारिक कम्पनी स्थापित की । इस कम्पनी के तीन उद्देश्य थे :—

(१) राजनीतिक शक्ति की स्थापना
(२) ईसाई मत का प्रचार करना
(३) राज्य की शक्ति को सबल बनाना

कम्पनी की स्थापना के १० वर्ष बाद मार्टिन फ्रान्सिस ने चन्द्रनगर में एक कारखाना बनवाया और इसके साथ ही साथ पाण्डेचेरी की भी नींव डाली । इसके पश्चात् कालीकट, माही और यनाम में भी कम्पनी ने कारखाना खोला । फ्रान्सीसियों ने इन स्थानों पर पाठशालाएँ भी खोली थीं । इन पाठशालाओं में स्थानीय भाषाओं द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती थी । शिक्षक भी भारतीय थे । इन विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए कोई प्रतिबन्ध न था । सभी प्रकार के बच्चे शिक्षा प्राप्त कर सकते थे । फ्रान्सीसी शिक्षा के द्वारा मुख्य रूप से धर्म-प्रचार और गौण रूप से शिक्षा का कार्य कर रहे थे । प्रत्येक विद्यालय को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया जा रहा था । छात्र-संख्या में वृद्धि के लिए छात्रों को भाँति-भाँति के प्रलोभन दिए जाते थे । विद्यालय छात्रों के भोजन, कपड़े, पुस्तक तथा जीवन की अन्य सभी आवश्यक वस्तुओं का भार-वहन करता था । प्रत्येक विद्यालय में एक धर्म-प्रचारक का होना आवश्यक था । यह धर्म-प्रचारक बालकों को धार्मिक शिक्षा देता था । इसका तात्पर्य धर्म का प्रचार नहीं तो और क्या कहा जा सकता है ?

सन् १७४० ई० तक अंग्रेजी कम्पनी की स्थिति पर्याप्त दृढ़ हो गई थी और वह फ्रान्सीसियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली और सुसंगठित हो गयी थी । उसके

उपनिवेश भी शक्तिशाली थे तथा वह पूर्णरूपेण व्यावसायिक थी। दूसरी ओर, फ्रान्सीसियों की कम्पनी राज्य की कृपा पर निर्भर थी। अतः समय-समय पर सरकार हस्तक्षेप किया करती थी। परिणाम यह होता था कि इस कम्पनी के कर्मचारी स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते थे। अतः यह अंग्रेजी कम्पनी के समक्ष टिक न सकी और इसकी भी अंत्येष्टि क्रिया हो गयी। कम्पनी के समाप्त होते ही उसकी बस्तियों पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया और बस्तियों के साथ ही शिक्षा भी अंग्रेजों के हाथ में आ गयी। अब उसका रूप बदल कर उसे नया जामा पहनाया गया। परिणाम चाहे जो कुछ हुआ, परन्तु इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जिन विद्यालयों में धर्म की शिक्षा दी जाती थी उनका कार्य सराहनीय रहा।

डेन

बंगाल में सीतारामपुर और तंजौर के निकट तरंगमयास पर डेनमार्क के निवासियों नें अपना अधिकार जमा रखा था। फ्रान्सीसियों और अंग्रेजों की भाँति ये महत्त्वपूर्ण स्थल तो न ग्रहण कर सके थे, परन्तु शिक्षा की दृष्टि से इनका महत्त्व सबसे अधिक है। इनके धर्म और शिक्षा की अपनी विशेषता है और इसी विशेषता के कारण इनका नाम लिया जाता है; अन्यथा राजनीतिक दृष्टि से इनका कोई महत्त्व नहीं है। कुछ लोगों के अनुसार आधुनिक शिक्षा का मार्ग-प्रदर्शन करने का श्रेय इन्हीं को है। इन्होंने जो कुछ कार्य किया है वह बड़ा सराहनीय है तथा यह आशा से अधिक उन्नति करते, यदि इनके मिशनरियों ने अपने को अंग्रेजों के हवाले कर दिया होता।

जीगेनवल्ग के असामयिक निधन के कारण डेनों का कार्य पूरा न हो सका और इन्हें निराश होकर अपने देश लौट जाना पड़ा। डेनमार्क की सरकार भी इन्हें सहायता न दे सकी। अतः आर्थिक अभाव के कारण इसे ईसाई धर्म-प्रचारक समिति से सहायता लेनी पड़ी। पर यह सहायता उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त न थी। अतः उनकी प्रगति रुक गयी। जीगेनवल्ग के कार्य को प्लूसो तथा स्वार्ज करते रहे। परन्तु इनमें पर्याप्त कार्य-क्षमता न थी।

जीगेनवल्ग और प्लूसो जर्मन के निवासी थे। इन्हें भारतीय भाषाओं का ज्ञान नहीं था। अतः कार्य चलना कठिन था। इन दोनों ने भारत पहुँचकर सर्वप्रथम तामिल और पुर्तगाली भाषाओं का गहन अध्ययन किया। इन भाषाओं का ज्ञान होनें पर इनकी गाड़ी तीव्र गति से चल पड़ी। अब ये गाँवों में जाकर अपने धर्म का प्रचार करने लगे और अपना क्षेत्र त्रिचनापली, तिनवेली, मद्रास और तञ्जोर तक बढ़ा लिया।

डेन बड़े चतुर थे । उन्होंने शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषाओं को ही बनाए रखा तथा जन-सहयोग प्राप्त करने के लिए मुसलमानों को प्राथमिकता दी । मुसलमानों के लिए प्रारम्भिक विद्यालयों का निर्माण कराया और उनको बड़ा प्रोत्साहन दिया । जीगेनबल्ग ने सोचा कि धर्म-प्रचार के लिए धार्मिक पुस्तकों का प्रान्तीय भाषाओं में होना आवश्यक है । अतः उसने बाइबिल का अनुवाद तामिल में किया और तामिल भाषा का एक व्याकरण बनाया । इसके अतिरिक्त तामिल का एक कोष भी बनाया । इस प्रकार धर्म-प्रचार और शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हो गया और एक छापेखाने की अत्यन्त आवश्यकता पड़ी । धर्म-प्रचार के लिए पर्चा इत्यादि आवश्यक होता है और यह अधिक संख्या में लिखा नहीं जा सकता था । अतः इस कमी की पूर्ति के लिए एक रोमन और तामिल लिपि का प्रेस खोला गया ।

अध्यापकों के प्रशिक्षण की ओर अभी तक लोगों का ध्यान नहीं गया था । डेनों ने अध्यापकों की दीक्षा के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालय खोले और वहाँ अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाने लगा । यथासम्भव, छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए दीक्षित अध्यापकों को ही नियुक्त किया जाता था । इनके समय में भी अध्यापकों की दशा अच्छी न थी । पाठ्य-विषयों में धर्म का विशेष स्थान था और व्याकरण की ओर भी अधिक ध्यान दिया जाता था । बालकों को अंग्रेजी के साथ-साथ बाइबिल पढ़ाया जाता था ।

इने-गिने व्यक्तियों ने अपनी उदार नीति और कार्यपटुता के कारण थोड़ी-सी अवधि में ५०,००० भारतीयों को ईसाई बना लिया । यह उनकी योग्यता और प्रभावशाली शिक्षा का परिचायक है ।

ईस्ट इंडिया कम्पनी

अन्य देशों के धर्म-प्रचारकों की भाँति इंगलैंड के धर्म-प्रचारकों का भी कार्य शिक्षा-क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापार प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् उसके संचालकों ने भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए पादरियों को भेजना आरम्भ कर दिया । धर्म-प्रचारकों ने भारत पहुँच कर अपने कार्य का श्रीगणेश किया । यहाँ कुछ दिन रहने के पश्चात् इन्होंने अनुभव किया कि धर्म-प्रचार का उपयुक्त साधन शिक्षा ही हो सकती है और उन्होंने विद्यालयों का निर्माण करना प्रारम्भ किया । सन् १६१४ ई० में कुछ भारतवासियों को धन इत्यादि देकर यहाँ धर्म की शिक्षा देने का कार्य सौंपा गया । इन प्रयत्नों के लिए कम्पनी स्वयं व्यय का भार वहन करती थी । कम्पनी के संचालकों ने धर्म-प्रचार की बड़ी इच्छा प्रकट की । ये धर्म-प्रचारक यहाँ आकर ईसाई बच्चों की शिक्षा का

प्रयत्न करने लगे । इन बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए पादरियों ने दातव्य विद्यालय खोले । इन विद्यालयों में भारत के गरीब बच्चों को भी शिक्षा दी जाने लगी और शनैः-शनैः ईसाई धर्म का प्रचार बढ़ा और यही दातव्य विद्यालय आगे चलकर कम्पनी की शिक्षा के आधार-स्तम्भ बने ।

सारांश

वर्तमान भारत की शिक्षा की नींव डालने का श्रेय विदेशी धर्म-प्रचारकों को है । इन योरोपीय धर्म-प्रचारकों ने निम्नलिखित कारणों से भारत में शिक्षा-प्रचार का श्रीगणेश किया था :—

(१) शिक्षा द्वारा वे अपने धर्म का प्रचार सरलता और शीघ्रता से कर सकते थे ।

(२) विद्यालयों को निर्मित कर वे भारतीयों के निकट सम्पर्क में आ सकते थे ।

(३) अंग्रेजी पढ़कर अधिक लोग ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट होंगे ।

(४) परिवर्तित ईसाइयों के लिए तथा ईसाई धर्म की दीक्षा के लिए भी उनको विद्यालयों की आवश्यकता पड़ी ।

(५) ईसाइयों को बाइबिल पढ़ना आवश्यक था । इसलिए भी विद्यालयों के निर्माण की आवश्यकता पड़ी ।

इन कारणों से धर्म-प्रचारकों ने बहुत से स्कूल खोले और स्थानीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया । पुस्तकों के प्रकाशन की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु मुद्रणालय भी स्थापित किए गए । भारतीय ईसाइयों की आजीविका हेतु व्यावसायिक स्कूल भी उन्होंने खोले ।

इन धर्म-प्रचारकों में फ्रान्सीसी, पुर्तगाली, डेन तथा अंग्रेज धर्म-प्रचारकों ने विशेष कार्य किया । परन्तु मुख्य स्थान डेनमार्क के धर्म-प्रचारकों का है ।

धर्म-प्रचारकों में शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों का श्रीगणेश करने का श्रेय कीरैण्डर को है । डाक्टर कैरे के शिक्षा-प्रसारसम्बन्धी कार्य ने बंगाल की काया पलट दी । इस दिशा में वार्ड तथा मार्शमैन का भी कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

सेरामपुर की डच बस्ती में सुप्रसिद्ध डच प्रचारक त्रय ने कार्य प्रारम्भ किया । इसके अतिरिक्त बंगाल में लन्दन मिशनरी सोसाइटी मुख्य है । बंगाल में धर्म-प्रचारकों का कार्य केवल दीवानपुर, जैसोर और चिनसुरा में था ।

मद्रास में डेन धर्म-प्रचारकों ने बड़ा कार्य किया। बम्बई में एक अमेरिकी मण्डल विशेष कार्य कर रहा था। इन प्रयत्नों की अपेक्षाकृत धर्म-प्रचारकों के कार्य सीमित थे, क्योंकि (१) उनको कोई प्रोत्साहन एवं सुविधा न मिली थी (२) ईस्ट इंडिया कम्पनी सदैव विरोध करती रही और (३) कम्पनी सरकार भारत में प्राच्यवादी नीति का पक्ष ले रही थी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'भारत की आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात धर्म-प्रचारकों द्वारा स्थापित विद्यालयों पर ही आधारित है।' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

२. 'कम्पनी सरकार ने धर्म-प्रचारकों का विरोध कर भारतीय शिक्षा को आघात पहुँचाया है।' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

अध्याय २४

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक शिक्षा-कार्य (स्थापन-काल से १८३३ तक)

सन् १५८८ ई० में स्पेन के आरमेडा नामक जहाजी बेड़े पर सफलता प्राप्त करने के पश्चात् इंगलैंड के व्यापार को प्रोत्साहन मिला। फलतः सन् १६०० ई० में लन्दन के कुछ व्यापारियों ने मिलकर एक कम्पनी की स्थापना की। इस कम्पनी का उद्देश्य पूर्वी द्वीपसमूह से व्यापार करना था। ३१ दिसम्बर सन् १६०० ई० को इन व्यापारियों ने भारत से व्यापार करने के लिए महारानी ऐलिजाबेथ से एक आज्ञापत्र भी प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे कम्पनी का व्यापार चमका। दूसरी ओर अन्य कम्पनियाँ भी अपना-अपना प्रयत्न कर रही थीं। इनको देखकर ईस्ट इंडिया कंपनी ने सोचा कि पुर्तगालियों और डचों से होड़ लेने के लिए तथा अपनी स्थिति को शक्तिशाली बनाने के लिए राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। इस सम्बन्ध में इसको अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। उस समय इंगलैंड में राजा और पार्लियामेंट में झगड़ा चल रहा था। अतः कम्पनी को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु आगे चल कर दशा बदल गई और चार्ल्स द्वितीय के समय में कम्पनी को बहुत से शक्तिशाली अधिकार प्राप्त हो गए।

प्रारम्भ में कम्पनी का एकमात्र उद्देश्य व्यापार ही था, परन्तु भविष्य में राजनीतिक भी हो गया। कम्पनी के मन में ऐसे विचार कब आये, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि निर्माण-काल से लगभग १५० वर्ष पश्चात् तक कम्पनी अपने प्रारम्भिक उद्देश्य की पूर्ति में प्रयत्नशील रही। सूरत अंग्रेजी व्यापार का केन्द्र बन गया था। सन् १६३३ ई० में मछलीपट्टम में एक फैक्टरी खुली तथा मद्रास में भी एक कारखाने की नींव पड़ी। उस समय अन्य कम्पनियों तथा भारत की राजनीतिक स्थिति को देखकर अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी साधारण धार्मिक नीति अपनायी। कम्पनी ने ईसाई धर्म का प्रचार-कार्य प्रारम्भ कर दिया। कम्पनी के इस कार्य को पूरा करने

के लिए इंगलैंड से धर्म-प्रचारकों का आना प्रारम्भ हो गया। इधर भारत में उनका प्रचार-कार्य हो रहा था। निर्धनता तथा कुछ अन्य कारणों से कुछ भारतीय अपना धर्म परिवर्तित कर चुके थे। इन भारतीय ईसाइयों में से चुने हुए व्यक्तियों को इंगलैंड भेज कर कम्पनी ने इन्हें धर्म-प्रचारक बनने की दीक्षा दिलाई। ये भारतीय ईसाई कम्पनी के खर्चे पर भेजे जाते थे। कम्पनी के डाइरेक्टरों की तो प्रबल इच्छा थी कि भारत आने वाले प्रत्येक जहाज पर ईसाई धर्म-प्रचारक भेजे जायँ। परन्तु कम्पनी ने सोचा कि ऐसा करना उचित और लाभदायक न होगा। भारत में विभिन्न मतों के व्यक्ति रहते हैं और धार्मिक प्रश्नों पर विवाद प्रारम्भ हो जाने की सम्भावना है। यदि कहीं धार्मिक प्रश्न पर झगड़ा छिड़ गया तो भारत छोड़ना ही पड़ेगा। अतः कम्पनी ने इस विचार को त्याग दिया।

सन् १६९८ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार कम्पनी को कई महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हुए और उन्हीं अधिकारों के साथ-साथ कम्पनी को अपने भारतीय कारखानों में अध्यापक एवं धर्म-गुरुओं के रखने की भी सुविधा प्राप्त हो गई। ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों के बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक थी। अतः उसके लिए पाठशालाओं की आवश्यकता पड़ी। उधर सन् १६९८ ई० के आज्ञा-पत्र से कम्पनी को इस कार्य के करने के लिए आदेश भी मिल गया। कम्पनी को बड़ी प्रसन्नता हुई; क्योंकि अब उसको कुछ राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो गए थे और शिक्षा के द्वारा ही पूर्ण रूप से तथा तीव्र गति से धर्म का प्रचार हो सकता था। शिक्षा के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से धर्म का जो प्रभाव पड़ता उससे जनता भी प्रभावित होती। कम्पनी ने सन् १७१५ ई० में मद्रास, १७१८ ई० में बम्बई और सन् १७३१ ई० में कलकत्ता में विद्यालयों की स्थापना की। इन विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी एवं छात्रों को प्रोत्साहित करने के लिए छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की जाती थीं।

इन विद्यालयों में भारतस्थित अंग्रेजी कर्मचारियों के बच्चों को, एंग्लो-इंडियन परिवार के बालकों को तथा भारतीय ईसाइयों के बालकों को शिक्षा दी जाती थी। परन्तु अन्य बालक भी प्रवेश ले सकते थे। इनमें लिखने-पढ़ने और गणित का साधारण ज्ञान कराने के साथ ही साथ ईसाई धर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती थी। छात्रवृत्तियाँ पाने वाले बच्चों में भारतीय ईसाइयों को प्राथमिकता दी जाती थी। विद्यालय मुख्यतः कम्पनी की कृपा पर आश्रित थे। परन्तु उनको दान और चन्दा भी मिल जाया करता था। इस प्रकार शिक्षा-सम्बन्धी जो भी कार्य हुआ वह पर्याप्त था; क्योंकि अभी तक कम्पनी शिक्षा के कार्य को अपना उत्तरदायित्व नहीं मानती थी।

कम्पनी ने सर्वप्रथम मद्रास में विद्यालयों का निर्माण कराया। सन् १६७३ ई० में वहाँ एक माध्यमिक विद्यालय भी स्थापित हो चुका था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक मद्रास प्रान्त में शिक्षा-क्षेत्र में एक लहर आ गई। यह प्रान्त बड़ी तीव्र गति से शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ रहा था और १८५० ई० तक यहाँ की शिक्षा का स्वरूप बिल्कुल परिवर्तित हो गया। इस प्रान्त में स्थापित होने वाले विद्यालयों का आकार-प्रकार एवं रूप-रेखा अंग्रेजी थी। इस आश्चर्यजनक एवं महत्त्वपूर्ण परि-वर्तन का श्रेय जर्मन मिशनरी श्वार्ज महोदय को है। इस व्यक्ति ने जीवन के अन्तिम क्षणों तक मद्रास में शिक्षा का विस्तार करने का प्रयत्न किया।

श्वार्ज ने शिक्षा में जनता की भावनाओं को ध्यान में रखकर देशी भाषाओं की दो पाठशालाओं की स्थापना की। इस व्यक्ति ने मारवाड़-तंजौर के राजाओं पर प्रभाव डालकर रामेन्द्रपुरम एवं तंजौर आदि स्थानों में विद्यालयों का निर्माण कराया। इन विद्यालयों का कार्य अंग्रेजी का प्रचार था। दुर्भाग्यवश श्वार्ज का निधन हो गया और शिक्षा की प्रगति मन्द पड़ गयी। भविष्य में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा न रह कर अंग्रेजी बनी। कम्पनी ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और विद्यालयों को आर्थिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया। इन विद्यालयों का निरीक्षण करने के लिए राजकीय निरीक्षक नियुक्त किये गए। उन्हीं की देख-रेख और निर्देश में ये विद्यालय कार्य करने लगे।

इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम में ईसाई धर्म अनिवार्य विषय रखा गया था। इसके अतिरिक्त साधारण गणित, तामिल, हिन्दी और अंग्रेजी आदि विषय भी थे। अंग्रेजी पर विशेष बल दिया जाता था। कम्पनी ने सन् १८१८ ई० में फोर्ट सेंट जार्ज नामक कालेज बनवाया था। यह कालेज कम्पनी ने अपने कर्मचारियों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बनवाया था। ऐसे ही कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज खुला था। इन कालेजों में अंग्रेजी अधिकारियों को भारतीय भाषाओं का ज्ञान कराया जाता था, जिससे वे यहाँ का कार्य ठीक-ठीक चला सकें एवं जनता से सम्पर्क स्थापित करें। इन कालेजों का व्यय पूर्ण रूप से कम्पनी देती थी। इनकी आर्थिक स्थिति बड़ी अच्छी थी।

सन् १७८६ ई० में श्रीमती कैम्पवेल ने अरकाट के नवाब के सहयोग से मद्रास में एक नारी अनाथालय का भी निर्माण कराया था तथा डा० डब्ल्यू एंड्रयूवेल के नाम से बालकों के लिए भी एक ऐसा ही आश्रम खोला गया था। डेन धर्म-प्रचारक शुल्ज ने भी मद्रास में कुछ विद्यालयों की स्थापना की थी और कुछ पुराने विद्यालयों का जीर्णोद्धार कर उन्हें नया कलेवर प्रदान किया था।

बम्बई में भी शिक्षा तीव्र गति से बढ़ी । सन् १७१९ ई० में रिचार्ट कौव ने एक विद्यालय स्थापित किया । इसमें योरोप के उन बालकों को शिक्षा दी जाती थी जो निर्धन थे ।
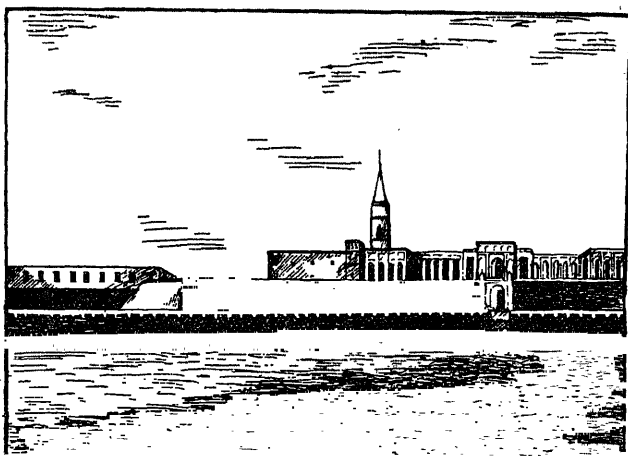
चित्र न० १२—फोर्ट विलियम कालेज

उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात होता है कि शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों को करने वाले प्राय: मिशनरी ही थे । यद्यपि कम्पनी के संचालकों की शिक्षा-प्रचार की प्रबल इच्छा थी और उन्होंने इस दिशा में कुछ कार्य भी किया; परन्तु वे अन्त तक उसे निभा न सके और यह कार्य धर्म-प्रचारकों द्वारा ही पूर्णरूपेण सम्पन्न हुआ ।

सन् १७५७ ई० में प्लासी-युद्ध के पश्चात् बंगाल का शासन-प्रबन्ध कम्पनी के हाथ में आ गया था और जो कुछ कमी रह गयी थी उसे सन् १७६४ ई० में बक्सर के युद्ध ने पूर्ण कर दिया । सन् १७६५ ई० में शाह आलम ने अपनी इच्छा के विरुद्ध भी अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी दे दी । अब कम्पनी को लगान का भी अधिकार मिल गया और अंग्रेज बंगाल के वास्तविक स्वामी बन गए । अभी तक कम्पनी शिक्षा देना अपना कार्य नहीं समझती थी । अत: स्वाभाविक था कि वह इस ओर विशेष ध्यान न दे । अत: उसने वहाँ की व्यक्तिगत शिक्षा में किसी प्रकार का हस्तक्षेप भी नहीं किया । बंगाल में शिक्षा-सम्बन्धी व्यक्तिगत प्रयास बहुत प्राचीन काल से होते रहे । इन व्यक्तिगत प्रयत्नों को यदि सरकार भी प्रोत्साहन देती तो सोने में सुगन्ध का काम होता । फिर भी बंगाल की शिक्षा सराहनीय रही ।

बंगाल की दीवानी के बाद शिक्षा-नीति

सन् १७६५ ई० की सन्धि के अनुसार कम्पनी को महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो गये। अब वह व्यावसायिक न रह कर स्वामिनी बन गई। अतः कम्पनी ने सोचा कि भारतीयों की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ प्रयत्न आवश्यक है। वास्तव में कम्पनी को भारत का जितना भी अंश प्राप्त हुआ था वह मुसलमान और हिन्दू दोनों से प्राप्त हुआ था। भारतीय मुसलमान और हिन्दू उच्च शिक्षा के बड़े प्रेमी थे, फिर भी उसका क्षेत्र सीमित था। हिन्दुओं के लिए मुस्लिम शासक इन पाठशालाओं को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया करते थे। धुरंधर पंडितों और मौलवियों को सम्मानित करने के लिए उपाधियाँ प्रदान की जाती थीं तथा उनको आजीविका चलाने के लिए जागीरें दी जाती थीं। कम्पनी ने कोई नया कदम उठाना उचित नहीं समझा। अतः उसने पुरानी ही संस्थाओं को कायम रखने की बात सोची। कम्पनी को यह डर था कि ऐसा न हो कि भारतीय जनता की दृष्टि में कम्पनी का शासन भारतीय शासकों की अपेक्षा निम्न कोटि का जान पड़े। उसका यह भी विश्वास था कि भारत में शासन करने के लिए यहाँ के प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने पंजे में लाना आवश्यक है। यह कार्य तभी सम्भव है जब इन व्यक्तियों को कम्पनी उच्च शिक्षा देकर उच्च पदों पर सुशोभित करे। इन सब बातों से शिक्षा में एक महान परिवर्तन आरम्भ हुआ। फलतः कलकत्ता, मद्रास और बनारस में संस्कृत कालेज का निर्माण हुआ।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त शिक्षा के विकास का एक विशेष कारण था। १७८१ ई० के संशोधित कानून के अनुसार भारतीयों के मुकदमे का निर्णय उनके रीति-रिवाज, धर्म और रहन-सहन आदि बातों को ध्यान में रखकर करना निश्चित हुआ। अंग्रेज न्यायाधीश इन बातों से परिचित नहीं थे और बिना किसी भारतीय के सहयोग के वे इन्हें जान नहीं सकते थे। अतः इन बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कुछ भारतीयों को उच्च शिक्षा देने की आवश्यकता जान पड़ी। यों तो कम्पनी ने उच्च शिक्षा के लिए कई विद्यालयों का निर्माण कराया, परन्तु कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज, बनारस विशेष उल्लेखनीय हैं।

कलकत्ता मदरसा

कलकत्ता मदरसा का शिलान्यास करने वाला हेस्टिंग्ज था। कलकत्ता के लब्धप्रतिष्ठ और संभ्रान्त मुसलमानों की प्रबल इच्छा थी कि उनकी उच्च शिक्षा के लिए एक मदरसा का निर्माण किया जाय। अब क्या था 'जो रोगी चाहे वही वैद्य बतावे', वाली कहावत चरितार्थ हो गई। अंग्रेज तो यह चाहते ही थे कि इनको मुसलमानों

को कृतज्ञ करने का एक सुअवसर प्राप्त हो जाय। परिणामस्वरूप अक्तूबर सन् १७८० ई० में कलकत्ता मदरसा की नींव पड़ी। हेस्टिंग्ज का विचार था कि इस मदरसे में मुसलमानों को उच्च शिक्षा देकर उच्च पद प्राप्त करने योग्य बनाया जाय।

प्रारम्भिक अवस्था में मदरसे की छात्र-संख्या केवल ४० थी। परन्तु धीरे-धीरे मदरसा की ख्याति फैली और छात्रों की संख्या १०० हो गई। बालकों के भोजन, पुस्तकों और छात्रावास की व्यवस्था मदरसा करता था और मदरसा के व्यय का भार हेस्टिंग्ज वहन करता था, क्योंकि वह कम्पनी का रुपया बिना संचालकों की आज्ञा के खर्च नहीं कर सकता था और मदरसा वह शीघ्रातिशीघ्र खोल देना चाहता था, अतः उसने विलम्ब के डर से कम्पनी के संचालकों की आज्ञा लिए बिना ही मदरसा का निर्माण कर दिया था।

चित्र नं० १३—वारेन हेस्टिंग्ज

पाठ्य विषय

कलकत्ता मदरसा में कुरान के धर्म-सिद्धांत, कानून, तर्कशास्त्र, गणित, ज्योतिष, व्याकरण और दर्शन-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। काव्य-शास्त्र की शिक्षा अरबी-फारसी के माध्यम से दी जाती थी। मदरसे की प्रभावशाली शिक्षा और समुचित व्यवस्था तथा आर्थिक सहायता के कारण बड़ी ख्याति बढ़ी और देश के प्रत्येक कोने से छात्र विद्याध्ययन के लिए आने लगे। कर्नाटक, गुजरात और काश्मीर से आकर छात्रों ने यहाँ शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। इस मदरसे का शिक्षा-काल ७ वर्ष का था।

धुरंधर विद्वान मुदगिद्-ओद्दीन कलकत्ता मदरसा के शिक्षक पद पर आरूढ़ हुए। उस समय इनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण भारत में फैली हुई थी। देश के कोने-कोने से आने वाले विद्यार्थियों के आने का यह भी एक विशेष कारण था।

जब कम्पनी के संचालकों के पास यह संदेश पहुँचा तो उन्होंने हेस्टिंग्ज की भूरि-भूरि प्रशंसा की और हेस्टिंग्ज के निजी रुपये को वापस कर कम्पनी को मदरसे के व्यय का भार-वहन करने का आदेश दिया। कम्पनी ने प्रारम्भिक अवस्था में

प्रचलित प्रथा के अनुसार मदरसा के पोषण के लिए २९,००० रु० की भूमि प्रदान की। यह भूमि मदरसा के शिक्षक और उसके उत्तराधिकारियों के नाम से दी गई। परन्तु कुव्यवस्था के कारण पुनः वापस ले ली गई और ३०,००० रु० की वार्षिक सहायता कोष से देने का प्रबन्ध कर दिया गया तथा मदरसा को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक अंग्रेज मंत्री नियुक्त कर दिया गया।

मुसलमानों को प्रचलित प्रथा के अनुसार नमाज पढ़ने एवं पूजा-पाठ के लिए शुक्रवार को अवकाश रखा गया तथा नमाज पढ़ाने के लिए एक मुअध्मी मुअध्धीन और कुरान पढ़ाने के लिए एक कातिब की नियुक्ति की गई। इन दोनों व्यक्तियों को अन्य विषयों से कोई सम्बन्ध न था।

बनारस संस्कृत कालेज

बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना के कारण जनता का हित न होकर राजनीतिक ही थे। यह विद्यालय भी उसी उद्देश्य से निर्मित हुआ जिससे कलकत्ता मदरसा। बनारस संस्कृत कालेज का निर्माण कलकत्ता मदरसा के लगभग ग्यारह वर्ष पश्चात् सन् १७९१ ई० में बनारस राज्य के रेजीडेन्ट जोनाथन डंकन[१] ने किया था। कलकत्ता मदरसा में मुसलमानों को न्याय-शास्त्र पढ़ाकर मुसलमानों के रीति-नीति की व्याख्या करने के लिए दीक्षित किया जाता था और संस्कृत कालेज, बनारस में न्यायशास्त्र पढ़ा कर हिन्दू रीति-नीति की व्यवस्था करनें योग्य व्यक्तियों को तैयार किया जाता था। बनारस कालेज को प्रारम्भिक अवस्था में केवल १४,००० रु० की वाषिक धनराशि दी जाती थी। परन्तु थोड़े ही दिनों पश्चात् यह धनराशि २४,००० रु० वार्षिक कर दी गयी। फिर भी यह कलकत्ता मदरसा की धनराशि से कम थी।

पाठशाला का प्रबन्ध पंडितों को सौंप दिया गया। परन्तु वे इस उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक न निभा सके। अतः यहाँ भी पाठशाला के प्रबन्ध के लिए एक योरोपीय प्रबन्धक नियुक्त कर दिया गया। पाठशाला में उन्हीं विषयों को रखा गया जो तत्कालीन पाठशालाओं में प्रचलित थे। पाठशाला का सम्पूर्ण प्रबन्ध धर्म-शास्त्रों के नियमों पर आधारित था।

कलकत्ता और बनारस दोनों स्थानों में पाठशालाओं के निर्माण से कम्पनी का उद्देश्य पूरा हो गया। तात्पर्य यह है कि उसका प्रभाव भारत की दो प्रमुख जातियों—

---

१. Jonathan Duncan.

हिन्दू और मुसलमानों पर जम गया। उच्च और मध्यम वर्ग के लोग उच्च शिक्षा प्राप्त कर अधिकारी बनने लगे और अधिकारी बनकर राजभक्त बन गए। कम्पनी को आशा हुई कि अब शासन-कार्य सुचारु रूप से चल सकेगा और शासन सुदृढ़ भी हो सकेगा।

इन दोनों संस्थाओं के अतिरिक्त बहुत से अंग्रेजी विद्यालयों का भी निर्माण हो रहा था जिनमें अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। अब भारतीय अंग्रेजी की ओर झुक चुके थे। सन् १७८८ ई० में कलकत्ता में ब्राउन के प्रयास से एक कालेज भी बना था और श्रीमती पिट, श्रीमती कपलेंड और श्रीमती लॉसन ने महिला विद्यालयों की ओर ध्यान दिया। फलतः ६ बालिका विद्यालय खुले।

फोर्ट विलियम कालेज भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस विद्यालय में बंगला साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यहाँ गिल क्राइस्ट, डा० केरे, कोलबुक और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ऐसे धुरंधर विद्वान अध्यापक थे। इस विद्यालय में अरबी, फारसी, संस्कृत हिन्दुस्तानी, कानून, इतिहास तथा हिन्दू-मुस्लिम कानूनों की शिक्षा दी जाती थी। इस कालेज की स्थापना सन् १८०० ई० में हुई थी। इसने उच्च कोटि की शिक्षा देकर जनता को अपनी ओर आकर्षित किया। कलकत्ता मदरसा या बनारस संस्कृत कालेज की भाँति यह कालेज जाति-विशेष के लिए ही नहीं था, वरन् यहाँ हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य जातियों के लोग भी शिक्षा ग्रहण करते थे।

बैप्टिस्ट मिशनरी के प्रमुख नेता वार्ड केरे और मार्शमैन कलकत्ता से लगभग १३ मील उत्तर सीरामपुर ग्राम में अपना कार्य कर रहे थे। एक मुद्रणालय खोलकर उन्होंने बंगला में बाइबिल का अनुवाद किया और निःसंकोच भाव से अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। भारत के हिन्दू और मुसलमानों ने इसका विरोध किया। स्थिति बिगड़ती देखकर कम्पनी सरकार ने मुद्रणालय पर अपना अधिकार कर इन्हें कैद कर लिया।

सन् १८१७ ई० तक बैप्टिस्टों ने ११५ विद्यालयों का निर्माण कर दिया था। ये विद्यालय समीपवर्त्ती स्थानों में ही थे। कम्पनी सरकार सदैव इन बातों में हस्तक्षेप करती रही। इंगलैंड में इस हस्तक्षेप की तीक्ष्ण आलोचना हुई और भारतीय शिक्षा की अवहेलना तथा ईसाई-धर्म के विरोध का दोषारोपण कम्पनी पर किया गया और इसी के परिणामस्वरूप १८१३ ई० का आज्ञा-पत्र कम्पनी को प्राप्त हुआ।

शिक्षा-नीति पर संसद[1] के आंदोलन का प्रभाव

अठारहवीं शताब्दी में इंगलेंड में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के कारण गाँवों की जनसंख्या दिन प्रति दिन घटने लगी और नगरों की जनसंख्या में वृद्धि हुई, क्योंकि नए-नए यंत्रों का आविष्कार हो रहा था और इस कारण घरेलू उद्योग-धन्धों का विनाश होता जा रहा था। हाथ का काम मशीनों ने ले लिया था, और अब थोड़े समय में अधिक श्रम हो सकता था। फलतः बहुत से लोग बेकार हो गए। एक ओर गगनचुम्बी प्रासादों का निर्माण हो रहा था, तो दूसरी ओर झोंपड़ियाँ भी उजड़ती दिखाई पड़ रही थीं। एक ओर पूँजीवादियों का बोलबाला था और दूसरी ओर निर्धन, असहाय और दुःखी श्रमिक वर्ग तबाह हो रहा था।

मिलें और मशीनें पूंजीपतियों के पास थीं। पूंजीपति अपनी तिजोरी भरने का ही प्रयत्न किया करते थे। बेचारे मजदूरों को स्त्री और बच्चों सहित पेट पालने के लिए दिन-रात काम करना पड़ता था। ऐसी दशा में अशिक्षा का प्रभाव बढ़ा। कारण यह था कि न तो उनके पास पैसा था कि बच्चों को शिक्षा दिला सकें और न उनके पास समय था, क्योंकि आजीविका के लिए बच्चों को भी काम करना पड़ता था। श्रमिकों की इस दयनीय दशा पर तरस खाकर कुछ उदार और दयावान व्यक्तियों ने उनकी दशा सुधारने के लिए संसद में प्रश्न उठाया। उन्होंने उनके अवकाश, वेतन, काम का समय और शिक्षा में सुधार के लिए प्रस्ताव रखा। इन समाज-सेवियों ने इस बात पर बल दिया कि जनता की शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार अपने ऊपर ले। सन् १८०७ के विधेयक के अनुसार ७ वर्ष की आयु के ऊपर वाले बालकों को दो वर्ष तक निःशुल्क शिक्षा देने की माँग रखी गई, परन्तु यह प्रयास विफल रहा। किन्तु इन व्यक्तियों ने धैर्य नहीं खोया और सन् १८१५ ई० में एक समिति बनाई गई और देश के निर्धन बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में जाँच की गई। इसने भी एक विधेयक रखा था। परन्तु पुनः निराश होना पड़ा, पर इन लोगों ने भी साहस नहीं छोड़ा और निरन्तर आन्दोलन करते रहे।

अभी तक कम्पनी ने भारतीयों की शिक्षा का भार अपने ऊपर नहीं लिया था। इसके निम्नांकित कारण थे :—

१. कम्पनी इंगलैण्ड के ही आदर्शों पर चलती थी और उन दिनों इंगलैण्ड की सरकार शिक्षा-कार्य सरकार का नहीं समझती थी। अतः कम्पनी भी इस उत्तरदायित्व को नहीं लेना चाहती थी।

---

१. British Parliament.

२. कम्पनी भारतीयों को शिक्षित नहीं बनाना चाहती थी क्योंकि उनको मूर्ख रखकर शासन करना सरल था। कम्पनी को यह डर था कि शिक्षित हो जाने के पश्चात् वे कम्पनी की आलोचना कर स्वतंत्र होने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देंगे।

३. कम्पनी सरकार के कथनानुसार भारतीय अपनी शिक्षा के प्रति स्वयं जागरूक नहीं थे।

४. चौथा मुख्य कारण आर्थिक था। कम्पनी धनोपार्जन की ओर ही अपना ध्यान लगाए थी और उसके विचारानुसार शिक्षा के हेतु धन व्यय करना व्यर्थ था।

परन्तु जब इंगलैण्ड में शिक्षा-सुधार-सम्बन्धी आन्दोलन प्रबल वेग से चल रहा था, उस समय कम्पनी भी इस प्रभाव से बच न सकी। उसको इस महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को अपने हाथ में लेने के लिए वाध्य होना पड़ा। इसके लिए भारतीय लार्ड मिन्टो के कृतज्ञ हैं।

चार्ल्स ग्रांट

जिस समय कम्पनी इस उत्तरदायित्व को लेने के लिए बाध्य हो रही थी, उसी समय इंगलैंड की पार्लियामेंट ने भी भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन किया। पार्लियामेंट ने भारतीयों की सामाजिक दशा में सुधार करने के लिए उनको शिक्षित करना आवश्यक बताया। इस प्रेरणा को देने का श्रेय चार्ल्स ग्रांट को है। ग्रांट महोदय भारत की परिस्थितियों से पूर्ण परिचित थे क्योंकि इनको व्यावसायिक एवं कम्पनी के कर्मचारी के रूप में भारत में कई वर्षों तक रहने का अवसर मिला था। इंगलैंड लौटने पर इन्होंने 'ऑबजरवेशन'[१] नामक रचना करके भारतीयों की स्थिति पर पूर्ण प्रकाश डाला। यद्यपि ग्रांट महोदय के प्रकाशन में बहुत बातें आपत्तिजनक एवं अनादरसूचक हैं फिर भी ग्रांट क्षम्य हैं, क्योंकि उनका एकमात्र उद्देश्य भारतीयों को शिक्षित बनाकर उनके नैतिक स्तर को ऊँचा करना तथा उनको जागृत करना था। उस समय भारत की दशा निन्दनीय तो थी ही। भारतीयों का नैतिक पतन हो रहा था और व्यभिचार बढ़ता जा रहा था।

निम्नलिखित बातों के कारण चार्ल्स ग्रांट भारतीय शिक्षा की प्रगति की ओर उन्मुख हुआ था :—

(१) सन् १७९२-१८१३ की अवधि में कम्पनी ने धर्म-प्रचारकों को खूब दबाया था। उनको किसी प्रकार की सुविधा नहीं थी। अतः उनके

१. Observation.

प्रतिनिधियों और मित्रों ने संसद में आंदोलन उठाया। चार्ल्स भी उनका हितैषी था और यहाँ से लौटने के पश्चात् कई वर्षों तक संचालक-समिति[१] का सदस्य रहा तथा सन् १८०२ में संसद का सदस्य भी निर्वाचित हो चुका था।

(२) वह धार्मिक था और उसका कथन था कि भारत पर राज्य करके भी उनके बच्चों को अशिक्षित रखा जाय तो पाप है और इंगलैंड की सरकार को इस पाप का भागी होना चाहिए।

(३) उसके अनुसार अंग्रेजी की शिक्षा और ईसाई धर्म के प्रचार ही से अंग्रेजी शासन सुदृढ़ हो सकता था।

(४) अंग्रेजी पढ़कर भारत के लोगों से अंग्रेजों का निकटतम सम्पर्क स्थापित होगा और शासन भी सुदृढ़ होगा तथा व्यापार भी बढ़ेगा एवं अंग्रेज श्रद्धा के पात्र बनेंगे।

(५) अंग्रेजी भाषा को वे अधिक उपयोगी समझेंगे जिससे इसकी ओर आकर्षित होंगे और हमारी भाषा का प्रचार होगा। वे अपनी संस्कृत भाषा भूल कर गुलाम रह सकेंगे।

चार्ल्स के 'आबजरवेशन' ने भारतीय शिक्षा का बड़ा कल्याण किया है। वास्तव में भारत में अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति 'आबजरवेशन' पर ही आधारित है। इसमें उसने लिखा है कि भारत की सामाजिक दशा सुधारने एवं भारतीयों का नैतिक स्तर ऊँचा करने के लिए पाश्चात्य शिक्षा और उपयुक्त धर्म अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार अन्धकार को प्रकाश दूर करता है उसी प्रकार अज्ञानता और दुराचार को शिक्षा दूर कर देगी।[२]

चार्ल्स ग्रांट ने देशी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बताया। परन्तु उसने अधिक उपयुक्त अंग्रेजी को ही बताया। उसके अनुसार अंग्रेजी के द्वारा विज्ञान, साहित्य, दर्शन और धर्म का ज्ञान उचित रीति से दिया जा सकता

१. Board of Directors.

२. The true cure of darkness is the introduction of light. The Hindoos err, because they are ignorant, and their errors have never been fairly laid before them. The communication of our light and knowledge to them would prove the best remedy for their disorders—Paranjpe : A Source Book of Modern Indian Education. P. VIII.

है तथा अंग्रेजी के द्वारा भारतीयों के विचारों में परिवर्तन लाया जा सकता है। उसने प्रारम्भ में अंग्रेजी के सुयोग्य शिक्षकों की नियुक्ति पर बल दिया और बताया कि भविष्य में भारतीय शिक्षक इस कार्य को चला सकेंगे।

ग्रांट की लगभग सभी बातें भविष्य में स्वीकार कर ली गयीं, यद्यपि इसमें ४० वर्षों का समय लगा। उसी के परिणामस्वरूप सन् १८१३ ई० का आज्ञा-पत्र है, यदि ऐसा कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। यह भारत के लिए अमूल्य देन थी, और भविष्य में बनने वाली अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की अग्रिम रूप-रेखा थी। इसी लिए वह अंग्रेजी शिक्षा का निर्माता[1] कहा जाता है।

जैसा कि हमने ऊपर बताया कि चार्ल्स ग्रांट और उसके साथियों के अनवरत और अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप ही सन् १८१३ ई० का आज्ञा-पत्र पास हो कर आ गया, परन्तु फिर भी इसके कुछ अन्य कारण थे जिनकी ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

१. धर्म-प्रचारकों का निरन्तर आन्दोलन और पार्लियामेंट में उनके सदस्यों का पहुँचना।

२. औद्योगिक क्रान्ति के कारण घरेलू उद्योग-धन्धों का नष्ट होना और पूँजीपतियों का श्रमिकों पर अत्याचार बढ़ना। अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना के कारण पार्लियामेंट का ध्यान इंगलैंड के निर्धन बच्चों की शिक्षा की ओर गया और उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा।

३. कलकत्ता मदरसा और बनारस के संस्कृत कालेज की स्थापना से यह निश्चय हो गया था कि भारत की शिक्षा का प्रबन्ध आवश्यक है।

भारत की शिक्षा में प्राच्यवादी नीति

जिस समय इंगलैंड में धर्म-प्रचारक इस बात के लिए आन्दोलन चला रहे थे कि भारतीय शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से दी जाय और ईसाई धर्म का प्रचार हो उसी समय भारत स्थित कम्पनी के कुछ अधिकारी इस बात पर बल दे रहे थे कि भारतीयों को भारतीय पद्धति द्वारा शिक्षा दी जाय, क्योंकि धार्मिक नीति

---

१. It is because of these practical and prophetic suggestions that Grant's work still retains its interest and it is because of them that Grant is sometimes described as the father of modern education in India—Nurullas and Naik. P. 77.

को अलग रखने से ही कम्पनी का कल्याण है। कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज, बनारस की स्थापना कर वे अपनी प्राच्यवादी नीति का विचार प्रकट कर चुके थे । कम्पनी के अधिकारियों का कथन था कि कलकत्ता मदरसा और बनारस कालेज तो सागर में एक बूँद के समान हैं । इस विशाल भारत की आवश्यकता केवल इन दो संस्थाओं से नहीं पूर्ण हो सकती। अतः शीघ्रातिशीघ्र अधिक संस्थाएँ खोली जायँ तथा अधिक धनराशि व्यय की जाय । इस प्रकार विभिन्न दिशाओं की ओर बहने वाली दो धारायें थीं।

तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड मिन्टो स्वयं प्राच्यवादी नीति का प्रशंसक और समर्थक था। उसका कथन था कि भारतीय साहित्य का ज्ञान न केवल भारतीयों के लिए ही, अपितु अंग्रेजों के लिए भी उसका अध्ययन आवश्यक और लाभदायक है। उसकी प्रबल आकांक्षा थी कि भारतीय कला और साहित्य को प्रोत्साहन दिया जाय और इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर उसने ६ मार्च सन् १९११ ई० को कम्पनी के संचालकों के पास भारतीय शिक्षा की करुण कहानी लिखकर प्रेषित किया था। उसने लिखा था कि भारतीय कला और विज्ञान निरन्तर अन्धकार और पतन की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। लोगों में कूपमंडूकता की भावना भरती जा रही है और विद्वानों की संख्या नहीं के बराबर हो रही है। यदि शीघ्र ही इधर ध्यान न दिया गया तो पुनः नवनिर्माण असम्भव है । यह प्राच्यवादी नीति सन् १७६५-१८१३ तक निरन्तर संघर्ष करती रही। संक्षेपतः प्राच्यवादी नीति के निम्नांकित विचार थे :—

१. भारतीयों को प्राच्यज्ञान देकर ही प्रोत्साहित किया जाय, न कि पाश्चात्य ज्ञान देकर ।

२. हिन्दू और मुसलमानों को प्राच्य ज्ञान की शिक्षा दी जाय और शिक्षा का माध्यम संस्कृत और अरबी-फारसी हो। नवीन शिक्षा-प्रणाली का भार उन पर लाद कर बोझिल न बनाया जाय। इसकी अपेक्षा प्राचीन शिक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाय।

३. भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली ही भारतीयों के लिए उचित और उपयोगी है।

४. ईसाई धर्म तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के हेतु धर्म-प्रचारकों का कार्य कल्याणप्रद नहीं। अतः उनको पनपने न दिया जाय ।

इस प्राच्यवादी नीति को अपनाने में भी राजनीतिक चाल थी। भारत में शासन सुचारु रूप से चलाने और दृ करने के लिए भारतीय जनता का सहयोग

अत्यन्त आवश्यक था। धर्म या विदेशी शिक्षा की नीति अपनाकर कम्पनी उनको संतुष्ट नहीं कर सकती थी। भारतीयों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उनके धर्म, रीति-रिवाज और उनके साहित्य तथा कला को प्रश्रय देना आवश्यक था। कम्पनी को अंग्रेजी के प्रचारकों और धर्म-प्रचारकों के कार्यों से अपने नवनिर्मित राज्य के लिए सदैव डर जान पड़ता था। अतः उसने प्राच्यवादी नीति को ही अपनाया तथा हेस्टिंग्ज और मिन्टो भी इसी के पक्षपाती बने।

सन् १८१३ ई० का आज्ञापत्र

इन दोनों दलों के संघर्षों ने भारतीय शिक्षा का प्रश्न अत्यन्त जटिल बना दिया। फलतः कम्पनी को १८१३ ई० का आज्ञा-पत्र प्रदान किया गया। यहाँ से भारतीय शिक्षा का इतिहास मुड़ता है। यह १८१३ ई० का आज्ञा-पत्र ग्रांट और विल्वरफोर्स के लगभग २० वर्षों के अनवरत और अथक परिश्रम का फल था। इस आज्ञा-पत्र के अनुसार शिक्षा को कम्पनी का कर्त्तव्य समझा गया और कहा गया कि भारतीय ज्ञान के प्रोत्साहन और पुनरुद्धार के लिए कम से कम एक लाख रुपया प्रति वर्ष व्यय किया जाय। इसके अनुसार धर्म-प्रचारकों को भारत आकर धर्म-प्रचार की सुविधा दे दी गयी।

इस आज्ञा के फलस्वरूप अब भारत में राजकीय शिक्षा-प्रणाली अंकुरित हुई और मिशनरियों के प्रयासों को देखकर कुछ भारतीयों के मन में स्पर्धा की भावना जागृत हुई और बहुत सी संस्थाएँ स्थापित कीं जहाँ प्राचीन ज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी। १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार भारतीय शिक्षा की गति तीव्र हो गयी। कम्पनी के अगले आज्ञा-पत्र तक शिक्षा का आश्चर्यजनक विकास और विस्तार हुआ। इस विकास का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

सन् १८१३-१८३३ ई० में शिक्षा-प्रगति

सन् १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार शिक्षा राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग मान लिया गया था। अब भारतीय प्रजा की शिक्षा का भार कम्पनी ने अपने हाथ में लिया था। प्राच्यवादियों के अनुसार एक लाख रुपया साहित्य के पुनरुत्थान तथा समोन्नति के लिए व्यय करने की स्वीकृति भी मिल गई थी। परन्तु यह धन किस प्रकार व्यय किया जाय इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया था। परिणामतः कई प्रश्नों पर संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिससे अगले २० वर्षों तक शिक्षा की नौका डगमगाती रही और अपना पथ न निर्दिष्ट कर सकी। संघर्ष मुख्यतः इन बातों पर चल रहा था :—

१. भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किस प्रकार से किया जाय ?

२. भारतवर्ष में अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए ? अर्थात् यहाँ थोड़े ही व्यक्तियों को उच्च शिक्षा दी जाय अथवा जन-साधारण को ।

३. भारत में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिए ? तात्पर्य यह है कि शिक्षा देशी भाषाओं के द्वारा ही दी जाय, अथवा अरबी-फारसी और संस्कृत द्वारा या अंग्रेजी रखी जाय ।

४. शिक्षा का साधन क्या होना चाहिए ? यह पूर्णरूपेण व्यक्तिगत संस्थाओं के हाथ में होनी चाहिए या सरकार के हाथ में ?

५. मिशनरियों के शिक्षा-प्रसार और धर्म-प्रचार की बात भी यहीं आ गयी ।

इन प्रश्नों को लेकर भारत में दल उठ खड़े हुए थे :—

१. एक दल के अनुसार देशी भाषाओं को माध्यम बनाया जाय । इसके मानने वालों में मद्रास के गवर्नर मुनरो और बम्बई के गवर्नर माउण्ट एलफिस्टन थे ।

२. कुछ लोगों का कथन था कि संस्कृत, अरबी और फारसी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय । इसके समर्थकों में हेस्टिग्ज और मिन्टो थे । यह विचारधारा बंगाल में अधिक प्रबल हो रही थी ।

३. कम्पनी के नवयुवक अधिकारी तथा कुछ अन्य व्यक्ति अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने पर जोर दे रहे थे । धर्म-प्रचारक भी इसी के पक्ष में थे । केवल विदेशी ही नहीं, वरन् राजा राममोहन राय भी चाहते थे कि भारतीयों को अंग्रेजी माध्यम द्वारा पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा दी जाय ।

सत्ता के प्रभुत्व के कारण अंग्रेजी के समर्थक लगभग सभी प्रान्तों में पाए जाते थे। परन्तु बंगाल में इनका प्राबल्य था । परिणामस्वरूप अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बनी। इससे प्राच्य भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो गया तथा भारतीय संस्कृति को एक झटका लगा। अंग्रेजी प्रचार एवं शिक्षा के अंग्रेजी माध्यम के कारण देश में रंग-रूप में भारतीय तथा विचारों में अंग्रेज पैदा होने लगे । ये ही लोग शासक और शासित के मध्यस्त थे । १८१३ के आज्ञा-पत्र के अनुसार मिशनरियों

को भारत आकर धर्म-प्रचार की पूर्ण स्वतंत्रता मिली और उन्होंने आकर भारतीयों को शिक्षा द्वारा ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया।

राजकीय प्रयत्न

सन् १८१३ ई० में साहित्य एवं भारतीय विद्वानों के पुनरुत्थान के लिए एक लाख रुपए की स्वीकृति मिल गयी थी। परतु विवाद चल रहा था। अतः ३ जून १८१४ ई० को कम्पनी के संचालकों ने अपना प्रथम शिक्षा-आदेश भेजकर इस प्रश्न का स्पष्टीकरण कर दिया।

कम्पनी के संचालकों ने भारतीय शिक्षण-विधि की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि भारतीय शिक्षण-पद्धति द्वारा भारतीय ज्ञान को प्रोत्साहित किया जाय और विद्वानों को सहायता दी जाय। भारतीय ग्रन्थों और विद्यालयों की रक्षा की जाय तथा उनका पुनरुद्धार किया जाय। भारतीय अध्यापकों की दयनीय दशा पर भी ध्यान देने की बात कही गई और संस्कृत पढ़ने वाले अंग्रेजों को विशेष सुविधाएँ दी गईं। परन्तु यह सब ब्रिटिश सत्ता को सुरक्षित रखने के अतिरिक्त अन्य कुछ न था। इससे भारतीयों को कोई लाभ न हुआ।

सन् १८१५ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार लार्ड म्योर ने कम्पनी के संचालकों से यह प्रार्थना की कि एक लाख रुपया विद्यालयों के नवनिर्माण एवं पुनरुद्धार के लिए व्यय किया जाय। शिक्षा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। अतः कम्पनी को इधर ध्यान देना चाहिए। मेटकाफ ने भी लगभग इसी समय यही बातें लिखीं और बताया कि कम्पनी का शासन इससे सबल बनेगा न कि निर्बल। भाग्यवश तत्कालीन इंगलैण्ड की सामाजिक दशा ने भी इसका साथ दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल तक इंगलैण्ड में उदारवाद का आन्दोलन पर्याप्त जोर पकड़ लिये था और इसके परिणामस्वरूप श्रमिकों को कुछ सुविधायें प्राप्त हो गई थीं। अब मानवता की भावना जागृत हो रही थी तथा कठोर दण्ड का नियम वापस ले लिया गया था। सन् १८३२ ई० में इंगलैण्ड की संसद ने प्रथम बार शिक्षा-अनुदान को स्वीकृत किया और इसी वर्ष दास-प्रथा भी समाप्त कर दी गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १८२३-३३ ई० तक का युग इंगलैण्ड के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सन् १८१४ ई० के संदेश के अनुसार कम्पनी के संचालकों ने भारतीय शिक्षा के प्रति उदारता की नीति दिखलाई और आर्थिक सहायता देकर भारतीय शिक्षा को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। परन्तु इसमें विशेष प्रगति नहीं दिखाई पड़ी। सन् १८२३-३३ ई० तक की अवधि में इंगलैण्ड में

होने वाले पारिवर्तनों से भारत भी अछूता न रहा। इस अवधि में कम्पनी सरकार भारत स्थित अपने प्रदेशों की शिक्षा के प्रति जागरूक हुई। स्वभावत: एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। कम्पनी के इधर ध्यान देते ही सभी प्रान्तों में एक नई लहर दौड़ गई और शिक्षा का एक समुचित और सुव्यवस्थित राजकीय प्रयत्न दिखाई पड़ने लगा।

बंगाल—गवर्नर जनरल ने बंगाल प्रान्त की शिक्षा के समुचित संचालन एवं देख-रेख के लिए १७ जुलाई १८२३ ई० को 'जनरल कमेटी आफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शनस' नामक समिति का निर्माण किया। इस समिति के सदस्यों में कम्पनी के वे प्रायः सभी पुराने अधिकारी थे, जिनको भारतीय ज्ञान और संस्कृति के प्रति बड़ी आस्था थी। इनमें एच० पी० प्रिसेस और एच० एच० विल्सन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कुल सदस्यों की संख्या १० थी। समिति के लगभग सभी सदस्य ऐसे थे, जिनको अरबी, फारसी तथा संस्कृत से विशेष प्रेम था। अत: स्वाभाविक था कि वे इसी का समर्थन करते। सन् १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार एक लाख रुपये का व्यय भी समिति की इच्छा पर ही निर्भर था। इस समिति ने १० वर्ष की अवधि में भारत में शिक्षा-सम्बन्धी निम्नांकित महत्त्वपूर्ण कार्य किए :—

१. सर्वप्रथम इसने कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज बनारस का पुनर्संगठन किया।

२. सन् १८२४ ई० में प्राच्य शिक्षा के लिए आगरा, दिल्ली और कलकत्ता विद्यालयों की स्थापना की।

३. इसी वर्ष कलकत्ता शिक्षा प्रेस का निर्माण किया।

४. संस्कृत, अरबी और फारसी के अनेको ग्रन्थ छपवाकर उनका प्रकाशन कराया।

५. विज्ञान का ज्ञान देने के हेतु कुछ योरोपीय विज्ञान-ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया।

६. इन ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में रखा।

७. अरबी, फारसी और संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देकर प्राच्य ज्ञान को प्रोत्साहित किया।

राजा राममोहन राय का मत

अंग्रेजों को आए काफी दिन व्यतीत हो चुके थे। अत: भारतीय उनकी चालों से पूर्ण परिचित हो चुके थे। उनमें राजनीतिक चेतना का संचार हो चुका था।

वे समझ चुके थे कि अंग्रेजी पढ़कर तथा पाश्चात्य विचारों का ज्ञान प्राप्त कर लेन से भारत का पुनरुद्धार सम्भव है। अतः वे पाश्चात्य भाषा और विचारों के प्रति जिज्ञासु थे। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी से आर्थिक लाभ भी दिखाई पड़ता था। ऐसे युग में समिति अपनी इस प्राच्यवादी नीति पर अधिक दिनों तक न चल सकी। राजा-राम मोहन राय ने ११ दिसम्बर सन् १८२३ ई० को लार्ड एमहर्स्ट को एक पत्र लिखा और उसम रसायन-शास्त्र, विज्ञान, गणित, दर्शन, ज्योतिष तथा शरीर-विज्ञान आदि से परिपूर्ण उदार शिक्षा देने की मांग के साथ ही साथ कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना का कड़ा विरोध किया। राजाराम मोहन राय ने लिखा था कि कम्पनी सरकार हमें प्राचीन प्राच्य ज्ञान की शिक्षा देकर कूपमंडूक बनाए रखना चाहती है। अतः हम उसका विरोध करते हैं और एक उदार एवं बुद्धिमत्तापूर्ण शिक्षा की माँग करते हैं। राजा राम मोहन राय की इस माँग की ओर कोई ध्यान न देकर संस्कृत कालेज की स्थापना कर दी गई।

चित्र नं० १४—राजा राममोहन राय

कम्पनी के संचालकों ने भी समिति की इस प्राच्यवादी नीति की तीक्ष्ण आलोचना की। संचालकों ने कहा कि समिति उस साहित्य को पढ़ाने के लिए विवश कर रही है जो गलत बातों से परिपूर्ण है और जीवन के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है। फलतः १८ फरवरी सन् १८२४ ई० के संदेश-पत्र के अनुसार संचालकों ने समिति पर प्रतिबन्ध लगा दिया और यह आदेश दिया कि पाश्चात्य ज्ञान-प्रसार पर अधिक बल दिया जाय, न कि प्राच्य ज्ञान पर। समिति ने विवश होकर कलकत्ता मदरसा, संस्कृत कालेज बनारस और आगरा कालेज में अंग्रेजी कक्षाओं की व्यवस्था कर दी और दिल्ली और बनारस में अंग्रेजी विद्यालय का निर्माण कराया। यह सारा कार्य १८३३ ई० तक हो चुका था। सन् १८३४ ई० तक समिति के सदस्यों में प्राच्यवादी और पाश्चात्य शिक्षा के समर्थकों की संख्या बराबर हो चुकी थी। अतः प्राच्यवादी मैकाले के सामने न टिक सके।

१८२३ ई० के उपरान्त बंगाल की भाँति ही मद्रास तथा बम्बई प्रान्त ने भी शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति की। कम्पनी के संचालक भी भारतीय शिक्षा के प्रति उदार और जागरूक हुए। जब लार्ड बैंटिक भारत का गवर्नर जनरल बन कर आया तो

भारतीय शिक्षा, जो अभी तक अनिश्चित और अज्ञात पथ पर भटक रही थी, एक निश्चित पथ पर आकर तीव्र गति से चल पड़ी। उसने २६ जून सन् १८२९ ई० को समिति को एक पत्र लिखकर सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी का प्रचार करके उसे राजभाषा बनाने का विचार प्रकट किया।

चित्र नं० १५—लार्ड बंटिक

सन् १८३३ ई० के आज्ञा-पत्र ने सभी देशों के धर्म-प्रचारकों को अपने धर्म-प्रचार के लिए रास्ता साफ कर दिया तथा प्रत्येक भारतीय को बिना किसी भेद-भाव के किसी भी पद को प्राप्त करने की सुविधा प्रदान कर दिया। फलतः अंग्रेजी का प्रचार प्रबल वेग से बढ़ने लगा।

सारांश

सन् १६०० ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी पूर्वी द्वीपसमूहों से व्यापार करने के लिए स्थापित हुई थी और लगभग १५० वर्षों तक उसका एकमात्र उद्देश्य धनोपार्जन ही था। सूरत, मछलीपट्टम, मद्रास और अन्य स्थानों पर कोठियाँ बनवाईं। उस समय अन्य कम्पनियों की देखा-देखी तथा भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर ईसाई धर्म-प्रचार प्रारम्भ कर दिया गया। इंगलैण्ड से धर्म-प्रचारक आए। धर्म-प्रचार होने लगा। भारतीय निर्धनता एवं अन्य कारणों से लालच में पड़कर ईसाई होने लगे। भारतीय ईसाइयों को इंगलैंड भेजकर धर्म-प्रचारक की शिक्षा दी जाने लगी। कम्पनी के संचालकों की इच्छा अत्यधिक संख्या में धर्म-प्रचारकों को भेजने की थी; परन्तु कम्पनी ने इसे अहितकर समझ कर स्थगित कर दिया। सन् १६९८ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार अन्य अधिकारों के साथ-साथ अपने भारतीय कारखानों में अध्यापक तथा धर्म-गुरुओं की नियुक्ति का भी अधिकार कम्पनी को मिल गया। कम्पनी ने कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में दातव्य पाठशालाएँ बनवाईं जिनमें भारत-स्थित कम्पनी के कर्मचारियों के बालकों को शिक्षा दी जाती थी। लिखने-पढ़ने और साधारण गणित का ज्ञान कराया जाता था। ये विद्यालय दान, चन्दा और कम्पनी की कृपा पर आधारित थे।

कम्पनी ने सन् १६७३ ई० में मद्रास में एक माध्यमिक विद्यालय तथा अन्य विद्यालयों का निर्माण कराया। बहुत दिनों तक मद्रास की शिक्षा में क्रान्तिकारी

परिवर्तन होते रहे । इसका श्रेय जर्मन मिशनरी श्वार्ज को है । श्रीमती कैम्पवेल ने मद्रास में नारी अनाथालय की स्थापना की । डा० डबल्यू एन्ड्रूवेल ने बालकों के लिए भी ऐसा ही आश्रम खोला । बम्बई में भी यही प्रगति रही । इस कार्य का आरम्भ कम्पनी के संचालकों द्वारा हुआ था जो मिशनरियों द्वारा पूरा हो सका ।

१७५७ ई० के बाद कम्पनी व्यावसायिक संस्था ही न रही, वरन् उसे राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त हुए । परन्तु तब भी शिक्षा की ओर उसका ध्यान नहीं गया । व्यक्तिगत प्रयासों में हस्तक्षेप भी नहीं किया । सीरामपुर में कार्य करने वाले मिशनरियों को नजरबन्द कर लिया और छापाखाना पर अपना अधिकार कर लिया । १८१७ ई० तक बैप्टिस्टों के ११७ विद्यालय खुल चुके थे । परन्तु कलकत्ता के ही निकट प्रदेशों की कम्पनी ने बैप्टिस्टों पर रोक लगाया । इंगलैंड में इसकी बड़ी निन्दा हुई ।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड में जनता की दशा गिर गयी थी । उसकी शिक्षा तथा अधिकारों के लिए वहाँ पर पार्लियामेंट में आवाज उठाई गयी । भारत की शिक्षा पर उसका प्रभाव पड़ा । विल्वरफोर्स और चार्ल्स ग्रान्ट तथा अन्य धर्म-प्रचारकों के संघर्षों के परिणामस्वरूप कम्पनी को शिक्षा अपने हाथों में लेनी पड़ी और भारतीयों के लिए विद्यालयों का निर्माण हुआ ।

हिन्दू और मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए बनारस संस्कृत कालेज तथा कलकत्ता मदरसा बना । अन्त में प्राच्यवादी नीति के सम्बन्ध में संघर्ष चलता रहा और परिणामस्वरूप १८१३ ई० का आज्ञा-पत्र प्राप्त हुआ । शिक्षा के इतिहास का मोड़ यहीं से प्रारम्भ होता है । एक लाख रुपया भारतीय साहित्य और विज्ञान तथा विद्वानों के प्रोत्साहन के लिए व्यय करने की आज्ञा दी गयी । धर्म-प्रचारकों को भारत आकर अपना कार्य करने की स्वतन्त्रता दी गयी । इस प्रकार राजकीय शिक्षा-पद्धति की नींव पड़ी और साथ ही साथ व्यक्तिगत संस्थाओं का भी विकास और विस्तार हुआ ।

सन् १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र के अनुसार शिक्षा एक विषय मान लिया गया और एक लाख रुपए का व्यय भी साहित्य के पुनरुत्थान के लिए स्वीकृत हो गया था । परन्तु रुपये के व्यय का ढंग अस्पष्ट था । फलतः निम्नलिखित विष १ र संघर्ष प्रारम्भ हो गया :—

१. भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किस ओर किया जाय ?

२. भारतवर्ष में अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिए ? वर्ग-विशेष की अथवा सार्वजनिक शिक्षा ?

३. भारतवर्ष में शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिए ?

४. शिक्षा का साधन क्या होना चाहिए ?

५. मिशनरियों की शिक्षा एवं धर्म-प्रचार किस प्रकार होना चाहिए ?

इन प्रश्नों को लेकर तीन दल खड़े हो गए । सन् १८१४ ई० में कम्पनी के संचालकों ने प्रथम शिक्षा-आदेश भेजकर प्रचलित भारतीय पद्धति की बड़ी प्रशंसा की । सन् १८२३-३३ ई० की अवधि में इंगलैण्ड की उदारवादी नीति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा और भारतीय शिक्षा का एक सुव्यवस्थित और समुचित रूप दिखाई पड़ने लगा । बंगाल में कलकत्ता मदरसा बना । बनारस संस्कृत कालेज की भी स्थापना हुई । शिक्षा के विस्तार के लिए कलकत्ता, दिल्ली और आगरा में विद्यालयों की स्थापना हुई । कलकत्ता शिक्षा प्रेस भी स्थापित हुआ । संस्कृत, अरबी और फारसी के अनेक ग्रन्थों का लेखन एवं प्रकाशन हुआ । उन ग्रन्थों को पाठ्यक्रम में रखा गया और अरबी, फारसी और संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी गईं ।

राजा राममोहन राय ने प्राच्यवादी नीति का विरोध किया और पाश्चात्य ज्ञान की माँग की ।

इसी प्रकार बम्बई और मद्रास में भी शिक्षा-क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. ईस्ट इंडिया कम्पनी के शिक्षा-सम्बन्धी प्रारम्भिक प्रयासों पर प्रकाश डालिए ।

२. 'ईस्ट इंडिया कम्पनी के शिक्षा-सम्बन्धी सभी प्रयास स्वार्थ-सिद्धि के लिए थे न कि भारतीयों के हित के लिए'—इस कथन की पुष्टि कीजिए ।

३. 'वर्तमान भारतीय शिक्षा का चार्ल्स ग्राण्ट निर्माता है'—इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? अपने विचार प्रकट कीजिए ।

४. 'सन् १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र ने पिछले संघर्षों को समाप्त न करके उन्हें और प्रज्ज्वलित कर दिया'—इस कथन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए ।

अध्याय २५

प्राच्य-पाश्चात्य विवाद और निस्यन्दन-सिद्धांत[1]

(सन् १८३५-१८५३ ई० तक)

यह अठारह वर्षों का समय भारतीय शिक्षा के इतिहास में बड़े महत्त्व का है। इस समय अंग्रेज विश्व-विजय की ओर अग्रसर हो चले थे तथा अपनी संस्कृति और भाषा को सर्वश्रेष्ठ समझ कर विश्व में उनका प्रचार चाहते थे। लार्ड मैकाले भी इन्हीं विचारों से ओतप्रोत था और भारत आकर उसने ऐसी ही नीति अपना कर भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। अभी तक दो विचार-धाराएँ चल रही थीं—एक प्राच्यवाद का समर्थन करती थी और दूसरी पाश्चात्य का। इन दोनों विचार-धाराओं को हम नीचे समझेंगे।

चित्र नं० १६—लार्ड मैकाले

प्राच्यवादी नीति के समर्थक

कम्पनी के कुछ अधिकारी प्राच्यवादी नीति का समर्थन बहुत पहले से ही करते आ रहे थे। कलकत्ता मदरसा और संस्कृत कालेज बनारस की स्थापना कर हेस्टिंग्ज ने अपनी प्राच्यवादी नीति का परिचय दिया था। मिण्टो भी इसी का समर्थक था। लोक-शिक्षा-समिति में अधिकांश सदस्य प्राच्यवादी ही थे। इनमें एच० टी० प्रिन्सेप और एच० एच० विल्सन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रिन्सेप महोदय प्राच्य दल के नेता और बंगाल के शिक्षा-सचिव भी थे। सन् १८१३ के आज्ञा-पत्र के अनुसार एक लाख रुपए की धनराशि, जो भारतीय विद्वानों के

---

१. Oriental-Occidental Controversy and Downward Filtration Theory.

प्रोत्साहन और भारतीय साहित्य के पुनरुद्धार के लिए दी गयी थी, लोक-शिक्षा-समिति की इच्छानुसार ही खर्च किया जा सकता था। समिति में अधिकांश सदस्य प्राच्यवादी होने के कारण उसने संस्कृत, अरबी और फारसी को ही प्रोत्साहन देना उचित समझा। इन विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए समिति ने यूरोपीय विज्ञान-ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराया और छपवा कर प्रकाशित कराया तथा उन्हें विद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखा। अरबी, फारसी और संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दीं तथा कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज का पुनरुद्धार किया। प्राच्यवादी नीति के समर्थक पाश्चात्य ज्ञान और अंग्रेजी को हेय-दृष्टि से देखते थे। यद्यपि यह भी उनकी राजनीतिक चाल ही थी। राजा राम मोहन राय ने लिखा था कि अंग्रेज हमें संस्कृत, अरबी और फारसी पढ़ाकर मूर्ख बनाना चाहते हैं। प्रिन्सेप का तो यह भी कहना था कि भारतीयों को अंग्रेजी का ज्ञान हो ही नहीं सकता। कुछ प्राच्यवादी अंग्रेजों का विचार था कि अंग्रेजी और पाश्चात्य ज्ञान से भारतीय संस्कृति को धक्का लगेगा और भारतीयों के बिगड़ने का डर है। प्राच्यवादियों का तो यह भी कथन था कि प्राच्य साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता भारतीयों को ही नहीं, वरन् यूरोपीय लोगों को भी है। उपर्युक्त कारणों से प्राच्यवादियों ने भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने पर विशेष बल दिया।

पाश्चात्य नीति के समर्थक

इस दल में अधिकांश कम्पनी के नये अधिकारी थे। उनका जन्म नवीन युग में हुआ था। उस समय इंगलैंड बड़ी तीव्र गति से प्रगति कर रहा था। लगभग सम्पूर्ण विश्व में उसका प्रभाव फैलता जा रहा था। औद्योगिक क्रान्ति के कारण नए-नए आविष्कार हो रहे थे। अतः वे लोग केवल अंग्रेजी को ही सर्वोत्तम भाषा और यूरोपीय ज्ञान को ही उपयोगी ज्ञान समझते थे। अतः उन्होंने अंग्रेजी द्वारा पाश्चात्य विचारों को ही भारतीयों के लिए उचित और कल्याणकारी समझा। उन लोगों का विचार था कि सम्पूर्ण धन पाश्चात्य शिक्षा पर ही व्यय किया जाय। प्राच्य साहित्य में वह शक्ति ही नहीं है जो भारतीयों के स्तर को ऊपर उठा सके तथा उनको प्रकाश दिखा सके।

कुछ लोगों की धारणा है कि इस दल ने भी अंग्रेजी का समर्थन स्वार्थ-सिद्धि के लिए ही किया था, न कि भारतीयों को प्रकाश दिलाने के लिए। ये विदेशी भला भारतीयों के कल्याण और विकास की बात कब सोच सकते थे ? शासन के विस्तार एवं संचालन के लिए अंग्रेजी पढ़े व्यक्तियों की आवश्यकता थी और विलायत से

इतने अंग्रेजों को लाना न तो सम्भव ही था और न उचित ही। भारतीय अंग्रेजी पढ़कर इस कार्य में सहायक होंगे तथा वे जनता और सरकार के बीच मध्यस्थता भी सरलता-पूर्वक कर सकेंगे। इसमें व्यय कम होगा और भारतीय आभारी भी होंगे।

दोनों दलों के मत के अध्ययन से पता चलता है कि दो भिन्न-भिन्न विचारों वाले दल निम्नांकित बातों पर सहमत थे :—

१. वे इस बात पर एकमत थे कि केवल उच्च वर्ग को ही शिक्षा दी जाय, क्योंकि सम्पूर्ण जनता को शिक्षा देने के लिए सरकार के पास पया नहीं है।

२. देशी भाषाओं में पर्याप्त उदार और वैज्ञानिक ज्ञान देने की क्षमता नहीं है और यह पूर्णरूपेण विकसित भी नहीं है। अतः इसे शिक्षा का माध्यम न बनाकर अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम बनाना उचित है।

इन दोनों दलों के अतिरिक्त एक तीसरा दल भी था। यह दल एक उदार शिक्षा की माँग कर रहा था। इसका कथन था कि प्राच्य और पाश्चात्य तथा भारतीय और यूरोपीय ज्ञान का समन्वित रूप ही भारतीयों का उद्धार कर सकेगा। परन्तु यह दल अपना प्रभाव सरकार पर न डाल सका और धीरे-धीरे स्वयं ही मिट गया।

मैकाले[1] तथा पाश्चात्यवादी दल

जिस समय प्राच्यवाद और पाश्चात्यवाद का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था, उसी समय लार्ड मैकाले ने १० जून, सन् १८३४ ई० को गवर्नर जनरल की कौन्सिल के सदस्य के रूप में भारत में पदार्पण किया। मैकाले उच्च कोटि का विद्वान् था। इसकी वाणी एवं लेखनी में अपूर्व शक्ति थी। वह अपने लेखों एवं व्याख्यानों से लोगों में प्राण फूँक देता था। इसके अतिरिक्त वह इंगलैंड से नये विचारों को लेकर आया था। तत्कालीन इंगलैण्ड का प्रभुत्व चारों ओर छाया हुआ था। मैकाले यहाँ पहुँचते ही 'लोक-शिक्षा-समिति'[2] का प्रधान बन बैठा। सरकार ने उसको सन् १८१३ ई० के आज्ञा-पत्र की शिक्षा-सम्बन्धी धारा को स्पष्ट

---

१. Macaulay, Lord.

२. General Committee of Public Instructions.

करने के लिए तथा एक लाख रुपए के व्यय के सम्बन्ध में, उचित परामर्श देने की आज्ञा दी। उसने २ फरवरी सन् १८३५ ई० को अपना प्रतिवेदन[1] कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत किया ।

उसने अंग्रेजी के पक्ष का बलपूर्वक समर्थन किया और प्राच्य भाषा और साहित्य की बड़ी निन्दा की। इस प्रकार शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए उसने अंग्रेजी को ही उपयुक्त बताया। प्राच्य साहित्य के सम्बन्ध में यद्यपि उसे कुछ ज्ञान न था, परन्तु उसे अनुपयुक्त ठहराने के लिए उसको यह भी कहने में संकोच न हुआ कि 'योरोप के किसी अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी पुस्तकें भारत तथा अरब के समस्त साहित्य के बराबर है।'[2] नीचे हम मैकाले द्वारा दिये गये तर्क की ओर संकेत कर रहे हैं :—

अंग्रेजी के पक्ष में मैकाले ने यह भी तर्क दिया था कि भारतीयों को अंग्रेजी से पर्याप्त रुचि है। इस सम्बन्ध में राजा राममोहन राय के प्रार्थना-पत्र का उल्लेख भी उसने किया था। उसने यह भी कहा था कि प्राच्य साहित्य का ज्ञान निःशुल्क दिया जाता है, फिर भी छात्र उधर न जाकर शुल्क देकर अंग्रेजी पढना चाहते हैं।

अंग्रेजी व्यापार की भाषा बन सकेगी और इससे लाभ ही लाभ होगा। इसके अतिरिक्त विदेशों का सम्बन्ध भारत से उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा और यहाँ के योरोपियनों की भाषा भी अंग्रेजी ही है। अतः इसी को माध्यम बनाना श्रेयस्कर है।

मैकाले ने अंग्रेजी के पक्ष में कहा था कि अंग्रेजी की ओर भारतीय रुचि दिखा रहे हैं और यदि रुचि न भी दिखावें तब भी उनके उत्थान के हेतु उनको अंग्रेजी पढ़ाना सर्वथा न्यायोचित है।[3]

मैकाले ने साहित्य की व्याख्या करके बताया था कि साहित्य का तात्पर्य अंग्रेजी से है, न कि संस्कृत, अरबी और फारसी से तथा भारतीय विद्वानों का तात्पर्य संस्कृत, अरबी और फारसी के विद्वानों से न होकर उन भारतीय विद्वानों से है जिन्होंने अंग्रेजी साहित्य और दर्शन का गहन अध्ययन किया है।

---

१. Minute.

२. A single shelf of a good European Library was worth the whole native literature of India and Arabia—Macaulay.

३. It was the duty of England to teach Indians what was good for their health, and not what was palatable to their taste—Macaulay.

मैकाले ने तो यह भी प्रस्ताव रखा था कि हिन्दू और मुसलमानों की न्याय-संहिता बना दी जाय और उसी के अनुसार न्याय किया जाय। इसमें दोनों धर्मों के सिद्धांत निहित हों। उनको संस्कृत और फारसी तथा अरबी पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

भारतवासियों के धर्म में उसने किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। उसने कलकत्ता मदरसा को तोड़ने का भी प्रस्ताव रखा। उसने बताया कि कलकत्ता मदरसा उतना लाभदायक नहीं जितना कि हिन्दू कालेज।

संस्कृत तथा अरबी की पुस्तकों पर पिछले ३० वर्षों में ६० सहस्त्र रुपये का व्यय हुआ था और लाभ एक हजार का भी नहीं हुआ। दूसरी ओर कलकत्ता पुस्तक समाज नित्य प्रति पुस्तकें बेंचकर अपनी जेब गरम कर रहा था। मैकाले ने इस ओर भी कौंसिल का ध्यान आकर्षित किया।

मैकाले का पक्षपात एवं अन्याययुक्त यह विवरण-पत्र एच० टी० प्रिन्सेप के समक्ष रखा गया और उस पर उनका मत माँगा गया। इस विवरण-पत्र को देखकर प्रिंसेप को बड़ा धक्का लगा और उसने मैकाले के लगभग सभी तर्कों के विपक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत किये। परन्तु वह विलियम बैंटिक को अपने प्रभाव में न ला सका और उसे निराश होना पड़ा। वह कलकत्ता मदरसा को बनाए रखना चाहता था, क्योंकि वह हेस्टिंग्ज के विचारों का प्रतीक था। अरबी, फारसी एवं संस्कृत के पक्ष में भी उसने तर्क दिये थे। परन्तु उसके सभी प्रयास विफल हुये। मैकाले की विद्वत्ता तथा समय की माँग से वह टक्कर न ले सका। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक एक उदार एवं प्रगतिशील सुधारक था और भारत आकर उसने यहाँ के आर्थिक, शासन-सम्बन्धी और सामाजिक सुधारों की ओर ध्यान दिया। वह समाज का स्तर ऊँचा करना चाहता था और यह तभी सम्भव था, जब जनता को उचित शिक्षा देकर उसका बौद्धिक विकास किया जाय। बैंटिक भी अंग्रेजी भाषा का पक्षपाती था। उसके अनुसार अंग्रेजी में जो क्षमता है वह किसी अन्य भाषा में नहीं। अतः उसने भी अंग्रेजी को ही प्रश्रय दिया। फलतः प्रिन्सेप का विवरण-पत्र, जो १५ फरवरी सन् १८३५ ई० को रखा गया था, अस्वीकृत किया गया और मैकाले को अपना लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता मिली। इसी समय से भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है।

बैंटिक की स्वीकृति

२ फरवरी सन् १८३५ ई० को मैकाले द्वारा रखे गये प्रस्तावों पर पर्याप्त विचार-विमर्श करने के पश्चात् ७ मार्च, सन् १८३५ ई० को लार्ड विलियम बैंटिक

ने उसकी लगभग सभी बातें मान लीं। मैकाले के प्रस्तावों की स्वीकृति ने २२ वर्षों से निरन्तर चलने वाले संघर्ष को समाप्त कर दिया और कौंसिल के सप्तम प्रस्ताव के अनुसार विलियम बैंटिक ने निम्नांकित घोषणा की :—

(अ) अंग्रेजी सरकार का मुख्य उद्देश्य योरोपीय साहित्य एवं विज्ञान का भारत में पूर्ण रूप से प्रचार होना चाहिए। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए ही शिक्षा-सम्बन्धी सम्पूर्ण धन का व्यय होगा।

(ब) प्राच्य विद्यालयों को बन्द न करके इसी रूप में चलने दिया जाय और वर्तमान अध्यापकों और छात्रों को दिया जाने वाला धन पूर्ववत् जारी रखा जाय। छात्रों के भोजन आदि का उत्तरदायित्व सरकार नहीं लेगी और नए प्रवेश लेने वाले छात्रों को किसी प्रकार की छात्र-वृत्ति नहीं दी जायगी। अध्यापकों की नियुक्ति सरकार के द्वारा हुआ करेगी।

(स) प्राच्य पुस्तकों के मुद्रण एवं प्रकाशन में अधिक रुपये का व्यय हो चुका है। अतः अब उन पर न तो कोई धन ही व्यय किया जायगा और न वे छापी ही जायँगी।

(द) योरोपीय साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होगी और प्राच्य ग्रन्थों का मुद्रण एवं प्रकाशन स्थगित कर देने के परिणाम-स्वरूप बचे हुए धन का व्यय भी अंग्रेजी के प्रसार में ही होगा। अंग्रेजी माध्यम के सम्बन्ध में 'सामान्य शिक्षा-समिति' शीघ्र ही एक रूप-रेखा तैयार करेगी।[१]

अभी तक भारतीय शिक्षा ठोकर खाती एवं मुड़ती हुई अनिश्चित मार्ग पर चलती आ रही थी। भारत सरकार का यह प्रथम प्रयास था जिसने भारतीय शिक्षा के उद्देश्य, साधन और माध्यम को निश्चित करके एक स्थायी रूप प्रदान किया। विलियम बैंटिक बहुत पूर्व से ही अंग्रेजी का समर्थक था। भारत आकर उसको अंग्रेजी की महानता और उपयोगिता का प्रमाण भी मिला। यहाँ की सामाजिक कुरीतियों को वह समाप्त करना चाहता था। राजपूताना में शिशु-हत्या, स्त्री-व्यापार और बंगाल में सती-प्रथा के बन्द करने में उसे राजा राममोहन राय तथा अन्य अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त किए व्यक्तियों से सहायता मिली। विलियम बैंटिक ने सोचा कि 'अंग्रेजी' भारतीयों में नई चेतना, नई स्फूर्ति और नई प्रेरणा लाएगी और उनसे सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में पूर्ण सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

१. Princep's Note—pp 130–131

इन समस्त कारणों से बैंटिक अंग्रेजी के पक्ष में था ही कि मैकाले के प्रस्तावों ने उसके विचारों को और भी दृढ़ कर दिया। उसने शीघ्र ही निर्णय करके अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम घोषित करने के साथ ही साथ प्राच्य ग्रन्थों का मुद्रण एवं प्रकाशन भी स्थगित कर दिया। परन्तु इससे हम उस पर अन्याय का लांछन नहीं लगा सकते, क्योंकि उसने प्राच्य विद्यालयों को पूर्ववत् चलने दिया तथा शिक्षकों और छात्रों के वेतन और छात्रवृत्तियों को जारी रखने की भी आज्ञा देकर अपनी उदारता एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया था। हाँ, उस पर शीघ्र निर्णय का दोषारोपण किया जा सकता है। परन्तु कुछ भी हो, भारत सरकार की ओर से यह प्रथम शिक्षा-घोषणा थी।

भारतीय शिक्षा को मैकाले की देन

विलियम बैंटिक का निर्णय मैकाले के तर्कों पर ही हुआ था। अतः यह कहना युक्तिसंगत होगा कि मैकाले ने ही भारतीय शिक्षा को एक स्थायी रूप दिया। फिर भी मैकाले की तीक्ष्ण आलोचना की गयी है।

मैकाले के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ लोग उसे भारतीय शिक्षा का पथ-प्रदर्शक[1] मानते हैं, तो दूसरे लोग उसे भारत के संकटों और दासता का कारण बताते हैं। परन्तु वास्तव में न तो वह पथ-प्रदर्शक था और न भारत की दासता का कारण। राजा राममोहन राय के प्रार्थना-पत्र के अनुसार लोगों में पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न हो गई थी। भारतीय स्वयं प्राच्य ज्ञान को अनुपयोगी और हेय समझने लगे थे। साथ ही साथ उनका विचार था कि पाश्चात्य ज्ञान से ही देश भर का कल्याण सम्भव है। धर्म-प्रचारकों के प्रयत्न सफल होते जा रहे थे। भारतीय सत्ता तो अंग्रेजों के हाथ में थी ही। कहने का तात्पर्य यह है कि मैकाले के भारत में पदार्पण करने के पूर्व ही शिक्षा में नई चेतना आ गयी थी। हाँ, मैकाले ने सरकार को शीघ्र निर्णय करने के लिए विवश अवश्य कर दिया और यह पूर्व निश्चित था कि निर्णय अंग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य ज्ञान के पक्ष में ही होगा। मैकाले ने केवल अधिक दिन तक अनिश्चित मार्ग पर जाने वाली शिक्षा को शीघ्र ही निश्चित मार्ग दिखलाया। अतः उसको पथ-प्रदर्शक कहना युक्तिसंगत नहीं।

मैकाले सन् १८३६ ई० में लोक-शिक्षा-समिति का सभापति था। इस समिति ने देशी भाषाओं के प्रोत्साहन तथा विकास की ओर जागरूक

१. Torch bearer in the path of progress.

रहने को कहा था।[1] अतः उसको देशी भाषाओं को बाधा पहुँचाने के लिए भी दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। हाँ, भारतीय भाषाओं को गँवारू और अविकसित कह कर उसने उनकी घोर निन्दा की है। भारतीय भाषाओं की निन्दा मैकाले की विद्वत्ता पर धब्बा लगाती है और यह प्रकट करती है कि वह कितना ओछे एवं संकीर्ण विचार का था। इन भाषाओं के सम्बन्ध में उसको किंचित् मात्र भी ज्ञान न था। फिर भी उसने अपनी विद्वत्ता के दम्भ के कारण भारतीय दर्शन, संस्कृत एवं साहित्य की खिल्ली उड़ाई। उसने आवेश में आकर भारतीय एवं अरबी साहित्य को विलायत की एक अलमारी के बराबर कह डाला। भारत ने विश्व को सभ्यता का प्रकाश दिखलाया था। विश्व में जब सभ्यता का अभ्युदय नहीं हुआ था, उस समय भारत में सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। ज्योतिष का ज्ञान भारत ही ने सबको दिया था। औषधि-विज्ञान के सम्बन्ध में भारतीय ऋषि, मुनि तथा वैद्यों का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। फिर भी मैकाले ने भारतीय चिकित्सा-शास्त्र को इंगलैंड के पशुओं के लिए भी अनुपयुक्त कहकर इसकी हँसी उड़ाई।

सम्भवतः उसे वेद, पुराण, उपनिषद् और संस्कृत साहित्य के अक्षुण्य भण्डार का ज्ञान न था जिनकी प्रशंसा अन्य देश के विद्वानों ने मुक्तकंठ से की है। मैकाले ऐसे धुरन्धर विद्वान, धारावाहिक व्याख्यानदाता, और उच्च कोटि के लेखक के मुख से ये बातें अशोभनीय और तुच्छ ही नहीं, वरन् उसके सभी गुणों पर पानी फेर देती हैं।

सन् १८३६ ई० में मैकाले द्वारा अपने पिता को लिखित पत्र से ज्ञात होता है कि वह भारतीय धार्मिक एकता को नष्ट करके फूट का बीजारोपण करना चाहता था। अंग्रेजी शिक्षा देकर मैकाले भारतीयों को अंग्रेज बनाना चाहता था। वह रंग-रूप में काले भारतीयों को वेश-भूषा तथा आन्तरिक विचारों में अंग्रेज बनाना चाहता था। वह अंग्रेजी पढ़ा कर वर्ग-भेद करना चाहता था जिससे अंग्रेज भारत का सदा शोषण कर सकें और उसे अधिक दिनों तक अपने पंजे में फँसाए रख सकें। परन्तु वह यह न समझ सका कि भारतीयों को अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपने धर्म के प्रति अगाध प्रेम था, जो निम्नांकित पंक्तियों से प्रकट होता है :—
"जिसको प्यारी है नहीं निज भाषा निज देश, वह सूकर सा डोलता धरे मनुष्य का भेष।"

---

1. We are deeply sensible of the vernacular languages........ We conceive the formation of vernacular literature to be the common object to which all our efforts must be directed.—Travelyan—On the Education of the People of India, pp. 22–23 (1838).

वह यह भी न जान सका कि तत्कालीन भारत को अंग्रेजी की आवश्यकता थी; परन्तु साथ ही भारतीय भाषाओं का अध्ययन भी नितान्त आवश्यक था।

इतनी तीक्ष्ण आलोचनाओं के पश्चात् भी भारत उसका ऋणी रहेगा। अंग्रेजी पढ़ाकर भारतीयों को अंग्रेज बनाने की उसकी कल्पना तो कल्पना ही रह गयी; परन्तु भारतीयों की दासता की बेड़ी अवश्य काट दी। अंग्रेजी पढ़कर भारतीयों ने उनकी नीति को समझने का प्रयत्न किया, विलायत गए और स्वतन्त्रता का संकल्प करके भारत आए, तत्पश्चात संघर्ष किया और स्वतन्त्रता प्राप्त की।

पाश्चात्य विचारों को देकर उसने भारत का कल्याण ही किया है। तत्कालीन भारत धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों से कूपमंडूकता के पथ पर बढ़ रहा था। दूसरी ओर यूरोपीय देश दिन प्रतिदिन नई दिशा की ओर बढ़ते जा रहे थे। औद्योगिक क्रान्ति के कारण मनुष्य प्रकृति पर अधिकार करता जा रहा था। भारत को भी नए विचारों की आवश्यकता थी। अतः लार्ड मैकाले ने भारत को अंग्रेजी और नये विचारों को देकर भारत की भलाई ही की, न कि बुराई; यद्यपि उसने ऐसा अनजान में ही किया।

लार्ड आकलैंड और प्राच्य-पाश्चात्य विवाद की समाप्ति

लार्ड विलियम बैंटिक के प्रस्ताव से प्राच्य पाश्चात्य विवाद समाप्त न हो सका। यदि बैंटिक कुछ दिन और भारत में रहता तो सम्भवतः कुछ और करता; परन्तु सन् १८३५ ई० में त्याग-पत्र देकर इंगलैंड चला गया और यह वाद-विवाद चलता रहा। बैंटिक के बाद थोड़े समय के लिए सर चार्ल्स मैटकाफ गवर्नर बनाया गया था, परन्तु शिक्षा में कोई परिवर्तन न हुआ। इस संघर्ष का अन्त करने का श्रेय लार्ड आकलैंड को है। बैंटिक के प्रस्थान के पश्चात् प्राच्यवादियों ने शिक्षा के माध्यम तथा अन्य कुछ बातों पर विवाद प्रारम्भ कर दिया। परन्तु चतुर आकलैंड ने २४ नवम्बर १८३९ ई० को एक प्रस्ताव-पत्र के द्वारा इसे समाप्त कर दिया।

लार्ड आकलैंड बड़ा चतुर और दूरदर्शी था। परिस्थितियों का भली-भाँति अध्ययन करने के पश्चात् उसके विचार में इस वाद-विवाद का मूल कारण केवल आर्थिक सहायता[1] जान पड़ी। उसने सोचा कि शिक्षा-सम्बन्धी मद को यदि बढ़ा

---

1. I may observe that the insufficiency of funds assigned by the state for the purpose of public instruction has been amongst the main causes of the voilent disputes which have taken place on the education question.—Selection from Educational Records, Vol. I, pp. 148.

दिया जाय तो यह संघर्ष सदा के लिए समाप्त हो जायगा; क्योंकि प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दलों की आवश्यकताएँ पूरी हो जायँगी और वे संतुष्ट हो जायँगे। इस समस्या को सुलझाने के लिए उसने निम्नांकित आदेश दिये :—

१. संस्कृत और अरबी विद्यालयों को पूर्ववत् चलने दिया जाय, और उनको वही धनराशि दी जाय जो पहले दी जाती थी।

२. आर्थिक सहायता में प्राच्य विद्यालयों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। संस्कृत और अरबी के हेतु व्यय के पश्चात् बचे धन को अंग्रेजी के लिए व्यय किया जायगा।

३. छात्रों की छात्रवृत्तियाँ पूर्ववत् रखी जायँ तथा अधिक संख्या में दी जायँ।

४. पर्याप्त मात्रा में धन देकर योग्य शिक्षकों को इधर आकृष्ट किया जाय।

५. आवश्यक प्राच्य पुस्तकों के प्रकाशन की भी स्वीकृति उसने दे दी और इस कार्य के लिए धनराशि भी निश्चित कर दी।

६. संस्कृत और अरबी के विद्यालयों का मुख्य उद्देश्य प्राच्य शिक्षा-प्रसार ही होगा, परन्तु यदि वे चाहें तो अंग्रेजी की कक्षाएँ भी खोल सकते हैं।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में ३१,००० रु० का व्यय बढ़ गया। परन्तु झगड़ा शान्त हो गया। कम्पनी के संचालकों ने आकलैंड की बुद्धिमता की भूरि-भूरि प्रशंसा की और इस धनराशि की स्वीकृति भी दे दी। प्राच्यवादी दल को आशा हुई और उनका क्षोभ कम हुआ।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या आकलैण्ड ने पाश्चात्य दल को निराश कर उन्हें निन्दित किया? नहीं, प्रत्युत उसने कड़वी औषधि न देकर स्वादिष्ट औषधि देकर अपने लक्ष्य को सिद्ध किया। अपने पूर्ववर्ती लार्डों की भाँति वह भी अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान का प्रसार करना चाहता था। वह केवल उच्च वर्ग को शिक्षित बनाना चाहता था। उसका विचार था कि उच्च वर्ग के शिक्षित हो जाने के पश्चात् शिक्षा छन-छन कर निम्नवर्ग तक पहुँच जायगी। उसने आगरा, इलाहाबाद, बनारस, पटना और ढ़ाका में अंग्रेजी कालेजों का निर्माण भी किया।

इस प्रकार आकलैंड ने प्राच्य-पाश्चात्य संघर्ष को तो हल कर दिया परन्तु दूसरी ओर अपनी नीतिपटुता के कारण भारतीयों का बड़ा अहित किया। जन-

साधारण की शिक्षा उपेक्षित होती गई। अंग्रेजी को निरन्तर प्रोत्साहन मिलता गया। अंग्रेजी साहित्य एवं विज्ञान के प्रचार के लिए एक लाख रुपये से भी अधिक धनराशि देकर पाश्चात्यवादियों को उनके उद्देश्य की पूर्त्ति में बड़ा प्रोत्साहन दिया। लार्ड आकलैण्ड के इन्हीं सिद्धान्तों पर सन् १८७० ई० तक शिक्षा चलती रही।

ऐडम और आकलैण्ड की शिक्षा-नीति में विरोध

गत पृष्ठों में हम कह चुके हैं कि देशी शिक्षा की स्थिति की जाँच के लिए ऐडम की नियुक्ति की गई थी और इस जाँच के सम्बन्ध में उसने तीन प्रतिवेदन उपस्थित किया था।

ऐडम उच्च कोटि का व्यक्ति था। मानवता की भावनाएँ उसमें कूट-कूट कर भरी हुई थीं। वह सच्चे हृदय से मानव की सेवा करना चाहता था। वह भारत का कल्याण चाहता था और इसके लिए जन-साधारण की शिक्षा आवश्यक थी। इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर उसने शिक्षा-सम्बन्धी कुछ प्रस्ताव रखे थे, परन्तु उसकी कामनाएँ कूटनीतिज्ञों के समक्ष पूर्ण न हो सकीं। ऐडम के शिक्षा-सम्बन्धी अधोलिखित सुझाव थे :—

१. शिक्षा मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। अतः शिक्षा सार्वजनिक होनी चाहिए न कि वर्गविशेष की। इस प्रकार उसने शिक्षा निस्यन्दन के सिद्धांत का घोर विरोध किया। उसने कहा कि इस सिद्धांत से सुव्यवस्थित और दीर्घ कालीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली सदैव के लिए अन्धकार के गर्त में चली जायगी तथा उच्च श्रेणी के विद्यालयों के लिए उपयुक्त साधन जुटाने के लिए निम्न श्रेणी के विद्यालयों को प्रोत्साहित करना अनिवार्य है। किसी भवन के ऊपरी भाग को दृढ़ और ऊँचा बनाने के लिए आवश्यक है कि उसकी आधारशिला प्रौढ़ एवं विशाल हो।[१]

२. प्रारम्भिक विद्यालयों को प्रोत्साहन दिया जाय और इन्हीं पर शिक्षा-प्रणाली आधारित की जाय। भारतीयों की आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए ये विद्यालय अत्यन्त उपयोगी एवं उचित हैं। ऐडम ने बताया कि ये विद्यालय प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं और प्राचीन काल से चले आने

---

१. To make the superstructure lofty and firm, the foundations must be broad and deep—Adam's Report, pp. 157–8

वाले ये विद्यालय जन-साधारण की इच्छा के अनुकूल हैं तथा उनमें सुन्दर गुणों का विकास करते हैं। इन्हीं विद्यालयों से जनता का मानसिक एवं चारित्रिक स्तर ऊँचा उठाया जा सकता है। ये विद्यालय भारतीय जनता की प्रत्येक अवश्यकता की पूर्त्ति कर सकते हैं और प्रत्येक दशा में ये ही विद्यालय उपयुक्त हैं। अतः इन्हीं की उन्नति पर ध्यान दिया जाय।

ऐडम महोदय ने इन्हीं सुझावों पर आधारित सात श्रेणियों की एक सुन्दर शिक्षा-प्रणाली प्रस्तुत की परन्तु दुर्भाग्यवश वे सभी प्रस्ताव आकलैंड द्वारा अस्वीकृत हो गए। ऐडम की निम्नांकित योजनाएँ थीं :—

१. परीक्षण के लिए कुछ जिले चुनकर उनकी पूर्ण जाँच कराई जाय।
२. बालकों और शिक्षकों के लिए भारतीय भाषाओं में पुस्तकें लिखवाई एवं प्रकाशित कराई जायँ।
३. जिले की शिक्षा के सुन्दर संचालन एवं देख-रेख के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया जाय।
४. अध्यापकों का दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः नार्मल स्कूलों का निर्माण कराया जाय और वहाँ सुन्दर पुस्तकों के आधार पर बालकों को मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षा देने का पाठ पढ़ाया जाय।
५. नार्मल स्कूलों में छात्राध्यापकों की परीक्षा भी होनी चाहिए।
६. शिक्षकों को इतना वेतन दिया जाय कि वे अपना कार्य सुचारु रूप से चला सकें। ऐसा करने पर ही वे गाँवों में बसकर बालकों को समुचित शिक्षा दे सकेंगे। इसके लिए उन्हें कुछ भूमि आदि भी मिलनी चाहिए।

लार्ड आकलैण्ड ने ऐडम की सारी आशाओं पर पानी फेर दिया। जन-शिक्षा का विकास अवरुद्ध हो गया और वह फिर अधिक दिनों तक उपेक्षित बनी रही। परन्तु वास्तव में इस पाप का भागी मैकाले है। उसने भी इसका विरोध किया था और इसकी तीक्ष्ण आलोचना कर एक बड़ी दूषित रिपोर्ट भेजी थी और उसी के परिणामस्वरूप आक्लैंड ने आते ही आते इसे अस्वीकार कर दिया।

प्राच्य भाषाओं के विद्यालयों के प्रति आकलैंड की उदासीनता

आकलैंड के भारत आने से पूर्व ही बम्बई प्रान्त के कुछ कालेजों में उच्च शिक्षा का सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंग से देशी भाषाओं में अध्यापन का प्रबन्ध था

और यदि प्रोत्साहन मिलता तो यह योजना सफल भी हो सकती थी, परन्तु दुर्भाग्य-वश ऐसा न हो सका और लार्ड आकलैण्ड ने सदा के लिए उसे उपेक्षित बना दिया। भारतीय विद्यालयों का जीर्णोद्धार भी न हो सका और वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गए।

निस्यन्दन-सिद्धांत[1]

वास्तव में इस सिद्धांत का तात्पर्य था कि जन-साधारण में शिक्षा उच्च वर्ग से छन-छन कर पहुँचाई जाय। इस सिद्धांत का मूल कारण क्या था इसके सम्बन्ध में बड़े विवाद हैं। कुछ लोग इसका अर्थ केवल उच्च वर्ग की शिक्षा से लगाते हैं। उनके अनुसार अंग्रेजी सरकार उच्च वर्ग को शिक्षित बनाकर तथा शासन के उच्च पद प्रदान कर उन्हें विश्वास-पात्र एवं स्नेहभाजन बनाना चाहती थी। परन्तु इसका केवल यही अर्थ लगाना उचित नहीं। इसके अतिरिक्त आर्थिक समस्या एवं अन्य साधनों का अभाव भी था।

यह सिद्धांत निम्नलिखित तीन बातों पर आधारित था, जो एक दूसरे के समान न होकर अपना अलग-अलग महत्त्व रखते हैं :—

१. उच्च वर्ग को शिक्षित बनाकर उन्हें राज्य में उच्च पद प्रदान करके शासन को सुदृढ़ बनाना।

२. उच्च वर्ग को अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षित बनाया जाय, क्योंकि इससे उनकी रहन-सहन, आचार-विचार और सभ्यता का प्रभाव निम्न वर्ग पर पड़ेगा। इस प्रकार निम्न वर्ग की शिक्षा का स्वतः प्रबन्ध हो सकेगा।

३. कुछ व्यक्तियों को, चाहे वे उच्च वर्ग के हों अथवा निम्न वर्ग के, शिक्षित बनाकर उनके ऊपर जन-साधारण को शिक्षित बनाने का भार छोड़ देना।

शिक्षा-सम्बन्धी अन्य समस्याओं की भाँति उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजी के समक्ष एक यह भी जटिल समस्या थी कि शिक्षा सार्वजनिक हो या वर्ग-विशेष की। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने यह निश्चित कर लिया कि शिक्षा केवल उच्च वर्ग की होनी चाहिए। इसका प्रमाण हमें सन् १८२७ ई० में कम्पनी के संचालकों द्वारा भेजे गये आदेश और मैकाले के कथन से मिलता है। मैकाले ने कहा था कि

१. The Downwards Filtration Theory.

हमें इस समय ऐसे लोगों को तैयार करना है जो शासन और प्रजा के बीच मध्यस्थ बन सकें तथा रंग-रूप में भारतीय, पर विचारों में अंग्रेज हों।[१]

इतना ही कहकर मैकाले शांत न रह सका। ३१ जुलाई सन् १८३७ ई० को उसने फिर अपने उद्‌गार प्रगट किए। उसने लिखा कि इस समय हमारा उद्देश्य जन-साधारण को शिक्षित बनाना नहीं, अपितु एक ऐसे जन-समूह का उत्पादन करना है जो प्राप्त की हुई शिक्षा को अन्य लोगों में प्रसारित कर हमारी आशाओं को पूर्ण कर सके।[२] १८३९ ई० में बंगाल लोक-शिक्षा-समिति ने भी मैकाले के विचारों का समर्थन किया। उसने भी लिखा था कि हमारा उद्देश्य उच्च और मध्यम वर्ग को ही शिक्षित बनाने का होना चाहिए। ये ही शिक्षित व्यक्ति निम्न वर्ग को भी शिक्षा दे सकेंगे।

धर्म-प्रचारकों ने भी इसी विचार-धारा को लेकर उच्च वर्ग को ही शिक्षित बनाने के लिए विद्यालयों का निर्माण किया था। उनका विचार राजनीतिक न होकर धार्मिक था। उन्होंने सोचा था कि उच्च वर्ग के ही आदर्श पर निम्न और मध्यम वर्ग चलता है। अतः यदि उच्च वर्ग को हम अपना धर्म दे सकें तो निम्न वर्ग को हमारे धर्म के स्वीकार करने में तनिक भी देर न लगेगी। परन्तु वे अपने उद्देश्य में सफलता न प्राप्त कर सके, क्योंकि भारतीयों का धर्म उनके धर्म से किसी प्रकार कम नहीं था। फिर विद्यालय तो शिक्षा के हेतु खुले थे, न कि धर्म के हेतु। परिणामतः धर्म की कक्षायें खाली ही रहीं। निर्धनता के कारण कुछ निम्न वर्ग के बच्चे कभी-कभी उनमें चले जाते थे।

निस्यन्दन-सिद्धांत की असफलता

निस्यन्दन-सिद्धांत से मैकाले का उद्देश्य तो पूरा हो सका, पर शिक्षा का उद्देश्य नहीं। प्रारम्भ में अर्थात् अंग्रेजी पढ़कर भारतीयों के रहन-सहन एवं विचार परिवर्तित हो गये और वे अब जनता से कहीं अधिक दूर चले जाने लगे, क्योंकि उनको सरकारी नौकरी मिल जाती थी और वे अंग्रेजी सरकार के स्नेहभाजन बन जाते थे।

---

१. We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern—a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in morals and in intellect.—Maculay.

२. Stark, H. A. Vernacular Education in Bengal from 1813-1912, p. 55. Calcutta Publishing Company, Calcutta, 1916.

अतः समयाभाव एवं अहंभावना के कारण वे जनता में न जा सकते थे । परिणामतः निम्न वर्ग की शिक्षा उपेक्षित रह गई ।

जन-साधारण की शिक्षा के उपेक्षित रहने का एक कारण यह भी है कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को ही पद मिलते थे और उसे प्राप्त कर वे धन कमाने का भरसक प्रयत्न करते थे । उन्हीं के पास पैसा होता था । अतः उच्च वर्ग के ही पढ़ने की परम्परा चल पड़ी और उन्हीं के बच्चे प्रायः शिक्षा ग्रहण करते थे ।

निस्यन्दन-सिद्धांत की यह नीति अधिक दिनों तक न चल सकी । इसके दो मुख्य कारण थे :—

१. धीरे-धीरे अंग्रेजी विद्यालयों की वृद्धि होती गई और इनकी वृद्धि के कारण अधिक लोग शिक्षित होने लगे । सरकार इतने लोगों को नौकरी नहीं दे सकती थी । अतः उन शिक्षितों ने आजीविका के लिए अंग्रेजी विद्यालयों का निर्माण किया । इस प्रकार अनेक शिक्षकों एवं विद्यालयों के आविर्भाव से जनसाधारण की आवश्यकताएं पूरी हो सकीं ।

२. अंग्रेजी पद्धति में शिक्षित कुछ व्यापक दृष्टिकोण वाले देश-प्रेमी सरकारी नौकरी एवं अन्य प्रलोभनों की ओर आकर्षित न होकर तथा अपने समस्त सुखों को ठुकरा कर भारतीयों में मानवता, सहानुभूति, त्याग एवं देशप्रेम की ज्योति जगाने के लिए क्रियाशील हुए और इस कार्य के लिए स्कूल खोले । परिणामतः जन-साधारण को भी शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ । परन्तु १८७० तक निस्यन्दन-सिद्धांत का प्रभाव बना रहा ।

वास्तव में जन-साधारण को शिक्षित बनाने का श्रेय व्यक्तिगत विद्यालयों को अधिक है । अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों का भी जन-साधारण को शिक्षित बनाने में कम हाथ नहीं, चाहे वह स्वार्थपरता की भावना से हो अथवा परोपकार की भावना से । जन-साधारण की शिक्षा के कारण ही भारत में राष्ट्रीय जागरण की लहर इतनी प्रबल हो सकी और शीघ्र ही देश के कोने-कोने में पहुँच गयी । अतः यदि भारत के पुनरुद्धार का श्रेय इन्हीं विद्यालयों को दिया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

सारांश

१८३५ ई० से १८५३ ई० तक की अवधि भारतीय शिक्षा के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । लार्ड मैकाले ने भारत आकर शिक्षा को एक महत्त्वपूण देन

दी । प्राच्य और पाश्चात्यवादियों का संघर्ष चल रहा था । लोक-शिक्षा-समिति में प्रधानता प्राच्यवादियों की थी और १ लाख रुपये का व्यय भी उन्हीं की इच्छा पर निर्भर था । प्राच्यवादी पाश्चात्य ज्ञान को हेय दृष्टि से देखते थे और भारतीय साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता अंग्रेजों के लिए भी बताते थे ।

पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक प्राय: कम्पनी के नये अधिकारी थे । उन्होंने अंग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य ज्ञान को ही उचित और उपयोगी बताया । दोनों दल वाले वर्ग-विशेष की शिक्षा और शिक्षा के माध्यम पर एक मत रखते थे। दोनों दलों के अतिरिक्त एक तृतीय दल भी था, जो दोनों विचारों का सम्मिश्रण चाहता था।

मैकाले गवर्नर जनरल की कौंसिल का सदस्य बनकर भारत आया और पाश्चात्यवादी दल का समर्थक बना । उसने प्राच्य साहित्य की बड़ी निन्दा की और अंग्रेजी का पक्ष लिया । मैकाले ने कई कारणों से भारतीयों को अंग्रेजी पढ़ाना आवश्यक समझा ।

मकाले के प्रस्तावों से बैंटिक बहुत प्रभावित हुआ । उसने उसकी लगभग सभी बातें मान लीं । यह अन्याय देख कर प्रिन्सेप को बड़ा दुःख हुआ । बैंटिक के घोषणा-पत्र के अनुसार अंग्रेजी सरकार का मुख्य उद्देश्य योरोपीय साहित्य एवं ज्ञान का प्रचार तथा इसकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को बनाना होगा । प्राच्य पुस्तकों का प्रकाशन बन्द कर दिया जायगा तथा प्राच्य विद्यालयों को पूर्ववत् चलने दिया जायगा । परन्तु उनकी आर्थिक सहायता कम कर दी जायगी ।

बैंटिक पहला व्यक्ति था जिसने भारतीय शिक्षा को एक निश्चित मार्ग पर ले चलने का प्रयास किया । बैंटिक की घोषणा का श्रेय मैकाले को ही है, परन्तु वह आलोचना से दूर नहीं जा सकता । उसने प्राच्य साहित्य को सदा के लिए अन्धकार के गर्त में फेंक दिया और भारतीयों को अंग्रेजी रीति-नीति सिखाने का प्रयत्न किया। परन्तु अंग्रेजी पढ़ा कर उसने भारतीयों को स्वतन्त्र भी कराया ।

विलियम बैंटिक के घोषणा-पत्र से प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा-वाद-विवाद समाप्त न हो सका और उसके पश्चात् भी ५ वर्ष तक चलता रहा । इसे समाप्त करने का श्रेय लार्ड आकलैंड को है ।

आकलैंड और ऐडम की शिक्षा-नीति में मतान्तर होने के कारण आकलैंड ने ऐडम के समस्त उचित और लाभदायक प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया ।

देशी विद्यालयों और प्राच्य भाषाओं के प्रति आकलैंड उदासीन रहा और उसने इन्हें पनपने न दिया ।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही निस्यन्दन-सिद्धान्त का अनुभव अंग्रेज कर रहे थे। परन्तु प्रारम्भ में इसका जनसाधारण की शिक्षा पर कोई प्रभाव न पड़ा। कुछ दिनों पश्चात् अंग्रेजी पढ़कर कुछ देशप्रेमियों ने भारत के पुनरुद्धार के लिए तथा कुछ व्यक्तियों ने आजीविका के लिए व्यक्तिगत विद्यालयों का निर्माण किया। इस प्रकार जनसाधारण को शिक्षा सुलभ हो सकी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्राच्य एवं पाश्चात्यवादी नीतियों पर प्रकाश डालिए।

२. 'भारतीय शिक्षा को एक सुव्यवस्थित एवं निश्चित मार्ग देने का प्रथम प्रयास बैंटिक ने किया'––इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिये।

३. 'भारतीय स्वतंत्रता मैकाले की देन है'—सिद्ध कीजिए।

अध्याय २६

सन् १८३५ से १८५३ तक की शिक्षा

सन् १८३५ ई० तक भारतीय शिक्षा के इतिहास में बड़े महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। आकलैण्ड ने अपनी नीति-पटुता के कारण प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा के वाद-विवाद को समाप्त कर दिया था। अतः एक निश्चित मार्ग मिल जाने के कारण शिक्षा की गति में तेजी आने की आशा थी। अतः विभिन्न प्रान्तों की शिक्षा पर नीचे हम विचार करेंगे और देखेंगे कि इस आशा की पूर्ति कहाँ तक हो सकी।

मद्रास

मुनरो ने अपने समय में मद्रास की शिक्षा के लिए सराहनीय प्रयत्न किये थे जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा-प्रगति की कुछ आशा दिखाई पड़ने लगी थी। परन्तु दुर्भाग्यवश मुनरो की मृत्यु हो गयी और संचालक-समिति की सिफारिश के अनुसार जनसाधारण की शिक्षा की अपेक्षा अंग्रेजी प्रसार पर अधिक बल दिया गया। स प्रोत्साहन के समक्ष मुनरो द्वारा स्थापित विद्यालयों की दशा निरन्तर गिरती गयी और १८३५ ई० में उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। इसके पश्चात् जितने भी प्रयास हुए वे नहीं के बराबर थे। सन् १८५३ ई० तक यही क्रम चलता रहा। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १८३५-५३ के बीच मद्रास की शिक्षा-नीति अत्यन्त करुणाजनक अवस्था में रही।

मद्रास प्रान्त में बहुत से प्रारम्भिक विद्यालय व्यक्तिगत रूप में चल रहे थे। परन्तु आर्थिक सहायता बन्द हो जाने के कारण उनकी टिमटिमाती लौ भी बुझने लगी। सन् १८४१ ई० में मद्रास में एक हाई स्कूल स्थापित किया गया। परन्तु इसके पूर्व ही मद्रास में एक अंग्रेजी कालेज तथा प्रान्त के अन्य प्रमुख स्थानों में अंग्रेजी विद्यालयों का निर्माण हो चुका था और बैंटिक के निर्णय के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बन चुकी थी। अतः देशी भाषाओं की शिक्षा प्रायः समाप्त हो गयी। अब सारा व्यय पाश्चात्य शिक्षा पर किया जाने लगा। ऐसी दशा में प्राच्य विद्यालयों और भाषाओं का जीवित रहना सम्भव न था।

सन् १८४१ ई० में मद्रास में एक उच्च विद्यालय खुला था, जिसे उस समय विश्वविद्यालय की संज्ञा दी गयी थी। वहाँ एक विश्वविद्यालय की अत्यन्त आवश्यकता थी। परन्तु उसके लिए उपयुक्त समय न समझ कर यह विचार स्थगित कर दिया गया। जनता की सान्त्वना के लिए सन् १८५८ ई० में एक कालेज-विभाग भी खोल दिया गया। शिक्षा-परिषद् का नाम बदल कर शिक्षा बोर्ड कर दिया गया और उसे १ लाख रुपया शिक्षा-सम्बन्धी व्यय के लिए प्रदान किया गया। बोर्ड ने इस रुपये से १८५३ ई० में कडलूर और १८५५ में राजमहेन्द्री ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थानों पर दो अंग्रेजी स्कूलों का निर्माण किया।

इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक शिक्षा को मिशनरियों से बड़ा सहयोग मिला। व्यक्तिगत प्रयासों में पच्चयप्पा का नाम कभी नहीं भुलाया जा सकता। प्रान्त में शिक्षा-प्रचार के लिए ५० हजार रुपया सरकार देती थी, परन्तु इतनी धनराशि भी पूरी नहीं व्यय की जाती थी और प्रतिवर्ष इसका अधिकांश बचा लिया जाता था। इस १८ वर्ष की अवधि में शिक्षा के व्यय में ३ लाख रुपये की बचत हुई।

बम्बई

सन् १८२३ ई० में स्थापित बम्बई भारतीय शिक्षा-समाज[1] ने बम्बई में शिक्षा-सम्बन्धी बड़े सराहनीय कार्य किए। समिति ने सन् १८४० ई० बम्बई प्रान्त में ११५ प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण कराया। इन विद्यालयों में पढ़ना, लिखना, अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, दर्शन और प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाती थी। इनका वास्तविक रूप और पाठ्यक्रम वर्तमान काल के माध्यमिक स्कूलों की भाँति था। इसके अतिरिक्त ४ अंग्रेजी स्कूलों का भी निर्माण किया गया। ये स्कूल बम्बई, थाना, पनवेल और पूना जिलों में थे। इन विद्यालयों में योरोपीय प्रधानाध्यापक होते थे और वे पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा देते थे।

बम्बई सरकार भी समय-समय पर प्रान्त की शिक्षा पर ध्यान देती रही। सन् १८३७ ई० में पूना संस्कृत कालेज में मराठी की कक्षाएँ भी खोली गईं। अभी तक यह कालेज केवल ब्राह्मणों के लिए था, परन्तु सन् १८३७ ई० में यह सबके लिए कर दिया गया। सरकार पुरन्दर ताल्लुका में ६३ प्रायमरी विद्यालयों की भी स्थापना कर चुकी थी। इन सरकारी प्रारम्भिक विद्यालयों का निर्माण अधिकांशतः तत्कालीन देशी विद्यालयों के आधार पर ही था। इनमें लिखना, पढ़ना तथा साधारण

१. Bombay Native Education Society.

गणित आदि पढ़ाया जाता था। यहाँ के शिक्षक राजकीय कर्मचारी समझे जाते थे। वेतन ३½ रु० से १५ रु० मासिक तक था। १८३७ ई० में चार लाख रुपया व्यय करके बम्बई नगर में एलफिंस्टन इन्सटीट्यूट का निर्माण कराया गया। बम्बई में मुख्यतः मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम रही।

शिक्षा बोर्ड

सन् १८४० ई० में बम्बई भारतीय शिक्षा-समाज को तोड़ कर शिक्षा बोर्ड स्थापित किया गया। इस बोर्ड के सदस्यों की संख्या ७ थी, जिसमें ४ सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते थे और ३ बम्बई भारतीय शिक्षा-समाज के प्रतिनिधि होते थे। इस बोर्ड ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह बड़ी योग्यता और कुशलता के साथ किया। बोर्ड ने सन् १८४२ ई० में बम्बई प्रान्त के सभी विद्यालयों की गणना कराकर ऐडम महोदय की योजना को प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया। परन्तु पाश्चात्य ज्ञान की जिज्ञासा लोगों में उत्तरोतर बढ़ती जा रही थी। अतः बोर्ड ने देशी विद्यालयों को समाप्त कर देना ही उचित समझा और यही निश्चित किया गया।

बोर्ड ने अनुभव किया कि इतने बड़े प्रान्त की शिक्षा का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए इसे कई भागों में विभाजित कर दिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। फलतः १८४२ ई० में इस प्रान्त को तीन भागों में विभाजित कर दिया गया और प्रत्येक भाग में एक योरोपीय निरीक्षक और एक भारतीय उप-निरीक्षक नियुक्त किए गये। ये निरीक्षक और उप-निरीक्षक अपने क्षेत्र के विद्यालयों का निरीक्षण करके उनको आवश्यक निर्देश दिया करते थे। बोर्ड ने २ हजार जन-संख्या वाले सभी गाँवों में एक प्राथमिक विद्यालय के निर्माण करने का निश्चय किया। परन्तु ऐसे विद्यालय तभी स्थापित किए जा सकते थे, जब स्थानीय व्यक्ति विद्यालय के लिए भवन प्रदान करते या छात्र एक आना मासिक शुल्क देने की प्रतिज्ञा करते। बोर्ड ने विद्यालयों में समानता एवं एकता लाने के लिए तथा उनके उचित संचालन के लिए अपने प्रान्त के सभी विद्यालयों के लिए समान नियम बनाया।

शिक्षा का माध्यम

बम्बई में भी शिक्षा के माध्यम का विवाद बंगाल से कम न था। परन्तु बम्बई ने इस दिशा में एक साहसपूर्ण और मजबूत कदम उठाया। बम्बई न तो शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी चाहता था और न संस्कृत तथा फारसी। बम्बई देशी भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में था। बम्बई का माध्यम-सम्बन्धी विवाद बड़ा महत्त्वपूर्ण था और इसकी स्वयं अपनी विशेषता थी। बम्बई ने देशी भाषाओं

को माध्यम बनाने के साथ ही साथ संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी को भी पाठ्यक्रम में उचित स्थान देकर अपनी उदारता और विस्तृत दृष्टिकोण का परिचय दिया।

देशी भाषाओं को अपने विकास के लिए यह सुअवसर प्राप्त होने के थोड़े ही समय पश्चात् सन् १८४३ ई० में सर पैरी शिक्षा बोर्ड के सभापति नियुक्त हुए और देशी भाषाओं के पतन के दिन आ गए। सर पैरी ने अंग्रेजी का पक्ष लिया और अंग्रेजी को ही माध्यम के लिए उचित बताया। मैकाले और आकलैण्ड की भाँति वह भी पाश्चात्य भावनाओं से ओतप्रोत था। सर पैरी ने अंग्रेजी ग्रन्थों का देशी भाषाओं में अनुवाद करने की योजना भी स्थगित करने का प्रस्ताव रखा। सर पैरी के इस पक्षपातपूर्ण प्रस्ताव का कर्नल जर्विस ने तीन भारतीय सदस्यों को साथ लेकर, घोर विरोध किया। अब बोर्ड में दो दल हो गए, एक ओर पैरी और दो अंग्रेज और दूसरी ओर ३ भारतीय और इंजीनियरिंग कालेज के प्रिन्सिपल कर्नल जर्विस। जर्विस[१] का कहना था कि जनसाधारण की शिक्षा उसी माध्यम द्वारा होनी चाहिए जिससे मस्तिष्क परिचित है......देशी भाषाओं को प्रोत्साहन देना हम लोगों का परम धर्म है।...यदि जनता के साहित्य की रक्षा करनी है तो यह उन्हीं का साहित्य होना चाहिए। साहित्य का अधिकांश विषय भले ही पाश्चात्य हो परन्तु इसका देशी भाषाओं से तादात्म्य होना चाहिए और इसका स्वरूप एशियाई होना चाहिए। परिणामतः संघर्ष उत्तरोत्तर उग्र रूप धारण करता गया। इस जटिल समस्या के निदान का कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। अतः विवश होकर बोर्ड ने इस समस्या को सरकार के समक्ष उपस्थित किया। सरकार ने ५ अप्रैल सन् १८४८ ई० को निर्णय किया और सौभाग्यवश सरकार का निर्णय देशी भाषाओं के पक्ष में रहा। परन्तु साथ ही साथ अंग्रेजी पर भी ध्यान देने की इच्छा प्रगट की। सरकार ने देशी भाषा को शिक्षा का माध्यम केवल माध्यमिक शिक्षा के लिए बनाया, और उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी को ही माध्यम रखने का निर्णय दिया।

सरकार के निर्णय से समस्या का निदान न हो सका। दोनों दल अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते रहे और उसे सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे। परन्तु

---

१. General instruction cannot be afforded, except through the medium of a language with which the mind is familier....I conceive it a paramount duty, on our part, to foster the vernacular dialects....If the people are to have a literature, it must be their own. The stuff may be, in a great degree, European, but it must be freely interwoven with homespun materials and the fashion must be Asiatic Richi,eed. 'Minute by Colonel Jervis', pp. 11–13.

इस प्रतियोगिता में देशी भाषाओं के समर्थकों को पीछे रह जाना पड़ा। अंग्रेजी उत्तरोत्तर विकसित होती गई और देशी भाषाओं की उपेक्षा हुई। उस समय व्यय-सम्बन्धी बातों के लिए बम्बई सरकार स्वतंत्र न थी। उसे बंगाल की केन्द्रीय सरकार से सहायता लेनी पड़ती थी। बंगाल की सरकार तो प्रारम्भ से ही अंग्रेजी का पक्ष ले रही थी। वह देशी भाषाओं को कब प्रोत्साहन दे सकती थी। अतः देशी विद्यालयों की व्यय-सम्बन्धी सभी माँगों को बंगाल की केन्द्रीय सरकार अस्वीकार करती रही। प्रान्तीय सरकार से भी देशी विद्यालय पर्याप्त सुविधाएँ प्राप्त न कर सके। केन्द्रीय सरकार ने बम्बई सरकार को अंग्रेजी स्कूलों की ओर अधिक ध्यान देने के लिए संकेत किया।

ऐसी अवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अंग्रेजी स्कूलों का निर्माण हुआ। अहमदाबाद में महिला विद्यालय को आर्थिक सहायता देकर नारी-शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया गया। पूना संस्कृत कालेज और पूना अंग्रेजी स्कूल को सन् १८५१ ई० में एक में मिला कर पूना कालेज नाम दिया गया। अध्यापकों की दीक्षा के लिए पूना कालेज में नार्मल स्कूल भी खोला गया। एलफिंस्टन इन्स्टीट्यूशन में प्रारम्भिक विद्यालयों के अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया गया। सन् १८५३ में जिला विद्यालयों को राजकीय अनुदान देने का नियम बनाया गया तथा ग्रामीणों की शिक्षा के लिए प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि और उच्च विद्यालयों के निर्माण कराने की ओर सरकार अग्रसर हुई।

सन् १८५४ ई० तक देशी विद्यालयों की संख्या और दशा

इस समय तक सारे प्रान्त में देशी भाषा में शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयों की संख्या २१६ तथा इनमें अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या १२ सहस्र से अधिक थी। ये विद्यालय सुव्यवस्थित ढंग से चलकर उचित और उपयोगी शिक्षा प्रदान करते थे। सन् १८५४ ई० में बम्बई सरकार ने गाँवों में चलने वाले विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन की ओर ध्यान दिया और ५० प्रतिशत व्यय का भार वहन करना स्वीकार कर लिया।

बंगाल

अब तक भारत में अंग्रेजी का पूर्ण आधिपत्य स्थापित हो गया था तथा मैकाले, बैंटिक और आकलैंड के प्रयत्नों से अंग्रेजी का बोलबाला हो गया था। अंग्रेजी विद्यालयों का निर्माण होता जा रहा था। सन् १८३५ ई० तक समिति के अन्तर्गत चलने वाले १४ विद्यालयों की संख्या बढ़कर सन् १८३७ ई० में ४८ हो गई थी। इन विद्यालयों में शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या ५,१९६ थी। आकलैंड ने बंगाल की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया और शिक्षा को सुचारु रूप से चलाने

के लिए उसने पूरे प्रान्त को ६ भागों में विभाजित किया और प्रत्येक जिले में एक जिला-विद्यालय का निर्माण कराया ।

व्यक्तिगत प्रयासों से भी शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला । हाजी मुहम्मद मुहसिन ने पर्याप्त धन देकर हुगली कालेज की स्थापना कराई । अंग्रेजी की ज्ञान-पिपासा इतनी बढ़ चुकी थी कि अंग्रेजी विद्यालयों में प्रवेश मिलना बड़ा कठिन था । इसके प्रतिकूल संस्कृत और अरबी विद्यालयों में प्रवेश के लिए अनेकों प्रकार का प्रलोभन देने पर भी छात्र नहीं मिलते थे ।

सन् १८४० ई० से ४३ ई० तक बंगाल की शिक्षा-सम्बन्धी नीति में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए । २० वर्षों से निरन्तर कार्य करने वाली लोकशिक्षा-समिति सन् १८४१ ई० में भंग कर दी गई और सन् १८४२ ई० में इसका स्थान शिक्षा-परिषद्[1] को दे दिया गया । सन् १८४४ ई० में सरकार ने बिना किसी भेदभाव के अंग्रेज़ी पढ़े हुए भारतीयों को राजकीय पदों को प्रदान करने की घोषणा की । इस घोषणा ने जनता के हृदय में अंग्रेजी की जड़ और दृढ़ कर दी । इस प्रकार अंग्रेजी के प्रचार एवं विस्तार में लार्ड हार्डिंज का सहयोग कम नहीं माना जा सकता ।

लार्ड हार्डिंज और शिक्षा

सन् १८४४ ई० में लार्ड हार्डिंज ने १०१ प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण करा कर प्राथमिक शिक्षा को भी प्रोत्साहित किया । इन विद्यालयों में लिखना, पढ़ना, भूगोल, इतिहास, बंगला और गणित आदि विषय पढ़ाये जाते थे । सन् १८४७ ई० में एक नार्मल स्कूल खोल कर अध्यापकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी । इन विद्यालयों में नाममात्र का एक आना मासिक शुल्क लिया जाता था । फिर भी कुछ कारणों से ये स्कूल थोड़े ही दिनों में समाप्त हो गये और १०१ स्कूलों में से सन् १८५४ में केवल २६ विद्यालय ही शेष रह गये ।

चित्र १७—लार्ड हार्डिंज

१. Council of Education.

लार्ड डलहौजी और शिक्षा

लार्ड डलहौजी को शिक्षा से बड़ा प्रेम था। उसने भारत पहुँच कर यहाँ की प्राथमिक, उच्च, व्यावसायिक और नारी-शिक्षा की ओर ध्यान दिया। डलहौजी ने आर्थिक सहायता देकर प्राथमिक स्कूलों को प्रोत्साहन दिया। उसी के प्रयास से सन् १८५४ ई० में ३३ प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण हुआ जिनमें १४०० छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। सन् १८४४ ई० में कलकत्ता हिन्दू कालेज में इंजीनियरिंग विभाग की स्थापना की गयी। उसने नारी-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया और सन् १८४९ ई० में ड्रिंकवाटर बैथ्यून के प्रयास से कलकत्ता में एक महिला विद्यालय खोला गया।

चित्र नं० १८—लार्ड डलहौजी

उच्च शिक्षा के लिए सन् १८४५ ई० में शिक्षा-परिषद् ने एक विश्वविद्यालय के निर्माण की माँग रखी थी। परन्तु संचालकों ने कहा कि अभी इसकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार उनकी यह माँग पूरी न हो सकी।

बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा की माँग दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। यह माँग राजकीय विद्यालयों से पूरी होनी सम्भव नहीं थी। अतः व्यक्तिगत प्रयास भी होने लगे और विद्यालयों की संख्या में आशा से अधिक वृद्धि हुई। धर्म-प्रचारकों ने भी इस ओर बड़े महत्त्वपूर्ण कार्य किए। सन् १८५३ ई० तक पूरे बंगाल में मिशनरियों के २२ विद्यालय निर्मित हो चुके थे।

शिक्षा-परिषद् भी इस दिशा में सराहनीय कार्य कर रही थी। नार्मल स्कूल का निर्माण हो जाने से कुशल और योग्य अध्यापकों का अभाव भी कुछ हद तक दूर हो गया। सन् १८४३ ई० में शिक्षा का पाठ्यक्रम निश्चित हो गया था और उसके अनुसार छात्रों को सुन्दर और उपयोगी पुस्तकें पढ़ाई जाने लगी थीं और सन् १८४४ ई० में विद्यालय-निरीक्षकों की नियुक्ति हो चुकी थी। ये निरीक्षक विद्यालय के सुन्दर प्रबन्ध और उपयोगी शिक्षा के लिए उत्तरदायी थे। सन् १८५४ ई० तक शिक्षा-परिषद् के अन्तर्गत पूरे बंगाल में प्राथमिक विद्यालयों की संख्या १५१ हो गयी थी तथा उनमें शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या १३,१६३ थी। इसके अतिरिक्त १ मेडिकल कालेज, ३ प्राच्य कालेज, ४७ अंग्रेजी विद्यालय तथा

५ एंग्लो-वर्नाक्यूलर कालेज थे। इस समय ३३ देशी विद्यालय संचालित थे और उनमें १,४०० छात्रों को शिक्षा दी जा रही थी। परन्तु इनकी दशा अच्छी न थी। इन सभी प्रकार के विद्यालयों का व्यय ५ लाख ६४ हजार ५ सौ रुपया था।

डा० वैलेन्टाइन और के० एन० बनर्जी के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप भी मातृभाषा शिक्षा का माध्यम न बन सकी। शासन-सत्ता अंग्रेजों के हाथ में थी। अतः अंग्रेजी ही उस महत्त्वपूर्ण पद पर सुशोभित हो सकी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १८३४-१८५३ ई० की अवधि में बंगाल में शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। विद्यालयों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई और शिक्षा का सर्वांगीण विकास हुआ। सरकार ने आर्थिक सहायता देकर इसकी प्रगति में नवीन प्रेरणा और नया उत्साह भर दिया।

उत्तर-पश्चिम प्रदेश

शासन-यंत्र में परिवर्तन हो जाने के कारण उत्तर-पश्चिम प्रदेश बना था। इस प्रदेश के नव निर्माण से पश्चिमोत्तर प्रदेश की शिक्षा का भार भी प्रान्तीय सर कार को सौंप दिया गया। लार्ड आकलैंड के समय में आगरा, बनारस और दिल्ली में कालेज स्थापित हो चुके थे और वे सुन्दर कार्य कर रहे थे। जेम्स थामसन[1] यहाँ का प्रथम लेफ्टीनेन्ट गवर्नर नियुक्त हुआ था। उसका विचार था कि भारतीयों को प्रभावित करने के लिए मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा देना श्रेयस्कर है। इसी निर्णय के अनुसार उसने मातृभाषाशिक्षा-प्रसार की नीति को अपनाया था।

चित्र नं० १६—जेम्स थामसन

थामसन ने एक नयी योजना बनाई थी और वह वास्तव में भारतीयों के हित

---

१. James Thomason.

की थी । उसने अनुभव किया कि नवनिर्मित प्रान्त बहुत पिछड़ा हुआ है और उसने जनता की भावनाओं का अध्ययन निकट से किया था । वह बड़ा चतुर और पारखी था । समय की आवश्यकता को समझ कर ही उसने ऐसा किया था । थामसन ने अपनी शिक्षा-नीति को निम्नांकित बातों पर आधारित किया था :—

१. वर्तमान ग्रामीण विद्यालयों को उचित परामर्श देना एवं बच्चों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए उचित पुस्तकों का वितरण करना । समय-समय पर पुरस्कार एवं वस्त्र-वितरण करना एवं योग्य छात्रों और शिक्षकों को आर्थिक सहायता देना तथा उनका निरीक्षण करके उनको प्रोत्साहन देना ।

२. जिस ग्रामीण क्षेत्र के सम्मानित व्यक्ति कम से कम ५ एकड़ भूमि अध्यापक के जीविकोपार्जन के लिए दे सकें वहाँ विद्यालयों का निर्माण कराना तथा शिक्षा के लिये स्थानीय कर लगाना ।

३. शिक्षा की प्रगति के लिए तथा उसे सुव्यवस्थित करने के लिए शिक्षा-विभाग स्थापित करना ।

इन भावनाओं को क्रियात्मक रूप देने के लिये सन् १८४५ ई० में उसने समस्त जिलाधीशों को आदेश भेजा कि प्रत्येक जिला-अधिकारी का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह जनता को शिक्षा-सम्बन्धी परामर्श देकर जन-सामान्य को शिक्षा ग्रहण करने के लिए उत्साहित करे । उसने यह भी कहा था कि देशी विद्यालय पर्याप्त संख्या में सम्पूर्ण प्रान्त में बिखरे पड़े हैं । अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि वे उन विद्यालयों का जीर्णोद्धार कर उन्हें शक्तिशाली बनायें ।

थामसन को अपनी योजना सफल बनाने के लिये उचित वातावरण भी प्राप्त हो गया था । सौभाग्यवश संचालकों को भी यह नीति अच्छी लगी और उन्होंने इसका समर्थन किया । लार्ड डलहौजी भारत का गवर्नर-जनरल बनकर आ गया था । उसे शिक्षा में अभिरुचि थी । उसने भी थामसन की योजना की प्रशंसा और समर्थन किया और प्राथमिक विद्यालयों के लिए आर्थिक सहायता भी दी । ऐडम द्वारा प्रस्तुत योजना में कुछ संशोधन करके देशी विद्यालयों को प्रोत्साहन देकर उनका परीक्षण करने का प्रयत्न किया गया । आधुनिक प्राथमिक शिक्षा थामसन की ही देन है और इस लिए भारतीय शिक्षा के इतिहास में उनका नाम सदा अमर रहेगा । उनके ही प्रयत्नों के फलस्वरूप देशी विद्यालयों का विकास करना भी सरकार ने अपना कर्त्तव्य समझा ।

अपनी दूसरी योजना के अनुसार थामसन ने उन गाँवों में जहाँ २०० घर थे एक विद्यालय खोलने का प्रस्ताव सरकार के समक्ष रखा था तथा अध्यापकों के जीविकोपार्जन के लिए कम से कम ५ एकड़ भूमि देने का प्रस्ताव भी किया था। यह प्रस्ताव नवम्बर सन् १८४६ ई० में रखा गया था। परन्तु स्वीकृत न हो सका। अत: उन्हें सन् १८४८ ई० में दूसरा प्रस्ताव रखना पड़ा और सौभाग्य से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। इस योजना की स्वीकृति से तहसील स्कूल का निर्माण किया गया और देशी विद्यालयों का जीर्णोद्धार भी किया गया।

तहसील स्कूलों का पाठ्यक्रम, व्यय और अध्यापक

तहसील स्कूलों में लिखना, पढ़ना, हिन्दी, उर्दू, इतिहास, भूगोल और गणित और रेखागणित की शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा उनको मातृभाषा द्वारा ही दी जाती थी। एक प्रधान अध्यापक होता था जिसको दस रुपये से बीस रुपये तक मासिक वेतन दिया जाता था। इसके अतिरिक्त उसको छात्रों से शुल्क भी मिलता था। इन विद्यालयों का श्रीगणेश आगरा, मथुरा, मैनपुरी, अलीगढ़, फर्रुखाबाद, इटावा, बरेली और शाहजहाँपुर से हुआ था। इनके निरीक्षण आदि के लिए मैनपुरी के जिलाधीश स्टुवर्ड रीड विजिटर जनरल नियुक्त किये गये। व्यय के लिए सन् १८५० ई० में सरकार ने ५० हजार रुपया वार्षिक अनुदान देना स्वीकार कर लिया। रीड महोदय ने अपने अधीनस्थ आठों जिलों की जाँच कराई और पता लगाया कि कुल मिलाकर ३,१२७ विद्यालय चल रहे थे। इन जिलों के लिए १,००० मासिक वेतन पर एक विजिटर जनरल नियुक्त किया गया।

हल्काबन्दी विद्यालय का उद्देश्य और व्यय

प्राथमिक विद्यालयों के व्यय का भार वहन करने के लिए थामसन ने स्थानीय कर की बात सोची थी और सन् १८५१ ई० से यह कर लगाना प्रारम्भ भी कर दिया। थामसन के प्रयास से जमींदारों ने अपनी भूमि का आधा प्रतिशत शिक्षा के लिए देना स्वीकार कर लिया और उतनी ही रकम सरकार ने भी स्वीकृत कर दी। इन दोनों प्रकार से एकत्र किया हुआ धन ग्रामीण विद्यालयों के नवनिर्माण तथा उनके संचालन में ही व्यय किया जाता था। इन ग्रामीण विद्यालयों को हल्काबन्दी स्कूल का नाम दिया गया। इस योजना के अनुसार कुछ गाँवों का एक हल्का बना कर उसमें एक स्कूल खोला गया, परन्तु यह ध्यान रखा गया कि ये स्कूल मध्य में होने चाहिये जिससे किसी भी गाँव से इनकी दूरी २ मील से अधिक न पड़े।

ये विद्यालय देशी शिक्षा के विकास में सहायक थे। और ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। इस योजना को कार्यान्वित करने का श्रेय मथुरा के कलेक्टर अलेक्जेण्डर को मिलना चाहिए। सर्वप्रथम यह योजना मथुरा में लागू की गयी थी और शीघ्र ही इसके गुणों को देखकर अन्य पड़ोसी सात जिलों के कलेक्टरों ने भी इसे अपना लिया। सन् १८५४ ई० तक ऐसे विद्यालयों की संख्या ७५८ तक पहुँच चुकी थी तथा इन विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की संख्या १७,००० थी।

थामसन का विचार था कि शिक्षा के सुव्यवस्थित संचालन के लिए शिक्षा-विभाग नितान्त आवश्यक है। अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए थामसन ने सन् १८५० ई० में देशी विद्यालयों के निरीक्षण और सुधार के लिए ८ जिलों में एक योजना कार्यान्वित की जिसमें निम्नलिखित अधिकारी थे :—

१. विजिटर जनरल

२. जिला विद्यालय-निरीक्षक

३. परगना-निरीक्षक

१. **विजिटर जनरल**—इसका स्वरूप वर्तमान काल के शिक्षा-संचालक की भाँति समझा जा सकता है। इसके आधीन ८ जिले होते थे तथा उसे १,००० रु० मासिक वेतन मिलता था। यह पूरे प्रान्त के निरीक्षकों के कार्य तथा नियुक्ति इत्यादि का प्रबन्ध करता था। यह प्रान्त की शिक्षा-सम्बन्धी लगभग सभी बातों के प्रति उत्तरदायी होता था। प्रति वर्ष मई के प्रथम सप्ताह में वह अपने अधीनस्थ सभी विद्यालयों का विवरण सरकार के समक्ष भेजता था और शिक्षा-सम्बन्धी सभी बातों के लिये वह सरकार से लिखा-पढ़ी करता था।

२. **जिला विद्यालय-निरीक्षक**—प्रत्येक जिला में एक जिला विजिटर होता था। इसका वही स्थान था जो वर्तमान काल में जिला विद्यालय-निरीक्षक का है। यह अपने सभी कार्यों के लिए विजिटर जनरल के प्रति उत्तरदायी होता था। जिला-निरीक्षक का कार्य बड़ा महत्त्वपूर्ण था। वह परगना शिक्षकों के कार्यों का निरीक्षण करने के अतिरिक्त समय-समय पर बालकों की परीक्षाएँ लेता, शिक्षकों की योग्यता तथा शिक्षा की प्रगति आदि बातों की जानकारी प्राप्त कर अपने अन्तर्गत सभी विद्यालयों के सम्बन्ध में ब्योरेवार एक वार्षिक रिपोर्ट तैयार करता था। तहसील स्कूलों के प्रति उसको विशेष ध्यान देने का आदेश था। छात्रों को पारितोषिक देकर प्रोत्साहन देने के लिए सरकार उसे ५०० रुपया वार्षिक देती थी। इन कार्यों के अतिरिक्त विद्यालयों को सुविधा पहुँचाने के लिए पुस्तकों के विक्रय का

प्रबन्ध भी उसे ही करना पड़ता था। जिला-निरीक्षक को १०० से २०० रुपये तक मासिक वेतन मिलने के अतिरिक्त पुस्तक-विक्रेताओं से १० प्रतिशत कमीशन भी मिलता था।

३. परगना विजिटर—निरीक्षण-विभाग का सबसे छोटा अधिकारी परगना-निरीक्षक होता था, परन्तु इसी पर पूरा निरीक्षण-विभाग आधारित था। दो, तीन तहसीलों पर एक परगना-निरीक्षक होता था। इसका स्वरूप वर्तमान काल में सहायक उपजिला विद्यालय-निरीक्षक के समान था। परगना-निरीक्षकों का कार्य गाँवों एवं शहरों में दौरा करके शैक्षिक दशा की जाँच करना था। और जिस स्थान पर विद्यालय नहीं होते थे, वहाँ की जनता को शिक्षा का महत्त्व समझा कर उनको उस स्थान पर विद्यालय का निर्माण करने के लिए उत्साहित करना तथा उसके सम्बन्ध में पुस्तकों, शिक्षकों और अन्य आवश्यक बातों की व्यवस्था करना परगना-निरीक्षकों का ही काम था। परगना-निरीक्षक स्कूल चलने वाले स्थानों पर पहुँच कर विद्यालयों की जाँच करते और उस विद्यालय को राजकीय सहायता लेने के लिए समझाने-बुझाने का कार्य भी करते थे। यह सहायता विभिन्न रूपों में हुआ करती थी और सहायता लेना स्वीकार कर लेने पर उस विद्यालय को राजकीय सहायता मिलने लगती थी तथा उसका नाम सहायता-प्राप्त विद्यालयों की सूची में लिख दिया जाता था।

थामसन के कार्यों का मूल्यांकन—आधुनिक शिक्षा-विभाग का आधार-स्तम्भ थामसन की ही योजना है। हाँ, कुछ संशोधन अवश्य हुए हैं। थामसन की योजना बड़ी उपयोगी दीख पड़ी और उससे प्रभावित होकर डलहौजी ने आठ जिलों के अतिरिक्त अन्य २३ जिलों में भी इस योजना को प्रचलित करने के साथ ही साथ बंगाल और बिहार में भी इसी योजना को कार्यान्वित करने का प्रस्ताव रखा।

उच्च शिक्षा

सन् १८५२ ई० में आगरा में एक नार्मल विद्यालय का निर्माण हुआ तथा उसी वर्ष सेंट जौंस कालेज आगरा का भी शिलान्यास हुआ। १८५२ ई० में बरेली स्कूल और १८५३ ई० में बनारस का जयनारायण घोषाल विद्यालय, कालेज में परिवर्तित कर दिये गये। सन् १८५४ ई० में आगरा प्रान्त के विद्यालय की संख्या ३,९२० तक और छात्रों की संख्या ५३,००० तक पहुँच चुकी थी। इस वर्ष तक आगरा, बनारस और दिल्ली के कालेजों में छात्रों की संख्या ९७६ तक पहुँच चुकी थी। इस प्रान्त की शिक्षा-प्रगति को सन् १८५४ ई० के आज्ञा-पत्र के प्रस्ताव से ही

आँका जा सकता है। आज्ञा-पत्र ने छात्रों को छात्रवृत्ति देने तथा इस योजना को अन्य प्रान्तों में भी कार्यान्वित करने का प्रस्ताव रखा था।

पंजाब

१८४९ ई० में पंजाब प्रान्त के निर्माण के समय तक यहाँ शिक्षा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई थी। यहाँ बहुत दिनों से (१) हिन्दू, (२) सिक्ख और (३) मुसलमान तीन प्रकार के स्कूल शिक्षाकार्य में क्रियाशील थे। अधिकांश छात्र मुसलमानों के विद्यालयों में अध्ययन करते थे। सिक्ख और मुसलमानों के विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पंजाब में उर्दू का बोलबाला था और वहाँ स्त्री-शिक्षा भी प्रचलित थी। अमृतसर के नागरिकों ने अंग्रेजी पढ़ने की उत्कट इच्छा प्रगट की और परिणामस्वरूप १८४९ ई० में वहाँ एक अंग्रेजी स्कूल का निर्माण हुआ। इसमें हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकार लाहौर में भी एक स्कूल खुला।

मई सन् १८५४ ई० में सुप्रीम सरकार के समक्ष पश्चिमोत्तर प्रदेश की शिक्षा-योजना यहाँ भी लागू करने के लिए एक प्रस्ताव रखा गया जिसके द्वारा निम्नांकित माँगें की गईं :—

१. ४ नार्मल और ६० तहसील स्कूल खोले जायँ।

२. लाहौर में एक सेण्ट्रल कालेज की स्थापना की जाय।

३. ५० परगना विजिटर, १२ जिला विजिटर और १ विजिटर जनरल नियुक्त किये जायँ।

लार्ड डलहौजी पश्चिमोत्तर प्रदेश की योजना अन्य स्थानों पर लागू करना ही चाहता था और इधर माँग भी की गई। अतः जून सन् १८५४ ई० में कुछ संशोधन के साथ ये प्रस्ताव पास हो गये।

व्यावसायिक शिक्षा[१]

इस समय तक अंग्रेजी साम्राज्य पर्याप्त रूप में विस्तृत हो चुका था और साम्राज्य के विस्तार के कारण प्रत्येक विभाग में बहुत से विशेषज्ञों की; जैसे नहरों, भवनों के निर्माण के लिए इंजीनियरों और ओवरसियरों की, न्याय-विभाग के लिए वकीलों की, स्वास्थ्य-विभाग के लिए चिकित्सकों की आवश्यकता थी।

१. Professional and Vocational Education.

भारत की इस आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए इतने लोगों का विलायत से आना सम्भव नहीं था। अतः अंग्रेजी सरकार ने भारत में व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध किया। परन्तु इस व्यावसायिक शिक्षा का विकास भी स्वार्थवश किया गया था न कि भारतीयों के हित का ध्यान रख कर। इसका भी उद्देश्य भारतीयों को पाश्चात्य साँचे में ढालना और सरकार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना था। सर्वप्रथम सरकार ने चिकित्सा और इंजीनियरिंग कक्षाओं के खोलने का प्रबन्ध किया। इस प्रबन्ध की रूपरेखा नीचे खींची जा रही है।

चिकित्सा-शिक्षा

बंगाल—जीवन में स्वास्थ्य ही सब कुछ है। उस समय शासन-कार्य सम्हालने के लिए बहुत से अंग्रेज भारत आये थे। जलवायु-परिवर्तन के कारण उन्हें चिकित्सा की आवश्यकता पड़ी। भारतीय चिकित्सा प्राचीन परम्परा की थी, जिसे अंग्रेज अनुपयुक्त समझते थे। शल्य-चिकित्सा अप्रचलित थी। सेना के लिए कुशल चिकित्सकों की आवश्यकता थी। अतः इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए सन् १८३५ ई० में कलकत्ता मेडिकल कालेज का निर्माण हुआ। यह मेडिकल कालेज पाश्चात्य ढंग पर चलाया गया और सन् १८४४ ई० में इस कालेज से ४ योग्य व्यक्तियों को चिकित्सा का विशेष अध्ययन करने के लिए इंगलड भेजा गया। अंग्रेजी सरकार द्वारा भारत में यह चिकित्सा का प्रथम प्रयास था। इसके पूर्व कलकता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज में चिकित्सा-विभाग भारतीय ढंग पर खोला गया था। परन्तु कुछ कारणों से यह बन्द कर दिया गया था।

मद्रास—मद्रास में भी सन् १८३५ ई० में एक मेडिकल स्कूल स्थापित किया गया। इसमें भारतीयों के लिए कोई प्रतिबन्ध न था। भारतीय और योरोपीय छात्र दोनों पढ़ते थे। सन् १८५१ ई० में स्कूल का स्तर ऊँचा करके कालेज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

बम्बई—सर्वप्रथम, बम्बई के गवर्नर सर राबर्ट ग्रान्ट ने १८३७ ई० में वहाँ एक मेडिकल कालेज स्थापित करने की बात सोची थी। परन्तु दुर्भाग्यवश अपनी आशा पूर्ण होने के पूर्व ही उनका देहावसान हो गया। परन्तु बम्बई की जनता ने चन्दा एकत्र करके अपने स्वर्गीय गवर्नर की पुण्य स्मृति में एक मेडिकल कालेज की स्थापना करके उनकी इच्छा को सफलीभूत बनाया। सन् १८४५ ई० में कालेज का निर्माण हुआ और सन् १८५४ ई० में इसे इंगलैंड के रायल कालेज आफ सर्जन्स से संबद्ध कर दिया गया।

पाश्चात्य चिकित्सा शिक्षाप्रणाली की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—कम्पनी सरकार आयुर्वेद और यूनानी ढंगों को प्रचलित रखना चाहती थी। परन्तु मैकाले और

बेंटिक की पाश्चात्य नीति ने चिकित्सा-क्षेत्र को भी प्रभावित किया और बंगाल सरकार ने भारतीय चिकित्सा की शिक्षा-पद्धति बन्द करके पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को लागू कर दिया। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में शल्य-चिकित्सा आवश्यक थी। इधर भारतीय छात्र मृत शरीर को छूना भी पाप समझते थे। अतः प्रारम्भ में बड़ी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई। परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी। इस जटिल समस्या को सुलझाने का श्रेय मधुसूदन गुप्त को है। उसने प्रथम बार चीर-फाड़ करके भारतीय छात्रों के मन में एक मनोवैज्ञानिक एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। अब पाश्चात्य चिकित्सा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और छात्र-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

भारतीय छात्रों की अपूर्व क्षमता को देखकर गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल ने १८३९ ई० में यह घोषित कर दिया कि 'भारतीय छात्रों में किसी भी विज्ञान को पढ़ने की अपूर्व क्षमता है और किंचित् प्रयास से ही वे ऐसे विषयों को सीख सकते हैं।'[१]

सन् १८३५ ई० में पूर्वी बंगाल में आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा की शिक्षा संस्कृत और अरबी माध्यम द्वारा दी जाती थी, परन्तु अब उच्च चिकित्सा का माध्यम अंग्रेजी हो गई। मद्रास में प्रारम्भ से ही चिकित्सा-क्षेत्र में अंग्रेजी को माध्यम बनाया गया था। बम्बई में चिकित्सा-शिक्षा-क्षेत्र में स्तर के अनुसार देशी और अंग्रेजी दोनों भाषायें चिकित्सा-शिक्षा का माध्यम थीं।

निर्माण-कला की शिक्षा[२]

बम्बई—निर्माण-कला की शिक्षा का प्रारम्भ चिकित्सा-शिक्षा की अपेक्षा देर में हुआ। सर्वप्रथम 'बाम्बे-नेटिव सोसाइटी' ने १८२४ ई० में एक इंजीनियरिंग कक्षा खोलने की व्यवस्था की। इसमें मातृभाषा द्वारा शिक्षा दी जाती थी। परन्तु उसके पश्चात् सन् १८४४ ई० तक इस दिशा में कोई प्रयास न किया गया। सन् १८४४ में

---

१. 'The fitness of the native intellect for the acquirement of any degree of attainment in every branch of science has proved that the most confirmed prejudices can be overcome by perseverance and tact in those who impart the instruction and by placing objects in a proper light before the youths who present themselves for education.'

Selections from Educational Records, Vol. II, p. 322.

२. Engineering.

एलफिंस्टन कालेज में एक इंजीनियरिंग कक्षा खोली गई। परन्तु इस कक्षा को अधिक सफलता न मिल सकी। छात्र इधर आकृष्ट न हो सके। सम्भवत: इसका कारण यह था कि इसमें शिक्षा प्राप्त किये हुए छात्रों को सरकार अच्छा वेतन न देती थी। सन् १८५४ ई० में सार्वजनिक निर्माण-विभाग में कार्य करने के लिए योग्य व्यक्तियों को प्राप्त करने के उद्देश्य से पूना में एक इंजीनियरिंग तथा यंत्रशास्त्र का विद्यालय[1] स्थापित किया गया।

मद्रास—निर्माण-कला की शिक्षा के सम्बन्ध में यह प्रान्त सदव पीछे रहा। इस प्रान्त में सन् १८५७ ई० तक इंजीनियरिंग की शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था न थी। अत: इसे इस प्रान्त का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। सन् १७९३ ई० से यहाँ एक स्कूल चल रहा था।

बंगाल—सन् १८५४ ई० में कौंसिल आफ एजुकेशन में कलकत्ता प्रेसीडेन्सी कालेज के अन्तर्गत एक इंजीनियरिंग स्कूल खोलने का प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव को एक सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ क्योंकि बंगाल के प्रधान इंजीनियर ने एक इंजीनियरिंग कालेज स्थापित कर जन-कार्य-विभाग में सुधार करने की माँग रखी थी। सौभाग्यवश कम्पनी के संचालकों ने स्वीकृति दे दी और सन् १८५६ ई० में एक इंजीनियरिंग कालेज खोला गया।

पश्चिमोत्तर प्रदेश—अन्य प्रान्तों की भाँति यहाँ भी निर्माण-कला की शिक्षा का सर्वथा अभाव था। रिचे लिखता है कि सन् १८४५ ई० में सहारनपुर में एक इंजीनियरिंग कक्षा का आविर्भाव हुआ और थामसन के प्रयास से सन् १८४७ ई० में ही इसने एक कालेज का रूप धारण कर लिया। दुर्भाग्यवश थामसन के असामयिक निधन के कारण यह कालेज उस सीमा तक न पहुँच सका जितना वह चाहता था। सन् १८५३ ई० में यह कालेज थामसन कालेज, रुड़की के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज विकसित हो कर विश्वविद्यालय बन गया है।

कानून की शिक्षा

भारतीयों को उचित न्याय देने के लिये हिन्दू और मुस्लिम कानून के विशेषज्ञों की आवश्यकता थी और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना हुई थी। सन् १८४२ ई० में कलकत्ता हिन्दू विद्यालय में कानून की शिक्षा के लिये एक प्रोफेसर का पद स्वीकृत हुआ और

---

१. Mechanical School.

इसी सन् में मद्रास और बम्बई में भी एक आचार्य का पद स्वीकृत हुआ। परन्तु ये ओस की बूँदें भारतीयों की तृष्णा को शान्त न कर सकीं।

अन्य व्यावसायिक शिक्षा-संस्थाएँ

उपर्युक्त व्यावसायिक शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य शिक्षा-संस्थाएँ भी थीं जो निम्नांकित स्थानों पर थी :—

१. मद्रास में मेजर मेटलैण्ड ने सन् १८४० ई० में एक अस्त्र-सम्बन्धी व्यावसायिक विद्यालय का निर्माण किया था।

२. डा० हन्टर ने सन् १८५० ई० में मद्रास में एक औद्योगिक कला-विद्यालय[1] स्थापित किया। इसके दूसरे वर्ष ही उसने एक औद्योगिक स्कूल और खोला जिसका उद्देश्य स्थानीय औद्योगिक संस्थाओं को उन्नत बनाना तथा कारीगरी आदि की शिक्षा देना था। सन् १८५५ ई० में दोनों संस्थाओं को एक में मिलाकर सरकार ने सारा प्रबन्ध स्वयं ले लिया।

बम्बई में कला और उद्योग का एक स्कूल निर्मित करने के लिये विख्यात व्यवसायी जमशेद जी जीजीभाई ने एक लाख रुपया दान दिया। इसी रुपये से सन् १८५६ ई० में जे० जे० आर्ट्स स्कूल बम्बई का निर्माण हुआ।

कुछ अंग्रेजों तथा भारतीयों का शिक्षा में योग

आधुनिक शिक्षा के निर्माण में सरकार और धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नों के अतिरिक्त कुछ वैयक्तिक प्रयास भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन वैयक्तिक प्रयासों में व्यवसायियों का विशेष हाथ रहा। उन्होंने शिक्षा-प्रसार का कार्य समाज-सेवा तथा अपनी अभिरुचि के कारण किया। उनमें से कुछ धर्म-प्रचारकों की धार्मिक शिक्षा का समर्थन करते हैं और कुछ इस संकीर्णता से विलग हैं। यद्यपि इन सभी अंग्रेज अधिकारियों एवं शिक्षा-प्रेमियों के व्यक्तिगत प्रयास व्यापक नहीं हैं, फिर भी उनकी अपनी-अपनी विशेषता है तथा भारतीय शिक्षा के इतिहास में उनका नाम आदरणीय रहेगा। व्यक्तिगत सहयोग देने वाले व्यक्तियों के प्रयास की ओर आगे संकेत किया जा रहा है :—

---

१. Industrial Arts School.

प्रोफेसर पैट्टन[1]

बम्बई के एलफिंस्टन कालेज के सुप्रसिद्ध प्राध्यापक प्रो० पैट्टन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने कालेज में एक साहित्य तथा विज्ञान सोसाइटी का संगठन कर समय-समय पर साहित्यिक एवं वैज्ञानिक समस्याओं पर वाद-विवाद कराना प्रारम्भ किया। इसकी उपयोगिता और कार्यों के कारण शीघ्र ही इसका क्षेत्र विस्तृत हो गया और अब इसका कार्य केवल साहित्यिक और वैज्ञानिक समस्याओं पर विचार-विमर्श ही न रहकर मराठी और गुजराती माध्यम द्वारा शिक्षा-प्रसार भी हो गया। नारी-शिक्षा को प्रोत्साहन देने वाले व्यक्तियों में प्रोफेसर पैट्टन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। प्रारम्भिक काल में नारी-शिक्षा के प्रचार के लिये इस सोसाइटी के सदस्य अवैतनिक शिक्षण-कार्य करते थे। सन् १८५४ ई० में सोसाइटी की अध्यक्षता में ९ कन्या-पाठशालाएँ चल रही थीं। आज भी प्रो० पैट्टन की यह परम्परा सोसाइटी द्वारा जीवित रखी गयी है।

प्रोफेसर पैट्टन ने व्यक्तिगत चेष्टाओं को प्रोत्साहित करने में सबसे अधिक सहयोग दिया है। इनका विचार था कि भारतीय शिक्षा का कल्याण केवल धर्म-प्रचारकों तथा सरकार के प्रयत्नों द्वारा सम्भव नहीं। अतः व्यक्तिगत संस्थाओं का नवनिर्माण कर भारतीयों को शिक्षा-कार्य अपने हाथ में लेने का सुअवसर प्रदान किया जाय।

जे० ई० डी० बेथ्यून[2] (१८०१-१८५१)

बेथ्यून सन् १८४८ ई० में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति का कानूनी सदस्य बनकर भारत आया था। इसको स्त्रियों की शिक्षा से विशेष रुचि थी। अतः भारत में पदार्पण करते ही इसने इस ओर ध्यान दिया। उस समय कम्पनी सरकार नारी-शिक्षा के प्रति उदासीन थी। अतः अधिकारी के रूप में बेथ्यून नारी-शिक्षा के लिये कुछ न कर सकता था। बेथ्यून यह भी समझता था कि भारत के लब्ध-प्रतिष्ठ हिन्दू धार्मिक विद्यालयों में, धर्म पर बल देने के कारण, अपनी कन्याओं को नहीं भेज सकते थे। अतः बेथ्यून ने अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व एवं व्यय पर एक असाम्प्रदायिक कन्या-पाठशाला का निर्माण कराने का निश्चय किया।

---

१. Prof. Patton

२. J. E. Drinkwater Bethune.

अपने विचारों को कार्यरूप में परिणित करने के लिये बेथ्यून ने २९ मार्च सन् १८५० ई० को लार्ड डलहौजी को एक पत्र लिख कर एक कन्या-पाठशाला खोलने का अपना निर्णय बतलाया। अपने पत्र में बेथ्यून ने पाठशाला खोलने का उद्देश्य और उसके विषयों की चर्चा भी की थी। उसने लिखा कि यह विद्यालय धर्म की शिक्षा से परे होगा तथा इसमें विशेषतया बंगला तथा सरल, सुबोध और आकर्षक विषय रखे जायँगे। अंग्रेजी भी रखी जायगी, परन्तु उसकी शिक्षा उन्हीं बालिकाओं को दी जायगी जो इच्छा प्रकट करेंगी।[1]

चित्र नं २०—जान इलियट ड्रिंकवाटर बेथ्यून

उपर्युक्त प्रयासों के परिणामस्वरूप मई सन् १८४९ ई० में बेथ्यून का कन्या-पाठशाला कलकत्ता में निर्मित हो गया और प्रवेश-संख्या में उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक वृद्धि होने लगी। बेथ्यून की कन्या-पाठशाला से प्रेरणा प्राप्त कर कई भारतीयों ने भी कन्या-पाठशालाओं का निर्माण कराया। जब नारी-समाज के कल्याण के लिये बेथ्यून की आवश्यकता थी, तब दुर्भाग्यवश १८५१ ई० में वह इस संसार से सदैव के लिये उठ गया। उसके असामयिक निधन के कारण नारी-शिक्षा को बड़ा आघात पहुँचा। उस व्यक्ति ने नारी-शिक्षा के लिये अपनी मृत्यु के पूर्व अपनी सारी सम्पत्ति अपने विद्यालय के नाम लिख दी थी। बेथ्यून की पुण्य स्मृति में इस विद्यालय का नाम 'बेथ्यून कन्या-पाठशाला' रख दिया गया और सम्पूर्ण प्रबन्ध लार्ड डलहौजी ने अपने हाथ में ले लिया।

इस पुण्य कार्य में बेथ्यून को निम्नांकित व्यक्तियों से सहयोग प्राप्त हुआ था :—

१. बाबू रामगोपाल घोष (एक सुप्रसिद्ध व्यापारी और बेथ्यून को इस कार्य में प्रेरणा देने तथा विद्यालय स्थापित हो जाने पर छात्राओं को प्रवेश कराने वाले)

२. दक्षिणा रंजन मुकर्जी (इन्होंने १०,००० रु० की लागत की भूमि देकर विद्यालय की बड़ी सहायता की)।

---

१. English was to be taught to those only whose parents wished it, all were to be instructed in Bengali and in plain and fancy work—Sharp : Selections from Educational Records, Vol. II, p. 57.

३. पं० मदन मोहन तारकालंकार (यह संस्कृत कालेज के अध्यापक थे। इन्होंने दो छात्राओं को भेजकर तथा अपने अवकाश के समय को देकर कन्या-पाठशाला के संचालन में अपूर्व सहयोग दिया)।

इनके अतिरिक्त अन्य कई व्यक्तियों ने पाठशाला के निर्माण एवं संचालन में बड़ा सहयोग दिया। बेथ्यून ने उनके सहयोग का स्वागत किया और उनके प्रति हृदय से आभार प्रकट किया।

डेविड हेयर[1] (१७७५-१८४२)

व्यक्तिगत प्रयासों में डेविड हेयर का नाम अग्रगण्य है। भारतीय शिक्षा का इतिहास उसका सदैव ऋणी रहेगा। यद्यपि वह बहुत विद्वान न था, परन्तु शिक्षा से विशेष प्रेम रखता था और शिक्षा-प्रसार के लिए उसने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया। वह सन् १८०० ई० में भारत आया और १५ वर्षों में पर्याप्त सम्पत्ति पैदा की। परन्तु इतना धन कमा कर उसने स्वदेश न लौटकर भारत में ही रहकर अच्छे और पुनीत कार्यों के लिए अपना धन और जीवन लगाने का निर्णय किया। उसने मुद्रणालय की स्वतन्त्रता, न्यायाधीशों द्वारा अभियोगों की सुनवाई, तथा अंग्रेजी को राज्यभाषा बनाने पर बल दिया तथा इसके लिए पर्याप्त धन भी व्यय किया।

वह भारतीय शिक्षा के इतिहास में (१) सर्व-प्रथम शिक्षा-प्रसार के लिए तथा (२) शिक्षा को असाम्प्रदायिक[2] रूप देने के लिए प्रसिद्ध है। वह कहा करता था कि भारत में सभी प्रकार के साधन उपलब्ध हैं और भारतीयों में किसी भी सभ्य देशवासियों से कम योग्यता नहीं। वे परिश्रमी एवं बुद्धिमान हैं। कुशासन के कारण उनका सब कुछ अन्धकार में चला गया है। अतः उनका जीर्णोद्धार करने के लिए पाश्चात्य साहित्य एवं ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।[3]

---

१. David Hare.

२. Secular form.

३. He used to say that "India was teeming with productions of all kinds, that her resources were inexhaustible, that her people were intelligent and industrious and possessed of capabilities, if not superior, at least equal, to those of other civilized inhabitants of the world and that centuries of misrule and oppression had completely destroyed her own learning and philosophy and buried this land in almost total darkness. To improve her condition, nothing appeared to him more essential than a dissemination of European learning and science among her people"—Hampton, H. V. Biographical studies in Modern Indian Education, p. 60.

भारतीन शिक्षा के इतिहास को उसने एक नवीन शिक्षा-प्रणाली दी। वास्तव में आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात करने का प्रथम प्रयास उसी ने किया था। धर्म-प्रचारकों की भाँति भारतोद्धार के लिए वह अंग्रेजी को आवश्यक समझता था, परन्तु धार्मिक शिक्षा से परे। इन्हीं विचारों को ध्यान में रखकर डेविड हेयर ने भारतीय साहित्य तथा अंग्रेजो साहित्य एवं विज्ञान की शिक्षा देने वाले अंग्रेजी विद्यालयों की आवश्यकता समझी। कलकत्ता का हिन्दू विद्यालय उसी के प्रयास का फल था। उसने सरकार से उस विद्यालय के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त की। इस विद्यालय का उद्देश्य हिन्दू बालकों को अंग्रेजी की शिक्षा प्रदान करना था। इसकी सम्पूर्ण व्यवस्था कमेटी के हाथ में थी और इसे असाम्प्रदायिक ढंग पर चलाने का प्रयास किया गया। आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह विद्यालय कम्पनी सरकार के हाथ में चला गया और १८५४ ई० में वह प्रेसीडेन्सी कालेज में परिवर्तित कर दिया गया।

चिकित्सा-शिक्षा में भी उसे अत्यधिक रुचि थी और कलकत्ता मेडिकल कालेज को प्रसिद्ध बनाने में उसने बड़ा सहयोग दिया। अपनी अपूर्व सेवाओं के कारण सन् १८३७ ई० में वह मेडिकल कालेज का मंत्री नियुक्त किया गया था। इसके अतिरिक्त उसने नारी-शिक्षा को भी बड़ा प्रोत्साहन दिया। प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में भी उसकी सेवाएँ सराहनीय हैं। कलकत्ता के निकट वह एक प्रारम्भिक विद्यालय चला रहा था और उसके व्यय का सारा भार स्वयं वहन करता था।

डेविड ने प्राच्य भाषाओं की बड़ी निन्दा की और उन्हें अत्यन्त अनुपयुक्त बतलाया। परिणामतः प्राच्य भाषाएँ अलग कर दी गईं इससे उसका बड़ा विरोध हुआ। परन्तु शीघ्र ही उसकी योजनाओं के लाभ प्रदर्शित हो गए और विरोध शान्त हो गया। असाम्प्रदायिकता का सिद्धांत अपना कर सरकार धार्मिक भावना से तटस्थ रह सकी और अंग्रेजी पढ़कर सरकारी सेवाओं के लिए योग्य अधिकारी प्राप्त होने लगे। वास्तव में आधुनिक शिक्षा में असाम्प्रदायिकता की भावना की देन का श्रेय डेविड हेयर को ही है।

इस प्रकार जब डेविड हेयर तन, मन और धन से भारतीयों की सेवा में व्यस्त था तभी सन् १८४२ ई० में इस संसार से सदैव के लिए चल बसा। उसके असामयिक निधन से भारतीय शिक्षा की अपूर्ण क्षति हुई।

मोट स्टुआर्ट एलफिंस्टन[१] (१७७९-१८५९)

इसने भी भारतीय शिक्षा में पदाधिकारी के रूप में विशेष सहयोग दिया। बाम्बे नेटिव एजुकेशन सोसाइटी को इसने आर्थिक सहायता देना स्वीकार कराया।

१. Mountstuart Elphinstone.

इसकी अध्यक्षता में ही रहकर सोसाइटी इतने सराहनीय कार्य कर सकी। इसका विवरण पीछे दिया जा चुका है।

भारतीय प्रयास

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक भारतीय शिक्षा-प्रसार के प्रति उदासीन रहे। कारण यह था कि समय-समय पर भारत पर आक्रमण होते रहे और शासन-सत्ता अपनी सुविधा के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध करती रही और उनके सामने भारतीयों की वास्तविक विचारधाराएँ सफल न हो सकती थीं। अंग्रेजी सरकार भी अंग्रेजी साहित्य एवं विज्ञान का प्रचार चाहती थी। ऐसी स्थिति में उनके विचार न सफल हो सकते थे और न वे अंग्रेजी को अपना सकते थे। इनके अंग्रेजी के विरोध के कारण धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक थे :—

१. सर्वप्रथम कारण धार्मिक था। पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान के प्रति भारतीयों के विचार संदिग्धपूर्ण थे। उनका विश्वास था कि नवीन प्रणाली में शिक्षित युवक ईसाई बन बैठते हैं।

२. दूसरा कारण सामाजिक था। भारतीयों की धारणा थी कि अंग्रेजी पढ़कर भारतीय समाज से बहुत दूर चले जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे अपने को ऊँचा समझने लगते हैं तथा नौकरी में व्यस्त हो जाने के कारण उन्हें समयाभाव रहता है। इसके अतिरिक्त उनमें ऐसे गुणों का संचार हो जाता है जो भारतीय समाज के लिए हितकर और शोभनीय नहीं होते।

३. संसार में रुपये का बड़ा महत्त्व है। किसी भी कार्य को सफल बनाने के लिए प्रमुखतया रुपए की आवश्यकता होती है। अंग्रेजी की खर्चीली शिक्षा वे ही व्यक्ति दिला सकते थे जिनकी आय अधिक थी।

४. अंग्रेजी पढ़े भारतीयों को सरकारी नौकरी मिल जाने के कारण वे शिक्षक बनना उचित नहीं समझते थे, क्योंकि इस व्यवसाय में न तो अधिक पैसा ही था और न सम्मान ही। अतः यदि कुछ लोग अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में भी थे तो भी वे विद्यालय न चला सकते थे। उनका यह भी विश्वास था कि विद्यालयों में प्रधानाध्यापक यूरोपियन ही होना चाहिए और इसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी, जो उनके सामर्थ्य के बाहर था।

५. भारतीय जनता राजनीतिक दृष्टिकोण से भी अंग्रेजी का विरोध कर रही थी। वह अपनी भाषा को छोड़ कर विदेशी भाषा को अपनाना नहीं चाहती थी।

उपर्युक्त कारणों के परिणामस्वरूप जनता के जागरूक व्यक्तियों ने भी मौन मार्ग ही ग्रहण किया और यही कारण है कि १८५४ ई० तक भारतीय प्रयास नगण्य था। फिर भी किसी भी देश, काल और परिस्थिति में दार्शनिकों, धार्मिकों और समाज-सुधारकों का सर्वथा अभाव नहीं रहता। अतः यहाँ भी उस समय राजा राममोहन राय, जगन्नाथ शंकरसेत और महात्मा फूले ऐसे उच्च विचारक, समाज सुधारक और नई प्रेरणा देने वाले व्यक्ति विद्यमान थे। नीचे उनके कार्यों का हम उल्लेख कर रहे हैं :—

आधुनिक शिक्षा के जन्मदाता राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय (१७७२-१८३३) ने अपना लगभग सम्पूर्ण जीवन मातृभूमि की सेवा में अर्पित कर दिया। भारतीय समाज के सर्वांगीण सुधार का उद्देश्य लेकर उन्होंने सराहनीय कार्य किए। वास्तव में उनकी कल्पना और उनके विचारों को उनकी मृत्यु के पश्चात् सफलता मिली।

राजा राममोहन राय के प्रयत्नों से भारतीय जीवन में नई चेतना, नया उत्साह और नयी प्रेरणा जागृत हुई। राजा राममोहन राय ने अनुभव किया कि भारतीयों की ज्ञान-प्राप्ति की रीति शिथिल हो गयी है और वे कूपमंडूक होते जा रहे हैं। ऐसी दशा में भारत का पुनरुद्धार सम्भव नहीं है। अतः पाश्चात्य ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पाश्चात्य ज्ञान के समक्ष राजा राममोहन राय ने मुख्य ज्ञान की उपेक्षा की। वे दोनों का समन्वय कर एक नवीन मार्ग द्वारा भारतीय संस्कृति का विकास करना चाहते थे। उनका उद्देश्य किसी भी दशा में भारतीय संस्कृति का ह्रास करना नहीं था।

राजा राममोहन राय संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने संस्कृत और अरबी की अनुपयोगिकता और अव्यवहारिकता बताकर संस्कृत और अरबी के समर्थकों का घोर विरोध किया। यद्यपि इन विचारों को जनता के समक्ष बहुत पूर्व ही रखा गया था, पर विदेशी धर्म-प्रचारकों का उतना प्रभाव न पड़ा जितना की राजा राम-मोहन राय का।

राजा राममोहन राय धुरन्धर विद्वान थे ही और उन्होंने अपनी विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता और आचार-विचार के द्वारा इंगलैंड को भारतीय संस्कृति की क्षमता

का ज्ञान कराया था। अंग्रेजों को इस बात पर सहमत भी होना पड़ा। तत्कालीन प्रचलित देशी भाषाओं की सुरक्षा और विकास का श्रेय भी राजा राममोहन राय को ही मिलना चाहिए। इन्होंने बंगला में स्वयं कविताएँ, गद्य, लेख और पुस्तकें आदि लिख कर उसे विकास की ओर उन्मुख किया।

नारी-शिक्षा तथा सुधार के लिए नारी-समाज राजा राममोहन राय का सदैव ऋणी रहेगा। हिन्दुओं में स्त्री-शिक्षा हेय दृष्टि से देखी जाती थी। परन्तु इन्होंने उनके इन संकीर्ण विचारों को दूर कर उन्हें एक व्यापक दृष्टिकोण दिया। मैकाले का कानूनी सदस्य बनकर भारत आना राजा राममोहन राय के ही प्रयत्नों का फल था।

ब्रह्म-समाज की स्थापना कर राजा राममोहन राय ने धार्मिक क्षेत्र में बड़ी सफलता प्राप्त की। उन्होंने सभी कार्यों का अध्ययन किया था। वे एक व्यापक दृष्टिकोण रखकर तत्कालीन हिन्दू धर्म की व्यर्थ बातों को दूर करना चाहता था। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने बताया है कि इस ब्रह्म-समाज के द्वारा उन्होंने जनता से व्यापक दृष्टिकोण और उदार हृदयता को अपनाने का अनुरोध किया था। वास्तव में सत्यता उसी में है जो सबका आदर करता है और सबकी अच्छी बातों को स्वीकार करता है।[1]

इस प्रकार राजा राममोहन राय ने पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान के प्रति भारतीयों को उत्साहित कर भारत का बड़ा कल्याण किया है। राष्ट्र-निर्माताओं में वे अग्रदूत थे। वे भारत को शिक्षित, सांस्कृतिक और सभ्य बनाना चाहते थे और उन्होंने इस दिशा में सराहनीय कार्य भी किये।

जगन्नाथ शंकरसेत (१८०३-१८६५)

जगन्नाथ शंकरसेत की बम्बई प्रान्त में वे ही सेवाएँ हैं जो राजा राममोहन राय की बंगाल में। बम्बई के एक समृद्धि परिवार में जन्म लेकर भी ऐश्वर्य और वैभव की ओर ध्यान न देकर उन्होंने समाज-सेवा को ही अपना उद्देश्य बनाया। आगे लिखे कारण से उनका नाम भारतीय शिक्षा के इतिहास में अमर रहेगा :—

---

१. He extended wide his heart, and united Hindu, Mussalman and Christian there, for in the expanse of his heart there was no lack of space for any one of them. In this it was the real heart of India that he revealed and expressed in himself her truest character. For the truth of India is in the man who honours all and accepts all in his heart—The Father of Modern India p. 232.

१. उन्होंने असाम्प्रदायिक शिक्षा पर बल दिया ।

२. उनका विचार था कि भारत के जीर्णोद्धार के लिए अधिक विद्यालयों की आवश्यकता है और यह कार्य केवल सरकार से नहीं हो सकता । अतः व्यक्तिगत संस्थाओं का संगठन अत्यन्त आवश्यक है ।

३. इन विद्यालयों का संचालन भारतीयों द्वारा होना चाहिए ।

यद्यपि जगन्नाथ शंकरसेत अंग्रेजी साहित्य और पाश्चात्य ज्ञान के बड़े प्रेमी थे, फिर भी उन्होंने उसका विरोध किया । उनके विचारों के अनुसार भारतीयों के लिए संस्कृत भाषा और भारतीय साहित्य का ज्ञान नितान्त आवश्यक था । वे पाश्चात्य ज्ञान का प्रचार एवं विस्तार मराठी भाषा द्वारा करना चाहते थे, न कि अंग्रेजी द्वारा । अपने घर में एक कन्या-पाठशाला को स्थान देकर तथा अपनी पुत्री को उस विद्यालय में प्रवेश दिला कर नारी शिक्षा के प्रति अपने उदार विचारों का परिचय दिया । इसके अतिरिक्त वे १८४५ तक 'बम्बई नेटिव सोसाइटी' के सदस्य रहे और फिर १८५५ ई० तक बोर्ड आफ एजुकेशन के सदस्य होते रहे तथा बम्बई विश्वविद्यालय की सिनेट के तो वे आजीवन सदस्य रहे ।

महात्मा फूले (१८२८-९०)

महात्मा फूले का जन्म पूना के एक माली परिवार में सन् १८२८ ई० में हुआ था । इन्होंने जीवन के प्रथम १० वर्ष आर्थिक कठिनाइयों में बिताकर दलित-शोषित जनवर्ग की सेवा करने की बात ठान ली और जीवन इसी के लिए उत्सर्ग कर दिया ।

महात्मा फूले ने सार्वजनिक शिक्षा का समर्थन कर आधुनिक शिक्षा को एक अमूल्य देन दी । उन्होंने तत्कालीन प्रचलित निस्यन्दन सिद्धांत का विरोध और सार्वजनिक एवं अनिवार्य शिक्षा का समर्थन किया । महात्मा फूले के विचार सुन्दर और लाभकारी अवश्य थे, परन्तु ब्राह्मणों एवं उच्च वर्ग के अन्य हिन्दुओं ने उनका घोर विरोध किया । इसका कारण यह था कि ब्राह्मण समुदाय तथा अन्य उच्च हिन्दू वर्ग पददलित-वर्ग को नाना प्रकार की यातनाएँ देता था । न तो उनको कोई अधिकार प्राप्त थे और न सुविधाएँ । समाज में उनका कोई स्थान न था । ऐसी दीन-हीन दशा से छुटकारा दिलाने के लिए महात्मा फूले ने दलित वर्ग का पक्ष लिया और आततायियों का घोर विरोध किया ।

हरिजनों के उद्धार के लिए महात्मा फूले ने पहले एक विद्यालय स्थापित किया और फिर आगे चल कर पूना में दो अन्य हरिजन-विद्यालयों की स्थापना की ।

इन विद्यालयों का व्यय वे स्वयं देते थे। स्त्री-शिक्षा पर भी इन्होंने विशेष ध्यान दिया। इसके लिए उन्होंने अपनी स्त्री को शिक्षिका बना दिया। बम्बई प्रान्त में स्त्री-शिक्षा का सर्वथा अभाव था। महात्मा फूले प्रथम हिन्दू थे, जिन्होंने स्त्रियों की शिक्षा के लिए प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनाथालय, विधवा-आश्रम और अन्य ऐसी ही समाजोपयोगी संस्थाओं की स्थापना कर और उनका स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। किन्तु महात्मा फूले के विचारों का अधिक आदर तत्कालीन परिस्थितियों में न हो सका, क्योंकि उनके विचार समय से बहुत आगे थे।

महाराष्ट्र के समाज-सुधारकों में जितना नाम महात्मा फूले का है, उतना अन्य किसी व्यक्ति का नहीं। प्रारम्भ में तो सार्वजनिक एवं उदार शिक्षा को प्रश्रय न मिल सका, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनके विचारों का स्वागत हुआ और वर्तमान युग में उसका पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है।

सारांश

सन् १८३५ ई० तक भारतीय शिक्षा के इतिहास में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। लार्ड आकलैंड ने पाश्चात्य और प्राच्य-विवाद को समाप्त कर दिया था।

मुनरो के पश्चात् मद्रास की शिक्षा की कहानी अत्यन्त करुणाजनक थी। सन् १८३० ई० तक उसके स्कूलों का अस्तित्व समाप्त हो गया। वहाँ चलने वाले अगणित व्यक्तिगत विद्यालयों की सहायता बन्द हो जाने के कारण वे समाप्त हो गए। सन् १८४१ ई० में वहाँ एक अंग्रेजी स्कूल खुला और फिर अन्य प्रमुख स्थानों में भी कई स्कलों का निर्माण हुआ और शिक्षा-परिषद् का नाम शिक्षा-बोर्ड कर दिया गया। प्रारम्भिक शिक्षा में मिशनरियों से बड़ा सहयोग मिला।

शिक्षा के क्षेत्र में बम्बई-शिक्षा-समाज ने बड़ा काम किया था। सन् १८४० ई० में बम्बई प्रान्त में ११५ प्राथमिक स्कूलों का निर्माण हुआ। सन् १८३७ ई० में पूना के संस्कृत कालेज में मराठी की कक्षाएँ भी खुलीं। इसी सन् में एलफिंस्टन कालेज भी स्थापित हुआ।

सन् १८४० ई० में बम्बई भारतीय शिक्षा समाज को तोड़ कर शिक्षा बोर्ड स्थापित हुआ। सन् १८४८ ई० में बोर्ड ने बम्बई प्रान्त को तीन भागों में बाँट दिया और उनमें निरीक्षक एवं उपनिरीक्षक नियुक्त कर दिए। बम्बई में भी शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में बड़ा विवाद उठा। परन्तु बम्बई ने इस दिशा में दृढ़ निश्चय किया, जिसके परिणामस्वरूप देशी भाषाएँ ही माध्यम बनीं। परन्तु अंग्रेजी, अरबी, फारसी और संस्कृत को भी पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया।

सर पैरी के आते ही फिर विवाद उठा और अंग्रेजी को माध्यम बनाना पड़ा। व्यय-सम्बन्धी बातों में बम्बई सरकार को बंगाल से स्वीकृति लेनी पड़ती थी। अतः अंग्रेजी को ही प्रोत्साहन मिला। ऐसी दशा में प्रमुख स्थानों पर अंग्रेजी विद्यालयों का निर्माण हुआ।

मैकाले वैंटिक और आकलैण्ड के प्रयासस्वरूप बंगाल में अंग्रेजी का बोलबाला था। सन् १८३७ ई० से १८४८ ई० तक अंग्रेजी विद्यालयों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। व्यक्तिगत प्रयासों से भी शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। लोक-शिक्षा-समिति भंग कर दी गयी और उसके स्थान पर शिक्षा-परिषद् की स्थापना हुई।

लार्ड हार्डिंज ने अंग्रेजी पढ़े भारतीयों को सरकारी पदों को देने की घोषणा की। परिणामतः अंग्रेजी का प्रचार तीव्र गति से चल पड़ा। इसने प्राथमिक विद्यालयों को भी प्रोत्साहन दिया।

लार्ड डलहौजी को शिक्षा से बड़ा प्रेम था। उसने प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च, स्त्री-शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया और कई स्कूलों की स्थापना कराई। बंगाल के व्यक्तिगत प्रचार भी सराहनीय हैं।

पश्चिमोत्तर प्रदेश का शिक्षा-कार्य प्रान्तीय सरकार के हाथ में आ गया था। यहाँ के गवर्नर थामसन ने एक नवीन योजना चलाई और बाद में अन्य प्रान्तों ने भी इसका अनुकरण किया। कम्पनी के संचालकों और लार्ड डलहौजी ने भी उसकी भूरिभूरि प्रशंसा की।

सन् १८४९ ई० तक पंजाब में शिक्षा की विशेष प्रगति न हुई थी। हिन्दू, मुस्लिम और सिक्खों के लिए पुराने स्कूल चले आ रहे थे। उर्दू का बोलबाला था। अमृतसर और लाहौर के नागरिकों ने अंग्रेजी पढ़ने की इच्छा प्रकट की। परिणामस्वरूप सन् १८४९ ई० में वहाँ अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की गई।

अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार बढ़ चुका था। अतः उन्हें चिकित्सकों, वकीलों, इंजीनियरों और ओवरसियरों तथा अन्य ऐसे विशेषज्ञों की आवश्यकता थी। अतः सरकार ने व्यावसायिक शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में मेडिकल कालेजों की स्थापना की गई और पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ।

इंजीनियरिंग स्कूलों और कालेजों की भी स्थापना की गई। सन् १८५४ ई० में पूना में एक और इंजीनियरिंग कालेज स्थापित किया गया। मद्रास इस

प्रकार की शिक्षा में सदैव पीछे रहा। पश्चिमोत्तर प्रदेश, और बंगाल में इंजीनियरिंग कालेज खोला गया।

कानून की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। स्त्री-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया गया।

राजा राममोहन राय, प्रो० पैट्टन, जगन्नाथ शंकरसेत और महात्मा फूले ने भारतीय शिक्षा में बड़ा योग दिया। बेथ्यून तथा एलफिंस्टन के नाम सदैव बड़े आदर से लिये जायेंगे। डेविड हेयर ने भारत में सार्वजनिक और असाम्प्रदायिक शिक्षा में अपना सर्वस्व लगा दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों एवं भारतीयों के व्यक्तिगत प्रयासों से शिक्षा की प्रगति में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई और इन व्यक्तिगत प्रयासों ने शिक्षा को व्यापक, उदार और उपयोगी बनाने का प्रयास किया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'भारत में अंग्रेजी के प्रसार एवं उसे सुदृढ़ बनाने का श्रेय लार्ड मैकाले को ही है' इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

२. सन् १८३५ ई० से १८५३ ई० तक की शिक्षा-प्रगति की संक्षिप्त रूपरेखा खींचिए।

३. 'आधुनिक शिक्षा की रूपरेखा का सूत्रपात्र करने वाला थामसन ही था' इससे आप कहाँ तक सहमत हैं?

४. 'भारत में व्यावसायिक शिक्षा के प्रबन्ध का कारण अंग्रेजी सरकार की स्वार्थपरता थी, न कि भारतीय हित' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

५. राजा राममोहन राय, महात्मा फूले, जगन्नाथ शंकरसेत, डेविड हेयर, बेथ्यून तथा पैट्टन के शिक्षा-प्रयासों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

अध्याय २७

वुड का शिक्षा घोषणा-पत्र[1] (सन् १८५४ ई०)

कम्पनी का नया आज्ञा-पत्र

सन् १८५३ ई० में कम्पनी को एक नया आज्ञा-पत्र मिला। उसके अनुसार विधान और शासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस समय तक कम्पनी के संचालकों को यह अनुभव हो चुका था कि भारतीय शिक्षा की आवश्यकता को अब उपेक्षित रखना हितकारी और सम्भव न होगा। अतः संचालकों नें भारतीय शिक्षा सम्बन्धी एक स्थायी नीति ग्रहण करने की बात सोची। भविष्य की योजना को सफल बनाने के लिये अतीत की घटनाओं का सिंहावलोकन आवश्यक था। अतः संसद ने सन् १८५३ ई० तक भारतीय शिक्षा की प्रगति की जाँच करने के लिये एक समिति नियुक्त किया। समिति ने इस सम्बन्ध में विशेष छान-बीन की और भारतीय परिस्थितियों का गहन अध्ययन किया तथा शिक्षा-मर्मज्ञ एवं भारतीय शिक्षा के विशेषज्ञ 'पैरी, विल्सन, मार्शमैन और कैमरन' आदि के विचारों को लेकर संसद को यह बता दिया कि भारतीय शिक्षा का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः इस पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। समिति ने स्पष्ट रूप से यह भी बता दिया कि भारतीय शिक्षा के विस्तार से शासन को किंचित् मात्र भी शंका नहीं। इसी समिति के आधारभूत सिद्धान्तों पर १९ जुलाई सन् १८५४ ई० को कम्पनी के संचालकों ने एक शिक्षा-घोषण-पत्र भेजा। उस समय चार्ल्स वुड संचालक समिति का प्रधान था। अतः इस संदेश-पत्र का नाम 'वुड का घोषणा-पत्र' पड़ा। यह घोषणापत्र लगभग १०० अनुच्छेदों का था और भारतीय शिक्षा-सम्बन्धी लगभग सभी बातों पर इसमें प्रकाश डाला गया था। इस घोषण पत्र ने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नया एवं महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा है। अतः इसकी अपनी विशेषता है। नीचे इसे हम समझेंगे :—

आज्ञा-पत्र के सुझाव

वुड के घोषणा-पत्र ने कम्पनी का ध्यान शिक्षा-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण और परम पुनीत कर्त्तव्य की ओर आकर्षित कराया। इसने कम्पनी के

१. Wood's Despatch.

समक्ष स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया कि यह उसका प्रमुख और प्रथम उत्तरदायित्व है।[1]

वुड का घोषणा-पत्र मार्शमैन, पैरी तथा विल्सन ऐसे विद्वानों के विचारों का क्रमवद्ध लेखा था। इन विद्वानों को भारतीय परिस्थितियों का पूर्ण और समुचित ज्ञान था। अतः संदेशपत्र ने संस्कृत, अरबी और फारसी का ज्ञान उपयुक्त और आवश्यक बताया, न कि मैकाले की भाँति उसकी निन्दा की।

घोषणा-पत्र ने शिक्षा के माध्यम-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न को भी हल कर दिया। अंग्रेजी को माध्यम बनाने के साथ ही भारतीय भाषाओं को भी माध्यम बनाने पर बल दिया गया।

नीचे हम वुड के घोषणापत्र की सिफारिशों पर दृष्टिपात करेंगे :—

शिक्षा का उद्देश्य

यह प्रश्न भारतीय हित एवं अंग्रेजी सत्ता की राजनीति दोनों से सम्बन्धित था। अतः सन्देश ने सर्वप्रथम कम्पनी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इससे संचालकों ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीयों का नैतिक, बौद्धिक एवं आर्थिक स्तर उच्च करने के साथ ही शासन-कार्य को सुचारु रूप से चलाने तथा उसे सुदृढ़ बनाने के लिये उपयोगी ज्ञान का प्रसार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस शिक्षा द्वारा हम ऐसे कर्मचारी उत्पन्न कर सकें जिनके हाथों में कार्य-भार विश्वासपूर्वक सौंपा जा सके।[2]

---

१. 'Among many subjects of importance, none can have a stronger claim to our attention than that of education. It is one of our most sacred duties, to be the means as far as in us lies, of conferring upon the natives of India those best moral and material blessings which flow from the general diffusion of useful knowledge, and which India may, under Providence, derive from her connexion with England—Wood' Despatch.

२. "We have, moreover, always looked upon the encouragement of education as peculiarly important, because calculated not only to produce a higher degree of intellectuel fitness, but to raise the moral character of those who partake of its advantages, and so to supply you with servants to whose probity you may with increased confidence commit offices of trust".

Despatch of 1854, Para. 3 & 4.

पाठ्य-क्रम

संस्कृत और अरबी की उपयोगिता बता कर उसको भी पाठ्यक्रम में रखना स्वीकार किया गया। किन्तु भारत में शिक्षा-प्रसार के लिये पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञान को विशेष उपयोगी बताया गया।[१]

सन्देश-पत्र ने बताया कि मुसलमानों एवं हिन्दुओं का सहयोग प्राप्त करने के लिये उनकी भाषाओं का निरादर नहीं होना चाहिये। जनता को कानन का भी ज्ञान दिया जाय।

शिक्षा का माध्यम

कम्पनी के संचालकों को पूर्ण विश्वास था कि देशी भाषाओं का विशेष महत्त्व है क्योंकि सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार इसी भाषा में सम्भव है।[२] अतः संदेश-पत्र ने यह बताया कि अंग्रेजी माध्यम केवल उन व्यक्तियों का होगा जो अंग्रेजी भली प्रकार लिख-पढ़ सकते हों और जो इसके द्वारा पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा ग्रहण कर सकें। शेष व्यक्तियों के लिये भारतीय भाषाएँ ही उपयुक्त होंगी। इस संदेश-पत्र ने कहा कि पाश्चात्य ज्ञान-प्रचार अंग्रेजी और भारतीय दोनों भाषाओं द्वारा होना चाहिये तथा उच्च विद्यालयों में दोनों भाषाओं के शिक्षण का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये।

उपर्युक्त बातें केवल कुछ संशोधन एवं परिवर्तन के साथ लार्ड बैंटिक के विचारों की पुनरावृत्ति थीं। फिर भी इनका विशेष महत्त्व है, क्योंकि घोषणा-पत्र ने इसे वैधानिक स्वरूप प्रदान किया। इन बातों के अतिरिक्त सन्देश-पत्र ने कुछ ऐसी नवीन योजनाएँ प्रस्तुत कीं जो आधुनिक शिक्षा की अग्रसूचिका थीं।

---

१. We must emphatically declare that the education which we desire to see extended in India is that which has for its object the diffusion of the improved Arts, Science, Philosophy and Literature of Europe in short of European knowledge.

Despatch of 1954, Para. 7

२. It is indespensable, therefore, that in any general system of education, the study of them should be assiduously attended to and any acquaintance with improved European knowledge, which is to be communicated to the great mass of the people........can only be conveyed to them through one or other of those vernacular languages.

Despatch of 1854, Para. 7

लोक-शिक्षा-विभाग

तत्कालीन ब्रिटिश शासन में बम्बई, मद्रास, बंगाल, पश्चिमोत्तर प्रदेश और पंजाब के प्रान्त थे। सन्देश-पत्र ने आदेश दिया कि प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा-विभाग का संगठन होना चाहिए और उसका सबसे बड़ा अधिकारी जन-शिक्षा-संचालक[1] होगा।[2] इसकी सहायता के लिए उप-शिक्षा-संचालक तथा निरीक्षकों की नियुक्तियाँ होनी चाहिये। प्रान्त की शिक्षा का पूरा भार इसी संचालक पर होगा और वर्ष के अन्त में अपने अधीनस्थ प्रान्तों की शक्षिक प्रगति के सम्बन्ध में शिक्षा-संचालक के समक्ष एक रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा।

विश्वविद्यालय

संदेश-पत्र ने भारतीयों की उच्च शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया। इसने बताया कि उच्च शिक्षा-प्रदान करने के लिए बम्बई और कलकत्ता में विश्वविद्यालय[3] की स्थापना होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त मद्रास तथा अन्य स्थानों पर यदि आवश्यक समझा जाय तो विश्वविद्यालय स्थापित किये जा सकते हैं। इनकी रूप-रेखा लन्दन विश्वविद्यालय पर आधारित होगी। विश्वविद्यालय का सबसे बड़ा अधिकारी चांसलर होगा। चांसलर के अतिरिक्त वाइस-चांसलर तथा फैलोज होंगे। इन्हीं व्यक्तियों को मिलाकर सिनेट बनेगी और वही विश्वविद्यालय का प्रबन्ध करेगी तथा इसके लिए नियम बनाएगी। ये विश्वविद्यालय परीक्षाओं की व्यवस्था करेंगे और उत्तीर्ण छात्रों को उपाधियाँ प्रदान करेंगे। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय उन शिक्षा-विषयों की व्यवस्था करेगी जो सम्बद्ध कालेजों में नहीं हैं, जैसे सिविल इंजीनियरिंग और कानून आदि की शिक्षा।

अरबी, फारसी तथा संस्कृत की शिक्षा भी आवश्यक समझी गयी। घोषणा-पत्र में यह भी अंकित था कि प्रादेशिक भाषाओं को प्रोत्साहित करने के लिए

---

१. Director of Public Instructions.

२. ......it is advisible to place the superintendence and direction of education upon a more systematic footing, and we have, therefore, determined to create an Educational Department as a portion of the machinery of our Governments in the several presidencies of India.—Despatch of 1854, p. 17.

३. The time is now arrived for thc establishment of Universities in India, which may encourage a regular and liberal course of education by conferring academical degrees as evidences of attainments in the different branches of Arts and Sciences—Despatch of 1854, p. 24.

सांस्कृतिक भाषाओं के विकास एवं विस्तार की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता[1] है। इस प्रकार हम देखते हैं कि घोषणा-पत्र ने सांस्कृतिक एवं प्रादेशिक भाषाओं को भी प्रश्रय दिया, यद्यपि दुर्भाग्यवश उसका विकास न हो सका।

शृंखलाबद्ध विद्यालयों की स्थापना

घोषणा-पत्र ने शृंखलाबद्ध विद्यालयों की आवश्यकता की पूर्त्ति भी की। जिस प्रकार छज्जे पर पहुँचने के लिए एक सीढ़ी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मनुष्य को अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्रमबद्ध विद्यालयों की आवश्यकता होती है। परन्तु अभी तक ऐसा प्रबन्ध न था। संदेश-पत्र ने प्रारम्भिक विद्यालयों को प्रथम और विश्वविद्यालयों को अन्तिम सीढ़ी माना तथा इन दोनों को शृंखलाबद्ध करने के लिए मिडिल स्कूल, हाई स्कूल और कालेजों की व्यवस्था के लिए सिफारिश की।

सार्वजनिक शिक्षा का विस्तार

ब्रिटिश सत्ता वर्ग-विशेष की शिक्षा चाहती थी। सन्देश-पत्र ने इस सिद्धांत की तीक्ष्ण आलोचना की। अभी तक शिक्षा-सम्बन्धी सभी धन वर्ग-विशेष की शिक्षा में व्यय किया जाता था। परन्तु सन्देश-पत्र ने कहा कि जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है और शिक्षा का रूप सार्वजनिक होना चाहिए। भारत की अधिकांश जनता निर्धन है। वह स्वयं अपनी शिक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकती। अतः उसकी शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए।[2] समिति के सदस्य बड़े योग्य और दूरदर्शी थे। इन्होंने अवसर को पहचाना था। समय आ गया था और जन-सामान्य की शिक्षा अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रखी जा सकती थी। अतः उनके सुझाव के अनुसार सन्देश-पत्र ने अंग्रेजी सरकार को आदेश दिया कि वह निस्यन्दन सिद्धांत को त्याग कर व्यापक दृष्टिकोण अपनाए और सार्वजनिक एवं उपयोगी शिक्षा की व्यवस्था करे।

---

१. The grammars of these languages, and their application to the spoken languages of the country, are points to which attention of these professors should be mainly directed.—The Despatch of 1854, p. 33.

२.......attention should now be directed to a consideration.... how useful and practical knowledge,......may be best conveyed to the great mass of the people, who are utterly incapable of obtaining any education worthy of the name by their own unaided efforts...... Despatch of 1854, p. 41.

इस परम पुनीत उद्देश्य को सफल बनाने के लिए माध्यमिक एवं उच्च विद्यालयों में सुधार एवं वृद्धि की आवश्यकता थी। यह कार्य बिना भारतीय भाषाओं के प्रोत्साहन एवं योग्य अध्यापकों में वृद्धि के असम्भव था और इसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। अत: सरकार अधिक धन की स्वीकृति दे।

शिक्षा के अन्तिम चरण तक पहुँचने के लिए प्रारम्भिक विद्यालयों में सुधार एवं आर्थिक सहायता की अत्यन्त आवश्यकता थी। अत: उसकी पूर्ति की जाय। पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश के गवर्नर थामसन द्वारा संचालित योजना की कम्पनी के संचालकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। वुड के सन्देश-पत्र में इस योजना को सम्पूर्ण भारत में लागू करने की सिफारिश की गई। परन्तु इस श्रृंखला को सबल बनाना कठिन था क्योंकि भारत की जनता निर्धन थी। उन्हें अपने बच्चों को शिक्षा दिलाने में अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। अत: सन्देश-पत्र ने योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति देने की भी सिफारिश की, जिससे छात्रवृत्ति से निर्धन बालकों को प्रोत्साहन मिले और वे भी उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकें।[१]

शिक्षा-अनुदान[२]

किसी भी कार्य के लिए पैसे की आवश्यकता पड़ती है। सार्वजनिक शिक्षा-प्रसार की योजना तो अत्यन्त प्रशंसनीय थी, परन्तु प्रश्न रुपये का था। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। कम्पनी इतना धन व्यय करने के लिए तैयार न थी। ऐसी स्थिति में एक ऐसी नीति की आवश्यकता थी जिससे व्यय भी कम होता और वांछित उद्देश्य की पूर्ति भी होती। घोषणा-पत्र ने आर्थिक अनुदान की नीति पर विशेष बल दिया। भारतीय इस पद्धति से चिर परिचित थे। भारतीय इसे सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार थे, इससे व्यक्तिगत चेष्टाओं को प्रोत्साहन भी मिल सकता था और शिक्षा में सराहनीय

१.......the best students in each class of schools being encouraged by the aid afforded them towards obtaining superior education as the reward of merit, by means of such a system of scholarships as we shall have to describe, would, we firmly believe, impart life and energy to education in India and lead to a gradual, but steady extension of its benefits to all classes of the people.—Despatch —Para 47.

२. Grant-in-aid.

प्रगति भी सम्भव थी ।[1] सहायता-अनुदान के लिए प्रान्तीय सरकारों को कुछ नियम बनाने थे और उन्हीं विद्यालयों को सहायता-अनुदान दी जा सकती थी जो अधोलिखित शर्तों को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत थे :—

१. सरकार द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना एवं सरकार द्वारा नियुक्त निरीक्षकों द्वारा निरीक्षण कराने के लिए तैयार रहना ।

२. विद्यालय का स्थानीय व्यक्तियों द्वारा सुव्यवस्थित और सुसंचालित रहना ।

३. बिना किसी भेद-भाव के अच्छी और असाम्प्रदायिक शिक्षा प्रदान करना ।

४. विद्यार्थियों से कुछ न कुछ शुल्क अवश्य लेना ।

सन्देश-पत्र ने यह भी आदेश दिया था कि शिक्षा अनुदान नियमावली का आदर्श इंगलैंड की शिक्षा अनुदान नियमावली होगी और कालेज के अध्यापकों, छात्रवृत्तियों, विज्ञान, कला, पुस्तकालय, वाचनालय, प्रयोगशाला तथा भवन-निर्माण आदि के लिए अलग-अलग अनुदान होने चाहिए। इसमें प्रारम्भिक से लेकर उच्च विद्यालयों तक सभी सम्मिलित थे । संचालकों को आशा थी कि इस प्रथा से व्यक्तिगत स्कूलों की वृद्धि होगी और राजकीय विद्यालयों की आवश्यकता न रह जायगी । अतः उन्हें बन्द कर दिया जायगा ।[2] ऐसी दशा में सरकार कुछ व्यय से बच जायगी ।

संदेश-पत्र शिक्षा-अनुदान पर विशेष बल देता है । अतः प्रतीत होता है कि इसका उद्देश्य मिशनरियों को प्रोत्साहन देना भी रहा होगा, क्योंकि तत्कालीन

---

१. We have, therefore, resolved to adopt in India the system of grant-in-aid which has been carried out in this country with very great success, and we confidently anticipate by thus drawing support from local resources, in addition to contributions from the state, a far more rapid progress of education than would follow a mere increase of expenditure by government, while it possesses the additional advantage of fostering a spirit of reliance upon local exertions and combination for local purpose, which is of itself of no mean importance to the well-being of a nation.—Despatch, Para 92.

२. We look forward to the time when any general system of education entirely provided by government may be discontinued, with the gradual advance of the system of grant-in-aid.—Despatch, para 62.

भारत में व्यक्तिगत संस्थाओं के रूप में अधिकांश विद्यालय धर्म-प्रचारकों द्वारा ही स्थापित थे।

अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध

इंगलैण्ड की तत्कालीन परिस्थिति को देख कर संचालकों को अनुभव हो चुका था कि कुशलतापूर्वक शिक्षण-कार्य करने के लिए अध्यापकों का दीक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। इंगलैंड में प्रशिक्षण-विद्यालयों का सर्वथा अभाव था और वही दशा भारत में भी थी। अतः वुड के संदेश-पत्र द्वारा कम्पनी के संचालकों ने आशा प्रकट की कि भारत के प्रत्येक प्रान्त में प्रशिक्षण-विद्यालयों की स्थापना की जाय।[1] सन्देश-पत्र ने चिकित्सा, कानून और इंजीनियरिंग आदि के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध करने का प्रस्ताव रक्खा।

शिक्षा-विभाग में न तो सामान था और न पर्याप्त पैसा ही मिलता था। अतः योग्य व्यक्ति इस व्यवसाय की ओर आकर्षित नहीं होते थे। संचालकों ने कहा कि प्रशिक्षण-काल में छात्राध्यापकों को छात्रवृत्तियाँ दी जायँ तथा अध्यापकों का वेतन बढ़ा दिया जाय जिससे अन्य सरकारी नौकरियों की भाँति यह विभाग भी आकर्षक हो जाय।[2]

नारी-शिक्षा

संदेश-पत्र में नारी-शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया। सन्देश-पत्र में इच्छा प्रकट की गई कि नारी-शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न किए जायँ और उन व्यक्तिगत चेष्टाओं को, जो कि नारी-शिक्षा में व्यस्त हैं, प्रोत्साहन दिया जाय।[3] संदेश-पत्र में यह भी कहा गया कि हम गवर्नर जनरल की घोषणा से, जो बंगाल के गवर्नर के लिए की गई है, पूर्ण सहमत हैं कि भारतीय स्त्री शिक्षा को सरकार की स्पष्ट तथा मैत्रीपूर्ण सहायता मिलनी चाहिए।

---

१. We desire to see the establishment....of training schools and classes for masters in each Presideney in India—Despatch, para. 67.

२. Our wish is that the profession of schoolmasters may, for the future, afford inducements to the natives of India such as are held out in other branches of public services.—Despatch—para. 69.

३. We have already observed that school for females are included among those to which grants-in-aid may be given ; and we cannot refrain from expressing our cordial sympathy with the efforts which are being made in this direction—Despatch...para. 78.

शिक्षा और व्यवसाय[1]

संदेश-पत्र ने आदेश दिया कि शिक्षा की ओर लोगों को आकर्षित करने के लिए आवश्यक है कि कर्मचारियों की नियुक्ति में शिक्षितों को प्राथमिकता दी जाय।[2] परन्तु इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि शिक्षा प्राप्त करने का अर्थ केवल सरकारी नौकरी ही प्राप्त करना है। शिक्षा से अन्य बहुत-से लाभ भी होते हैं। अतः जनता को मानवीय गुणों को प्राप्त कर जीवन को सफल बनाने का व्यापक दृष्टिकोण लेकर ही शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।[3]

औद्योगिक शिक्षा[4]

व्यावसायिक दृष्टिकोण से तथा भारतीयों को यह दिखाने के लिए कि अंग्रेजी सरकार सभी कार्य उनके ही हित के लिए करती है, भारत में औद्योगिक कालेजों तथा ऐसे स्कूलों की, जिनमें कारखाने के कार्य सिखाये जायँ, स्थापना का संकेत भी संदेश-पत्र में किया गया था। इन औद्योगिक विद्यालयों के स्थापित करने का एक यह भी दृष्टिकोण रहा होगा कि अधिक से अधिक शिक्षित तथा अशिक्षित व्यक्तियों को नौकरी देकर उन्हें कृतज्ञ बनाया जा सकेगा। इससे शिक्षित व्यक्ति बेकार भी न रहेंगे और अधिक लोग स्वामिभक्त बन जायँगे।

भारतीय भाषाओं में पुस्तकों का लेखन एवं प्रकाशन

सन्देश-पत्र में बताया गया था कि उचित और उपयोगी पुस्तकों का होना अत्यन्त आवश्यक है और ये पुस्तकें भारतीय भाषाओं में होनी चाहिए। अतः इनके लेखन और प्रकाशन पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए

---

१. Education and Employment.

२. What we desire is that, where other qualifications of the candidates for appointments under Government are equal, a person who has received a good education, irrespective of the place or manner in which it may have been acquired, should be preferred to one who has not....Despatch—para. 77.

३. But however large number of appointments under Government may be the views of the natives of India should be directed to the far wider and more important sphere of usefulness and advantages which a liberal education lay open to them.—Despatch—Para. 78.

४. Vocational Education.

कम्पनी के संचालकों ने सन् १८२५ ई० में एलफिस्टन द्वारा दिए गए सुझावों को स्वीकार कर लिया था।[१]

वुड के घोषणा-पत्र का मूल्यांकन

भारतीय शिक्षा के इतिहास में वुड का घोषणा-पत्र एक अमूल्य देन थी। बहुत दिनों से अनिश्चित् मार्ग पर जीर्ण-शीर्ण काया लिए, लड़खड़ाती हुई मन्द गति से चली आने वाली भारतीय शिक्षा को एक निश्चित और सुगम तथा सुव्यवस्थित मार्ग देने का श्रेय वुड के घोषणा-पत्र को ही है। अब शिक्षा ने आराम की साँस ली और तीव्र गति से चल पड़ी। परन्तु क्या यह घोषणा-पत्र सर्वथा दोषरहित है? भारतीय शिक्षा का नीति-निर्धारण इंगलैंड से हो और फिर दोषरहित भी हो! इस संदेश-पत्र के द्वारा भी वे भारतीयों को कुछ संतोष देकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। नीचे हम इसके गुणों और दोषों का विवेचन अलग-अलग करेंगे :—

गुण

१. सन्देश-पत्र से भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन युग का प्रारम्भ होता है जिसके कथनानुसार यह 'भारत में अंग्रेजी शिक्षा का मैगना कार्टा है।'[२]

२. सन्देश-पत्र के द्वारा प्रथम बार ब्रिटिश संसद ने भारतीय शिक्षा की नीति का निर्धारण कर उसे वैधानिक रूप देने का प्रयत्न किया था।

३. सन्देश-पत्र के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने शिक्षा को शासन का एक महत्त्वपूर्ण अंग और कर्तव्य मान लिया।

४. संदेश-पत्र में प्रथम बार भारत के शिक्षा-सम्बन्धी सभी प्रश्नों पर ध्यान दिया गया तथा उसने प्रारम्भिक पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा की विवेचना की।

५. श्रृंखलाबद्ध विद्यालयों की स्थापना करने का प्रस्ताव कर शैक्षिक दशा में तारतम्य स्थापित कर प्रगति-पथ पर लाने का श्रेय संदेश-पत्र को ही है।

---

१. The best translations of particular books on the best treaties in specified languages should be advertised for and liberally rewarded.

२. Magna Charta of English Education in India.

६. संदेश-पत्र के द्वारा भारतीय संस्कृति के गुणों तथा उसकी उपादेयता को स्वीकार कर लिया गया।

७. संदेश-पत्र ने प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग स्थापित कर तथा उसमें शिक्षा-संचालक, निरीक्षक तथा उपनिरीक्षिकों की नियुक्ति कर शिक्षा-विभाग को एक सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित स्वरूप प्रदान किया।

८. संदेश-पत्र ने निस्यंदन सिद्धांत का परित्याग एवं सार्वजनिक शिक्षा को ग्रहण कर भारतीय जनता का बड़ा कल्याण किया।

९. संदेश-पत्र में देशी प्राथमिक पाठशालाओं के पुनरुत्थान की ओर भी ध्यान दिया गया।

१०. संदेश-पत्र द्वारा उच्च तथा माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गई और कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के विश्वविद्यालय भी स्थापित किये गये।

११. प्रचलित भारतीय भाषाओं के प्रति संदेश-पत्र ने प्रशंसनीय उदारता दिखलाई।

१२. संदेश-पत्र ने छात्रवृत्तियों का प्रबन्ध कर निर्धन-योग्य बालकों के लिए भी विकास का मार्ग उन्मुक्त कर दिया।

१३. संदेश-पत्र ने अध्यापकों का वेतन बढ़ाकर शिक्षा-विभाग की ओर सुयोग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने का प्रयत्न किया।

१४. संदेश-पत्र ने शिक्षा अनुदान की व्यवस्था करके अधिक से अधिक विद्यालयों को प्रोत्साहन दिया और इसके साथ ही साथ शिक्षा अधिकांशतः व्यक्तिगत संस्थाओं के हाथ में दे दी गई। परिणामतः शिक्षा का विस्तार तीव्र गति से होने लगा।

१५. सरकारी नौकरियों में शिक्षित व्यक्तियों को वरीयता देने का आदेश प्रदान कर संदेश-पत्र ने शिक्षा की ओर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित किया।

१६. संदेश-पत्र ने अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध कर योग्य और कुशल अध्यापकों को इस व्यवसाय में लाने का प्रयास किया।

१७. संदेश-पत्र ने स्त्री-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया।

१८. संदेश-पत्र ने औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध कर जनता को स्वावलम्बी बनाकर बेकारी की समस्या को कम कर दिया।

१९. डलहौजी[1] के कथनानुसार वुड का संदेश-पत्र सम्पूर्ण भारत की शिक्षा से सम्बन्ध रखता था तथा इतनी विस्तृत और व्यापक योजना प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकार के विचारों में भी नहीं आ सकती थी।

२०. जेम्स ऐडम[2] के अनुसार सन् १८५४ ई० का संदेश-पत्र भारतीय शिक्षा के इतिहास में पूर्व और उत्तर काल को जोड़ने की कड़ी है।

२१. सन् १८५४ ई० का वुड का सन्देश-पत्र भारतीय शिक्षा के इतिहास का शिलाधार है। भविष्य में शिक्षा-सम्बन्धी जितनी भी अन्य योजनाएँ बनीं, वे केवल इसका संशोधित रूप ही थीं।[3]

दोष

यद्यपि वुड के संदेश-पत्र ने भारतीय शिक्षा का बड़ा कल्याण किया है तथापि इसमें कुछ ऐसे दोष थे जिनके कारण भारतीय शिक्षा को बड़ा आघात भी पहुँचा है। इन दोषों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

१. संदेश-पत्र ने सरकारी नौकरियों में सुशिक्षित व्यक्तियों को वरीयता देकर शिक्षा के व्यापक उद्देश्य को नष्ट कर शिक्षा को केवल जीविकोपार्जन तक सीमित कर दिया।

२. संदेश-पत्र के द्वारा अब लोगों की रुझान अंग्रेजी की ओर अधिक बढ़ी, क्योंकि सरकारी नौकरियों में उनको प्राथमिकता मिलती थी। परिणामतः देशी स्कूल मृत-प्राय हो गये।

---

१. "Dalhousie declares that the Despatch contained "a scheme of education for all India, for wider and more comprehensive than anything, the local or the supreme Government could have ever ventured to suggest."

—Review of Public Instruction in the Bengal Presidencey. (1935-51)

२. James Adam observes: "The Despatch of 1854 is thus the climax in the history of Indian education what goes before leads upto it, what follows flows from it."

—Despatch from the Home Government on the subject of Education in India. (1854-58).

३. The foundations remained the same with but little alteration. The edifice has followed the architect's plan with but few additions."

३. संदेश-पत्र द्वारा शिक्षा-विभाग के स्थापित हो जाने से शिक्षा की उन्मुक्त प्रगति रुक गयी, क्योंकि अब शिक्षा-कार्य यांत्रिक हो गया था। विद्यालय अपना कार्य केवल शिक्षाधिकारियों की आज्ञाओं का पालन करना ही समझने लगे थे। इससे भारतीय शिक्षा का लचीलापन नष्ट हो गया।

४. सन्देश-पत्र से भारतीय भाषाओं को प्रश्रय तो मिला, पर उनका स्थान अंग्रेजी ने ले लिया।

५. सन्देश-पत्र ने भारत की अतीत शिक्षा-पद्धति पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि भारतीय शिक्षा में भारतीय धर्म का विशेष महत्त्व है। अतः इसने भारतीय शिक्षा-पद्धति की जड़ ही हिला दी।

६. संदेश-पत्र के फलस्वरूप भारत से अध्यात्मवाद उठ गया।

७. संदेश-पत्र द्वारा वाणिज्य, व्यवसाय की दृष्टि से भी शिक्षा में कोई विशेष प्रगति नहीं है। केवल कुछ औद्योगिक संस्थाओं का वर्णन है जो कि भारतीयों के हित के लिए नहीं, अपितु अधिक लोगों को नौकरी देकर स्वामिभक्त बनाने के लिए है।

८. भारतीयों को उच्च शिक्षा देने के लिए विश्वविद्यालय स्थापित हुए। परन्तु उनकी रूप-रेखा पाश्चात्य ढंग पर थी और सिनेट के सभी सदस्य सरकार द्वारा मनोनीति किये जाते थे। अतः स्वाभाविक था कि सरकार अपने आदमियों को मनोनीत करे चाहे वे शिक्षा-शास्त्री हों या न हों, और वे प्रायः नहीं ही होते थे।

९. आज्ञा-पत्र संस्कृत और अरबी, फारसी की निन्दा तो नहीं करता है, परन्तु लार्ड मैकाले की भाँति पक्षपातपूर्ण व्यवहार अवश्य करता है और पाश्चात्य ज्ञान को ही भारतीयों के लिए उचित समझकर उसका प्रचार ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बतलाता है।

१०. यद्यपि संदेश-पत्र असाम्प्रदायिक शिक्षा का संकेत करता है, परन्तु धर्म-प्रचारकों के विद्यालयों के प्रति निष्पक्ष नहीं रह सका है। उसने यह भी कहा कि ईसाई धर्म की पुस्तकें सरकारी स्कूलों के पुस्तकालयों में रखी जा सकती हैं और विद्यालय का समय समाप्त हो जाने पर छात्र इस विषय में अध्यापकों से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और यदि किसी विद्यालय में

एसी धार्मिक शिक्षा दी जाती है तो निरीक्षकों को उधर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।[१]

११. सर फिलिप हरटाग के अनुसार[२] 'वुड का संदेश-पत्र भारत के हित के लिए तथा बुद्धिमता का विकास करने वाली नीति का निर्धारक था।' परन्तु स्वर्गीय सर परांजपे[३] के अनुसार ऐसा न था। उनके अनुसार सन्देश-पत्र न तो प्रत्येक भारतीय की शिक्षा की व्यवस्था की ओर ध्यान देता है और न राज्य पर कोई ऐसा बन्धन लगाता है कि वह एक निश्चित सीमा के सभी बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करे। वह यह भी व्यवस्था नहीं करता कि निर्धनता शिक्षा के मार्ग में कोई बाधा न होगी।

१२. सरकार शिक्षा-सम्बन्धी व्यय का अधिकांश अंग्रेजी स्कूलों के प्रोत्साहन में लगाती थी क्योंकि नौकरी की लालच से जनता में अंग्रेजी की माँग बढ़ती जा रही थी। सरकार का उद्देश्य पूर्ण हो रहा था और सरकार यह भी कहती थी कि जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखना शासन का परम पुनीत कर्त्तव्य है।

१३. अंग्रेजी की उपादेयता देखकर लगभग सभी अंग्रेजी पढ़ना चाहते थे। अतः प्राथमिक विद्यालयों के सम्बन्ध में सम्भ्रान्त व्यक्ति चन्दा नहीं

---

१. "In their periodical inspection no notice whatsoever should be taken by them of the religious doctrines which may be taught in any school."—Despatch—Para 56.

२. As a result of Wood's despatch an educational policy was evolved as part of a general policy to Government of India in the interests of India and to develop her intellectual resources to the utmost for her own benefit."

Some aspects of Indian Education p. 23.

३. "The despath does not even refer to the ideal of universal literacy although it expects education to spread over a wide field through the grant-in-aid system, it does not recognize the obligation of the state to educate every child below a certain age, it doest not declare that poverty shall be no bar to the education of deserving students."

Progress of Education, Poona, July 1941, pp. 51-2.

देना चाहते थे और निर्धन, जनता जिसे खाने का ठिकाना न था, उसका भार वहन नहीं कर सकती थी । दूसरी ओर शिक्षा-अनुदान उन्हीं विद्यालयों को मिल सकता था जहाँ की जनता ५० प्रतिशत व्यय स्वयं वहन कर सकती थी, जैसे बम्बई । अतः शिक्षा-अनुदान प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में निरर्थक सिद्ध हुआ । इस प्रकार अतीत काल से निरन्तर चली आने वाली असंतुलित शिक्षा इस काल में भी बनी रही ।

१४. अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम बन गयी और अब विद्यार्थियों को इतिहास, भूगोल, गणित तथा अन्य सभी विषय अंग्रेजी माध्यम द्वारा पढ़ाये जाने लगा । अतः उनको बड़ी कठिनाई पड़ती थी । विषय में पारंगत बनने के लिए पहले अंग्रेजी में दक्षता की प्राप्ति आवश्यक थी । ऐसी स्थिति में विद्यालय में १०-१२ वर्ष तक कठोर तपस्या करने के पश्चात् उनको अन्य विषयों को सीखने भर के लिए अंग्रेजी का ज्ञान हो पाता था ।

१५. परीक्षा का दृष्टिकोण भी बदल गया । अतः रटकर परीक्षा पास करना छात्रों का मुख्य उद्देश्य हो गया था ।

निष्कर्ष

इन समस्त दोषों के होते हुए भी यह सर्वमान्य है कि यह संदेश-पत्र भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नवीन युग का प्रणेता था । इस पत्र के परिणामस्वरूप भारत में तीन विश्वविद्यालय स्थापित हो गये तथा प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग खुल गया । शिक्षा-अनुदान प्रत्येक प्रान्त में लागू हो गया था । इसकी सभी सिफारशें पूर्णरूपेण कार्यान्वित नहीं की जा सकी थीं कि तभी सन् १८५७ का विद्रोह भी प्रारम्भ हो गया । इस विद्रोह से भारतीय शिक्षा की प्रगति में बड़ी बाधा उत्पन्न हो गयी और विद्रोह के समाप्त होते ही शासन-सूत्र में महान परिवर्तन हुआ । और शासन की बागडोर इंगलैंड की पार्लियामेंट ने स्वयं अपने हाथ में ले लिया था । अतः शिक्षा-क्षेत्र में प्रगति होना आवश्यक था ।

सारांश

प्रति बीस वर्ष के पश्चात् कम्पनी का आज्ञा-पत्र बदला जाता था । १८१३, १८३३ और अब १८५३ में चार्टर बदलने का समय आ गया था । कम्पनी के

संचालकों ने एक समिति नियुक्त कर भारतीय शिक्षा-प्रगति की जाँच कराई और रिपोर्ट प्राप्त करने के पश्चात् सन् १८५४ ई० में वुड का संदेश-पत्र कम्पनी के पास भेजा।

इस संदेश-पत्र में शिक्षा का उद्देश्य, पाठ्क्रम, शिक्षा का माध्यम, लोक और नारी-शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा आदि सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर ध्यान दिया गया।

इसके अनुसार भारतीय शिक्षा का उद्देश्य भारत में अंग्रेजी साहित्य एवं पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार होना था। अंग्रेजी के साथ ही साथ भारतीय भाषाएँ भी माध्यम रखी गयीं। संस्कृत और अरबी, फारसी का प्रारम्भिक ज्ञान आवश्यक एवं उपयोगी समझा गया। भारत में औद्योगिक विद्यालयों के निर्माण की भी आवश्यकता मानी गई। सरकारी सेवाओं में सुशिक्षित व्यक्तियों को वरीयता देने की बात स्वीकृत हुई। उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए प्रस्ताव किये गए। प्राथमिक और उच्च शिक्षा में तारतम्य स्थापित करना आवश्यक माना गया। भारतीय भाषाओं में लेखन व प्रकाशन, नारी-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान, अध्यापकों के वेतन में वृद्धि तथा छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देने की बात कही गई। प्रत्येक प्रान्त में एक-एक शिक्षा-विभाग खोलने की सिफारिश की गई। शिक्षा को धर्म से दूर रखना आवश्यक समझा गया। अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना आवश्यक माना गया।

परन्तु इन गुणों के साथ ही साथ कतिपय दोष भी हैं। शिक्षा का व्यापक दृष्टिकोण नष्ट होकर अब शिक्षा का अर्थ केवल नौकरी प्राप्त करना रह गया। परीक्षा का दृष्टिकोण बदलने के कारण पुस्तकीय ज्ञान ही रह गया, विस्तृत सामान्य ज्ञान समाप्त हो गया। शिक्षा-अनुदान से पूर्ण लाभ न हो सका। अंग्रेजी माध्यम बनने के कारण छात्रों को समय अधिक लगता था और कठिनाई अधिक होती थी। नौकरी में अंग्रेजी जानने वाले इने-गिने व्यक्तियों को प्राथमिकता मिलने के कारण जनता में अंग्रेजी की माँग बढ़ी और देशी प्रायमरी विद्यालय मृतप्राय हो गए। उच्च शिक्षा की रूप-रेखा पाश्चात्य ढंग पर ढल गयी।

फिर भी संदेश-पत्र ने भारतीय शिक्षा में एक नया अध्याय जोड़ा है और आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात यहीं से होता है। दुर्भाग्यवश इसकी सभी सिफारशें कार्यान्वित न हो सकीं अन्यथा भारत का अधिक कल्याण हुआ होता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'वुड के संदेश-पत्र में बैंटिक और आकलैंड के विचारों की पुनरावृत्ति ही है।' इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

२. 'जो कुछ इसके पूर्व हुआ वह इसकी ओर संकेत करता है और जो कुछ इसके बाद हुआ वह इससे निकला है' जेम्स ऐडम के इस विचार की समीक्षा कीजिए।

३, 'वुड के संदेश-पत्र ने न प्रत्येक भारतीय की शिक्षा की व्यवस्था की और न शिक्षा का उद्देश्य ही ऐसा निर्धारित किया जो कि भारतीयों को उनके सर्वांगीण विकास की ओर उन्मुख करता। फलतः उनके मत में संदेश-पत्र को शिक्षा-सम्बन्धी व्यापक अधिकार-पत्र की संज्ञा नहीं मिलनी चाहिए।' सुप्रसिद्ध विद्वान परांजपे के इस विचार से आप कहाँ तक सहमत हैं?

अध्याय २८

सन् १८५४ से १८८२ ई० तक शिक्षा की प्रगति

वुड के संदेश-पत्र को देखकर भारतीय जनता ने शिक्षा में स्वर्णयुग की कल्पना की थी। परन्तु दुर्भाग्यवश यह कल्पना, 'कल्पना' ही रह गयी और भारतीय शिक्षा में वह प्रगति न आ सकी जिसका संकेत सन्देश-पत्र में किया गया था। सन् १८५४ ई० के पश्चात् कम्पनी के अधीनस्थ सभी प्रान्तों में शिक्षा-विभाग का निर्माण हुआ। संदेश-पत्र के अनुसार उच्च शिक्षा के लिए सन् १८५७ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने आर्थिक सहायता में भी वृद्धि कर दी। अभी वुड के संदेश-पत्र की कुछ ही योजनाएँ कार्यान्वित हो सकी थीं कि इतने में सन् १८५७ का विद्रोह छिड़ गया और शिक्षा के मार्ग में कुछ बाधाएँ आ गईं। इस संग्राम के परिणामस्वरूप भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश संसद के हाथ में चला गया। शासन-सत्ता के इस महान् परिवर्तन से शिक्षा में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था।

सन् १८५४ ई० तक कम्पनी सरकार शासन को सुदृढ़ बनाने में ही केन्द्रीभूत थी। लार्ड डलहौजी की नीति के परिणाम-स्वरूप देश में असन्तोष फैल गया था। भारत का राजनीतिक वातावरण बहुत विषाक्त था। सन् १८५६ ई० में जब वह भारत से लौटकर गया और उसके स्थान पर नियुक्त होकर लार्ड कैनिंग भारत आया तो आते समय ही दिये गए प्रीतिभोज में उसने कहा था कि 'मैं चाहता हूँ कि मेरा शासन-काल शान्तिपूर्ण रहे। किन्तु मैं यह नहीं भूल सकता कि भारत के शान्त गगन में एक छोटा-सा बादल, जो मनुष्य के हाथ से बड़ा न हो, उठ सकता है और धीरे-धीरे बड़ा होकर अन्त में फटकर हमें नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है।' भारत में पदार्पण करते ही उसकी भविष्यवाणी सत्य निकली और उसे एक ऐसे विप्लव का सामना करना पड़ा जिससे भारत का अंग्रेजी शासन सदा के लिए काल-कवलित हो सकता था। परन्तु कुछ कारणों से ऐसा न हो सका और परिणाम विपरीत हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि भारत का लगभग आधा भाग, जो अंग्रेजी शासन से अलग था, वह भी इसके हाथ में आ गया और अब सम्पूर्ण भारत पर अंग्रेजों का झंडा फहराने लगा। सन् १८५७ ई० के पश्चात् का काल भारतीय इतिहास में विक्टोरिया का शान्त काल कहलाता है, यद्यपि इसी काल में सन् १८८५ ई० में राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव पड़ी थी। कहा जाता है कि इस शान्त काल में शिक्षा को उचित वातावरण मिला और उसकी प्रगति में अभिवृद्धि हुई।

वुड के सन्देश-पत्र के अनुसार शिक्षा व्यक्तिगत संस्थाओं के हाथ में चली जा रही थी, क्योंकि सरकार शिक्षा से अपने को अलग रखने की बात सोच रही थी। फलतः माध्यमिक शिक्षा और कालेज के क्षेत्र में वैयक्तिक प्रयासों को बहुत प्रोत्साहित किया गया। अब अधिकतर शिक्षा को भारतीय अपने हाथ में लेने का प्रयत्न कर रहे थे। सन्देश-पत्र की अपेक्षाकृत भी शिक्षा-विभाग ने वैयक्तिक प्रयासों को कोई प्रोत्साहन न दिया। परिणामतः सन् १८५८-८८ ई० तक राजकीय विद्यालयों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सन् १८५८ ई० में महारानी विक्टोरिया ने कहा कि भारत की धर्म-सम्बन्धी बातों में शासन या धर्म-प्रचारक किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें। मिशनरियों को इससे बड़ी ठेस लगी और उन्होंने यह भी कहना प्रारम्भ कर दिया कि सन् १८५४ ई० के सन्देश-पत्र की उपेक्षा की जा रही है। इसी के परिणामस्वरूप सन् १८८२ ई० में भारतीय शिक्षा-आयोग की नियुक्ति हुई।

उपर्युक्त कथन के अनुसार शिक्षा मुख्यतः शिक्षा-विभाग के ही हाथ में रही और गवर्नर जनरल इसके लिए उत्तरदायी था। आन्दोलन के पश्चात् सरकार इधर भी रुचि दिखाने लगी थी और राजनीतिक वायुमंडल भी शान्त था। फिर भी शिक्षा की आशातीत प्रगति न हो सकी। इसका प्रधान कारण धनाभाव था। शिक्षा-विभाग प्रान्तीय सरकारों के हाथ में था और प्रान्तीय सरकारों के पास शिक्षा के लिए अपेक्षित धन उपलब्ध न था। अतः कालेज और उच्च शिक्षा को तो कुछ प्रोत्साहन भी मिला, परन्तु प्राथमिक शिक्षा उपेक्षित रही। इसका वर्णन नीचे किया जायगा। जहाँ तक संघर्षों का प्रश्न है, वे हर युग में होते आए हैं। हाँ, प्रत्येक युग में उनका रूप भिन्न होता है। इस युग में भी संघर्ष हुए। परन्तु वे पूर्व की अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण थे। अब हम नीचे प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा की प्रगति पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

प्राथमिक शिक्षा[१]

सन् १८५४ ई० तक प्राथमिक शिक्षा की कहानी बड़ी करुणाजनक है। अभी तक कम्पनी सरकार का ध्यान उच्च वर्ग को उच्च शिक्षा देना ही था। सरकार की दृष्टि में प्राथमिक शिक्षा का कोई महत्त्व न था। अतः स्वाभाविक ही था कि वह इधर भी ध्यान न दे। इसके अतिरिक्त अर्थाभाव का भी एक प्रश्न था। परन्तु संदेश-पत्र के अनुसार सरकार का ध्यान इधर आकर्षित हुआ और उसने प्रारम्भिक विद्यालयों की आवश्यकता और उनके महत्त्व को ध्यान में रखकर उनकी आर्थिक सहायता, संचालन और निरीक्षण का उत्तरदायित्व अपने हाथ में ले लिया। फिर भी प्राथमिक शिक्षा के प्रति कुछ न कुछ किया जा सका, क्योंकि

१. Primary Education.

अनुदान प्राय: उच्च विद्यालयों को ही दिये गए। अनुदान देने के नियम कुछ ऐसे थे जिसे जनता निभा न सकी और प्राथमिक विद्यालय उपेक्षित बने रहे। ऐसी स्थिति देखकर संचालक-समिति ने सन् १८५९ ई० के सन्देश-पत्र के अनुसार प्राथमिक शिक्षा का प्रसार सरकारी अधिकारियों को अपने हाथ में लेने के लिए कहा।[1] इस आदेश ने उस समस्या को न सुलझा करके एक और समस्या प्रस्तुत कर दी।

इस प्रकार १८५९ ई० के पश्चात् ये प्रश्न उपस्थित हो गये कि (१) देशी विद्यालयों के प्रति क्या नीति रखी जाय ? (२) राजकीय धनराशि से इन विद्यालयों को अनुदान दिया जाय अथवा नहीं ? (३) स्थानीय कर लगाये जायँ अथवा नहीं। दुर्भाग्यवश इन प्रश्नों पर एक मत न हो सका और अन्त में सभी प्रान्तों को अपनी-अपनी नीति निर्धारित करने की स्वतंत्रता दी गयी। परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण भारत में सभी प्रान्तों की नीति एक दूसरी से भिन्न हुई। इस भिन्न-भिन्न नीति के कारण प्राथमिक शिक्षा का जैसा विकास हुआ उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

प्राथमिक विद्यालयों की संख्या (सन् १८८२ ई० तक)

प्रान्त के नाम	सहायता प्राप्त देशी विद्यालयों की संख्या	शिक्षा-विभाग द्वारा संचालित विद्यालयों की संख्या	गैर सहायता प्राप्त विद्यालय
१—बम्बई	७३	३,९५४	×
२—मद्रास	१३,३२३	१,२६३	×
३—बंगाल	४७,३७४	२८	×
४—आसाम	१,२५६	७	४९७
५—बरार	२०९	४६७	२०७
६—पंजाब	२७८	×	१३१०९
७—पश्चिमोत्तर प्रदेश	२४३	×	६१७२
८—मध्य प्रदेश	३६४	८९४	×

१. On the whole, Her Magestey's Government can entertain little doubt that the grant-in-aid system as hither to inforce is unsuited to the supply of Vernacular Education to the masses of the population and it appears to them....that the means of elementary education should be provided by the direct instrumentality of the officers of Government.—Despatch of 1859—Para. 50

उपर्युक्त तालिका का विस्तृत विवेचन निम्नांकित ढंग से है :—

बम्बई—उपर्युक्त तालिका से हमें ज्ञात होता है कि बम्बई प्रान्त में देशी पाठशालाओं की स्थिति बड़ी दयनीय थी । यद्यपि पिले[1] ने १८७० ई० में अनुदान देने की एक योजना निकाली थी, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न हो सका । ३०,६५४ देशी पाठशालाओं में से केवल ७३ को ही सहायता मिल रही थी ।

मद्रास—सन् १८६८ ई० में मद्रास प्रान्त में प्रारम्भिक विद्यालयों के विकास के लिए एक युक्ति निकाली गई । इस युक्ति के अनुसार विद्यालयों के परीक्षा-परिणाम के आधार पर सहायता दी जाती थी । इस योजना के अनसार सन् १८७८ ई० तक सहायता-प्राप्त देशी विद्यालयों की संख्या ३,३५८ से १३,३२३ पहुँच गयी ।

बंगाल—बंगाल में हल्काबन्दी स्कूल की प्रथा जारी रखी गई । पाठशाला के गुरुओं को सरकारी सहायता दी जाती थी । थोड़े दिनों के पश्चात् यह सहायता विद्यालय के परीक्षा-परिणाम पर निर्भर कर दी गई, और एक पण्डित के द्वारा तीन-चार ग्रामीण विद्यालयों का निरीक्षण किया जाने लगा । ये विद्यालय जितना धन स्वयं एकत्रित करते थे, उतना ही सरकारी अनुदान मिल जाया करता था । अध्यापन-कार्य को कुशलता-पूर्वक चलाने के लिए नार्मल स्कूलों को स्थापित कर शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई । इन प्रशिक्षण-विद्यालयों में काम करने वाले तथा भविष्य में नियुक्त होने वाले अध्यापकों को प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता था । प्रशिक्षण की अवधि एक वर्ष की होती थी और इन छात्राध्यापकों को पाँच रुपया मासिक छात्रवृत्ति भी दी जाती थी । इनको सर्व प्रथम शिक्षण-विधि और फिर इतिहास, भूगोल, साहित्य और गणित आदि की भी शिक्षा दी जाती थी । धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि इन प्राथमिक विद्यालयों में प्रगति लाने के लिए नार्मल स्कूल अत्यन्त उपयोगी हैं । यदि उनके समक्ष आर्थिक समस्या न आ खड़ी होती तो आशा से अधिक लाभ की संभावना थी । इसके अतिरिक्त सहायता-प्राप्त धन अत्यन्त अल्प था । इसका अनुमान इससे लगाया जा लकता है कि एक विद्यालय का वार्षिक धन औसतन केवल ११ रु० था ।

देशी विद्यालयों के पुनरुत्थान में सर जान कैम्पवेल[2] का बड़ा सहयोग है । इनके उत्थान के लिए उसने सन् १८७२ में चार लाख रुपये की धनराशि स्वीकृत की । इन रुपयों के आधार पर एक सुन्दर योजना तैयार की गई । इस योजना में

१. Peile.

२. Sir John Campbell

अध्यापकों के वेतन का प्रश्न भी सम्मिलित किया गया और परिणामस्वरूप यह निश्चय किया गया कि आध्यापकों को प्रोत्साहन देने के लिए २ रु० से बढ़ाकर ५ रु० प्रति मास दिया जाना अत्यन्त आवश्यक है। निरीक्षक इन विद्यालयों का निरीक्षण करते थे और अध्यापकों की योग्यता, समता एवं कार्य-कुशलता के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते थे। इन्हीं की परामर्श के अनुसार उनको ये रुपये दिये जाते थे। इनके भोजन तथा रहने आदि की व्यवस्था स्थानीय जनता करती थी। यह योजना भारत ऐसे देश के लिए बड़ी सुन्दर और सस्ती थी। धीरे-धीरे सरकारी सहायता-प्राप्त विद्यालयों की संख्या में वृद्धि होने लगी और १८८२ ई० तक इनकी संख्या ४७,३७४ तक पहुँच गई।

आसाम—सन् १८७४ ई० तक आसाम, बंगाल का एक अंश था। अतः यहाँ की प्रायमरी शिक्षा बंगाल पर आधारित थी। इसीलिए आसाम में भी प्राथमिक शिक्षा की ओर बड़ी उदासीनता रही। शिक्षा के लिए अन्य प्रान्तों की भाँति यहाँ भी स्थानीय कर लगाया गया। परन्तु दुर्भाग्य यह रहा कि उस स्थानीय कर का कुछ ही अंश प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाता था। यही कारण है कि वहाँ की प्राथमिक शिक्षा निर्जीव-सी रही।

बरार—बरार ने बम्बई प्रान्त का अनुकरण किया और शिक्षा प्रायः राजकीय विद्यालयों पर निर्भर रही। परन्तु देशी विद्यालयों को भी प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया गया। सन् १८८१-८२ ई० में वहाँ के ४६७ विद्यालयों में से २०६ सहायता-प्राप्त और २०७ गैर सहायता-प्राप्त विद्यालय थे।

पंजाब—पंजाब ने पश्चिमोत्तर प्रदेश का अनुकरण किया। यहाँ देशी विद्यालयों की संख्या १३,१०६ तथा सहायता-प्राप्त विद्यालयों की संख्या २७८ थी।

पश्चिमोत्तर प्रदेश—बम्बई की भाँति पश्चिमोत्तर प्रदेश ने भी हल्काबन्दी स्कूलों की प्रथा को जारी रक्खा। उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि १८८१-८२ ई० में ६,१७२ गैर सहायता-प्राप्त तथा २४३ सहायता-प्राप्त प्राथमिक विद्यालय थे।

मध्य प्रदेश—इस प्रान्त ने बंगाल की प्रथा को अपनाया और देशी विद्यालयों को प्रोतसाहन देने का प्रयत्न किया। परन्तु सबल नीति के अभाव के कारण आशाजनक उन्नति न हो सकी। परिणामतः सरकारी स्कूलों की संख्या ८७४ हो गई जब कि सहायता-प्राप्त विद्यालय केवल ३६४ थे।

कुर्ग—कुर्ग ने बम्बई को अपना आदर्श बनाया। यहाँ प्राथमिक शिक्षा का काम शिक्षा-विभाग ही ने किया और देशी स्कूलों को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया गया।

व्यय[1]

सन् १८८१-८२ में प्राथमिक शिक्षा पर व्यय का लेखा निम्नांकित है :

प्रान्तों के नाम	शुल्क से आय	स्थानीय संथाओं तथा नगर-पालिका से	प्रान्तीय अनुदान	अन्य संस्थाओं से	योग
१—बम्बई	१५४	७८७	३४६	६२	१,३५०
२—मद्रास	३६८	५०२	१६८	२८७	१,३२५
३—बंगाल	१,०७७	१३	५९७	४४५	२,१३२
४—आसाम	१७	५७	२४	२०	११८
५—बरार	२६	८८	१२५	१	२४०
६—पंजाब	६२	३४५	९७	८४	५८८
७—पश्चिमोत्तर प्रदेश	५५	५४४	२१६	८४	८९९
८—मध्य प्रदेश	२२	१४५	१००	३३	३००
९—कुर्ग	१	७	४	–	१२
योग	१,७८२	२,४८८	१,६७७	१,०१७	६,९६४

(उपर्युक्त सभी संख्यायें सहस्रों में दी हुई हैं तथा रुपये की हैं इस प्रकार शिक्षा-व्यय का पता चलता है।)

स्थानीय कर का प्रश्न

यह प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण न था। यह प्रश्न केवल शिक्षा तक ही सीमित न था, अपितु इसमें जन-कल्याण की सभी बातें, जैसे चिकित्सालय, सड़क, और पुलिस आदि भी सम्मिलित थीं। जैसा कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी सभा के सदस्य 'हालवेल' ने सन् १८६०-६१ ई० में अपने व्याख्यान में कहा था कि 'यदि एक सभ्य देश की भाँति सड़क, विद्यालय, चिकित्सालय और स्थानीय पुलिस का प्रबन्ध

1. Report of the Indian Education Commission—pp. 166-7.

करना है तो सरकार द्वारा ही इन सब बातों का प्रबन्ध करना असम्भव होगा।"[1] इस प्रकार स्थानीय कर से शिक्षा पर कितना व्यय किया जायगा, यह निश्चित करना बड़ा कठिन था। इसके अतिरिक्त यह सभी प्रान्तों में नहीं लागू किया जा सकता था। जैसे, बंगाल में इस्तमरारी बन्दोबस्त था और उसके अनुसार माल गुजारी नियत थी। अतः वहाँ कर नहीं लगाए जा सकते थे।

पश्चिमोत्तर प्रदेश में १ प्रतिशत कर मालगुजारी के साथ ही वसूल कर लिया जाता था। अवध में सन् १८६१ ई० में ८ प्रतिशत कर वसूल किया जाने लगा और इसका एक प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करने का आदेश दिया गया।

सन् १८५७ ई० से पंजाब में भी भूमि-कर वसूल किया जाने लगा और इसको दृढ़ बनाने के लिए सन् १८७१ ई० में इसकी पुनः छानबीन की गई। इसी प्रकार १८६१ ई० में मध्य प्रान्त में स्थानीय कर वसूल किया जाने लगा। पहले यह १ प्रतिशत था, फिर बढ़ाकर २ प्रतिशत कर दिया गया। इसी प्रकार १८६६ में मद्रास में, १८७९ में आसाम में और १८६४ ई० में सिन्ध में भी स्थानीय कर लगा दिये गये थे। बम्बई में सन् १८६३ ई० से ही ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत कर वसूल किया जाने लगा तथा और उसके एक-तिहाई भाग को शिक्षा पर व्यय करने का आदेश दिया गया था।

नगरों में कर वसूल करने का कार्य नगरपालिकाओं को सौंपा गया था। यह कर घरों पर लगाये जाते थे। दुर्भाग्यवश नगरपालिकाएँ अपने इस उत्तरदायित्व को निभाने में असमर्थ सिद्ध हुईं और इसका दुष्परिणाम प्राथमिक शिक्षा को भोगना पड़ा। ग्रामीण क्षेत्रों से कर के रूप में पर्याप्त धन एकत्रित होता था। अतः इस धन का प्रयोग नगरों की कमी की पूर्ति के लिए, कहीं उच्च एवं आध्यात्मिक शिक्षा के लिए तथा कुछ स्थानों पर अन्य कार्यों के लिए भी इसका उपयोग किया जाने लगा। इस प्रथा को स्थगित करने के लिए आगे चलकर कमीशन ने ग्रामीण और नगरों के करों को पृथक्-पृथक् व्यय करने का प्रस्ताव रखा। इस सम्बन्ध में सन् १८७१ ई० में निश्चित आदेश दिये गए। तभी से अगले १० वर्षों में शिक्षा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। जैसा कि पता चलता है कि सन् १८७१ ई० में १६,४७३ विद्यालय साढ़े छः लाख विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। यह संख्या

१. If this great empire is ever to have the roads, the schools, the local police and the other instruments of civilization which a flourishing country ought to possess, it is simply impossible that the Imperial Government can find either the money or the management.—Holwell—Note of Education in India, 1866-67, Para. 19.

सन् १८८१ ई० में ८२,९१६ पहुँच गई और इनमें २१ लाख छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे ।

परन्तु यह आश्चर्यजनक वृद्धि भी भारत के लिए कुछ न थी । यहाँ की जन-संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थी तथा चारों ओर निरक्षरता का काला जाल फैला हुआ था । ऐसी दशा में तत्कालीन शिक्षा की यह मन्दगति से टिमटिमाती ज्योति उसे आलोकित करने में समर्थ न हो सकती थी । इसके लिए एक तेज लौ से जलने वाले प्रकाश की भाँति, उदार नीति, व्यापक दृष्टिकोण एवं अधिक धनराशि की आवश्यकता थी ।

माध्यमिक शिक्षा[1]

इस काल में माध्यमिक शिक्षा में सराहनीय प्रगति हुई । अब भारत में पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान की माँग बढ़ चली थी । सरकार ने तो अंग्रेजी स्कूलों की सहायता में वृद्धि कर दी । उधर वुड के संदेशपत्र के अनुसार भारत के सभी प्रान्तों में शिक्षा-विभागों का संगठन हो चुका था । उन्होंने भी अपना ध्यान इस ओर लगाया । इस अनुकूल वातावरण को प्राप्त कर माध्यमिक शिक्षा का विकास एवं विस्तार स्वाभाविक था । समस्त राजकीय विद्यालयों का नव-निर्माण हुआ और व्यक्तिगत प्रयासों को भी सरकारी सहायता देकर माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना के लिये प्रोत्साहित किया गया । परिणामतः सन् १८८२ ई० तक राजकीय विद्यालयों की संख्या लगभग आठ गुनी हो गई जो इस प्रकार है :—सन् १८५४ ई० में कुल १६६ सरकारी माध्यमिक विद्यालय थे । सन् १८८२ ई० में इनकी संख्या १,३६३ तक पहुँच गई ।

वुड के संदेशपत्र के पूर्व माध्यमिक शिक्षा मिशनरियों के प्रयासों तक ही सीमित थी । परन्तु सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात् कम्पनी के संचालकों ने उनको सशंकित भावना से देखना प्रारम्भ कर दिया था और भारतीय भी शिक्षा में रुचि दिखाने लगे थे । अतः वैयक्तिक प्रयासों के फलस्वरूप व्यक्तिगत माध्यमिक विद्यालयों का भी आशातीत विकास एवं विस्तार हुआ था । सन् १८८२ में इनकी संख्या २,०९८ पहुँच गई थी । इसमें १,३४१ विद्यालय भारतीयों के प्रबन्ध में थे, ७५७ मिशनरियों के अन्तर्गत भारतीयों द्वारा प्रबन्ध किये जाने वाले थे । माध्यमिक विद्यालयों के निर्माण में सबसे अधिक रुचि मद्रास प्रान्त ने दिखाई थी । यहाँ इनकी संख्या ६९८ थी । बंगाल में ५८२ माध्यमिक विद्यालय भारतीयों द्वारा संचालित थे । भारत के अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार के विद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी ।

१. Secondary Education.

माध्यमिक विद्यालयों के निर्माण में मिशनरियों का सहयोग भी कम सराहनीय नहीं है। इनका मुख्य स्थान मद्रास था। यहाँ इनके ४१८ माध्यमिक विद्यालय थे। इसके पश्चात् पंजाब में ११८, आगरा प्रान्त में १०४ और बंगाल में केवल ४० विद्यालय थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि बंगाल में अधिकतर माध्यमिक विद्यालय भारतीयों द्वारा संचालित थे। परन्तु सन् १८८२ ई० में सभी व्यक्तिगत विद्यालयों की संख्या ४,१२२ पहुँच गई थीं।

माध्यमिक शिक्षा के दोष

इस अवधि में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि तो अवश्य हुई, परन्तु कुछ ऐसे दोष भी उत्पन्न हो गए जो सर्वथा हानिकर थे। नीचे इन दोषों की ओर संकेत किया जा रहा है।

१—मातृभाषा की उपेक्षा :—वुड के संदेश-पत्र में माध्यमिक शिक्षा के लिए मातृभाषा पर बल दिया गया था, परन्तु अंग्रेजी सत्ता की सुदृढ़ता के साथ ही साथ अंग्रेजी भाषा भी सुदृढ़ होती गई और शिक्षा का माध्यम प्रायः अंग्रेजी ही रही। सन् १८६२ ई० तक मैट्रीकुलेशन के छात्रों को स्वतंत्रता थी कि वे अपने सभी विषयों का उत्तर अपनी इच्छानुसार किसी भी माध्यम से दे सकते थे, परन्तु इस वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय ने अनिवार्य कर दिया कि सभी विषयों का उत्तर अंग्रेजी में देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई मिडिल स्कूलों में भी अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया गया, क्योंकि कालेज में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था। इसका परिणाम यह हुआ कि छात्रों का अधिक समय अंग्रेजी का अध्ययन करने में ही व्यतीत होने लगा और अन्य विषयों की ओर ध्यान देने के लिए पर्याप्त समय न रहा।

२—दीक्षित अध्यापकों का अभाव:—वुड के संदेश-पत्र ने अध्यापकों की दीक्षा के सम्बन्ध में भी संकेत किया था। परन्तु उसके इस आदेश की सदैव उपेक्षा की गई। सन् १८८२ ई० तक यहाँ केवल लाहौर और मद्रास में ही प्रशिक्षण-विद्यालय थे। इतने बड़े देश के लिए दो प्रशिक्षण-विद्यालय नहीं के बराबर ही थे। इसके अतिरिक्त ये दोनों प्रशिक्षण-विद्यालय अपने उत्तरदायित्व को कुशलतापूर्वक निभाने में सर्वथा असमर्थ थे। इन प्रशिक्षण-विद्यालयों के पास छात्राध्यापकों के अभ्यास लिए विद्यालय न थे। इन प्रशिक्षण-विद्यालयों में अधिक छात्राध्यापक प्रवेश भी नहीं पा सकते थे, क्योंकि संख्याएँ सीमित थीं।

३—औद्योगिक शिक्षा का अभाव :—भारतवर्ष में औद्योगिक शिक्षा का सर्वथा अभाव था। इसके ये कारण थे :—

(१) अंग्रेजी सरकार का विचार था कि भारतवर्ष में औद्योगिक शिक्षा के विकास से इंगलैंड के व्यापार को धक्का लगेगा। अतः भारत में इनका विकास अंग्रेजों के लिए हितकर नहीं।

(२) औद्योगिक शिक्षा के लिए अधिक रुपयों की आवश्यकता थी और सरकार के पास धनाभाव था। अतः सरकार इससे उदासीन रही।

(३) औद्योगिक शिक्षा के अभाव का एक कारण भारतीयों की उदासीनता भी थी। प्रायः लोग इन्ट्रेंस पास करके कालेज में प्रवेश ले लेते थे या उच्च शिक्षा के लिए कालेज में भर्ती हो जाते थे, क्योंकि इन विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र प्रायः शिक्षित घरानों के होते थे। उनका उद्देश्य उच्च शिक्षा प्राप्त कर अच्छी नौकरी पाना और समाज में एक सम्मानित स्थान पाना था, न कि जीवन के लिए उपयोगी ज्ञान सीखना।

सन् १८८२ ई० में सम्पूर्ण भारत में केवल बम्बई में एक कृषि-विद्यालय था, जो कुछ कृषक छात्रों को कृषि का व्यावहारिक ज्ञान देता था। इस संस्था में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को ४ रुपया मासिक छात्रवृत्ति दी जाती थी। इसके अतिरिक्त कोई औद्योगिक विद्यालय न था।

४—पुस्तकीय ज्ञान पर बल—माध्यमिक शिक्षा का चौथा प्रमुख दोष यह था कि बालकों को केवल पुस्तकीय ज्ञान दिया जाता था। व्यावहारिक ज्ञान का सदा अभाव था। परिणाम यह होता था कि वे समाज को सक्रिय सहयोग देने में सर्वथा असमर्थ रहते थे।

स्टैनले का आज्ञा-पत्र[१]

सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् भारत के शासन की बागडोर ब्रिटिश संसद ने स्वयं अपने हाथ में ली और भारत-मंत्री का एक नवीन पद आविर्भूत हुआ। इस पद को सर्वप्रथम सुशोभित करने वाला लार्ड स्टैनले था। वह यह जानने के लिए उत्सुक था कि इस विद्रोह का भारतीय शिक्षा-नीति से क्या सम्बन्ध है? स्टैनले 'वुड' के संदेशपत्र का समर्थक था और यही कारण था कि १८५६ ई० के स्टैनले के आज्ञापत्र में प्राथमिक शिक्षा में कुछ संशोधन एवं परिवर्तन के अतिरिक्त शेष बातें वुड के संदेशपत्र से भिन्न न थीं।

स्टैनले ने प्राथमिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। उसने कहा कि सहायता-अनुदान की प्रथा से प्रारम्भिक विद्यालयों को कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः

१. Lord Stunley's Despatch of 1859.

इन विद्यालयों का प्रबन्ध सरकार स्वयं अपने हाथ में ले ले और व्यय के लिए यदि आवश्यक समझा जाय तो सरकार स्थानीय कर भी लगा सकती है । स्टैनले ऐसे समय में भारत आया था जब इंगलैंड में सार्वजनिक विद्यालयों का विस्तार और स्थानीय करों का आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा था । इन विचारों का प्रभाव स्टैनले पर भी पड़ा था और भारत आकर उसने यहाँ भी वही नीति अपनाने का आदेश दिया । इसके अतिरिक्त स्टैनले ने अध्यापकों के प्रशिक्षण पर भी विशेष बल दिया था ।

इस आज्ञा-पत्र से साथ ही केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा के महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्व को आंशिक रूप में प्रान्तीय सरकारों के हाथ में सौंप दिया । लगभग १२ वर्षों के पश्चात् सन् १८७१ ई० में शिक्षा-विभागों को भी प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया गया तथा शिक्षा-सम्बन्धी सभी प्रकार के व्यय करने के लिए उन्हें स्वीकृति दे दी गयी । इन सभी कार्यों के करने का श्रेय लार्ड मेयो को है । सन् १८७७ ई० में लार्ड लिटन ने शिक्षा के विषय में प्रान्तीय सरकारों को व्यापक अधिकार दे दिये । इसकी आज्ञा के अनुसार शिक्षा के लिए प्रान्तीय सरकार कानून और सिंचाई-विभागों का भी कुछ धन व्यय कर सकती थी । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केन्द्रीय सरकार का शिक्षा से कोई सम्बन्ध न रहा । इतना होते हुए भी सम्पूर्ण भारत की शिक्षा-नीति निर्धारित करने की शक्ति केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में रही और यह नीति १८८२ ई० तक निरन्तर बनी रही ।

विश्वविद्यालय और उच्च शिक्षा[1]

भारत में विश्वविद्यालय की स्थापना का श्रेय वुड के सन्देश-पत्र को है । पिछले इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि २५ अक्टूबर, सन् १८४५ ई० को बंगाल की शिक्षा-समिति के मंत्री डॉ० मोअट[2] ने इंगलैंड में अधिकारियों के समक्ष कलकत्ता में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव रक्खा था, परन्तु वह टाल दिया गया । मद्रास में भी विश्वविद्यालय स्थापित करने के प्रयत्न किए गए थे, परन्तु वे भी सफल न हो सके । सन् १८५२ ई० में कम्पनी के आज्ञा-पत्र के नवीनीकरण के अवसर पर बंगाल-शिक्षा-समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष कैमरन[3] ने संसद से आगरा तथा तीन प्रेसीडेन्सियों में विश्वविद्यालय के संस्थापन का प्रस्ताव रक्खा था, परन्तु उस समय इस सम्बन्ध में कुछ न हो सका । इन माँगों का परिणाम

१. University and College Education.
२. Dr. F. J. Mouat.
३. Hon'ble Mr. C. H. Cameron.

यह अवश्य हुआ कि ब्रिटिश सरकार यह समझ गयी कि भारत में विश्वविद्यालय का प्रश्न अब अधिक दिनों तक टाला नहीं जा सकता और सन् १८५४ ई० के संदेश-पत्र में विश्वविद्यालयों के स्थापित करने का आदेश दिया गया। प्रारम्भिक बातों का अध्ययन करने तथा इनकी रूपरेखा निर्धारित करने में कुछ समय लगने के कारण विलम्ब अवश्य हो गया; परन्तु सन् १८५७ ई० में विश्वविद्यालयों के निर्माण के कानून पास किये गए और उनकी स्थापना की गयी। केवल स्थानीय बातों में ही कुछ अन्तर था, अन्यथा सभी विश्वविद्यालयों के नियम एक ही थे।

विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध

विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध सीनेट के हाथ में दिया गया। सीनेट में कुलपति (प्रान्त का गवर्नर) द्वारा मनोनीत दो वर्ष के लिए उपकुलपति और 'फैलो'[1] होते थे। ये फैलोज दो प्रकार के होते थे। (१) पदेन[2], तथा (२) साधारण[3]। पदेन सदस्यों में प्रधान न्यायाधीश, पादरी, प्रान्तीय गवर्नर की कार्यकारिणी सभा के सदस्य, कालेजों के प्रिन्सीपल तथा प्रान्तीय शिक्षा-संचालक आदि होते थे। सामान्य सदस्य भारतीय प्रतिष्ठित व्यक्ति होते थे।

विश्वविद्यालय के दैनिक कार्यों के संचालन के लिए एक सिंडिकेट का संगठन कर दिया जाता था; परन्तु अधिनियम में इसका उल्लेख न था।

विश्वविद्यालयों के उद्देश्य

विश्वविद्यालयों का मुख्य उद्देश्य ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में योग्यता प्राप्त करने वाले छात्रों की परीक्षा लेकर उन्हें उपाधियाँ प्रदान करना था। ये विश्वविद्यालय कला, विज्ञान, चिकित्सा, कानून और इंजीनियरिंग आदि के प्रमाण-पत्र प्रदान करते थे। विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए मैट्रिकुलेशन परीक्षा उत्तीर्ण होना आवश्यक था।

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सन् १८५७ ई० में पहली इन्ट्रेंस परीक्षा ली और सन् १८५८ ई० में बी० एस्सी० तथा बी० ए० में प्रथमबार केवल १३ छात्र बैठे, जिनमें से २ उत्तीर्ण हुए। इनमें प्रथम बंकिमचन्द चटर्जी और द्वितीय यदुनाथ बोस थे। दोनों उत्तीर्ण छात्र शीघ्र ही डिप्टी कलेक्टर हो गए। प्रारम्भिक काल में इन्ट्रेंस और बी० ए० के बीच में इन्टरमीडिएट की परीक्षा न थी। एफ० ए० की

---

१. Fellows.
२. Ex-officio.
३. Ordinary.

परीक्षा का प्रारम्भ कुछ दिनों पश्चात् किया गया। परीक्षाओं का स्तर बहुत उच्च था। भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान की हुई उपाधियों का वही स्तर था जो लन्दन के विश्वविद्यालयों का। विश्वविद्यालयों की स्थापना के पश्चात् प्रथम १४ वर्षों में २,६६६ छात्र एफ० ए०, ८५० बी० ए० और १५१ एम० ए० में पास हुए। सन् १८६५ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रेमचन्द राय छात्रवृत्ति की आयोजना की गयी तथा सन् १८७६ ई० में डा० महेन्द्र लाल सरकार ने शोध-कार्य के लिए इण्डियन एसोसियशन फॉर साइन्स का निर्माण किया।

आलोचना

१. सन् १८५७ ई० के अधिनियम के अनुसार सीनेट के सदस्यों की संख्या नहीं निश्चित की गई और वे जीवनपर्यन्त के लिए होते थे। इससे आवश्यक परिवर्तन भी सम्भव न था।

२. सदस्य कहलाने के लिए ये जनता के व्यक्ति होते थे, परन्तु सरकार द्वारा मनोनीत किये जाने के कारण उन्हें जनता का ध्यान बिल्कुल न रहता था। इसके अतिरिक्त वे सरकार के प्रिय पात्र होते थे, न कि शिक्षा-मर्मज्ञ। अत: उनसे शिक्षा का हित सम्भव न था।

३. वुड के संदेश-पत्र में भारतीय विश्वविद्यालयों का उद्देश्य परीक्षा के अतिरिक्त शिक्षण भी रक्खा गया था। परन्तु ऐसा नहीं किया गया और इनका कार्य परीक्षा लेने तक ही सीमित रक्खा गया।

४. सिन्डीकेट की कोई व्याख्या न की गयी और भविष्य में सिन्डीकेट का निर्माण सिनेट द्वारा होने लगा, परन्तु अधिनियम द्वारा इसको वैधानिक रूप न दिया गया।

५. इन विश्वविद्यालयों में औद्योगिक शिक्षा का सर्वथा अभाव था। परिणामत: पुस्तकीय ज्ञान तक ही छात्र सीमित रह जाते थे। उनका वह ज्ञान अल्पकाल में भुलाया भी जा सकता था। इस प्रकार कोरे पुस्तकीय ज्ञान ने भारतीयों को आलसी और कोमल बना डाला।

६. शिक्षा का व्यापक अर्थ जीवन को महान बनाना न होकर उसका मूल्य चाँदी के चन्द टुकड़ों से आँका गया। विश्वविद्यालयों का उद्देश्य कुछ व्यक्तियों को उच्च शिक्षा देकर शासन-यन्त्र के लिए पुर्जे तैयार करना था। विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करने का तात्पर्य था कि अच्छी नौकरी अवश्य मिलेगी।[1]

---

१. University Degrees thus came to serve as sure passports to service and unhappy association was fortuitously established between the two. A. N. Barn—Education in Indian-India, page 45.

७. सीनेट में अध्यापकों का उचित प्रतिनिधित्व न था। अतः वांछित लाभ न हो सकता था।

८. विश्वविद्यालयों के निरीक्षण में नौकरशाही का बोलबाला था। इन्हीं निरीक्षकों पर विश्वविद्यालयों का सब कुछ निर्भर था। अतः उनका वास्तविक और उचित विकास न हो सका।

९. उच्च शिक्षा एवं परीक्षा का भी माध्यम अंग्रेजी थी। इस प्रकार प्राच्य भाषाओं की उपेक्षा की गयी। काफी समय के बाद प्राच्य भाषाओं को विश्वविद्यालय के विषयों में सम्मिलित किया गया।

सन् १८५४ से १८८२ तक उपर्युक्त विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त केवल पंजाब विश्वविद्यालय और स्थापित हुआ। यह सन् १८८२ ई० में बना। यद्यपि इसके बनने का आन्दोलन १८६५ ई० से ही चला था, परन्तु उस समय ऐसा न हो सका। आगे चलकर सन् १८६९ ई० में लाहौर में यूनिवर्सिटी कालेज स्थापित हुआ और यही आगे चलकर विश्वविद्यालय में परिणित हो गया। इसकी रूप-रेखा कलकत्ता, मद्रास और बम्बई से भिन्न थी। संक्षेप में पंजाब विश्वविद्यालय की निम्नांकित विशेषतायें थीं :—

(१) संस्कृत, अरबी तथा फारसी की योग्यताओं के सम्बन्ध में परीक्षा लेना और भारतीय प्रथा के अनुसार उपाधियाँ प्रदान करना।
(२) प्राच्य ज्ञान के क्षेत्र में उर्दू के माध्यम से निर्धारित योग्यता प्राप्त करने वाले छात्रों को स्नातक आदि की उपाधि देना।
(३) विभिन्न स्कूली परीक्षाओं का प्रबन्ध तथा उनका उचित संचालन करना।
(४) विशेष योग्यता तथा वर्नाक्यूलर भाषाओं की परीक्षा का आयोजन करना।
(५) विश्वविद्यालय की देख-रेख में एक कानून का कालेज तथा एक प्राच्य कालेज था। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय की सीनेट के आदेशानुसार अन्य स्कूलों और कालेजों को चलाना भी उसका काम था।

इस प्रकार पंजाब विश्वविद्यालय का दृष्टिकोण भारतीय था। यहाँ मातृभाषा के माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान पढ़ाया जाता था। यहाँ प्राच्य भाषाओं को भी आश्रय दिया गया।

सन् १८५४ ई० से १८८२ ई० तक उच्च शिक्षा की प्रगति संतोषजनक रही। इसका कारण यह है कि इस अवधि में माध्यमिक विद्यालयों में आश्चर्यजनक वृद्धि

हुई थी। अतः उनमें उत्तीर्ण छात्रों के लिए उच्च विद्यालयों का निर्माण आवश्यक था। इधर कलकत्ता प्रवेशिका परीक्षा के परीक्षार्थियों की संख्या दुगुनी हो गई थी। अतः सरकार को इधर ध्यान देना पड़ा। कलकत्ता और मद्रास में प्रेसीडेन्सी कालेजों का निर्माण हुआ।

सन् १८६६ ई० में गवर्नर म्योर ने उत्तर प्रदेश में भी एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव रक्खा। सन् १८७२ ई० में किराये के एक भवन में सेन्ट्रल कालेज प्रारम्भ किया गया। १ वर्ष पश्चात् लार्ड नार्थब्रुक ने इसका शिलान्यास किया। सन् १८६४ ई० में अवध के ताल्लुकदारों की प्रेरणा से लखनऊ में कैनिंग कालेज की स्थापना हुई और इसमें एक प्राच्य विभाग भी खोला गया। यह कालेज बढ़ कर १६२० ई० में विश्वविद्यालय बन गया। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार करने के लिए सन् १८७५ ई० में मुस्लिम एंग्लो ओरियन्टल कालेज, अलीगढ़, की स्थापना की।

इसी प्रकार सन् १८७० ई० में राजकोट कालेज, १८७२ ई० मेयो कालेज; अजमेर, १८७६ ई० डेली कालेज; इन्दौर, १८७८ ई० में बंगाल में मैट्रोपोलिटन कालेज तथा १८७६ ई० में सिटी कालेज स्कूल से परिवर्तित हो कर बने। सन् १८८१ ई० में अलबर्ट कालेज भी स्कूल से विकसित होकर कालेज बन गया। इसके अतिरिक्त मद्रास में भी पंचयपा स्कूल तथा विशाखापट्टणम् स्कूलों का स्तर ऊँचा कर कालेज में परिवर्तित कर दिया गया। १८६१ ई० में तिन्नेवल्ली कालेज का निर्माण हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १८५४ ई० के पश्चात् भी उच्च शिक्षा के प्रसार में कोई सराहनीय प्रगति न हुई और इसके बाद कालेजों में वृद्धि हुई और आधुनिक विश्वविद्यालयों का निर्माण तो हो गया, परन्तु वे केवल परीक्षा-संस्थाएँ थीं। अतः उच्च शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में वे कोई काम न कर सके। हाँ, इनसे सम्बद्ध कालेजों ने अवश्य कुछ काम किया। सन् १८५४ ई० तक भारत में कुल २३ कालेज थे जिनमें ६ कालेज धर्म-प्रचारकों के थे और १४ कम्पनी सरकार के। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा संचालित एक इंजीनियरिंग कालेज और ३ मेडिकल कालेज थे। सन् १८५७ ई० तक एलफिस्टन इन्स्टीट्यूट, आगरा कालेज और दिल्ली कालेज में चन्दा देकर भारतीयों ने उच्च शिक्षा की ओर अपनी रुचि का प्रदर्शन किया था। कलकत्ता मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों के स्थापित हो जाने के कारण ये कालेज उनके अंग बन गए। इनका पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयों से निर्धारित होने लगा और ये कालेज प्रवेशिका-परीक्षा लेने लगे। इनकी संख्या सन् १८५७ में २७ थी और १८७२ ई० में ७८ हो गई।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अब भारतीय भी उच्च शिक्षा की ओर रुचि दिखाने लगे थे। १८८२ ई० में उत्तर प्रदेश में कैनिंग कालेज लखनऊ और मुस्लिम कालेज अलीगढ़ तथा तीन कालेज मद्रास में भारतीयों द्वारा संचालित थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि उस समय उच्च शिक्षा में भारतीयों का योगदान भी कम नहीं था।

स्त्री-शिक्षा[1]

वुड के सन्देश-पत्र ने नारी शिक्षा को प्रोत्साहित करने का आदेश दिया था। अतः सरकार ने इस ओर ध्यान दिया और स्त्रियों के लिए अलग विद्यालयों का निर्माण होने लगा। इस दिशा में नव-निर्मित शिक्षा विभाग का विशेष हाथ रहा। फलतः नारी शिक्षा की प्रगति बड़ी तीव्र रही और सन् १८८२ ई० तक कुल मिलाकर २,६९१ संस्थायें स्थापित हुईं, जो इस प्रकार हैं :—

बालिका-विद्यालयों की संख्या

विद्यालय	ऐसे विद्यालय जिन्हें न सहायता मिलती थी और न निरीक्षण होता था।	ऐसे विद्यालय जिनको सहायता नहीं मिलती थी, परन्तु निरीक्षण होता था	सहायता प्राप्त विद्यालय	राजकीय विद्यालय	छात्र संख्या
प्रारम्भिक विद्यालय	६	३९८	१५९१	६०५	८२,४२०
मिश्रित विद्यालय (प्रारम्भिक)	×	×	×	×	४२,०७१
नार्मल स्कूल	×	×	११	४	५१५
कालीजिएट स्कूल	×	×	×	१	६
माध्यमिक स्कूल	×	२५	५०	६	२,०५४
महायोग	६	४२३	१,६५२	६१६	१२७०६६

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ प्रायः प्रारम्भिक शिक्षा ही ग्रहण करती थीं। उच्च शिक्षा के लिए न तो उनकी रुचि ही दिखाई पड़ती है और

१. Women Education

न उसके लिए साधन ही सुलभ थे। स्त्री शिक्षा के उपेक्षित होने के मुख्य कारण ये हैं :—

१. सर्व प्रथम कारण यह था कि उस समय बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अल्प आयु में ही विवाह करके बालिकाओं को उनके घर भेज दिया जाता था। इस प्रकार बाल-विवाह उनकी शिक्षा में बड़ा बाधक था।

२. भारतीय जनता स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा के पक्ष में न थी। उसके अनुसार स्त्रियों को उच्च शिक्षा देना मर्यादा के विरुद्ध था।

३. नारियों के लिए नौकरी की कल्पना तक लोग नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में उनके सामने अन्य कोई प्रेरणा देने वाला साधन न था।

४. मुसलमानों के काल में पर्दा-प्रथा प्रचलित हो गई थी। अतः प्रायमरी शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उनको उच्च विद्यालयों में भेजना उचित नहीं समझा जाता था।

धीरे-धीरे कुछ सम्भ्रान्त तथा उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों ने सोचा कि बालिकाओं को शिक्षित बनाने में कोई हानि नहीं। अतः उन्होंने इस दिशा में कदम उठाया। इसमें नगर के रहने वालों का विशेष सहयोग था। इसके फलस्वरूप कुछ बालिकायें उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ओर अग्रसर हुईं, परन्तु उनकी संख्या नगण्य थी। सम्पूर्ण भारत में केवल कलकत्ता के बेथ्यून कालेज में ६ छात्रायें थीं। माध्यमिक विद्यालयों में भी बालिकाओं की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती थी। भारतवर्ष में माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाली छात्राओं की संख्या २,०५४ थी जिनमें सबसे अधिक संख्या बंगाल में थी। यहाँ १,०५१ छात्रायें माध्यमिक शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। इस प्रकार बम्बई में ५३८, मद्रास में ३८९, पश्चिमोत्तर प्रदेश में ६८ और पंजाब में केवल ८ छात्रायें थीं। इन संख्याओं में भी प्रधानतः एंग्लोइंडियन, भारतीय ईसाई और पारसी छात्रायें थीं। परन्तु प्राथमिक विद्यालयों की संख्या से पता चलता है कि उस समय प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव लोगों को होने लगा था।

उपर्युक्त तालिका से ज्ञात होता है कि सन् १८८२ ई० में प्रशिक्षण-विद्यालयों में ५१५ छात्राध्यापिकायें दीक्षा ले रही थीं। अतः इस क्षेत्र में उनकी दशा इतनी शोचनीय न थी जितनी कि माध्यमिक और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में। प्रशिक्षण-विद्यालयों के निर्माण करने में प्रथम प्रयास धर्म-प्रचारकों ने ही किया था। यद्यपि इनका उद्देश्य भारतीय महिलाओं का हित न होकर स्वार्थ-सिद्धि था। इन धर्म-

प्रचारकों ने दो उद्देश्यों से इन प्रशिक्षण-विद्यालयों की स्थापना की थी । (१) दीक्षित अध्यापिकायें उनके बालिका-विद्यालयों में अध्यापन-कार्य करेंगी । (२) धर्म-परिवर्तिता ईसाई स्त्रियों को अच्छा वेतन मिलेगा और वे सुन्दर जीवन व्यतीत कर सकेंगी । परन्तु इन विद्यालयों में बाइबिल का अध्ययन अनिवार्य होने के कारण कुलीन वंश की बालिकायें प्रवेश लेना उचित नहीं समझती थीं । इन विद्यालयों के अतिरिक्त देश में अन्य प्रशिक्षण-विद्यालयों का कोई प्रबंध न था । यद्यपि वुड के सन्देश-पत्र में प्रशिक्षण-व्यवस्था की विवेचना की गई थी । परन्तु सन् १८७० ई० तक सरकार ने इस ओर कोई ध्यान न दिया । भारतीय वैयक्तिक प्रशिक्षण-संस्थाओं की स्थापना करने में असमर्थ थे, क्योंकि ऐसी संस्थाओं के लिए उच्च योग्यता वाले प्रधानाचार्य और अध्यापिकाओं की आवश्यकता थी और तत्कालीन भारत में इनका मिलना असम्भव-सा था ।

नारी प्रशिक्षण की व्यवस्था करने के लिए सरकार को प्रेरित करने का श्रेय एक उदार हृदयसमाजसेविका अंग्रेजी महिला मिस मेरी कारपेन्टर[1] को है । भारतीय नारी वर्ग के सौभाग्य से मिस मेरी ने सन् १८६६ ई० में भारत में पदार्पण किया और सरकार तथा स्त्रियों के हृदय में भी स्त्री-शिक्षा की ज्योति जगा दी । मिस मेरी ने स्त्री-शिक्षा की दशा शोचनीय होने का गहन अध्ययन किया और यह परिणाम निकाला कि स्त्री-शिक्षा में प्रगति लाने के लिए अध्यापिकाओं का प्रशिक्षण अत्यन्त आवश्यक है । इस समस्या का निदान सरल न था । इसके लिए निम्नांकित बातों की आवश्यकता थी :

१. सरकार प्रक्षिक्षण संस्थाओं का सुव्यवस्थित प्रबंध करे ।
२. उनमें योग्य और कुशल अध्यापिकाओं को नियुक्त की जाय ।
३. छात्राध्यापिकाओं को इन संस्थाओं में प्रवेश के लिए प्रोत्साहित किया जाय ।

मिस कारपेन्टर इंगलैन्ड की सुविख्यात समाज-सेविका थीं । अतः इनके प्रस्तावों का सरकार पर काफी प्रभाव पड़ा । तत्कालीन गवर्नर जनरल सर जान लारेन्स ने महिला प्रशिक्षण-विद्यालयों के निर्माण के लिए एक निश्चित धनराशि की स्वीकृति दे दी । इस प्रकार प्रथम समस्या का समाधान तो हो गया, परन्तु अन्य दोनों समस्याएँ इतनी सरल न थीं । भारत में प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के चलाने के लिए योग्य महिलायें न प्राप्त होन पर मिस कारपेन्टर ने एक महिला-विद्यालय के कार्य संचालन का भार स्वयं अपने ऊपर लिया । इन विद्यालयों में छात्राओं को

१. Miss Mary Carpenter (1807-77)

प्रवेश दिलाने में इन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु कुछ उदार और व्यापक दृष्टिकोण वाले सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सहयोग से यह कार्य भी पूरा हुआ और स्त्री-शिक्षा की गाड़ी आगे चल पड़ी। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा के प्रशिक्षण-क्षेत्र में मिस कारपेन्टर को पथ-प्रदर्शक समझना चाहिए[1]।

सन् १८७० ई० में पूना में स्थापित महिला प्रशिक्षण-महाविद्यालय पर एक विहंगम दृष्टि डालने से तत्कालीन नवनिर्मित प्रशिक्षण-विद्यालयों की दशा का ज्ञान हो जायगा। प्रथम बार इस विद्यालय में ८ छात्राओं ने प्रवेश लिया जिनमें कुछ को अक्षर बोध भी नहीं था और प्रशिक्षण-विद्यालयों के लिए काफी योग्यता की आवश्यकता थी। ऐसी दशा में इस गाड़ी का चलना सम्भव न था। परन्तु उन्हें दीक्षा देनी ही थी। अतः पहले उन्हें साक्षर और योग्य बनाने का कार्य-भार प्रशिक्षण-विद्यालयों ने ही लिया।

सन् १८७८ ई० तक इस प्रशिक्षण-विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए कोई योग्यता नहीं निर्धारित की गई। प्राइमरी कक्षा ३ पास करने पर छात्रायें इसमें प्रवेश पा सकती थीं। सन् १८८२ ई० तक इस कालेज ने केवल ३४ छात्राध्यापिकाओं को दीक्षित किया था। सन् १८८२ ई० में इस कालेज में छात्राओं की उच्चतम संख्या ६२ थी। इस संम्पूर्ण संख्या में ६ ब्राह्मण, १८ महाराष्ट्री, १ स्वर्णकार, १ चानी, १ ज्यू तथा १ मुसलमान स्त्री तथा इसमें १९ विवाहिता, ४ अविवाहिता और ११ विधवायें थीं।

सह-शिक्षा[2]

सन् १८८२ ई० की तालिका से पता चलेगा कि सामान्य घराने के माता-पिता अपनी बालिकाओं की सह-शिक्षा दिलाने के पक्ष में न थे तथा वे यह भी नहीं चाहते थे कि कन्या-पाठशालाओं में पुरुष अध्यापक नियुक्त किये जाँय। परन्तु शिक्षिकाओं के अभाव में वयोवृद्ध व्यक्तियों को नियुक्त कर लिया जाता था।

पाठ्य-क्रम

सन् १८५४ से १८८२ ई० की अवधि में बालिकाओं के लिए बालकों से भिन्न पाठ्य-क्रम की माँग रही। अधिकांश बालिकायें प्रायमरी तक ही सीमित रह

१. She should, therefore, be regarded as the poineer of women's training colleges which later on became so important an agency to develop the education of women.

Nurullah and Naik page. 390.

२. Co-education.

जाती थीं और इसका प्रभाव भी प्रधानतया प्रायमरी शिक्षा पर ही पड़ा। यह माँग दो सिद्धान्तों पर आधारित की गयी। प्रथम यह कि बालिकायें विद्यालयों में कम समय तक अध्ययन करती हैं, अतः उनका पाठ्य-क्रम छात्रों से भिन्न होना चाहिए। द्वितीय यह था कि स्त्रियों के लिए सीना-पिरोना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अन्य विषयों के साथ-साथ इसे भी एक विषय रक्खा जाय। परन्तु इस दिशा में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ।

व्यावसायिक शिक्षा[1]

पिछले अध्यायों में हम बता चुके हैं कि ब्रिटिश सरकार स्वार्थसिद्धि के उद्देश्य से भारत में व्यावसायिक शिक्षा का श्री गणेश कर चुकी थी। फलतः चिकित्सा-शास्त्र, निर्माण-कला और कानून की शिक्षा प्रदान की जाने लगी थी। सन् १८५७ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना होने के साथ ही कानून, चिकित्सा और निर्माण-कला के विभाग भी खुले।

कानून की शिक्षा[2]

वुड के संदेश-पत्र ने कानून की शिक्षा पर विशेष बल दिया था। परिणाम-स्वरूप सन् १८५५ ई० में बम्बई और मद्रास में कानून के प्रोफेसरों का प्रबन्ध किया गया। न्यायालयों के स्थापित हो जाने के कारण कानून-विशेषज्ञों की माँग बढ़ रही थी और विश्वविद्यालय के स्थापित हो जाने के कारण अधिक संख्या में छात्र निकलने लगे थे। इस प्रकार कानून की शिक्षा में काफी प्रगति हुई।

चिकित्सा-शिक्षा[3]

सन् १८६० ई० में पंजाब मेडिकल कालेज की स्थापना हुई। यह कालेज पंजाब के लोगों को पाश्चात्य ढंग पर चिकित्सा की शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में मेडिकल कालेजों की स्थापना पहले ही हो चुकी थी। अन्य प्रान्तों में मेडिकल कालेज न थे। अतः वे अपने क्षेत्र के छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देकर इन्हीं में से किसी मेडिकल कालेज में भेजते थे। इन कालेजों के अतिरिक्त कुछ प्रान्तों को छोड़ कर शेष लगभग सभी प्रान्तों में मेडिकल स्कूल थे।

---

१. Vocational Education.

२. Legal Education.

३. Medical Education.

इंजीनियरिंग की शिक्षा[1]

बंगाल में सन् १८८० ई० में शिवपुर में एक इंजीनियरिंग कालेज खोला गया। सन् १८५४ ई० में स्थापित राजकीय यांत्रिक स्कूल का स्तर ऊँचा करके कालेज बना दिया गया। मद्रास में सन् १७९३ ई० से एक सर्वे स्कूल संचालित था। सन् १८५८-६२ के मध्य में उसे कालेज बना दिया गया। इसके अतिरिक्त रुड़की में भी थामसन कालेज क्रियाशील था। सार्वजनिक निर्माण-विभाग, नगर-पालिका तथा अन्य विभागों का नव-निर्माण हो रहा था और नये-नये कारखानों और मिलों में इंजीनियरों की आवश्यकता थी। सरकार ने उच्च श्रेणी के प्राप्तांक व्यक्तियों को राजकीय नौकरियों को देने का आश्वासन भी दे रक्खा था। अतः इंजीनियरिंग कालेजों की ओर अपार भीड़ दौड़ पड़ी। उन कालेजों के अतिरिक्त भारत में कई इंजीनियरिंग स्कूल भी अपना कार्य कर रहे थे।

कृषि-शिक्षा[2]

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की ७० प्रतिशत से अधिक जनता कृषि पर निर्भर रहती है। परन्तु फिर भी दुर्भाग्यवश १८८० ई० तक सरकार ने कृषि-शिक्षा की ओर कोई ध्यान न दिया था। सन् १८६४ में सैदपत (मद्रास) में परीक्षण के लिए एक कृषि फार्म खोला गया था। वही कालेज के रूप में परि-वर्तित हो गया। इस कालेज में ३ वर्ष की शिक्षा दी जाती थी और अन्त में राज-कीय परीक्षाओं के कमिश्नर द्वारा परीक्षा का आयोजन किया जाता था। इस प्रकार पूना कालेज में भी सन् १८७९ ई० में कृषि-विभाग खोला गया था। इस प्रकार इस अवधि में कृषि-विभाग उपेक्षित रहा और जो कुछ था भी, उसका सुव्यवस्थित रूप न था।

पशु-चिकित्सा[3]

पशु-चिकित्सा की शिक्षा का आविर्भाव सरकारी तथा गैर सरकारी आवश्य-कताओं की पूर्ति के परिणाम-स्वरूप हुआ था।

वन-विज्ञान[4]

भारतवर्ष में अनेक बड़े-बड़े और घने वन हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने इन वनों के वैज्ञानिक ढंग पर विकास और नियंत्रण का निर्णय

---

१. Engineering Education.

२. Agricultural Education.

३. Veterinary Education.

४. Forestery.

किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उसे भारतीयों को वन-विज्ञान की शिक्षा देने की आवश्यकता पड़ी। परिणामतः सन् १८७८ ई० में देहरादून फारेस्ट स्कूल का निर्माण हुआ। पूना कालेज में भी एक वन-विभाग स्थापित हुआ। परन्तु इन दोनों संस्थाओं का निर्माण वन-विभाग के लिए अधिकारी और कर्मचारी तैयार करने के लिए हुआ था।

कला तथा वाणिज्य की शिक्षा[1]

सन् १८७५ ई० में लाहौर में मेयो आर्ट स्कूल की स्थापना हुई थी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई संस्था न खुली। इस दिशा में विशेष प्रगति न हुई। केवल कुछ स्कूल इस ओर क्रियाशील थे।

टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा

सन् १८५७ के पश्चात् अगले २० वर्षों तक सरकार ने इस ओर कोई ध्यान न दिया और इन विद्यालयों का निर्माण जनता के सामर्थ्य के बाहर था। धर्म-प्रचारकों ने सामान्य शिक्षा की ओर तो सराहनीय कार्य किये थे, परन्तु औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में वे कुछ न कर सके। वे केवल चन्द स्कूलों का निर्माण कर सके, जिन्हें क्रैफ्ट-स्कूल कहा जा सकता है, न कि औद्योगिक स्कूल। उनमें बढ़ई और लोहार का काम सिखाया जाता था और निम्नवर्ग के भारतीयों (परिवर्तित ईसाई) को अपनी आजीविका कमाने की शिक्षा दी जाती थी। सरकार का ध्यान सर्व प्रथम इस ओर सन् १८७७ ई० में अकाल आयोग[3] ने आकर्षित कराया था। परन्तु फिर भी इस दिशा में बहुत कम सफलता मिली जिसका वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा।

औद्योगिक शिक्षा पर एक दृष्टि

इस अवधि म औद्योगिक शिक्षा की प्रगति बहुत मन्द रही। इसके निम्नांकित कारण हैं :—

१. इस ओर जितने भी प्रयास हुए वे प्राय: शासन के दृष्टिकोण से हुए न कि जनता के हित के लिए।

२. औद्योगिक शिक्षा की ओर वैयक्तिक प्रयासों का नितान्त अभाव था और भारतीय तो इस ओर पूर्णरूपेण उदासीन रहे।

---

१. Art and Commercial Education.
२. Technical and Industrial Education.
३. Famine Commission (1877-78)

३. कानून, चिकित्सा और निर्माण-कला की भाँति औद्योगिक शिक्षा के लिए कोई समुचित प्रबन्ध न था।

शिक्षा-विभागों का निर्माण और विकास

आधुनिक शिक्षा विभाग का आविर्भाव सन् १८५४ ई० के पश्चात् हुआ। इसके पूर्व ऐसी कोई सरकारी संस्था न थी। परन्तु बम्बई और उत्तर प्रदेश में इसकी नींव पड़ चुकी थी। सन् १८४० ई० में बम्बई में बोर्ड ऑव एजुकेशन का निर्माण हुआ था। यह बोर्ड प्रांतीय सरकार के आधीन था और प्रान्त के सभी विद्यालयों का प्रबन्ध करता था। प्रबन्ध-सुविधा के लिए इसने सम्पूर्ण प्रान्त को तीन भागों में विभाजित कर दिया था। प्रत्येक भाग एक अधीक्षक के आधीन होता था। यह अधीक्षक प्रारम्भ में अल्पकालीन थे, परन्तु कुछ दिनों बाद वे स्थायी और पूर्णकालिक होने लगे।

उत्तर प्रदेश में थामसन ने परगना विजिटर, जिला विजिटर और प्रधान विजिटर नियुक्त किया था। इस प्रकार इन दोनों प्रान्तों में शिक्षा-विभाग की रूप-रेखा बन चुकी थी। वुड के संदेश-पत्र ने इन दोनों प्रान्तों के शिक्षा-विभागों को एक सुव्यवस्थित रूप दिया तथा अन्य प्रान्तों में भी शिक्षा-विभागों के शीघ्र निर्माण का आदेश दिया। प्रान्तीय सरकारों ने शीघ्र ही अपना ध्यान इधर केन्द्रीभूत किया और सन् १८५६ ई० के अन्तिम दिनों तक सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के हर प्रान्त में शिक्षा-विभागों का निर्माण हो गया। प्रान्तीय सरकार ने शिक्षा-विभागों को निम्नांकित उत्तरदायित्वों को सौंपा :—

१—अपने क्षेत्र के शिक्षा-सम्बन्धी सभी प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकार को सूचना और उचित सुझाव देना।

२—प्रान्त की शिक्षा-प्रगति के सम्बन्ध में एक वार्षिक रिपोर्ट तैयार करना और उसे सरकार के पास भेजना।

३—प्रान्त की शैक्षिक दशा में सुधार एवं शिक्षा-प्रसार का प्रयत्न करना।

४—प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों द्वारा दी हुई धन-राशि को उचित रूप से व्यय करने का प्रबन्ध करना।

५—प्रान्त में कुछ राजकीय विद्यालय संचालित करना।

६—सरकारी सहायता और मान्यता प्राप्त करने वाले विद्यालयों का निरीक्षण करना।

७—समय-समय पर विद्यालयों को आदेश देना, उनकी जानकारी रखना तथा पाठ्यक्रम का प्रबन्ध करना आदि बातों के लिए शिक्षा-विभाग का उत्तर-दायित्व होगा ।

संदेशश-पत्र ने आदेश दिया था कि शिक्षा-विभाग के सभी अधिकारियों की नियुक्ति में व्यक्ति भारतीयों का विश्वासपत्र बन सके। इस नीति को सफल बनाने के लिए उसने शिक्षाधिकारियों के पदों पर आई० सी० एस० व्यक्तियों को नियुक्त करने का सुझाव सन्देश-पत्र में रक्खा था । इसके अनुसार कुछ प्रान्तों में लोक शिक्षा-निर्देशक के पद को आई० सी० एस० अधिकारियों ने ही सुशोभित किया । कुछ प्रान्तों में निरीक्षक भी आई० सी० एस० आधिकारी होते थे । परन्तु यह प्रथा अधिक दिनों तक न चल सकी और निरीक्षकों तथा अन्य पदों पर साधारण व्यक्तियों की नियुक्ति होने लगी तथा उनका वेतन भी आई० सी० यस० सदस्यों से बहुत कम होने लगा । इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न वेतन दिया जाने लगा ।

उपर्युक्त दोषों के फलस्वरूप शिक्षा-विभाग में शिथिलता आने लगी । अतः इन दोषों को दूर करने के लिए बम्बई के लोक-शिक्षा-निर्देशक सर अलेक्जेन्डर ग्रान्ट ने एक योजना प्रस्तुत की और इसके अनुसार बम्बई प्रान्त के लिए शिक्षा-सेवा में सामान्य और विशिष्ट दो वर्ग रक्खे तथा प्रत्येक अधिकारी का निम्नतम और उच्चतम वेतन निर्धारित कर दिया । इसके अनुसार लोक-शिक्षा-निर्देशक को पहले के अनुसार २,५०० रुपया मासिक वेतन मिलना चाहिए तथा अन्य अधिकारियों का निम्नतम वेतन ५०० रुपया रक्खा जाय । बम्बई सरकार ने इसकी सभी सिफा-रिशों को मान लिया और उसने इस योजना को सम्पूर्ण भारत में कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय सरकार को लिखा । दुर्भाग्यवश यह स्वीकृत न हो सकी, परन्तु केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की असुविधाओं को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया ।

केन्द्रीय सरकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप अधिकारियों के वेतन में पर्याप्त सुधार हुआ और अब प्रत्येक प्रान्त के अधिकारियों के वेतन में अधिक भिन्नता न रही । सन् १८८२ ई० तक शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की एक निश्चित रूपरेखा तैयार हो गई; यद्यपि यह योजना सभी प्रान्तों के लिए समान न थी । किसी प्रान्त में निरीक्षकों की दो, किसी में तीन तो किसी में चार श्रेणियाँ होती थीं । निरीक्षकों की संख्या भी प्रान्त के विस्तार पर निर्भर थी ।

सन् १८८६ ई० में प्रचलित निरीक्षण-प्रणाली सर्वथा अनुचित और दोषपूर्ण थी । उस समय निरीक्षण की ये दो प्रथायें थीं :—

१. निरीक्षक विद्यालयों में पहुँचकर विद्यालय की सभी बातों का निरीक्षण करते थे।

२. निरीक्षक किसी निर्दिष्ट स्थान पर आसपास के सभी विद्यालयों को एक कर वहीं सबका निरीक्षण करते थे।

इस प्रकार दूसरी प्रणाली के अनुसार निरीक्षक विद्यालयों की कुछ ही बातों की जानकारी प्राप्त कर सकते थे। इस प्रणाली के प्रचलन का कारण निरीक्षकों की पर्याप्त संख्या का अभाव था। उस समय एक निरीक्षक के आधीन लगभग १३३ विद्यालय होते थे, जब कि आजकल केवल ६० स्कूल ही काफी समझे जाते हैं। सन् १८८२ ई० तक शिक्षा-विभाग का एक यह भी बड़ा दोष था कि उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति बहुत कम की जाती थी तथा नियुक्त व्यक्ति का सम्मानित और सरकार का विश्वासपात्र होना आवश्यक था, चाहे शिक्षा के विषय में उसे कोई जानकारी हो या न हो। इन दोषों के कारण निरीक्षकों से वांछित लाभ न हो सका और इन्हीं दोषों को दूर करने के लिए सन् १८८२ ई० में शिक्षा-आयोग ने कुछ सिफारिशें कीं जिनका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

शिक्षा-अनुदान-पद्धति का विकास[1]

वुड के संदेश-पत्र के आदेशानुसार सभी प्रान्तों में गैर-सरकारी स्कूलों को आर्थिक सहायता देने के लिए नियम बनाए गए। आर्थिक सहायता प्राप्त होने से इन विद्यालयों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और इनकी दशा बदल गई। परन्तु फिर भी इस पद्धति से आशातीत लाभ न हुआ क्योंकि इसमें निम्नांकित दोष थे :—

१—सर्व प्रमुख दोष यह था कि सहायतार्थ स्वीकृत धनराशि समय पर नहीं मिलती थी।

२—स्वीकृत धनराशि इतनी अल्प होती थी कि उससे विद्यालय की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी असम्भव थी। ऐसी स्थिति में इनका सर्वांगीण विकास न हो सका।

३—आर्थिक सहायता-अनुदान के नियमों के निर्धारण में गैरसरकारी विद्यालयों के प्रबंधकों से कोई परामर्श न किया जाता था। अतः ये नियम बड़े कठोर और अस्पष्ट होते थे।

४—शिक्षा-विभाग के अधिकारी प्रायः गैर-सरकारी स्कूलों को हेय दृष्टि से देखते थे और उनका सदैव विरोध करते थे। इनको राजकीय विद्यालयों के समकक्ष सम्मान नहीं मिलता था।

---

[1] Development of the Grant-in-aid System.

५—शिक्षा-नीति-निर्धारण में गैर-सरकारी स्कूलों के प्रतिनिधियों का कोई हाथ न होता था।

६—प्राय: राजकीय विद्यालयों के छात्रों को ही छात्रवृत्ति दी जाती थी तथा परीक्षकों की नियुक्ति में भी राजकीय विद्यालयों के अध्यापकों को प्राथमिकता दी जाती थी।

७—धर्म-प्रचारकों द्वारा स्थापित विद्यालयों को अधिक धन दिया जाता था।

८—कभी-कभी अधिकारियों की अप्रसन्नता के कारण या अन्य किसी कारणवश इस धनराशि को कम कर दिया जाता था या बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाता था।

ऐसी दशा काफी समय तक बनी रही। परन्तु सन् १८८२ के भारतीय शिक्षा-आयोग ने इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया और इसके लिए अनेक सुझाव दिये।

शिक्षा-प्रसार के साधनों का भारतीयकरण

सन् १८१३-५३ ई० तक भारत में शिक्षा-प्रसार-कार्य में भारतीय उदासीन रहे। इस कार्य को प्रमुख रूप से विदेशी धर्म-प्रचारक ही करते रहे। सरकारी चेष्टाओं को द्वितीय स्थान दिया जाता रहा है। इसके अतिरिक्त कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने भी वैयक्तिक रूप से शिक्षा-प्रसार के कार्य में योग दिया। परन्तु सन् १८५८ ई० के पश्चात् ये अंग्रेज अधिकारी भी इस कार्य को न कर सके; क्योंकि सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् इनके वैयक्तिक कार्य की स्वतंत्रता सीमित कर दी गई तथा नियम और अनुशासन कड़े कर दिए गए। अब ये अंग्रेज अधिकारी शिक्षा-कार्य न करने के लिए विवश थे। इनकी उदासीनता का एक कारण यह भी था कि अब भारतीय भी शिक्षा के प्रति जागरूक हो गये थे और शिक्षा-संस्थाओं के संचालन में दक्षता प्राप्त कर चुके थे। इन सरकारी वैयक्तिक संस्थाओं की समाप्ति से तो भारतीयों की कोई विशेष हानि न हुई, परन्तु देशी स्कूलों की समाप्ति ने भारतीय शिक्षा को बड़ा आघात पहुँचाया। यद्यपि वुड के संदेशपत्र ने इन विद्यालयों को जीवित रखने का भरसक प्रयत्न किया था, परन्तु उसका कोई परिणाम न निकला। देशी स्कूल उत्तरोत्तर पतन की ओर बढ़ते गये और उन्हें रोका न जा सका। इन विद्यालयों के पतन के साथ ही साथ आधुनिक अंग्रेजी विद्यालयों का विकास होता गया। परन्तु विशेषता तो यह है कि इन अंग्रेजी विद्यालयों का विकास भारतीयों द्वारा था, न कि धर्म-प्रचारकों अथवा सरकारी संस्थाओं द्वारा।

इस अवधि में धर्म-प्रचारकों का शिक्षा-प्रचार-कार्य सीमित हो गया, क्योंकि उनकी यह आशा कि अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त कर भारतीय ईसाई धर्म की ओर झुकेंगे सफलीभूत न हुई। अतः उनकी प्रेरणा का स्रोत मन्द पड़ गया। इसके अतिरिक्त राजनीतिक क्रान्ति के कारण ब्रिटिश संसद उनको सशंकित दृष्टि से देखने लगी थी और अब भारतीय भी शिक्षा-प्रसार की ओर जुट पड़े थे।

सन् १८५४ ई० के सन्देश-पत्र में शिक्षा-अनुदान का आदेश दिया गया था। इसकी व्यवस्था का तात्पर्य यह था कि सरकार शिक्षा से अपना हाथ खींच लेना चाहती थी। वह चाहती थी कि इस प्रथा द्वारा शिक्षा स्थानीय संस्थाओं को दे दी जाय; परन्तु ऐसा न हो सका। शिक्षा-विभाग के अधिकारी राजकीय विद्यालयों के विस्तार में ही प्रयत्नशील रहे और राजकीय निर्माण द्वारा धर्म-प्रचारकों को प्रोत्साहन देने वाली नीति असफल सिद्ध हो गई। शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के इस नीति के अपनाने के निम्नांकित कारण थे :—

१. भारतीय चेष्टायें शिक्षा-क्षेत्र में संलग्न तो थीं, परन्तु कोई विशेष प्रगति न दिखलाई पड़ती थी।

२, शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की धारणा थी कि राजकीय विद्यालय धर्म-प्रचारकों के विद्यालयों से श्रेष्ठ हैं; अतः इसका विस्तार होना उचित है।

३. उनका विचार यह भी था कि धर्म-प्रचारकों को प्रोत्साहन देने से राजनीतिक वातावरण दूषित हो सकता है और इससे विप्लव की सम्भावना हो सकती है।

उपर्युक्त कारणों से विभागीय अधिकारी राजकीय विद्यालयों के विकास की ओर ही विशेष रूप से केन्द्रीभूत थे। इन अधिकारियों की चेष्टा के परिणामस्वरूप सन् १८८२ ई० तक राजकीय स्कूलों और कालेजों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सन् १८५५ ई० में ऐसे स्कूलों की संख्या १,४०६ थी, परन्तु सन् १८८२ ई० में इनकी संख्या १५,४६२ तक पहुँच गई, और सन् १८८२ ई० में तमाम ऐसे स्कूल थे जो केवल नाममात्र के लिए गैरसरकारी थे, अन्यथा उनका संचालन लगभग सरकार ही करती थी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म-प्रचारकों तथा सरकार की संस्थाओं की चेष्टाओं के सीमित होने के फलस्वरूप भारतीय चेष्टाओं के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण मिला। भारतीयों में अब देश-सेवा की भावना जागृत हो चुकी थी। नई पद्धति में शिक्षित भारतीयों ने इस महान पर्व को अपने

उत्तरदायित्व में लिया और जनता में नवीन शिक्षा के लिए अगाध प्रेम उत्पन्न कर दिया तथा नये विद्यालयों की स्थापना के प्रयत्न किए। इस प्रकार शिक्षा का अधिकांश भारतीयों के हाथ में आ गया। सन् १८८० ई० के लगभग भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का विकास हो चुका था और सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में नये विचारों का समावेश हो गया था और इसी के परिणामस्वरूप सन् १८८५ ई० में इंडियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना हुई थी। इस राष्ट्रीय जागरण ने शिक्षा के भारतीयकरण को अपूर्व सहयोग प्रदान किया।

धार्मिक शिक्षा[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे चरण में धार्मिक शिक्षा का प्रश्न बड़ा जटिल हो गया था। वुड के सन्देश-पत्र में अप्रत्यक्ष रूप से धर्म की शिक्षा का समर्थन किया गया था। परन्तु राजकीय विद्यालयों में इसे आश्रय न मिला। अतः धर्म-प्रचारक विक्षुब्ध थे तथा सतत प्रयत्न करते रहे। उन्होंने महारानी विक्टोरिया के पास एक आवेदन-पत्र भी भेजा था। परन्तु इसी बीच में भारत में १८५७ ई० में विद्रोह छिड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार धार्मिक मामलों में और दृढ़ हो गई। सरकार ने सोचा कि अब धार्मिक तटस्थता की हर नीति ही ब्रिटिश सरकार के लिए कल्याणकारी होगी। इधर भारत में नव चेतना की लहर बड़ी तीव्र गति से फैल रही थी और ब्राह्म-समाज तथा आर्य-समाज ऐसी संस्थायें अंकुरित हो चुकी थीं। ये संस्थायें भी अपने विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा का प्रयत्न कर रही थीं। मुसलमान अपने विद्यालयों में कुरान की शिक्षा और सनातन धर्म के समर्थक हिन्दू धर्म की शिक्षा का घंटा बालकों के लिए हित कर समझते थे। इन्हीं विचारों के परिणामस्वरूप सन् १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा-आयोग को धार्मिक समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ा।

मुसलमानों की शिक्षा[2]

प्रारम्भ में मुसलमान कई कारणों से पाश्चात् साहित्य और ज्ञान का विरोध कर रहे थे। उनका विचार था कि अंग्रेजी पढ़ने से धर्म नष्ट हो जायगा। कम्पनी सरकार भी उनकी शिक्षा की उपेक्षा करती रही और यह उपेक्षा शिक्षा-विभाग के निर्माण की उपेक्षा करती रही और यह उपेक्षा शिक्षा-विभाग के निर्माण के पश्चात्

१. Religious Education
२. Education of Muslims.

भी चलती रही। सन् १८७१-७२ ई० में लार्ड मेयो ने इधर ध्यान दिया और उन्हें शिक्षित बनाने का संकल्प किया। इसी वर्ष भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें अधोलिखित बातें[1] थीं।

१. उन छात्रों में जहाँ मुसलमानों की जन-संख्या अधिक है, मुसलमान अंग्रेजी शिक्षकों की नियुक्ति की जाय।

२. गैरसरकारी मुस्लिम संस्थाओं को आर्थिक सहायता दी जाय।

३. सभी राजकीय और अराजकीय संस्थाओं में अरबी और फारसी भाषाओं को प्रोत्साहित किया जाय।

४. माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा प्रदान करने के लिए देशी भाषाओं को ही माध्यम बनाया जाय।

५. मुसलमानों के लिए उचित और उपयोगी भाषा का सृजन किया जाय और इसके लिए सरकार को अधिक ध्यान देना चाहिए।

उपर्युक्त आदेशानुसार मुस्लिम शिक्षा-प्रसार कार्य बड़े जोरों से प्रारम्भ हो गया। मुसलमानों के लिए नये-नये विद्यालयों का निर्माण होने लगा। विश्वविद्यालयों में अरबी और फारसी विभाग खोल दिए गए तथा मुस्लिम विद्यालयों के लिए अलग निरीक्षकों की नियुक्ति की गई। इसके अतिरिक्त सरकार उन्हें आर्थिक सहायता भी अधिक देने लगी। छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जाने लगीं तथा योग्य और कुशल अध्यापक नियुक्त किए जाने लगे। इन उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप अगले १० वर्षों में मुस्लिम शिक्षा-क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति हुई जो आगे की तालिका से देखा जा सकता है :—

---

१. "His Excellency in Council believes that secondary and higher education conveyed in the Vernacular and rendered more accessible that now, coupled with a more systematic encouragement and recognition of Arabic and Persian litarature would be not acceptable to the Muhammadan community but would enlist the sympathies of the more earnest and enlightened of its members on the side of Education".

Syed Mahmud: History of Education in India p. 184.

	१८७१-७२						१८८१-८२		
प्रान्त	यौगिक जन संख्या	मुसलमान	प्रतिशत	शिक्षा-संस्थाओं में			मुसलमान छात्रों की संख्या	यौगिक संख्या का प्रतिशत	विशेष
				सम्पूर्ण संख्या	मुसलमानों की संख्या	प्रतिशत			
१. बंगाल	६०४६७७२४	१९५५३४२०	३२·३	१९६८८६	२८४११	१४·४	२६२१०८	२३·३	यह प्रतिशत औद्योगिक विद्यालयों के छात्रों को लेकर है।
२. मद्रास	३१२८११७७	१८७२२१४	६	१३२६८९	५५३१	४·४	२२०७५	६·७	
३. बम्बई	१६३४९२०६	२५२८३४४	१५·४	१९०१५	१५६८४	८·२	४१५८४	११·७	इसके अतिरिक्त २२२८४ मुसलमान छात्र देशी विद्यालय में पढ़ते थे।
४. पंजाब	१७६११४९८	९१०२४८८	५१·६	६४१४४	२३७८३	३४·९	...	३८·२	प्रायः उच्च कक्षाओं में ही वृद्धि हुई।

उपर्युक्त तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि इस काल में मुसलमानों की शिक्षा में काफी प्रगति हुई। इसी प्रकार भारत के अन्य प्रान्तों में भी प्रगति हुई होगी। परन्तु इतनी प्रगति होने पर भी वे हिन्दुओं से निम्नांकित बातों में पिछड़े हुए थे :—

१—धार्मिक भावनाओं के कारण अभी तक मुसलमान छात्रों की अधिकांश संख्या वैयक्तिक संस्थाओं में ही शिक्षा ग्रहण करती थी, न कि सार्वजनिक विद्यालयों में।

२—मुसलमानों में माध्यमिक और उच्च शिक्षा के क्षेत्रों में उतनी प्रगति न हुई थी जितनी हिन्दुओं की।

३—मुस्लिम स्त्री-शिक्षा उपेक्षित रही।

४—राजकीय सेवा में पद प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता में वे हिन्दुओं से टक्कर न ले सकते थे।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए सन् १८८२ के भारतीय शिक्षा-आयोग ने विशेष कार्य किया जिसका वर्णन आगे दिया जायगा।

सर सैयद अहमद खाँ और मुसलमानों की शिक्षा

मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के जन्मदाता सर सैयद अहमद खाँ के बिना उन्नीसवीं सदी की मुस्लिम शिक्षा का इतिहास अधूरा रह जाता है। भारतीय मुसलमानों में नव चेतना की ज्योति जगाने का श्रेय सर सैयद अहमद खाँ को ही है। इन्होंने मुसलमानों के लिए वे ही कार्य किए जो राजा राममोहन राय ने हिन्दुओं के लिए किए।

सर सैयद अहमद खाँ

सर सैयद अहमद खाँ का जन्म सन् १८१७ ई० में दिल्ली के एक प्रतिष्ठित, प्रभावशाली एवं धार्मिक परिवार में हुआ था। वंश-परम्परा के अनुसार इन्होंने अरबी और फारसी का गहन अध्ययन किया और इस्लाम के प्रकांड पंडित हो गए; यद्यपि न तो इन्हें किसी स्कूल में शिक्षा मिली थी और न अंग्रेजी ही पढ़ाई गयी थी। इनके पिता मुगल साम्राज्य में प्रतिष्ठित पद पर सुशोभित थे। परन्तु इन्होंने मुगल दरबार में नौकरी करना अस्वीकार कर दिया और कम्पनी सरकार के नौकर बन गए। प्रारम्भ में दिल्ली की सदर अदालतों में

ये एक सेरिस्तेदार के पद पर नियुक्त हुए थे। पर अपनी ईमानदारी, सच्चाई, योग्यता एवं कार्यपटता के कारण शीघ्र ही उन्नति कर गए। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति में इन्होंने ब्रिटिश सरकार की अपूर्व सहायता की तथा कुछ अंग्रेज अधिकारियों के प्राण बचाये। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने दो सुन्दर और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। सन् १८५७ ई० के पश्चात् इन्होंने भारतीय मुसलमानों को जागृत एवं संगठित करना प्रारम्भ कर दिया।

सर सैयद अहमद खाँ बड़े दूरदर्शी एवं नीतिज्ञ थे। इस क्रान्ति से उनको अनुभव हो गया था कि ब्रिटिश शासन भारत में दृढ़ हो गया है और अब यदि मुसलमान इनका सहयोग नहीं प्राप्त करते तो वे सदैव के लिए विकास से वंचित हो जायेंगे। मुस्लिम समाज को उन्नत बनाने के लिए पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है,[१] अन्यथा वे अपने को पतन से बचा न सकेंगे। उपर्युक्त भावनाओं से ओत-प्रोत सरसैयद अहमद खाँ ने भारतीय मुसलमानों में पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान के प्रसार का दृढ़ संकल्प किया। तत्कालीन पतनोन्मुख भारतीय मुस्लिम समाज को प्रगति के मार्ग पर लाने का श्रेय दृढ़निश्चय वाले सर सैयद को ही है। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मुसलमानों का संगठन, अंग्रेजी का अध्ययन और अंग्रेजी सरकार को सहयोग देना नितान्त आवश्यक समझा और इसी में सतत प्रयत्नशील रहे।[२]

अपने परम पुनीत लक्ष्य को पूरा करने के लिए उन्होंने सन् १८७५ ई० में ऐंग्लो ओरियन्टल कालेज, अलीगढ़ का निर्माण किया जो कि आज अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के नाम से विख्यात है। इस कालेज की स्थापना से उनको

---

१. He now saw clearly that the Muhammadans of India must observe the science and education of the West, and must also introduce social reform among themselves, or else fall into complete helplessness or ruin.

H. V. Hampton—Biographical studies in Modern Indian Education p. 22.

२. When the depression of Islam was at its height he assumed the leadership of the more moderate elements, who saw that the future of Islam could only be safeguarded by an integration of the Musalmans of India into a single community by a period of co-operation with the British......and by an encouragement of English Education.

—Panikker : A Survey of Indian History p. 282.

अपने उद्देश्य में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। इस कालेज ने मुसलमानों का केवल बौद्धिक विकास ही नहीं किया, अपितु उनमें संगठित होने की भावना भी भर दी।[१] इस कालेज के पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त युवक देश के कोने-कोने में फैल गये और नव जागरण की एक तीव्र लहर दौड़ा दी। जिस प्रकार सूर्य की किरणें अन्धकार को दूर कर संसार को आलोकित कर देती हैं, उसी प्रकार इस कालेज से नव-जागरण की रश्मियों ने फूट कर मुस्लिम समाज के अन्धकार को दूर करके उन्हें प्रकाश दिखाया। सर सैयद अहमद खाँ ने यह आवश्यक समझा कि मुसलमानों में नव जागरण लाने के लिए कुछ पुस्तकों का होना आवश्यक है। इस कार्य को उन्होंने स्वयं अपने हाथ में लिया और अनेक पुस्तकें लिखीं। इनमें 'आरकियोलाजिकल हिस्ट्री आफ रूइन्स आफ देहली'[२] बड़ी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त १८७० ई० में मोहम्मद के जीवन पर इन्होंने कई निबन्ध प्रकाशित करवाये। उर्दू को इन्होंने मुसलमानों की भाषा बनायी, तथा अलीगढ़ में उसे अनिवार्य विषय रक्खा। थोड़े ही दिनों के पश्चात् उर्दू को वहाँ वही सम्मान प्राप्त हो गया जो लगभग ५० वर्ष पूर्व फारसी को प्राप्त था।

सर सैयद अहमद खाँ के सराहनीय कार्यों को देखकर लार्ड लारेन्स ने सन् १८६६ ई० में उन्हें स्वर्णपदक प्रदान कर सम्मानित किया। इंगलैंड में भारत सचिव द्वारा उन्हें सी० एस० आई० की उपाधि प्रदान की गई थी और यही नहीं अपितु सन् १८७८ई० से १८८२ ई० तक वे भारतीय व्यवस्थापिका सभा[३] के सदस्य भी रहे। परन्तु यह सम्मान कोई वास्तविक सम्मान न था। अंग्रेजों को इनके कार्यों से बड़ा सहारा मिला था और उनको यह भी आशा थी कि सर सैयद अहमद खाँ को प्रोत्साहन देकर मुसलमानों को सदा के लिए स्वामिभक्त बनाया जा सकता है। वास्तविक सम्मान तो उन भारतीय मुसलमानों ने दिया था जिनको इन्होंने संगठित करके नव जागरण की भावना से ओत-प्रोत किया था और पाश्चात्य शिक्षा के लिए उत्साह देकर उन्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर किया था। सर्वश्रेष्ठ सम्मान तो इनकी अन्त्येष्टि के समय इनके एक जीवन-संगी ने दिया था। उसने कहा था

---

१. He gave to Aligarh a missionary spirit. Under him it fulfilled a dual purpose; it created in the generation that follwed a spirit of Anglo-Muslim cooperation, which no doubt paid immediate dividends to both sides and it also converted Aligarh into ......an intellectual general staff for the work of Islamic integration.
—Panikkar. A Survey of Indian History p. 282.

२. Archaeological History of the Ruins of Delhi.

३. Legislative Council.

कि अन्य लोगों ने भी पुस्तकों की रचना की है और कालेजों का निर्माण कराया है, परन्तु किसी जाति को पतन से बचाने का कार्य तो पैगम्बर ही करते हैं।[१] इससे पता चलता है कि ये लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त कर चुके थे। सी० एफ० ऐन्ड्रयूज ने भी इनके सम्बन्ध में लिखा है कि इन्होंने पतनोन्मुख भारतीय मुसलमानों को जागरूक बनाया और उनमें प्रसारित अन्धकार को सदा के लिए दूर कर दिया। ऐसे दृष्टान्त इतिहास में बहुत कम पाये जाते हैं।[२]

मुसलमानों को संगठित कर प्रगति-पथ पर अग्रसर करने वाले सर सैयद अहमद खाँ ने भारतीय राष्ट्रवाद का बड़ा अहित किया। दो राष्ट्रों के सिद्धान्तों का बीजारोपण सर सैयद अहमद खाँ ने ही किया था। आगे चलकर उसने विकराल रूप धारण किया और एक सूत्र में बँधे भारत का विभाजन होकर पाकिस्तान का निर्माण हुआ।[३] सर सैयद अहमद खाँ के सुकृत्यों पर दृष्टिपात करते समय पाठकों को यह भी ज्ञात हो जाता है कि उनकी भावनायें कितनी स्वार्थ-पूर्ण एवं संकुचित थीं तथा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उन्होंने दूसरे के अहित का तनिक भी ध्यान न रक्खा।

पिछड़ी जातियों की शिक्षा[४]

अब तक उपलब्ध सामग्री से पता चलता है कि सन् १८५४ ई० से १८८२ ई० तक पिछड़ी जातियों की शिक्षा केवल नाममात्र को ही थी जो कि नहीं के

---

१. Other men have written books and founded colleges; but to arrest, as with a wall, the degeneration of a whole people, that is the work of a prophet.—Hampton: Biographical studies in Indian Education—p. 237.

२. There are few more impressive facts in modern history than this conversion of a great people in a single generation by the steady preassure of higher education combined with the influence of a commanding personality.—C. F. Andrews—Ibid.

३. The two nation theory which Sri Syed Ahmad had tentatively advanced when he declared that Hindus and Muslimsw ere the two eyes of India had found its consummation. Islamic integration was complete, for every where in India the citadel of nationalism was permanently breached and the separation of Islam from the body politics of India, proclaimed in words which could not be misunderstood.........From separate electorates to Pakistan was but an easy and natural evolution. Panikkar—A survey of Indian History p. 288.

४. Education of the Backward Classes.

बराबर ही थी। यद्यपि ऐडम की रिपोर्ट के अनुसार सन् १८३२ ई० में पिछड़ी जातियों में शिक्षा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था, परन्तु वह १ प्रतिशत भी न थी। कम्पनी सरकार तो निस्यन्दन-सिद्धान्त को मानने वाली थी। अतः उनकी शिक्षा की उपेक्षा स्वाभाविक ही थी, क्योंकि वे स्वयं अपनी शिक्षा का प्रबन्ध न कर सकते थे। परन्तु धर्म-प्रचारक इनकी शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अवश्य करते थे; क्योंकि इन लोगों में उनके धर्म को आश्रय मिलता था। कुछ देशी स्कूल भी इनकी शिक्षा का कार्य करने में प्रयत्नशील थे।

वुड के सन्देश-पत्र ने निस्यन्दन-सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की और जन-सामान्य की शिक्षा को प्रोत्साहित करने का आदेश दिया। पिछड़ी जातियों की शिक्षा सार्वजनिक शिक्षा से अलग न थी। अतः शिक्षा-विभाग इनकी ओर भी आकृष्ट हुए। फिर भी उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य न हो सका। इन जातियों को समाज में कोई स्थान प्राप्त न था। उच्च वर्ग के लोग इनको बड़ी हेय दृष्टि से देखते थे। अतः इनकी शिक्षा की व्यवस्था करने में शिक्षा-विभाग को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। न तो लोग इनके स्कूलों में अध्यापक बनने के लिए तैयार थे और न उच्च वर्ण के छात्र इनके साथ पढ़ना चाहते थे। अतः सरकार ने निश्चय किया कि राजकीय विद्यालयों में इन छात्रों को पढ़ने की सुविधा प्रदान की जाय। इसका बड़ा विरोध हुआ। कैरा जिले में तो पाँच विद्यालयों को कई वर्षों तक बन्द रखना पड़ा। यही नहीं, कुछ उच्च वर्ग के लोगों ने उनके घरों में आग लगा दी तथा उनकी फस्लें नष्ट कर डालीं। पहले तो सरकार अपनी नीति पर अडिग रहना चाहती थी, परन्तु आगे चलकर वह वैसा न कर सकी और उसे पिछड़ी जातियों के लिए कुछ अलग स्कूलों का प्रबन्ध करना पड़ा। सन् १८८१-८२ ई० में ऐसे कुल स्कूलों की संख्या केवल २० थी जिनमें ४ मध्यप्रान्त और १६ बम्बई प्रान्त में थे। इन विद्यालयों में अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या क्रमशः ५६४ और १११ थी। सन् १८८२ के शिक्षा आयोग्य ने उनकी समस्या का गहन अध्ययन किया और उनकी शिक्षा के लिए राजकीय विद्यालयों को ही उचित बताया।

आदिवासी और पहाड़ियों की शिक्षा[1]

सन् १८८१-८२ ई० के आँकड़ों से ज्ञात होता है कि इनकी शिक्षा अब तक हरिजनों से भी कम थी। यदि यह कहा जाय कि उनमें शिक्षा लगभग थी ही नहीं तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस समय बंगाल तथा आसाम में आदिवासी और

१. Education of the Aboriginal and Hill Tribes.

पहाड़ी छात्रों की योगिक संख्या २४,००० थी। बम्बई में २,७३८ आदिवासी तथा पहाड़ी बच्चे शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। मध्यप्रान्त में केवल १४५३ ऐसे छात्र थे। इन प्रान्तों के अतिरिक्त अन्य किसी क्षेत्र में इनकी शिक्षा की ओर कदम ही नहीं उठाया गया था। इन प्रान्तों में पढ़ने वाले छात्र भी अधिकांशतः धर्म-प्रचारकों के ही विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। इन जातियों के लिए भी शिक्षा आवश्यक थी और उसके लिए सरकार को विशेष ध्यान देना चाहिए था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। सन् १८८२ के शिक्षा-आयोग ने इनके लिए भी सिफारिशें की हैं।

सारांश

सन् १८५४ ई० के घोषणा-पत्र से भारतीयों को अनेक आशायें हुई थीं। परन्तु शिक्षा में वह प्रगति न आ सकी जिसकी लोगों को आशा थी। सन् १८५७ ई० में राज्य-क्रान्ति होने के कारण शिक्षा के मार्ग में कुछ बाधायें आ गईं और शिक्षा-नीति में कुछ परिवर्तन अवश्यम्भावी थे। संदेश-पत्र के अनुसार सरकार अपने को शिक्षा से अलगकर लेना चाहती थी। भारतीय भी अब शिक्षा के प्रति जागरूक थे, परन्तु फिर भी शिक्षा-विभाग ने उन्हें कोई प्रोत्साहन न दिया। फलतः राजकीय विद्यालयों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई।

वुड के संदेश-पत्र के पश्चात् शिक्षा मुख्यतः शिक्षा-विभाग के हाथ में रही और धनाभाव के कारण शिक्षा-क्षेत्र में वांछित प्रगति न हो सकी। प्राथमिक शिक्षा तो लगभग पूर्णरूपेण उपेक्षित रही। इस काल में भी संघर्ष हुए, परन्तु उनका कोई विशेष प्रभाव शिक्षा पर न पड़ा।

सन् १८५४ ई० तक प्राथमिक शिक्षा की कहानी बड़ी करुणाजनक है। अभी तक सरकार का विचार सार्वजनिक शिक्षा के विरोध में था। अतः उसकी उपेक्षा स्वाभाविक थी। सन्देश-पत्र के पश्चात् प्राथमिक शिक्षा का भार सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। परन्तु फिर भी विशेष प्रगति न दिखाई पड़ी। अतः संचालकों ने १८५६ ई० के संदेश-पत्र के अनुसार प्राथमिक शिक्षा का भार सरकारी अधिकारियों को अपने हाथ में ले लेने को कहा। सन् १८५६ ई० के पश्चात् देशी विद्यालयों की नीति, इनको अनुदान देने तथा स्थायी कर लगाने के प्रश्न पर विवाद उठ खड़ा हुआ। सभी प्रान्त अलग-अलग विचारधारा के पोषक थे। अतः सभी प्रान्तों की नीति एक दूसरे से भिन्न थी।

सन् १८५४-१८८२ ई० की अवधि में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी सराहनीय प्रगति हुई। सरकार ने आर्थिक सहायता में वृद्धि कर दी। राजकीय

विद्यालयों का नव-निर्माण हुआ और व्यक्तिगत संस्थायें भी स्थापित हुईं। सन् १८८२ ई० तक राजकीय संस्थाओं में आठगुनी वृद्धि हो गई। वुड के संदेशपत्र के पश्चात् कम्पनी के संचालकों ने धर्म-प्रचारकों को सशंकित दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया था तथा स्वयं भारतीय शिक्षा में रुचि दिखलाने लगे थे। भारतीयों द्वारा संचालित माध्यमिक विद्यालयों के क्षेत्र में मद्रास प्रान्त सबसे आगे था। बंगाल में भी ऐसे ही बहुत से विद्यालय स्थापित हो चुके थे तथा अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार के विद्यालयों का निर्माण हो रहा था माध्यमिक विद्यालयों में मिशनरियों का बड़ा सहयोग रहा।

उपर्युक्त बातों में प्रगति की अपेक्षाकृत भी माध्यमिक शिक्षा में अनेक दोष थे। जैसे, १—मातृभाष की उपेक्षा, २—प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव, ३—औद्योगिक शिक्षा का अभाव, ४—पुस्तकीय ज्ञान पर विशेष बल आदि।

सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् भारतीय शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले ली। सर स्टैनले ने भारत-मंत्री के नए पद को सुशोभित किया। इसने अध्यापकों के प्रशिक्षण और प्राथमिक शिक्षा पर विशेष बल दिया। सन् १८७१ ई० में शिक्षा-विभाग प्रान्तीय सरकारों के हाथ दे दिये गए।

वुड-संदेश-पत्र के अनुसार कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालयों का निर्माण हुआ। इसका सम्पूर्ण प्रबंध सीनेट के हाथ में था। विश्वविद्यालय केवल परीक्षा संस्थायें थीं। इन्ट्रेन्स की परीक्षा प्रारम्भ हुई। इसमें भी भारतीय भाषाओं को स्थान दिया गया; परन्तु कोई विशेष लाभ न हुआ। इन विद्यालयों की स्थापना के अतिरिक्त सन् १८८२ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। यहाँ भारतीय भाषाओं को प्रश्रय मिला और भारतीय परम्परा के अनुसार परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त उपाधियाँ दी जाती थीं।

उच्च शिक्षा की प्रगति भी सन्तोषजनक रही। सन् १८८२ ई० तक भारतीय शिक्षा में रुचि लेने लगे थे और उत्तर प्रदेश में २ तथा मद्रास में ३ उच्च विद्यालय उनके द्वारा संचालित थे।

इस अवधि में सरकार ने स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया और स्त्रियों के लिए अलग विद्यालयों का निर्माण हुआ। परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा की ओर ही अधिक झुकाव था, क्योंकि तत्कालीन समाज उच्च स्त्री-शिक्षा को उचित नहीं समझता था। मिस कारपेन्टर ने भारतीय नारियों की प्रगति का मार्ग दिखाया और उनमें एक नई लहर दौड़ा दी। इस काल में सह-शिक्षा का लगभग पूर्ण रूपेण अभाव था।

कानून की शिक्षा, चिकित्सा-शिक्षा, निर्माण-कला की शिक्षा, कृषि-शिक्षा, पशु-चिकित्सा, वन-विज्ञान, कला तथा वाणिज्य आदि की शिक्षा का आविर्भाव हुआ। परन्तु यह सब सरकार ने अपनी स्वार्थसिद्धि की ही दृष्टि से किया था, न कि भारतीयों के हित के लिए। वुड के संदेश-पत्र के पश्चात् अगले २० वर्षों तक टेक्निकल और औद्योगिक शिक्षा की ओर सरकार ने कोई ध्यान न दिया। धर्म-प्रचारक भी इस ओर कोई कार्य न कर सके।

सन् १८५४ ई० के सन्देश-पत्र के पश्चात् शिक्षा-विभागों का निर्माण हुआ और प्रान्त के शिक्षा-संबंधी सभी कार्य इन विभागों के हाथ में सौंप दिए गए। शिक्षा-अनुदान-पद्धति के विकास के कारण गैरसरकारी विद्यालयों को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला; परन्तु इस पद्धत्ति में कई दोष थे। अतः इससे पर्याप्त लाभ न हो सका।

सन् १८५७ ई० के विद्रोह के परिणास्वरूप भारतीय शिक्षा की ओर आकर्षित हुए; क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया था कि इसकी उपेक्षा से भारतीयों का पुनरुद्धार सम्भव नहीं। अंग्रेज अधिकारियों की स्वतंत्रता सीमित कर दी गई थी। अतः अब वे वैयक्तिक रूप से शिक्षा के प्रति अधिक रुचि नहीं ले सकते थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म-प्रचारकों और सरकार की चेष्टायें शिक्षा के विकास में सीमित रहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे चरण में धार्मिक शिक्षा का प्रश्न बड़ा जटिल हो चुका था; क्योंकि आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज, सनातन धर्म, मुसलमान और अन्य सम्प्रदाय के लोग अपने स्कूलों में धार्मिक शिक्षा देना चाहते थे।

मुसलमानों की शिक्षा उपेक्षित रही, परन्तु सर सैयद अहमद खाँ ने उनमें नयी चेतना ला दी और उन्हें पतन के गर्त से निकाल कर प्रगति के पथ पर अग्रसर किया।

सर सैयद अहमद खाँ ने जहाँ एक ओर भारतीय मुसलमानों में प्राण फूँक दिये, वहाँ दूसरी ओर एक ऐसी भावना को उत्पन्न कर दिया जो भारतीय एकता के लिए बड़ी घातक सिद्ध हुई।

पिछड़ी जातियों की शिक्षा नहीं के बराबर थी और पहाड़ी जातियों तथा आदिवासियों की शिक्षा को दशा तो और भी शोचनीय रही। सरकार ने पहले तो इस ओर दृढ़ कदम उठाया, परन्तु बाद में अपने प्रण पर टिक न सकी और अपनी नीति को बदल दिया।

इस प्रकार सन् १८५४ से १८८२ ई० तक की अवधि में शिक्षा में सर्वांगीण विकास दिखाई पड़ता है। यद्यपि इसका उद्देश्य ब्रिटिश शासन को सुदृढ़ बनाना था,

क्योंकि शासन-संचालन के लिए हर प्रकार के विशेषज्ञों की आवश्यकता थी। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह अवसर भारतीयों के लिए विशेष लाभदायक था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. उच्च शिक्षा के लिए प्राथमिक शिक्षा पहली सीढ़ी है, परन्तु फिर भी १८५४-१८८२ ई० तक वह उपेक्षित रही; क्यों ?

२. सन् १८५४-१८८२ ई० तक की माध्यमिक शिक्षा का विवेचन करते हुए बताइए कि इस दिशा में सराहनीय प्रगति क्यों हुई।

३. 'वुड के संदेश-पत्र के पश्चात् २० वर्षों में स्थापित सभी विश्वविद्यालय भारतीयों की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके।' इस कथन पर अपने विचार प्रगट कीजिए।

४. सन् १८५४-१८८२ ई० तक भारतीय व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

५. सन् १८८२ ई० में प्रथम भारतीय शिक्षा-आयोग ने शिक्षा की क्या दशा पायी ?

अध्याय २९

भारतीय शिक्षा-आयोग[1] (१८८२ ई०)

कारण

हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पश्चात् भारतीय शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार ने स्वयं अपने हाथों में ले ली थी और महारानी विक्टोरिया ने यह घोषणा की थी कि भारतीयों के धार्मिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। इंगलैंड की सरकार धर्म-प्रचारकों पर भी कड़ी नजर रखने लगी थी। इसके अतिरिक्त वुड के संदेश-पत्र में सहायता-अनुदान की प्रथा का आदेश दिया गया था। उसके अनुसार धर्म-प्रचारकों को बड़ी-बड़ी आशाएँ हुई थीं। परन्तु उनकी आशाएँ पूर्ण न हो सकीं। वे भारत में विद्यालयों का निर्माण कर उनके द्वारा धर्म-प्रचार करना चाहते थे। अतः उनका विचार था कि वे अधिक से अधिक विद्यालयों की स्थापना करें। परन्तु राजकीय विद्यालयों की स्थापना के कारण उनके विद्यालयों को बड़ा धक्का लगा। इन सब कारणों से वे विक्षुब्ध हो उठे और एक आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया कि भारतीय शिक्षा-नीति वुड के सन्देश-पत्र की उपेक्षा कर रही है। उनकी आवाजें इंगलैण्ड तक पहुँची थीं और वहाँ भी लार्ड हैलीफैक्स और लार्ड लारेन्स ऐसे प्रकाण्ड पंडितों ने मिलकर 'जनरलकाउन्सिल आफ एजूकेशन इन इंडिया' नामक एक संस्था का निर्माण किया। इसी समय लार्ड लिटन के स्थान पर लार्ड रिपन की नियुक्ति हो चुकी थी और वह भारत आने ही वाला था कि इस कौंसिल के कुछ सदस्यों का एक प्रतिनिधि-मण्डल उससे मिला और यह प्रार्थना कि भारतीय शिक्षा की जाँच की जाय। लार्ड रिपन ने उसे संतोषजनक उत्तर दिया।

हमने पिछले अध्याय में देखा है कि कम्पनी को हर बीस वर्ष के पश्चात् एक नया आज्ञा-पत्र मिलता था और उस आज्ञा-पत्र में २० वर्षों की प्रगति पर जाँच की जाती थी और उसी के आधार पर अगले वर्षों के लिए नीति निर्धारित की जाती थी। अब कम्पनी का शासन समाप्त हो गया था और वुड के संदेश-पत्र के आधार पर २८ वर्ष कार्य भी हो चुका था। अतः आवश्यक था कि जाँच की जाय

१. Indian Education Commission (Hunter Commission)

और देखा जाय कि इस संदेश-पत्र से कितना लाभ हुआ है तथा इसमें कौन-कौन दोष हैं ।

नियुक्ति

उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप यह आवश्यक हो गया कि भारतीय शिक्षा-नीति की जाँच की जाय । लार्ड रिपन ने भारत में पदार्पण करने पर ३ फरवरी सन् १८८२ ई० को एक समिति की नियुक्ति की जिसमें २० सदस्य और एक चेयरमैन था । इस कौंसिल में भारतीय प्रतिनिधि सैयद महमूद (सर सैयद अहमद खाँ के पुत्र), भूदेव, मुकर्जी, आनन्द मोहन बोस, के० टी० तैलंग, पी० संगानन्मुदालियर महाराजा जीतेन्द्र मोहन टैगोर अमृतसर के हाजी गुलाम, तथा पादरियों के प्रतिनिधि मद्रास के डा० मिलर थे । मैसूर के शिक्षा-संचालक बी० एल० राइस इसके मंत्री नियुक्त किए गए । वाइसराय की कार्यकारिणी के सदस्य विलियम हण्टर इसके अध्यक्ष थे । अतः इस को हण्टर कमीशन भी कहा जाता है ।

उद्देश्य

भारत में प्राथमिक शिक्षा की दशा की जाँच करना ही इस आयोग का मुख्य विषय था, क्योंकि सन् १८५४ ई० के संदेश-पत्र के आदेशों की अपेक्षाकृत भी सरकार प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा करती चली आ रही थी । सन् १८८० ई० में इंगलैंड में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए प्रारम्भिक शिक्षा अधिनियम पास हो चुका था और कमीशन भारत में भी वही चाहता था । अतः इसको प्राथमिकता दी गयी । भारत-मंत्री लार्ड हार्टिंगेटन[1] के अनुसार वास्तव में कमीशन का उद्देश्य था कि वह यह जाँच करे कि १८५४ ई० के संदेश-पत्र के सिद्धांतों के पालन में कहाँ तक सफलता मिली है और घोषणा में निहित नीति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए ऐसे सुझावों को देना जो कमीशन आवश्यक समझता हो । संक्षेप में कमीशन को निम्नांकित बातों की जाँच करने के आदेश दिए गए थे :—

१—भारत की प्रारम्भिक शिक्षा की क्या दशा है तथा उसको प्रोत्साहित करने के लिए क्या उपाय किया जाना चाहिए ?

---

१. It will be the duty of the Commission to enquire particularly into the manner in which effect had been given to the principles of the Despatch of 1854 and to suggest such measures as it might think desirable in order to the further carrying out the policy therein laid down.—from The Resolution appointing the Commission.—quoted in The Education of India p. 61, By Signeira, T. N.

२—धर्म-प्रचारकों के विद्यालयों का भारतीय शिक्षा में क्या महत्त्व है ?

३—राजकीय विद्यालयों की क्या अवस्था है और उनकी आवश्यकता है या नहीं।

४—वैयक्तिक प्रयासों के प्रति सरकार का दृष्टिकोण उदार है या नहीं, तथा आर्थिक सहायता-अनुदान-प्रथा का क्या प्रभाव पड़ा ?

इसका तात्पर्य यह नहीं कि आयोग माध्यमिक और उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में बिल्कुल चुप रहा। उसने माध्यमिक और उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में भी कुछ बातें कही हैं।

इस आयोग ने बड़े परिश्रम से कार्य किया। नियुक्ति के पश्चात् आयोग की दो माह तक कलकत्ता में बैठक हुई और उसके पश्चात् ८ माह तक सम्पूर्ण देश का दौरा करके सूचनाएँ प्राप्त की गईं। इसमें प्रान्तीय सरकारों से भी रिपोर्ट प्राप्त की गयी और इस प्रकार १० माह पश्चात् लगभग ७०० पृष्ठों में आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। भारतीय शिक्षा के इतिहास में इस शिक्षा-आयोग का विशेष महत्त्व है। इसने अपनी जाँच के सम्बन्ध में प्रान्तीय कमेटियाँ नियुक्त कीं और लगभग २०० साक्षियों का बयान लिया तथा लगभग ३०० से अधिक सम्मतियाँ प्राप्त कीं।

जैसा कि पूर्व ही इंगित किया जा चुका है कि कमीशन ने कोई नवीन बात नहीं बताई। उसके सुझाव सन् १८५४ ई० के संदेश-पत्र के ही परिवर्द्धित और संशोधित रूप थे। नीचे इसके सुझावों की ओर संकेत कर रहे हैं :—

प्राथमिक शिक्षा

भारतीय शिक्षा आयोग ने प्राथमिक[1] शिक्षा पर ही विशेष बल दिया। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यही उसकी जाँच का मुख्य विषय रक्खा गया था।

---

१. It is the desire of the Governor-General in Council that the Commission should specially bear in mind the great importance which the Government attaches to the subject of Primary Education. The development of elementary education was one of the main objects contemplated by the Despatch of 1854......the principal objects, therefore, of the enquiry of Commission should be the present state of elementary education through out the empire and the means by which this can every where be extended and improved.

—Resolution of the Government of India, 1882.

आयोग ने बताया कि जन-साधारण की शिक्षा-प्रसार तथा उसके लिये सरकार को अतीत की अपेक्षा वर्तमान में अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए और यही कारण है कि शिक्षा आयोग ने शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र की ओर, जैसे—उसकी नीति, संगठन, आर्थिक व्यवस्था, पाठ्यक्रम, अध्यापकों की दीक्षा और सहायता आदि के विषय में अपने सुझाव रक्खे हैं।

प्राथमिक शिक्षा की नीति

प्राथमिक शिक्षा की नीति के सम्बन्ध में भारतीय शिक्षा-आयोग ने निम्नांकित बातें बताईं :—

१—प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य उच्च शिक्षा में प्रवेश पाने के लिए सदस्य तैयार करना न होकर सार्वजनिक जीवनोपयोगी होना चाहिए। उनकी शिक्षा का माध्यम प्रचलित मातृभाषाएँ ही होनी चाहिए। शिक्षा में ऐसे विषयों का समावेश होना चाहिए जो छात्रों को स्वावलम्बी बना सकें।[१]

२—प्रारम्भिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए छोटी-छोटी सरकारी नौकरियों में सरकार को उन व्यक्तियों को जिन्हें लिखने-पढ़ने का साधारण ज्ञान हो, वरीयता देनी चाहिए।

३—सरकार को प्राथमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए और भूत की अपेक्षा वर्तमान में इसे अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए तथा इसके प्रसार और विकास के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए।[२]

४—भारतीय शिक्षा-आयोग ने देखा था कि कुछ जंगली क्षेत्रों में आदिवासी शिक्षा का नाम तक नहीं जानते हैं। अतः आयोग ने सुझाव रक्खा कि जंगली प्रान्तों में भी आदिवासियों की शिक्षा की विशेष व्यवस्था की जाय।

---

१. That primary education be regarded as the instruction of the masses through the vernaculars in such subjects as will get them for their position in life and be not necessarily regarded as a portion of instructions leading up to the University.

Indian Education Commission Report—Primary—para. 1;

२. The Commission declared that "elementary education of the masses, its provision, extension and improvement was that part of the education system to which the strenuons efforts of the State should be directed to a still larger measure than heretofore.

Indian Education Report—Primary para. 3.

संगठन

लार्ड रिपन के भारत आने के समय इंगलैंड में 'काउण्टी काउन्सिलस' का निर्माण हो चुका था और प्रायमरी शिक्षा का सारा भार उसी के हाथ में सौंप दिया गया था। लार्ड रिपन एक उदार व्यक्ति था। उसने भारत पहुँचने पर इंगलैंड की 'काउन्टी काउन्सिल' के आधार पर यहाँ भी स्थानीय संस्थाओं का निर्माण कराया। आयोग ने प्राथमिक शिक्षा का भार इन्हीं स्थानीय संस्थाओं के हाथ में सौंप दिया। अब ये स्थानीय संस्थाएँ ही प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में सभी बातों के लिए उत्तरदायी थीं। इससे सरकार की वह इच्छा पूरी हो गई जो वह बहुत दिनों से चाहती थी, अर्थात् उसे प्रारम्भिक शिक्षा के भार से छुटकारा मिल गया।

आर्थिक व्यवस्था

सन् १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग ने प्राथमिक शिक्षा के आय-व्यय के सम्बन्ध में कुछ निश्चित सुझाव रक्खे। आय के सम्बन्ध में आयोग ने बताया कि स्थानीय संस्थाओं को प्राथमिक शिक्षा के लिए एक निश्चित धनराशि अलग रख देनी चाहिए।[१] प्राथमिक शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए प्रान्तीय सरकार भी सहायता देगी। व्यय की भी उसने रूपरेखा निश्चित कर दी। अभी तक ग्रामीण और नगर के विद्यालयों के लिए अलग-अलग फंड न थे। परन्तु कमीशन ने आदेश दिया कि दोनों प्रकार के विद्यालयों के लिए अलग-अलग धन-राशि निश्चित हो जानी चाहिए। ऐसा न होने से प्रायः ग्रामीण विद्यालयों को कम धन मिलता है। कमीशन ने यह भी आदेश दिया कि स्थानीय फण्ड केवल प्रायमरी शिक्षा पर व्यय किया जायगा। अभी तक इस धन-राशि को उच्च शिक्षा तथा शिक्षा के अतिरिक्त अन्य विभागों में व्यय कर दिया जाता था। कमीशन ने सुझाव रक्खा था कि प्रान्तीय सरकार स्थानीय फण्ड का $\frac{1}{2}$ या पूर्ण व्यय का $\frac{1}{3}$ भाग सहायता के रूप में देगी। परन्तु तत्कालीन भारतीय जनसंख्या को देखते हुए यह धन-राशि बहुत अल्प थी।

प्रशिक्षण-विद्यालयों की व्यवस्था

भारतीय शिक्षा-आयोग ने कहा कि प्रारम्भिक पाठशालाओं के लिए दीक्षित अध्यापकों की आवश्यकता है। अतः प्रशिक्षण-महाविद्यालयों की व्यवस्था की जाय;

---

१. That primary education be declared to be that part of the whole system of Public Insturction which possesses an almost exclusive claim on local funds set apart for education and a large claim on provincial revenues.

Indian Education Commission Report—Primary para. 28.

क्योंकि बिना इस व्यवस्था के प्राथमिक विद्यालयों में सुधार सम्भव नहीं।[1] प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों के प्रशिक्षण को व्यवस्था के लिए आयोग ने अधोलिखित सुझाव दिये :—

१. दीक्षा-विद्यालय ऐसे स्थानों पर स्थापित किए जायँ, जहाँ से वे स्थानीय प्रारम्भिक पाठशालाओं के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की माँग पूरी कर सकें। आयोग ने यह भी बताया कि एक प्रान्तीय निरीक्षक के क्षेत्र में कम से कम एक-एक नार्मल स्कूल की व्यवस्था हो।[2]

२. नार्मल स्कूलों में प्रगति लाने के लिए आवश्यक है कि निरीक्षक अपने अधीनस्थ नार्मल स्कूलों के कार्यों में स्वयं रुचि लें और लोगों में कार्य करने का उत्साह पैदा हो।

३. प्राथमिक विद्यालयों के लिए निश्चित और स्वीकृत धन-राशि पर प्रशिक्षण-विद्यालयों का पूर्ण अधिकार रहे।[3]

पाठ्य-क्रम

आयोग ने पाठ्यक्रम के विषय में सभी बातों को उनकी इच्छा पर छोड़ दिया। हर प्रान्त अपनी सुविधानुसार पाठ्यक्रम निर्धारित कर सकता था। आयोग ने पाठ्यक्रम में जीवन के लाभदायक एवं व्यावहारिक ज्ञान के लिए कृषि, चिकित्सा बही-खाता, क्षेत्रमिति और भौतिक विज्ञान आदि विषयों को सम्मिलित कर दिया।

एक समीक्षा

आयोग ने प्राथमिक शिक्षा के लगभग सभी अंगों पर ध्यान दिया और प्राथमिक शिक्षा-संस्थाओं को स्थानीय संस्थाओं को सौंप कर इसका बड़ा ख्याल

---

१. It seems to us a matter of the greatest importance not merely that Normal Schools should be established at a few centres, but they should be distributed throughout the country.

Report p.—132.

२. We recommended that the supply of Normal Schools, whether Government or aided, be so localized as to provide for the local requirements of all primary schools, which are government or aided, within the division under each inspector......Report—p. 132.

३. We recommended that the first charges on provincial funds, assigned for primary education be the cost of its direction and inspection and the provision of an adequate supply of the Normal Schools...Report p. 132.

किया क्योंकि सरकार इधर अधिक ध्यान नहीं दे पाती थी और इससे जनता की आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पाती थीं । अभी तक स्थानीय फण्ड अन्य विभागों पर भी खर्च हो जाया करता था, परन्तु अब ऐसा नहीं हो सकेगा । धन-राशि के निश्चित हो जाने से आर्थिक समस्या में काफी सुधार हो गया ।

आयोग के कुछ सुझावों को सरकार ने तुरन्त स्वीकार कर लिया। सभी प्रान्तों में नवनिर्मित जिला-परिषद् और नगर-पालिकाओं ने प्राथमिक शिक्षा का कार्य सम्हाल लिया ।

देशी विद्यालय[1]

भारतीयों द्वारा भारतीय परम्परा पर संचालित होने वाले विद्यालयों को शिक्षा-आयोग ने देशी स्कूल के नाम से पुकारा । आयोग ने बताया कि प्राथमिक शिक्षा-प्रसार के लिए देशी स्कूल आवश्यक हैं । अतः इनको प्रोत्साहित करना अत्यन्त आवश्यक है । इन्हें प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता है तथा देशी पाठशालाओं को ही सहायता देकर प्राथमिक शिक्षा के प्रसार-कार्य को बढ़ाया जाय । कमीशन ने यह अनुभव किया था कि अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए चले आने वाले ये देशी विद्यालय इस बात के प्रमाण हैं कि वे जनप्रिय और सजीव हैं,[2] तथा वे प्राथमिक शिक्षा का कार्य कुशलतापूर्वक कर सकते हैं । कमीशन ने कहा था कि यदि सुझावों के अनुसार सरकार इन्हें सहायता दे तो नई प्रथा के अनुसार इनमें परिवर्तन सम्भव है और इस प्रकार वे सरकारी योजनाओं के अनुसार कार्य करके एक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर सकते हैं ।

आयोग ने सुझाव रक्खा कि इन देशी विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रखा जाय। इसमें सभी वर्ग के छात्रों का प्रवेश लेने का पूर्ण अधिकार रहे तथा निर्धन एवं निम्न श्रेणी के बच्चों को, यदि आवश्यक समझा जाय तो, सहायता दी जाय । इन देशी विद्यालयों की मान्यता, निरीक्षण और आर्थिक सहायता का उत्तरदायित्व नगर-पालिकाओं और जिला-परिषदों पर होगा तथा इन विद्यालयों को सहायता या नियंत्रण के लिए वाध्य नहीं किया जा सकता । यदि वे चाहें तो नियन्त्रण के अन्तर्गत रहें अन्यथा पूर्ण स्वतंत्र होंगे। इन संस्थाओं को

---

१. Indigenous Education.

२. Admitting, however, the comparative inferiority of indigenous institutions, we consider that efforts should now be made to encourage them. They have survived a severe competition and have thus proved that they possess both vatality and popularity.

Commission 1882 Report p. 68.

देशी पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार न होगा। हाँ, पाठ्यक्रम में कुछ उपयोगी विषयों को सम्मिलित करने के लिए अधिक धन की आवश्यकता है। अतः इसका प्रबन्ध किया जाय। प्रत्येक प्रान्त अपना पाठ्यक्रम, पाठन-विधि तथा परीक्षा आदि का माप-दण्ड स्वयं निर्धारित करेगा। प्राथमिक विद्यालयों की भाँति देशी स्कूलों के शिक्षकों के प्रशिक्षण पर भी आयोग ने बल दिया। इन सुझावों के अनुसार इनमें पर्याप्त प्रगति हुई।

देशी स्कूलों के सम्बन्ध में दिये गये सुझावों में बहुत कम सुझाव स्वीकृत हुए। इनकी आर्थिक सहायता उत्तीर्ण छात्रों की संख्या के अनुपात पर निर्भर थी। इससे देशी विद्यालयों की प्रगति में कुछ बाधा उत्पन्न हो गई और इसी के परिणाम-स्वरूप आगे चलकर ये विद्यालय मृतप्राय होने लगे।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने केवल दो बातों के सम्बन्ध में अपने सुझाव दिए :—

१. किन उपायों के द्वारा माध्यमिक शिक्षा में विस्तार किया जा सकता है ?

२. माध्यमिक शिक्षा में आए हुए दोषों को कैसे दूर किया जा सकता है ?

प्रथम उद्देश्य के लिए आयोग ने सुझाव दिए कि सरकार को चाहिए कि योग्य और कुशल भारतीयों के हाथ में माध्यमिक शिक्षा का भार सौंप कर अपना हाथ उससे निकाल ले। इस कार्य को सफल बनाने के लिए सरकार को सहायता-अनुदान-पद्धति का सहारा लेना चाहिए।[1] वुड के संदेश-पत्र के पश्चात् शिक्षा-विभाग ने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में तेज कदम उठाया था। परन्तु फिर भी जनता में अंग्रेजी की बढ़ती हुई माँग अभी तक पूरी न हो सकी थी। अतः इसकी पूर्ति के लिए माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि की जाय। आयोग ने यह भी कहा कि जहाँ तक हो सके शीघ्रातिशीघ्र सरकार माध्यमिक स्कूलों पर से अपना प्रबन्ध हटा ले और इस प्रकार सम्पूर्ण जिले की माध्यमिक शिक्षा को व्यक्तिगत

---

१. Secondary schools for instruction in English be hereafter established by the State preferably on the footing of the system of Grant-in-aid. Recommendation No. 33—Secondary Education.

संस्थाओं के हाथ में सौंप दे ।[१] इन संस्थाओं को प्रोत्साहित करने के लिए प्रबन्धकों से कहा गया कि यदि वे चाहें तो बालकों से कम शुल्क भी ले सकते हैं ।

अब प्रश्न यह था कि यदि सरकार सम्पूर्ण जिले की माध्यमिक शिक्षा का भार व्यक्तिगत संस्थाओं पर छोड़ दे तो उन स्थानों की शिक्षा का क्या प्रबन्ध होगा जहाँ की जनता शिक्षा का भार अपने हाथों में लेने के लिए असमर्थ है। आयोग ने बताया कि ऐसे स्थानों पर सरकार अपवाद-स्वरूप अपने स्कूल खोल सकती है, परन्तु ऐसे राजकीय माध्यमिक विद्यालयों की संख्या प्रत्येक जिले में एक से अधिक नहीं हो सकती ।

शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में आयोग ने अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी पर ही बल दिया । माध्यमिक विद्यालयों में मातृ-भाषा के प्रयोग की उपेक्षा की गई । मिडिल स्कूलों के लिये भी कोई स्पष्ट बात नहीं बताई गयी । मिडिल स्कूलों के माध्यम के सम्बन्ध में निर्णय स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उनके प्रबन्धकों पर छोड़ दिया गया ।[२]

माध्यमिक विद्यालयों की दशा में सुधार करने तथा व्यावसायिक शिक्षा के लिए आयोग ने हाई स्कूल की शिक्षा को अ-कोर्स और ब-कोर्स में विभाजित करने की सिफारिश की । अ-कोर्स विश्वविद्यालयों में प्रवेश करने में व्यावसायिक, प्रायोगिक और जीवनोपयोगी शिक्षा का प्रबन्ध होगा ।[३]

---

१. That all Directors of Public Instruction aim at the gradual transfer to local native management of Government Schools of secondary instruction....Recommendation No. 30—External Relation of the Department.

२. It is a question in the decision of which much must depend on local circumstances and hence the freest scope in dealing with it should be left to the managers of schools, whatsoever be the view which the Department in any Province may be disposed to adopt.

– Report p. 221.

३. We, therefore, recommend that in the upper classes of High School there be two divisions one leading to the entrance examination of the Universities, the other of a more practical character, intended to the fit youths for commercial or non-library pursuits.

—Report of Indian Education Commission, p. 221.

प्रशिक्षण-विद्यालय

सन् १८८२ ई० तक भारत में केवल दो प्रशिक्षण विद्यालय थे—लाहौर और मद्रास के भारतीय शिक्षा-आयोग ने अध्यापकों के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया और अधोलिखित सिफारिशें कीं :—

१—छात्राध्यापकों में जो स्नातक हों उनका प्रशिक्षण-काल अन्य योग्यता वाले छात्रों की अपेक्षा कम रक्खी जाय।

२—शिक्षण-सिद्धांत और प्रायोगिक ज्ञान की परीक्षा होनी चाहिए और उसमें सफलता प्राप्त करने वाले छात्रों की ही स्थायी नियुक्ति की जानी चाहिए।

उच्च शिक्षा

जैसा कि पीछे बताया जा चुका है कि भारतीय शिक्षा-आयोग का मुख्य कार्य प्राथमिक शिक्षा की जाँच करनी और उसके सम्बन्ध में सुझाव देना था। अतः स्वाभाविक था कि उच्च शिक्षा एवं विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में वह अपने विचार सीमित रक्खे। परन्तु फिर भी उसने कालेज की शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ महत्त्व-पूर्ण सुझाव रक्खे। आयोग ने कहा कि कालेजों को सहायता देते समय कार्य की आवश्यकता एवं उनकी कार्य-क्षमता, कालेज के पूर्ण व्यय, स्वीकृत धन-राशि अध्यापकों की दशा और संख्या पर विशेष ध्यान रक्खा जाय और समय-समय पर आवश्यकतानुसार भवन-निर्माण, पुस्तकालय एवं वाचनालय, विज्ञान के लिए प्रयोगशाला एवं यंत्रादि तथा फर्नीचर के लिए विशेष सहायता प्रदान की जाय।

आयोग ने कालेजों में विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों के समावेश करने का प्रस्ताव रखा। इस सुझाव के रखने से उसका तात्पर्य यह था कि विद्यार्थियों को उनकी रुचि के अनुसार विषयों को अध्ययन करने का अवसर मिलेगा और शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उनको जीविकोपार्जन में सुविधा होगी। आयोग ने योग्य छात्रों को विदेश भेज कर उच्च शिक्षा दिलाने की भी सिफारिश की। इसके अतिरिक्त आयोग ने निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की संख्या निश्चित कर दी।

उपर्युक्त सुझावों के अतिरिक्त आयोग ने छात्रों के नैतिक एवं आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए पाठ्य-विषयों में एक ऐसी पुस्तक, जिसमें प्रकृति, धर्म और मानवधर्म के सिद्धांतों का पूर्ण विवेचन हो, रखने के लिए कहा और इसके अतिरिक्त यह सुझाव दिया कि समय-समय पर अध्यापकों तथा प्रधानाचार्य द्वारा तत्सम्बन्धित विषयों पर व्याख्यान होना चाहिए।

सहायता-अनुदान-प्रथा

वुड के संदेश-पत्र ने सहायता-अनुदान-प्रथा को जन्म दिया था। सन् १८६१ ई० में इंगलैण्ड में परीक्षा-परिणाम पर सहायता-अनुदान करने की प्रथा प्रचलित हुई थी और सन् १८६५ ई० में भारतवर्ष ने भी उसी प्रथा का अनुकरण किया। भिन्न-भिन्न प्रान्त अपना-अपना राग अलापते थे। उदाहरणार्थ, मद्रास में वेतन-अनुदान-प्रथा, बम्बई में परीक्षा-फल के अनुसार वेतन-प्रथा, मध्य भारत और उत्तरी भारत में नियत कालीन प्रथा प्रचलित थी। आयोग ने इन सब प्रथाओं का गहन अध्ययन किया और उनके सम्बन्ध में आए हुए दोषों को दूर करने के लिए अपने सुझाव रक्खे जो इस प्रकार थे :—

१—गैर-सरकारी विद्यालयों को आर्थिक सहायता देते समय निष्पक्षता का पूर्ण ध्यान रक्खा जाय। किसी विद्यालय को, किसी राजकीय विद्यालयों के सन्निकट होने के कारण अधिक धन न दिया जाय।

२—सभी स्कूलों की आवश्यकताएँ और परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। ऐसी दशा में सबके लिए एक ही नियम लागू करना उचित नहीं। अतः नियमों में संशोधन होना चाहिए और सहायता देते समय विद्यालय की आवश्यकता और परिस्थितियों पर ध्यान देना चाहिए। इन नियमों के संशोधन में गैर-सरकारी संस्थाओं का सहयोग आवश्यक है।

३—भवन-निर्माण, पुस्तकालय, वाचनालय, प्रयोगशाला और सज्जा आदि के सम्बन्ध में अनुदान के नियम निश्चित हो जाने चाहिए तथा यह भी निश्चित होना चाहिए कि यह कितने समय तक चलेगा।

४—पिछड़े क्षेत्र वाले विद्यालयों पर अधिक ध्यान दिया जाय। इसी प्रकार उन विद्यालयों को जिनके पास स्वयं की पूँजी कम है, अधिक धन-राशि दी जाय।

५—स्वीकृत धन-राशि निश्चित समय पर विद्यालयों में पहुँच जानी चाहिए।

६—आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में जितने भी प्रार्थनापत्र आये, उन पर शिक्षा-विभाग गम्भीरतापूर्वक विचार करे, तत्पश्चात् अपने निर्णय को प्रार्थी के पास अवश्य भेज दे।

७—सहायता-प्राप्त विद्यालयों को विशेष सहायता देकर विशेष प्रकार के विषयों के अध्यापन का प्रबन्ध किया जाय।

८—शिक्षा-अनुदान के संशोधित नियमों का अनुवाद हिन्दी में कराया जाय तथा उसकी प्रतियाँ सहायता-प्राप्त संस्थाओं के प्रबन्धकों के पास भेज दी जाएँ। इसके अतिरिक्त ये प्रतियाँ उन व्यक्तियों के पास भी भेजी जानी चाहिए जो किसी भी प्रकार से शिक्षा से संबन्धित हैं। जनता की जानकारी के लिए उसे समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित करना चाहिए।

९—सरकार द्वारा प्रदत्त पुरस्कार और छात्रवृत्तियाँ सभी विद्यालयों को समान रूप से मिलनी चाहिए, न कि केवल राजकीय विद्यालयों को। इसके अतिरिक्त छात्र-वृत्तियाँ, प्रमाणपत्र तथा अन्य ऐसी सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए होने वाली प्रतियोगिताओं में गैरसरकारी स्कूलों के छात्रों को भी स्वीकृति दी जाय।

१०—गैर-सरकारी सहायता-प्राप्त स्कूलों की संख्या में विकास करने के लिए हर प्रान्त को चाहिए कि अपने बजट में शिक्षा-सम्बन्धी धन-राशि को क्रमशः बढ़ा दे।

११—शिक्षण के माध्यम तथा पाठ्यक्रम-निर्धारण में गैर-सरकारी स्कूलों के प्रबन्धकों को अधिक स्वतन्त्रता दी जाय।

१२—निरीक्षकों के पद पर अधिकतर भारतीय ही रक्खे जायँ।

१३—सार्वजनिक परीक्षाओं में गैर-सरकारी स्कूलों के शिक्षकों और निरीक्षकों को शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के साथ रक्खा जाय।

१४—गैर-सरकारी स्कूलों को पूर्ण सहयोग प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उनके प्रबन्धकों का परामर्श शिक्षा सम्बन्धी सभी बातों में लिया जाय।

इन अमूल्य सुझावों को देकर आयोग ने गैरसरकारी स्कूलों की काया पलट दी तथा भारतीयों की दृष्टि शिक्षा की ओर आकर्षित की। अब बहुत-सी व्यक्तिगत संस्थाओं का निर्माण भारतीयों द्वारा होने लगा। धनराशि में वृद्धि, आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप न करना तथा भारतीय निरीक्षकों की नियुक्ति आदि सुझाव देकर आयोग ने व्यक्तिगत संस्थाओं में प्राण फूँक दिये। सरकार ने लगभग इन सभी सुझावों को मान लिया और अब देश के कोने-कोने में व्यक्तिगत संस्थाओं का विकास होने लगा। आयोग की इस नयी योजना से जितना लाभ माध्यमिक और उच्च विद्यालयों को हुआ उतना प्राथमिक विद्यालयों को नहीं।

शिक्षा-विभाग

भारतीय शिक्षा-आयोग ने देखा कि शिक्षा-विभाग में अनेक ऐसे दोष आ गए हैं, जिनके कारण विद्यालयों को उतना लाभ नहीं होता जितना होना

चाहिए। अतः उसने शिक्षा-विभाग के दोषों को दूर करने के लिए निम्नांकित सुझाव रखे :—

१—स्कूलों के निरीक्षण के लिए जहाँ तक सम्भव हो सके केन्द्रीय निरीक्षक न नियुक्त किए जायँ क्योंकि इससे विद्यालयों की वास्तविक स्थिति का पता नहीं चलता। प्राथमिक विद्यालयों के निरीक्षक तो स्थानीय ही होने चाहिए।

२—निरीक्षकों की संख्या विद्यालयों के लिए पर्याप्त नहीं है, अतः उनकी संख्या में आवश्यकतानुसार वृद्धि होनी चाहिए।

३—लगभग सभी प्रान्तों में सहायक निरीक्षकों के वेतन आदि में सुधार होना चाहिए।

४—निरीक्षकों के पद पर भारतीयों की भी नियुक्त होनी चाहिए और भविष्य में इस पद पर अधिकांशतः भारतीय ही नियुक्त किए जायँ।

भारतीय शिक्षा-आयोग के ये सुझाव बड़े उपयोगी थे। परन्तु दुर्भाग्यवश ये कार्यान्वित न हो सके और काफी दिनों तक शिक्षा विभाग की दशा पूर्ववत् ही बनी रही।

शिक्षा-साधनों के भारतीयकरण के संबंध में आयोग के सुझाव

वुड के सन्देश-पत्र के पश्चात् शिक्षा-विभाग ने राजकीय विद्यालयों के निर्माण में तेज कदम उठाया था। इनकी बढ़ती हुई संख्या को देखकर धर्म-प्रचारकों ने आन्दोलन उठाया। अब सरकार के समक्ष यह प्रश्न था कि इन राजकीय विद्यालयों और कालेजों को बन्द कर दे या इन्हें गैर-सरकारी संस्थाओं को सौंप दे। इस समस्या के समाधान के लिए सरकार ने भारतीय शिक्षा-आयोग को इस पर उचित सुझाव देने का आदेश दिया। आयोग को निम्नांकित दो बातों पर विचार करना था :—

१—सरकार क्या अपना हाथ शिक्षा-क्षेत्र से बिल्कुल हटा ले और उसके हट जाने से क्या शिक्षा को अधिक लाभ हो सकेगा।

२—यदि सरकार इस उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहे तो किस प्रकार सम्भव है।

प्रथम प्रश्न बड़ा जटिल था। इसके सम्बन्ध में कई प्रकार की विचार-धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। कुछ लोग तो चाहते थे कि सरकार शिक्षा-क्षेत्र से अपना

हाथ हटा ले और कुछ लोग चाहते थे कि शिक्षा सरकार के हाथ में ही रहनी चाहिए। दोनों विचार-धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। दोनों विचार-धाराओं पर गम्भीर अध्ययन के पश्चात् आयोग ने अपना मत प्रकट किया और कहा कि शिक्षा-क्षेत्र से सरकार का हट जाना ही श्रेयस्कर होगा। आयोग के इस प्रकार का मत देने के निम्नांकित कारण थे :—

१—शिक्षा की माँग बढ़ती जा रही थी और सरकार उस माँग की पूर्ति नहीं कर सकती थी, क्योंकि न तो सरकार के पास पर्याप्त साधन थे और न धन। अतः यह आवश्यक था कि गैर-सरकारी विद्यालयों को प्रोत्साहित किया जाय।

२—राजकीय विद्यालयों के संचालन में सरकार को अधिक धन व्यय करना पड़ता था। यदि इन विद्यालयों को वैयक्तिक संस्थाओं को दे दिया जाय तो इन से बची हुई धन-राशि से अन्य गैर-सरकारी संस्थाओं के संचालन में काफी सहायता मिलेगी।

उपर्युक्त भावनाओं से प्रेरित होकर भारतीय शिक्षा-आयोग ने निम्नांकित दो सुझाव रक्खे :—

१—सरकार को चाहिए कि राजकीय विद्यालयों के विस्तार को शीघ्र ही रोक दे।

२—जैसे ही कोई गैर-सरकारी संस्था शिक्षा का भार अपने ऊपर लेने के लिए तैयार हो जाय, वैसे ही सरकार को वहाँ से अपना प्रबन्ध उठा लेना चाहिए। और सारे अधिकार उस संस्था को हस्तान्तरित कर देने चाहिए।[1]

उपर्युक्त सुझावों से एक प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ कि इस प्रबन्ध के हटाने की रीति क्या हो तथा प्रबन्ध किसको दिया जाय। यह प्रबन्ध भारतीय चेष्टाओं के ही पक्ष में हटाया जा सकता था, क्योंकि आयोग धर्म-प्रचारकों के विरोध में था। अतः आयोग ने इस समस्या के समाधान के लिए भी निम्नलिखित दो सुझाव प्रस्तुत किए :—

१—प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में वह स्थानीय परिषदों तथा नगर-पालिकाओं के पक्ष में हटा ले।

१. Government should not only curtail the expansion of its institutions, but should also withdraw from direct enterprise as soon as a suitable agency, public or private, became available to carry on the work.—Report. p. 451-2

२—उच्च तथा माध्यमिक शिक्षाओं से सरकार अपना प्रबन्ध धीरे-धीरे हटाये और इन विद्यालयों के प्रबन्ध भारतीय गैर-सरकारी संस्थाओं के हाथ में सौंप दे, यदि उनका स्तर गिरने तथा भविष्य बिगड़ने का कोई डर न हो ।

आयोग के सुझावों के फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा स्थानीय संस्थाओं को सौंप दी गई, परन्तु उच्च और माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में सरकार स्वयं रुचि लेती रही ।

धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग की सिफारिशें

इस समय तक धार्मिक शिक्षा की समस्या बड़ी विकट हो चुकी थी । आयोग ने इस पर विचार किया और निम्नलिखत सुझाव दिए :—

१—राजकीय विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा बिल्कुल नहीं होनी चाहिए ।

२—गैर-सरकारी विद्यालयों में यदि उनके प्रबन्धक चाहें तो धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध कर सकते हैं और सरकार उस शिक्षा के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती है ।

३—ऐसे विद्यालयों को आर्थिक सहायता देते समय उनकी शैक्षिक दशा का ध्यान रखना चाहिए ।

भारतीय आयोग के स्त्री शिक्षा-सम्बन्धी सुझाव

सन् १८८२ ई० तक भारतीय स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । आयोग ने उनकी समस्या के लिए निम्नांकित सिफारिशें कीं :—

१—**सार्वजनिक कोष**—आयोग ने कहा कि सार्वजनिक कोष के उपयोग में बालक और बालिका-विद्यालयों में समान अनुपात होना चाहिए ।

२—**सहायता-अनुदान-प्रथा**—सहायता अनुदान के नियम कन्या-विद्यालयों के लिए सरल होने चाहिए तथा कन्या-पाठशालाओं को आर्थिक सहायता देते समय उदारता की नीति बरतनी चाहिए । उन विद्यालयों को भी सामान्य शिक्षा के आधार पर सहायता देनी चाहिए जिनमें धार्मिक शिक्षा का स्थान प्रमुख हो ।

पाठ्य-क्रम में विभिन्नता—बालिकाओं का पाठ्यक्रम बालकों के पाठ्यक्रम से भिन्न होना चाहिए । साहित्यिक विषयों का अधिक ज्ञान बालकों के लिए तो उपयोगी हो सकता है, परन्तु बालिकाओं के लिए नहीं । अतः उनको प्रायोगिक ज्ञान की शिक्षा देनी चाहिए, जिससे उनको प्रायोगिक ज्ञान की भी शिक्षा मिल सके ।

शुल्क और छात्र-वृत्ति—स्त्री-शिक्षा के प्रति लोग उदासीन हैं ही और यदि उनसे शुल्क भी लिया जायगा तो उनकी उदासीनता और बढ़ जायगी और अनुदान बिना शुल्क के मिल नहीं सकता अतः अनुदान की शर्त शुल्क पर न आधारित हो तथा बालिकाओं के स्कूल की अवधि बढ़ाने के लिए छात्रवृत्तियों का प्रबन्ध होना चाहिए।

माध्यमिक शिक्षा—माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। अतः उन्हें उत्साहित करने के लिए विशेष सुविधाएँ दी जानी चाहिए; परन्तु जहाँ के लोग इसके लिए इच्छुक हों।

छात्रावास—दूर स्थानों से स्त्रियों को स्कूल आने में बड़ी कठिनाई होती है। अतः उनके लिए छात्रावासों का प्रबंध होना चाहिए।

बालिका-विद्यालयों का स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरण—महिला-विद्यालयों का प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दिया जाय, और जहाँ वे इसके लिए उद्यत न हों वहाँ सरकार ही उनका प्रबन्ध करे।

महिला शिक्षिका—उस समय समाज नहीं चाहता था कि स्त्रियों के शिक्षक पुरुष हों। उनको इस ओर आकर्षित करने के लिए आवश्यक था कि स्त्री-शिक्षिकाएँ रक्खी जायँ। आयोग ने यह भी कहा कि धीरे-धीरे पुरषों के स्थान पर स्त्री-शिक्षिकाएँ नियुक्त कर दी जायँ।

स्त्री शिक्षा—तत्कालीन भारतीय नारियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। सम्भ्रान्त व्यक्तियों की लड़कियाँ छोटी ही आयु तक स्कूल जा सकती थीं, और कभी-कभी तो घर से निकल ही नहीं सकती थीं। अतः इन दोनों दशाओं में ऐसी बालिकाओं के लिए स्त्री शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय और इसको प्रोत्साहित करने में कुछ उठा न रक्खा जाय तथा यह शिक्षा धार्मिक विषयों से सम्बन्धित न[1] हो।

निरीक्षकों की नियुक्ति—बालिका-विद्यालयों के निरीक्षण एवं प्रोत्साहन के लिए सुयोग्य निरीक्षिकाओं की नियुक्ति होनी चाहिए।

जनता का सहयोग—स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए ऐसी स्त्रियों और पुरुषों को जो इधर किसी प्रकार की रुचि लेते हैं बालिका-विद्यालियों से सम्बन्धित करना आवश्यक है, क्योंकि ऐसा ही करने से जनता का पूरा सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

---

१. We see no reason why their secular instruction imparted under the supervision of ladies worthy of confidence, should not be recongnised and assistted.—Report, p. 548.

इस प्रकार भारतीय शिक्षा-आयोग ने स्त्री-शिक्षा के सम्बंध में विस्तृत और व्यापक सुझाव दिये, परन्तु दुर्भाग्यवश ये पूर्णतः कार्यान्वित न हो सके। हाँ, उनकी दशा में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ।

मुस्लिम शिक्षा के सम्बन्ध में भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशें

तत्कालीन भारतीय मुस्लिम समाज शिक्षा के दोषों का वर्णन पीछे किया जा चुका है। सन् १८८२ ई० में भारतीय शिक्षा-आयोग ने इन दोषों को दूर करने के लिए महत्त्वपूर्ण और व्यापक सुझाव दिये। ये सुझाव न्यायसंगत होने के साथ ही साथ उदार भी थे। ये सुझाव इस प्रकार हैं :—

१—मुस्लिम शिक्षा को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया जाय और इसका विशेष उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं के कोष पर होना चाहिये।

२—देशी मुस्लिम स्कूलों को अपने पाठ्यक्रमों में भौतिक विषयों के रखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

३—सामान्य प्रारम्भिक विद्यालयों और मुस्लिम प्रारम्भिक विद्यालयों के स्तर में बड़ा अन्तर है। अतः मुस्लिम विद्यालयों को अपना मान-दण्ड निश्चित करना चाहिए।

४—उन स्थानों को छोड़ कर जहाँ की जनता हिन्दुतानी माध्यम नहीं चाहती शेष सभी मुस्लिम विद्यालयों का माध्यम हिन्दुस्तानी होनी चाहिए।

५—जिन स्थानों पर सरकारी कार्यों में हिन्दुस्तानी के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा का प्रयोग होता है वहाँ प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों को उस भाषा के पढ़ने की सुविधा होनी चाहिए।

६—उन स्थानों पर, जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक है, राजकीय माध्यमिक और प्राथमिक स्कूलों में हिन्दुस्तानी तथा फारसी पढ़ाने की व्यवस्था की जाय।

७—उच्च अंग्रेजी शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमानों को विशेष सहायता की आवश्कता है, और यह सहायता पूर्ण रूप से दी जानी चाहिए।

८—मुसलमानों की शिक्षा पिछड़ी हुई है। इसका एक कारण निर्धनता भी है। अतः उनके लिए विशेष प्रकार की छात्र-वृत्ति का प्रबन्ध किया जाय। यह छात्र-वृत्ति प्रायमरी स्कूल में दी जाय और मिडल स्कूल में समाप्त हो, और मिडिल स्कूल में दी जाय तो हाई स्कूल में समाप्त हो और यदि हाई स्कूल में दी जाय तो आगे तक चलती रहे।

९—राजकीय विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों में मुसलमान छात्रों की संख्या निश्चित कर दी जाय।

१०—मुसलमानों के लिए दी हुई भूमि, जिसका प्रबंध सरकार करती है, की सम्पूर्ण आय मुसलमानों की शिक्षा के विकास एवं विस्तार में लगाई जाय।

११—ऐसे स्थानों पर जहाँ सम्पत्ति वैयक्तिक संस्थाओं के हाथ में हो उनके प्रबन्धकों को उदारतापूर्ण शिक्षा-अनुदान देकर उन्हें अंग्रेजी स्कूल और कालेज का निर्माण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

१२—मुसलमान शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए स्कूल और प्रशिक्षण-कक्षाओं की व्यवस्था की जाय।

१३—हिन्दुस्तामी माध्यम द्वारा शिक्षा प्रदान करने वाले स्कूलों में यथा-सम्भव मुसलमान अध्यापकों की नियुक्तियाँ की जायँ।

१४—लोक-शिक्षा-निर्देशक को चाहिए कि वार्षिक रिपोर्ट तैयार करते समय एक अध्याय मुसलमानों के लिए रक्खे।

१५—मुस्लिम शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए निर्मित संस्थाओं को मान्यता दी जाय और उन्हें प्रोत्साहित किया जाय।

१६—मुसलमानों के प्राथमिक विद्यालयों के लिए अधिकांशतः मुसलमान निरीक्षक नियुक्त किए जाने चाहिए।

१७—स्थानीय सरकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाय कि एक अन्य पढ़े-लिखे लोगों में तथा शिक्षित मुसलमानों में राजकीय पद के वितरण में क्या अनुपात है।

सरकार ने आयोग की इन सिफारिशों को कुछ संशोधन के उपरान्त मान लिया, परन्तु सरकार ने कहा कि आयोग ने अरबी और फारसी पर विशेष बल दिया है। किन्तु मुसलमानों का कल्याण अरबी-फारसी से नहीं हो सकता, अपितु उनका अंग्रेजी पढ़ने में ही लाभ है। यदि वे ऐसा न करेंगे सरकारी पदों को प्राप्त करने में वे सदैव हिन्दुओ से पीछे[1] रहेंगे।

---

१. It is only by frankly placing themselves in line with the Hindus, and taking full advantage of the Government system of high and especially of English education, that the Muhammadans can hope to hold their own in respect of the better discretion of State appointments.—Syed Mahmood : History of Education in India, p. 174.

पिछड़ी जातियों की शिक्षा

भारतीय शिक्षा-आयोग के काल तक पिछड़ी जातियों की शैक्षिक दशा बड़ी दयनीय थी। अब तब उनके लिए केवल २० विद्यालय थे। भारतीय शिक्षा-आयोग को उनकी दशा पर बड़ा तरस आया और उनकी समस्याओं पर विचार करने के पश्चात बुद्धिमत्तापूर्ण सिफारिशें कीं। आयोग चाहता था कि सभी राजकीय विद्यालयों में हारिजनों को प्रवेश करने का पूर्ण अधिकार हो। अतीतकाल से चली आने वाली प्रथा के अनुसार इन लोगों को समाज में कोई स्थान न प्राप्त हुआ था। अतः आयोग इनको यकायक उच्च वर्गियों के स्तर पर न ला सका। अतः उसने निम्नांकित सिफारिशें कीं :—

१. पिछड़ी जातियों एवं हरिजनों के छात्रों के लिए राजकीय विद्यालयों का द्वार खुला रहे। उनमें किसी प्रकार का भेद-भाव न रक्खा जाय। परन्तु इसको क्रियात्मक रूप देने के लिए शिक्षकों तथा शिक्षा धिकारियों को बुद्धिमत्तापूर्वक काम करना चाहिए, जिससे उच्चवर्ग के लोग इसका विरोध न कर सकें और उनके मन से धीरे-धीरे यह भेद-भाव की भावना मिट जाय।[१]

२. जिन स्थानों पर हरिजनों के बच्चों का सामान्य स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करना सम्भव न हो सके वहाँ उनके लिए विशेष प्रकार के विद्यालयों का निर्माण किया जाय और ऐसे विद्यालयों की संख्या पर्याप्त होनी चाहिए।[२]

आयोग के सुझावों के अनुसार हरिजनों की शिक्षा में सराहनीय प्रगति हुई। उनके लिए पर्याप्त संख्या में विशेष प्रकार के विद्यालयों का निर्माण हो गया और सामान्य स्कूलों में भी उनकी संख्या बढ़ने लगी।

---

१. But even in the case of Government or Board Schools, the principle affirmed by us must be applied with caution. It is not desirable for masters or Inspectors to endeavour to force on a social change which, with judicious treatment, will gradually be accepted by society.—Indian Education Commission Report p. 516-17.

२. That the establishment of special schools or classes for children of low castes be liberally encouraged in places where there are sufficient number of such pupils to form separate schools or classes, and where the schools, already maintained from public funds do not sufficiently provide for the education. Ibid, page 516-17.

आदिवासियों तथा पहाड़ी जातियों के संबंध में भारतीय शिक्षा आयोग के सुझाव

भारतीय शिक्षा-आयोग की नियुक्ति के समय आदिवासियों एवं पहाड़ी जातियों की शिक्षा नहीं के बराबर थी। आयोग ने देखा कि आदिवासियों और पहाड़ी जातियों की शिक्षा के लिए सरकार की सामान्य चेष्टायें सफल न हो सकीं। अतः अब इनकी शिक्षा के लिए सरकार को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और उसके लिए विशेष प्रकार के स्कूलों की स्थापना होनी चाहिए। इनकी शिक्षा के लिए सुझाव देते समय आयोग ने उनकी दशा, स्थान और परिस्थितियों को ध्यान में रक्खा। उनकी शिक्षा के लिए आयोग के निम्नलिखि सुझाव थे :—

१. आदिवासियों तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा के लिए निर्मित वैयक्तिक संस्थाओं को सरकार उत्साहित करे।

२. इन जातियों में से कुछ अध्यापक कार्य करने योग्य बनाए जाँय और उनको सामान्य नार्मल स्कूलों में सरल विषयों को पढ़ाकर थोड़े ही समय में प्रशिक्षित बना दिया जाय।

३. आदिवासियों के ऐसे क्षेत्रों में, जो सभ्यजातियों के निकट स्थित हैं, राजकीय प्रयास होना चाहिए और स्थानीय सामान्य विद्यालयों में आदिवासी छात्रों को प्रवेश के लिए आकर्षित करना चाहिए और उनसे शुल्क न लेना चाहिए।

४. आदिवासियों की शिक्षा उनकी मातृभाषा के माध्यम से होनी चाहिए। यदि किसी आदिवासी जाति की सामान्य भाषा को लिखित रूप में प्रयोग किया जाने लगा है तो उसकी उस भाषा को प्रोत्साहित किया जाय।

५. सरकार इनकी शिक्षा के लिए शीघ्र ही अपने प्रयत्न प्रारम्भ कर दे। उसे वैयक्तिक संस्थाओं की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

आयोग के सुझावों के अनुसार सरकार ने आदिवासियों के लिए कुछ प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन दिया गया और उनकी फीस भी माफ कर दी गई। अल्पकालीन सरल पाठ्यक्रम रख कर उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई।

धर्म प्रचारक और आयोग

भारतीय शिक्षा-आयोग की नियुक्ति धर्म-प्रचारकों के आन्दोलनों के फलस्वरूप हुई थी और इससे इन लोगों की बड़ी आशाएँ थीं। परन्तु आयोग ने उनकी सभी

आशाओं पर पानी फेर दिया। प्राथमिक शिक्षा को आयोग ने स्थानीय संस्थाओं के हाथों में सौंप दिया था। परन्तु इसमें धर्म-प्रचारकों को कोई आपत्ति न हुई थी; क्योंकि उससे उनका संबंध बहुत कम था। आयोग के सरकार को माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से अपना हाथ निकालने के सुझाव से धर्म-प्रचारकों के हृदय में आशा का संचार हुआ था। परन्तु आयोग ने स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत संस्थाओं का तात्पर्य भारतीय जनता से है। आयोग ने कहा कि भारत ऐसे विशाल और विस्तृत तथा विभिन्न आवश्यकताओं वाले देश की उच्च शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सारा प्रबंध धर्म-प्रचारकों के हाथ में नहीं दिया जा सकता क्योंकि ये धर्म-प्रचारक कभी भी जनता के विश्वासपात्र नहीं बन सकते। अतः शिक्षा-प्रबंध भी धर्म प्रचारकों के हाथ में नहीं जाना चाहिए।[१]

इस प्रकार धर्म-प्रचारकों को बड़ी ठेस लगी और उनकी संस्थायें भारतीयों द्वारा संचालित संस्थाओं के समकक्ष नहीं रक्खी गई। इसे देखकर भारतीयों को आभास हो गया कि राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली में पुनर्संगठन के लिए भारतीय जनता के विशेष प्रकार से जागरूक होने की आवश्यकता है।

विशिष्ट शिक्षा का आयोजन

उपर्युक्त सिफारिशों के अतिरिक्त आयोग ने सरकार को सरदारों के बालकों एवं राजकुमारों के लिए विशेष विद्यालय तथा प्रौढ़ों के लिए रात्रि-पाठशालाओं का निर्माण करने की सिफारिश की।

भारतीय शिक्षा आयोग का मूल्यांकन

इस आयोग ने अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव दे कर भारतीय शिक्षा में प्राण फूंक दिए। आयोग ने शिक्षा-संबंधी लगभग सभी प्रश्नों पर ध्यान दिया और भारत की

---

१. In a country with such varied needs as India, we should deprecate any measure which would throw excessive influence over higher education into the hands of any single agency, and particularly into the hands of an agency which, however, benevolent and earnest, cannot on all points be in sympathy with the mass of the community......At the same time we think it well to put on record our unanimous opinion that withdrawal of direct departmental agency should not take place in favour of missionary bodies and that departmental institutions of the higher order should not be transferred to missionary management.—Report, p. 452.

सम्पूर्ण जनता के हित का ध्यान रक्खा। औद्योगिक शिक्षा का सुझाव रखकर सरकार को यह अनुभव कराया गया कि भारतीय शिक्षा आवश्यकता से अधिक पुस्तकीय होती जा रही है, और इससे जनता को अर्थोपार्जन में कठिनाइ पड़ती है, अतः ऐसी शिक्षा का प्रबंध किया जाय जो जीवनोपयोगी हो। इसके अतिरिक्त आयोग ने सरकार को शिक्षा-भार से मुक्त कर भारतीयों को इस ओर प्रोत्साहित किया, फलस्वरूप शिक्षा की गति में बड़ी प्रगति हुई। फिर भी क्या आयोग के सुझाव दोषरहित थे ? नहीं, आयोग ने कुछ ऐसी भी सिफारिशें कीं, जो भारत के लिए बहुत हानिकर थीं।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में कमीशन ने अंग्रेजी का पक्ष लेकर मातृ-भाषा की उपेक्षा की और प्रशिक्षण-विद्यालयों पर बहुत कम ध्यान दिया। इसके अतिरिक्त औद्योगिक शिक्षा के संबंध में उसके सुझाव नाम-मात्र के थे।

वैयक्तिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देने के लिए आयोग ने गैर-सरकारी संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों से कम फीस लेने की सिफारिश की। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षा का स्तर गिर गया, क्योंकि निम्नकोटि की संस्थाएँ खुलने लगीं। शिक्षा का लगभग सम्पूर्ण भार जनता पर छोड़ कर सरकार स्वयं शिक्षा के क्षेत्र से दूर हट गई। फलतः जनता पर खर्च का भार अधिक पड़ने लगा तथा उन संस्थाओं को शिक्षा, जहाँ की जनता व्यय का भार नहीं वहन कर सकती थी, पिछड़ती गई। शिक्षा-विभागों को निरीक्षण-कार्य सौंपा गया था इससे विद्यालयों पर उनका अनुचित प्रभाव पड़ने लगा।

सारांश

पिछले २८ वर्षों की प्रगति एवं भावी योजना निर्धारित करने के उद्देश्य से भारतीय शिक्षा-आयोग की नियुक्ति हुई थी। आयोग का मुख्य उद्देश्य भारत में प्राथमिक शिक्षा की जाँच करना था; परन्तु इसके अतिरिक्त धर्म-प्रचारकों के विद्यालयों की दशा, उनकी आवश्यकता एवं वैयक्तिक संस्थाओं के प्रति सरकार का दृष्टिकोण आदि प्रश्नों पर भी विचार करने के लिए उसको कहा गया था।

आयोग ने बड़े परिश्रम से कार्य किया और शिक्षा-सम्बन्धी लगभग सभी प्रश्नों पर विचार किया। प्राथमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया और उच्च तथा माध्यमिक और विश्वविद्यालय शिक्षा के संबन्ध में भी अपने सुझाव रक्खे।

प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए आयोग ने कहा कि (१) प्राथमिक शिक्षा जीवनोपयोगी होना चाहिए। (२) छोटी नौकरियों में साक्षरों को वरीयता दी जाय। (३) भूत की अपेक्षा वर्तमान में अधिक प्रयत्न किया जाय।

(४) आदिवासियों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। (५) प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय संस्थाओं को दे दिया जाय और इनके व्यय का भार भी वे ही वहन करेंगी। प्रशिक्षण विद्यालयों का निर्माण होना चाहिए। सभी प्रान्तों को पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में स्वतंत्रता होनी चाहिए।

देशी विद्यालयों को प्रोत्साहित किया जाय और उनमें प्रवेश के लिए कोई प्रतिबन्ध न रक्खा जाय। इनका भार भी स्थानीय संस्थाओं को दे देना चाहिए, परन्तु पाठ्यक्रम के विषय में उनको हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न होगा।

माध्यमिक शिक्षा के संबन्ध में आयोग ने दो बातों पर विचार किया : (१) किस उपाय से माध्यमिक शिक्षा का विकास और विस्तार किया जाय। (२) माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में आए हुए दोषों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। माध्यमिक शिक्षा के माध्यम के लिए आयोग ने अंग्रेजी पर ही विशेष जोर दिया। हाई स्कूल की शिक्षा को दो कोर्सों में बाँट दिया। आयोग ने अध्यापकों के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया।

आयोग ने कालेजों को सहायता देते समय उनकी आवश्यकता, कृषि, क्षमता, पुस्तकालय आदि के सम्बन्ध में विशेष सहायता प्रदान करने के लिए कहा। आयोग ने कालेजों में विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों का समावेश करने की बात कही। इसके अतिरिक्त आयोग ने छात्रों के नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाने का सुझाव भी दिया।

सहायता-अनुदान की प्रथा में अनेक दोष आ गए थे। उन दोषों को दूर करने के लिए आयोग ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

शिक्षा-विभाग के दोषों को दूर करने के लिए केन्द्रिक निरीक्षक तथा सहायक निरीक्षक नियुक्ति करने का तथा सभी प्रान्तों में सहायक निरीक्षकों के वेतन में सुधार करने का सुझाव आयोग ने दिया। शिक्षा-संस्थाओं में भारतीयकरण के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि सरकार को चाहिए कि सरकारी विद्यालयों के विस्तार को शीघ्र ही रोक दे और भारतीय चेष्टाओं को प्रोत्साहित करे।

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में सार्वजनिक कोष, सहायता-अनुदान-प्रथा, पाठ्यक्रम में विभिन्नता, शुल्क और छात्रवृत्ति की सिफारिश के अतिरिक्त उनके माध्यमिक शिक्षालय, छात्रावास, प्रशिक्षण-विद्यालय के निर्माण तथा उनके विद्यालयों का भार स्थानीय संस्थाओं को सौंपने की सिफारिश की।

मुस्लिम शिक्षा के सम्बन्ध में भी आयोग ने महत्त्वपूर्ण सुझाव रक्खे। आयोग ने पिछड़ी जातियों, आदिवासियों एवं पहाड़ियों के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा

के प्रबन्ध की सिफारिश की। प्रौढ़ों के लिए रात्रि-पाठशाला एवं राजकुमारों तथा सरदारों के बालकों के लिए विशिष्ट विद्यालयों की स्थापना की सिफारिशें की।

आयोग ने धर्म-प्रचारकों की स्थिति को भी स्पष्ट कर दिया। सरकार को शिक्षा-भार से मुक्त कर भारतीय शिक्षा को जनता के हाथ में डाल दिया। परन्तु इतना होते हुए भी आयोग में कुछ दोष भी थे जो भारतीयों के लिए सर्वथा अहितकर थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सन् १८८२ ई० के प्रथम भारतीय शिक्षा-आयोग ने भारतीय शिक्षा की क्या दशा पायी ?

२. सन् १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा-आयोग ने भारतीय शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में कौन से प्रमुख सुझाव प्रस्तुत किए तथा उनकी समीचीनता पर प्रकाश डालिए।

३. सन् १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा-आयोग ने शिक्षा को वैयक्तिक संस्थाओं के हाथों में सौंप कर भारतीय शिक्षा में प्रगति ला दी। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

अध्याय ३०

सन् १८८२ से १६०२ तक शिक्षा की प्रगति

सन् १८८२ ई० में भारतीय शिक्षा-आयोग ने शिक्षा-क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए सुझाव दिये थे, जैसा कि पिछले अध्यय में बताया जा चुका है। इसने शिक्षा-संबंधी सभी प्रश्नों पर व्यापक दृष्टि डाली और उसके विकास के लिए अनेक सुझाव दिये। यह आयोग मुख्यत: प्राइमरी शिक्षा के लिए नियुक्त किया था। अत: उस पर विशेष ध्यान दिया। आयोग की इन सिफारिशों के फलस्वरूप अगले २० वर्षों में शिक्षा की बड़ी उन्नति हुई। विभिन्न प्रकार की शिक्षा की प्रगति का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

प्राथमिक शिक्षा

लार्ड रिपन ने, इंगलैन्ड की काउन्टी काउन्सिल के आधार पर भारत के नगरों के लिए नगरपालिका और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए जिला परिषदों का निर्माण कराया था। शिक्षा-आयोग ने प्राथमिक शिक्षा को ऐसी ही संस्थाओं के अन्तर्गत रखने की सिफारिश की थी। अत: प्राथमिक शिक्षा का भार स्थानीय संस्थाओं पर छोड़ दिया गया। इस प्रबंध से उसमें कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। देशी पाठशालायें भी इन्हीं स्थानीय संस्थाओं के प्रबंध के अन्तर्गत रक्खीं गईं, परन्तु १८८२ ई० के पश्चात् देशी पाठशालायें धीरे-धीरे क्षीण होती गईं। १६०२ ई० के लगभग इनकी मन्द-मन्द टिमटिमाती ज्योति ही अवशिष्ट रह गई, जो प्राय: नहीं के बराबर ही थी। अधिकतर प्रान्तों में इनको प्रोत्साहन न मिला और इनका अस्तित्व समाप्त हो गया। कुछ प्रान्तों में ये पाठशालायें राजकीय विद्यालयों में सम्मिलित कर दी गईं। इस प्रकार १६०२ के पश्चात् इनके दर्शन नहीं होते।

स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों और कर्त्तव्यों को लिखकर एक कोड बना दिया गया था और उन्हें उनका पालन करना आवश्यक था। इन नियमों के साथ ही साथ प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करने के नियम भी बना दिये गए और उसके अनुसार

उनकी आय केवल प्राथमिक शिक्षा पर ही खर्च की जा सकती थी। प्रान्तीय सरकारें नगर-पालिकाओं और जिला-परिषदों को आर्थिक सहायता देती थीं। इस संबंध में बम्बई सबसे आगे रहा। उसने व्यय का आधा भाग देना स्वीकार किया था। मद्रास ने सम्पूर्ण आय का केवल ५ प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करने का आदेश दिया। प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए बंगाल, मध्यप्रदेश, उत्तर-प्रदेश, आसाम, उड़ीसा तथा पंजाब आदि प्रान्तों ने भी ऐसे ही नियम बनाए थे। आयोग ने सभी प्रान्तों में शिक्षा-अनुदान के नियमों में काफी सुधार कर दिया था और इन सुधारों के फलस्वरूप अनुदान के नियम प्राथमिक शिक्षा के लिए अधिक अनुकूल हो गए थे। सन् १६०२ में प्राथमिक शिक्षा पर स्थानीय संस्थाओं का व्यय ४६ लाख था, जब कि सन् १८८२ ई० में केवल २४ लाख ही था। यद्यपि आयोग ने सरकार को प्राथमिक शिक्षा-संबंधी व्यय के भार को वहन करने का प्रस्ताव रक्खा था, तथापि उनको राजकीय सहायता नाम मात्र को हो मिलतो रही। सन् १८८२ ई० से सन् १६०२ ई० की अवधि में सरकारी खर्च में केवल १५ लाख रुपये हो बढ़े थे। इस प्रकार राजकीय अनुदान के अभाव के कारण स्थानीय संस्थाओं को अपने ही ऊपर निर्भर रहना पड़ा। अत: उनकी विशेष उन्नति न हो सकी, क्योंकि इन संस्थाओं के पास पर्याप्त साधन न थे।

सुव्यवस्थित शिक्षा और निरीक्षण के कारण शिक्षा का स्तर अधिक ऊँचा हो गया। परन्तु शिक्षा के स्तर ऊँचा होने के साथ ही साथ विस्तार स्थगित हो गया। इस अवधि में विद्यालयों की संख्या में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। सन् १८७१ से १८८६ ई० तक की अवधि में प्राथमिक विद्यालयों में छात्रों की संख्या में २० लाख की वृद्धि हुई थी और सन् १८८६ ई० तथा १६०२ ई० की अवधि में ६,६०,००० छात्र बढ़े। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक दूर-दूर देहातों में भी प्रारम्भिक विद्यालय स्थापित हो चुके थे। परन्तु इस समय एक विशेषता यह रही कि केवल अच्छे विद्यालय ही जीवित रह सके। शेष सभी इस संघर्ष से टक्कर न ले सके और अपना अस्तित्व खो बैठे।

माध्यमिक शिक्षा

भारतीय शिक्षा-अयोग की सिफारिशों को देखकर प्राइमरी शिक्षा की प्रगति की बड़ी आशा हुई थी, परन्तु उसमें कोई विशेष उन्नति न हुई। हाँ, माध्यमिक शिक्षा में तीव्र प्रगति हुई। इसका श्रेय शिक्षा-विभाग को है। आयोग ने सुझाव रक्खा था कि सरकार शीघ्रातिशीघ्र माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से अपना हाथ खींच

ले और उसका सारा उत्तरदायित्व वैयक्तिक संस्थाओं पर छोड़ दे। परन्तु इन सुझावों की अपेक्षाकृत भी शिक्षा-विभाग ने माध्यमिक शिक्षा पर अपने प्रयत्नों को जारी रक्खा। अतः इस क्षेत्र में विकास स्वाभाविक था। शिक्षा-विभाग द्वारा स्थापित माध्यमिक स्कूलों की आर्थिक दशा बड़ी अच्छी थी। इसके अतिरिक्त कुछ माध्यमिक विद्यालय अनुदान पर अपना कार्य चला रहे थे तथा कुछ शुल्क और चन्दे पर। ऐसे विद्यालयों की दशा अच्छी न थी, क्योंकि इनमें धनाभाव था।

व्यावसायिक शिक्षा के विचार से आयोग ने हाई स्कूलों को दो भागों में बाँटा था। इसमें प्रथम का उद्देश्य विश्वविद्यालयों में प्रवेश दिलाने के लिए विद्यार्थी तैयार करना और दूसरे का अर्थ जीवनोपयोगी व्यावसायिक शिक्षा देना था। परन्तु दूसरा सुझाव अधिक प्रचलित न हो सका, क्योंकि उस समय शिक्षा का उद्देश्य लोग नौकरी और सम्मान पाना ही समझते थे। सन् १८८२ ई० के पश्चात् सभी प्रान्तों में माध्यमिक विद्यालयों के व्यावसायिक शिक्षा-विभाग का निर्माण किया गया था, परन्तु इन विभागों में प्रवेश लेने वाले छात्रों की संख्या बहुत कम थी। सन् १९०२ ई० तक प्रथम कोर्स में शिक्षा ग्रहण करने वाले २,००० छात्र थे। अतः स्पष्ट है कि उस समय तक लोगों का झुकाव व्यावसायिक शिक्षा के प्रति नहीं हुआ था। फिर भी सन् १८८८ ई० में मद्रास में टेकनिकल पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया गया था। सन् १८९७ ई० में बम्बई में स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा प्रारम्भ कर दी गई थी। इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर छात्र विश्वविद्यालयों में प्रवेश ले सकते थे। बम्बई के स्कूल के फाइनल कोर्स में अर्थ-शास्त्र, कृषि, मैनुअल ट्रेनिंग तथा भौतिक विज्ञान आदि भी पाठ्यक्रम में प्रारम्भ कर दिये गए थे। इस कोर्स को प्रोत्साहित करने के लिए नौकरी में जाने वालों के लिए यह कोर्स आवश्यक कर दिया गया था। इलाहाबाद में भी सन् १८९४ ई० से स्कूल फाइनल परीक्षा होने लगी। सन् १९०० ई० में बंगाल में इंजीनियर तथा अन्य ऐसे व्यावसायिक व्यक्तियों के तैयार करने के लिए व्यवस्था की गई तथा इसी प्रकार पंजाब विश्वविद्यालय ने भी वाणिज्य, व्यवसाय तथा लिपिकों की शिक्षा प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि लगभग सभी विश्वविद्यालयों ने इस पाठ्यक्रम को लागू कर दिया तथापि इसमें विशेष प्रगति न हुई।

माध्यमिक शिक्षा-क्षेत्र में माध्यम के संबंध में कमीशन ने अंग्रेजी का पक्ष लिया। परिणाम स्वरूप मातृ-भाषायें उपेक्षित बनी रहीं। फलतः अंग्रेजी की तूती बोलने लगी और एकमात्र अंग्रेजी का अध्यापन ही शिक्षा-संस्थाओं का उद्देश्य प्रतीत होने लगा। अंग्रेजी विदेशी भाषा थी। अतः उसके सीखने के लिए पर्याप्त

परिश्रम और समय की आवश्यकता थी और बिना सीखे कार्य भी नहीं चल सकता था। अतः बालकों के मस्तिष्क पर इसका बड़ा कुप्रभाव पड़ा, क्योंकि वे अपने समय का अधिकांश अंग्रेजी भाषा को सीखने में लगा देते थे और शेष समय अन्य विषयों के सीखने में। आयोग के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा की प्रगति का अनुभव हम निम्नांकित आँकड़ों से कर सकते हैं।

सन् १८८२ ई० में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या ३,९१६ थी जिनमें २,१४,०७७ छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। सन् १९०२ ई० में स्कूलों की संख्या ५,१२४ और छात्रों की संख्या ५९,०१९ पहुँच गई।

सन् १८८२ ई० तक केवल दो प्रशिक्षण कालेज थे। परन्तु १९०२ ई० में कई प्रशिक्षण विद्यालय और कई ट्रेनिंग स्कूल थे। सभी प्रान्तों में शिक्षकों के लिए सार्टीफिकेट परीक्षा प्रारम्भ कर दी गई थी।

विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा की तीव्र प्रगति के कारण कालेजों में भी विकास स्वाभाविक था। माध्यमिक शिक्षालयों से निकले छात्र कालेजों में प्रवेश लेने के लिए लालायित रहते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि उच्च पद शिक्षा के बिना नहीं प्राप्त हो सकता है। शिक्षा आयोग ने वैयक्तिक संस्थाओं को प्रोत्साहित किया था। परिणामतः ऐसे विद्यालयों की संख्या मिशनरियों के विद्यालयों में काफी बढ़ गई। सन् १९०२ ई० में भारतीयों द्वारा संचालित कालेजों की संख्या ४२ थी और ईसाइयों द्वारा संचालित केवल ३७ विद्यालय थे। सन् १९०२ ई० में भारतवर्ष में कुल १९१ कालेज थे जिनमें १४५ कला कालेज[1], ३० कानून कालेज, ४ इंजीनियरिंग कालेज, ५ शिक्षण-शास्त्र, ४ औषधि-विज्ञान और ३ कृषि-शिक्षा प्रदान करते थे। बारह कालेज स्त्री-शिक्षा के लिए भी थे।

जिस समय उच्च शिक्षा-क्षेत्र में भारतवर्ष तीव्र गति से आगे बढ़ रहा था उसी समय सन् १८८५ ई० में कांग्रेस की नींव पड़ी और शिक्षा-क्षेत्र में राष्ट्रीय आन्दोलन का विशेष स्थान हो गया। अंग्रेजी पढ़ कर लोगों ने बेकन, मिल्टन, लॉक, वर्क, वर्ड्सवर्थ और बाइरन आदि के विचारों का अध्ययन किया था और अब उनके मस्तिष्क में स्वतंत्रता की भावनाओं का संचार हो चुका था। अब उनमें आत्म-समर्पण और आत्मत्याग के उच्च आदर्श भर चुके थे। वे भारत की दशा पर विक्षुब्ध थे। राजनैतिक विचार अपना प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों पर डालते हैं और फिर

---

१. Arts College.

शिक्षा तो उससे प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकती । अत: १६ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में भारतीय शिक्षा-पद्धति पर नए विचारों ने अपना पूर्ण प्रभाव डाला, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा का रूप काफी प्रगतिशील बन गया ।[1]

अब भारतीय समझ चुके थे कि भारतीयों का कल्याण शिक्षा द्वारा ही हो सकता है और यह कार्य वे स्वयं ही कर सकते हैं । अब हाई स्कूल विकसित हो कर कालेज बन गए थे और सुयोग्य एवं त्यागी भारतीयों ने राजकीय पदों का ध्यान न रख कर भारतीय सेवा का ही व्रत लिया था और वह सेवा शिक्षा द्वारा थी । इस क्षेत्र में सर आर० पी० परांजपे का नाम सर्व प्रथम है । इस प्रकार राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत और योग्य तथा कर्मठ व्यक्तियों ने अनेक कालेजों का संचालन अपने हाथों में ले लिया था । सन् १८७० ई० में देश-प्रेमी बालगंगाधर तिलक, त्रिपलंकर और आयंगर ने अनेक प्रयत्न करके पूना में फर्ग्यूसन कालेज की स्थापना की थी तथा कलकत्ता के रिपन कालेज का संचालन सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने अपने हाथ में ले लिया था ।
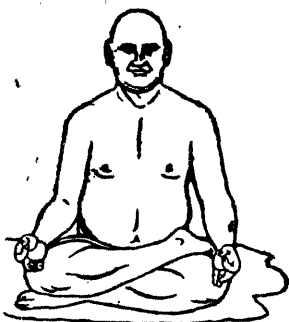
चित्र नं० २२—स्वामी दयानन्द

भारत के जीर्णोद्धार में स्वामी दयानन्द का सहयोग बहुत महत्वपूर्ण है । उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना करके देश के समस्त सामाजिक एवं धार्मिक दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया । इन्होंने समय का अध्ययन किया था और अनुभव

१. The leaven of the thought of Bacon and Milton, Loke and Burke, Wordsworth and Byron was working in the minds of Bendu-ties which included the management of Government prigal whos age-long ideals had been those of submission and self-renunciation, not those of freedom and individual initiative. Such ideas, difficent to assimilate with the traditions of the East, could not but have formidable and often perturbing results. With the political aspects of these results we are not directly concerned. But political ideas can never be separated from intellectual movements ; and the generation of the 1882 was to see the influence of the new currents of thought powerfully reflected in the development of the educational system.—Quoted in 'Education in India. By Zellner A. A., p. 96, Bookman Associates, New York, 1951.

कर लिया था कि भारत का कल्याण शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। अतः इन्होंने देश के कोने-कोने में शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना का दृढ़ संकल्प किया। लाहौर में सन् १८८६ ई० में दयानन्द एंग्लोवैदिक कालेज का निर्माण करके आर्यसमाज ने उत्तरी भारत में प्राण फूंक दिए। इसी प्रकार अन्य कालेजों की स्थापना हुई। आज भी भारत के लगभग सभी बड़े-बड़े नगरों में एक दयानन्द एंग्लोवैदिक कालेज अवश्य दिखाई पड़ेगा।

सन् १८९८ ई० में श्रीमती एनीबेसेन्ट ने बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज का शिलान्यास किया। आगे चल कर यह कालेज बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गया और आज आकार की दृष्टि में यह एशिया में सर्वप्रथम माना जाता है। देश के कर्मठ नेता महामना मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चित्र नं० २३—श्रीमती एनीबेसेन्ट

चित्र नं० २४—मालवीय जी

को विश्वविख्यात बनाने में कोई कसर न उठा रक्खी। उनका विचार था कि यह विश्वविद्यालय देश की सभी आवयकताओं की पूर्ति करने वाला होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों के धुरन्धर विद्वानों को लाकर विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त किया। राष्ट्रीय आन्दोलन में इस विश्वविद्यालय ने बड़ा सहयोग दिया है।

आलोचना

सन् १८८२ ई० के पश्चात् शिक्षा-संस्थाओं की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि तो अवश्य हुई, परन्तु शिक्षा का स्तर उत्तरोत्तर निम्नतर होता गया, क्योंकि अधिकांश संस्थायें भारतीयों के हाथ में थीं और उनके पास इतना धन न था कि वे उनका संचालन सुव्यवस्थित रूप में कर सकें। विद्यालयों के पास अपने भवन भी

न थे और न वे इतनी शीघ्रता से बनवाये ही जा सकते थे। इसके अतिरिक्त अच्छी पुस्तकों और योग्य अध्यापकों का भी अभाव था। सन् १८८८ ई० में एलबर्ट ने कहा था कि कालेज की शिक्षा तो अवश्य बढ़ रही है, परन्तु मानदंड गिरता जा रहा है। उस समय शिक्षा में सबसे बड़ा दोष यह था कि रटने की प्रथा प्रचलित हो गई और पुस्तकीय ज्ञान पर अधिक बल देने की प्रथा छात्रों में प्रचलित हो चली थी। सन् १८८९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति ने इस संबंध में कहा था कि 'आज हम भारतीयों को ऐसी शिक्षा दे रहे हैं जो उनके मानसिक शक्तियों का विकास तो आवश्यक करती है, परन्तु इस प्रकार की शिक्षा के अनुकूल व्यवसाय देश में बिल्कुल नहीं है। अतः इससे वे पूरा-पूरा लाभ न उठा सकेंगे।"

इस युग में एक ऐसा शिक्षित वर्ग तैयार हो रहा था जो अन्य कोई व्यावहारिक एवं प्रायोगिक कार्य करने के लिए विवश था तथा शिक्षा का उद्देश्य जीवन में सफलता प्राप्त करना न होकर परीक्षा में सफलता प्राप्त करना हो गया था। इन दोषों को देखते हुए सन् १९०२ ई० में भारतीय विद्यालय आयोग ने कहा था कि अब भारतीय विश्वविद्यालयों का सबसे बड़ा दोष यह है कि शिक्षण परीक्षा के अनुसार होता है, न कि परीक्षा शिक्षण के अनुसार। इसके अतिरिक्त शिक्षा का मूल्य चन्द चाँदी के टुकड़ों से आंका जाने लगा था।

शिक्षा की ऐसी दशा देखकर भारतीयों ने भी अनुभव किया कि शिक्षा में अनेक दोष आ गए हैं और शिक्षा का स्तर उत्तरोत्तर गिरता चला जा रहा है। परन्तु कुछ भारतीय विद्वानों एवं नेताओं का विचार था कि विस्तार अत्यन्त आवश्यक है। स्तर गिरने से कोई विशेष हानि नहीं, क्योंकि वह तो किसी भी समय ऊँचा किया जा सकता है और कालेजों की कार्यक्षमता में परिवर्तन लाया जा सकता है। इस संबंध में श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा था कि 'भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थितियों में सभी प्रकार की पाश्चात्य शिक्षा लाभदायक और अमूल्य है। आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार यदि यह शिक्षा सर्वश्रेष्ठ है तो अच्छा है, परन्तु

चित्र नं० २५—गोपाल कृष्ण गोखले

१. Quoted by Siqneria, T.N. : The Education in India p. 84. (Oxford University) 1939.

यदि ऐसा नहीं है तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करना चाहिए। मेरा विश्वास है कि लोगों का जीवन चाहे राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक या मानसिक क्षेत्र में एक सामूहिक इकाई है...आधुनिक शिक्षा का महानतम कार्य शिक्षा को इतना प्रोत्साहन देना नहीं, जितना भारतीय मस्तिष्क को पुरानी दुनिया से मुक्त कराना है।" उन्होंने यह भी कहा था कि 'उन्नीसवीं शताब्दी के विश्वविद्यालय उच्चकोटि के विद्वानों तथा वैज्ञानिकों के उत्पादन, मौलिक चिन्तन एवं अन्वेषण में पूर्णरूपेण असफल रहे, तथा उच्च शिक्षा संबंधी उनकी धारणायें बड़ी संकीर्ण थीं, परन्तु इसके लिए उन्हें दोषी ठहराना न्यायसंगत नहीं जान पड़ता क्योंकि उनकी स्थापना ही भिन्न उद्देश्यों से की गई थी।'[२] इसके अतिरिक्त मातृ-भाषाओं की उपेक्षा की गई।

परन्तु इन सब दोषों की अपेक्षाकृत भी इस अवधि में उच्च शिक्षा की प्रगति से भारतीयों में ज्ञान की वृद्धि हुई और उच्चकोटि के विद्वान एवं वैज्ञानिक उत्पन्न होकर भारत के जीर्णोद्धार में क्रियाशील हुए।

स्त्री-शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा

सन् १८८२ और १९०२ ई० की अवधि में भारतीय स्त्रियों की प्राथमिक शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई। १८८२ ई० में प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा

---

१. I think my Lord—and this is matter of deep conviction with me—that in the present circumstances of India, all western education is valuabe and useful. If it is the highest that under the circumstances is possible, so much the better. But even if it is not the highest, it must not on that account be neglected. In between that the life of people—whether in the political or social or industrial or intellectual field—in an organic whole and no striking progress in any particular field is to be looked for unless there be room for the free movement of the energies of the people in all fields. To my mind the greatest work of western education in the present state of India is not so much the encouragement of learning as the liberation of the Indian mind from the thraldom of old world ideas and the assimilation of all that is highest and best in the life and thought and character of the west. For this purpose not only the highest but all western eduction is useful.—Gokhale's Speeches; p. 234-5.

२. A.N. Basu. University-Education in India (Past and Present p. 44).

ग्रहण करने वाली छात्राओं की संख्या १,२४,४६१ थी। अगले २० वर्षों में उत्तरोत्तर संख्या बढ़ती गई और सन् १८८१-८२ ई० में संख्या बढ़कर ३,४८,५१० हो गई। इस समय तक सह-शिक्षा का भी प्रचार हो चल था, क्योंकि ३,४८,५१० छात्राओं में से १६०१८४ छात्रायें बालकों के स्कूलों में पढ़ रही थीं। प्राथमिक विद्यालयों की छात्राओं में हिन्दू और मुसलमानों की संख्या लगभग अन्य जातियों की संख्याओं से अधिक थी, क्योंकि उपर्युक्त छात्राओं की संख्या में २,३०,०२४ हिन्दू और ४७,५६६ मुसलमान छात्राएँ थीं।

माध्यमिक शिक्षा

सन् १६०१ ई० में माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा पाने वाली छात्राओं की संख्या ४१,५८२ थी जब कि सन् १८८१-८२ ई० में केवल २,०५४ ही छात्रायें शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। सन् १६०१-२ ई० की कुल संख्या में १३,६२३ हिन्दू तथा ८६५ मुसलमान और शेष में अन्य जातियों की बालिकायें थीं। अब भारतीय लोग माध्यमिक शिक्षा को आवश्यक और उपयोगी समझने लगे थे। इस परिवर्तित दृष्टिकोण का श्रेय महादेवगोविन्द राणा डे, बैरम जी मलाबारी, तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ऐसे विद्वान एवं समाज-सुधारकों को है। इन लोगों ने कन्या-पाठशालाओं के निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया और इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप बहुत से गैर सरकारी बालिका विद्यालयों की स्थापना हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी प्रगति हुई।

उच्च शिक्षा

सन् १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा-आयोग के सुझावों के फलस्वरूप स्त्रियों की शिक्षा को काफी प्रोत्साहन मिला, परन्तु फिर भी यह कम था और हिन्दू लड़कियों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। सन् १८८२ ई० में पढ़ने वाली लड़कियों की संख्या केवल ६ थी। और सन् १६०१ ई० में इनकी संख्या २६४ तक पहुँच गई थी। इनमें एंग्लो इंडियन, ईसाई, पारसी तथा अन्य वर्ग की लड़कियाँ अधिक थीं, और हिन्दुओं की केवल २८ थीं। मुसलिम समाज में उच्च शिक्षा का सर्वथा अभाव था। सन् १६०१-२ ई० तक एक भी मुसलिम लड़की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नहीं थी।

व्यावसायिक शिक्षा

सन् १८८२ ई० में भारतीय शिक्षा-आयोग ने पुस्तकीय ज्ञान पर विशेष बल देने की तीव्र आलोचना की थी और व्यावसायिक शिक्षा के संबंध में भी अनेक सुझाव दिये थे। सरकार ने इन सुझावों को आंशिक रूप में मान भी लिया था।

अतः इस क्षेत्र में भी शिक्षा की काफी प्रगति हुई। नीचे हम इनको भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में देखेंगे।

कानून की शिक्षा

भारतीय शिक्षा-आयोग की सिफारिशों के पश्चात् अगले २० वर्षों में भारतीयों का झुकाव शिक्षा की ओर अधिक बढ़ चला। सन् १६०१-२ ई० में कानून की शिक्षा सम्मिलित रूप से विश्वविद्यालय, शिक्षा-विभाग तथा उच्च न्यायालय के हाथ में थी। कानून के स्कूल और कालेज शिक्षा-विभाग की अध्यक्षता में थे। विश्वविद्यालय उनके पाठ्यक्रम निर्धारित करते थे और उच्चतम न्यायालय कानून के व्यवसाय में प्रयोग करने के नियम निर्धारित करता था। कानूनी संस्थायें तीन प्रकार की थीं--(१) कला और विज्ञान कालेजों से संबंधित कानून की कक्षायें, (२) कानून के कालेज और (३) कानून के स्कूल। मद्रास में एक कानून कालेज संचालित था और पंजाब में भी एक ऐसी ही संस्था संचालित थी। बम्बई में राजकीय कानून कालेज था। इस कालेज में सायंकाल कक्षाएँ लगती थीं। बंगाल, मध्य-प्रदेश और उत्तर प्रदेश में ऐसे कालेजों का सर्वथा अभाव था। परन्तु कला और विज्ञान के कालेज कानून विभाग खोल सकते थे। आसाम में कानून की चार कक्षायें थीं जो बाहरी हाई स्कूलों से संबंधित थीं और कानून की परीक्षा के लिए छात्रों को तैयार करती थीं।

चिकित्सा शिक्षा

सन् १६०१-२ ई० में कलकत्ता, मद्रास, बम्बई और लाहौर चार चिकित्सा कालेजों के अतिरिक्त अन्य कई स्कूल भी संचालित थे। भारत में पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली प्रारम्भ करने के समय सामाजिक और धार्मिक कारणों से बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। परन्तु इस समय तक ये कठिनाइयाँ दूर हो चुकी थीं। अब पुरुष तो चिकित्सा की ओर झुकने लगे थे, परन्तु स्त्रियाँ अब भी उदासीन थीं। सन् १६०१-२ ई० में १,४६६ छात्र मेडिकल कालेजों में थे और २,७२७ मेडिकल स्कूलों में। छात्राओं की कुल संख्या २४२ थी जिनमें ७६ लड़कियाँ मेडिकल कालेजों में थीं और १६६ मेडिकल स्कूलों में। इनमें १२० भारतीय ईसाई छात्रायें, ६२ यूरेसियन, १५ अन्य हिन्दू, ८ ब्राह्मण, २२ पारसी और १५ मुस्लिम थीं।

इंजीनियरिंग की शिक्षा

चिकित्सा की भाँति इंजीनियरिंग की शिक्षा में संतोषजनक प्रगति हुई। सन् १६०१-२ ई० में रुड़की शिवपुर, पूना और मद्रास में इंजीनियरिंग कालेज

संचालित थे । इसके अतिरिक्त कई इंजीनियरिंग स्कूल थे, जिनमें सिविल, मेकैनिकल और इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग की शिक्षा प्रदान की जाती थी ।

कृषि-शिक्षा

सर्व प्रथम अकाल-आयोग ने सरकार के सामने ग्रामीण विद्यालयों में कृषि-शिक्षा प्रदान करने का प्रस्ताव रक्खा था । परन्तु सरकार ने उस पर ध्यान न दिया । अन्त में सन् १८८९ ई० में डा० वोलकर[1] जो कि रायल सोसाइटी आफ इंगलैन्ड के एग्रीकल्चरल केमिस्ट थे, भारत की कृषि दशा की जाँच कर सरकार के समक्ष सुझाव रखने के लिए नियुक्त किए गए । सन् १८९० ई० में प्रान्तीय सरकारों का एक अधिवेशन हुआ और उसमें कृषि-संबंधी प्रश्नों पर विचार किया गया तथा उसके विकास के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए गए ।

सन् १९०१-२ ई० में भारतवर्ष में केवल ५ कृषि कालेज थे, जिनमें कुल २१९ छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे थे । ये संस्थायें पूना, शिवपुर, सैदपेत (मद्रास), कानपुर और नागपुर में थीं ।

पशु-चिकित्सा

सन् १९०१-२ ई० में पशु-चिकित्सा की शिक्षा प्रदान करने के लिए ३ कालेज और एक स्कूल था । बम्बई, बंगाल तथा लाहौर में कालेज और अजमेर में स्कूल था । इन संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की यौगिक संख्या ३०१ थी । पशु-चिकित्सा के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि २२० छात्र मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा ग्रहण कर रहे थे । अंग्रजी माध्यम द्वारा शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की संख्या केवल ८१ थी ।

वन-विज्ञान

सन् १९०१-२ ई० में वन-विज्ञान की शिक्षा देने वाले केवल दो स्कूल थे । अतः स्पष्ट है कि इस दिशा में सरकार उदासीन रही ।

कला तथा वाणिज्य-शिक्षा

इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई । सन् १८९६ ई० में कलकत्ता के आर्ट स्कूल का पुनर्संगठन हुआ । सन् १९०१-२ ई० में आर्ट स्कूलों की संख्या केवल ४ थी । इन संस्थाओं में १,२२० छात्र कला की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे ।

---

१. Dr. Voelcker.

वाणिज्य की शिक्षा में कोई सन्तोषजनक उन्नति न हुई । वाणिज्य शिक्षा के लिए सम्पूर्ण भारत में केवल बम्बई में एक संस्था थी, परन्तु वह भी केवल वाणिज्य व्यापार के लिए न थी । इस संस्था के अतिरिक्त वाणिज्य शिक्षा प्रदान करने के लिए १५ स्कूल भी थे, जिनमें किसी प्रकार से इसकी शिक्षा प्रदान की जाती थी । सन् १९०१-२ ई० में इन संस्थाओं में केवल १,१२३ छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे थे ।

टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा

अकाल-आयोग ने सन् १८७७ ई० में भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था, परन्तु सरकार चुप रही । भारतीयों को सरकार की इस नीति से बड़ा असन्तोष था । वे सोचते थे कि औद्योगिक शिक्षा के बिना जीविका चलाने में बड़ी कठिनाई होती है । अतः इस शिक्षा की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए । सन् १८८५ ई० इण्डियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हो चुका था । देश के बड़े-बड़े विद्वानों ने कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में सन् १८८७ ई० में यह प्रस्ताव पास किया कि देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिए टेकनिकल शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है । अतः सरकार इसकी आयोजना करे ।[1] इसके अतिरिक्त कांग्रेस के अन्य अधिवेशनों में निरन्तर इसकी माँग की गई ।[2] परन्तु दुर्भाग्यवश सरकार ने इधर कोई ध्यान न दिया । अतः इसकी प्रगति बड़ी मन्द रही । सन् १९०१-२ ई० में भारतवर्ष भर में केवल ८० स्कूल ऐसे थे जिनमें टेकनिकल शिक्षा की व्यवस्था थी, यद्यपि इनको टेकनिकल स्कूल नाम देना उचित नहीं जान पड़ता; क्योंकि टेकनिकल शब्द व्यापक है, और इनमें केवल प्राचीन परम्परा के अनुसार देशी व्यवसाय की ही शिक्षा दी जाती थी । इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि सन् १९०१-२ ई० तक इस शिक्षा का सर्वथा अभाव था ।

---

१. That having regard to the poverty of the people, it is desirable that the Govt. be moved to elaborate a system of teaching education suitable to the condition of the country.

Resolution of the Indian National Congress 1887.

२. It reiterated this request in 1891, 1892 and 1893. In 1894 it affirmed in the most emphatic manner the importance of increasing public expenditure on all branches of education and the expediency of establishing technical schools and colleges.

M.M. Malviya—Report of The Indian Industrial Commission. p. 261.

शिक्षा-विभाग की सेवा में सुधार

सन् १८८२ ई० में आयोग ने शिक्षा-विभाग के दोषों को दूर करने के लिए कई महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की थीं; परन्तु वे कार्य रूप में परिणित न हो सकीं और शिक्षा-विभाग की दशा ज्यों की त्यों बनी रही। ऐसी दशा देखकर सन् १८८६ ई० में इन दोषों को दूर करने के लिए 'लोक सेवा-आयोग'[१] ने शिक्षा-विभाग में निम्नांकित सुझाव दिए :—

१. शिक्षा-विभाग में जिसमें उच्च अधिकारी हों, उनकी नियुक्ति इंगलैंड में की जाय।

२. उच्च सेवाओं की क्रमबद्ध[२] श्रेणी समाप्त कर दी जाय।

उपरोक्त सुझावों के अनुसार भारत सचिव[३] ने सन् १८९६ ई० में यह आज्ञा दी कि शिक्षा-विभाग में दो प्रकार की सेवायें कर दी जाय:—श्रेष्ठ सेवा और सहायक सेवा। श्रेष्ठ सेवा, भारतीय सेवा और प्रान्तीय सेवा में विभाजित कर दी जाय। प्रान्तीय सेवा की नियुक्तियाँ तो भारत में हो सकती हैं, परन्तु भारतीय सेवा की नियुक्तियाँ इंगलैन्ड में ही होनी चाहिए। प्रोफेसर, इन्सपेक्टर, सहायक एवं संयुक्त इन्सपेक्टर के पद प्रान्तीय सेवा में ही रहेंगे। भारतीय सेवा के व्यक्तियों का वेतन ५०० रु० से प्रारम्भ होना चाहिए और फिर ५००-५०-१,००० अन्तिम ग्रेड होना चाहिए। परन्तु यदि कोई व्यक्ति विशेष योग्यता वाला है तो उसे अधिक वेतन भी दिया जा सकता है।

उपर्युक्त आज्ञाओं के अनुसार शिक्षा-विभाग का काया-कल्प हुआ और सन् १८९६-९७ ई० में भारतीय शिक्षा-सेवा का संगठन हुआ, परन्तु अब भी वांछित उद्देश्य की पूर्ति न हो सकी। इससे भारतीयों के लिए उच्च पदों का द्वार बहुत दिनों के लिए बन्द कर दिया गया। निम्नांकित तालिका से हमें १९०१-२ ई० में शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की संख्या का भली-भाँति ज्ञान हो जाता है :—

आई० ई० एस० के पदाधिकारी	९०
प्रान्तीय सेवा के पदाधिकारी	२१५
सहायक सेवा के पदाधिकारी	१,१२७

१. Public Service Commission.

२. Gradest list.

३. Secretary of State for India.

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों में प्रति निरीक्षक के आधीन विद्यालयों की निम्नांकित संख्या देख कर हम अनुमान लगा सकते हैं कि उनकी संख्या अवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त थी या नहीं :—

क्रमसंख्या	प्रान्त का नाम	विद्यालय
१.	बंगाल	१८४
२.	आसाम	८८
३.	संयुक्त प्रान्त	६६
४.	मध्य प्रान्त	७५
५.	पंजाब	७३
६.	मद्रास	२३६
७.	बम्बई	११६

शिक्षा-अनुदान-पद्धति में सुधार

भारतीय शिक्षा-अयोग ने शिक्षा-अनुदान में सुधार के लिए कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए थे। इन सुझावों के परिणामस्वरूप शिक्षा-अनुदान-पद्धति 'शिक्षा-प्रसार एवं विचार' के लिए अत्यन्त उपयोगी साधन बन गयी थी। व्यक्तिगत चेष्टाओं को विकसित होने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। आयोग की सिफारिशों के अनुसार भारतीय भी निरीक्षकों के पद पर सुशोभित होने लगे। अब सरकार विद्यालयों के आन्तरिक प्रबंध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी और आर्थिक सहायता में भी वृद्धि हो गई थी। इन सुविधाओं से विद्यालयों का उत्तरोत्तर विकास होने लगा। अभी तक शिक्षा-विकास की ओर भारतीय चेष्टायें प्रयत्नशील न थीं। परन्तु शिक्षा-विभाग की इस उदारता के कारण इनमें नई प्रेरणा, नया उत्साह और नई स्फूर्ति अवश्य जागृत हो गई। परिणामस्वरूप सन् १६०२ ई० तक देश के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय चेष्टाओं के फलस्वरूप बहुत से स्कूल फैल गये। परन्तु एक विशेष बात यह है कि इससे प्राथमिक शिक्षा को कोई प्रोत्साहन न मिला। भारतीय चेष्टाओं के फलस्वरूप केवल माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा में ही कुछ प्रगति हुई।

शिक्षा-प्रसार के साधनों का भारतीयकरण

शिक्षा-आयोग ने धर्म-प्रचारकों पर कठिन प्रहार किया था। उसके अनुसार उनका स्थान भारतीयों के बाद ही हो सकता था। इस स्पष्टीकरण के फलस्वरूप भारतीय चेष्टायें शिक्षा-क्षेत्र में बड़ी रुचि के साथ क्रियाशील हो गईं और सन् १६०२ई०

तक भारतीयों ने बहुत से अंग्रेजी स्कूलों की स्थापना कर दी और उनका संचालक अपने हाथ में ले लिया। इस प्रकार बढ़ती हुई प्रगति के कारण सन् १६०२ तक शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में गैरसरकारी प्रयत्न आगे पहुँच गए और धर्म-प्रचारक तथा राजकीय संस्थायें पीछे रह गईं।

धार्मिक शिक्षा

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि सन् १८८२ ई० तक भारतीय विद्यालयों की धार्मिक स्थिति बड़ी विकट हो चली थी। अतः आयोग के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ और आयोग ने निर्भीकतापूर्वक बताया कि राजकीय विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा किसी भी प्रकार से नहीं होनी चाहिए। परन्तु गैरसरकारी स्कूलों में धार्मिक शिक्षा को स्कूलों की दशा और प्रबंधकों की इच्छा पर छोड़ दिया। अब धर्म-प्रचारकों को अपने धर्म-प्रचार का सुअवसर प्राप्त हुआ। परन्तु आयोग ने यह भी सोचा कि इससे भारतीयों में असन्तोष की लहर फैलने की आशंका है। अतः आयोग ने इसका भी स्पष्टीकरण कर दिया कि एक स्थान पर एक ही गैर-सरकारी विद्यालय होने तथा उसमें धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के कारण कोई भी व्यक्ति अपने बच्चों को बिना किसी हानि के स्कूल से अलग कर सकता है।[1]

मुसलमानों की शिक्षा

सन् १८८२ ई० के शिक्षा-आयोग ने मुसलमानों की शिक्षा के संबंध में कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए थे और लगभग वे सभी सिफारिशें कुछ संशोधित रूप में स्वीकार कर ली गई थीं। अतः सन् १८८२ ई० के पश्चात् इनकी शिक्षा में उत्तरोत्तर विकास होने लगा और सन् १६०२ ई० तक मुसलमानों की शिक्षा की दशा में सराहनीय परिवर्तन हुए। अब इनकी स्थिति पहले से काफी सुधर चुकी थी। सन् १६०१-२ ई० में सम्पूर्ण मुसलमान छात्रों की संख्या ६,७८,००० थी। परन्तु सम्पूर्ण जनसंख्या के अनुसार अब भी इनकी शिक्षा अन्य लोगों की अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई थी, क्योंकि अन्य लोगों की बराबरी करने के लिए यह संख्या २२·६ प्रतिशत

१. That when the only institution of any particular grade existing in any town or village is an institution in which religious instruction forms a part of the ordinary course, it shall be open to parents to withdraw their children from attendance at such Institutions without forfeiting any of the benefits of the institution.

—Report of Indian Education Commission p. 449.

होनी चाहिए थी जब कि यह संख्या केवल १८·८ प्रतिशत थी। प्राथमिक शिक्षा में तो इनकी संख्या कुछ संतोषजनक भी थी, परन्तु उच्च एवं माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में अन्य लोगों की अपेक्षा इनकी छात्र-संख्या बहुत कम थी। उच्च शिक्षालयों में प्रवेश लेने वाले छात्रों की संख्या केवल ७·३ प्रतिशत तथा माध्यमिक स्कूलों में १४·४ प्रतिशत थी।[1] इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि इतने प्रयत्नों के होने पर भी इनमें वांछित प्रगति न हो सकी।

पिछड़ी जातियों की शिक्षा

भारतीय शिक्षा-आयोग ने पिछड़ी जातियों तथा हरिजनों के लिए राजकीय विद्यालयों के द्वार खोल दिए थे और अब इन विद्यालयों में हरिजन छात्रों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी थी। परन्तु दुर्भाग्यवश इन विद्यालयों में इनके साथ असन्तोषजनक व्यवहार किया जाता था। आयोग ने इनके लिए विशिष्ट स्कूलों के निर्माण की सिफारिश की थी।[2] ऐसे स्कूलों का निर्माण पर्याप्त संख्या में हो रहा था। राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज तथा अन्य ऐसी ही संस्थाओं ने समाज-सुधार के आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये थे। अब पिछड़ी जातियों तथा हरिजनों में एक नई लहर दौड़ गई। भारतीय समाज-सुधार आन्दोलन छुआ छूत को बिल्कुल मिटा देना चाहता था। स दिशा में भारत के कई उद्भट नेता एवं समाज-सुधारक भी तन-मन समर्पित किए हुए जुटे थे। इस संबंध में महात्मा फूले का वर्णन किया जा चुका है। इन आन्दोलनों के फलस्वरूप हरिजनों में भी जागरूकता और चेतना आ गई थी। अब वे भी अपनी सुविधाओं और अधिकारों की माँग करने लगे थे। शहरों की अपेक्षा देहाती हरिजनों की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी। अतः वे अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबंध स्वयं करने में असमर्थ थे। परन्तु शहरों के हरिजनों ने अपने बच्चों को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था।

जिस समय हरिजनों के सुधार के लिए भारतीय संस्थायें प्रयत्नशील थीं उसी समय भाग्यवश शिक्षा-विभागों ने भी उनके प्रति उदारता दिखाई और हरिजनों की

१. It is not however so much with regard to the total number of pupils under public instruction as to the proportion of the higher stages of instruction that the backwardness of Muhammadans is most apparent.—Quinqueninal Review—[1887-1901] Paragraph 1123.

२. ......to facilitate the public recognition of the claims of the lowest classes........, we consider that every encouragement should be given to special schools for the education of such classes. —Report p. 516.

शिक्षा को प्रोत्साहित किया। शिक्षा-विभाग की उदारता के कारण कई प्रान्तों म हरिजनों की शिक्षा काफी विकसित हुई। मद्रास सरकार ने सन् १८९३ ई० में हरिजनों की शिक्षा के लिए कई नियम बनाए और उन्हें कार्यान्वित किया। इसके निम्नांकित मुख्य-मुख्य सिद्धान्त थे[१] :—

१—परीक्षाफल के आधार पर सहायता प्राप्त करने वाले विद्यालयों की आर्थिक सहायता में पंचम वर्ण (पिछड़ी जातियों अथवा हरिजन) वाले छात्रों के लिए ५० प्रतिशत धन की अधिक स्वीकृति दी जाय।

२—पंचम वर्ण की शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाओं का निर्माण एवं विकास किया जाय, क्योंकि इनकी शिक्षा के लिए ऐसी पाठशालायें अधिक उपयोगी होंगी।

३—स्थानीय संस्थायें तथा नगरपालिकायें ग्रामों एवं शहरों में हरिजनों के लिए पाठशालाओं का निर्माण करें।

४—यदि कहीं बंजर जमीन पड़ी हो, तो उसे पंचम वर्ग के विद्यालयों के लिए बिना किसी मूल्य के दे दी जाय।

५—गैरसरकारी दीक्षा-विद्यालयों में प्रवेश लेने वाले छात्रों के लिए शिक्षा-अनुदान द्वारा दी गई आर्थिक सहायता के धन में वृद्धि कर दी जाय।

६—राजकीय दीक्षा-विद्यालयों में प्रवेश लेने वाले हरिजन छात्रों को अन्य छात्रों की अपेक्षा दो रुपया मासिक वृत्ति अधिक दी जाय।

इसके अतिरिक्त मद्रास में हरिजन शिक्षकों के लिए दीक्षा-विद्यालय का भी निर्माण हुआ और सफल हरिजन छात्रों के लिए कुछ विशेष छात्र-वृत्तियाँ भी दी जाती थीं।

इन नियमों ने मद्रास प्रान्त में हरिजनों की शिक्षा में प्राण फंक दिये। सन् १९०१-२ ई० में इस प्रान्त में लगभग ३,००० हरिजन विद्यालय थे, जिनमें ४४,१५० हरिजन छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। इस समय की एक उल्लेखनीय बात यह है कि हरिजन लड़कियाँ भी स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। इनकी कुल संख्या ८३२८ थी। इस प्रकार पता चलता है कि हरिजनों की शिक्षा प्रान्त की सामान्य शिक्षा के लगभग समान ही थी। बालकों का प्रतिशत पूरी जनसंख्या का २५·६ था और विद्यार्थियों का ४·४ था।

---

१. Quinquennial Review of the Progress of Education in India (1892-97) p. 353.

बम्बई प्रान्त ने भी हरिजनों के प्रति उदारता का परिचय दिया। परन्तु उसका ढंग मद्रास से भिन्न था। बम्बई सरकार ने हरिजनों की विशिष्ट शिक्षा पर विशेष बल न दिया और यही कारण था कि वहाँ केवल नाममात्र के ही विशिष्ट स्कूल थे। बम्बई सरकार ने हरिजन छात्रों को सामान्य विद्यालयों में प्रविष्ट करने पर विशेष बल दिया और इसमें उसे काफी सफलता भी मिली। यद्यपि यह सफलता शीघ्र ही न मिल सकी और इसमें पर्याप्त समय लगा। सामान्य स्कूलों में ही हरिजनों की शिक्षा के लिए सरकारी संस्था भी व्यस्त थी। फलतः हरिजन छात्रों को समान्य विद्यालयों में पढ़ने की सुविधायें प्राप्त हो गईं और वे उन्हीं स्कूलों में शिक्षा ग्रहण करने लगे।

इस अवधि में अन्य प्रान्तों में हरिजनों की शिक्षा को कोई विशेष प्रोत्साहन न मिल सका, क्योंकि ये बम्बई और मद्रास का अनुकरण न कर सके। इन प्रान्तों में हरिजनों की शिक्षा को प्रोत्साहित करने का कुछ प्रयास धर्म-प्रचारकों ने किया, परन्तु वह नगण्य था।

आदिवासी तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा

भारतीय शिक्षा-आयोग को जाँच करने पर ज्ञात हुआ कि उस समय तक आदिवासी तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा प्रायः नहीं के बराबर थी। केवल कुछ ही प्रान्तों में आदिवासियों के लिए कुछ स्कूल खुले हुए थे। इस दिशा में राजकीय प्रयत्न निष्फल रहे।[1] आयोग ने बताया कि आदिवासियों के लिए विशेष प्रकार के शिक्षालयों की आवश्यकता है, अन्यथा इनकी शिक्षा में किसी प्रकार की प्रगति सम्भव नहीं। आयोग ने आदिवासियों की शिक्षा के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं जिनके परिणामस्वरूप सरकार ने कुछ प्रयत्न किए। आदिवासियों के बालकों को विशेष छात्रवृत्ति, पाठ्य-पुस्तकों के लिए धन देने से, निःशुल्क पढ़ने वाले छात्रों की संख्या आदि नियत करने से तथा अन्य सुविधाओं के फलस्वरूप आदिवासियों में शिक्षा के सम्बन्ध में इस दिशा में कुछ उत्साह दिखाई पड़ने लगा। इन्हीं में से शिक्षकों को नियुक्त करने के लिए कई स्थानों में सरल पाठ्यक्रम का प्रबंध किया गया। विशिष्ट स्कूलों का प्रबंध भी किया गया। इनके क्षेत्रों में शिक्षा-प्रचार करने के लिए धर्म-प्रचारकों तथा गैर सरकारीसंस्थाओं को विशेष प्रकार की आर्थिक सहायता दी गई।

सन् १९०१-२ की अवधि में आदिवासियों की शिक्षा के लिए जितने भी प्रयास हुए उनका श्रेय धर्म-प्रचारकों को है। सरकारी चेष्टायें धर्म-प्रचारकों के समक्ष

---

१. It is clear therefore that efforts of gevernment have hitherto failed to give education to the aborginal races of India.

—India Education Commission—p. 509.

कुछ विशेष प्रभावशाली न हो सकीं। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पंचवर्षीय (१८६७-१६०२) शिक्षा-रिपोर्ट में दिए हुए आँकड़ों से ज्ञात होता है कि सन् १६०२ ई० में आदिवासियों की शिक्षा का क्या अनुपात था। बम्बई में १०,००० पुरुषों में १०५, बरार में १८, बंगाल और आसाम में ८६, मद्रास में ४७ और मध्यप्रान्त में ४०, बंगाल में ४, आसाम में १३ तथा मध्यप्रान्त में लगभग दो स्त्रियाँ शिक्षित थीं।

मिशनरी प्रयास

शिक्षा-आयोग की नियुक्ति तक मिशनरियों को यह विश्वास था कि व्यक्तिगत प्रयासों में उनका ही प्राधान्य रहेगा, परन्तु आयोग ने उनकी आशाओं पर तुषारापात कर दिया था। अतः अब उन्होंने अपनी शिक्षा-नीति में परिवर्तन कर दिया और उच्च शिक्षा से अपना ध्यान हटाकर सार्वजनिक शिक्षा को ही प्रोत्साहित करने में अपना लाभ समझा। आदिवासियों और पहाड़ी जातियों की शिक्षा पिछड़ी हुई थी। अतः यहाँ उनको अपनी शिक्षा के प्रसार का सुअवसर प्राप्त हुआ। ईसाइयों की जनसंख्या भी दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही थी। अतः ईसाइयों ने अपने बच्चों के लिए कई अच्छे कालेजों का निर्माण किया। ईसाइयों द्वारा स्थापित कालेजों में, इन्डियन क्रिश्चियन कालेज, इन्दौर (१८८४ ई०), मुरे कालेज, स्यालकोट (१८६२) क्राइस्ट चर्च कालेज, कानपुर (१८६२ ई०) तथा गोर्डन कालेज, रावल पिन्डी (१८६३) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार इस अवधि में मिशनरियों ने भी सार्वजनिक शिक्षा पर जोर दिया और सुव्यवस्थित कालेजों का निर्माण किया।

सारांश

इस काल में प्राथमिक शिक्षा का भार जिला परिषदों एवं नगरपालिकाओं पर छोड़ दिया गया था। अतः इस दिशा में कोई विशेष प्रगति न हो सकी। सन् १६०२ ई० तक देशी पाठशालाएँ मृतप्राय हो गई थीं। स्थानीय संस्थाओं के नियमों की संहिता बना दी गई। प्रन्तीय सरकारें भी इन संस्थाओं को सहायता देती थीं। परन्तु यह सहायता केवल नाममात्र के लिए थी और १६०२ ई० में सरकारी खर्च में केवल १५ लाख रुपये की वृद्धि हुई।

सुव्यवस्थित शिक्षा और शिक्षण-प्रथा के कारण शिक्षा का स्तर अधिक ऊँचा उठ गया था, परन्तु विस्तार रुक गया था। १६ वीं शताब्दी के अन्त तक दूर-दूर तक देहातों में विद्यालयों का निर्माण हो गया था, परन्तु बाद में केवल अच्छे विद्यालय ही जीवित रह गये।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई, क्योंकि आयोग की सिफारिशों के होते हुए भी शिक्षा-विभाग ने अपना ध्यान इधर से नहीं हटाया और इसके विकास की ओर ध्यान देता रहा। व्यावसायिक शिक्षा की दृष्टि से हाई स्कूलों का कोर्स दो भागों में बाँट दिया गया था। सन् १८८२ ई० के पश्चात् सभी प्रान्तों के माध्यमिक विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा-विभाग खोले गये। सन् १९०२ ई० तक लोगों का झुकाव व्यावसायिक शिक्षा की ओर न हो सका था, परन्तु यत्र-तत्र इसके प्रयास होते रहे।

माध्यमिक शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रक्खी गई और स्कूलों का एकमात्र उद्देश्य अंग्रेजी पढ़ाना ही हो गया था। मातृ-भाषाओं की उपेक्षा होती चली गई। माध्यमिक शिक्षा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई।

सन् १८८२ ई० से सन् १९०२ ई० तक ४ प्रतिशत विद्यालयों का और निर्माण हुआ और अध्यापकों के लिए सार्टीफिकेट परीक्षा प्रारम्भ कर दी गई।

माध्यमिक शिक्षा की प्रगति तीव्र होने के कारण कालेजों में वृद्धि स्वाभाविक थी। व्यक्तिगत संस्थाओं की संख्या में काफी वृद्धि हुई और इसमें मिशनरियों को भी अपनी संस्थाओं के निर्माण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सन् १९०२ ई० तक भारतीयों द्वारा संचालित कालेजों की संख्या मिशनिरियों के कालेजों की संख्या से बढ़ गई थी।

सन् १८८५ ई० में कांग्रेस की नींव पड़ने एवं राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हो जाने के कारण शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजी पढ़ने से भारतीयों को स्वतंत्र देश के स्वतंत्र विचारों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ था और अब भारतीय यह समझ गए थे कि देश का पुनरुद्धार केवल शिक्षा से ही सम्भव है। अतः बड़े-बड़े विद्वानों और देश-प्रेमियों ने भी इस ओर अपना ध्यान आकर्षित किया था। शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का नाम सदैव अमर रहेगा।

सन् १८८२ ई० के पश्चात् शिक्षा की संस्थाओं में वृद्धि हुइ, परन्तु उनका स्तर गिर गया क्योंकि भारतीयों के पास शिक्षालयों के संचालन के लिए पर्याप्त धन न था।

इस युग में केवल पुस्तकीय ज्ञान पर जोर दिया गया और इस अवधि में एक ऐसा शिक्षित वग तयार होने लगा जो अन्य कोई काम नहीं कर सकता था। अब शिक्षा का मूल्य केवल रुपयों से आँका जाने लगा। शिक्षा की इस गिरती दशा का

अनुभव भारतीयों ने किया, परन्तु उनका विचार था कि इस समय अधिक से अधिक लोगों को शिक्षित बनाना ही प्रधान उद्देश्य है।

इस अवधि में स्त्रियाँ भी शिक्षा की ओर झुक पड़ीं और उत्तरोत्तर उनकी संख्या बढ़ती ही गयी। परन्तु अधिकांशतः प्राथमिक शिक्षा में ही विकास हो सका। यद्यपि माध्यमिक शिक्षा की उपयोगिता का अभाव भी अब लोग करने लगे थे, परन्तु फिर भी इसमें विशेष प्रगति न हुई। उच्च शिक्षा तो बहुत ही कम थी और मुस्लिम शिक्षा तो १६०२ ई० तक बिल्कुल नहीं थी।

कानून की शिक्षा पर लोगों का ध्यान अधिक गया और कई कानून कालेजों का निर्माण हुआ तथा सायंकाल कक्षायें संचालित की गईं। चिकित्सा-शिक्षा की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ समाप्त हो चुकी थीं और बहुत से लोग इस शिक्षा की ओर झुक पड़े थे, परन्तु लड़कियों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। इंजीनियरिंग, कृषि, पशु-चिकित्सा आदि की शिक्षा में भी विकास हो रहा था। वन-विज्ञान की ओर सरकार ने कोई ध्यान न दिया था। सन् १६०२ ई० तक वन-विज्ञान के केवल दो स्कूल संचालित थे।

कला और वाणिज्य-शिक्षा के क्षेत्र में कोई प्रगति न हुई। सन् १६०२ ई० में पूरे भारत में केवल एक कालेज और १५ स्कूल थे जो वाणिज्य की शिक्षा देते थे। टेकनिकल और औद्योगिक स्कूलों का सर्वथा अभाव रहा। केवल चन्द स्कूल प्राचीन परम्परा के अनुसार देशी कारीगरी की शिक्षा प्रदान करते थे।

शिक्षा-विभाग की सेवाओं में विशेष सुधार हुए। इसकी सेवाओं को दो भागों में विभाजित कर दिया गया।

शिक्षा-अनुदान-प्रथा में सुधार हो जाने के कारण गैरसरकारी चेष्टाओं को विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। भारतीय चेष्टाओं को नई प्रेरणा मिली।

राजकीय विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती थी। परन्तु गैर-सरकारी संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा उनके प्रबंधकों पर निर्भर करती थी। अतः धर्म-प्रचारकों को अपने प्रचार का मौका मिला।

प्राथमिक शिक्षा में मुसलमान काफी आगे बढ़ गए थे। परन्तु माध्यमिक और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अन्य जातियों की अपेक्षा वे बहुत पीछे रहे।

राष्ट्रीय आन्दोलनों एवं समाज-सुधार-आन्दोलनों ने पिछड़ी जातियों को आगे बढ़ाया और अब वे भी अपने अधिकारों का महत्त्व समझने लगे।

आदिवासियों एवं पिछड़ी जातियों की शिक्षा को प्रोत्साहित करने का श्रेय धर्म-प्रचारकों को ही है। उनके समक्ष सरकारी चेष्टायें कुछ विशेष प्रभाव न डाल सकीं।

मिशनरियों द्वारा उच्चकोटि के कालेजों का निर्माण हुआ और उनका ध्यान वर्ग-विशेष की शिक्षा से हटकर सार्वजनिक शिक्षा की ओर केन्द्रित हुआ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सन् १८८२ ई० से १६०२ ई० तक की शिक्षा-प्रगति का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

२. सन् १८८२-१६०२ तक की अवधि में व्यावसायिक शिक्षा में कोई विशेष प्रगति न हो सकी; क्यों? विस्तारपूर्वक समझाइए।

३. 'राष्ट्रीय आन्दोलन एवं समाज-सुधार-आन्दोलन की सहायता के बिना व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति सम्भव नहीं थी।' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

अध्याय ३१

कर्जन[१] की शिक्षा-नीति

जीवन और कार्य

लार्ड कर्जन का जन्म सन् १८५९ ई० में इंगलैण्ड के डर्बीशायर नामक स्थान पर हुआ था। यह प्रारम्भिक शिक्षा के लिए एटन और फिर कालेज की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बैलियल कालेज आक्सफोर्ड भेजा गया था। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उसने विश्व के लगभग सम्पूर्ण प्रसिद्ध स्थानों का भ्रमण किया। दिसंबर सन् १८८२ ई० से लेकर फरवरी सन् १८८५ ई० तक कोई भी ऐसा वर्ष न गुजरा जब वह बाहर न रहा हो। अपने इसी भ्रमर में सामान्यतया एशिया और मुख्यतः भारत, की राजनीतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन करने का भी उसको सुअवसर प्राप्त हुआ था। इन परिस्थितियों का अध्ययन करते समय उसको भारत की महत्ता का अनुभव हुआ था और उसने यह भी अनुभव किया था कि भारत का प्रभुत्व सम्पूर्ण एशिया पर छाया हुआ है तथा भारत के कारण ही इंगलैण्ड की इतनी उन्नति हो सकी है।[२]

चित्र नं० २६—लार्ड कर्जन

१. Lord Curzon (1859-1925).

२. As I proceed....true fulcrum of Asiatic dominions seem to me increasingly to lie in Hindustan....But her central and commanding position is no where better seen than in the political influence which she exercises over the destinies of her neighbours far and near; and the extent to which their fortune revolve upon an Indian axis.—Ronaldshay: Life of Lord Curzon, Vol. I: p. 309.

लार्ड कर्जन पश्चिमी सभ्यता को बड़ी उच्च कोटि की मानता था। उसका दृढ़ विश्वास था कि एशिया का कल्याण पश्चिमी सभ्यता के प्रसार के बिना सम्भव नहीं। वह समझता था कि प्रत्येक अंग्रेज का कर्त्तव्य है कि वह प्राच्य प्रदेशों को सभ्य बनाए। इस कार्य के लिए वह अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा ही नहीं, अपितु विस्तार भी आवश्यक समझता था। परन्तु उसकी यह आकांक्षा तब तक पूरी नहीं हो सकती थी जब तक इन देशों की सेवा करने का उसे अवसर न प्राप्त हो। संयोगवश सन् १८९६ ई० में वह भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त हुआ और उसे अपनी साध पूरी करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

लार्ड कर्जन धुरन्धर विद्वान तथा प्रतिभाशाली एवं कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति था। वाइसराय के पद पर सात वर्ष तक भारतवर्ष में रह कर उसने ब्रिटिश शासन को दृढ़ करने के लिए निरन्तर प्रयास किया। भारतीय शासन में अनेक सुधार किए और अपने इस अल्पकाल में उसने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं वे संभवतः १५-२० वर्ष में भी होने असम्भव थे।[1] प्रत्येक विभाग के सम्बन्ध में उसको जानकारी थी और शासन का कोई भी ऐसा विभाग नहीं था जिस पर उसकी अमिट छाप न पड़ी हो। शायद ही कोई ऐसा दिन था जब कि कमीशन न बैठता रहा हो या शासन-सुधार के लिए कोई कार्य न किया जाता रहा हो।[2] परन्तु दुर्भाग्यवश इसे अपने कार्यों का फल देखने का अवसर न प्राप्त हो सका। सन् १९०३ ई० में वह फिर वाइसराय के पद पर नियुक्त हो गया था, परन्तु तत्कालीन सेनानायक लार्ड किचनर से मतभेद हो जाने के कारण उसे त्यागपत्र देकर इंगलैण्ड चला जाना पड़ा।

दुर्भाग्य की बात तो यह है कि इतना बड़ा विद्वान, कार्य-पटु एवं राजनीतिज्ञ होते हुए भी वह भारतीयों के हृदय में तनिक भी स्थान न प्राप्त कर सका। वह ब्रिटिश साम्राज्य एवं पाश्चात्य सभ्यता का इतना कट्टर समर्थक था कि उसके समक्ष वह भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को तुच्छ एवं हेय समझने लगा था। पाश्चात्य सभ्यता की इस अन्ध भावना से प्रेरित लार्ड कर्जन ने भारतीयों के चरित्र

---

१. What Curzon achieved in seven years would certainly have required twice or thrice as much time for any other man.

—Nurullah and Naik p. 451.

२. There was scarcely a day when some commission was not sitting, or some expert was not at work collecting, sifting and generally preparing material for the administrative or legislative mill.

—Ronaldshay: op. cit.: Vol. II. p. 417.

सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें कहीं कि भारतीय उसे सहन न कर सके और उसका कड़ा विरोध किया। भारत में फैलती हुई राष्ट्रीयता की लहर को मोड़ने का उसने अथक परिश्रम किया; परन्तु यह लहर और वेगवती हो गई तथा भारतीयों के मन में उसके प्रति घृणा पैदा हो गई। भारत छोड़ते समय उसके लिए किसी भी भारतीय को किंचित् मात्र भी दुःख न हुआ और न इतने बड़े देश में किसी ने उस महान आकांक्षा वाले कर्त्तव्यपरायण शासक के लिए दो बूँद आँसू बहाए। भारतवर्ष से लौटने के पश्चात् लार्ड कर्जन आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त हुआ और फिर मंत्रिमंडल में कई पदों पर रहा; परन्तु वह भारत में अपने वाइसराय के पद को जीवन के अन्तिम क्षणों तक न भूल सका। और २० मार्च सन् १९२५ को इहलीला समाप्त कर दी।

लार्ड कर्जन के आने के समय देश की दशा

जिस समय लार्ड कर्जन भारतवर्ष आया उस समय भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की लहर तीव्र गति से दौड़ रही थी। अब भारतीयों को अपनी सभ्यता, संस्कृति, भाषा और देश की प्रत्येक वस्तु के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था और लार्ड कर्जन भारतीय सभ्यता का विरोधी तथा अंग्रेजी सभ्यता का समर्थक था। अतः वह भारतीयों का विश्वासपात्र न बन सका। कर्जन ने आते ही आते कुछ सुधार करना चाहा। अतः भारतवासी और भी भड़क उठें। उसके आने के समय ही एक सर्व-व्यापक महामारी और दो भयंकर अकाल पड़ चुके थे और शिक्षा की दशा भी अच्छी न थी, क्योंकि उस समय तक वे ही विद्यालय जीवित थे जिनकी आर्थिक दशा अच्छी थी। इस प्रकार स्कूलों की संख्या दिन प्रतिदिन घटती चली जा रही थी।[१]

भारत आने के पाँचवें वर्ष सन् १९०१ ई० में लार्ड कर्जन ने शिमला में एक शिक्षा-सम्बन्धी अधिवेशन किया क्योंकि भारतीय शासन के पुनर्संगठन के लिए वह शिक्षा को आवश्यक समझता था। अतः सर्वप्रथम उसने इसी ओर ध्यान दिया।[२] इस अधिवेशन में सभी प्रान्तों के शिक्षा-संचालकों को ही आमंत्रित किया गया था।

---

१. Progress of Education in India, 1912-17, Seventh Quinquennial Review, Vol. I. p. 22.

२. When I came to India, Education reform loomed before me as one of those objects which......appeared to deserve a prominent place in any programme of administrative reconstructions.

—Lord Curzon in India Vol. II, p. 65.

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य गिने-चुने लोग भी बुलाए गए थे। यह अधिवेशन लार्ड कर्जन की अध्यक्षता में हुआ था और १५ दिनों तक चलता रहा। इस अधिवेशन में भारतीय प्रारम्भिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय की शिक्षा तक की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया गया और १५० प्रस्ताव पास किए गए और इन्हीं प्रस्तावों पर कर्जन ने अपनी शिक्षा-नीति आधारित की। लार्ड कर्जन ने इस अधिवेशन में किसी भी भारतीय को न बुलाया था और अब भारतीय भी जागरूक हो चुके थे। उन्होंने सोचा कि कर्जन की यह नीति अवश्य ही भारतीयों के विरोध में है और वह भारतीयों के लिए कोई षड्यंत्र रच रहा है।[1] इस विचार से भारतीय उसको सशंकित दृष्टि से देखने लगे। परिणाम यह हुआ कि कर्जन भारतीयों का सहयोग न प्राप्त कर सका। शिमला-अधिवेशन में भारतीय शिक्षा के हर पहलू पर विवेकपूर्ण विचार किया गया था और इसी के फलस्वरूप सन् १९०२ ई० में विश्वविद्यालय कमीशन पास हो गया।

लार्ड कर्जन और प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन के विचार गुणात्मक[2] और संख्यात्मक[3] दोनों थे; अर्थात् कर्जन चाहता था कि प्राथमिक शिक्षा-क्षेत्र में बालकों में योग्यता भी हो और उनकी संख्या भी बढ़े। कर्जन ने स्वीकार किया कि ब्रिटिश सरकार अभी तक सार्वजनिक शिक्षा की उपेक्षा करती आई है। उसका कथन था कि प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से ही दी जानी चाहिये अभी तक लार्ड मैकाले की नीति के कारण मातृ-भाषा को प्रश्रय न मिल सका था।

लार्ड कर्जन नें अपने व्याख्यान में कहा था कि 'भारत में प्राथमिक शिक्षा के विस्तार की आवश्यकता है। केवल शिक्षा के द्वारा ही सार्वजनिक मानसिक अन्धकार को दूर करके उनको प्रकाश दिया जा सकता है। अविश्वास अन्धविश्वास, असन्तोष तथा दुखः की जड़ अज्ञान में है। अतः ज्ञान से इसे दूर किया जा सकता है। भारतीय जनता को हम जितना ही अधिक शिक्षित बनायें, उतना ही सुखपूर्वक जीवन

---

१. ......a Star Chamber conclave that was engaged in some dark and sinister conspiracy—Lord Curzon in India, Vol. II p. 67.

२. Qualitative.

३. Quantitative.

व्यतीत कर सकेगी तथा राजनीतिक जीवन के लिए लाभकारी हो सकेगा।[1] कर्जन का विचार था कि अधिक कठिनाइयों के कारण ही प्राथमिक शिक्षा शोचनीय दशा को पहुँची है। अभी तक सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के सन्बन्ध में बहुत ही कम रुपया व्यय किया है। सन् १९०१-२ में प्रान्तीय सरकार द्वारा प्रदत्त एवं स्थानीय कोष द्वारा स्वीकृत दोनों धनों को मिलाकर कुल ६३,०२,९०१ रुपये ही प्राथमिक शिक्षा पर व्यय हुए थे। इन अंकों को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि यह धन प्राथमिक शिक्षा की आवश्यताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त न था। अतः प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए सर्वप्रथम पर्याप्त धन की आवश्यकता थी।

संख्यात्मक वृद्धि

प्राथमिक स्कूलों की संख्या में वृद्धि करने के लिए लार्ड कर्जन ने पर्याप्त धन-राशि की स्वीकृति दी और विद्यालयों को तत्कालीन महामारी एवं अकाल से मुक्त किया तथा अब जिला परिषदों एवं नगरपालिकाओं को सम्पूर्ण खर्च का ५० प्रतिशत मिलने लगा जब कि पहले केवल ⅓ भाग मिलता था। फलतः १० वर्ष में ही प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई। १८८१-२ ई० तक प्राथमिक विद्यालयों की संख्या ८२,९१६ थी। अगले २० वर्षों में केवल १०,६८८ स्कूल ही बढ़े थे। परन्तु १९०३ ई० से १९१०-११ में इनकी कुल संख्या १,१८,२६२ हो गई। इन विद्यालयों की संख्या में वृद्धि के साथ ही साथ छात्रों की संख्या ४,८०,६०,७३६ हो गई, जब कि १९०२ ई० में ३०,७६,६७१ और १८८२ ई० में केवल २०,६१,५४१ ही थी।

गुणात्मक उन्नति के लिए

हम पहले बता चुके हैं कि लार्ड कर्जन प्राथमिक शिक्षा में संख्यात्मक उन्नति के साथ ही साथ गुणात्मक उन्नति भी चाहता था। अतः इसके लिए उसने ये कार्य किए :—

---

१. What is the source of suspicion, superstition......agragarian discontent and suffering among the masses ? It is ignorance. And what is the antidote to ignorance ? Knowledge. In proportion as we teach the masses, so we shall make their lot happier, and in proportion as they are happier so they will become more useful members of the body politic.

—Curzon's Speech at Simla Conference.—1901.

पाठ्यक्रम में सुधार—कर्जन का विचार था कि गुणात्मक उन्नति के लिए पाठ्यक्रम में सुधार अत्यन्त आवश्यक है। कर्जन के अनुसार भारतीय शिक्षा-आयोग ने शिक्षा के पाठ्यक्रम को सरल बना कर बड़ी गलती की थी। सरल बनाने की अपेक्षा प्राथमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम वृहत् होना चाहिए। कर्जन ने पाठ्यक्रम में 'तीन आर' (अर्थात् लिखना, पढ़ना और अंकगणित) के अतिरिक्त कृषि भी सम्मिलित कर दिया और किण्डरगार्टेन और आब्जेक्ट-पद्धति को लागू करने की सिफारिश की। उसने कहा कि इस पद्धति से भारतीयों के मस्तिष्क के तमाम दोष दूर हो जायँगे और अनुभव के आधार पर उनमें तर्क-शक्ति का संचार होगा।

कर्जन ने कहा कि प्राथमिक विद्यालयों में शारीरिक व्यायाम का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः इसको भी पठ्यविषयों में सम्मिलित कर दिया जाय। तथा ग्रामीण-विद्यालयों का पाठ्यक्रम नगर-विद्यालयों से भिन्न होना चाहिए,[१] क्योंकि दोनों की स्थिति और वातावरण में अन्तर होता है। दोनों प्रकार के विद्यालयों का पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय स्थान और आवश्यकता का ध्यान रक्खा जाय। देहात में उन विषयों को रखना चाहिए जो ग्रामीण जनता के लिए उपायोगी हों। ग्रामीण विद्यालयों का उद्देश्य बालकों को कृषि में शिक्षा देना नहीं है, वरन् उन्हें वह शिक्षण देना है जिससे वे कुशल कृषक हो सकें और साथ ही निरीक्षण, चिन्तन तथा परीक्षण-कर्त्ता होने का भी उन्हें शिक्षण मिल सके[२] वास्तव में कर्जन के ये विचार अत्यन्त प्रशंसनीय थे। परन्तु दुर्भागवश कर्जन के विचार कार्यान्वित न हो सके। कृषि का विषय रक्खा तो गया, परन्तु अतिरिक्त विषय के रूप में, और पाठ्यक्रम को उसकी इच्छानुसार न रक्खा जा सका।

शिक्षकों का प्रशिक्षण—कर्जन के भारत आने के समय तक प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था का कोई समुचित रूप न था। कर्जन ने प्रशिक्षण-विद्यालयों की संख्या में वृद्धि करने की सिफारिश की और उसने कहा कि प्रशिक्षण-विद्यालयों में अन्य विषयों के साथ कृषि भी एक विषय होना चाहिए अन्यथा अध्यापक प्राथमिक विद्यालयों में जाकर छात्रों को कृषि का ज्ञान न दे सकेंगे,

---

१. The aim of the rural schools should be, not to impart definite agricultural teaching, but to give to the children a preliminary training which will make them intelligent cultivators, will train them to be observere, thinkers and experimenters....

२. Quinquennial Review of the Progress of Education in India. (1902-07) p. 21.

जब कि कृषि यहाँ एक अनिवार्य विषय रक्खा गया गया है। छात्राध्यापकों के शिक्षण की अवधि दो वर्ष की होनी चाहिए। कर्जन ने प्रशिक्षण-विद्यालयों की व्यवस्था पर ध्यान देकर बालकों को व्यावहारिक ज्ञान देने का प्रयत्न किया। इस दिशा में कर्जन ने बहुत उपयोगी सुझाव दिये।

शिक्षा-अनुदान-पद्धति में सुधार—अभी तक प्राथमिक विद्यालयों को परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों के अनुपात से आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। परन्तु कर्जन ने इसका विरोध करके वैज्ञानिक और आधुनिक ढंग पर आर्थिक सहायता देने की प्रथा प्रचलित की। इस प्रथा के अनुसार विद्यालय की लगभग सभी बातों पर ध्यान देकर सहायता दी जाने लगी। यह प्रथा अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई।

माध्यमिक शिक्षा

सन् १८८२ और १९०२ ई० की अवधि में माध्यमिक शिक्षा में सराहनीय प्रगति हुई। हाई स्कूल की संख्या में वृद्धि हुई, परन्तु इनकी शिक्षा में अनेक दोष थे। अतः यह शिक्षा उतनी लाभकारी न हो सकी जितनी कि आशा थी। इन स्कूलों में सुधार की आवश्यकता थी। कर्जन ने इन विद्यालयों के सुधार के लिए कई सुझाव रक्खे। परन्तु कर्जन के इन सुझावों का तात्पर्य विद्यालयों पर सरकार का नियंत्रण स्थापित करना था। साथ ही, वह स्कूलों का स्तर भी कुछ ऊपर उठाना चाहता था।

शिक्षा-विभाग द्वारा स्वीकृति

भारतीय शिक्षा-आयोग ने सन् १८८२ ई० में शिक्षा अनुदान के नियम बनाकर उसमें सुधार करने की सिफारिश की थी।[१] जिन स्कूलों को सहायता प्रदान की जाती थी उन्हें शिक्षा-विभाग के नियंत्रण में रहना अनिवार्य था। जिन स्कूलों को यह सुविधा न प्राप्त थी, उन पर शिक्षा-विभाग का किसी भी प्रकार का नियंत्रण न था। ऐसी दशा में स्वाभाविक था कि वे अपनी इच्छानुसार सारा कार्य करें। एक नियम न पालन करने के कारण सभी स्कूल अपना-अपना राग अलाप रहे थे। फलतः इनमें ऐसे दोष आ गए थे जो शिक्षा के लिए अत्यन्त हानिकारक थे। लार्ड कर्जन ने कहा कि यह प्रथा सर्वथा अनुचित है। सहायता प्राप्त तथा गैर सहायता प्राप्त दोनों प्रकार के स्कूलों पर शिक्षा-विभाग अपना नियंत्रण रक्खेगा। इन्हीं विचारों को ध्यान में रख कर सन् १९०४ ई० में सरकार ने कुछ ऐसे नियम बनाए जिनका मानना

१. Quinquennial Review of The Progress of Education of India 1902-7 p. 416.

सभी विद्यालयों के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया। इन नियमों को स्वीकार करने वाले विद्यालयों को ही मान्यता[1] तथा आर्थिक सहायता दी जाती थी। विद्यालयों को मान्यता प्राप्त करने के लिए निम्नांकित शर्तें[2] निर्धारित की गईं :—

१. विद्यालय की प्रबन्ध-समिति का संगठन सुन्दर और उचित हो।

२. वह जनता की वास्तविक माँगों की पूर्ति करने में सर्वथा समर्थ हो।

३. प्रबंध-समिति की आर्थिक व्यवस्था अच्छी हो।

४. विद्यालय म छात्रों की शिक्षा, स्वास्थ्य, अनुशासन एवं मनोरंजन का समुचित प्रबंध हो।

५. विद्यालयों में पाठ्य-विषय वर्गों के अनुसार हों।

६. विद्यालय में ऐसे अध्यापक हों जिनका आचरण अच्छा हो और वे अध्यापन-कार्य में रुचि और क्षमता रखते हों।

७. विद्यालय में शुल्क की दर समुचित हो जिससे किसी पड़ोसी विद्यालय को धक्का न लगे।

इस प्रकार सन् १९०४ ई० के पश्चात् गैर-सरकारी स्कूलों को मान्यता प्रदान करने की प्रथा चल पड़ी और सभी गैर सरकारी स्कूलों पर शिक्षा-विभाग का नियंत्रण हो गया तथा मान्यता प्रदान करने की ये सभी शर्तें सभी शिक्षा-विभागों ने अपने यहाँ अंकित करवा दीं।

विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृति

सन् १९०४ ई० के पूर्व विश्वविद्यालयों के नियम यथेष्ट दृढ़ न थे। कभी-कभी वे अस्वीकृत विद्यालयों को भी अपने छात्रों को प्रवेशक-परीक्षा में बैठाने के लिए आज्ञा दे देते थे। परन्तु १९०४ ई० के पश्चात् विश्वविद्यालयों के नियम भी कठिन हो गए और उन्होंने भी स्वीकृति के कुछ नियम बनाए। साथ ही साथ यह भी निश्चित कर दिया गया कि अब अस्वीकृत-स्कूलों के छात्र प्रवेशक-परीक्षा में न सम्मिलित हो सकेंगे। अभी तक शिक्षा-विभाग और विश्वविद्यालयों की नीति में कभी-कभी विरोध हो जाया करता था। परन्तु इन नियमों के बन जाने के कारण उसका डर भी समाप्त हो गया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अब शिक्षा-विभाग और विश्वविद्यालय दोनों माध्यमिक स्कूलों पर नियंत्रण के लिए दृढ़ हो गए।

---

१. Recognition.

२. The Gevernment Resolution of 1904.

व्यावहारिक तथा आर्थिक सुविधाएँ

अपने छात्रों को प्रवेशक-परीक्षा में भेजने के लिए माध्यमिक स्कूलों के लिए आवश्यक था कि वे विश्वविद्यालय की शर्तों को मानें। सरकारी सहायता एवं अन्य सुविधायें प्राप्त करने के लिए कुछ सरकारी नियम भी माध्यमिक विद्यालयों को मानने पड़ते थे। इन्हीं विचारों को लेकर यह निश्चित किया गया कि मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालय निम्नांकित सुविधाओं को प्राप्त कर पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे :—

१. सभी मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालय सरकार द्वारा संचालित विभिन्न परीक्षाओं में अपने छात्र भेज सकेंगे।

२. सरकारी छात्रवृत्ति प्राप्त करने वाले छात्रों को भी अपने यहाँ प्रविष्ट कर सकेंगे।

३. सरकार द्वारा प्रदत्तशिक्षा अनुदान को वे भी प्राप्त कर सकेंगे।

उपर्युक्त सुविधाओं के अतिरिक्त उनकी आर्थिक सहायता में भी वृद्धि कर दी गई और निरीक्षकों की संख्या भी बढ़ा दी गई जिससे सरकार यह जान सके कि उसके नियमों का पालन भली-भाँति स्कूलों द्वारा हो रहा है या नहीं।

असम्मानित विद्यालयों के छात्रों पर प्रतिबन्ध

अभी तक सरकार उन्हीं स्कूलों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकी थी जो कि मान्यता चाहते थे तथा अपने छात्रों को प्रवेशक-परीक्षा में भेजने के लिए इच्छुक थे। परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्कूल थे जो न तो मान्यता ही चाहते थे और न अपने छात्रों को प्रवेशक-परीक्षा में ही भेजने के इच्छुक थे। वे पृष्ठ-भूमि का कार्य करते थे; अर्थात् अपने यहाँ विद्यार्थियों को निम्न कक्षाओं की शिक्षा देकर मान्यता-प्राप्त स्कूलों में बिठाते थे। कर्जन का विचार था कि ऐसे स्कूलों को स्वतंत्र छोड़ देना शिक्षा के लिए बड़ा घातक था। पर उन पर नियंत्रण भी सरल नहीं था, क्योंकि वे न तो मान्यता चाहते थे, और न आर्थिक सहायता, और न अपने छात्रों को प्रवेशक-परीक्षा में ही बिठाना चाहते थे। अतः इनको नियंत्रण में लाने के लिए सरकार ने आदेश दिया कि ऐसे स्कूलों के छात्रों को मान्यता-प्राप्त स्कूलों में किसी भी शर्त पर प्रवेश न दिया जाय। इस प्रकार उन विद्यार्थियों के लिए प्रवेशक परीक्षा का द्वार सदा के लिए बंद हो गया। ऐसी दशा में कोई भी छात्र वहाँ प्रवेश न लेना चाहता था और उनका अस्तित्व ही समाप्त होने लगा। अतः उन्हें अपने ही अस्तित्व को बचाने के लिए मान्यता-प्राप्त करना आवश्यक था।

इन नियमों को बनाकर सरकार ने माध्यमिक विद्यालयों पर अपना नियंत्रण तो कर लिया, परन्तु कुछ दिनों पश्चात् माध्यमिक विद्यालयों की स्वतंत्रता समाप्त हो गई और उनका काम यंत्रवत् चलने लगा। अब सभी माध्यमिक विद्यालय एक ही प्रकार से कार्य करने लगे और शिक्षा के प्रति इतने सतर्क भी न रहे, क्योंकि वे मान्यता-प्राप्त थे और उन्हें आर्थिक सहायता मिल ही जाती थी, परन्तु इन दोषों के होते हुए भी इन विद्यालयों को काफ़ी लाभ हुआ और माध्यमिक शिक्षा की बहुत सी असुविधाएँ दूर हो गईं।

विद्यालयों की गुणात्मक उन्नति

पहले बताया जा चुका है कि लार्ड कर्जन संख्यात्मक वृद्धि के साथ ही साथ गुणात्मक उन्नति भी चाहता था। अतः माध्यमिक विद्यालयों की गुणात्मक उन्नति के लिए लार्ड कर्जन ने अधोलिखित आज्ञाएँ दीं :—

१. गैरसरकारी स्कूलों की आर्थिक सहायता में वृद्धि की जाय जिससे वे अपने स्तर को ऊँचा कर सकें। क्योंकि उनके स्तर के निम्न होने का प्रमुख कारण धनाभाव है।

२. मिडिल कक्षाओं तक की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाय तथा, यह प्रयत्न किया जाय कि मिडिल कक्षाओं में ही छात्रों को अंग्रेजी का इतना ज्ञान प्राप्त हो जाय कि वे उच्च कक्षाओं में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ हो सकें।

३. प्रत्येक जिले में एक राजकीय आदर्श विद्यालय स्थापित किया जाय। इसके लिए केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह प्रान्तीय सरकारों को पर्याप्त आर्थिक सहायता दे।

४. माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की दीक्षा का प्रबन्ध किया जाय और इसके लिए पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षण-विद्यालयों की आवश्यकता है। शिक्षा का स्तर ऊँचा करने के लिए दीक्षा-विद्यालयों में अच्छे पुस्तकालय एवं संग्रहालयों की आवश्यकता है तथा ट्रेनिंग कालेजों और स्कूलों में सम्बन्ध स्थापित किया जाय।[१]

---

१. It is desirable that the training colleges should be furnished with a good library and with a museum......Every possible care should be taken to maintain a connection between the Training College and the school,—Government Resolution (1904), p. 39.

५. विद्यालयों में प्रगति लाने तथा स्तर ऊँचा करने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व निरीक्षकों पर निर्भर है । अतः निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि की जाय और उन्हें अधिक सुविधाएँ प्रदान की जायँ ।
६. एस० एल० सी० परीक्षा के पाठ्यक्रम में काफी सुधार किया जाय और इसमें व्यावहारिक और उपयोगी विषयों को लाया जाय ।

उपर्युक्त आदेश वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण थे और इनसे विद्यालयों का मानदण्ड अवश्य ऊँचा हुआ ।

माध्यमिक शिक्षा को कर्जन की देन

सन् १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा-आयोग ने शिक्षा को पूर्णरूपेण भारतीयों के हाथ में सौंप कर सरकार को उससे छुटकारा प्राप्त करने की सिफारिश की थी। परन्तु लार्ड कर्जन ने प्रत्येक जिले में एक आदर्श स्कूल स्थापित कर, उस नीति को त्याग दिया । इन राजकीय आदर्श विद्यालयों पर सार्वजनिक विद्यालयों की अपेक्षा अधिक रुपया व्यय किया जाता था । अतः भारतीयों ने इसका घोर विरोध किया । इन आदर्श विद्यालयों के अधिक व्यय के कारण तमाम गैरसरकारी स्कूलों को आर्थिक सहायता से वंचित रह जाना पड़ता था । इसके अतिरिक्त राजकीय आदर्श विद्यालयों की स्थापना का कोई मूल्य न था, क्योंकि भारतीयों की दृष्टि से उनकी स्थापना नहीं हुई थी । भारतीयों को अपनी परिस्थितियों पर निर्भर रहना पड़ता था। अतः आदर्श स्कूलों की स्थापना उतनी आवश्यक न थी जितनी गैर सरकारी विद्यालयों को पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता देने की, क्योंकि वे धनाभाव के कारण ही पिछड़े हुए थे । अच्छा तो यह होता कि सरकार आदर्श विद्यालयों पर व्यय होने वाले रुपयों को अन्य स्कूलों को दे देती । किन्तु दुर्भाग्यवश सरकार भारतीय दृष्टिकोण की अवहेलना ही करती रही और राजकीय विद्यालयों की स्थापना में सतत् प्रयत्न करती रही ।

माध्यमिक शिक्षा की सेवाओं में कर्जन का सब से महत्त्वपूर्ण कार्य शिक्षा के माध्यम का है । सन् १९०२ ई० तक उच्च कक्षाओं में तो अंग्रेजी की तूती बोलती थी, इससे साथ ही साथ मिडिल कक्षाओं में भी अंग्रेजी का ही बोलबाला था । भारतीयों ने इसके पूर्व मिडिल कक्षाओं से अंग्रेजी हटाने पर जोर दिया था, परन्तु कोई परिणाम न निकल सका था । अभी तक इस बात पर भी मतभेद था कि अंग्रेजी का अध्यापन किस कक्षा से प्रारम्भ किया जाय । उपर्युक्त इन दोनों प्रश्नों पर लार्ड कर्जन ने अपना निश्चित मत प्रकट किया जो उस समय के अनुसार प्रगतिशील कहा जा सकता है । इन प्रश्नों के सम्बन्ध में कर्जन ने कहा कि :—

१—जब तक बालकों में यह क्षमता न आ जाय कि वे अंग्रेजी माध्यम द्वारा किसी विषय को समझ सकें, उनको अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा न दी जाय। प्रायः १३ वर्ष से अधिक आयु वाले छात्रों को ही अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए।

२—जब तक बच्चा प्राथमिक शिक्षा में कुछ ज्ञान न प्राप्त कर ले तथा उसे मातृभाषा का समुचित ज्ञान न हो जाय तब तक उसे अँग्रेजी की शिक्षा प्रारम्भ करनी उचित नहीं।

३—अंग्रेजी माध्यम के साथ ही साथ मातृभाषा का अध्ययन भी आवश्यक है।

४—मातृ भाषा का अध्ययन माध्यमिक विद्यालयों की शिक्षा के पूर्ण समय तक चलना चाहिये। यदि इन भाषाओं की उपेक्षा की जायगी तो ये केवल बोलचाल की भाषाएँ रह जायँगी और इनके द्वारा पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार सम्भव न हो सकेगा।[१]

लार्ड कर्जन के आदेशानुसार भारतीय भाषाओं को माध्यम के क्षत्र में प्रश्रय मिला। वास्तव में यह भारतीय शिक्षा-आयोग के सुझावों से अधिक उदार था।

विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा

अभी तक भारतीय विश्वविद्यालय केवल परीक्षण-संस्थाएँ बनी हुई थीं। वे विश्वविद्यालय के वास्तविक अर्थ की पूर्त्ति बिल्कुल न करते थे। वे केवल उपाधियाँ प्रदान करते थे और छात्रों के साथ उनका सम्बन्ध केवल कागज पर होता था। लार्ड कर्जन ने इसकी तीव्र आलोचना की और विश्वविद्यालयों को सबसे बड़ी देन दी। कर्जन ने कहा कि विश्वविद्यालय को एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ से मानवीय कारखाने की अनुभवरूपी अग्निशाला में सत्य से सम्बन्धित चरित्र का

---

१. If the educated classes neglect the cultivation of their own languages, these will assuredly sink to the level of mere colloquial dialects...., and no progress will be possible in giving effect to the principle, affirmed in the despatch of 1854, that European knowledge should gradually be brought, by means of Indian Vernaculars, within the reach of all classes of the people.—Government Resolution (1904), p. 26.

निर्माण हो, न कि केवल ज्ञान ही विकीर्ण हो ।[१] कर्जन के ऐसे सुन्दर विचार वास्तव में प्रशंसनीय हैं। कर्जन ने कहा कि इस दिशा में किसी भी प्रकार का कार्य करने से पूर्व भारतीय विश्वविद्यालयों की जाँच अत्यन्त आवश्यक है। अत: उसने सन् १९०२ ई० में एक भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन नियुक्त किया। कमीशन को भारतीय विश्वविद्यालय की जाँच कर उस के दोषों को दूर करने के लिए सुझाव भी देने थे।

भारतीय विश्वविद्यालय कमीशन[२] १९०२

भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थापना के पश्चात् अब तक उनमें सुधार करने के लिए कोई भी प्रयास न किया गया था। इस अवधि में कालेजों की संख्या बहुत बढ़ गई थी और विश्वविद्यालयों को उनका सम्हालना भार प्रतीत होता था। इन विश्वविद्यालयों का आदर्श लन्दन विश्वविद्यालय था और सन् १८९८ ई० में उसका भी पुनर्संगठन हो चुका था। अत: आवश्यक था कि इन विश्वविद्यालयों में सुधार किया जाय जिससे वे अधिक उपयोगी बन सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये २७ जनवरी सन् १९०२ ई० में विश्वविद्यालय कमीशन की नियुक्ति हुई और कमीशन ने लगभग ६ माह में ही अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी।

विश्वविद्यालयों में सुधार के लिए विश्वविद्यालय कमीशन ने बहुत से महत्वपूर्ण सुझाव रक्खे जिन में मुख्य-मुख्य सुझाव निम्नलिखित हैं :—

१—विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध का पुनर्संगठन होना चाहिए।

२—विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम तथा परीक्षा-विधि में परिवर्तन किया जाय।

३—विश्वविद्यालयों में शिक्षण-कार्य भी प्रारम्भ होना चाहिए।

४—विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध कालेजों में शिक्षण की उचित व्यवस्था होनी चाहिए तथा उन को सम्बद्धता प्रदान करने के नियमों में अधिक कठोरता लानी चाहिए।

---

१. "The ideal university would consist of two aspects. It would be a place for the dissemination of knowledge and the encouragement of learning; and it would further be a human smithy where character was forged in the furnace of experience, and beaten out on the anvil of truth"...—from Curzon's Convocation address at the Calcutta University 1904, Lord Curzon in India p. 59-63.

२. Indian Universities Commission 1902.

५—छात्रों की अवस्था पर ध्यान देना चाहिए और उनके लिये छात्रावासों का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है ।

इन सुझावों से हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि विश्वविद्यालय आयोग का उद्देश्य प्रचलित प्रणाली को ही शक्तिशाली बनाना एवं पुनर्संगठित करना था, न कि कोई क्रांतिकारी परिवर्तन करना । कम से कम शुल्क लेने तथा द्वितीय श्रेणी के इण्टरमीडिएट कालेजों को तोड़ने की सिफारिश करने के कारण कुछ भारतीयों ने इसका कड़ा विरोध किया । फलतः यह कमीशन विश्वविद्यालयों में कोई विशेष प्रगति न ला सका । परन्तु हाँ, इन्हें शक्तिशाली बनाने में कमीशन ने कुछ उठा न रक्खा और यदि भारतीय कर्जन के विचारों से सहमत होते तो ये सिफारिशें और अधिक लाभदायक हो सकती थीं ।

कर्जन के विरोध का एक कारण यह भी था कि शिमला अधिवेशन की भाँति कमीशन में भी कोई भारतीय सम्मिलित न किया गया था । इससे भारतीयों को और क्षोभ हुआ । इन दो महत्त्वपूर्ण कार्यों के समय भारतीयों को अलग रक्खा गया था । यह देखकर भारतीयों को अनुभव होने लगा कि सम्भवतः सरकार हमारी उठती हुई राष्ट्रीय भावनाओं को दबाने का प्रयत्न कर रही है । इस विचारधारा ने उनके विरोध को और बढ़ा दिया । कुछ दिनों पश्चात् आयोग में डाक्टर गुरुदास बनर्जी तथा सैयद हसन बिलग्रमी को भी सम्मिलित कर दिया गया, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न हो सका क्योंकि भारतीय क्षुब्ध तो हो ही चुके थे ।

भारतीय विश्वविद्यालय कानून सन् १९०४ ई०

सन् १९०२ ई० के विश्वविद्यालय-आयोग के सुझावों के आधार पर ही सन् १९०४ ई० में विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में कानून पास किया गया जिस में निम्नांकित बातें मुख्य थीं :—

१—विश्वविद्यालयों को चाहिए कि वे अपने यहाँ शिक्षण की व्यवस्था भी करें, न कि केवल परीक्षा संस्थायें ही बने रहें । उनको शिक्षण-कार्य के लिए प्राध्यापकों को नियुक्त करने का अधिकार दे दिया गया तथा यह भी कहा गया कि उच्च ज्ञान को प्रोत्साहित करने के लिए वे जो कुछ भी उचित समझें, कर सकते हैं ।

२—विश्वविद्यालय के सदस्यों की संख्या निश्चित कर दी गई । निम्नतम संख्या ५० और उच्चतम १००, तथा ये सदस्य केवल ५ वर्ष के लिए नियुक्त किए जायेंगे आजीवन के लिये नहीं ।

३—विश्वविद्यालयों की कार्यकारिणी-शक्ति केवल सिण्डीकेट को ही प्राप्त रहे तथा सिण्डीकेट में विश्वविद्याल के अध्यापकों का होना आवश्यक कर दिया गया तथा विश्वविद्यालय के कुलपति को इसका अध्यक्ष बनाया गया।

४—कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयों की सिनेट के सदस्यों की संख्या २० तथा अन्य नए विश्वविद्यालयों की सिनेट के सदस्यों की संख्या १५ होनी चाहिए। इस कानून के अनुसार सिनेट के निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी।

५—सन् १८५७ ई० के कानून के अनुसार विश्वविद्याल के सम्बन्ध में केवल सिनेट ही कानून बना सकती थी और सरकार को उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। परन्तु १९०४ ई० के कानून के अनुसार सरकार को काफी अधिकार मिल गया। अब सरकार सिनेट द्वारा बनाए कानून को संशोधित एवं परिवर्तित कर सकती थी तथा यदि वह समय पर कानून न बनावे तो सरकार स्वयं भी कानून बना सकती थी।

६—सन् १८५७ ई० के कानून के अनुसार विश्वविद्यालयों का क्षेत्र निश्चित नहीं किया गया था। इससे उन्हें काफी कठिनाई का अनुभव करना पड़ता था। परन्तु सन् १९०४ ई० के अनुसार गर्वनर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह विश्वविद्यालय के क्षेत्र निश्चित कर दे और वह यह भी निश्चित कर सकता था कि कौन-कौन विश्वविद्यालय किन-किन कालेजों को मान्यता देंगे।

उपर्युक्त कानूनों के बन जाने से भारतीय विश्वविद्यालयों में काफी सुधार हो गया। सन् १८५७ ई० के कानून के अनुसार सिनेट के सदस्यों की अधिकतम संख्या निश्चित न थी तथा वे जीवन पर्यन्त उसके सदस्य रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सिनेट निर्जीव सी होगई थी और स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकती थी। सन् १९०४ ई० के कानून के अनुसार ये दोष सदा के लिये दूर हो गए और सिनेट में जान आ गई। इसके अतिरिक्त सन् १८५७ ई० के नियमानुसार सभी सदस्य या तो मनोनीत होते थे या पदेन। उस समय निर्वाचित सदस्यों के लिये कोई व्यवस्था न थी। परन्तु अब निर्वाचित सदस्यों की भी व्यवस्था की गई और उनकी संख्या निश्चित कर दी गई तथा उनकी अवधि भी ५ वर्ष की कर दी गई। अब निर्वाचन-पद्धति द्वारा योग्य व्यक्ति भी आने लगे।

विश्वविद्यालय के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया

इस समय तक राष्ट्रीयता की भावना अपना विकट रूप धारण कर चुकी थी। अब भारतीय अंग्रेजों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। अतः विश्वविद्यालय

कानून को भी उन्होंने सन्देह की दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया। भारतीयों ने सोचा कि इस कानून से अंग्रेजी सरकार भारतीय विश्वविद्यालयों पर अपना एकाधिकार चाहती है; न कि वास्तविक सुधार और इन नियमों के द्वारा सरकार नये कालेजों के निर्माण में रुकावटें डालना चाहती है। विश्वविद्यालयों में शिक्षण-व्यवस्था का वर्णन तो किया गया था। परन्तु वह हो न सका क्योंकि रुपये की बड़ी कमी थी। इन सब कारणों के अतिरिक्त विरोध का सबसे बड़ा कारण यह था कि गवर्नर-जनरल को आन्तरिक प्रबन्ध में पूर्ण अधिकार दे दिया गया था। अतः भारतीयों का यह विचार था कि कानून बनाना सदस्यों को मनोनीत करने तथा कालेजों को सम्बद्ध करने का अधिकार सरकार को देने का तात्पर्य था कि विश्वविद्यालयों को सरकार के हाथ में हस्तान्तरित कर देना। भारतीयों को इसका सन्देह था कि सम्भवतः ये कानून विश्वविद्यालय का अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही समाप्त कर देंगे और अन्य राजकीय विभागों की भाँति ये भी सरकार द्वारा ही संचालित होंगे।

विश्वविद्यालय कानून का मूल्यांकन

यह कानून विश्वविद्यालयों की उन्नति एवं भारतीयों की तुष्टि के लिए नहीं, अपितु उन पर अपना पूर्ण आधिपत्य लागू करने के लिये ही सरकार द्वारा बनाया गया था; यद्यपि सरकार इस बात का आश्वासन दिलाती थी कि इस कानून का एकमात्र उद्देश्य उच्च शिक्षा की सम्पूर्ण कठिनाइयों एवं दोषों को दूर करना ही था।

वास्तव में ये दोनों ही बातें सत्य नहीं थीं, क्योंकि इससे न तो उच्च शिक्षा को कोई हानि ही पहुँचाई गई और न कोई विशेष लाभ ही हुआ। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ। अब विश्वविद्यालयों का प्रशासन पहले से अधिक ठोस हो गया और सिनेट के सदस्य सरकार के पिट्ठू न होकर योग्य और कर्त्तव्य परायण होने लगे तथा निरीक्षण-व्यवस्था के कारण उनका मानदण्ड भी ऊँचा हो गया। यों तो अब कालेजों को अन्य कई सुविधाएँ प्राप्त हो गई थीं; जिन के कारण भी उनको अपने स्तर को ऊंचा करने तथा समस्याओं को सुलझाने का अवसर मिला था, परन्तु फिर भी विश्वविद्यालय कानून ने इन कालेजों के स्तर को ऊँचा करने, उन्हें प्रगतिशील एवं दृढ़ बनाने तथा कालेज के छात्रों में योग्यता उत्पन्न करने में अपूर्व सहयोग दिया था।

भारतीयों ने विश्वविद्यालय कानून का विरोध यह कह कर किया था कि इस कानून के द्वारा शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में भारतीय चेष्टाओं पर कुठाराघात किया जा रहा है। १६०४-१६१२ ई० तक कालेजों की संख्या में वृद्धि भी कम हुई।

परन्तु यह आशंका न्याय-संगत नहीं थी; क्योंकि इस अवधि में छात्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही और सन् १९१२ ई० के पश्चात् कालेजों की संख्या में भी वृद्धि हुई तथा ये सभी कालेज भारतीयों द्वारा ही संचालित थे। अतः विश्व-विद्यालय कानून पर यह लांछन लगाना सर्वथा अनुचित है।

सन् १९०४ ई० के पूर्व केवल पंजाब विश्वविद्यालय को ५० हजार रुपया वार्षिक सहायता मिलती थी, परन्तु इस कानून के फलस्वरूप सरकार विश्वविद्यालयों को नियमित वार्षिक अनुदान देने लगी। सन् १९०५ ई० में २५ लाख रुपए की स्वीकृति दे कर सरकार ने कहा कि पाँच विश्वविद्यालयों के लिए सरकार ५ वर्ष के लिए ५० लाख रुपये देगी तथा कालेजों के विकास एवं उन्नति के लिये भी रुपया दिया गया। भविष्य में यह रुपया नियमित रूप से दिया जाने लगा। इससे उच्च शिक्षा को काफी प्रोत्साहन मिला और यहीं से विश्वविद्यालय अनुदान का प्रारम्भ होता है।

यद्यपि इस कानून से विश्वविद्यालयों का प्रशासन और संगठन काफी सुधर गया और सम्बद्ध कालेजों की दशा भी अच्छी हो गयी, उनका स्तर काफी ऊँचा हो गया और आर्थिक सहायता भी नियमित रूप से मिलने लगी; परन्तु विश्वविद्यालयों की शैक्षिक दशा में कोई सुधार न हुआ। अब भी वही पुरानी परिपाटी चली आ रही थी। इस कानून ने प्रचलित दोषों को दूर करने का कोई प्रयास न किया। अब भी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में साहित्यिक विषयों को प्रधानता दी गई और जीवनोपयोगी विषयों का सर्वथा अभाव था। विश्वविद्यालयों के लिए छात्र तैयार करने वाले हाई स्कूलों की दशा पूर्ववत् रही। कालेजों और विश्वविद्यालयों में समन्वय न स्थापित हो सका और इस प्रकार लार्ड कर्जन की आशाएँ पूर्ण न हो सकीं। परन्तु लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालयों में सुधार के लिए जो आन्दोलन प्रारम्भ किया था, वह दृढ़तापूर्वक मन्थर गति से अपने निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए निरन्तर आगे बढ़ता गया। भारतीय विश्वविद्यालयों का वर्तमान रूप देने का प्रथम प्रयास लार्ड कर्जन ने ही किया था।

कालेजों में सुधार

कालेज विश्वविद्यालय के अंग थे। अतः उनका सुधार भी आवश्यक था। विश्वविद्यालय के नियम कठोर हो गए थे और उनका मानना कालेजों के लिए नितान्त आवश्यक था। अतः यह स्वाभाविक था कि इनका सर्वांगीण विकास हो। अब कालेजों ने प्रयोगशाला, रसायनशाला, पुस्तकालय, वाचनालय तथा छात्रावास की व्यवस्था की। इन व्यवस्थाओं के लिए उन्हें पर्याप्त धन की आवश्यकता थी।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए लार्ड कर्जन ने साढ़े १३ लाख रुपये दिए। यद्यपि यह अनुदान प्रान्त की जनसंख्या एवं गैरसरकारी कालेजों में शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की संख्या के आधार पर दी गई थी, फिर भी कालेजों में आशातीत सुधार हुए। प्रयोगशाला की व्यवस्था हो जाने के कारण विज्ञान का प्रायोगिक ज्ञान दिया जाने लगा और छात्रावास बन जाने के कारण छात्रों को अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो गईं, जिससे गुणात्मक शिक्षा में वृद्धि हुई।

कर्जन के शिक्षा सम्बन्धी अन्य सुधार

सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त कर्जन ने कृषि-शिक्षा, कला की शिक्षा, टेकनिकल शिक्षा, नैतिक शिक्षा और पुरातत्व विभाग को भी प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त उसने केन्द्रीय शिक्षा-विभाग का भी निर्माण कराया। इस प्रकार उसने सर्वांगीण शिक्षा के विकास पर जोर दिया।

कृषि-शिक्षा

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। फिर भी लार्ड कर्जन के आने के पहले तक कृषि-शिक्षा पर विशेष ध्यान न दिया गया था। केवल यत्र-तत्र ही कुछ कृषि-शिक्षा दी जाती थी। कुछ स्थानों पर कृषि-कालेजों का निर्माण हो चुका था; परन्तु वे व्यावहारिक ज्ञान देने में सर्वथा असमर्थ थे। इन कालेजों में कृषि-कार्यों में निपुण किसान एवं विशेषज्ञों के उत्पन्न करने की क्षमता न थी। कर्जन को ऐसी शिक्षा से बड़ा असन्तोष हुआ और उसने इन कृषि-कालेजों को उपयोगी ज्ञान देने, तथा कृषि-विशेषज्ञ उत्पन्न करने की क्षमता प्रदान करने के लिये निम्नांकित कार्य किए :—

१—कृषि-शिक्षा को जन-प्रिय बनाने तथा उसका प्रचार करने के लिए मिडिल तथा उच्च स्कूलों में कृषि एक मुख्य विषय रक्खा गया और उत्तम प्रकार से खेती करने के लिए किसानों को प्रशिक्षित करने के लिए कक्षाएँ खोली गईं।

२—लार्ड कर्जन ने यह निश्चित किया कि प्रत्येक प्रान्त में एक कृषि-कालेज स्थापित किया जाये और उसे पर्याप्त आर्थिक सहायता दी जाय तथा उसमें योग्य शिक्षकों और विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाय।

३—सभी प्रान्तों में कृषि-विभाग का निर्माण किया जाय और कृषि-शिक्षा सम्बन्धी सभी कार्य उसके ही उत्तरदायित्व में सौंप दिए जायें।

४—कृषि-शिक्षा के सुधार और अनुसंधान-कार्य के लिए बिहार प्रान्त में सूसा[1] नामक स्थान पर कृषि-गवेषण-शाला की स्थापना की गयी।

कला की शिक्षा

लार्ड कर्जन के भारत में आने के समय यहाँ कला की शिक्षा के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ चल रही थीं। कुछ लोगों का कथन था कि मद्रास, बम्बई, कलकत्ता और लाहौर में स्थित कला-विद्यालयों की शिक्षा से कोई लाभ नहीं, अतः इन्हें बन्द कर देना ही अच्छा है। दूसरी विचारधारा वाले लोगों का कथन था कि भारत में कला की शिक्षा आवश्यक है। अतः ये स्कूल बन्द न किए जायँ, अपितु इनमें सुधार कर दिये जायँ। कर्जन ने दोनों विचारधाराओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और कला की शिक्षा के लिए अधोलिखित आज्ञाएँ दीं :—

१—कला की शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयों को बन्द न किया जायगा और कला की शिक्षा पूर्ववत् जारी रक्खी जायगी।

२—इस शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक न हो कर भारतीय उद्योगकला को प्रोत्साहित करना ही रक्खा जाय।

३—कला-विद्यालयों में औद्योगिक कला की शिक्षा का सम्बन्ध वहीं के स्थानीय साधनों से होना आवश्यक समझा जाय।

४—कला की शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम में ऐसे विषय रखे जायँ जिनके द्वारा छात्र अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जीविकोपार्जन कर सकें।

५—कला की शिक्षा ऐसे कला-विशेषज्ञों द्वारा दी जाय जिनकी शिक्षा-दीक्षा भारतीय कला-विद्यालयों और कालेजों में हुई है।

६—अधिक विषयों की शिक्षा एक साथ ही न दी जाय। कुछ चुने हुए विषय ही पढ़ाए जायँ और उनमें छात्रों को विशेष योग्यता दी जाय।

७—कला-विद्यालयों में छात्रों से कुछ धन शुल्क के रूप में लिया जाय, परन्तु कुशाग्रबुद्धि एवं होनहार छात्रों को छात्रवृत्ति दी जाय तथा जब छात्र इस योग्य हो जायँ कि अच्छे सामान तैयार कर सकते हों तो उनको पारिश्रमिक दिया जाय।

८—न तो शिक्षाधिकारी इन कला-विद्यालयों को कारखाने में परिणित करें और न उनके साथ अधिक व्यापारिक सम्बन्ध ही स्थापित किया जाय।

१—अब यह कालेज उठकर दिल्ली चला आया है।

इन आदेशों के परिणामस्वरूप कला-विद्यालयों का उद्देश्य और कार्यक्रम निश्चित हो गया। कला की वह शिक्षा जो अभी तक दो भिन्न विचारधाराओं के बीच में पिस रही थी अब निश्चित मार्ग पर चल पड़ी, फिर भी वह सर्वथा दोष-शून्य न रही।

टेकनिकल शिक्षा

अब तक टेकनिकल शिक्षा-सम्बन्धी जितने भी प्रयास हुए थे, वे सभी राजकीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए ही हुए थे। परन्तु कर्जन ने टेकनिकल शिक्षा का उद्देश्य भारतीय उद्योगों का विकास ही रक्खा। कर्जन का विचार था कि विद्यालयों में टेकनिकल शिक्षा के विकास के लिए प्रायोगिक तथा सरल विषय रक्खे जायँ। छात्रों को ऐसी शिक्षा दी जाय, जिसे वे भविष्य में व्यवहार में ला सकें। ऐसी शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए यह आवश्यक था कि सरकार कुछ ऐसे भारतीयों को प्रशिक्षित करे जो इस दिशा में पथ-प्रदर्शन कर सकें। उस समय भारतीयों की ऐसी स्थिति न थी कि वे विदेशों में जाकर टेकनिकल शिक्षा ग्रहण कर सकें और भारत में ऐसी शिक्षापूर्ण रूप से विकसित न हो पायी थी। अतः कर्जन ने योग्य व्यक्तियों को छात्र-वृत्ति देकर टेकनिकल की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश भेजा।

नैतिक शिक्षा

इतिहास देखने के पता चलता है कि कम्पनी सरकार धार्मिक मामले में सदैव तटस्थ रहना चाहती थी। वह नहीं चाहती थी कि सामान्य विद्यालयों में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा दी जाय। भारतीय शिक्षा-आयोग ने विद्यालयों में नैतिक शिक्षा-सम्बन्धी किसी प्रारम्भिक पुस्तक के रखने का सुझाव रक्खा था, परन्तु लार्ड कर्जन ने इसका विरोध किया। उसका विचार था कि नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में किसी प्रकार की पुस्तक निर्धारित करने से कोई लाभ नहीं। नैतिकता का सम्बन्ध तो अन्तःकरण से है। पुस्तक निर्धारित करने का परिणाम यह होगा कि छात्र अन्य विषयों की भाँति इसे भी रट लेंगे। परन्तु इसका उन पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। अतः विद्यालयों में किसी भी प्रकार से नैतिक शिक्षा देनी उचित नहीं। नैतिकता का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में छात्रों पर पड़ना चाहिए। विद्यालयों का संगठन और जीवन ऐसा होना चाहिए कि उसकी छाप विद्यार्थियों पर पड़े और वे स्वयं नैतिक आदतें सीख जायँ। जब विद्यालय का संगठन, अनुशासन, अध्यापक, छात्रावास तथा दैनिक कार्य-क्रम सुन्दर होंगे तथा पाठ्यक्रम में उत्तम जीवनचरित्रों का समावेश रहेगा तो इनका प्रभाव छात्रों पर अनायास ही पड़ेगा। इसके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। परन्तु लार्ड कर्जन धर्म-प्रचारकों को सुविधा देना चाहता था। अतः वह गैरसरकारी संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के पक्ष में था।

केन्द्रीय शिक्षा-विभाग का निर्माण

सन् १८५४ ई० के सन्देश-पत्र के आदेशानुसार लगभग सभी प्रान्तों में शिक्षा-विभाग का निर्माण हो गया था। परन्तु केन्द्रीय सरकार को शिक्षा-सम्बन्धी सुझाव एवं परामर्श देने के लिए कोई ऐसी संस्था न थी और न कोई अधिकारी था। अतः लार्ड कर्जन ने एक ऐसे अधिकारी की नियुक्ति की। उसने सुधार-निरीक्षक संचालक का एक नया पद निर्धारित किया और एच० डब्लू० लारेन्स इस पद पर नियुक्त किए गये। इस केन्द्रीय शिक्षा-विभाग का निर्माण कर लार्ड कर्जन ने भारतीय शिक्षा को बड़ा लाभ पहुँचाया।

पुरातत्व विभाग[१]

भारतीय स्मारकों के प्रति कर्जन की बड़ी आस्था थी। अतः इनके संरक्षण के लिए उसने पुरातत्व विभाग की स्थापना की और सन् १९०४ ई० में प्राचीन स्मारक संरक्षण कानून भी बना। इस कानून के बन जाने से स्मारक सुरक्षित रखे जा सके।

भारतीय शिक्षा को लार्ड कर्जन की देन

लार्ड कर्जन के उपकारों को भारतीय शिक्षा का इतिहास कभी भुला नहीं सकता। इसके समय में भारतीय शिक्षा के इतिहास को एक ऐसी प्रेरणा मिली कि वह निरन्तर आगे बढ़ती गई और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो सकी। उच्च और विश्वविद्यालयों की शिक्षा के क्षेत्र में कर्जन योग्यता चाहता था, और इसी लिए गुणात्मक उन्नति पर उसने विशेष जोर दिया। केवल यही नहीं, अपितु उसने भविष्य में विकास के लिए सुगम और सरल मार्ग भी बताया। प्राथमिक शिक्षा में उसने संख्यात्मक उन्नति पर जोर दिया और कृषि-शिक्षा के प्रायोगिक ज्ञान पर जोर देकर भारतीय कृषकों की सिद्धान्ततः सहायता की। केन्द्रीय शिक्षा-विभाग खोलकर केन्द्रीय सरकार का भी निरीक्षण की ओर ध्यान दिलाया तथा पुरातत्व विभाग का निर्णाण करके भारत के सांस्कृतिक कोष के लिए अत्यन्त सराहनीय कार्य किया। भारतीय भाषाओं की शिक्षा पर भी उसने जोर दिया। फलतः ये भी विकास के पथ पर बढ़ीं। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है :—लार्ड कर्जन ने भारतीय शिक्षा के सभी अंगों पर ध्यान दिया और उन्हें विकास के मार्ग पर लाने का भरसक प्रयत्न किया।

---

१. Department of Archaeology.

आज भारतवर्ष एक स्वतंत्र देश है और गाँधी जी के पदचिह्नों पर चलकर विश्व-शान्ति और विश्व-बन्धुत्व स्थापित करना चाहता है। अब भारत लार्ड कर्जन की उन बातों को, जिसको उसने ब्रिटिशसत्ता को सुदृढ़ बनाने के हेतु किया था, भूल चुका है और वह उसके दोषों की ओर आँख बन्द कर केवल उन्हीं बातों पर दृष्टिपात करना चाहता है जिसको उसने भारतीयों के हित के लिए किया। डा० अमरनाथ झा ने कहा था कि लार्ड कर्जन ने हमारे स्मारकों का संरक्षण कर हमारी शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाया है। अपनी उपलब्धियों के कारण कर्जन भारतीय स्मृति में सदा जीवित रहेगा और भारतीय उसके प्रति सदैव उच्च विचार रखेंगे।

परन्तु अन्त में हमें यह कहना ही पड़ता है कि यद्यपि लार्ड कर्जन एक धुरन्धर विद्वान, प्रतिभावान, कर्तव्यनिष्ठ, अध्यव्यवसायी एवं अपूर्व क्षमता वाला व्यक्ति था। तथापि वह भारतीय आत्माओं को तथा उनकी भावनाओं को पहचान न सका और यही कारण है कि वह भारतीयों का विश्वासपात्र न बन सका।

सारांश

लार्ड कर्जन पाश्चात्य सभ्यता का पूर्ण पक्षपाती था और केवल संरक्षण ही नहीं अपितु उसका पूर्ण विस्तार भी चाहता था। यद्यपि उसने भारत के समस्त विभागों का अध्ययन किया और सुधार करने का प्रयत्न किया, परन्तु अपने सुधारों का फल देखने का अवसर उसे प्राप्त न हो सका।

लार्ड कर्जन के भारत आने के समय यहाँ राष्ट्रीयता की लहर तीव्र गति से दौड़ रही थी और भारतीयों को भारत की प्रत्येक वस्तु के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था। लार्ड कर्जन ने आते ही शिमला में शिक्षा-अधिवेशन बुलाया, जिसमें केवल शिक्षा-संचालकों को ही बुलाया गया और शिक्षा-नीति निर्धारित की गई।

प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन गुणात्मक और संख्यात्मक दोनों प्रकार की उन्नति चाहता था। वह मातृभाषा को माध्यम बनाने का पक्षपाती था। गुणात्मक उन्नति के लिए उसने पाठ्यक्रम में सुधार किये। शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की तथा शिक्षा-अनुदान-पद्धति में सुधार किया।

भारतीय शिक्षा-आयोग के सुझावों के फलस्वरूप माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई थी। परन्तु कतिपय दोष भी आ गए थे। अतः सुधारों की आवश्यकता थी। कर्जन ने मान्यता प्राप्त करने के लिए कड़ी शर्तें बनाईं और अब इनको विश्वविद्यालयों से स्वीकृति लेनी आवश्यक थी। इसके लिए सरकार ने

उन्हें आर्थिक तथा अन्य सुविधाएँ दीं। अब कोई भी विद्यालय बिना मान्यता प्राप्त किए नहीं चल सकता था, क्योंकि अमान्य विद्यालयों के छात्र प्रवेशिका-परीक्षा में नहीं सम्मिलित हो सकते थे और न मान्यता प्राप्त विद्यालयों में प्रवेश ही ले सकते थे। विद्यालयों की गुणात्मक उन्नति पर काफी जोर दिया गया।

माध्यमिक विद्यालयों में मातृभाषा को माध्यम बना कर लार्ड कर्जन ने इसे भी विकास का अवसर प्रदान किया।

भारतीय विश्वविद्यालयों में अनेक दोष आ गए थे। अतः इन दोषों को दूर करने के लिए उनकी जाँच आवश्यक थी। लार्ड कर्जन ने इनकी स्थिति का ठीक-ठीक पता लगाने तथा सुधार के लिए उपाय बताने के लिए सन् १६०२ ई० में एक कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन ने विश्वविद्यालयों के पुनर्संगठन, पाठ्यक्रम, शिक्षण-व्यवस्था तथा छात्रावास सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव रक्खे। परन्तु आयोग के इन सुझावों का तात्पर्य पुरानी प्रणाली को सुदृढ़ बनाने के अतिरिक्त और कुछ न था।

सन् १६०२ ई० के सुझावों के आधार पर ही सन् १६०४ ई० में विश्वविद्यालय कानून बना और इसके अनुसार विश्वविद्यालयों के सदस्यों की संख्या निश्चित कर दी गई, तथा सरकार को भी विश्वविद्यालय के लिए कानून बनाने का अधिकार मिल गया। इन कानूनों से भारतीय विश्वविद्यालयों में काफी सुधार हो गए। फिर भी भारतीयों को इससे बड़ा असन्तोष रहा।

कर्जन ने कालेजों में भी सुधार की आवश्यकता का अनुभव किया और उसके लिए काफी धन दे कर इन्हें अपनी अवस्था सुधारने का अवसर प्रदान किया। अब इनमें प्रयोगशाला, छात्रावास, पुस्तकालय और वाचनालय बन गए तथा विद्यार्थियों को प्रायोगिक और व्यवहारिक ज्ञान भी दिया आने लगा।

छात्रों को कृषि-शिक्षा का व्यावहारिक ज्ञान मिलने लगा और ऐसी शिक्षा की उन्नति के लिए बिहार में केन्द्रीय गवेषणशाला तथा अन्य स्थानों पर कई कालेज स्थापित किए गए।

कला-विद्यालयों को भी जारी रहने की आज्ञा मिली और उनको प्रोत्साहन देने के लिए धन दिया गया।

अभी तक टेकनिकल शिक्षा सम्बन्धी जितने भी प्रयास हुए थे वे राजकीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए थे। परन्तु अब उनका उद्देश्य भारतीय उद्योगों का

विकास रखा गया और उच्च कोटि की टेकनिकल शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र वृत्तियाँ दे कर कुछ लोगों को विदेश भेजा गया ।

लार्ड कर्जन ने पुरातत्व विभाग स्थापित कर स्मारकों का संरक्षण किया और केन्द्रीय शिक्षा-विभाग स्थापित कर केन्द्रीय सरकार को भी शिक्षा पर विचार करने एवं धन व्यय करने के लिए वाध्य किया । कर्जन नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में पाठ्य पुस्तक रखने के पक्ष में न था । उसके अनुसार नैतिकता का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से बालकों पर पड़ना चाहिए ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. लार्ड कर्जन ने भारतीय शिक्षा में सुधार करने की क्या-क्या योजनाएँ बनाईं तथा उनके प्रति भारतीयों में क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई ?

२. 'भारतीयों को जितनी प्रसन्नता लार्ड कर्जन के आने पर हुई थी उतनी ही प्रसन्नता चले जाने पर भी हुई' इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए ।

३. 'लार्ड कर्जन की शिक्षा-नीति का एक मात्र उद्देश्य ब्रिटिश सत्ता को सुदृढ़ बनाना ही था' इसे सप्रमाण सिद्ध कीजिए ।

अध्याय ३२

स्वदेशी आन्दोलन और शिक्षा-प्रगति (१९०५-१९२०)

कर्जन के पश्चात् भारतीय शिक्षा की दशा

लार्ड कर्जन के चले जाने के पश्चात् उसके कुछ कार्य भारतीयों के हृदय में खटकते रहे। उसके बाद सभी शासकों ने उदारता की नीति बरतनी प्रारम्भ कर दी, परन्तु कर्जन के प्रति बुरी भावनाओं को भारतीयों के हृदय से वे पूर्ण रूप से न मिटा सके। मिन्टो-मार्ले के सुधारों के फलस्वरूप अब भारतीयों को कुछ अधिक अधिकार और सुविधायें प्राप्त हो गई थीं और भारतीय नेता विधायक सभा में भी जाने लगे थे और वह काफी सुदृढ़ होती जा रही थी। सरकार गुणात्मक उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थी और विद्यालयों पर कठोर नियंत्रण करती जा रही थी। भारतीय जनता इसका विरोध कर रही थी, परन्तु परवर्ती शासकों की उदारनीति के कारण उनके हृदय कुछ स्निग्ध हो गए थे। अतः यह आन्दोलन बहुत विराट रूप न धारण कर सका, तथापि सरकार को शिक्षा संबंधी कार्यों में भारतीयों का सहयोग न प्राप्त हो सका।

लार्ड कर्जन की शिक्षा-नीति से राष्ट्रीय नेताओं को भी बड़ा असन्तोष हुआ था, क्योंकि उसकी शिक्षा-नीति राजनीति से पूर्णरूपेण प्रभावित था। उसी समय कुछ घटनायें ऐसी हुई थीं जिनसे भारतीयों में राष्ट्रीयता की एक तेज लहर दौड़ गई थी और उन्हें नई प्रेरणा मिली थी। सन् १९०५ ई० में फारस में स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना हो चुकी थी तथा चीन और टर्की के आन्दोलन भी सफलता की ओर बढ़ते जा रहे थे। रूस और जापान के युद्ध में जापान को सफलता मिली थी। अतः यह सिद्ध हो गया था कि एशिया की सभ्यता संसार में किसी से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। भारतीय इन विजयों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने सोचा कि भारत भी सब कुछ करने में समर्थ है। भारतीयों के मन में जापानी शिक्षा-पद्धति जानने के प्रति उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई और तत्संबंधी एक विज्ञप्ति भी भारत में प्रकाशित हुई। जापानी शिक्षा-प्रणाली के प्रति अपूर्व अनुराग के कारण कई भारतीय जापानी शिक्षा ग्रहण करने के लिए जापान भी गये। जिस समय जापानी शिक्षा-प्रणाली के प्रति ऐसा अनुराग उत्पन्न हो चुका था उसी समय कलकत्ता में सरकार की ओर से जापान की शिक्षा-प्रणाली नामक एक रिपोर्ट और प्रकाशित की गई।

इन भावनाओं ने भारतीयों के मन में उथल-पुथल मचा दी और वे भी भारतीय शिक्षा के सुधार की माँग करने लगे। इसके अतिरिक्त उस समय बंगाल-विभाजन-आन्दोलन भी अपनी चरम सीमा को छू रहा था।

आन्दोलन का प्रभाव

अब भारतीयों में राष्ट्रीय भावना की लहर बड़े वेग से बह रही थी। देश के बड़े-बड़े नेता स्वदेशी वस्तुओं का ही प्रयोग चाहते थे। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कर देने से देश में ऐसी शिक्षा की आवश्यकता थी जो इन वस्तुओं की पूर्ति कर सके। कहने का तात्पर्य यह है कि अब औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था और अब भारतीयों को ऐसी शिक्षा की आवश्यकता थी जो राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हो। उपर्युक्त दोनों प्रकार की शिक्षा की पूर्ति के लिए बड़े-बड़े नेताओं ने 'बंगाल राष्ट्रीय शिक्षा परिषद' नाम की एक संस्था स्थापित की। इस राष्ट्रीय परिषद ने शिक्षा के लिए एक व्यापक, उदार एवं जीवनोपयोगी शिक्षा की रूपरेखा तैयार की। इस रूपरेखा में प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय की शिक्षा तक के सभी प्रश्नों पर ध्यान दिया गया और इसमें सुधार करने की इच्छा प्रकट की गई। शिक्षा परिषद ने कलकत्ता में एक नेशनल कालेज का निर्माण कराया और श्री अरविन्दु इसके प्रथम प्रिंसपल नियुक्त किए गए। इसके अतिरिक्त कलकत्ता में एक टेकनिकल इंस्टीट्यूट की स्थापना की गई जो आगे चलकर जादवपुर कालेज आफ टेकनालोजी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता गुरुदास बनर्जी, डा० रवीन्द्र नाथ ठाकुर तथा रासबिहारी घोष थे। इन लोगों के प्रयत्नों के फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में बहुत सा धन एकत्रित हो गया और सम्पूर्ण बंगाल में अनेक विद्यालयों की स्थापना की गई, जिनमें मातृभाषा द्वारा राष्ट्रीय शिक्षाप्रदान की जाती थी। देश के अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार की शिक्षा के लिए स्कूलों और कालेजों का निर्माण किया गया और अब भारत के पुनरुत्थान की आशा दिखाई पड़ने लगी। देश का बच्चा-बच्चा, राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हो उठा। यही नहीं, अपितु प्राचीन भारत की गौरव-गाथा स्मरण कराने एवं संस्कृत को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए मथुरा, वृन्दावन एवं हरिद्वार में गुरुकुलों की स्थापना हुई और उनमें वैदिक मंत्रों की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ने लगी।

एक ओर वैदिक मंत्रों की कर्णप्रिय ध्वनि सुनाई पड़ती थी, तो दूसरी ओर शान्ति निकेतन प्राच्य संस्कृति के उत्थान के लिए प्रयत्नशील था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार के समक्ष गोपाल कृष्ण गोखले भारतीयों का प्रतिनिधित्व कर सुधार

की माँग कर रहे थे। परन्तु ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आन्दोलन शिथिल पड़ता गया, साथ ही साथ राष्ट्रीय विद्यालय भी विलीन होते गए। पर सभी परिस्थितियों का टक्कर ले कर जादवपुर टेकनिकल इंस्टीट्यूट जीवित रह कर आज भी उसकी याद दिलाता है।

जिस समय देश में ऐसी परिस्थितियाँ काम कर रही थीं उसी समय यहाँ के उच्च शिक्षा प्राप्त किए हुए कुछ मुसलमानों ने १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना की। इस लीग को पनपने का अवसर भी अच्छा मिल गया क्योंकि लार्ड कर्जन के उत्तराधिकारी लार्ड मिन्टो ने आते ही हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने का प्रयत्न किया और साम्प्रदायिकता का विनाशकारी बीज बो दिया। इस विषैली नीति के कारण मुसलमानों ने अपने लिए अलग स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों की स्थापना की माँग की। इतना ही नहीं वरन् मुसलमानों ने राजकीय विद्यालयों में अपने लिए अलग स्थान सुरक्षित कर देने की माँग रक्खी। इस प्रकार शिक्षा में साम्प्रदायिकता का श्री गणेश हुआ जिससे भविष्य में बड़े भयानक परिणाम दिखाई पड़े। मिन्टो-मार्ले सुधार में भी तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और शिक्षा संबंधी प्रश्नों पर विचार किया गया था।

गोखले का विधेयक[१]

राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप जनता में काफी जागृति आ गई थी और शिक्षा की माँग बराबर बढ़ती जा रही थी। भारतवर्ष की जनसंख्या भी बढ़ रही थी। सन् १९०४ ई० के पश्चात् प्राथमिक शिक्षा में पर्याप्त प्रसार भी हुआ था। परन्तु फिर भी वह जनता की माँग को पूरी न कर सकती थी। उस समय लगभग २३·८ प्रतिशत बालक तथा २·७ प्रतिशत बालिकायें स्कूल जाते थे और कुल छः प्रतिशत साक्षरता थी। गोखले ने जनता को काफी उत्साहित किया था। उन्होंने बताया कि कोई भी देश शिक्षा बिना उन्नति नहीं कर सकता। आज संसार में सभी देश विकास की ओर बढ़ रहे हैं। ऐसी दशा में भारत को भी आगे बढ़ना है। इसलिए उन्होंने सरकार से अनिवार्य और निःशुल्क प्रायमरी शिक्षा की माँग की। बड़ौदा के महाराज ने सन् १९०६ ई० में अपने सम्पूर्ण राज्य में अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा का श्री गणेश कर दिया था। अतः अन्य राज्यों की भी जनता उत्सुक हो उठी। १९ मार्च सन् १९१० ई० को गोखले ने इम्पीरियल परिषद में प्रस्ताव रक्खा कि परिषद चाहती है कि निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ कर दी जावे

१. Gokhale's Resolution.

और राजकीय और गैरसरकारी अधिकारियों का एक आयोग नियुक्त किया जाय जो इस सम्बन्ध म निश्चित प्रस्ताव उपस्थित करे।[1]

गोखले ने प्रस्ताव रक्खा कि उन क्षेत्रों में जहाँ ३३ प्रतिशत लड़के पहले से ही शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, १० वर्ष तक के लड़कों के लिए शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क कर दी जाय। जहाँ तक व्यय का संबंध है वहाँ जितना रुपया जनता दे उसका दुगुना सरकार दे। गोखले ने यह भी सुझाव रक्खा कि बजट में यह भी बताया जाय कि शिक्षा में कितनी प्रगति हुई है। इसके अतिरिक्त गोखले ने यह भी प्रस्ताव रक्खा कि शिक्षा के लिए एक मंत्री नियुक्त किया जाय। इस प्रस्ताव को देख कर सरकार ने बड़े-बड़े आश्वासन दिए। अतः गोखले ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। सरकार के आश्वासनों के कारण जनता की आशा थी कि शिक्षा में संतोषजनक प्रगति होगी, परन्तु जनता की ये आशायें पूरी न हो सकीं। शिक्षा विभाग तो स्थापित हो गया, परन्तु शिक्षा केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत न हो सकी।

देश की प्राथमिक शिक्षा-प्रणाली में अनिवार्यता के सिद्धान्त का श्री गणेश करने के लिए गोखले ने १६ मार्च सन् १९११ ई० को अपना विधेयक रक्खा। अभी तक प्राथमिक शिक्षा का विस्तार बहुत कम हुआ था। इसीलिए गोखले ने यह प्रस्ताव रक्खा था कि जिन क्षेत्रों में बालक और बालिकायें पहले से ही अधिक संख्या में स्कूल जाते हों वहाँ यह नियम लागू किया जाय। अब प्रश्न यह था कि बालकों की संख्या कितनी हो। इसके लिए गोखले ने यह बताया था कि इस प्रतिशत को निश्चित करने का अधिकार गवर्नर जनरल की कौन्सिल को होगा। इस अधिनियम को लागू करने का अधिकार स्थानीय बोर्डों को भी होगा, परन्तु उनको पहले से ही सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ेगी। अब ६ से १० वर्ष के बच्चों को पाठशाला भेजना अनिवार्य कर दिया गया और इन नियमों का उल्लंघन करने वालों को दंड दिया जाता था। स्थानीय संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था के लिए शिक्षा-कर लगाया गया तथा वे सरकार से सहायता प्राप्त कर सकती थीं। उन दिनों आयरलैंड में शिक्षा का पूर्ण व्यय सरकार वहन करती थी और इंगलैंड में प्रारम्भिक शिक्षा व्यय का $\frac{2}{3}$ भाग तथा स्काटलैन्ड में $\frac{2}{3}$ से भी अधिक भाग सरकार व्यय करती थी। अतः गोखले ने यह प्रस्ताव रक्खा और आशा प्रकट की कि भारत में भी कम से कम $\frac{2}{3}$ भाग

---

१. That a beginning be made in the direction of making elementary education free and compulsory throughout the country, and that a mixed commission of officials and non-officials be appointed at an early date to frame definite proposals.—Gokhale's Speeches (1920 Edition) p. 608-9

सरकार स्वयं दे। इस प्रकार गोखले ने अनिवार्य शिक्षा का प्रस्ताव रखकर सरकार से एक महत्त्वपूर्ण अनुरोध किया। इसमें गोखले ने बड़े विनम्र भाव का प्रदर्शन किया था। परन्तु दुर्भाग्यवश यह विधेयक भी पास न हो सका, क्योंकि जब इस पर वोट लिया गया तो केवल १३ वोट पक्ष में और ३८ विपक्ष में आये। राज्य कर्मचारियों ने तो इसके विपक्ष में वोट दिया ही; परन्तु पुराने जमीनदारों ने भी अंग्रेजी सरकार को प्रसन्न करने के लिए इसके विपक्ष में ही वोट दिया। इस प्रकार भारतीय शिक्षा के इस अहित का दायित्व अधिकांशतः भारतीयों पर ही था। सरकार ने कहा कि यह योजना समय से आगे की है तथा शिक्षा को अनिवार्य बनाने में अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। स्थानीय संस्थायें इसके लिए कर नहीं लगा सकती हैं और कुछ लोग इसका विरोध भी करते हैं। यद्यपि वे अल्प संख्या में हैं, परन्तु वे शिक्षा के मर्म को समझते हैं और काफी शिक्षित हैं। अनिवार्य शिक्षा के संबंध में शासन में भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। प्रान्तीय सरकारें इसके पक्ष में बिल्कुल नहीं हैं। सर हार्टकोर्ट बटलर ने कहा कि भारत अभी ऐसे सुधारों के लिए तैयार नहीं। परन्तु जब गोखले ने अपनी बुद्धि से इन सभी तर्कों को काट दिया तो सरकार के समक्ष इधर-उधर की निराधार बातें कहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इस प्रकार पराजय होते हुए भी यह भारतीयों की एक विजय थी।

गोखले के इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि सरकार उनकी कुछ बातों को प्रयोग में लाने लगी, क्योंकि अब वह समझ गई थी कि भारतीय अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का अनुभव कर रहे हैं और ब्रिटिश सरकार के लिए यही कल्याणकारी होगा कि वह कुछ बातों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न करे। अतः सन् १९१२ ई० में सीमान्त प्रान्त में निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा का श्री गणेश कर दिया गया। अन्य प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा के लिए केवल नाममात्र धन शुल्क के रूप में दिया जाता था। तथापि प्राथमिक शिक्षा की प्रगति कुछ आगे बढ़ी और थोड़े ही दिनों में विद्यालयों एवं छात्रों में काफी संख्यात्मक वृद्धि हुई, क्योंकि इतना शुल्क अभिभावक दे सकते थे।

भारत सरकार की १९१३ ई० की शिक्षा-नीति

एडवर्ड सप्तम की मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र प्रिन्स आफ वेल्स गद्दी पर बैठे। इसके थोड़े ही दिनों पश्चात् १२ दिसम्बर सन् १९११ ई० को सम्राट और सम्राज्ञी भारत आए और दिल्ली में एक शानदार जलसा किया गया। दिल्ली दरबार में भारतीय शासन में अनेको परिवर्तन किए गए। कई प्रान्तों को मिला कर एक प्रान्त बनाया गया। बंग-विच्छेद को मिटाकर पुनः संयुक्त कर दिया गया और भारतीयों की शिक्षा के लिए १ लाख रुपया दिया गया। गोखले के विधेयक को

देखकर सरकार समझ चुकी थी कि उसे अपनी नीति को बदलने की आवश्यकता है। अतः शिक्षा की दशा का पूर्ण अध्ययन करने के हेतु २१ फरवरी सन् १६१३ ई० को सरकार ने शिक्षा-नीति पर अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया जिसकी मुख्य-मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं :—

१. विश्वविद्यालयों में सुधार की आवश्यकता है, क्योंकि ये अभी तक केवल परीक्षा-संस्थायें ही बने हुए हैं जब कि लन्दन विश्वविद्यालय जो कि इनका आदर्श है बड़ी तीव्र गति से प्रगति कर रहा है और केवल परीक्षा-संस्था ही न रह कर शिक्षण-व्यवस्था भी कर चुका है।

२. विश्वविद्यालयों में विस्तार किया जाय और लगभग हर प्रान्त में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय, क्योंकि केवल ५ विश्वविद्यालय और १८५ कालेज देश की आवश्यकता की पूर्ति में सर्वथा असमर्थ हैं।

३. विश्वविद्यालयों में अनुसंधान और औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय और साथ ही साथ हाई स्कूल की मान्यता प्रदान करने का अधिकार इनसे ले लिया जाय।

४. शिक्षण-कार्य करने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापना पर अधिक जोर दिया जाय।

५. विश्वविद्यालयों में छात्रावासों की व्यवस्था की जाय तथा प्रत्येक विश्व-विद्यालय में एक समृद्ध पुस्तकालय होना चाहिए।

६. माध्यमिक शिक्षा के संबंध में यह प्रस्ताव रक्खा गया कि माध्यमिक शिक्षा से सरकार ने अपना हाथ पूर्ण रूप से खींच लिया है यह ठीक नहीं है। सरकार को माध्यमिक शिक्षा में पूर्ण सहयोग देना चाहिए।

७. आदर्श स्कूल ऐसे ही बने रहें, तथा सरकारी स्कूलों की संख्या में वृद्धि न की जाय, अपितु व्यक्तिगत विद्यालयों को पर्याप्त सहायता देकर प्रोत्साहित किया जाय।

८. माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम तथा परीक्षा-विधि में सुधार किया जाय।

९. लोअर प्राइमरी स्कूलों में विस्तार के साथ-साथ प्रकृति-निरीक्षण, शारीरिक व्यायाम, ड्राइंग तथा गाँव का नक्शा पढ़ाने की व्यवस्था की जाय।

१०. अपर प्राइमरी स्कूलों की संख्या में वृद्धि की जाय और यदि आवश्यकता पड़े तो लोअर प्राइमरी को विकसित कर अपर प्राइमरी में परिवर्तित कर दिया जाय।

११. ग्रामीण और नगर के विद्यालयों में भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रमों का रक्खा जाना तो सम्भव नहीं है, परन्तु शहर के विद्यालयों में भूगोल और पर्यटन इत्यादि बढ़ाए जा सकते हैं।

१२. अध्यापकों की पदोन्नति, पेन्शन, प्राविडेन्ट फंड की व्यवस्था की जाय और दीक्षित अध्यापकों को कम से कम १२ रुपया मासिक वेतन दिया जाय।

१३. प्रायः उसी वर्ग के शिक्षकों को नियुक्त किया जाय जिनके बालक हों।

१४. प्राइमरी स्कूल के शिक्षकों की योग्यता के संबंध में सिफारिश की गई कि वे कम से कम मिडिल पास हों और एक साल की दीक्षा ले चुके हों।

१५. ग्रीष्मावकाश में अध्यापकों को अपना ज्ञान नवीन करने के लिए अल्प-कालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए।

१६. एक अध्यापक को ५० बालकों से अधिक पढ़ाने के लिए न दिए जायँ। साधारणतः उनकी संख्या ३०-४० होनी चाहिए।

१७. मकतब और पाठशालाओं को सहायता प्रदान करते समय उदारता की नीति अपनायी जाय।

१८. मिडिल और वर्नाक्यूलर विद्यालयों की संख्या में वृद्धि की जाय और उनकी दशा में सुधार किया जाय।

१९. विद्यालयों के पास निजी भवन होने चाहिए और वे स्वच्छ तथा बड़े हों और इसके साथ ही साथ थोड़े ही धन में तैयार हो जाने वाले हों।

२०. इस प्रस्ताव में प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के अतिरिक्त स्त्री-शिक्षा की ओर भी संकेत किया गया। इसमें बताया गया कि बालिकाओं के लिए ऐसा पाठ्यक्रम तैयार किया जाय जो प्रायोगिक तथा जीवनोपयोगी हो। उनकी परीक्षा को अधिक महत्त्व न दिया जाय। इसके अतिरिक्त अध्यापिकाओं और निरीक्षिकाओं की संख्या में काफी वृद्धि की जाय।

मूल्यांकन

उपरोक्त सिफारिशों से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के ही साथ उच्च शिक्षा के भी प्रकार एवं विस्तार पर ध्यान दिया गया। वास्तव में सन् १९१३-२१ ई० की अवधि में माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में तीव्र प्रगति हुई तथा शिक्षा का सर्वांगीण विकास दिखाई पड़ता है। इसका श्रेय इन्हीं सिफारिशों को है। दुर्भाग्यवश सन् १९१४ ई० में प्रथम महा विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया और बहुत-सी सिफारिशें केवल कागज पर ही बनी रह गईं और वे कार्यान्वित न हो सकीं। इस युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् कलकत्ता विश्वविद्यालय की दशा में सुधार के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया।

कलकत्ता विश्वविद्यालय-कमीशन[1], सन् १९१७-१९

सन् १९१७ ई० तक योरोप में शान्ति स्थापित हो चुकी थी और अब युद्ध से अवकाश मिल गया था। अतः अब लोगों का ध्यान शिक्षा ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकर्षित हुआ। उस समय तक शिक्षा में अनेक दोष उत्पन्न हो गए थे और उनका सुधार आवश्यक था। कलकत्ता विश्वविद्यालय की परिस्थितियों की जाँच करने के लिए भारत सरकार ने भी एक आयोग नियुक्त किया। इस विश्वविद्यालय की परिस्थितियों की जाँच के लिए भारत सरकार ने सन् १९१४ ई० में ही प्रयत्न किए थे, परन्तु विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो जाने एवं कमीशन के अध्यक्ष लार्ड हैल्डन की अस्वीकृति के कारण वह लगभग तीन वर्षों के लिए स्थगित कर दिया गया।

चित्र नं० २६—आसुतोष मुकर्जी

युद्ध की समाप्ति पर भारत सरकार ने एक छोटा किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली आयोग नियुक्त किया जिसके अध्यक्ष प्रसिद्ध शिक्षा-मर्मज्ञ सीड्स विश्वविद्यालय के कुलपति माइकेल सैडलर[2] नियुक्त हुए। इसके अतिरिक्त डा० ग्रेगरी, प्रोफेसर रैमजेम्यूर और, सर हर्टांग, श्री हार्वेट, डा०जियाउद्दीन अहमद तथा सर आसुतोष मुकर्जी

---

१. The Calcutta University Commission (1917-19).

२. Dr. (Later sir) M. E. Sadler.

इसके सदस्य थे। कहा जाता है कि सर आसुतोष मुकर्जी के विचारों ने कमीशन को बहुत प्रभावित किया और इसका परिणाम यह हुआ कि आयोग की बहुत-सी सिफारिशें उनके ही मतानुसार की गई।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि यह आयोग कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए नियुक्त किया गया था, परन्तु इसे अधिकार दिया गया था कि यह अन्य विश्वविद्यालयों की भी जाँच करे। यह आयोग १४ सितम्बर सन् १९१७ ई० को नियुक्त किया गया था और मार्च १९१९ ई० में इसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह रिपोर्ट बड़ी विस्तृत और व्यापक है। यद्यपि यह केवल कलकत्ता विश्वविद्याल के लिए था, परन्तु इसकी महत्त्वपूर्ण सिफारिशें अन्य विश्वविद्यालयों के लिए भी उपयोगी थीं। यह महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट १३ भागों में प्रकाशित की गई। आयोग ने माध्यमिक, कालेजीय तथा विश्वविद्यालय की रचनात्मक शिक्षा के लिए सिफारिशें कीं। आयोग ने बताया कि विश्वविद्यालय की शिक्षा की आधार माध्यमिक शिक्षा है। अतः इसकी विवेचना भी आवश्यक है। इसलिए आयोग ने उस पर भी पूर्ण ध्यान दिया और भारतीय विश्वविद्यालयों के संगठन, कार्य और रूप के लिए बहुत से महत्त्वपूर्ण सुझाव रक्खे। नीचे हम इन सुझावों का विवरण देने जा रहे हैं :—

माध्यमिक शिक्षा के दोष

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के निम्नांकित दोष बताकर उसके सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव रक्खे। उसके अनुसार माध्यमिक शिक्षा के निम्नांकित दोष थे :—

१. माध्यमिक विद्यालयों में उचित और उपयोगी साधनों का सर्वथा अभाव है।

२. माध्यमिक शिक्षा एकांगी तथा संकुचित है, क्योंकि सार्वजनिक परीक्षाओं का गहरा प्रभाव है।

३. शिक्षा का स्तर काफी गिर चुका है और माध्यमिक शिक्षालयों में अत्यन्त निम्नकोटि की शिक्षा दी जाती है।

४. समय-समय पर उपयोगी सुझावों तथा निरीक्षण का सर्वथा अभाव है।

५. माध्यमिक विद्यालयों के लिए उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण विषयों को इन्टरमीडिएट कक्षाओं में पढ़ाया जाता है। यदि इन विषयों को माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ाया जाता तो काफी लाभ होता।

आयोग की दृष्टि में माध्यमिक विद्यालयों की इस शिक्षा में न तो माध्यमिक विद्यालयों की आवश्यकता की पूर्ति करने की क्षमता थी और न वह विश्वविद्यालयों

के लिए छात्रों को ही तैयार कर सकती थी। अतः आयोग ने इसमें सुधार के लिए निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किए।

माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी सिफारिशें

१. विश्वविद्यालयों में प्रवेश की योग्यता इन्टरमीडिएट शिक्षा रक्खी जाय न कि हाई स्कूल। इन्टरमीडिएट कक्षाओं को विश्वविद्यालयों से अलग कर बी० ए० का पाठ्यक्रम ३ वर्ष का कर दिया जाय।

२. इन्टरमीडिएट कालेजों की स्थापना की जाय और इनको कुछ विशिष्ट हाई स्कूलों से संलग्न रक्खा जाय या इन्हें स्वतंत्र रूप में संचालित रक्खा जाय।

३. इन कालेजों में कला, विज्ञान, वाणिज्य, शिक्षकों के प्रशिक्षण, इंजीनियरिंग तथा कृषि और चिकित्सा की शिक्षा दी जाय।

४. प्रत्येक प्रान्त में हाई स्कूल और इन्टरमीडिएट बोर्ड का संगठन किया जाय। इन बोर्डों की प्रबंध-समिति में हाई स्कूल, इन्टरमीडिएट, विश्वविद्यालय तथा सरकार के प्रतिनिधि सम्मिलित होने चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सके इन बोर्डों को शिक्षा-विभाग के नियंत्रण से मुक्त रक्खा जाय।

५. इन्टरमीडिएट कालेजों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषायें ही रक्खी जायँ।

इन्टरमीडिएट बोर्ड के निर्माण की सिफारिश करने का उद्देश्य केवल यही था कि विश्वविद्यालय इनके भार से मुक्त हो जायँ और अपना ध्यान उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान-कार्य की ओर लगा सकें।

इन सुझावों के पश्चात् आयोग ने अपन मुख्य उद्देश्य को लिया और कलकत्ता विश्वविद्यालय की परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन किया और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कलकत्ता विश्वविद्यालय का आकार और प्रकार बहुत बड़ा हो गया है। उससे सम्बद्ध कालेजों की संख्या तथा इन कालेजों में अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई है। अतः कलकत्ता विश्वविद्यालय इनका ठीक प्रबंध करने में असमर्थ है। इसलिए इसे व्यवस्थित करने के लिए निम्नलिखित व्यवस्था अपेक्षित है :—

१. ढाका में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय जो स्वयं शिक्षा प्रदान करे।

२. कलकत्ता नगर में स्थित सभी शिक्षालयों का संगठन इस प्रकार किया जाय कि उनके मिलाने से शिक्षण प्रदान करने वाले एक विश्व-विद्यालय का निर्माण हो सके।

३. ग्रामीण कालेजों का संगठन इस ढंग से किया जाय कि उन क्षेत्रों में एक ग्रामीण विश्वविद्यालय स्थापित किया जा सके।

विश्वविद्यालयों के शासन, संगठन एवं कार्य-संबंधी सुझाव

१. विश्वविद्यालयों के नियम इतने कठोर हैं कि इनकी स्वतंत्रता समाप्त हो गई है। ऐसी दशा में वे अपनी इच्छानुसार कोई कार्य नहीं कर सकते हैं। यह शिक्षा दृष्टिकोण से हानिकर है अतः उनको कुछ स्वतंत्रता दी जाय और उनके नियम कुछ लचीले किए जायँ।

२. विश्वविद्यालयों के शिक्षकों को अधिक अधिकार दिए जायँ।

३. बी० ए० का कोर्स तीन वर्ष का कर दिया जाय और योग्य छात्रों के लिए आनर्स कोर्स की व्यवस्था की जाय।

४. प्रोफेसर तथा रीडरों की नियुक्ति बाहरी विशेषज्ञों द्वारा निर्मित एक समिति द्वारा की जाय।

५. विश्वविद्यालयों में विभिन्न उच्च विषयों की शिक्षा का व्यवस्था की जाय।

६. एक वैतनिक उपकुलपति नियुक्त किया जाय।

७. विश्वविद्यालयों के छात्रों के स्वास्थ्य की देख-भाल के लिए एक स्वास्थ्य शिक्षा संचालक नियुक्त किया जाय।

८. आन्तरिक प्रशासन का दायित्व प्रतिनिधि कोर्ट के हाथ में रखा जाय न कि सिनेट के हाथ में। इसके अतिरिक्त आयोग ने सिफारिश की कि सिंडिकेट के स्थान पर कार्यकारिणी परिषद् बना दी जाय।

९. परीक्षा, पाठ्यक्रम, अनुसंधान तथा उपाधि-वितरण का कार्य सम्हालने के लिए एक बोर्ड का निर्माण किया जाय तथा एकेडेमिकस समस्याओं का समाधान करने के लिए एकेडेमिक परिषद का निर्माण किया जाय।

१०. भारतीय मुस्लिम शिक्षा में काफी पिछड़े हुए हैं। अतः उनको विशेष प्रकार की सुविधायें देकर प्रोत्साहित करना चाहिए।

आयोग ने भारतीय शिक्षा के अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भी विचार किया और तत्संबंधी अपने सुझाव रक्खे। नीचे हम इन सुझावों को दे रहे हैं :—

स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाय और इसके लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक बोर्ड का निर्माण किया जाय जो स्त्रियों के लिए उपयोगी विषयों को ध्यान में रखकर एक अलग पाठ्यक्रम तैयार करे तथा उनके लिए चिकित्सा-शिक्षा तथा अध्यापिका बनने की शिक्षा का प्रबंध करे। सह-शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाय।

१. १५-१६ वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करने के लिए तैयार होने वाली लड़कियों के लिए पर्दा स्कूलों की व्यवस्था की जाय।

शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था

आयोग ने बताया कि दीक्षित अध्यापकों का अभाव है; अतः अधिक संख्या में शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाय।

१. इण्टरमीडिएट तथा बी० ए० के पाठ्यक्रम में शिक्षा एक विषय रक्खा जाय।

२. ढाका और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग का निर्माण किया जाय।

व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था

आयोग ने बताया कि भारतीय शिक्षा में व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा का सर्वथा अभाव है, और इसका मुख्य कारण यह है कि विश्वविद्यालय में मुख्यतः लब्ध प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ही लड़के शिक्षा ग्रहण करने आते हैं और वे अपने जीवन के लिए औद्योगिक शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं समझते। इसके अतिरिक्त आयोग ने बताया कि भारतीय छात्र अधिकांशतः साहित्यिक शिक्षा की ओर ही झुकते हैं। इसका कारण सम्भवतः औद्योगिक शिक्षा का अभाव ही है। [औ]द्योगिक शिक्षा के बिना शिक्षा अधूरी एकांगी रह जाती है। अतः व्यावसायिक शिक्षा के लिए उसने निम्नांकित सिफारिशें कीं :—

१—इन्टरमीडिएट कालेजों में व्यावसायिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, क्योंकि विश्वविद्यालयों की शिक्षा उन्हीं पर आधारित है और विश्वविद्यालयों में व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा की पूर्ति नहीं हो रही है।

२—विश्वविद्यालयों को भी औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए।

मूल्यांकन

कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन का महत्त्व केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत के लिए है। इसके सुझावों के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों के कतिपय दोष दूर हो गये और उनको एक नया कलेवर मिला। इसके सुझावों के फलस्वरूप विश्वविद्यालय अपने वास्तविक उद्देश्य को पूरा करने में सफल हुए। उनके संगठन, आन्तरिक प्रशासन और कार्यों में सुधार हुए और अब विश्वविद्यालय, परीक्षा-संस्थाए ही न रहीं, बल्कि उनमें अध्यापन-कार्य भी प्रारम्भ कर दिया गया तथा उनमें अनुसन्धान-कार्य भी प्रोत्साहित किया गया। अब शिक्षा जीवनोपयोगी बन गई।

आयोग ने व्यावसायिक शिक्षा, टेकनोलाजी की शिक्षा, स्त्री-शिक्षा एवं प्रशिक्षण आदि के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर शिक्षा को जीवन के अधिक निकट ला दिया इसके अतिरिक्त मातृभाषाओं को काफी प्रोत्साहन मिला।

इस सब गुणों के होते हुये भी इतना तो सर्वमान्य है कि इसकी कुछ सिफारिशें समय से बहुत आगे की थीं और वे लन्दन के विश्वविद्यालय के हैल्टन कमीशन से प्रभावित थीं। कलकत्ता विश्वविद्यालय को ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के साँचे में ढालना भी आयोग की अदूरदर्शिता का परिचायक है। माध्यमिक शिक्षा को बोर्ड के अन्तर्गत रख देना समय के अनुकूल न था। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी इसकी सेवायें महान् एवं सराहनीय हैं। इसी के परिणामस्वरूप भारत में कई विश्वविद्यालय जैसे बनारस (१६१६), पटना (१६१७), लखनऊ (१६२०), अलीगढ़ (१६२०), ढाका (१६२०), दिल्ली (१६२२), नागपुर (१६२३), हैदराबाद और मैसूर का निर्माण हुआ। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी आयोग ने क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। वास्तव में यह भारतीय शिक्षा के इतिहास में नये युग का आवाहन करता है।

सन् १९०५ से १९२० तक शिक्षा की प्रगति

प्राथमिक शिक्षा

सन् १६०५ ई० से १६१२ ई० तक प्राथमिक शिक्षा की गाड़ी बड़ी तीव्र गति से चलती रही और गुणात्मक एवं संख्यात्मक दोनों प्रकार की उन्नति हुई। इसका श्रेय लार्ड कर्जन को है, क्योंकि उसने दोनों प्रकार की उन्नति की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया था। परन्तु १६१२ ई० के पश्चात् सरकार ने संख्या-

त्मक विस्तार की ओर से अपना ध्यान हटाकर केवल गुणात्मक विस्तार की ओर लगा दिया। अतः अब स्कूलों का विस्तार रुक गया। संख्यात्मक वृद्धि के रुक जाने के कारण भारतीयों को बड़ा कष्ट हुआ। वे बहुत पूर्व से ही अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की माँग कर रहे थे। बड़ौदा-नरेश ने अपने राज्य में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करके एक उदाहरण भी रक्खा था। गोपालकृष्ण गोखले ने सरकार से अनुरोध किया था कि वह प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर दे। १६ मार्च सन् १६१० ई० को गोखले[१] ने अनिवार्य माध्यमिक शिक्षा के लिये केन्द्रीय विधायिका के समक्ष प्रस्ताव रक्खा था परन्तु सरकार के आश्वासन देने पर उन्होंने प्रस्ताव वापस ले लिया। गोखले के इन विचारों का प्रभाव यह हुआ कि भारत एवं इंगलैंड में भारतीय शिक्षा के प्रति नई रुचि उत्पन्न हुई और सन् १६१० ई० में भारतीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने इलाहाबाद तथा नागपुर में अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा के प्रस्ताव पास किये तथा इगलैंड में भारतीय अनुसचिव (अण्डर-सेक्रेटरी) ने घोषित किया कि नये विभाग के निर्माण का तात्पर्य सम्पूर्ण राज्य में साक्षरता का प्रसार था। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि गोखले शान्ति से बैठ गये। अपने उद्देश्य की पूर्ति में वे निरन्तर प्रयत्नशील रहे और १६ मार्च सन् १६११ ई० को पुनः प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए केन्द्रीय विधायिका में एक विधेयक प्रस्तुत किया। परन्तु दुर्भाग्यवश यह विधेयक भी पास न हो सका, क्योंकि सरकारी कर्मचारी बहु संख्या में थे। इस पराजय पर भी गोखले को तनिक भी चिन्ता न हुई और उन्होंने साहस न छोड़ा। वे एक कर्मठ नेता थे। वे जो कुछ ठान लेते थे उसको पूरा करने में अपना सर्वस्व समर्पित कर देते थे और यही कारण है कि बार-बार पराजित होने पर भी अपने मार्ग पर वे अडिग रहे। उन्होंने अपने व्याख्यान में कहा था कि कर्मनिष्ठ व्यक्तियों के लिए असफलता अकर्मण्यता से कहीं अच्छी है।

गोपालकृष्ण गोखले की दृढ़ता के समक्ष अंग्रेजों को झुकना पड़ा। अब सरकार ने प्राथमिक शिक्षा की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया और फलस्वरूप सन् १६१२–१७ ई० के बीच में प्राथमिक शिक्षा में काफी विस्तार हुआ। सन् १६११-१२ ई० में सम्राट भारत पधारे और उनके आगमन पर भारतीय शिक्षा-विस्तार

---

१. "That this council recommends that a begining should be made in the direction of making elementary education free and compulsory throughout the country, and that a mixed commission of officials and non-officials be appointed at an early date to frame definite proposals." Quoted in Development of Modern Indian Education by Bhagwan Dayal, p. 118.

के लिए ५० हजार रुपया वार्षिक अनुदान स्वीकृत किया गया। ६ जनवरी सन् १६१२ ई० को कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा दिए गए मान-पत्र पर सम्राट् ने व्याख्यान में कहा था कि "मेरी इच्छा है कि भारत में विद्यालयों का जाल-सा बिछ जाय जिससे कृषि, व्यावसायिक तथा अन्य क्षेत्रों में लोग लग सकें और राज भक्त, बहादुर एवं कुशल नागरिक उत्पन्न हो सकें।"

२८ फरवरी सन् १६१३ ई० को भारत सरकार ने प्राथमिक शिक्षा-नीति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास कर उसके लिए अधोलिखित आज्ञाएँ दीं :—

लोअर तथा अपर प्राइमरी विद्यालय का विस्तार और पाठ्यक्रम

१. लोअर प्राइमरी स्कूलों की संख्या में विस्तार किया जाय तथा चित्रकारी, शारीरिक व्यायाम, प्रकृति-पाठ तथा ग्राम के नक्शे का विषय रख कर पाठ्यक्रम को प्रायोगिक बनाया जाय।

२. यदि आवश्यक समझा जाय तो कुछ स्थानों पर जनता की माँग पूरी करने के लिए लोअर प्राइमरी स्कूलों का स्तर उठा कर अपर प्राइमरी स्कूलों में विकसित कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त ऐसे गाँवों में, जो मध्य में पड़ते हों, अपर प्राइमरी स्कूलों का निर्माण किया जाय।

३. जहाँ तक सम्भव हो सके ग्रामीण और शहरी स्कूलों का पाठ्यक्रम भिन्न होना चाहिए, क्योंकि दोनों की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न हैं और पाठ्यक्रम बनाते समय यदि उनके वातावरण एवं स्थान का ध्यान न रक्खा जायगा तो वह शिक्षा उनके लिए लाभदायक न सिद्ध हो सकेगी।

---

१. It is my wish that there may spread over the land a net-work of schools and colleges, from which will go forth loyal and manly and useful citizens, able to hold their own in industries and agricultural and all the vocations in life. And it is my wish too that the homes of my Indian subjects may be brightened and their labour sweetened by the spread of knwoledge with all that follows in its train, a higher level of thought, of comfort, and of health. It is through education that my wish will be fulfilled and the cause of education in India will ever be very close to my heart.

Indian Educational Policy 1913, p. 1.

४. प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए माध्यमिक एवं मिडिल स्कूलों की संख्या में वृद्धि आवश्यक है।

अध्यापकों की योग्यता, प्रशिक्षण एवं वेतन

१. प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापक होने के लिए व्यक्ति का वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होना आवश्यक समझा जाय।

२. जो लोग मिडिल पास हों उनको एक वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाय तथा जो अपर प्राइमरी पास हों उनको दो वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाय।

३. शिक्षित अध्यापकों को कम से कम १२ रुपया मासिक वेतन दिया जाय तथा उनके लिए पेन्शन और प्राविडेन्ट फण्ड की व्यवस्था की जाय।

४. ग्रीष्मावकाश तथा अन्य बड़ी-बड़ी छुट्टियों में अध्यापकों को अपने ज्ञान को नवीन करने के लिए अल्पकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय।

५. दीक्षा विद्यालयों के साथ प्रैक्टिसिंग स्कूल होना चाहिए जिससे शिक्षण-कला की क्रियात्मक दीक्षा लेने में छात्राध्यापकों को सुविधा हो।

६. जहाँ तक सम्भव हो उन्हीं वर्गों से शिक्षक नियुक्त किये जायँ जिस वर्ग के छात्र हों।

७. प्राथमिक विद्यालय के भवन बड़े हों तथा उनकी स्थिति ऐसी हो जहाँ उनको स्वच्छ वायु और उत्तम वातावरण मिल सके। इसके साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उन पर अधिक व्यय न हो।

इन आदेशों से पता चलता है कि सरकार प्राथमिक विद्यालयों की गुणात्मक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देती थी। प्रस्ताव में यह कहा गया था कि भारत सरकार की यह इच्छा और आशा है कि प्राथमिक विद्यालयों की संख्या १,००,००० से १,९१,००० हो जायेगी। परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका। सन् १९१३ ई० का प्रस्ताव कोई नया सुझाव न दे सका और उसके द्वारा केवल पुरानी नीति में ही कुछ विस्तृत सुधार बताए गए। इसके विस्तार की बड़ी आवश्यकता थी।

सन् १८५४ ई० से १९१३ ई० तक निरन्तर प्राथमिक शिक्षा की माँग बढ़ती जा रही थी और उसके विस्तार का प्रयत्न होता रहा। परन्तु ये भावनायें कार्य-रूप में परिणित न हो सकीं। यच० आर० जेम्स[1] के कथनानुसार किसी बात के

---

१. Education and statesmanship in India, p. 97

महत्त्व को समझ कर उसके उत्तरदायित्व को सम्हालने पर भी यदि उनको कार्य-रूप में नहीं परिणित किया जाता है तो वे वैसी ही बनी रहती हैं जैसी पूर्वावस्था में थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राथमिक शिक्षा का महत्त्व तो सभी समझते रहे और उसके विस्तार का प्रयत्न भी करते रहे, परन्तु वे विचार 'विचार' ही बने रहे और सन् १९१३ ई० तक विद्यालय जाने वाली अवस्था के बालकों में केवल २० प्रतिशत बालक ही स्कूल जाते थे। सन् १९१२ ई० में १०·२ वर्ग मील में औसतन[1] केवल एक प्राथमिक स्कूल था जिसमें ४३ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे।

सन् १९१३ ई० के प्रस्तावों के फलस्वरूप सन् १९१७ ई० के अन्त तक लगभग सभी प्रान्तों में—जैसे पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, आसाम तथा सीमान्तप्रान्त में बोर्ड स्कूलों का निर्माण हो गया। परन्तु बंगाल, उड़ीसा और मद्रास में ऐसे विद्यालय विकसित न हो सके, क्योंकि वहाँ अधिकांशतः व्यक्तिगत विद्यालयों का जोर था। बंगाल में पंचायती प्राथमिक स्कूलों की योजना बनाई गई और उसके अनुसार १०·४ वर्ग मील में एक आदर्श स्कूल का निर्माण किया गया।

सन् १९१७ ई० तक लगभग ८·३ वर्गमील में एक प्राथमिक स्कूल था जबकि सन् १९१२ ई० में १०·२ वर्ग मील में एक प्रथमिक स्कूल था। इस प्रकार इन ४ वर्षों की अवधि में भी कुल संख्या के तिहाई भाग से कम ही बालक प्राथमिक विद्यालयों में प्रवेश लेते थे।[2]

प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करने की चेष्टायें

भारत सचिव ने इंगलैंड की पार्लियामेंट में सन् १९१७ ई० के अगस्त माह में सम्राट् की ओर से घोषणा की कि अंग्रेजी शासन की भारत में उत्तरदायी शासन विकसित करने के लिए स्वशासन की संस्थाओं का विस्तार करना ही इंगलैंड की सरकार अपनी नीति रखना चाहती है। इस घोषणा-पत्र ने प्रान्तीय सरकारों के मस्तिष्क को यह अनुभव करा दिया कि बिना शिक्षा-प्रसार के भारतीय जनता

१. History of Education in India, First Education p. 209 S. N. Mukerji.

२. Hence it may be said that even four years after the promulgation of the Education policy of 1913 less than a third of the total number of boys of school going age were receiving instruction in primary schools.

J. M. Sen—Hisory of Elementary Education in India p. 2-1.

स्वशासित देश के उत्तरदायित्वों का अनुभव नहीं कर सकती।[1] अतः अब सभी प्रान्तों के सरकारी और गैरसरकारी व्यक्ति साक्षरता-प्रसार की ओर जुट पड़े। लगभग सभी प्रान्तों की स्थानीय संस्थाओं को अनिवार्य शिक्षा के लिए नियम बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया। परन्तु एक दोष यह रह गया कि सभी प्रान्तों के नियम समान न थे।

सन् १६१८ ई० का बम्बई का पहला कानून

विट्ठल भाई पटेल ने बम्बई प्रान्त में नगरपालिका के क्षेत्र में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के उद्देश्य से प्रान्तीय धारा सभा में एक विधेयक प्रस्तुत किया था, जो संयोगवश पास हो गया और सन् १६१८ ई० में बम्बई प्राइमरी एडुकेशन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु पटेल विधेयक (ऐक्ट) के नाम से यह अधिक प्रसिद्ध है। इसकी मुख्य-मुख्य धारायें निम्नांकित हैं :—

१. ७ वर्ष से ११ वर्ष तक के बालक और बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा लागू होगी तथा यह शिक्षा निःशुल्क होगी।

२. नगरपालिका-क्षेत्र में रहने वाले हर व्यवित को अपने बालक तथा बालिकाओं को स्कूल भेजना आवश्यक है। इन नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यवितयों को ५ रुपया दंड स्वरूप देना पड़ेगा।

३. ७ वर्ष से ११ वर्ष तक की आयु वाले बालकों को कोई नौकर नहीं रख सकेगा। ऐसा करने वाले लोगों को ३५ रुपया दण्डस्वरूप देना पड़ेगा।

४. शिक्षा अनिवार्य हो जाने के कारण नगरपालिकाओं का व्यय बढ़ गया। अतः उन्हें पुराने करों को आवश्यकतानुसार बढ़ाने तथा नए करों को लगाने का अधिकार दे दिया गया।

५. नगरपालिकाओं को अनुदान देने के लिए सरकार बाध्य न होगी। परन्तु यदि वह चाहे तो अपने द्वारा निश्चित धनराशि दे सकेगी।

६. यह कानून बम्बई प्रान्त की सभी नगरपालिकाओं के क्षेत्र में लागू कर दिया गया, परन्तु बम्बई में नहीं।

७. निर्धारित शर्तों के अनुसार नगरपालिकाएँ अपने क्षेत्र में बालक और बालिका दोनों के लिए यदि चाहें तो शिक्षा अनिवार्य कर सकती है।

---

१. J. M. Sen—History of Elementary Education p. 203

यद्यपि पटेल कानून में अनेक दोष हैं और अनिवार्य शिक्षा-क्षेत्र में इससे विशेष प्रगति की आशा न थी; परन्तु फिर भी इसका विशेष महत्त्व है क्योंकि यह सार्वजनिक माँग की प्रथम वैधानिक स्वीकृति थी। इस कानून ने भारत में सर्व प्रथम अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्तों को मानने के लिए सरकार को बाध्य किया और वह स्वीकृत भी हो गया था। अतः भारतीय-शिक्षा के इतिहास में पटेल का नाम अमर रहेगा। इस कानून ने प्राथमिक शिक्षा में प्राण फूंक दिए और शीघ्र ही बम्बई प्रान्त में प्राथमिक शिक्षा की तीव्र लहर दौड़ गई। यह केवल बम्बई के लिए ही लाभप्रद न था, अपितु सन् १९२१ ई० तक अन्य प्रान्तों में भी अनिवार्य शिक्षा के नियम बनाए गए।

बिहार और उड़ीसा—सन् १९१९ ई० में इन प्रान्तों में भी प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के उद्देश्य से प्राथमिक शिक्षा कानून पास किया गया। इसकी विशेषता यह थी कि यह नगर एवं ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में लागू हो सकता था, परन्तु स्थानीय संस्थायें ६ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए ही अनिवार्य शिक्षा जारी कर सकती थीं। इस नियम से कोई विशेष लाभ न हुआ और शिक्षा की प्रगति मन्थर गति से चलती रही। सन् १९२२ ई० तक केवल राँची नगरपालिका में अनिवार्य शिक्षा कार्यान्वित की गई थी। अनिवार्य शिक्षा प्रचलित करने के लिए कई शर्तें होती थीं जो कि प्रायः जनता पर ही निर्भर करती थीं; जैसे उसी स्थान पर अनिवार्य शिक्षा नियम लागू किया जा सकता था, जहाँ की जनता अधिक कर देती थी या विद्यालयों की समुचित व्यवस्था कर सकती थी। जिन क्षेत्रों में ऐसा कोई कर न था वहाँ अनिवार्य शिक्षा निःशुल्क नहीं रक्खी जा सकती थी।

संयुक्त प्रान्त—संयुक्त प्रान्त में भी सन् १९१९ ई० में बालक तथा बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा नियम पास हुआ, परन्तु केवल नगरपालिका-क्षेत्रों के लिए ही।

पंजाब—पंजाब में भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा नियम बना, परन्तु केवल बालकों के लिए यह कानून था। कानून का भौगोलिक क्षेत्र शहर और ग्राम दोनों थे।

बंगाल—यहाँ भी इसी वर्ष अनिवार्य शिक्षा नियम बना। सन् १९३२ ई० तक केवल बालकों के लिए ही अनिवार्य शिक्षा थी। परन्तु सन् १९३२ में बालिकाओं के लिए भी शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। यहाँ भी केवल नगरपालिका-क्षेत्र में ही शिक्षा को अनिवार्य किया गया।

मद्रास—यहाँ सन् १९२० ई० में प्रारम्भिक शिक्षा कानून पास हुआ। परन्तु यहाँ का कार्य अन्य प्रान्तों से अच्छा और व्यापक था। यह कानून पूरे प्रान्त के लिए तथा बालकों एवं बालिकाओं दोनों के लिए था।

मध्य प्रान्त—इस प्रान्त में भी सन् १९२० में अनिवार्य शिक्षा नियम बना और मद्रास की भाँति यहाँ भी शहर तथा ग्रामीण क्षेत्रों में एवं बालक और बालिका दोनों के लिए अनिवार्य शिक्षा कार्यान्वित कर दी गई।

अब लगभग सभी प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा के नियम बन गए और प्राथमिक शिक्षा में एक नयी चेतना पैदा हुई और भारतीय चेष्टायें प्राथमिक शिक्षा की ओर क्रियाशील हो गईं। प्राथमिक शिक्षा की सरकारी स्वीकृति के लिए भारतीय पिछले ४० वर्षों से निरन्तर प्रयत्न करते चले आ रहे थे। अतः प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने वालों के कार्य अत्यन्त सराहनीय हैं।

सन् १९२१-२२ ई० में प्राथमिक शिक्षा की स्थिति

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में प्राथमिक शिक्षा की स्थिति शोचनीय ही बनी रही। इसके दो मुख्य कारण थे, १—भारतीयों की उदासीनता और २—शासकों की उपेक्षा एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रति हिचक।

प्राचीन काल में भारत सोने की चिड़िया के नाम से विख्यात था। परन्तु इस पर निरन्तर विदेशी आक्रमण होते रहे और इन आक्रमणकारियों ने इसका केवल कंकाल मात्र ही छोड़ा था। अब भारत की दशा बड़ी शोचनीय थी। जनता के सामने रोटी का प्रश्न था। अतः बहुत से बालकों को बचपन से ही अपनी जीविका के लिए विभिन्न कार्यों में लग जाना पड़ता था। इसके अतिरिक्त दलित वर्ग को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और समाज में उनको कोई स्थान न था। शिक्षा के द्वार उनके लिए बन्द कर दिए गए थे। जातीय भावना भारत के हृदय को खोखला बनाए दे रही थी। इसके अतिरिक्त एक बड़ा कारण यह था कि भारतीय स्त्रियों की दशा गिर गई थी। परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला कही जाती है। बच्चा सर्व प्रथम और अधिकांश माँ से सीखता है। इसलिए भी प्राथमिक शिक्षा का विकास कम हो सका।

सरकार भी प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन न देती थी। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए भारतीय सतत प्रयत्न करते रहे, परन्तु सरकार कभी तो यह कह कर टाल देती थी कि समय नहीं है और कभी यह कह कर टाल देती थी कि सरकार के पास धन नहीं है। इसके अतिरिक्त वह सदैव गुणात्मक उन्नति चाहती थी, जब कि भारतीय यह कहते थे कि शिक्षा का प्रसार अशिक्षा को दूर

करने के लिए आवश्यक है। अभी गुणात्मक उन्नति के लिए समय नहीं। पेरूलेकर ने गोखले के एक व्याख्यान का संकेत करते हुए कहा था कि सार्वजनिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य अशिक्षा को दूर करना था। गुणात्मक उन्नति भी महत्त्वपूर्ण है परन्तु अशिक्षा दूर होने के पश्चात्।[१] हरटॉग समिति की रिपोर्ट के अनुसार सन् १८६२ ई० से १९२२ ई० के बीच पुरुषों की साक्षरता म केवल १·४ प्रतिशत वृद्धि हुई थी। सन् १९२१ ई० में स्त्री-पुरुष दोनों की सम्मिलित साक्षर संख्या ७·२ प्रतिशत थी[२]।

सन् १८८२ ई० में भारतीय शिक्षा-आयोग ने प्रथम बार अध्यापकों के प्रशिक्षण पर जोर दिया। तभी से सरकार दीक्षा-विद्यालयों की स्थापना में प्रयत्न-शील हुई। तब से इन ४० वर्षों में बर्मा को लेकर समस्त अंग्रेजी प्रान्तों में ९२९ दीक्षा विद्यालय पुरुषों के लिए और १४६ स्त्रियों के लिए स्थापित हो सके। इनमें सन् १९२१ और १९२२ ई० में क्रमशः २८,७७४ तथा ४,१५७ व्यक्ति दीक्षा ले रहे थे। आँकड़े से पता चलता है कि इस वर्ष प्राथमिक शिक्षा में १८१,२८९ अध्यापक कार्य कर रहे थे जिनमें ६७,६१३ दीक्षित थे।

सन् १९०१-१९२१ में शिक्षकों का वेतन

इत अवधि में शिक्षकों के वेतन में वृद्धि की गई। इस दृष्टि से बम्बई प्रान्त ने सराहनीय कार्य किया था। सन् १९२१ ई० में इस प्रान्त में प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों को ३२ रुपया मासिक वेतन दिया जाता था। मध्यप्रान्त और पंजाब ने भी अध्यापकों के वेतन बढ़ा दिए थे, परन्तु बम्बई के बराबर नहीं। मद्रास, बंगाल और बिहार में अध्यापकों की दशा में कोई सुधार न हुआ। वहाँ अब भी पुराना वेतन मिलता था। सन् १९०१ ई० में लगभग सम्पूर्ण भारत में औसतन वेतन ८ रुपया मासिक था।

पाठ्यक्रम

प्राथमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम उपयोगी न थे। यद्यपि समय-समय पर इसे उपयोगी बनाने के प्रयत्न किए गए थे, परन्तु उसका कोई विशेष परिणाम न निकला। सन् १९०२ ई० के पश्चात् पाठ्यक्रम में बागवानी, प्रकृति-अध्ययन और

---

१. The primary purpose of mass education is to banish illiteracy from the land. The quality of education is a matter of importance that comes after illiteracy is banished.—Parulekar, R. V. Literacy in India, p. 138 Macmillan, London, 1939

२. Hartog committee Report, p. 45.

नक्शा आदि के अध्ययन के विषय सम्मिलित किये गए थे। परन्तु फिर भी कोई सन्तोषजनक सुधार न हो सका।

आवास तथा अन्य सुविधायें

इस अवधि में प्राथमिक विद्यालयों के लिए साधन सुलभ न थे। यद्यपि कुछ प्रयत्न हुए थे, परन्तु वे नगण्य थे और इस संबंध में इनकी दशा पहले से भी बिगड़ गई थी।

एक समीक्षा

सन् १९०५-२२ ई० की १७ वर्षों की अवधि में प्राथमिक विद्यालयों की समस्यायें; जैसे विद्यालयों का आवास, साधन और सामान आदि की असुविधायें पूर्ववत बनी रहीं। पाठ्यक्रम में भी कोई ठोस सुधार न हो सका और न शिक्षा का स्तर ही उठाया जा सका। शिक्षा की गति तीव्र न हो सकी और इसलिए उनकी गुणात्मक उन्नति सम्भव न हो सकी।[1]

माध्यमिक शिक्षा (१९०५-१९२२)

इस अवधि में छात्रों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई, क्योंकि सभी लोगों ने अपने बच्चों को सरकारी नौकरी दिलाने की आशा से उच्च शिक्षा देना आरम्भ कर दिया था। अतः छात्रों की इस बढ़ती हुई संख्या की माँग पूरी करने में वर्तमान स्कूल समर्थ न हो सके। अतः नए स्कूलों का निर्माण स्वाभाविक था। इन स्कूलों के निर्माण से शिक्षा का स्तर गिर गया, क्योंकि सुलभ साधनों एवं प्रशिक्षित तथा योग्य अध्यापकों का सर्वथा अभाव था। उधर कर्जन की गुणात्मक नीति के कारण संख्यात्मक वृद्धि में अनेक बाधायें आ पड़ीं थीं। मान्यता प्राप्त करने के नियम बड़े कड़े कर दिए गए थे। परन्तु फिर भी सन् १९२१ ई० तक माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में सराहनीय वृद्धि हुई। सन् १९०५ ई० में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या ५,१२४ और उनमें अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या ५,९०,१२९ थी

१. .....because the equipment was poor or the supervision, inadequate; and no successful experiment had been made effectively to co-ordinate the teaching in rural schools with their environment. It would, therefore, be correct to say that in qualitative matters also the success obtained so far was not at all satisfactory.

—A History of Education in India' by Nurullah & Naik p. 552.

जब कि यह संख्या सन् १९२१-२२ ई० में क्रमशः ७,५३० और ११,०६,८०३ तक पहुँच गई थी।

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि सरकार माध्यमिक शिक्षा को जनता के हाथों में छोड़ देना चाहती थी और भारतीय जनता भी यह सोचती रही कि भारत का कल्याण शिक्षा के बिना नहीं हो सकता। आगे चलकर गोपालकृष्ण गोखले ने १९०३ ई० में कहा था कि यदि देश को आगे बढ़ना है तो अशिक्षा को दूर करना ही है।[१] इन भावनाओं से प्रेरित हो कर सरकार के विरोध करने पर भी भारतीयों ने विद्यालयों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। उधर सरकार आदर्श माध्यमिक स्कूलों का निर्माण करने में क्रियाशील थी। अतः माध्यमिक स्कूलों की प्रगति बड़ी सराहनीय तो नहीं रही, परन्तु पूर्व की अपेक्षा अधिक रही। इस संख्या की वृद्धि का श्रेय सन् १९१३ ई० के प्रस्ताव को मिलना चाहिए। इस वृद्धि के साथ-साथ मैट्रिक परीक्षा का जोर बढ़ा और पाठ्यक्रम लचीला होता गया। सन् १९११ ई० में वाणिज्य तथा विज्ञान के अध्यापन पर जोर दिया गया।

माध्यमिक विद्यालयों में व्यावसायिक शिक्षा

भारतीय शिक्षा आयोग के आदेशानुसार माध्यमिक विद्यालयों में स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट तथा प्रवेश-परीक्षा की व्यवस्था की गई। सन् १९०५-२१ ई० तक स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट परीक्षा में परीक्षार्थी सम्मिलित होने लगे तथा कुछ व्यावसायिक शिक्षा का प्रबंध किया गया। स्कूल लीविङ्ग सर्टीफिकेट परीक्षा की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित होने लगा। इस परीक्षा से छात्र विश्वविद्यालयों में भी प्रवेश ले सकते थे तथा नौकरी के लिए भी प्रार्थी हो सकते थे। इस परीक्षा के प्रति लोगों का झुकाव अधिक होने का एक कारण यह भी था कि इसमें अनुत्तीर्ण होने का डर न था। पाठ्यक्रम काफी सरल था। वास्तव में स्कूल लीविङ्ग सर्टीफिकेट परीक्षा विश्वविद्यालयों के लिए पृष्ठिभूमि का कार्य करने लगी और व्यावसायिक शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पीछे पड़ गया।

सन् १८५४ ई० में वुड के सन्देशपत्र ने हार्दिक इच्छा प्रकट की थी कि भारतीयों को ऐसी शिक्षा दी जाय जो उनको जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने की योग्यता दे सके। परन्तु सन्देश-पत्र की यह इच्छा सन् १९२१ ई० तक कार्यरूप में परिणित न हो सकी। अपितु केवल कल्पना ही रह गई। नवीन प्रणाली से

---

१. It is obvious that an illiterate and ignorant nation can never make any solid progress and must fall back in the race of life.

—Gopal Krishna Gokhale by Turnbull, p. 74.

केवल इतना लाभ हो सका कि पाठ्यक्रम कुछ विस्तृत और व्यापक हो गया तथा प्राचीन परम्परा से चली आने वाली परीक्षा-प्रणाली में कुछ सुधार हो गया। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा का अन्य कोई उपकार न हो सका।

अंग्रेजी को अधिक महत्त्व दिया गया

माध्यमिक विद्यालयों में भी अंग्रेजी पर विशेष बल दिया जाने लगा। उसे प्रभावोत्पादक बनाने के लिए नवीन प्रणालियों का प्रयोग किया जाने लगा तथा योग्य, कुशल एवं प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्तियाँ की जाने लगीं। परन्तु इन प्रयत्नों के होते हुए भी अधिक लाभ न हो सका क्योंकि इतनी कम आयु वाले छात्र विदेशी भाषा, अंग्रेजी, पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकते थे। परिणाम यह होता था कि उनका अधिक समय अंग्रेजी के ही रटने में समाप्त हो जाता था। मानसिक शक्ति भी क्षीण हो जाती थी और वे अन्य उपयोगी विषयों को वांछित समय न दे पाते थे।

माध्यम

कर्जन ने आदेश दिया था कि जब तक बालकों में इतनी योग्यता न आ जाय कि वे अंग्रेजी समझ सकें तब तक मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा देना लाभदायक है। अतः मिडिल कक्षाओं तक भारतीय भाषाओं द्वारा ही शिक्षा प्रदान की जाती थी। परन्तु इसके आगे वाली कक्षाओं में इसे कोई प्रोत्साहन न मिलता था।

शिक्षकों का प्रशिक्षण

सन् १९१२ ई० तक भारत में माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए कुल १५ प्रशिक्षण विद्यालयों का निर्माण हो सका था, जिनमें कुल १,४०० छात्रा-ध्यापक दीक्षा ले सकते थे। सन् १९१३ ई० के प्रस्ताव में अध्यापकों के प्रशिक्षण की बात दुहराई गई। अतः प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या बढ़ने लगी। सन् १९२१-२२ ई० में १३ प्रशिक्षण विद्यालय ऐसे थे जो माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों को अंग्रेजी पढ़ाने की शिक्षा प्रदान करते थे। वास्तव में इस ओर ध्यान देने का अधिक श्रेय लार्ड कर्जन को है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि इस अवधि में माध्यमिक शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ उसमें गुणात्मक उन्नति तो हुई, परन्तु व्यावसायिक शिक्षा का सर्वथा अभाव था और माध्यमिक स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम बनी रही और लगभग सभी समस्यायें पूर्ववत् बनी रहीं। उनका निदान अब भी न हो सका।

विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा

सन् १८८७ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् सन् १९१६ ई० तक ३० वर्ष में अन्य कोई विश्वविद्यालय न निर्मित हुआ। परन्तु कालेजों की संख्या काफी बढ़ी। सन् १९१० ई० तक इनकी संख्या १८५ पहुँच गई थी। ये कालेज कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, इलाहाबाद तथा पंजाब विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे तथा इनमें ६१,२०० छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे।

सन् १९१७ तक की वृद्धि

विश्वविद्यालय	कालेज	छात्र
कलकत्ता	५८	२८६१८
मद्रास	५३	१०२१६
इलाहाबाद	३३	७८०७
पंजाब	२४	६५५८
बम्बई	१७	८००१
	योग १८५	योग ६१,२००

सन् १८१६ ई० तक लोगों को और अधिक विश्वविद्यालयों का अनुभव होने लगा था। क्योंकि १८५ कालेजों का भार केवल ५ विश्वविद्यालय न संभाल सकते थे। विश्वविद्यालय-आयोग ने इस बात पर जोर दिया था कि इतने कालेजों का कार्य कलकत्ता विश्वविद्यालय सम्हालने में असमर्थ है और आन्तरिक प्रशासन में दोष का यह भी एक मुख्य कारण है। सन् १९१३ ई० के सरकारी प्रस्ताव में भी विश्व-विद्यालयों के निर्माण पर विशेष बल दिया गया था। इन तमाम कारणों से सन् १९१६ ई० के पश्चात् ५ वर्षों में ७ नये विश्वविद्यालयों का निर्माण हुआ।

मैसूर विश्वविद्यालय—सन् १९१६ ई० में मैसूर विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। यह कालेजों को सम्बद्ध करता था और केवल मैसूर राज्य की आवश्यकता पूरी करता था, परन्तु इसकी स्थापना से मद्रास विश्वविद्यालय का कार्य काफी हल्का हो गया।

पटना विश्वविद्यालय—सन् १९१७ ई० पटना विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ। यह विश्वविद्यालय बिहार और उड़ीसा की आवश्यकताएँ पूरी करता था। यह भी पुराने ही विश्वविद्यालयों की भाँति था, परन्तु कई रूपों में यह पूर्व संचालित विश्वविद्यालयों से भिन्न था। इस विश्वविद्यालय ने सरकार को कम अधिकार दिए थे। अब न तो सरकार किसी कालेज को अपने आप सम्बद्ध कर सकती थी और न किसी मामले में हस्तक्षेप कर सकती थी।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय—बनारस में ४ फरवरी सन् १६१६ ई० को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव पड़ी, यद्यपि १ अक्टूबर सन् १६१५ ई० को ही केन्द्रीय धारा सभा में बनारस हिन्दू यूनवर्सिटी कानून पास हो चुका था। सन् १६१६ ई० से विश्वविद्यालय ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया और सन् १६१८ ई० से फाइनल परीक्षा में इसके छात्र सम्मिलित हुए।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्राच्य संस्कृति के धुरन्धर विद्वान एवं राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र गति देने वाले कर्मठ नेता महामना मदन मोहन मालवीय के पुण्य कर्मों एवं तपस्या का फल है। यह श्रेष्ठतम विद्याओं का केन्द्र बन गया है और विश्व-विद्यालय का सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से है और यह स्वयं शिक्षण की व्यवस्था करता है और स्वयं ही परीक्षा लेता है। यह अपने ढंग का अनूठा विश्वविद्यालय है। यहाँ प्राच्य और पाश्चात्य तथा प्राचीनता एवं नवीनता का सम्मिश्रण है।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय—जिस प्रकार बनारस विश्वविद्यालय के निर्माण-कर्ता महामना मदन मोहन मालवीय हैं उसी प्रकार अलीगढ़ विश्वविद्यालय के सर सैयद अहमद खाँ। यह विश्वविद्यालय 'एंग्लो मुहम्मदन स्कूल' का विकसित रूप है। बनारस विश्वविद्यालय की भाँति यह भी केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत है और सावास (रेजीडेन्शियल) है। वास्तव में इसकी सम्पूर्ण व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम इत्यादि सर सैयद अहमद के विचारों के अनुसार है।

लखनऊ विश्वविद्यालय—अवध के राजाओं और तालुकेदारों ने मिलकर लखनऊ में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने के प्रयत्नों से प्रेरित हो कर संयुक्त-प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर हार्टकोर्ट बटलर ने सन् १६२० ई० में लखनऊ विश्व-विद्यालय की नींव डाली। इसके लगभग सभी नियम वही थे जो कलकत्ता विश्व-विद्यालय के थे। यह पूर्णरूपेण सावास विश्वविद्यालय है और स्वयं शिक्षण और परीक्षण की व्यवस्था करता है।

ढाका विश्वविद्यालय—कलकत्ता विश्वविद्यालय-आयोग ने ढाका में विश्व-विद्यालय स्थापित करने की सिफारिश की थी, क्योंकि कलकत्ता विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कालेजों की संख्या काफी बढ़ चुकी थी। यह विश्वविद्यालय शिक्षण की व्यवस्था करता है। यह सावास विश्वविद्यालय है। इसकी स्थापना सन् १६२० ई० में हुई थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यह पाकिस्तान के क्षेत्र में चला गया है।

ओसमानिया विश्वविद्यालय—भारतीय विश्वविद्यालयों में यह अपने ढंग का अनूठा है। अभी तक भारतीय भाषाओं द्वारा उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किसी विश्वविद्यालय ने न किया था। निजाम हैदराबाद ने यह प्रयास किया और अपने

राज्य हैदराबाद में राज्य की जनता को आवश्यकता की पूर्ति के लिए सन् १९१८ ई० में इस विश्वविद्यालय की स्थापना की तथा इसमें शिक्षण का माध्यम उर्दू बनाया।

उपर्युक्त विवरण से हम अनुमान लगा सकते हैं कि किस प्रकार इस थोड़ी अवधि में इतने विश्वविद्यालय उठ खड़े हुए। सन् १९२१ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की पुनर्व्यवस्था भी हुई और यह भी सावास और शैक्षणिक बनाया गया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय को सावास और शैक्षणिक बनाने की प्रेरणा ढाका विश्वविद्यालय से ली गयी थी।

सन् १९१६ में दिल्ली में नारियों के लिए लेडी हार्डिङ्ग कालेज नामक मेडिकल कालेज तथा पूना में नारियों के लिये एस० एन० डी० टी० विद्यालय खोले गये। इसके अतिरिक्त सन् १९१३ ई० में भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट और १९१६ में अमलनेर में इन्स्टीट्यूट आफ फिलासफी का निर्माण हुआ।

विश्वविद्यालयों की शिक्षण व्यवस्था

सन् १९२१ ई० तक भारतीय विश्वविद्यालयों की संख्या १८ हो गयी जिनमें ५ विश्वविद्यालय शिक्षण की व्यवस्था करते थे तथा ६ विश्वविद्यालय कालेजों को सम्बद्ध करते थे। एक विश्वविद्यालय शिक्षण और सम्बद्धीकरण दोनों की व्यवस्था करता था जिस कालेज को सम्वद्धता दी जाती थी उसके लिये भी विश्वविद्यालय ही निम्नांकित रूपों में शिक्षण की व्यवस्था करते थे :—

१—आनर्स और स्नातकोत्तर (आनर्स और पोस्टग्रेडुएट) शिक्षण की व्यवस्था विश्वविद्यालय के ही प्रबन्ध में की जाती थी।

२—जो विषय सम्बद्ध कालेजों में नहीं होते थे उनके शिक्षण की व्यवस्था विश्वविद्यालय करता था।

३—समय-समय पर देश तथा विदेश के विशेषज्ञों एवं विद्वानों के भाषण का प्रबन्ध करना विश्वविद्यालय का ही कार्य था।

इस प्रकार के शिक्षण से कालेजों का स्तर तो ऊँचा हो गया, परन्तु विश्वविद्यालयों के उच्च ज्ञान में कोई ठोस कार्य न हो सका।

कालेजों का विस्तार

सन् १९०४ ई० के विश्वविद्यालय कानून ने कालेजों को सम्बद्धता प्रदान करने के नियम काफी कठोर कर दिये थे। फलत: कुछ दिनों के लिए इनका विकास रुक गया था। यही नहीं, अपितु जीर्ण-शीर्ण दशा में चलने वाले कालेजों

का तो अस्तित्व ही विलीन हो गया। परन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी, क्योंकि छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। अतः कालेजों की संख्या में वृद्धि आवश्यक और स्वाभाविक थी। सन् १९११ ई० के पश्चात् कालेजों की संख्या बढ़ने लगी और सन् १९२१ ई० तक ६९ कालेज निर्मित हुए। सन् १९२१ ई० में कालेजों की संख्या २०७ तथा इनमें अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या ५४,४७३ थी, जब कि १९०५ ई० में कालेजों की संख्या १३८ तथा छात्रों की संख्या १७,००० थी। इस प्रकार प्रगति तो सराहनीय रही, परन्तु यह गति उच्च शिक्षा की वास्तविक माँग पूरी करने में असमर्थ थी। कालेज में छात्रों की भीड़ इसलिए बढ़ती जा रही थी, क्योंकि उनको ऐसी कोई शिक्षा न दी जाती थी जिससे वे अपनी आजीविका चला सकें। अतः विश्वविद्यालय की शिक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई सहारा न था। साधारणतः लोग सोचते थे कि यदि उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेंगे तो अच्छी नौकरी मिल जायगी और सुखमय जीवन व्यतीत हो सकेगा। औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का सर्वथा अभाव था। न तो माध्यमिक विद्यालयों में इसकी कोई व्यवस्था थी और न इसके लिए स्वतंत्र विद्यालय ही स्थापित थे। इसलिये प्रवेशिका परीक्षाफल प्रकाशित होते ही छात्र कालेज में प्रवेश के लिए दौड़ पड़ते थे। इस प्रकार यह बढ़ती हुई छात्र-संख्या उच्च शिक्षा के लिये रोग बनती चली जा रही थी।

कालेजों की शिक्षण-व्यवस्था

विश्वविद्यालय-नियमों की कठोरता के कारण १९०४ ई० के पश्चात् कालेजों का स्तर ऊँचा हो चला था। अब इनमें काफी सुधार भी हो गया था। सन् १९०७ से १९१२ ई० की अवधि में केन्द्रीय सरकार ने कालेजों को अपनी दशा में सुधारने तथा स्तर ऊँचा करने और अन्य रचनात्मक कार्यों के लिए २,४५,००० रुपये दिये थे। सन् १९०७ से १९१८ ई० की अवधि में २,८४,००० रुपये का आवर्त्तक (रेकरिङ्ग) अनुदान दिया था। इसके अतिरिक्त छात्रावास, प्रयोगशाला, पुस्तकालय आदि के लिये अनावर्त्तक (नॉन-रेकरिङ्ग) अनुदान भी सरकार ने दिया था। सन् १९२१-२२ ई० में कालेजीय शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये सरकार ४९,२६,००० रुपये व्यय कर रही थी जिसमें १५,२८,००० रुपये गैरसरकारी कालेजों को अनुदान के रूप में मिलते थे।

कालेजों में व्यावसायिक शिक्षा का अभाव

इस अवधि में कालेजों का विस्तार हुआ और छात्र-संख्या भी बढ़ी, पर उनका सर्वांगीण विकास न हो सका। कालेजों में साहित्यिक शिक्षा का ही बोलबाला हो

चला। १६११ ई० के बंगाल के आँकड़ों से ज्ञात होता है कि २६,००० छात्रों में २२,००० छात्र साहित्यिक शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। इस शिक्षा को पा कर वे वकील अथवा अध्यापक ही बन सकते थे। इसी से सम्पूर्ण भारत का अनुमान लगाया जा सकता है। अतः यह निश्चित था कि इस प्रकार की शिक्षा छात्रों में आत्म-निर्भरता एवं स्वावलम्बन पैदा करने में सवथा असमर्थ थी। इस दोष पूर्ण शिक्षा का दायित्व सन् १८५४ ई० के वुड के घोषणा-पत्र पर है जिसने उच्च शिक्षा के विकास के लिए विशेष जोर दिया था। उच्च शिक्षा-प्रसार का उद्देश्य था कि राज्य-कार्य के लिए योग्य कर्मचारी प्राप्त हो सकें तथा पाश्चात्य साहित्य एवं ज्ञान का विस्तार हो इसके अतिरिक्त यह उच्च शिक्षा अधिकाधिक जनता को ब्रिटिश शासन का स्वामिभक्त बनाना चाहती थी। अतः उच्च शिक्षा-प्रसार की यही नीति अपनाई गई, अन्यथा इंगलैण्ड के माल को भारत न खरीदता और न अपना कच्चा माल विलायत भेजता।

बिश्वविद्यालयों को सरकारी देन

विश्वविद्यालयों को नियमित अनुदान देने का श्री गणेश लार्ड कर्जन ने किया था। उसके चले जाने के पश्चात् वही प्रथा प्रचलित रह गई और समय की माँग के अनुसार अनुदान का धन और बढ़ा दिया गया। सन् १६०१ ई० में केवल पंजाब विश्वविद्यालय को सहायता मिलती थी और वह सहायता २६,३८० रु० की थी। सन् १६२२ ई० तक पहुँचकर सभी भारतीय विश्वविद्यालयों का खर्च ७४,१३,००० रुपए थे जिमें २०,५४,००० रुपए ही सरकार द्वारा मिलते थे।

भारत ऐसे विशाल देश के लिए अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना की आवश्यकता थी। इन नये विश्वविद्यालयों की स्थापना से समस्या का निदान हो गया, परन्तु धनाभाव के कारण अभी बड़ी कमी रह गई। वास्तव में भारत ऐसे निर्धन देश के लिए अभी सम्बद्धक विश्वविद्यलयों की काफी आवश्यकता थी।

स्त्री शिक्षा

भारतीय शिक्षा के इतिहास में स्त्री-शिक्षा की कहानी करुणा-जनक है। समय-समय पर इसके प्रोत्साहन के लिए अनेक सुझाव दिए गए, परन्तु व केवल कागजों पर ही रह गए। कौटन ने कहा था कि स्त्री-शिक्षा की दशा भारतीय शिक्षा इतिहास का कलंक है। लार्ड कर्जन ने भी भारत आने पर यही अनुभव किया और कौटन की बात का समर्थन करते हुए इसके संबंध में कुछ सुझाव दिए थे। परन्तु उसके सुझाव वैज्ञानिक न थे, क्योंकि केवल आदर्श विद्यालयों की स्थापना एवं पर्याप्त धन तथा

योग्य शिक्षकों की नियुक्तियों के संकेतों के अतिरिक्त लार्ड कर्जन ने कोई ठोस योजना नहीं उपस्थित की थी।

सन् १९१३ ई० के प्रस्तावों ने इस संबंध में कुछ नए विचार रक्खे थे। ये विचार उचित एवं वैज्ञानिक थे, क्योंकि पिछली घटनाओं का अध्ययन करने के पश्चात् इन विचारों को रक्खा गया था। प्रस्ताव ने अनुभव किया था कि भारतीय समाज के कुछ निजी बंधन है और इन बंधनों को तोड़ कर स्त्रियों को शिक्षित बनाना संभव न था। अतः सभी प्रान्तों को परामर्श दिया गया कि स्त्री-शिक्षा के लिए सामाजिक एवं स्थानीय परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक है। इनको उपेक्षित कर स्त्री-शिक्षा में कोई प्रगति नहीं की जा सकती है। नई नीति की प्रमुख बातें निम्नांकित थीं :—

१—बालिकाओं को वह शिक्षा दी जाय जो भावी जीवन में प्रयोग की जा सके तथा सामाजिक बंधनों को लेकर चलाई जा सके। बालिकाओं की शिक्षा बालकों से भिन्न होनी चाहिए, तथा इसमें परीक्षा को प्रधानता न दी जानी चाहिए।

२—लड़कियों के सामाजिक वातावरण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

३—बालिका-विद्यालयों का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए तथा स्थाई निरीक्षकों की व्यवस्था की जानी चाहिए।

४—जहाँ तक संभव हो सके बालिका-विद्यालय में सभी शिक्षिका ही नियुक्त की जायँ तथा निरीक्षिका भी स्त्रियाँ ही होनी चाहिए। यथासंभव भारतीय स्त्रियाँ ही इस कार्य के लिए नियुक्त की जायँ। यदि वे उपलब्ध न हों तो उन लोगों की स्त्रियाँ जो भारत में विदेशी हैं परन्तु भारत में रहती हैं, इस कार्य के लिए प्रशिक्षित बनाई जानी चाहिए।

इन सब निर्णयों से स्त्री-शिक्षा को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला। सन् १९०४ ई० में श्रीमती एनी बेसेण्ट बनारस में बालिकाओं के लिए सेण्ट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल स्थापित कर चुकी थीं। इस स्कूल का उद्देश्य बालिकाओं को भारतीय संस्कृति के वातावरण में पाश्चात्य शिक्षा देना था। सन् १९१६ ई० में दिल्ली में स्त्रियों के लिए लेडी हार्डिङ्ग कालेज स्थापित किया गया। सन् १९१७ ई० में देश में स्त्रियोंके लिए १२ आर्ट्स कालेज, ४ व्यावसायिक कालेज और १६६ माध्यमिक स्कूल थे। इस समय तक बालक और बालिकाओं के निमित्त प्रचलित पाठ्यक्रम में विशेष भिन्नता न थी। इससे स्त्री-वर्ग में कुछ असन्तोष व्याप्त हो रहा था। वे अपने स्वभाव और जीवन-कर्तव्य के अनुकूल पाठ्यक्रम चाहती थीं। इस असन्तोष से प्रेरणा लेकर सन्

१९१६ में आचार्य धोंदो के० कार्वे (जन्म १८५८ ई०) ने पूना में इण्डियन वीमेन्स युनिवर्सिटी स्थापित की। इस युनिवर्सिटी का मुख्य उद्देश्य भारतीय महिला को उसकी आवश्यकतानुसार शिक्षा देना है। आचार्य कार्वे उन मनीषियों में से हैं जो अपने जन्म के एक शताब्दी बाद भी शिक्षा-क्षेत्र में किए गये अपने परीक्षणों के अच्छे फलों के देखने के लिए अभी जीवित हैं। स्त्री-शिक्षा-क्षेत्र में आप की सेवाओं की मान्यता में भारत सरकार ने आप को 'भारत रत्न' की सर्व श्रेष्ठ उपाधि प्रदान कर आप के प्रति जनता की कृतज्ञता का प्रकाशन किया है।

चित्र नं २७—आचार्य कार्वे

प्राथमिक शिक्षा

इस अवधि में प्राथमिक शिक्षा में स्त्रियों की संख्या काफी बढ़ी। स्त्रियों के लिए अलग व्यवस्था हो गई थी और स्त्री-शिक्षिकायें नियुक्त होने लगी थीं। सन् १९०१-२ ई० में प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने वाली बालिकाओं की संख्या ३,४८,५१० थी और सन् १९२१-२२ ई० में यह संख्या ११,९८,५५० हो गई थी। प्रशिक्षण में पढ़ने वाली छात्राओं की संख्या सन् १९०१-२ ई० में ५१५ थी। यही संख्या बढ़ कर सन् १९२१-२२ ई० में ४७२०८ हो गई थी। सन् १९०७ ई० में पूर्वी बंगाल में नारी शिक्षा समिति का निर्माण किया गया और नारी-शिक्षा को काफी प्रोत्साहित किया गया। उनके लिए जनाना स्कूलों का प्रबंध किया गया। सन् १९१० ई० में स्त्रियों की शिक्षा के लिए पेजेण्ट गर्ल्स स्कूल[1] की स्थापना हुई।

१. They were set up to approach a class-people who are usually averse to female education, and who have not hitherto been affected to any appreciable extent by the ordinary schools so far as female education goes.

—Quoted by Zellener; Education in India p. 118, Bookmen Associates, New York 1951.

माध्यमिक शिक्षा

अब भारतीयों का दृष्टिकोण व्यापक होने लगा था और स्त्री-शिक्षा का महत्त्व उनको अनुभव होने लगा था। इसके अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा का आशा से अधिक विस्तार होने के कारण माध्यमिक विद्यालयों में विस्तार स्वाभाविक था। इस अवधि में प्रगति इस प्रकार थी :—

	सन् १६०१-२ ई०	सन् १६२१-२२	बढ़ी हुई संख्या
उच्च स्कूल	६२७४	३६६६८	२७४२४
मिडिल स्कूल	३२३०८	६२४६६	६०१५८
योग	४१,५८२	१,२६,१६४	८७,५८२

इस प्रकार सन् १६२१-२२ ई० में माध्यमिक एवं उच्च विद्यालयों की पूर्ण संख्या १,२६१ थी जिनमें एंग्लोइंडियन, ईसाई तथा पारसी लड़कियाँ ही अधिक संख्या में थीं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हिन्दू तथा मुसलमानों की संख्या कम थी। इनकी संख्या पहले की अपेक्षा अब काफी बढ़ गई थीं। उनकी संख्या के लिए तालिका इस प्रकार है :—

	१६०१-२	१६२१-२२	१६११ ई० की अपेक्षा
मुसलमान छात्रायें	८६५	५८६३	लगभग ७ गुनी अधिक
हिन्दूछात्रायें	१३६२३	४१२२१	लगभग ३ गुनी अधिक

उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सन् १६१३-१६२२ ई० की अवधि में सराहनीय प्रगति हुई। इस प्रगति का क्रमिक विकास जानने के लिए आगे की तालिका की ओर ध्यान देना आवश्यक है :—

उच्च शिक्षा में लड़कियों की संख्या

१८८२ ई० में	१६०२ ई० में	१६२१-२२ ई० में	विवरण
६	१७७	१२६३	१२६३ में ३६८ हिन्दू छात्रायें २५ मुसलमान और शेष में अन्य जातियाँ

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया बालिकायें विद्यालय के अधिक निकट बढ़ती गईं। अब वे विद्यालय के सभी कार्य-क्रमों—जैसे प्रतियोगिता, व्यायाम, नाटक एवं गोष्टी आदि में भाग लेती थीं। वे अब पाठ्क्रम एवं परीक्षा में भी बालकों की समता करने लगी थीं।

सन् १६२१-२२ ई० में व्यावसायिक शिक्षा[१]

इस अवधि में व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति बड़ी मन्द रही। अभी तक जितनी भी ऐसी संस्थायें स्थापित हुई थीं वे केवल राजकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए थीं। सन् १६०४ ई० में लार्ड कर्जन ने स्वीकार किया कि 'भारत में टेकनिकल शिक्षा राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विशेषज्ञ एवं अधिकारी बनाने के लिए प्रारम्भ की गई है।'[२] ऐसी स्थिति में इसकी प्रगति मन्द होनी स्वाभाविक थी।

१. Professional Education

२. "Technical Education in India has hitherto been mainly directed to the higher forms of instruction required to train men for Government services as engineers, mechanicians electricians, overseers, surveyors revenues officers, of teachers in schools, and for employment in railway workshops, cotton mills and mines. Government Resolution on Educational Policy. 1904, para 31.

सन् १९२१-२२ में व्यावसायिक संस्थायें

व्यावसायिक संस्थायें	उनकी संख्या	छात्रों की संख्या
१. शिक्षा संस्थायें	१२	५१९
२. चिकित्सा-शिक्षा संस्थायें	७	३,८६३
३. कानून संस्थायें	१३	५,८९५
योग	३२	१०,२७७
४. इंजीनियरिंग कालेज	५	८०३
५. वाणिज्य	५	४७९
६. कृषि कालेज	२	३२६
योग	१२	१,६०८
महायोग	४४	११,८८५

उपर्युक्त तालिका को देखकर इस अवधि की व्यावसायिक शिक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है। भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। इसकी ६६ प्रतिशत से अधिक जनता खेती पर अपना जीवन निर्वाह करती है। फिर भी यह दशा थी। वाणिज्य और निर्माण-कार्य के छात्रों का मुख्य उद्देश्य नौकरी होता था।

शिक्षा-विभाग

सन् १८८७ ई० की सेवा आयोग-नीति के कारण भारतीय शिक्षा-सेवाओं (आई० ई० एस०) पर योरोपियनों का पूर्ण अधिकार हो गया था। आई० ई० एस० अधिकारियों की नियुक्तियाँ भी आई० सी० एस० की भाँति इंगलैंड में हुआ करती थीं और इन पर अधिकांश अंग्रेज ही नियुक्त किये जाते थे। ऐसी दशा देख कर भारतीयों ने इसके विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। फलतः २० अगस्त

१९१७ ई० को भारत सचिव ने कहा कि सरकार की नीति भारतीय प्रशासन में भारतीयों को अधिकाधिक सम्बद्ध करने का है।[1] सरकार ने अपनी सन् १८८७ की नीति को त्याग दिया और अब भारतीय शिक्षा-सेवा में भारतीय भी नियुक्त होने लगे। सन् १९१९ ई० में भारतीय शिक्षा-विभाग का पुनर्संगठन हुआ और इसमें रोपीय और भारतीयों की ५०-५० प्रतिशत संख्या निश्चित हो गयी। भारतीय शिक्षा-सेवा के पदों की संख्या में ३३ प्रतिशत वृद्धि कर दी गयी और इन पदों पर प्रान्तीय सेवा के पदाधिकारी नियुक्त कर दिए गए और उनकी पिछली सेवायें मान ली गयीं। इनकी नियुक्ति अब भी भारत सचिव ही करता था; परन्तु अब भारतीय सेवाओं में भारतीयों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। सन् १९२१-२२ ई० के आँकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि कुछ स्त्रियाँ भी नियुक्त होने लगी थीं। इस समय शिक्षा-विभाग के विभिन्न पदों पर २ स्त्रियाँ और १२० भारतीय पुरुष कार्य कर रहे थे, जब कि सन् १९१६-१७ ई० में स्त्रियाँ बिल्कुल न थीं और पुरुष केवल ९ थे। उच्च अधिकारियों में भारतीयों की निरन्तर वृद्धि के कारण उसकी नीति पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

राष्ट्रीय शिक्षा-भावना का विकास[2]

लार्ड कर्जन ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में स्थायी बनाना चाहता था। उसकी इस सम्राज्यवादी नीति से भारतीयों के मन में राजनीतिक भावना बड़ी तीव्र गति से दौड़ने लगी थी। अब भारतीय शिक्षा भी राजनीति के प्रभाव से अलग न रह सकी। स्वदेशी आन्दोलन भी जोर पकड़ता जा रहा था। इन सब कारणों से शिक्षा के स्वदेशीकरण अथवा राष्ट्रीकरण की बात जोर पकड़ती जा रही थी। राष्ट्रीय आन्दोलन की उग्रता के साथ-साथ भारतीय शिक्षा की राष्ट्रीय दृढ़ता भी बढ़ती गयी। एनी बिसेन्ट ने कहा था कि भारतीय जीवन तथा भारत के राष्ट्रीय आचरण के निर्धन बनाने में भारतीय शिक्षा के विदेशीय स्वरूप से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं हो सकता।[3]

१. That the policy of His Majesty's Government, with which the Government of India was in complete accord, was that of increasing association of Indians in every branch of Indian administration.—Nurullah and Naik p. 557.

२. Development of the Spirit of National Education.

३. Nothing can more swiftly emasculate national life; nothing can more surely weakens national character, than allowing the education of the young to be controlled by foreign influences, to be dominated by foreign ideals. Annie Besant—Quoted in The Problem of National Education in India.—By Lala Lajpat Rai. p. 28;

अंग्रेजी शिक्षा का विश्लेषण करते हुए गाँधी जी ने कहा था कि वर्तमान शिक्षा की नीति ब्रिटिश सरकार के द्वारा निर्धारित होती है। इसके अन्यायपूर्ण शासन से सम्बन्धित होने के अतिरिक्त भी तीन अन्य बड़े-बड़े दोष हैं :—

१—वर्तमान भारतीय शिक्षा विदेशी सभ्यता और संस्कृति पर आधारित है। इसमें भारतीय संस्कृति का कोई स्थान नहीं है। वह इससे बहिष्कृत कर दी गयी है।

२—यह शिक्षा केवल मानसिक विकास करती है। हाथ के काम का सर्वथा अभाव है तथा इसका हृदय पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

३—यह शिक्षा अंग्रेजी माध्यम द्वारा प्रदान की जाती है। किसी भी देश की वास्तविक शिक्षा विदेशी भाषा के माध्यम से देना सम्भव नहीं। वास्तविक शिक्षा देशी भाषाओं द्वारा ही दी जा सकती है।[१]

पहले बताया जा चुका है कि राष्ट्रीय शिक्षा का जोर बढ़ता जा रहा था। अब प्रश्न यह था कि इसकी क्या रूप-रेखा होगी। प्रारम्भिक अवस्था में तो भारतीय नेताओं और शिक्षा-मर्मज्ञों को इसकी कोई स्पष्ट रूप-रेखा न दिखाई पड़ी, परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इसको रूप-रेखा भी स्पष्ट होती गयी और अन्त में एक निखरा हुआ रूप दिखाई पड़ा जिसके निम्नलिखित स्वरूप थे :—

१. भारतीय नियंत्रण

भारतीयों ने शिक्षा पर अंग्रेजों के नियंत्रण का विरोध किया और माँग की कि इस पर भारतीयों का नियंत्रण हो तथा इसका प्रबन्ध भी उन्हीं के हाथ में छोड़ दिया जाय। यह शिक्षा भारतीय धर्म से अनुप्राणित होकर साम्प्रदायिकता से दूर रहे और छात्रों के समक्ष ज्ञान एवं चरित्र के उच्च आदर्श प्रस्तुत करे।[२]

---

१. The existing system of education is defective, apart from its association with an utterly unjust government in three most important matters :—(i) It is based upon foreign culture to the almost entire exclusion of indigenous culture (ii) It ignores the culture of the heart and the hand, and confines itself simply to the head; and (iii) Real education is impossible through a foreign medium.—Young India (1919-22), p. 451, By Mahatma Gandhi.

२. It must be controlled by Indians, shaped by Indians, carried on by Indians. It must hold up Indian ideals of devotion, wisdom and morality and must be permeated by the Indian religious spirit rather than fed on the letter of the creeds.—Mrs. Annie Besant—Quoted by Lala Lajpat Rai in 'The Problem of National Education in India' p. 28.

२. मातृ-भूमि के प्रति प्रेम

यह शिक्षा छात्रों में देश-प्रेम की भावना भरे जिससे वे भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम रक्खें और इसकी विशालता, शालीनता एवं उदारता से अपने वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को महान बना सकें। यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जब पाठ्यक्रम में भारतीय इतिहास, भारतीय साहित्य, कला, कौशल एवं विज्ञान को विशिष्ट स्थान दिया जाय।[१]

३. दास्य अनुकरण ठीक नहीं

राष्ट्रीय शिक्षा छात्रों के समक्ष भारतीय आदर्शों को रक्खे न कि पाश्चात्य आदर्शों को। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का युग अब बीत चुका। अब शिक्षा का उद्देश्य भारतीयों को भारतीय बनाना है, न कि अंग्रेज बनाना। भारतीय राष्ट्र की अपनी स्वयं की विशेषताएँ हैं और उसी के अनुसार उनका विकास करना चाहिए। भारत से बढ़कर अन्य किसी देश की राष्ट्रीयता नहीं।[२] इंगलैण्ड के आदर्श इंगलैंड के लिए अच्छे हो सकते हैं, परन्तु भारत के लिए भारतीय आदर्श ही अच्छे होंगे।[३]

४. पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान का बहिष्कार नहीं

कोई भी राष्ट्र संसार के अन्य राष्ट्रों के भावों से अवगत हुए बिना उन्नति नहीं कर सकता। अतः पाश्चात् ज्ञान और विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। योरोपीय भाषाओं और ज्ञान का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। वर्तमान युग में कोई भी देश अलग हो कर नहीं रह सकता।

---

१. National education must live in a spirit of proud and glorious patriotism, and this atmosphere need be kept sweet, fresh and bracing by the study of Indian literature, Indian History, Indian Triumps in science, in art, in politics, in colonization, in manufactures, in trade, in commerce. Annie Besant—quoted in Lala Lajpat Rai, op. cit., p. 29.

२. India is herself, and needs not to be justified; for verily, God has evolved no greater, no more exquisite nationality than India's among all the broken reflections of His own perfect beauty.

Mrs. Besant—quoted in Lala Lajpat Rai, op. cit., p. 29-30.

३. British ideals are good for Britain; but it is India's ideals that are good for India, Ibid, p. 29-30.

भारत ने संसार को सभ्यता का प्रकाश दिखाया था। योरोप तथा संसार ने भारत से बहुत कुछ सीखा है। अतः हमें भी उनसे सीखने में लज्जित नहीं होना चाहिए और हमारी यह चेष्टा होनी चाहिए कि जो कुछ हम उनसे सीखें उसके बदले में हम उन्हें कुछ सिखायें।[1]

५. अंग्रेजी का प्रभुत्व समाप्त हो

राष्ट्रीय शिक्षा से अंग्रेजी का महत्त्व हट जाना चाहिए। न तो वह माध्यम के रूप में रक्खी जाय और न मुख्य विषय के ही रूप में। अंग्रेजी के प्रति विशेष अनुराग और जोर भारतीयों की दासता एवं पतन का प्रतीक है।[2] विदेशी भाषा को सर्वोपरि मानकर कोई भी देश उन्नति नहीं कर सकता। अतः मातृभाषाओं को प्रश्रय दिया जाना चाहिए। अभी तक बालक नौकरी एवं बालिकायें उत्तम विवाह की दृष्टि से अंग्रेजी का अध्ययन करती थीं। भारतीय अंग्रेजी तो पढ़ें, परन्तु उसके साथ ही साथ मातृभाषा को न भुला दें।[3]

६. व्यावसायिक शिक्षा पर बल दिया जाय

राष्ट्रीय शिक्षा के लिए सर्व प्रथम आवश्यक है कि लोगों का जीवन अच्छा हो और वे दूसरों को अच्छी तरह रहने में सहायता दें। इसके लिए आर्थिक समस्या का समाधान करने के लिए व्यावसायिक शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाय। इस बात पर तो सभी सहमत थे। परन्तु दुर्भाग्यवश भारतीय नेताओं का विभिन्न मत था। सन् १९२१ ई० में गाँधी जी ने बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार

---

१. Europe and world have learnt a good deal from us, we have no reason to be ashamed of learning from them, with the fullest intention of adding to their knowledge and teaching them in our turn.—Lala Lajpat Rai, op. cit., p. 85.

२. The canker has so eaten into the society that in many cases the only meaning of education is a knowledge of English. All these are for me signs of slavery and digradation.

—Mahatma Gandhi, op. cit, 482-4.

3. I would have our youngmen and young women with literary tastes to learn as much of English and other world languages as they like, and then expect them to give the benifits of their learning to India and to the world, like a Bose, like a Roy or the Poet (refers to Ravindranath Tagore) himself—Mahatma Gandhi, op. cit., p. 82-84.

प्रकट किये । उनके विचार में यह शिक्षा प्रारम्भ से ही बालकों को स्वावलम्बी बना सकती थी। बेसिक शिक्षा से गाँधी जी के अनुसार बालक अपना शारीरिक एवं मानसिक विकास कर सकेंगे तथा आत्म-निर्भर बन सकेंगे।[१] गाँधी जी के राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी विचार बड़े ही सुन्दर तथा सरल थे। जीवन में उनका व्यावहारिक उपयोग भी था। परन्तु समस्या यह थी कि उसको कार्य रूप में किस प्रकार परिणित किया जाय। इस सम्बन्ध में धन की आवश्यकता थी। फिर भी भारतीय नेता निराश न हुए और अपने निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति में लग गए। इस प्रकार की शिक्षा का दो विशेष युगों में आविर्भाव हुआ है। जो विद्यार्थी स्वदेशी आन्दोलन में भाग लेते थे उन्हें सरकार विद्यालयों से निकाल देती थी। अतः उनकी शिक्षा का दायित्व भारतीय नेताओं पर था। बंगाल में गुरुदास बनर्जी ने 'सोसाइटी फार दी प्रोमोशन आफ नेशनल एडुकेशन, बंगाल'[२] का निर्माण किया था। सन् १९०६ ई० में कलकत्ता कांग्रेस में यह प्रस्ताव पास किया गया कि समस्त देश में ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा का आयोजन किया जाय जो भारत को राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति तथा देश की आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थ हो सके।[३] यह आन्दोलन

चित्र नं० २८—महात्मा गाँधी

---

१. If we introduced this in our educational institutions, we should fulfil three purposes—make education self-supporting, train the bodies of the children as well as their minds and have the way for a complete boycott of foreign yarn and cloth. Moreover, the children thus equipped will become self-reliant and independent.

—M. K. Gandhi. Young India, 15th June 1921.

२. Society for Promotion of National Education in Bengal.

३. The Calcutta Congress (1906) passed a resolution that the time had arrived for the people all over the country earnestly to take up the question of National education for both boys and girls, and organise a system of education, literary, scientific, and technical, suited to the requirements of the country, on National lines and under National control, and directed towards the realisations of National destiny.—Quoted in Nurullah and Naik p. 566.

अधिक दिनों तक न चल सका, क्योंकि बंग-विभाजन रद्द कर दिया गया। आन्दोलन[1] समाप्त होते ही राष्ट्रीय शिक्षा की भावनायें भी समाप्त हो गयीं। सन् १९२० ई० तक इसके कुछ चिह्न यत्र-तत्र बिखरे दिखाई पड़ते हैं।

सन् १९२० ई० में महात्मा गाँधी ने लोगों से कहा कि राजकीय कालेजों और स्कूलों से अपने छात्रों को हटा लेना चाहिए और उनके लिए राष्ट्रीय विद्यालयों की व्यवस्था की जाय।[2] नागपुर कांग्रेस में भी सन् १९२० ई० में यह प्रस्ताव रक्खा गया। छात्रों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों का बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। इस सम्बन्ध में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के छात्रों ने सराहनीय कार्य किये। उन्होंने सबका पथ-प्रदर्शन किया और शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की माँग की। यद्यपि यह हो न सका। ऐसे छात्रों की बढ़ती हुई संख्या देखकर मौलाना मुहम्मद अली ने अलीगढ़ में जामिय मोलिया इसलामिया विश्वविद्यालय स्थापित कर सरकारी विद्यालय छोड़ने वाले छात्रों की शिक्षा की व्यवस्था की। अलीगढ़ विश्वविद्यालय की प्रेरणा से ४ माह के अन्दर ही बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, बंगाल राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ तथा गुजरात विद्यापीठ की भी स्थापना हुई। भारत सरकार ने सन् १९१७ से १९२२ ई० की शिक्षा-प्रगति के सम्बन्ध में अपनी पंचवर्षीय रिपोर्ट में बताया है कि सन् १९२१-२२ ई० में राष्ट्रीय विद्यालयों की संख्या तथा उसमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या बहुत काफी हो गयी। इसका अनमान निम्नांकित तालिका से किया जा सकता है।

सन् १९२१-२२ ई० में राष्ट्रीय विद्यालयों और उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या[3]

प्रान्त	राष्ट्रीय विद्यालय	छात्रों की संख्या
१, बिहार व उड़ीसा	४४२	१७,३३०
२. बंगाल	१९०	१४,८१९

१. The Nationalist's schools, started by the Council, have, most of them, been disintigrated by the force of circumstances, and at the present moment the movement is nothing but a delapidated and discarded landmark in the educational progress of the country.
—Lala Lajpat Rai, op. cit., p. 26.

२. Dr. Pattabhi Sitaramayya: History of the Indian National Congress, Vol. I, p. 203.

३. Quinquennial Review of the Progress of Education in India, 1917-22. p. 5

प्रान्त	राष्ट्रीविद्यालय	छात्रों की संख्या
३. बम्बई	१८६	१७,१००
४. संयुक्त प्रान्त	१३७	८,४७६
५. मद्रास	६२	५,०७२
६. मध्य प्रान्त	८६	६,३३८
७. पंजाब	६६	८,०४६
८. आसाम	३८	१,६०८
९. पश्चिमोत्तर प्रान्त	४	१२०

धीरे-धीरे असहयोग आन्दोलन का वेग कम हो गया और सन् १९२२ ई० के अन्त तक वह मन्द पड़ गया। परन्तु राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन उसी वेग से बढ़ता रहा और राष्ट्रीय विद्यालयों का आविर्भाव होने लगा। स्कूल छोड़ने वाले छात्रों में नेतृत्व की भावना भरती जा रही थी। आज भी उस समय के स्कूल से बहिष्कृत किये हुए छात्र-समुदाय के व्यक्ति प्रान्तीय एवं जिला स्तर के नेता पाए जाते हैं।[१]

राष्ट्रीय शिक्षा-आन्दोलन ने छात्रों में प्राण फूंक दिये। अब वे राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हो गए और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध नारे लगाने लगे। राष्ट्रीयता के इस वेग को देखकर ब्रिटिश सरकार को अनुभव हो गया कि उनकी शिक्षा दोष-पूर्ण है और उसमें सुधार की आवश्यकता है।[२] उनको यह भी पता लग गया कि भारतीयों में कितनी शक्ति है? और विद्यार्थी एवं युवक वर्ग उनके कितने विरोधी हैं। तथा यदि यही दशा चलती रही तो भारत से उनका पत्ता भी कट जायगा। इस राष्ट्रीय आन्दोलन ने भारतीय शिक्षा के इतिहास में क्रान्ति ला दी। राष्ट्रीय शिक्षा को माँग की पूर्ति के लिए अनेक विद्यालय स्थापित हो गए। इस प्रकार की शिक्षा ने देश के स्वतंत्रता-संग्राम में बड़ा सहयोग दिया है।

---

१. Not a few of the Provincial and District leaders of today are from among .....the students who had non-co-operated in 1920. Dr. Pattabhi Sitaramayya. op. cit., p. 211.

२. In short.....the crisis has left behind the conviction that our educational aims need re-statement......the national school movement can at least claim that it lent strength to the advocates of educational reforms. Quinquennial Review of the Progress of Education in India, 1917-22.

मुसलमानों की शिक्षा

सन् १९०५ ई० के पश्चात् लगभग १६ वर्षों की अवधि[१] में मुसलमानों की शिक्षा-प्रगति बड़ी तीव्र रही। इस अवधि की एक विशेषता यह है कि मुसलमान स्त्रियों ने शिक्षा ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। केवल सामान्य विद्यालयों में ही नहीं, अपितु व्यावसायिक और औद्योगिक शिक्षा में भी इन्होंने दृढ़ता के साथ कदम बढ़ाया था। सन् १९०५-२१ ई० की मुसलिम शिक्षा की प्रगति निम्नांकित तालिका से भली-भाँति जानी जा सकती है :—

सन् १९२१–२२ ई० की छात्र-संख्या

कालेज और स्कूल	लड़के	लड़कियाँ
कला कालेज	५,३९९	२५
व्यावसायिक कालेज	१,५३८	६
माध्यमिक	२,०१,८४०	५,८६३
प्राथमिक स्कूल	१२,११,९८२	२,९१,२२५
विशिष्ट औद्योगिक तथा व्यावसायिक	४०,७९९	१,३०४
योग	१४,६१,५५८	२,९८,४२३

अभी तक मुसलमान छात्रों के लिए अलग स्कूल न थे। वे सामान्य सार्वजनिक स्कूलों में ही शिक्षा ग्रहण करते थे। परन्तु कुछ कारणों से वे अपने लिए विशिष्ट स्कूलों की माँग कर रहे थे और यह माँग इस अवधि में काफी जोर पकड़ गई। परिणामतः उनके लिए विशिष्ट स्कूलों का निर्माण हुआ। इन स्कूलों में कुछ ऐसे थे, जो प्राचीन ढंग के थे और कुछ नई शिक्षा के अनुसार थे। प्रथम प्रकार में मकतब, मुल्ला, मदरसा, कुरान थे और द्वितीय प्रकार में आधुनिक ढंग के स्कूल थे। प्रथम प्रकार में प्रायः धार्मिक शिक्षा दी जाती थी, परन्तु बाद में नई शिक्षा भी देने का प्रयत्न किया गया। द्वितीय प्रकार के स्कूलों में उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी आदि आधुनिक विषय पढ़ाये जाते थे। इन स्कूलों के मुसलिम छात्रों की संख्या में काफी वृद्धि हुई।

---

१. The general result has been an increase in the number of Muhamdan pupils slightly larger, in proportion to the number of the community, than the increase among pupils of all races and creeds together.

Quinquennial Review of the Progress of Education in India, 1912-17. p. 499.

मुसलमानों के लिए अलग विद्यालय बन तो गए, परन्तु इसके परिणाम बड़े भयानक हुए। अपरिपक्व अवस्था में ही छात्रों के मस्तिष्क में सामप्रादयिकता का बीजारोपण हो जाता था और वे भारतीय हिन्दुओं तथा अन्य लोगों से दूर होते गए। इस प्रकार इन स्कूलों से राष्ट्रीय हित को बड़ा आघात पहुँचा है। वास्तव में यह ब्रिटिश सरकार की चाल थी जो कि उसने मुसलमानों के लिए विशिष्ट विद्यालयों की व्यवस्था की। इसी विषैली शिक्षा के कुछ परिणाम हैं कि असंख्यों लोगों की निर्मम हत्यायें हुईं और भाई, भाई का रक्त पीने के लिए तैयार हो बैठा। राष्ट्रीयता की हानि तथा इसके अन्य दुष्परिणामों को सुनकर हृदय कांप उठता है, और क्षण भर के लिए उसका नृशंस दृश्य सामने आ जाता है।

हरिजनों की शिक्षा

गत अध्यायों में बताया जा चुका है कि हरिजनों के सामाजिक सुधार के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती और महात्मा फूले ऐसे समाज सुधारक इनकी दशा सुधारने में व्यस्त थे। इस समय तक ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज ने हरिजनों के सामाजिक स्तर को काफी उठा दिया था। छुआछूत का भेद मिटने लगा था। सन् १९०२-२१ ई० की अवधि में हरिजन-शिक्षा के पक्ष में जोरदार आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था और इस आन्दोलन को उत्तम वातावरण भी प्राप्त होता गया।

गोपालकृष्ण गोखले ने हरिजनोद्धार के लिए भारत सेवक समाज स्थापित किया था और सन् १९१४ ई० में अमृतलाल ठक्कर ने अपना जीवन ही हरिजन-सुधार के लिए उत्सर्ग करने का संकल्प किया था। हरिजनों के लिए विट्ठल राम जी शिंडे ने कुछ कम काम नहीं किया। इन्होंने इनके लिए दलित वर्ग-सुधार सभा का निर्माण किया। इसी समय महात्मा गांधी इस क्षेत्र में आए। उन्होंने बताया कि हरिजनों को अलग कर के देश का अहित ही हो सकता है, कल्याण नहीं। वे भी हमारे भाई हैं और उन्हें भी वही अधिकार हैं जो हमें हैं। महात्मा गांधी के विचारों से हरिजनों को एक नवीन प्रेरणा मिली और वे जग गए। सन् १९१७ ई० तक कांग्रेस राजनीतिक संस्था थी। वह समाज-सुधार संबंधी कार्य करना अपने क्षेत्र के बाहर समझती थी। परन्तु अब समाज-सुधार भी उसका एक मुख्य कार्य हो गया। सन् १९२२ ई० में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने बारदोली में एक प्रस्ताव पास कर कांग्रेस के अन्य कार्यों में हरिजनों का समाज-सुधार प्रमुख रखा। यह कहा गया कि कांग्रेस के सभी लोगों का यह कर्त्तव्य है कि हरिजनों के सामाजिक स्तर को ऊँचा करने का भरसक प्रयत्न करें तथा उनके नैतिक,

सामाजिक एवं मानसिक स्तर को ऊँचा करने में सहायता दें और उनके बच्चों को स्कूलों में पढ़ने के लिए उत्साहित करें तथा अधिकाधिक सुविधायें दें।

उपर्युक्त व्यक्तियों एवं संस्थाओं के अतिरिक्त बड़ौदा के महाराज सयाजीराव गायकवाड़ और कोल्हापुर के महाराज साहु छत्रपति के नाम भी हरिजन शिक्षा-इतिहास में अमर रहेंगे। बड़ौदा के महाराज ने अपने राज्य में सन् १८८३ ई० में हरिजनों के लिए १८ विशेष प्रकार के विद्यालयों का निर्माण कराया, योग्य हरिजनों को छात्र-वृत्तियाँ तथा अन्य बहुत सी सुविधायें प्रदान कीं। डा० बी० आर० अम्बेदकर तथा विट्ठल रामजी शिन्डे को इतनी उच्च शिक्षा इन्हीं महाराज ने दिलाई थी। कोल्हापुर के महाराज ने हरिजनों के लिए अपने राज्य के सभी स्कूलों में प्रवेश की आज्ञा दे दी। उनके लिए किसी प्रकार की रोक न थी। अध्यापकों को आदेश दे दिया गया था कि वे हरिजनों के साथ भी वही व्यवहार करें जो अन्य छात्रों के साथ करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सुविधायें भी दी गई थी। इन दोनों राजाओं की उदार नीति के कारण हरिजनों को नया प्रोत्साहन मिला और डा० अम्बेदकर और शिन्डे के नेतृत्व में वे अपनी दशा सुधारने के लिए स्वयं प्रयत्नशील हो उठे। हरिजनों को एम० सी० राना से भी काफी सहायता एवं प्रेरणा मिली थी।

उपर्युक्त प्रयत्नों के फलस्वरूप हरिजनों में भी चेतना आई। अब हरिजन अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति सचेत थे। वे भी पढ़ना चाहते थे और उनमें यह भावना जागृत हो गई थी कि राज्य के सभी स्कूलों में उनको भी पढ़ने का अधिकार है, तथा समाज के वे भी एक विशेष अंग हैं, और समाज में उनका स्तर किसी प्रकार भिन्न नहीं है। सरकार भी सामान्य स्कूलों में उन्हें सभी प्रकार की सुविधा देने लगी।

हरिजनों को सामान्य विद्यालयों में प्रवेश और सभी प्रकार की सुविधायें देने के लिए सर्व प्रथम मद्रास की सरकार ने सन् १९१९-१९२२ ई० में कई आदेश जारी किए। सरकार ने कहा कि हरिजन बच्चों को वे ही सुविधायें हैं जो अन्य छात्रों को और इनके साथ किसी प्रकार की भिन्नता का व्यवहार न किया जाय। सन् १९२२-२३ ई० में बम्बई सरकार ने भी ऐसी ही आज्ञायें जारी कीं और यह भी कहा कि हरिजन छात्रों के साथ भेदभाव प्रकट करने वाले स्कूलों की आर्थिक सहायता बन्द कर दी जायगी तथा उनकी मान्यता छीन ली जायगी। अतः इस समय तक यह निश्चित हो गया था कि हरिजनों के लिए किसी विशेष प्रकार के स्कूल की आवश्यकता नहीं है। इन कारणों से सन् १९२०-२२ ई० की अवधि में हरिजनों की शिक्षा में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। इसका अनुमान सन् १९२१-२२

ई० में विभिन्न प्रान्तों की हरिजन छात्रों की संख्या में लगाया जा सकता है जो इस प्रकार थी[1] :—

	प्रान्तों के नाम	हरिजनों की जनसंख्या	छात्रों की संख्या (मान्यता प्राप्त स्कूलों में)
१.	मद्रास	६,५३०	१,५७,११३
२.	बंगाल	६,६४०	६६,५५२
३.	संयुक्त प्रान्त	७,६८०	३६,८७३
४.	बम्बई	१,४६०	३६,५४३
५.	मध्य प्रान्त	३,०१०	२८,६१६
६.	बिहार-उड़ीसा	२,५३०	१५,०६६
७.	पंजाब	१,७००	३,७३२

उपर्युक्त तालिका में मद्रास के हरिजन छात्रों की संख्या सबसे अधिक है। परन्तु आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि इस समय लगभग सभी प्रान्तों में हरिजन छात्र पर्याप्त संख्या में प्राइमरी स्कूलों में ही थे। परन्तु कुछ छात्र माध्यमिक एवं उच्च विद्यालय में भी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। हाँ, इनकी संख्या बहुत कम थी।

आदिवासियों तथा पहाड़ी जातियों की शिक्षा

आदिवासियों तथा पहाड़ी जातियों की दशा अब भी शोचनीय बनी रही। इस अवधि में इनकी शिक्षा का कुछ प्रयास सरकार ने किया था, परन्तु उससे कोई लाभ न हो सका। अतः इस समय तक इनकी शिक्षा का कार्य धर्म-प्रचारकों (मिशनरीज) द्वारा ही होता रहा और धर्म-प्रचारकों के कुछ स्कूलों को सरकार को अपने हाथ में ले लेना पड़ा।

भारत में एक जाति रहती थी जो प्रायः चोरी करती थी, दूसरे के जानवर भगा ले जाती थी तथा अन्य ऐसे ही कार्य किया करती थी। इसे सरकारी कागजों में अपराधी जाति (क्रिमीनल ट्राइब) की संज्ञा दी गई है। सन् १६२०-२१ ई० की अवधि में सरकार ने इस अपराधी-जाति को शिक्षित बनाने का प्रयत्न किया और उन्हें घर देकर एक निश्चित स्थान पर बसा दिया। इस प्रकार उनकी कई बस्तियाँ बन गईं और उनके बच्चों के पढ़ने का प्रबंध भी हो गया। इस जाति के प्रौढ़ों को भी शिक्षित बना कर किसी व्यवसाय में लगाने का प्रयत्न किया गया। सन्

१. The Report of the Hartog Committee, p. 218.

१९२१ ई० में मद्रास प्रान्त में ऐसी जातियों के ५३ वयस्कों को लेकर कुल १४४३ छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उनको व्यावसायिक शिक्षा देने के लिए दो औद्योगिक स्कूल भी थे।

पंजाब प्रान्त में इन अपराधी जातियों की शिक्षा के लिए २० स्कूल लड़कों के लिए और १३ लड़कियों के लिए स्थापित हो चुके थे। इनमें शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्र और छात्राओं की संख्या क्रमशः ७३० और ४३१ थी। इसके अतिरिक्त कई औद्योगिक स्कल भी थे। सामान्य सार्वजनिक स्कूलों में इन जातियों के बालकों की संख्या १,८२५ थी। इसी प्रकार बम्बई में इन अपराधी जातियों के लिए ३६ स्कूल खुले थे जिनमें शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की संख्या १,४७७ थी तथा इस प्रान्त के सामान्य स्कूलों में दोषी जातियों के बालकों की संख्या ४,००० थी[१]।

सारांश

कर्जन के परवर्ती शासकों ने अन्य क्षेत्रों में उदारता की नीति बरतनी प्रारम्भ कर दी थी; परन्तु शिक्षा-क्षेत्र में उसी की नीति प्रचलित रही। इस नीति से राष्ट्रीय आन्दोलन का वेग बढ़ता जा रहा था। प्राचीन संस्कृति को प्रोत्साहित करने के प्रयत्न हो रहे थे और गोपालकृष्ण गोखले सरकार के समक्ष सुधार की माँगें रख रहे थे। उनकी यह भी माँग थी कि ६ से १० वर्ष तक के बालकों के लिए अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा होनी चाहिए। दुर्भाग्यवश यह माँग भी स्वीकृत न हो सकी। परन्तु गोखले ने साहस न खोया और निरन्तर प्रयास करते रहे। सन् १९११ में उन्होंने अपना विनम्र प्रस्ताव पुनः रक्खा। उनके प्रयत्नों का प्रभाव यह हुआ कि अब सरकार समझने लगी थी कि सुधार की वास्तविक आवश्यकता है और भारतीयों को प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता है। सन् १९१३ ई० में जार्ज पंचम के गद्दी पर बैठने के समय भारतीय शिक्षा-नीति में बहुत से परिवर्तन किए गए। भारत आने पर उन्होंने भारतीय शिक्षा के प्रति उदारता का दृष्टिकोण दिखाया। सन् १९१३ ई० के सरकारी प्रस्ताव में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के सुधारों के साथ-साथ उच्च शिक्षा में भी सुधार की आशा प्रकट की गई। इस प्रस्ताव में बहुत से अमान्य सुझाव रक्खे गए थे। परन्तु दुर्भाग्यवश प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया और बहुत सी बातें केवल कागज पर ही रह गईं। इस प्रकार शिक्षा की प्रगति में कुछ बाधायें उपस्थित हुईं।

---

१. Quinquennial Review of the Progress of Education in India, p. 211.

सन् १९१७ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय-आयोग नियुक्त किया गया। यद्यपि यह कमीशन केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय के लिए था, परन्तु फिर भी इसका मूल्य अन्य विश्वविद्यालयों के लिए भी सिद्ध हुआ। इसने माध्यमिक शिक्षा के भी दोष बताए और उन्हें दूर करने के सुझाव भी दिए। कमीशन ने विश्वविद्यालय के आन्तरिक प्रशासन, संगठन एवं कार्यों पर प्रकाश डाला और उनके लिए सुधार की आवश्यकता बताकर महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं। आयोग ने स्त्री-शिक्षा के हेतु शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की सिफारिशें कीं। इस कमीशन की लगभग सभी सिफारिशें बहुत महत्त्वपूर्ण थीं, फिर भी दोषों से मुक्त नहीं थीं। इसके बहुत से सिद्धान्त आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय पर आधारित थे जो भारत के लिए हितकर न थे। इसके अतिरिक्त इस आयोग की सिफारिश के अनुसार माध्यमिक शिक्षा को बोर्ड की अध्यक्षता में कर देना भी उस समय के लिए ठीक न था।

लार्ड कर्जन के समक्ष प्राइमरी स्कूलों का विस्तार एक मुख्य समस्या थी। अतः इस अवधि में अपर प्राइमरी और लोअर प्राइमरी स्कूलों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सन् १९०५ ई० के पश्चात् अनुदान भी ४० लाख रुपयों से बढ़ाकर ७५ लाख कर दिया गया। इस प्रकार सन् १९१२ ई० तक प्राथमिक स्कूलों की संख्या १९०२ ई० के पूर्व की संख्या की दुगुनी हो गयी। सन् १९०६ ई० में परीक्षा के अनुसार वेतन की प्रथा रद्द कर दी गयी। लार्ड कर्जन ने कुल व्यय का ⅓ भाग सरकार से दिलाने की प्रथा प्रचलित की। प्राथमिक विद्यालयों में संख्यात्मक वृद्धि के साथ-साथ गुणात्मक वृद्धि भी हुई। बड़ौदा के महाराज ने प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर जनता को प्रोत्साहन दिया। सन् १९०७-११ ई० तक प्राथमिक विद्यालयों के बालकों की संख्या ४ से ५ लाख हो गयी। प्रथम विश्व युद्ध समाप्त होने के पश्चात् प्राथमिक शिक्षा की प्रगति पुनः तीव्र होने लगी। सन् १९१८ ई० में बम्बई सरकार ने प्राथमिक शिक्षा कानून पास किया। कुछ नगर-पालिकाओं को ६-११ वर्ष के बालकों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने की आज्ञा मिल गयी सन् १९१९ में बंगाल, बिहार और आसाम आदि ने भी यही कानून पास किया।

सन् १९०५-१९२२ ई० तक की अवधि में प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन, पाठ्यक्रम तथा अन्य आवश्यक बातों के सम्बन्ध में पर्याप्त सुधार किये गये।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति अच्छी रही। छात्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। छात्रों की इस बढ़ती हुई भीड़ की आवश्यकता की पूर्ति के लिए

नये माध्यमिक विद्यालयों का निर्माण हुआ। अतः उनकी संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। माध्यमिक विद्यालयों में वाणिज्य और व्यवसाय पर काफी जोर दिया गया। स्कूल लीविंग सर्टीफिकेट की व्यवस्था की गयी। इस अवधि की विशेषता यह है कि माध्यमिक विद्यालयों में अंग्रेजी का महत्व काफी बढ़ गया। माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण पर ध्यान दिया गया और उनके लिए कई प्रशिक्षण-विद्यालयों का निर्माण किया गया।

सन् १६१६ के पश्चात् ५ वर्षों में ७ नए विश्वविद्यालयों का निर्माण हुआ। रिसर्च इन्स्टीच्यूट तथा इन्टोयूट ऑफ फिलासफी का निर्माण हुआ। विश्वविद्यालयों में विभिन्न प्रकार का शिक्षा की व्यवस्था की गयी। इनमें आनर्स कोर्स और रिसर्च की भी व्यवस्था की गई।

इस काल में कालेजों की संख्या में खूब वृद्धि हुई। इनका स्तर भी ऊँचा हो गया और उन्हें अनुदान भी काफी मिलने लगा। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया।

स्त्रियों के लिए, उनकी समस्याओं, वातावरण, सामाजिक बन्धन एवं पाठ्य-क्रम आदि को ध्यान में रखकर शिक्षा की व्यवस्था की गयी। पिछली घटनाओं का सिंहावलोकन करके ही भविष्य की योजना बनाई गयी। अतः यह पर्याप्त रूप में सफल रही। इस समय प्राथमिक, माध्यमिक, कालेजीय तथा व्यावसायिक विद्यालयों में भी स्त्रियाँ शिक्षा ग्रहण कर रही थीं।

व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति बड़ी शोचनीय रही। केवल सामान्य और साहित्यिक शिक्षा पर ही बल दिया जाता था। औद्योगिक और टेकनिकल शिक्षा का सर्वथा अभाव था। कृषि कालेजों की संख्या केवल दो थी।

शिक्षा विभाग के उच्च अधिकारियों के पद पर अब भारतीय भी नियुक्त किए जाने लगे। बंग-विभाजन से राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ गया था और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रयत्न होने लगे। अब धीरे-धीरे अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव समाप्त होने लगा और व्यावसायिक शिक्षा पर ध्यान दिया गया।

मुसलमानों की संख्या अब काफी बढ़ चुकी थी। उनकी शिक्षा की प्रगति पहले की अपेक्षा प्रत्येक क्षेत्र में काफी थी। इस काल में मुसलमानों ने अपने लिए विशिष्ट स्कूलों की माँग की। फलतः दो प्रकार के स्कूल उनके लिए खोले गए।

राष्ट्रीय आन्दोलन ने हरिजनों को जागरूक कर दिया था। उनको सामान्य विद्यालयों में स्थान मिलने लगा था। बड़ौदा-नरेश और कोल्हापुर के महाराज छत्रपति साहु ने अपने राज्य में हरिजनों को अनेक सुविधाएँ देकर उन्हें शिक्षित बनाने का प्रयत्न किया।

अपराधी जातियों के लिए स्कूल खोले गए और इसके अतिरिक्त कुछ सुविधाएँ देरक उनके लिए अलग बस्तियाँ बसा दी गयीं। इनमें प्रौढ़ों की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। आदिवासी और पहाड़ी जातियों की शिक्षा शोचनीय रही। इनके जो कुछ प्रयत्न हुए वे नगण्य थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सन् १९१३ ई० में भारत सरकार को अपनी शिक्षा-नीति क्यों और किस रूप में बदलनी पड़ी और उसमें किन-किन बातों पर जोर दिया गया ?

२. सन् १९१७ ई० के कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन के प्रतिवेदन में भारतीय शिक्षा के किन-किन अंगों की विवेचना विशेष रूप से की गयी ? उनके विषय में उन्होंने क्या प्रस्ताव किए और उनका शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३. '१९०५-१९२२ ई० में शिक्षा-प्रगति का श्रेय राष्ट्रीय आन्दोलन को है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

४. सन् १९०५-१९२२ ई० तक व्यावसायिक शिक्षण की प्रगति पर एक निबन्ध लिखिए।

अध्याय ३३

द्वैध शासन में शिक्षा-प्रगति[1] (१६२१-३७)

मान्टफोर्ड सुधार[2]

सन् १६१७ ई० तक भारतीयों को शिक्षा का महत्त्व ज्ञात हो चुका था और अब वे अपने बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए प्रयत्नशील थे, परन्तु इसी बीच में उन्हें कुछ गहन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा जिससे उनको एक धक्का लगा। प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हो चुका था और वस्तुओं का मूल्य काफी बढ़ गया था। देश में महामारी, कालाजार और नजला आदि का प्रकोप था। देश की ऐसी परिस्थिति में शिक्षा-क्षेत्र में काफी परिवर्तन हुए। सन् १६१७ ई० में भारत-मंत्री लार्ड मान्टेग्यू ने तत्कालीन भारतीय गवर्नर जनरल लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करके देश की राजनैतिक परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन किया और मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड के सम्मिलित नाम से अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और शासन में सुधार के लिए उन्होंने बहुत से सुझाव रक्खे। १६१६ ई० में ब्रिटिश संसद में एक नियम द्वारा ये सब सुधार स्वीकृत कर लिए गए और १६२१ ई० में कार्यान्वित होने लगे।

इस सुधार-कानून के लागू होने के पहले केन्द्रीय सरकार ही अखिल भारतीय सुधारों से सम्बन्धित थी। वही नियम बनाती थी और वही उसे कार्यान्वित करती थी, परन्तु अब इन नए कानून के लागू होने से सभी प्रान्तों में दोहरा शासन चलने लगा। अब प्रान्तीय शासन में दो भाग हो गए थे, प्रथम सुरक्षित[3] और द्वितीय हस्तान्तरित।[4] शिक्षा का कार्य प्रान्तीय जनप्रिय मंत्रियों को सौंप दिया गया। परन्तु फिर भी सीमा-प्रान्त, अजमेर, मेरवाड़ा, कुर्ग, बंगलौर, दिल्ली, सिकन्दराबाद, बिलोचिस्तान और योरोपियनों की शिक्षा पर केन्द्रीय सरकार का ही नियंत्रण रहा। इसके अतिरिक्त दिल्ली, अलीगढ़ और बनारस के विश्वविद्यालय तथा

---

१. Progress of Education during Diarcy.

२. Mont-ford Reforms.

३. Reserved.

४. Transferred.

राजकुमारों के विद्यालयों पर भी केन्द्रीय सरकार ने अपना पूर्ण नियंत्रण रक्खा। मान्ट-फोर्ड के सुधारों ने शिक्षा में प्राण फूंक दिए और इसकी प्रगति में तीव्रता आई। भारतीयों में शिक्षा के प्रति अनुराग उत्पन्न हो चुका था। अवसर पाते ही भारतीय मंत्रियों ने शिक्षा-प्रसार का कार्य बड़े जोरों से प्रारम्भ कर दिया। अब लोग तन, मन और धन से शिक्षा-सुधार का कार्य करने लगे। अब शिक्षा वर्ग-विशेष की न रह कर जन-सामान्य की बन गयी। प्रान्तीय सरकारों ने अनुदान बढ़ा दिए तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी बड़े हर्ष के साथ की। जिला परिषदों तथा अन्य स्थानीय संस्थाओं का उत्तरदायित्व भी बढ़ा दिया गया।

कुछ कठिनाइयाँ

द्वैध शासन के कारण शिक्षा का उत्तरदायित्व भारतीय मंत्रियों के हाथ में तो आ गया, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न हुआ। वे हथियार-रहित सैनिक की भाँति थे, क्योंकि वित्त विभाग अंग्रेज मंत्रियों के अधिकार में रहा और ये अंग्रेज गवर्नरों के आधीन होते थे। भारतीय मंत्री सुन्दरतम योजनाएँ बना सकते थे, परन्तु उन्हें कार्यान्वित करने के लिए रुपए की आवश्यकता थी और वह उनके वश में न था। अतः ये योजनाएँ कागज पर ही रह जाती थीं। दूसरी कठिनाई यह थी कि भारतीय मंत्रियों और आई० ई० एस० अधिकारियों के बीच में एक खाईं बनती जा रही थी, क्योंकि अधिकारियों के पास अधिक अधिकार था और मिनिस्टरों के पास कम था। अन्त में सुपीरियर सिविल सरविसेज इन इन्डिया[1], के सम्बन्ध में ली कमीशन[2] के अनुसार आई० ई० एस० का चुनाव समाप्त कर दिया गया। इस लिए सरकार अखिल भारतीय शिक्षा-नीति की आवश्यकता का अनुभव कर रही थी। तीसरी कठिनाई यह थी कि प्रान्तीय सरकारों के पास धनाभाव था, क्योंकि केन्द्रीय सरकार राजस्व का कोई भी अंश शिक्षा के सम्बन्ध में नहीं खर्च करना चाहती थी। चौथी कठिनाई यह थी कि गवर्नरों के अधिकारों की कोई सीमा न थी। अतः वे उसका दुरुपयोग करते थे।

उपरोक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन लोगों के हृदयों में इतना घर कर चुका था कि सन् १९१९ ई० के विधान में लोगों का किंचित् मात्र भी विश्वास नहीं था। वे उसे केवल धोखा समझते थे। प्रान्तों में द्वैध शासन स्थापित हो जाने के कारण केन्द्रीय सरकार का महत्त्व समाप्त हो गया और अब वह कोई अखिल भारतीय नीति नहीं स्थापित कर पाती

---

१. Superior Civil Services in India.

२. Lee Commission.

थी। ये समस्याएँ केवल शिक्षा के ही क्षेत्र में नहीं थीं, वरन् सभी क्षेत्रों में थीं। इस प्रकार द्वैध शासन के कारण शिक्षा की कोई विशेष प्रगति न हो सकी।

हर्टाग समिति[1]

साइमन कमीशन को भारतीय शिक्षा के विकास पर भी अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने को आज्ञा प्रदान की गई थी। और इस सम्बन्ध में उसको यह अधिकार दिया गया था कि वह एक समिति नियुक्त कर सकती है। उसी के परिणामस्वरूप हर्टाग समिति को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया था। समिति ने तत्कालीन भारत की शिक्षा के सभी पहलुओं का अध्ययन किया। सितम्बर सन् १९२९ ई० में समिति ने अपनी रिपोर्ट तैयार की। उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि १९१८ से १९२७ ई० तक शिक्षा की बड़ी उन्नति हुई और यह उन्नति केवल संख्यात्मक ही नहीं, वरन् गुणात्मक भी हुई। समिति[2] ने यह भी बताया कि सम्पूर्ण भारत के सभी वर्गों में सर्वत्र शिक्षा के प्रति जागरूकता है। उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग, अछूत, हरिजन और महिला वर्ग सभी शिक्षा प्राप्त करने के लिए लालायित हैं और यही कारण है कि छात्रों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है।

एक ओर तो समिति ने बताया कि शिक्षा में गुणात्मक और संख्यात्मक वृद्धि हो रही थी और शिक्षा-प्रगति संतोषजनक थी तो दूसरी ओर शिक्षा के दोषों पर भी दृष्टिपात किया और कहा कि शिक्षा-व्यवस्था में व्यर्थता और प्रभावहीनता के लक्षण परिलक्षित हैं और प्राथमिक शिक्षण में तो इनकी मात्रा अत्यन्त अधिक होती जा रही है। शिक्षा की ऐसी स्थिति में उसमें सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता है। समिति ने यह बात स्पष्ट कर दी कि सरकार और स्थानीय संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित कर दिए जायँ।

वास्तव में हर्टाग समिति भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक ओर बड़ी महत्त्वपूर्ण है तो दूसरी ओर इसने पुराने संघर्ष को पुनः प्रारम्भ कर दिया क्योंकि समिति गुणात्मक उन्नति के पक्ष में थी और भारतीय संख्यात्मक उन्नति के। भारतीयों का विचार था कि गुणात्मक उन्नति तो किसी भी समय की जा सकती है और फिर

---

१. The Hartog Committee.

२. On all sides there has been a desire on the part of the leaders of public opinion to understand and to grapple with the complex and difficult problems of education.—Hartog Committee Report, p. 345.

उस समय तो अधिक से अधिक भारतीयों को शिक्षित बनाना था। नीचे हम शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का विवरण दे रहे हैं।

प्राथमिक शिक्षा

पिछले अध्यायों में अनिवार्य शिक्षा का वर्णन किया गया है। गोपालकृष्ण गोखले इस ओर निरन्तर प्रयत्न कर रहे थे सन् १९२१ ई० के पूर्व ही कई प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा का नियम बन चुका था और प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई थी। सन् १९२१-३७ ई० के मध्य भी कई प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा के नियम पास किए गए और वहाँ भी प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।

बम्बई—सन् १९२३ ई० में अनिवार्य शिक्षा कानून पास हुआ जिसके अनुसार बम्बई नगर को छोड़ कर शेष पूरे प्रान्त में बालक और बालिकाओं दोनों के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।

संयुक्त प्रान्त—इस प्रान्त में सन् १९२६ ई० में जिला परिषद् प्राथमिक शिक्षा नियम पास हुआ जिसके अनुसार बालक और बालिकाओं दोनों के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। परन्तु यह नियम देहात के लिए था, न कि नगरों के लिए, क्योंकि जिला परिषदों के क्षेत्र देहात ही थे।

आसाम—सन् १९२६ ई० में यहाँ भी प्राथमिक शिक्षा नियम पास किया गया और इसके अनुसार नगर तथा गाँव में बालक तथा बालिकाओं दोनों के लिए यह नियम लागू हो सकता था।

बंगाल—शिक्षा के क्षेत्र में बंगाल कभी भी पिछड़ा न था। बंगाल की सरकार तथा जनता प्राथमिक शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दे रही थी। अतः प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए तथा ग्रामीण क्षेत्रों के प्रारम्भिक विद्यालयों के पुनर्संगठन एवं प्रबंध के लिए सन् १९३० ई० में बंगाल में प्राथमिक शिक्षा कानून पास किया गया। इस कानून के पास हो जाने से आशा का संचार दिखाई पड़ने लगा और ऐसा जान पड़ने लगा कि अब प्राथमिक शिक्षा सभी बालक और बालिकाओं को प्राप्त हो सकेगी। यह कानून पूरे प्रान्त के लिए लागू था, परन्तु कलकत्ता नगर तथा अन्य नगरपालिकाओं के लिए न था। इस कानून के अनुसार जिला बोर्डों को अधिकार दिया गया कि वे प्राथमिक-शिक्षा कर लगा सकते थे और ६-११ वर्ष के बालक और बालिकाओं के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।

पंजाब—पंजाब में प्राथमिक शिक्षा का इस काल में अन्य प्रान्तों से अधिक विकास हुआ। अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून यहाँ अधिक विस्तृत क्षेत्र में लागू किया गया।

उपरोक्त चेष्टाओं का परिणाम यह हुआ कि प्राथमिक शिक्षालयों की संख्या में अधिक वृद्धि हुई जिसका अनुमान निम्नांकित तालिकाओं से लगाया जा सकता है।

तालिका १

सन्	प्राथमिक विद्यालय की संख्या	प्राथमिक शिक्षा पर व्यय	छात्रों की संख्या
१९२१,२२	१,५५,०१७	४,९४,६९,०८०	४९,४६९
१९२६,२७	१,८४,८२९	६,७५,१४,८०२	८०,१७,६२३

तालिका २
अनिवार्य शिक्षा का क्षेत्र

प्रान्त	नगरपालिका और शहरी क्षेत्र	जिला बोर्ड और ग्रामीण क्षेत्र
दिल्ली	१	
संयुक्त प्रान्त	२५	
पंजाब	५७	१,४९९
बिहार-उड़ीसा	१	३
मद्रास	२१	३
बम्बई	६	—
मध्य प्रान्त	१	—

इस प्रकार अन्य वर्षों का भी अनुमान लगया जा सकता है।

हर्टाग समिति और प्राथमिक शिक्षा

हर्टाग समिति[1] ने प्राथमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया क्योंकि उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी और पिछले दिनों में उच्चशिक्षा पर विषेश ध्यान दिया

१. Due in part to the fact that while much attention has been paid in the past to a consideration of the higher forms of education, the problems of primary education have been comparatively neglected.—The Hartog Committee Report, p. 3-4.

गया था और प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा की गई थी। अब प्राथमिक शिक्षा का विकास हो रहा था, परन्तु वह सन्तोषजनक न था, क्योंकि उसके रास्ते में अनेक बाधाएँ थीं। ये बाधाएँ मुख्य रूप से निम्नांकित थीं :—

१. प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा कर उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जा रहा था।

२. अधिकांशतः लोग ग्रामों में रहते थे और उनके सामने निरक्षरता, निर्धनता, आए दिनों की बीमारियाँ तथा आवागमन के साधनों की असुविधा आदि मुख्य कठिनाइयाँ थीं।

३. जातीय भेद एवं अन्ध-विश्वास के कारण भी शिक्षा का विकास रुका था। इसके अतिरिक्त भोजन और वस्त्र के कारण बालकों को कम आयु में ही कार्य में लग जाना पड़ता था। अतः उनके पास समय न था।

४. भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रचार के कारण भी काफी कठिनायाँ थीं।

५. अधिकतर लोग पिछड़े हुए थे और उनको प्रोत्साहित करने का कम प्रयास किया गया।

६. सरकार भी उदासीन थी और प्राथमिक शिक्षा को आवश्यक न समझती थी।

समिति ने यह बताया कि प्रान्तीय सरकारों ने अनिवार्य शिक्षा-क्षेत्र में कोई ठोस कदम नहीं उठाया और यही कारण है कि प्राथमिक शिक्षा आज इस दशा में है। यदि सरकारें इस ओर ध्यान देतीं तो प्राथमिक शिक्षा की आज यह दशा न होती। समिति ने यह भी कहा कि प्राथमिक शिक्षा में व्यर्थता अधिक है।[१] प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हो चुकी थी, परन्तु उससे वास्तविक लाभ न हो रहा था, क्योंकि :—

१. पाठ्यक्रम अत्यन्त अनुपयुक्त था। अतः उससे बालकों को उचित लाभ न हो पाता था।

---

१. The committee observed primary education is ineffective unless it atleast produces litracy. On the average no child who has not completed a primary course of atleast four years will become permanently literate.—Sargent Report, p. 96-97.

२. प्रायः ऐसे स्कूलों की अधिकता थी जिनमें एक ही अध्यापक होता था और सारे विषयों को वही पढ़ाया करता था। एक ही अध्यापक सभी विषय को ठीक से न पढ़ा पाता था। अतः शिक्षा का स्तर निम्न था।

३. प्राथमिक विद्यालय अनियमित एवं अवैज्ञानिक रूप में क्षेत्रों में वितरित थे।

४. कई स्थानों पर ऐसे भी प्राथमिक विद्यालय थे जो केवल नाममात्र को थे और किसी रूप में अपना अस्तित्व चला रहे थे।

५. विद्यालयों की संख्या अधिक थी और निरीक्षकों की संख्या इतनी कम थी कि वे नियमित रूप से उन विद्यालयों का निरीक्षण नहीं कर सकते थे।

६. पढ़ाने का ढंग बड़ा पुराना एवं अमनोवैज्ञानिक था। बालकों पर उसका बहुत कम प्रभाव पड़ता था।

७. उपयोगी एवं पर्याप्त शिक्षा-साधनों का सर्वथा अभाव था।

८. प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र प्रायः बेकार रहते थे और इस प्रकार बेकार रह कर वे साक्षर हो कर भी निरक्षर बन जाते थे।

९. शिक्षा की प्रगति मंथर गति से थी और जितने भी प्रयास हो रहे थे वे सब निष्फल थे।

१० ५०० जन-संख्या वाले गाँवों में स्कूल नहीं स्थापित किए जा सकते थे। बालकों की शिक्षा में व्यर्थता के साथ ही साथ बालिकाओं की शिक्षा में भी व्यर्थता का संकेत समिति ने किया था। १०० बालिकायें यदि एक कक्षा में प्रवेश लेती थीं तो उनमें केवल लगभग १४ ही बालिकायें कक्षा ४ तक पहुँच पाती थीं।

प्राथमिक शिक्षा की इस शोचनीय दशा का जीर्णोद्धार आवश्यक था, क्योंकि ऐसे स्कूलों से, जो किसी प्रकार अपना जीवन चला रहे थे, कोई लाभ सम्भव न था। निरन्तर प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण होता जा रहा था, परन्तु उनसे कोई लाभ न था क्योंकि वे अपना उद्देश्य पूर्ण करने में असमर्थ थे। समिति ने इस ओर ध्यान दिया और शिक्षा-स्तर को उच्च करने की सिफारिश की तथा इसके लिए निम्नांकित सुझाव रक्खे :—

१. स्कूलों की संख्या तो अधिक है, परन्तु वे अत्यन्त छोटे-छोटे हैं और उन पर व्यय अधिक होता है। अतः उनके लिए विशेष प्रबंध किया जाय।

२. अध्यापकों को विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाय। समय-समय पर अल्पकालीन प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की जाय और विशेष प्रकार से शिक्षकों का चुनाव किया जाय। विशेष प्रकार की सुविधायें देकर अध्यापकों को प्राथमिक शिक्षा की ओर आकर्षित किया जाय। नई आकर्षक योजनाओं का व्यक्ति पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

३. प्राथमिक विद्यालयों का शिक्षा-काल कम से कम ४ वर्ष कर दिया जाय और उनका सामान्य स्तर ऊँचा किया जाय।

४. विद्यालय का कार्य-क्रम उसके वातावरण और परिस्थिति को ध्यान में रखकर निर्धारित किया जाय। विद्यालय के खुलने का समय तथा अवकाश आदि स्थानीय दशा के अनुसार निश्चित किया जाय।

५. प्राथमिक विद्यालयों को गाँवों का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनाया जाय जिससे वे गाँवों के उत्थान में सहायक बन सकें और एक नए समाज का निर्माण कर सकें।

६. प्राथमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में सुधार किया जाय और उसे जीवनोपयोगी बनाया जाय तथा बालकों के लिए काफी विषय एवं विभिन्न प्रकार के विषय रक्खे जायँ।

७. स्कूलों को प्रगतिशील एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए आवश्यक है कि उनकी प्रारम्भिक कक्षाओं पर विशेष ध्यान दिया जाय।

८. विद्यालयों के सुसंचालन के निरीक्षण और नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक हैं। अतः निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि की जाय।

९. अनिवार्य शिक्षा आवश्यक है। परन्तु उसको लागू करने के पूर्व उसकी निश्चित रूप-रेखा तैयार की जाय और काफी विचार-विमर्श किया जाय।

१०. प्राथमिक विद्यालयों के संगठन एवं उत्थान के लिए आवश्यक है कि उन पर सरकार अपना स्वयं का निरीक्षण और नियंत्रण रक्खे। यदि प्राथमिक शिक्षा का सारा अधिकार स्थानीय संस्थाओं[1] को दे दिया जायगा तो इसमें सुधार सम्भव नहीं।

---

१. The provision of educational facilities for all classes of the community and for all areas should not be left entirely to the mercy of local authorities...The Hartog Committee Report, p. 86.

समिति के ये सुझाव वास्तव में बड़े ही सुन्दर थे। समिति ने संगठन और गुणात्मक उन्नति पर विशेष जोर दिया था। उसके ये सुझाव सरकारी अधिकारियों को अच्छे लगे, परन्तु भारतीयों पर इनका प्रभाव उल्टा पड़ा क्योंकि वे संख्यात्मक उन्नति चाहते थे, न कि गुणात्मक। सन् १८८१-१९३१ ई० में यह संख्या ३-५ थी। भारत ऐसे देश में जहाँ की ९२ प्रतिशत अशिक्षित हैं, वहाँ संख्यात्मक उन्नति पर बन्धन लगाकर गुणात्मक उन्नति का प्रचार करना बुद्धिमत्ता का चिह्न नहीं। इससे भारतीयों का अहित हो सकता था न कि हित। जहाँ तक व्यर्थता और गतिहीनता का प्रश्न है समिति ने उसे बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहा। विद्यालयों के सामने भी कुछ कठिनाइयाँ और सीमायें थीं। अतः उनकी व्यर्थता और गतिहीनता पर दृष्टिपात करना युक्ति संगत नहीं था।

निष्कर्ष—हर्टाग समिति ने प्राथमिक शिक्षा का बड़ा अहित किया। इसी के सुझावों के परिणामस्वरूप प्राथमिक शिक्षा की गति बड़ी मन्द पड़ गई और १९२९-३७ ई० के मध्य में तो इसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई। इसकी प्रगति का अनुमान निम्नांकित तालिका से लगाया जा सकता है :—

सन्	प्राथमिक विद्यालयों की संख्या	छात्र-संख्या
१९२६-२७	१,८४,८२९	८०,१७,९२३
१९३१-३२	१,९६,७०८	९१,६२,४५०
१९३६-३७	१,९२,२४४	१,०२,२४,२८८

अनिवार्य शिक्षा की दशा भी विशेष अच्छी न थी। उनकी भी गति शिथिल पड़ गई थी। सम्पूर्ण देश में केवल १३,०७२ गाँवों और १६७ नगरों में ही अनिवार्य शिक्षा लागू हो सकी थी।

माध्यमिक शिक्षा

हर्टाग समिति ने विशेष रूप से माध्यमिक शिक्षा का अध्ययन किया। समिति के अनुसार माध्यमिक शिक्षा की दशा अच्छी थी और इसमें विशेष प्रगति हुई थी; परन्तु फिर भी कुछ बड़े दोष थे जिनके कारण वांछित लाभ और प्रगति न हो सकी। अध्यापकों की दशा, योग्यता और नौकरी आदि बातों के सम्बन्ध में तो समिति ने माध्यमिक शिक्षा की दशा अच्छी बतलाई, परन्तु समिति ने कहा कि माध्यमिक शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह था कि माध्यमिक विद्यालय का बालक विश्वविद्यालय का छात्र होने की कल्पना में ही तल्लीन रहा करता था। मैट्रीकुलेशन परीक्षा में काफी संख्या में छात्र अनुत्तीर्ण होते थे जिसके कारण काफी धन और

समय व्यर्थ[१] हो जाता था। समिति ने इन दोषों के निम्नालिखित दो बड़े कारण बताए :—

१. प्रारम्भिक अवस्था में, जब कि बालकों की मानसिक आयु उच्च कक्षाओं के योग्य नहीं होती थी, कक्षोन्नति प्रदान करना।

२. उच्च शिक्षा के लिए कोई बन्धन न था। अत: काफी संख्या में छात्र प्रवेश लेते थे और उनमें बहुत ऐसे भी छात्र प्रवेश पा जाते थे जो उच्च शिक्षा के लिए सर्वथा अयोग्य थे।

समिति ने कहा कि मिडिल स्कूलों का कोर्स बड़ा संकुचित है और इसको उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात बालक स्वयं कुछ नहीं कर सकता। अत: विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना ही उसका एकमात्र उद्देश्य रह जाता है। यदि अधिकांश बालकों की आवश्यकतायें यहीं पूर्ण हो जाया करें तो यह असफलता कम हो जाय। मिडिल स्कूलों के पश्चात् पाठ्यक्रम दो भागों में विभाजित कर देना चाहिए; १-औद्योगिक, २-व्यापारिक। इसके अतिरिक्त हाई स्कूलों में कई वैकल्पिक विषयों को रक्खा जाय जिससे उनको अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनने का पूर्ण अवसर मिले। समिति ने कहा कि ऐसा करने से न केवल उनकी समस्याओं का निदान हो सकेगा, वरन् ग्रामीण क्षेत्रों का सुन्दर वातावरण बनेगा और एक नए समाज का निर्माण हो सकेगा। देहातों में पुनर्निर्माण एवं पुनरुत्थान सम्भव हो सकेगा तथा सरलतापूर्वक उनको निश्चित योजना दो जा सकेगी।

समिति ने बताया कि शिक्षा का स्तर उठाने के लिए अध्यापकों की दशा में सुधार आवश्यक है, क्योंकि जब अध्यापक सन्तुष्ट न होंगे तो वे कार्य अच्छा नहीं कर सकते। अत: उनके वेतन में वृद्धि की जाय और सेवा-संबंधी अन्य सुविधायें प्रदान की जायँ। अब तक इस संबंध में जितने भी प्रयास हुए थे वे सब व्यर्थ थे। सेवा-सम्बन्धी[२] सुविधायें अब तक प्राय: हर जगह अपर्याप्त रही हैं। किसी भी

---

१. The whole system of Secondary education is still dominated by the ideal that every boy who enters a Secondary school should prepare himself for the university and the immense number of failures at Matriculation and in the University Examination indicates agreat waste of effort.—The Hartog Committee Report, p. 345.

२. The best type of men cannot be attracted to the profession as long as these (condition of service) remain unsatisfactory and only too frequently the teachers have no heart in their work. In no province is the pay of the teacher sufficient to give him the status which his work demands and in some provinces, e.g., Bengal and Bihar, the pay of the teacher is often woefully low.—The Hartog Committee Report, p. 117.

प्रान्त में अध्यापक को उसके पद के अनुसार वेतन नहीं मिलता। बिहार और बंगाल में तो वेतन बेहद कम दिया जाता है। समिति ने बताया कि माध्यमिक विद्यालयों का स्तर उठाने के लिए शिक्षा की गुणात्मक उन्नति आवश्यक है और इसके लिए योग्य एवं कुशल अध्यापक चाहिए और यह तभी सम्भव है जब उनकी दशा में काफी सुधार किया जाये।

सन् १६२१-३७ ई० की अवधि में माध्यमिक शिक्षा की काफी संख्यात्मक वृद्धि हुई थी। इस वृद्धि का अनुमान निम्नांकित आँकड़ों से लगाया जा सकता है :—

सन्	विद्यालय-संख्या	छात्र-संख्या
१६२१-२२	७,५३०	११,०६,८०३
१६३६-३७	१३,०५६	२२,८७,८७२

इस प्रकार यह संख्या लगभग दूनी दिखाई पड़ती है। इस संख्यात्मक वृद्धि के कारण भी स्पष्ट हैं। देश में राष्ट्रीय जागरण के फलस्वरूप शिक्षा के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था और पिछड़ी जातियों तथा निम्नवर्ग के लोग भी अपने बच्चों को माध्यमिक शिक्षा दिलाने के लिए उत्सुक थे। उपरोक्त उत्सुकता के अतिरिक्त संख्यात्मक वृद्धि के अन्य कारण भी हैं। कुछ लोगों ने तो वास्तव में अपने बच्चों को माध्यमिक शिक्षा दिलाने के लिए ही स्कूलों का निर्माण कराया और कुछ लोगों ने उनकी प्रतिद्वन्द्विता में माध्यमिक विद्यालयों का निर्माण कराया। कुछ स्कूलों में आन्तरिक कलह के कारण उसके कुछ अध्यापकों ने अलग स्कूल खोल दिये। दूसरी ओर बहुत से शिक्षित नवयुवक बेकार थे। अतः इन्होंने भी जीविकोपार्जन के लिए कुछ ऐसे विद्यालयों का निर्माण कराया जिनमें शिक्षण-कार्य करके वे अपनी आर्थिक समस्या का सुलझाव पा सकें। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक संस्थाओं तथा देश-प्रेमियों ने स्वान्तः सुखाय एवं बहुजन हिताय के उद्देश्य से ऐसी संस्थाओं का निर्माण कराया। अब देश के सौभाग्य से माध्यमिक विद्यालयों का जाल-सा बिछ गया और उन क्षेत्रों में जहाँ शिक्षा और ज्ञान का नाम तक न था शिक्षा सुलभ हो गई और छात्रों की एक बाढ़ उमड़ पड़ी। सन् १६३७ ई० में भारतीयता और भारतीय समस्याओं को ध्यान में रखकर माध्यमिक शिक्षा में कुछ परिवर्तन भी किये गए। इन समस्याओं में सर्वप्रमुख भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना था। यद्यपि देश-प्रेमियों का यह स्वप्न सन् १६३७ ई० तक अधूरा ही रहा, परन्तु इतना अवश्य हो गया कि भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठित पद दिया गया और अब वे भी अंग्रेजी के समकक्ष रक्खी गयीं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन शिक्षा-अनुदान का था। अब शिक्षा-अनुदान के नियमों में संशोधन कर दिया गया और नये नियमों के अनुसार शिक्षा की सेवा, दशा और वेतन-क्रम निश्चित कर दिया गया और इस खर्चे की पूर्ति के लिए प्रान्तीय सरकारों ने कुछ अधिक धन स्वीकृत किए। अब प्रत्येक गैरसरकारी एवं सहायता प्राप्त विद्यालय को यह नियम मानना आवश्यक था। बिहार और उड़ीसा के अनुदान नियम में इन शर्तों पर विशेष ध्यान दिया गया। अब गैरसरकारी विद्यालयों के अध्यापकों को यह अधिकार दिया गया कि वे प्रबन्ध-समिति द्वारा निकाले जाने पर जिला-विद्यालय निरीक्षक के पास अपील कर सकते हैं।

उच्चशिक्षा

सन् १९२१-३७ ई० की अवधि में माध्यमिक शिक्षा का काफी विस्तार हो चुका था। छात्र-संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थिति में कालेज एवं विश्वविद्यालय का विस्तार भी स्वाभाविक था, क्योंकि माध्यमिक विद्यालयों की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् छात्र-गण विश्वविद्यालयों में प्रवेश चाहते थे। दूसरा कारण उच्च शिक्षा के प्रति जनता का अनुराग था। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में प्रवेश-संख्या बढ़ने का एक यह भी कारण था कि माध्यमिक विद्यालयों में औद्योगिक और टेकनिकल शिक्षा का सर्वथा अभाव था। अतः इस शिक्षा को समाप्त करने के पश्चात् उनको न तो शीघ्र कहीं नौकरी ही मिलती थी, और न स्वयं ही कुछ कर सकते थे। विश्वविद्यालय ही एकमात्र शरणागार था। अब प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार हो चुका था और लोगों का विश्वास ो चला था कि उच्च शिक्षा आवश्यक है, क्योंकि माध्यमिक शिक्षा का लगभग मूल्य ही समाप्त हो चुका है और अच्छी नौकरी एवं सम्मान उच्च शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ही सम्भव है।

उपरोक्त कारणों से लगभग १६ वर्षों को इस अवधि में कालेजों एवं विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि हुई। इस अवधि में दिल्ली (१९२२), नागपुर (१९२३), आगरा (१९२७), आन्ध्र (१९२६), अन्नमलाई (१९२९) विश्वविद्यालय स्थापित हुए। इन नये विश्वविद्यालयों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

१—दिल्ली—यह प्रारम्भ में एक सम्बन्धक विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित हुआ था और इसमें हिन्दू कालेज, स्टीफेन्स कालेज, और रामजस कालेज थे। परन्तु १९३४ ई० में इसे संघीय विश्वविद्यालय बना दिया गया।

२—नागपुर—प्रारम्भ में यह मध्य प्रान्त में एक सम्बन्धक विश्वविद्यालय था। कुछ दिनों पश्चात् एक कानून कालेज भी खोल दिया गया और शिक्षण-व्यवस्था भी कर दी गई।

३—**आगरा**—इलाहाबाद विश्वविद्यालव का क्षेत्र अधिक बढ़ जाने के कारण सन् १९२७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय स्थापित हुआ और राजपूताना ग्वालियर, विन्ध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के डिग्री कालेज इससे सम्बन्धित किये गए।

४—**आन्ध्र**—यह मद्रास प्रान्त के उत्तरी भाग में सन् १९२६ ई० में स्थापित किया गया। इसमें टेकनिकल शिक्षा की व्यवस्था की गई। इसका उपकुलपति निर्वाचन द्वारा नियुक्त किया जाता है। प्रारम्भ में यह विजयवाड़ा स्थान पर था, परन्तु आजकल वाल्टेयर में है।

५—**अन्नमलाई**—दक्षिणी मद्रास में चिदाम्बर स्थान पर स्थापित किया गया था। यह महाराजा अन्नमलाई की कृपा से स्थापित हुआ था। इन्होंने ३ कालेज और २० लाख रुपया देकर इस विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। यहाँ तामिल, तेलगू तथा भारतीय इतिहास आदि के उच्च अनुसन्धान-कार्य होते हैं। यहाँ के ओरियेन्टल और संगीत-कालेज बड़े प्रसिद्ध हैं।

सन् १९२१-१९३७ की अवधि में बम्बई, मद्रास और पटना विश्वविद्यालयों का पुनर्गठन किया गया और वहाँ उच्च शिक्षा की उन्नति एवं अनुसंधान की व्यवस्था की गई। पंजाब एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय का विस्तार किया गया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय को पूर्ण शैक्षणिक बनाया गया। इन प्रयत्नों से विश्वविद्यालयों के स्तर, आकार-प्रकार एवं अनुसंधान-कार्य में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एवं उनका दृष्टिकोण भी व्यापक हुआ। सन् १९२१-३७ ई० की अवधि में विश्वविद्यालयों में अनुसंधान-कार्य करने वाले छात्रों के लिए सुसमृद्ध पुस्तकालयों की व्यवस्था की गई और उन्हें छात्रवृत्ति और अन्य प्रकार की सुविधायें देकर काफी प्रोत्साहन दिया गया। अनुसंधान-कार्य के अतिरिक्त सैनिक शिक्षा का भी श्री गणेश किया गया और यू० टी० सी०[१] संस्था स्थापित की गई। इस शिक्षा से छात्रों में मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक गुणों का विकास होने लगा और शीघ्र ही इसकी लोक-प्रियता बढ़ गई। यही नहीं, कुछ विश्वविद्यालयों में तो सैनिक शिक्षा-विज्ञान[२] का एक स्वतंत्र विषय रख दिया गया। शारीरिक शिक्षा एवं सैनिक शिक्षा के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में छात्रावासों की भी व्यवस्था की गई और विश्वविद्यालय के छात्रों की चिकित्सा एवं देखभाल के लिए चिकित्सकों की नियुक्तियाँ की गई।

कलकत्ता विश्वविद्यालय-आयोग के अनुसार सन् १९२१ ई० के पश्चात् स्थापित विश्वविद्यालयों में इन्टरमीडिएट कक्षाओं पर विशेष ध्यान दिया गया।

---

१. University Training Corporation.

२. Military Science.

आयोग ने कहा था कि या तो इन्टरमीडिएट कक्षाओं को विश्वविद्यालयों से एकदम अलग कर दिया जाय या इन पर विश्वविद्यालयों का पूर्ण अधिकार एवं नियंत्रण होना चाहिए। ढाका विश्वविद्यालय ने अपने को इस उत्तरदायित्व से अलग रक्खा। इसके लिए बंगाल सरकार की अध्यक्षता में एक बोर्ड की स्थापना की गई। अलीगढ़, लखनऊ और इलाहाबाद विश्वविद्यालयों ने भी यह उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया और एक बोर्ड की स्थापना की गई। दिल्ली और मद्रास विश्वविद्यालयों ने इसकी व्यवस्था की। अब इन विश्वविद्यालयों को अधिकार दिया गया कि भविष्य में जब कभी वे चाहें इन्टरमीडिएट कक्षाओं को विश्वविद्यालयों से हटा दें। इन्टरमीडिएट कक्षाओं की इस व्यवस्था से विश्वविद्यालयों को बड़ी क्षति पहुँची क्योंकि इनसे पर्याप्त धन मिलता था। इस क्षति को देखकर शीघ्र ही परस्पर वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। परिणामस्वरूप सन् १९२७ ई० के पश्चात् स्थापित विश्वविद्यालयों में इन्टरमीडिएट कक्षायें रक्खी गईं। सन् १९२८ ई० में बम्बई विश्वविद्यालय और इसी वर्ष अन्य तथा एक वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १९२९ ई० में अन्नमलाई और सन् १९३२ ई० में पटना विश्वविद्यालय कानून पास हो गया और उसके अनुसार इन्टरमीडिएट कक्षायें विश्वविद्यालय के प्रबंध में ही रक्खी गईं। दिल्ली और मद्रास विश्वविद्यालयों का भी यही हाल रहा। संयुक्त प्रान्त में हाई स्कूल और इन्टरमीडिएट बोर्ड स्थापित किया गया। यह बोर्ड हाई स्कूल और इंटरमीडिएट परीक्षायें संचालित करता था। इन कक्षाओं को मान्यता देना तथा इनका पाठ्यक्रम निर्धारित करना भी इसका काम था। सन् १९२७ ई० में आगरा विश्वविद्यालय ने इन्टरमीडिएट कक्षाओं की परीक्षा लेने का अधिनियम बना दिया परन्तु ऐसा हो न सका क्योंकि किसी भी विश्वविद्यालय में स्नातक कक्षाओं का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का न रक्खा जा सका।

कालेज की शिक्षा

कालेजों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। सन् १९२१-२२ ई० में विश्वविद्यालयों एवं कालेजों में शिक्षण विभागों की सम्मिलित संख्या केवल २०७ थी। यही संख्या सन् १९३६ ई० में ४४६ पहुँच गई। छात्रों की संख्या में भी भीड़ बढ़ती जा रही थी। सन् १९२१-२२ ई० में कालेजों और विश्वविद्यालयों के छात्रों की संख्या ६६,२५८ थी और सन् १९३६-३७ ई० में यह संख्या १,२६,२२८ हो गई थी।

इन विश्वविद्यालयों और कालेजों के अतिरिक्त अन्य संस्थायें भी संचालित थीं। ६ मई सन् १९२२ ई० को डा० रवीन्द्रनाथ ने विश्व भारती की स्थापना

की थी। यह कलकत्ता से १०० मील की दूरी पर बोलपुर नामक स्थान पर खोला गया था। इस स्थान का नाम बाद में उन्होंने शान्ति-निकेतन रक्खा। यहाँ प्राचीन भाषाओं, दर्शन एवं विज्ञानों का अनुसंधान-कार्य किया जाता है। यह अपने ढंग का अनूठा शिक्षालय है। यहाँ बौद्धधर्म, वेदान्त, भारतीय दर्शन, भारतीय भाषायें—जैसे संस्कृत, अरबी, फारसी हिन्दी तथा पाली आदि का उच्च अनुसंधान-कार्य होता है। इसके शिक्षा-भवन, चीन-भवन, कला-भवन, संगीत-भवन और श्री निकेत प्रसिद्ध हैं। इस विद्यालय का कुछ विस्तृत विवरण आगे 'राष्ट्रीय शिक्षा' के अन्तर्गत दिया जायगा।

हर्टांग समिति और विश्वविद्यालय

हर्टांग समिति ने विश्वविद्यालय की शिक्षा के संबंध में विशेष छानबीन नहीं की। परन्तु फिर भी जितना किया है वह सन्तोषजनक एवं सराहनीय है। समिति ने बताया कि विश्वविद्यालयों की संख्यात्मक उन्नति अवश्य हुई है और वह काफी सराहनीय है, परन्तु गुणात्मक उन्नति स्थगित हो गई है और उनका वातावरण दूषित हो गया है। इस समय देश को योग्य एवं त्यागी तथा देश-भक्त नेता की माँग थी। परन्तु विश्वविद्यालय इस महत्त्वपूर्ण कार्य के करने में सर्वथा असमर्थ थे। यद्यपि ३ वर्ष का आनर्स[१] कोर्स प्रचलित था, परन्तु समिति ने उसे अनुचित समझा, क्योंकि वह पुराने ढंग का था। केवल २-४ विषयों को ही दो वर्ष के स्नातक कोर्स में बढ़ाकर आनर्स कर दिया गया था।

सम्बद्ध पुस्तकालयों का अभाव था और यद्यपि विश्वविद्यालयों में अनुसंधान और अध्यापन की व्यवस्था हो चुकी थी, परन्तु फिर भी मुख्यतः उनका काम परीक्षा संचालन ही था। समिति की राय में उदार, योग्य एवं सहनशील व्यक्तियों का उत्पादन विश्वविद्यालयों का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और उसके विचार से शिक्षा-संगठन में सुधार की आवश्यकता थी। समिति के अनुसार विश्वविद्यालयों का स्तर इतना गिर गया था और छात्रों की संख्या इतनी बढ़ गई थी कि असफल छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और उनका प्रभाव स्कूलों[२] पर भी पड़ा। इन सब बातों को देख कर समिति ने सुझाव दिया कि :—

---

१. The Committee did not like "the old tradition of constituting an Honours course merely by adding a few subjects to the two years' course for the pass degree."—The Hartog Committee Report, p. 137.

२. And the mischief is not limited to the universities, for the university standards react upon those of secondary schools which feed them.—The Hartog Committee Report, p. 135.

(अ) भारत ऐसे देश के लिए सम्बद्धीय विश्वविद्यालयों की आवश्यकता थी, यद्यपि स्तर आदि की दृष्टि से यह शैक्षणिक विश्वविद्यालयों से अच्छे न थे। अतः देश और काल की परिस्थिति में इस प्रकार से विश्वविद्यालयों को भविष्य में काफी दिनों तक रखना आवश्यक एवं युक्ति-संगत[1] है।

(ब) सम्बद्धीय कालेजों में अध्यापकों की नियुक्ति विश्वविद्यालयों द्वारा होनी चाहिए। ऐसा करने से उनका स्तर उठेगा, क्योंकि तब योग्य अध्यापकों की नियुक्ति होगी। परन्तु अध्यापकों के लिए समृद्ध पुस्तकालयों तथा वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं की अत्यन्त आवश्यकता है। अतः विश्वविद्यालयों को चाहिए कि शीघ्रातिशीघ्र इसका प्रबन्ध करें।[2] इसमें देश के धनी व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक है।

(स) विश्वविद्यालयों का स्तर उठाने के लिए विश्वविद्यालय का सुसंगठन तो आवश्यक है ही, परन्तु नीचे की शिक्षा का सुधार भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रवेश पर कुछ बन्धन लगाए जायँ। विश्वविद्यालयों में उन्हीं छात्रों को प्रवेश मिलना चाहिए जो योग्य हों।[3]

(द) आनर्स कोर्स केन्द्रों में किया जाय तथा विश्वविद्यालय और कालेज के शिक्षक सम्मिलित रूप से कार्य करें। इसके अतिरिक्त आनर्स कोर्स पास-कोर्स से भिन्न होना चाहिए।

(य) विश्वविद्यालयों को शिक्षा प्राप्त करने के पाश्चात् नवयुवक बेकार रहते हैं। अतः टेकनिकल शिक्षा की व्यवस्था की जाय तथा टेकनिकल शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें काम देने की भी व्यवस्था की जाय। यदि ऐसा न होगा तो बेकारी और भी बढ़ जायगी।

---

१. ......the requirement of India cannot be met solely by unitary universities and that the affiliating universities are likely to remain for many years to come.—The Hartog Committee Report, p. 122.

२. It should be an essential function of the university to provide and maintain science laboratories and a central library.—The Hartog Committee Report, p. 125.

३. ......all effort should be concentrated on improving university's work, on confining the university to its proper function of giving good advanced education to students who are fit to receive it.—The Report, p. 137.

(र) स्नातकों की सुविधा के लिए विश्वविद्यालयों में रोजगार-प्रबंधक कार्यालय की व्यवस्था की जाय।

(ल) राजकीय सेवाओं के लिए विशिष्ट विभागीय परीक्षाओं की भी व्यवस्था की जाय।

(व) शिक्षा प्रसार भी विश्वविद्यालयों का मुख्य अंग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उनका व्यापक दृष्टिकोण हो तथा जन-समूह में चैतन्यता, वैज्ञानिकता एवं राजनीतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक भावनाओं के भरने में सहायक हों।

वास्तव में उपरोक्त सुझाव भारतीयों के लिए वरदान थे और यदि ये पूर्ण-रूपेण कार्यान्वित होते तो उच्च शिक्षा की काया पलट सकती थी।

स्त्री-शिक्षा

सन् १९२१-३७ ई० की अवधि भारतीय स्त्रियों के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण एवं कल्याणकारी सिद्ध हुई। इस समय तक भारतीय नारियों में एक नई ज्योति जग चुकी थी। देश-प्रेम की भावना ने उनको एक नई प्रेरणा, नई चेतना और नया उत्साह दिया था। राष्ट्रीय आन्दोलन ने उनमें प्राण फूँक दिये थे और वे अब समझने लगी थीं कि नारी और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पहिए हैं। यदि समाज को आगे बढ़ाना है तो नारियों को पुरुषों के साथ कदम मिलाकर चलना होगा। इसके अतिरिक्त उनके सामने एक उद्देश्य यह भी था कि आज के बालक कल के नागरिक होंगे और देश की राजनैतिक समस्याओं से उन्हें टक्कर लेनी होगी। यदि उनको उचित ढंग की शिक्षा न दी जायगी तो यह कार्य सम्भव न हो सकेगा। इसके लिए पहले उन्हें स्वयं शिक्षित होने की आवश्यकता थी। अतः उनमें शिक्षा के प्रति अनुराग उत्पन्न होने लगा और दिन-प्रति-दिन कन्या-पाठशालाओं की संख्या बढ़ने लगी।

इस युग में नारियों की सामाजिक अवस्था में भी काफी सुधार हुआ। इस अवधि में सर्व प्रथम बाल-विवाह की प्रथा पर ध्यान दिया गया और सन् १९२९ ई० में हरिविलास शारदा का शारदा ऐक्ट पास हुआ जिसके अनुसार १४ वर्ष से कम आयु वाली बालिकाओं का विवाह अवैध माना गया और विवाह करने वाले दलों को दण्ड दिया जाने लगा। अब लगभग ८५ प्रतिशत लोगों में बालविवाह समाप्त हो चुका। उच्च शिक्षा का प्रचार बढ़ जाने के कारण उच्च शिक्षा-प्राप्त नारियाँ अन्य स्त्रियों का प्रेरणा देती थीं और उनके समक्ष अपना आदर्श रखती थीं। अब स्त्री

समाज का संगठन कर स्त्री-समाज के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। सामाजिक स्थिति सुधर जाने के कारण उनमें अपूर्व बल आ गया था।

उनको स्थानीय स्वशासन में भाग लेने का अधिकार दिया गया था। वे अब वोट दे सकती थीं और स्वयं सदस्या हो सकती थीं, परन्तु इन सभी कार्यों के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक थी, क्योंकि राजनीतिक अधिकारों का व्यावहारिक प्रयोग शिक्षा के बिना सम्भव नहीं। इन राजनैतिक अधिकारों ने भारतीय स्त्रियों में शिक्षा के प्रति अपूर्व अनुराग उत्पन्न कर दिया था।

सन् १९२१ ई० में महात्मा गाँधी राजनीति के रंगमंच पर आये और असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया। स्त्रियों ने भी उनका साथ दिया और लाठियों के प्रहार सहे और जेल गईं। कारण यह था कि महात्मा गाँधी की समाज-सुधार चेष्टाओं और राजनैतिक आन्दोलनों ने स्त्री-वर्ग का बड़ा कल्याण किया और यह उनके सतत प्रयत्नों का फल है कि आज स्त्रियाँ इस रूप में दिखाई पड़ती हैं। गाँधी जी के सिद्धान्तों[1] के अनुसार स्त्रियों को समान अधिकार मिलना चाहिए। वे पुरुषों से किसी भी प्रकार कम नहीं। अतः अपने को किसी प्रकार कम न सिद्ध करने के लिए उन्होंने शिक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति देश के कर्मठ नेताओं ने की।

उपरोक्त कारणों से इस अवधि में स्त्री-शिक्षा की प्रगति संतोषजनक रही। साथ ही स्त्रियों का दृष्टिकोण भी व्यापक हो गया था। राजनीतिक आन्दोलनों में पुरुषों के साथ कार्य करने से वे अब अपने बालिकाओं को सह-शिक्षा दिलाने में किसी प्रकार का संकोच न करती थीं जब कि सन् १९२१ ई० के पूर्व प्राथमिक विद्यालयों में भी सह-शिक्षा का विरोध करती थीं। सन् १९३० ई० में सह-शिक्षा का अनुपात ४३·४ तक पहुँच गया था और यह सह-शिक्षा लगभग सभी प्रान्तों में प्रचलित हो चली थी। स्त्री-शिक्षा-समिति, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त की गई थी, ने भी सह-शिक्षा का प्रस्ताव रक्खा था। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि बालिकाओं के लिए अलग विद्यालय होते ही नहीं थे। स्वतन्त्र बालिका-विद्यालयों की संख्या भी काफी थी और प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च सभी प्रकार की शिक्षा की प्रगति सराहनीय रही। इस प्रगति का अनुमान आगे दी गई तालिका से लगाया जा सकता है :—

---

१. 'Man and woman are equal in status'. 'I am uncompromising in the matter of woman's rights......I should treat daughters and sons on a footing of perfect equality'.—Mahatma Gandhi—Quoted by Raj Kumari Amrit Kaur in her Woman and Social njustice, p. III.

सन् १९२१ और ३७ ई० में बालिका विद्यालयों और छात्राओं की तालिका[1]

	सन् १९२१ ई० में विद्यालयों की संख्या	सन् १९२१ ई० में छात्राओं की संख्या	सन् १९३७ ई० में विद्यालयों की संख्या	सन् १९-३७ ई० में छात्राओं की संख्या	वृद्धि १९३७	
					विद्यालय में	छात्रों में
प्राथमिक विद्यालय	२२५७९	११९५८९२	३२२७३	२६०७०८६	९६९४	१४१०१९४
मिडिल स्कूल	५४८	८५०७९	९७८	२१६९६५	४३०	१३१८८६
हाई स्कूल	१२०	२५१३०	२९७	११४४८१	१७७	८९३५१
कला कालेज	१२	९३८	३१	६०३९	१९	५१०१
विशिष्ट स्कूल	२५८	१११८४	४०४	२३०२७	१४६	११८४३
योग	२३,५१७	१,३१८,२२३	३३,९८३	२९,६७,५९८	१०,४६६	१६,४८,३७५

१. From Chapter VI of the Quineuennial Review of the Progress of Education in India. (इस तालिका की सन् १९२१ की संख्याओं में वर्मा की संख्यायें नहीं हैं)

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि इस अवधि में कला-पाठशालाओं में पर्याप्त वृद्धि हुई, परन्तु विशेषता यह है कि प्रारम्भिक विद्यालयों की अपेक्षा माध्यमिक हाई स्कूल एवं उच्च विद्यालयों की वृद्धि अधिक हुई है। प्राथमिक विद्यालयों की संख्या डेढ़गुनी, मिडिल स्कूलों की दुगुनी और कालेज तथा हाई स्कूलों की संख्या लगभग ढाई गुनी थी। कला-कालेजों में छात्रों की संख्या लगभग ७ गुनी अधिक हो गई। अतः परिणाम यह निकलता है कि उच्च शिक्षा की ओर लड़कियों का झुकाव अधिक था।

हर्टॉग समिति और स्त्री-शिक्षा

यद्यपि इस अवधि में शिक्षा में सराहनीय प्रगति हुई है, फिर भी शिक्षित स्त्रियों की संख्या नगण्य थी। इस सराहनीय प्रगति के होने पर भी स्त्री-शिक्षा का अनुपात केवल ३ प्रतिशत का ही था। अब भी स्त्री-शिक्षा से लोगों को बड़ा असन्तोष था, और नये-नये प्रयोगों और विधियों की आवश्यकता थी। समिति ने अनुभव किया कि ग्रामीण क्षेत्रों में बालिका-विद्यालयों का सर्वथा अभाव था और अध्यापिकाओं की आवश्यकता थी। उनके लिए कोई सुन्दर और उपयोगी पाठ्यक्रम न था। अतः उसके निर्धारित करने की आवश्यकता थी। सन् १९२९ ई० में हर्टॉग समिति ने स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिये निम्नांकित उपाय बतलाये।

१—स्त्रीरी-शिक्षा-प्रसार के लिये एक सुन्दर, सुदृढ़ और उपयोगी योजना बनाई जाय और इसके लिये प्रत्येक प्रान्त की राजधानी में एक योग्य महिला नियुक्त की जाय। उसी के हाथों में यह महत्त्वपूर्ण कार्य सौंप दिया जाय।

२—प्राथमिक शिक्षा के लिए छात्राओं के पढ़ने की व्यवस्था अधिकांशतः बालकों के साथ की जाय।

३—उच्च शिक्षा में बालिकाओं का पाठ्यक्रम बालकों से भिन्न रक्खा जाय। लड़कियों के लिए विशेष प्रकार की औद्योगिक शिक्षा की आवश्यकता थी, परन्तु यह शिक्षा उच्च शिक्षा के पश्चात् दी जानी चाहिए।

४—बालिकाओं को गृह-विज्ञान, संगीत, स्वास्थ्य और सफाई आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए।

५—लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय और उनकी शिक्षा बालकों की अपेक्षा कम न समझी जाय।

६—लड़कियों के लिए अनिवार्य शिक्षा होनी चाहिए, परन्तु इस शिक्षा की प्रगति धीरे-धीरे होनी चाहिए।

७—अधिक अध्यापिकाओं की नियुक्ति की जाय और उनको वेतन अधिक दिया जाय, क्योंकि कम वेतन के कारण योग्य महिला और शिक्षिकाओं का अभाव है। इसके अतिरिक्त उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय तथा देहातों में जाने वाली अध्यापिकाओं को अधिक सुविधा दी जाय, क्योंकि यदि उनको कोई सुविधा नहीं दी जाती है तो उनकी देहात जाने की इच्छा नहीं होगी।

८—निरीक्षण की व्यवस्था अच्छी नहीं है। इसमें सुधार लाने के लिए निरीक्षिकाओं की संख्या बढ़ाई जाय।

६—स्थानीय संस्थाओं में तथा स्त्री-शिक्षा-समितियों में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व आवश्यक है।

इन सुझावों को रखने के पश्चात् अन्त में समिति ने कहा कि शिक्षा प्राप्त करने का नारी और पुरुष दोनों का समान अधिकार है। किसी एक की शिक्षा को उपेक्षित कर समाज प्रगति के पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। अतः दोनों की शिक्षाओं का संतुलन आवश्यक है। भारतीय शिक्षा के सर्वांगीण विकास के लिए देश की प्रत्येक योजना में बालिकाओं की शिक्षा की व्यवस्था रखना आवश्यक है।[१]

हरिजनों की शिक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण से ही हरिजनों की शिक्षा पर ध्यान दिया जाने लगा था, परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न हो सका था। इधर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही उनकी ओर विशेष ध्यान दिया गया। उनमें भी अब अदम्य उत्साह आ चुका था और स्वदेशी आन्दोलन ने उनकी भावना को काफी प्रभावित किया था। इसके पूर्व कई समाज-सुधारकों ने उनको आगे बढ़ाने का प्रयास किया था। फलतः वे भी शिक्षा प्राप्त करना अपना अधिकार समझने लगे

---

१. The whole case for women's education rests on the claim that education is not the priviledge of one sex but equally the right of both and that neither one sex nor the other can advance by itself without a strain on the social and national system and injury to it self. The time has come to redress the balance, and we believe that the difficulties in the way of women's education are beginning to lose their force and the opportunity has arrived for a great new advance. We are definitely of opinion that in the interest of the advance of Indian Education as a whole, priority should now be given to the claims of girls' education in every scheme of expansion. The Report, p. 183.

थे । भारतीय नेता इस बात का अनुभव कर रहे थे कि जाति-पाँति का भेद-भाव एवं छुआछूत आदि का भाव बड़ा भयानक है और इसको दूर करने का एकमात्र साधन शिक्षा है । अतः वे भी इनको आगे बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। सौभाग्य-वश शिक्षा की बागडोर सन् १६२१ ई० में भारतीय मंत्रियों के हाथ में आई और हरिजनों की शिक्षा की प्रगति प्रारम्भ हो गई । सन् १९३७ ई० तक की अवधि में भारत के लगभग सभी प्रान्तों में हरिजनों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया और अनेक प्रकार की सुविधाएँ देकर उन्हें प्रोत्साहित किया गया । परन्तु प्रत्येक प्रान्त ने अपनी-अपनी अलग नीति अपनायी । पर इस बात पर सभी प्रान्त एक थे कि हरिजनों को सामान्य विद्यालयों में ही पढ़ने की पूर्ण सुविधायों का निर्माण किया जाय ।

सन् १६२६ ई० में हर्टाग समिति ने कहा कि हरिजनों के लिए अलग विद्यालयों का निर्माण करने से उच्च हिन्दू और हरिजनों के मध्य में एक गहरी खाई बनती जा रही है और खर्चा भी बढ़ता है तथा प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य करने की सम्भावना कम होती जा रही है । सरकार भी इस ओर प्रयत्न कर रही थी और इसके परिणाम-स्वरूप सन् १६३७ ई० तक अधिकांश हरिजन छात्र सामान्य विद्यालयों में पढ़ने लगे थे । इस दिशा में सभी प्रान्त प्रयत्नशील थे और सबसे अधिक सफलता मध्यप्रान्त को मिली थी जहाँ विशिष्ट विद्यालयों की आवश्यकता बिल्कुल न रह गयी थी । इसके बाद पंजाब का नाम आता है जहाँ लगभग सभी अलग स्कूल बन्द कर दिए गए थे । इसमें सबसे पिछड़े हुए प्रान्त बिहार और उड़ीसा थे जहाँ अब भी ऐसे स्कूलों की काफी आवश्यकता थी । संयुक्त प्रान्त में सामान्य विद्यालयों में पढ़ने वाले हरिजन छात्रों की संख्या ५३ प्रतिशत थी और बम्बई में केवल २० प्रतिशत । यद्यपि बिहार और उड़ीसा पिछड़े थे, परन्तु फिर भी सन् १६३३ ई० में प्राथमिक शिक्षा समिति, बिहार ने प्रस्ताव रक्खा कि सामान्य विद्यालयों में ही हरिजन छात्रों को सभी प्रकार की सुविधा दी जाय और जहाँ हरिजनों की संख्या काफी अधिक हो वहाँ इनके लिए अलग स्कूल खोल दिए जायँ । परन्तु वे स्कूल अस्थायी हों और जैसे-जैसे सुविधा मिलती जायगी और भेद-भाव मिटता जायगा, ये विद्यालय समाप्त कर दिये जायँगे । उड़ीसा में हरिजन बालकों के लिए ५५० विशिष्ट विद्यालय थे जिनमें १० विद्यालय केवल बालिकाओं के लिए थे । शेष में से अधिकांश बालकों के लिए थे तथा कुछ में बालक और बालिका दोनों पढ़ते थे ।

महात्मा गाँधी के अनवरत प्रयत्न से अब उच्च हिन्दू और हरिजनों के बीच की खाई पटती जा रही थी और हरिजनों के बालक तथा उच्च कुल के बालक

एक ही साथ एक स्कूल में पढ़ते थे। बालकों के अतिरिक्त हरिजन अध्यापकों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी हर्टाग समिति ने अपने सुझाव रक्खे थे। गाँधी जी के प्रयास से अब उच्च कुल के बालक हरिजनों के साथ प्रसन्नतापूर्वक पढ़ते दिखाई पड़ने लगे और हरिजन अध्यापक तथा उच्च कुल के लोग साथ ही अध्यापन-कार्य करने लगे। हरिजन अध्यापकों से हरिजनों को बड़ी प्रेरणा मिली और उत्तरोत्तर छात्रों की संख्या बढ़ने लगी।

हरिजनोत्थान के लिए यद्यपि महात्मा गाँधी ने हरिजन-आन्दोलन को सन् १९२१ ई० में ही जन्म दिया था, परन्तु इसकी वास्तविक प्रगति सन् १९३० ई० में दिखाई पड़ी। गाँधी जी का विचार था कि हरिजनोत्थान के बिना स्वराज्य का कोई मूल्य नहीं।[1] गाँधी जी का यह निरन्तर प्रयास था कि हरिजनों को भी पूर्ण स्वतंत्रता दी जाय और इसी के लिए उन्होंने सन् १९३२ ई० में उपवास किया था। जिन भेद भावों के मिटाने में सदियों लगते उन्हें गाँधी जी[2] ने केवल सात दिन के उपवास में मिटा दिया। महामना मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में २५ सितम्बर सन् १९३२ ई० की अखिल भारतीय राष्ट्रीय नेताओं की एक बैठक[3] हुई। जिसमें घोषित किया कि आज से हिन्दू-समाज का कोई भी व्यक्ति अछूत नहीं। अछूत समझे जाने वाले व्यक्तियों को भी कुओं, सड़क और स्कूल आदि को उपयोग करने का अधिकार है। सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और कहा गया कि सभी लोग हरिजनों की सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का

१. Untouchability can not be given a secondary place in the programme without the removal of that.....Swaraj is a meaningless term.—Mahatma Gandhi.

२.......'I believe that if untouchability is really rooted out it will not only purge Hinduism of a terrible blot but its repercussions will be world wide. My fight against untonchability is a fight against the impure in humanity.—Press Interview, Yeravada Jail, Sept. 20, 1932, Quoted in Gandhiji, His life and work, Ed. by D. G. Tendulkar & others.

३. Amongst Hindus no one shall be regarded as an untouchable by reasons of his birth and that those who have been so regarded hitherto will have the same right as other Hindus in regard to the use of public wells, public schools and other public institutions. —Dr. Pattabhi Sitaramayya : The History of the Indian National Congress, p. 536.

प्रयत्न करेंगे और उनको सभी अधिकार देंगे। यह वाद-विवाद केवल विचार-मात्र न थे, वरन् उसी दिन से बहुत-से लोग इस दिशा में प्रयत्नशील हो गए। १९३३ ई० से गाँधी जी ने 'हरिजन' नाम की एक पत्रिका भी निकालनी प्रारम्भ कर दी।

मुसलमानों की शिक्षा

वास्तव में मुसलमानों को शिक्षित बनाकर आगे बढ़ाने का श्रेय सर सैयद अहमद खाँ को है। उन्होंने इनको आगे बढ़ाने का काफी प्रयत्न किया और इनमें एक नया उत्साह भर दिया। परन्तु सन् १९२१ ई० तक कोई विशेष प्रगति न हो सकी। वास्तव में इसकी प्रगति सन् १९२१ ई० से प्रारम्भ होती है और सन् १९३७ ई० तक वे शिक्षा के क्षेत्र में अन्य लोगों से पीछे न रहे। इस समय इनके छात्रों की संख्या २६·१ प्रतिशत तथा छात्राओं की संख्या २५·६ प्रतिशत थी। भारतीय मुसलमान शिक्षा-क्षेत्र में सार्वजनिक जनता से तो आगे थे, परन्तु उच्च शिक्षा में हिन्दुओं की बराबरी वे अभी भी न कर सके थे। अब प्रश्न आता है कि उनकी इतनी तीव्र प्रगति इसी अवधि में क्यों हुई? इसके कारण निम्नांकित हैं :—

१—सन् १८७१-७२ ई० से ही सरकार ने इस ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया था और काफी प्रोत्साहन दे रही थी।

२—मुस्लिम नेता विशेषतया सर सैयद अहमद खाँ ने इस ओर काफी परिश्रम किया था।

३—हरिजनों की भाँति २० वीं शताब्दी में भारतीय मुसलमान भी काफी चैतन्य हो चुके थे।

समिति और मुसलिम शिक्षा

अन्य समस्याओं की भाँति हर्टाग समिति ने मुसलिम शिक्षा का भी विशेष अध्ययन किया और उसके सम्बन्ध में अपने सुझाव रक्खे थे। समिति ने कहा कि मुसलमानों के लिए विशिष्ट स्कूल खुले हैं। ये बड़े घातक हैं। इससे मुसलमानों को स्वयं तथा भारतीयों को बड़ी हानि हो रही है। इससे मुसलमानों का शिक्षा-स्तर गिर गया है और वे जन-साधारण से पीछे रह गये हैं। समिति ने कहा था कि मुस्लिम स्कूल भारत में एक ऐसा विष बीज बो रहे हैं। जो एक दिन भारत के लिए बड़ा घातक सिद्ध होगा, अतः इनको अन्य सामान्य बालकों के ही साथ शिक्षा दी जाय। फिर भी यदि उनके लिए अलग विद्यालयों की आवश्यकता समझी जाय, तो इन्हें सामान्य विद्यालय में ही वे सारी सुविधाएँ प्रदान की जायँ परन्तु समिति

ने कहा कि ऐसा करने पर भी कम खतरा नहीं। अतः न तो कोई स्थान[1] निश्चित किया जाय और न ऐसी कोई सुविधा ही दी जाय।

आदिवासियों की शिक्षा

शिक्षा एवं अन्य सभी दृष्टि से आदिवासी पिछड़े हुए थे। यद्यपि सन् १८८१-८२ ई० से इस ओर प्रयत्न किए जा रहे थे, परन्तु फिर भी कुछ न हो सका था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के अन्तिम दिनों तक उनमें भी शिक्षा के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया था और यह निश्चय हो गया था कि सरकार अब उनकी शिक्षा भी अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रख सकती। सन् १९२१ ई० में भारतीय मन्त्रियों ने आदिवासियों की शिक्षा पर ध्यान तो दिया, परन्तु कई कारणों से उनमें कोई विशेष प्रगति न हो सकी। केवल बम्बई और बिहार प्रान्त में सरकार को आदिवासियों को शिक्षित बनाने में कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। इन दोनों प्रान्तों में सन् १९२१-२२ ई० में ५३,००० आदिवासी बालक और ८,००० आदिवासी बालिकाएँ विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। यही नहीं वरन् कुछ आदिवासी विश्वविद्यालय जाने के लिए भी तैयार थे। बिहार और उड़ीसा सरकार ने संथालों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया था और उनके लिए एक योजना कार्यान्वित की थी। सरकार ने संथाल शिक्षकों के लिए तीन 'गुरु ट्रेनिंग स्कूल' अलग संचालित किये थे तथा पाँच मिशन स्कूलों को भी आर्थिक सहायता देती थी। इन छात्रों से प्रवेश-शुल्क कम लिया जाता था और सन्थाल छात्रों को छात्रवृत्ति दी जाती थी। इनके शिक्षण के लिए दो इंस्पेक्टर तथा ५ सब इन्स्पेक्टरों की भी नियुक्ति की गई थी।

आसाम प्रान्त में आदिवासियों की शिक्षा पर सरकार ने पहले कोई ध्यान न दिया और इनकी शिक्षा का भार धर्म-प्रचारकों ने अपने हाथ में ले रक्खा था। गारो की पहाड़ी में धर्म-प्रचारकों ने १५५ विद्यालयों की स्थापना की थी। कुछ दिनों पश्चात् सरकार ने इनमें से १०१ विद्यालयों को अपने प्रबन्ध में कर लिया था। इस प्रदेश में सन् १९२२ ई० में धर्म-प्रचारकों की कुल ४७६ संस्थाएँ थीं। सरकार ने भी आदिवासियों के लिए कुछ विद्यालयों की स्थापना की थी। इसके अतिरिक्त सरकार ने बाँकुड़ा और मिदिनापुर में सन्थालों के लिए दो शिक्षा बोर्ड का प्रबन्ध किया था।

१....."No reservations are necessary and we should certainly wish that they should be as small as possible. As complications of an educational system they are undesirable in themselves...." —The Report, p. 206

बम्बई प्रान्त की सरकार ने कोल तथा भील जाति की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया था। अतः प्रगति काफी अच्छी रही। कलिपरज जातियों के लिए विशेष प्रकार की प्रणाली का प्रयोग किया जाता था। शिक्षकों को प्रशिक्षित बनाने के लिए एक केन्द्रीय विद्यालय का निर्माण किया गया। इस विद्यालय में ७० छात्राध्यापक प्रवेश ले सकते थे। इस विद्यालय में कई प्रतिभावान छात्र पढ़ते थे जो अहमदाबाद ट्रेनिंग कालेज की प्रवेशिका परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

सन् १९२१-३७ ई० की अवधि में सरकारी स्कूलों की संख्या कुछ अवश्य बढ़ी, परन्तु फिर भी कुछ विशेष उन्नति न हो सकी। आदिवासी जातियों के लिए तो पर्याप्त विद्यालय, पर्याप्त धन और अनेक सुविधाओं की काफी दिनों तक आवश्यकता थी। दुःख की बात है कि उनकी शिक्षा सदैव उपेक्षित ही रही। उधर न सरकार ने ही विशेष ध्यान दिया और न तो किसी अन्य संस्था ने ही। केवल धर्म-प्रचारक ही इस ओर क्या कर सकते थे। सन् १९३७ ई० में जब काँग्रेसी मंत्रिमंडल आया तो उसने इधर विशेष ध्यान दिया और तभी से उनकी शिक्षा का वास्तविक विकास प्रारम्भ होता है। इनके लिए एक निश्चित योजना बनाई गई। इस योजना का उद्देश्य था आदि वासियों के बालकों के लिए प्रशिक्षण विद्यालय की स्थापना करना। छात्र और छात्राध्यापक दोनों की छात्रवृत्ति की व्यवस्था करना आदि मुख्य कार्य थे। दूसरी ओर, कुछ आदिवासी शिक्षित हो चुके थे और अब वे अपनी जाति को ऊपर उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। इस सम्बन्ध में वे अपनी जाति वालों को उत्साह देते थे तथा उन्हें संगठन का पाठ पढ़ाते थे। इन शिक्षित आदिवासियों को देखकर उस जाति वालों को काफी प्रेरणा मिली थी और शिक्षित आदिवासियों की संख्या उत्तोत्तर बढ़ता जारही थी। परन्तु अब भी यह संख्या बहुत ही कम थी और आदिवासियों को विशेष प्रोत्साहन की आवश्यकता थी।

वयस्क साक्षरता[1]

वयस्क-शिक्षा का प्रारम्भ सन् १९२१ ई० के पूर्व हो चुका था। इसका उद्देश्य उन्हें साक्षर बनाना था। इन लोगों के लिए अंशकालिक[2] स्कूल खुले थे और कहीं-कहीं पर रात्रि-पाठशालाएँ भी स्थापित थीं, परन्तु इनका क्षेत्र सीमित था। ये केवल उन निम्न श्रेणी के वयस्कों एवं बालकों को साक्षर बनाते थे जो किसी फैक्ट्री आदि में कार्य करते थे अथवा जिन्हें दिन में पढ़ने का अवसर नहीं मिल सकता था। अतः अवकाश के समय उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था।

१. Adult Literacy.

२. Part-time school.

मुख्यत: ये उन कारखानों में कार्य करने वाले बच्चों की ओर ही केन्द्रित रहते थे, और वयस्कों की ओर नहीं। वयस्कों की तो शिक्षा केवल प्रासंगिक थी।

सन् १८८१-८२ ई० में बम्बई प्रान्त में १३४ तामिल पाठशालाएँ संचालित थीं जिनमें ३,९१९ छात्र पढ़ते थे। इन स्कूलों के अतिरिक्त २२३ रात्रि-पाठशालायें भी संचालित थीं। सब दिवा-विद्यालयों से संलग्न थीं और सभी विद्यालय प्राय: स्वतंत्र और स्वसंचालित थे। इनमें मामूली अंक-गणित, लिखना और पढ़ना सिखाया जाता था। इन रात्रि-पाठशालाओं की लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और विस्तार भी ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक होता जा रहा था। सन् १८८२ ई० में भारतीय शिक्षा-आयोग ने सुझाव रक्खा था कि प्रत्येक सम्मानित स्थान पर रात्रि-पाठशालाएँ संचालित कर देनी चाहिए। उनको समाजोपयोगी बनाने के लिए उनके संचालन में स्थान, समय और वातावरण का पूर्ण ध्यान रक्खा जाय। यह भारत का दुर्भाग्य रहा कि आयोग की ये सिफारिशें ठीक से परिणित न की जा सकीं।

बम्बई, मद्रास और बंगाल में भी सन् १९०१-२ ई० में रात्रि-पाठशालाओं का निर्माण किया गया था। परन्तु १९०२-१७ ई० की अवधि में ये पाठशालायें पतन की ओर तीव्रगति से अग्रसर हो चुकी थीं। १९१७-२२ ई० की पंचवर्षीय रिपोर्ट में भारतीय सरकार ने यह विचार व्यक्त किया कि जब तक इन विद्यालयों को उत्साही एवं कर्मठ व्यक्तियों के हाथ में नहीं सौंप दिया जाता, इनकी सफलता की आशा करना केवल कल्पना है; या सरकार इनको स्वयं अपने प्रबंध में ले ले और उनपर अपना निरीक्षण और नियंत्रण रक्खे। उधर सन् १९१९ ई० के सुधार के अनुसार भारतीयों को मतदान का अधिकार प्रदान कर दिया गया था और उसका उचित उपयोग शिक्षा के बिना सम्भव न था। अत: सरकार और जनता दोनों का ध्यान वयस्क शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ। सन् १९२१-२७ ई० में सम्पूर्ण देश में अनेक रात्रि-पाठशालाएँ और रात्रि-कक्षायें संचालित हो गईं, क्योंकि शासन की बागडोर भारतीय मंत्रियों के हाथ में आ गई थी। सन् १९२७ ई० में सम्पूर्ण भारतवर्ष में ११,१५८ रात्रि पाठशालाएँ पुरुषों के लिये, और ४७ संस्थाएँ स्त्रियों के लिये संचालित हो चुकी थीं जिन में क्रमश: २,८९,००१ पुरुष और १,३५१ स्त्रियाँ साक्षर बनायी जा रही थीं। इस प्रकार जब वयस्क शिक्षा की कली विकसित होने वाली थी कि उस पर तुषार पता हो गया। सन् १९२७ ई० में विश्वव्यापी आर्थिक संकट (मन्दी) उत्पन्न हो गया और शिक्षा सम्बन्धी सभी योजनाओं में कटौती कर दी गई। इसका प्रभाव वयस्क शिक्षा पर विशेष रूप से पड़ा और अगले १० वर्षों तक वयस्क शिक्षा की प्रगति रुक गई। छात्राओं की संख्या उत्तरोत्तर घटने

लगी। सन् १९३६-३७ ई० में सम्पूर्ण भारत मे केवल २०१६ पाठशालाएं पुरुषों के लिये और केवल ११ स्त्रियों के लिए संचालित थीं तथा इनमें क्रमशः ६२,६९१ पुरुष और ९४६ स्त्रियाँ शिक्षा ग्रहण कर रही थीं। १० वर्ष पूर्व के आंकड़ों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि छात्रों की संख्या में ⅓ का अन्तर पड़ गया था अर्थात् संख्या डेढ़ गुनी कम पड़ गई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सन् १९३७ ई० में भी वयस्क शिक्षा का कोई विशेष परिणाम न निकल सका और वह नगण्य रही। तथापि जितनी चेष्टाएँ की गईं वे सराहनीय हैं एवं उनका विशेष महत्त्व है। वयस्क शिक्षा का चिराग जो मन्द-मन्द ज्योति में जल रहा था उचित वातावरण पाकर सन् १९३७ ई० के पश्चात् तेज लौ से जलने लगा और वयस्क शिक्षा आन्दोलन आगे बढ़ चला। यह पहले की चेष्टाओं का ही प्रभाव था कि वयस्क शिक्षा की ओर जनता एवं सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ और मिल-मालिकों को मजदूरों को शिक्षित बनाने एवं उनका अधिकार देने के लिये बाध्य कर दिया। इन चेष्टाओं ने ही विद्यार्थियों को परीक्षा के पश्चात् अपना अवकाश-समय वयस्कों को साक्षर बनाने के लिए अग्रसर किया तथा कई संस्थाओं को इस ओर क्रियाशील बनाया। अतः वयस्क शिक्षा को जीवित रखने और उसको आगे बढ़ाने की दृष्टि से ये प्रारम्भिक चेष्टाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

व्यावसायिक शिक्षा[1]

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीयों ने केवल पुस्तकीय ज्ञान के प्रति विरोध की भावना प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया था। उनको अनुभव हो चुका था कि ऐसी शिक्षा भारतीयों को अकर्मण्य बनाती है और वे पढ़-लिख कर केवल नौकरी की तलाश में निकल पड़ते हैं। उनको जीविकोपार्जन में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि बेकारी की समस्या बढ़ती जा रही है। अतः औद्योगिक शिक्षा का विकास आवश्यक है। समय भी बदल चुका था। देश की आवश्यकताएँ भी बढ़ गई थीं और भारतीय नेता देश को स्वतन्त्र बनाने एवं उसका नव-निर्माण करने का सतत् प्रयत्न कर रहे थे। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति बढ़ चली थी। सन् १९२१-३७ की अवधि में व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा की प्रगति काफी अच्छी रही। इस प्रकार की शिक्षा में कानून की शिक्षा सबसे आगे थी, क्योंकि कानून का उद्यम स्वतन्त्र था और देश को स्वतन्त्र बनाने में एवं वैधानिक बातों को समझने में वकील लोग सर्वथा योग्य

१. Vocational Education.

थे तथा सरकार से लड़कर भी अपना व्यवसाय कर सकते थे। इसके पश्चात् चिकित्सकों की विशेष अवश्यकता थी क्योंकि स्वास्थ्य के बिना कुछ नहीं किया जा सकता। देश में अनेक निर्माण-कार्य हो रहे थे। अतः इंजीनियरों की आवश्यकता थी। अतः इन तीनों प्रकार की शिक्षाओं का काफी जोर रहा और इनके लिए नई-नई संस्थाएँ स्थापित की गईं। साथ ही इस अवधि में कृषि, पशु-चिकित्सा, वन-विज्ञान तथा टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा आदि में युवकों को शिक्षित करने का प्रयास किया गया। इन सबका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

कानून की शिक्षा[१]

सन् १९३७ में १४ कानून कालेज स्थापित हो चुके थे। इसके अतिरिक्त ६ विश्वविद्यालयों में कानून विभाग था और ६ सामान्य कालेजों में कानून की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार २६ संस्थाएँ कानून की शिक्षा प्रदान कर रही थीं।

चिकित्सा की शिक्षा[२]

चिकित्सा का महत्त्व भी कम न था। अतः भारतीयों ने चिकित्सा-शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया। फलतः सन् १९३७ ई० तक इनकी संख्या भी काफी बढ़ चुकी थी। सन् १९०१-२ ई० में चिकित्सा-कालेजों की संख्या केवल चार थी और उनमें शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की संख्या १,४६६ थी। इसके अतिरिक्त इस सन् में चिकित्सा-स्कूलों की संख्या २२ थी जिन में २२७ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। सन्१९३६-३७ ई० में यह संख्या २२ से ३० पहुँच गई और छात्रों की संख्या ६,९९९ हो गई। स्पष्ट है कि इस संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई थी। जब नीचे हम देखेंगे कि इस अवधि में स्थापित होने वाले चिकित्सा-विद्यालयों की स्थापना कब और कैसे हुई।

१—स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसिन, कलकत्ता—यह अपने ढंग का अनूठा विद्यालय था और सम्पूर्ण भारत में केवल एक था।

२—ऑल इण्डिया इन्स्टीट्यूट आफ हाइजिन एन्ड पब्लिक हेल्थ, कलकत्ता। जन-स्वास्थ्य में स्नातकोत्तर[३] शिक्षा की व्यवस्था करना तथा रोगों के निवारण करने के लिए सुन्दर साधनों का अनुसंधान करने के उद्देश्य से इस संस्था की स्थापना की गई थी। इसके अतिरिक्त लेडी हार्डिंज मेडिकल कालेज, स्त्रियों

---

१. Legal Education.

२. Medical Education.

३. Post-graduate Education.

की शिक्षा के लिए दिल्ली में पहले ही स्थापित हो चुका था। यह भी भारत में अपने ढंग का अनोखा विद्यालय था।

सन् १९३३ ई० में भारत सरकार ने मेडिकल कौन्सिल ऐक्ट के अनुसार भारतीय चिकित्सा परिषद[1] की स्थापना की थी जिस के निम्नांकित उद्देश्य थे :—

(१) भारतीय विश्वविद्यालयों की चिकित्सा-सम्बन्धी उपाधियों को विदेशों में स्वीकृति दिलाना।

(२) भारतीय विश्वविद्यालयों को चिकित्सा-अध्यापन के शिक्षा-क्रम की स्वीकृति देना।

इंजीनियरिंग की शिक्षा[2]

देश के नव निर्माण में इंजीनियरिंग का भी महत्त्व कम नहीं। अतः सन् १९०२-३७ ई० की अवधि में इसकी भी प्रगति हुई। सन् १९०२ ई० में इंजीनियरिंग कालेजों की संख्या केवल ४ थी और इसमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या ८६५। परन्तु सन् १९३६-३७ ई० में कालेजों की संख्या बढ़कर आठ और इनमें अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या २,१९९ हो गयी। इस प्रकार कालेजों की संख्या दुगुनी और इन में अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या लगभग ढाई गुनी हो गयी थी।

कृषि शिक्षा[3]

भारत एक कृषि-प्रधान देश है, और यहाँ की अधिकांश जनता कृषि पर अपना जीवन निर्वाह करती है। परन्तु दुर्भाग्यवश कृषि की शिक्षा सदैव उपेक्षित रही। भारतीय शिक्षा-आयोग ने इसके सम्बन्ध में सरकार का ध्यान आकर्षित किया था। उसके पश्चात् लार्ड कर्जन ने भी इसको प्रोत्साहन दिया था। सन् १९०१ ई० में भारत में कृषि-शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए इंस्पेक्टर जनरल की नियुक्ति की गई और सन् १९०५ ई० में उसे अधिकार दिया गया कि वह प्रति वर्ष ५ लाख रुपया कृषि के सम्बन्ध में खर्च करे। यहीं से कृषि-शिक्षा का प्रारम्भ होता है। सन् १९२३ ई० में बंगलौर में एक 'एनिमल हस्बेन्डरी और डेयरिंग का निर्माण किया गया। सन् १९३४ ई० में 'पूसा इन्स्टीट्यूट' पूसा से दिल्ली से लाया गया।

---

१. Medical Council of India.
२. Engineering Education.
३. Agricultural Education.

कृषि-शिक्षा के सम्बन्ध में लार्ड कर्जन का नाम सदा याद करेगा। उसके समय में भारत सरकार ने हर प्रान्त को आदेश दिया था कि अपने यहाँ एक कृषि-कालेज की व्यवस्था करे।

परन्तु दुर्भाग्यवश सन् १९३७ ई० तक केवल ६ ही कृषि-कालेज स्थापित किये जा सके थे। वास्तव में भारत को आज आर्थिक एवं खाद्य समस्यायों का सामना न करना पड़ा होता यदि हर प्रान्त कृषि की ओर समुचित ध्यान देता। इसके अतिरिक्त जितने कृषि-कालेज थे उनकी शिक्षा वैज्ञानिक न थी। न तो उच्च कृषक ही निकल रहे थे और न कृषि-विशेषज्ञ ही। पूसा और शिमला में इस सम्बन्ध में कृषि-सम्मेलन किये गए और उनमें निश्चित किया गया कि :—

१. कृषि की शिक्षा का विस्तार होना चाहिए और इसके लिए कृषि-स्कूलों और कालेजों की संख्या में वृद्धि की जाय। मिडिल एवं हाई स्कूलों में कृषि-शिक्षा का प्रसार किया जाय। इससे कृषि-कालेजों के लिए पर्याप्त संख्या में एवं योग्य छात्र उपलब्ध हो सकेंगे।

२. कृषि-कालेजों के सम्बन्ध में प्रान्तों को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। यदि वे चाहें तो कृषि-कालेजों को विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित करें अन्यथा स्वतंत्र रक्खें।

३. कृषि-कालेजों का एक निश्चित पाठ्यक्रम होना चाहिए, और इस पाठ्यक्रम की रूप-रेखा निर्धारित करते समय प्रान्त के वातावरण और परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिए।

वास्तव में कृषि-शिक्षा की प्रगति का श्रेय रायल कमीशन को है। इसने कृषि-शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। इस आयोग ने विशेषत: मिडिल स्कूलों तथा हाई स्कूलों में कृषि-शिक्षा के सुधार की सिफारिश की और सुझाव प्रस्तुत किए। आयोग ने कहा कि कृषि-शिक्षा ग्रामीण विद्यालयों में दी जानी चाहिए, न कि शहरी विद्यालयों में; क्योंकि देहाती बालकों के लिए ऐसी शिक्षा अधिक उपयोगी होगी। इसके अतिरिक्त यह केवल सैधान्तिक न होनी चाहिए, वरन् इसमें प्रायोगिक ज्ञान भी देना चाहिए जिससे छात्रों को श्रम का महत्त्व मालूम हो और वे योग्य कृषक बन कर उत्तम प्रकार की खेती कर सकें। आयोग ने बताया कि अधिक-से-अधिक संख्या में 'कृषि मिडिल स्कूलों' की स्थापना की जाय और पंजाब का पाठ्यक्रम सभी विद्यालयों में लागू किया जाय। यदि ऐसा हो सकेगा तो उनकी शिक्षा वास्तविक और उपयोगी होगी, क्योंकि उसका

सम्बन्ध बालक के वातावरण से होगा ।[1] आयोग ने कहा कि प्रत्येक विद्यालय के पास तीन एकड़ भूमि होनी चाहिए और यदि कहीं तीन एकड़ नहीं मिल सकती, तो आधा एकड़ भूमि का होना आवश्यक है । इस भूमि में एक फुलवारी लगी होनी चाहिये । यदि इन सब बातों का प्रबन्ध हो सकेगा तो कृषि-शिक्षा का और साथ ही भारत का कल्याण हो सकेगा ।

पशु-चिकित्सा-शिक्षा[2]

भारत ऐसे देश में पशुओं का बड़ा महत्त्व है । किसानों के धन पशु ही हैं । गाय-भैंस दूध देती हैं और बैल हल चलाते हैं तथा इनके मूत्र और गोबर से खाद बनती है । इसी प्रकार अन्य जानवर भी उपयोगी हैं । अतः अच्छे नस्ल के पशुओं का होना आवश्यक है तथा उनके रोग की जाँच और चिकित्सा के लिए औषधियों की आवश्यकता है । इन सब बातों को समझने से पशु-चिकित्सा-शिक्षा-कालेजों की आवश्यकता जान पड़ी । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ही नहीं बल्कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक इस शिक्षा का सर्वथा अभाव था । सन् १९०२-३७ ई० की अवधि में इस शिक्षा के लिए कुछ संस्थाएँ स्थापित हुईं । अभी तक नाम मात्र के लिए जो संस्थाएँ थीं वे केवल राजकीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं । परन्तु इस अवधि में उसका विस्तार किया गया और कुछ स्कूलों के स्तर को ऊँचा कर के उन्हें कालेज में परिणित करने का विचार किया गया । परन्तु ऐसा न हो सका और उन सभी स्कूलों को तोड़ कर ५ कालेजों की स्थापना की गई । पशु-चिकित्सा के लिए स्नातकोत्तर शिक्षा की व्यवस्था की दृष्टि से उत्तर प्रदेश में मुक्तेश्वर नामक स्थान पर १९१७-२२ के मध्य में 'इम्पीरियल वेटेरिनरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट' खोला गया तथा सन् १९३० ई० में पटना में वेटनरी कालेज का निर्माण किया गया ।

---

१. In the Punjab type, elementary agriculture is an optional subject in the curriculum of the ordinary vernacular middle schools. In the words of a circular which was issued in 1923: 'the aim is to enrich the middle school course in rural areas by the inclusion of agricultural training and thus to bring it more in keeping with the environment of the pupils; and the object is to use agriculture as a means of mental discipline and training and as an important accessory to the general subjects taught in these scools.—The Royal Commission on Agriculture Report p. 65.

२. Veterinary Education.

वन-विज्ञान-शिक्षा[1]

भारत में जंगलों की कमी नहीं। अतः इस ओर भी लोगों का ध्यान जाना आवश्यक था। वन-विभाग में कार्य करने वाले अधिकारियों को प्रशिक्षित करने के लिए सन् १९३६-३७ ई० में केवल ३ विद्यालय क्रियाशील थे जो कि निम्नांकित थे :—

१. फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून

२. फॉरस्ट कालेज, कोयम्बटूर

३. इन्डियन फॉरेस्ट रिसर्च कालेज, देहरादून

फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून में वन-सम्बन्धी उच्च शिक्षा दी जाती थी एवं अनुसंधान-कार्य भी किया जाता था। शेष दोनों कालेजों में वन-विज्ञान की साधारण शिक्षा दी जाती थी।

टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा[2]

सन् १९०४ ई० के प्रस्ताव ने टेकनिकल शिक्षा की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। दुर्भाग्यवश उस समय भारत में टेकनिकल शिक्षा की व्यवस्था न थी। अतः प्रति वर्ष दस योग्य छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देकर सरकार उन्हें टेकनिकल ट्रेनिंग के लिए इंगलैंड भेजती थी। ये छात्रवृत्तियाँ सामान्य रूप से केवल दो वर्ष के लिए ही स्वीकृत की जाती थीं। परन्तु यदि आवश्यकता समझी जाती थी तो उनकी अवधि बढ़ाई जा सकती थी। परन्तु यह प्रणाली अधिक सफल न हो सकी, क्योंकि इंगलैंड जाने में खर्चा अधिक पड़ता था और कम ही लोग जा सकते थे। अतः स्पष्ट है कि टेकनिकल शिक्षा की यह दशा देखकर सन् १९१७ ई० में मौरिसन समिति[3] ने विदेशों में अध्ययन करने के लिए छात्रवृत्तियों के नियम, धन और अवधि के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव रक्खे और उसके अनुसार संशोधन भी हुए।

सन् १९२१ ई० में द्वैध शासन हाथ में आ जाने पर जनता ने सरकार के समक्ष यह माँग रक्खी कि भारतीयों को टेकनिकल शिक्षा दी जाने की व्यवस्था की जाय जिससे वे स्वावलम्बी हो सकें और दूसरों पर उन्हें किसी भी वस्तु के लिए निर्भर न रहना पड़े। जनता ने कहा कि विदेशों में जाकर टेकनिकल शिक्षा प्राप्त

१. Forestry Education.

२. Technical and Industrial Education.

३. Morison Committee.

करने से देश में टेकनिकल शिक्षा का विकास कभी नहीं हो सकता। अतः उसकी व्यवस्था भारत में ही की जाय। जिस समय भारतीय यह माँग कर रहे थे उसी समय लार्ड लिटन की अध्यक्षता में एक समिति[1] नियुक्त की गई जिसको यह कार्य सौंपा गया कि वह इंगलैंड में पढ़ने वाले भारतीय छात्रों की दशा की जाँच करे और यह बताए कि उनकी क्या कठिनाइयाँ हैं तथा उन्हें कैसे सुधारा जा सकता है। लार्ड लिटन ने जाँच करके अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस सम्बन्ध में उन्होंने सुझाव रक्खा कि इंजीनियरिंग की शिक्षा का प्रबन्ध भी भारत में ही किया जाय जिससे छात्रों को इसके लिए बाहर जाना न पड़े।[2] इंगलैंड में भारतीय बालकों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अब समय आ चुका है और टेकनिकल शिक्षा और अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रक्खी जा सकती थी। अतः ऐसी संस्थाएँ निर्मित होने लगीं। इन सस्थाओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है। इस प्रकार सन् १९२१-३७ ई० की अवधि में इस शिक्षा की कुछ प्रगति हुई।

१. हारकोर्ट बटलर टेकनॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुरः—यह संस्था सन् १९२१ ई० में कायम हुई। यह कुछ चुने हुए छात्रों को औद्योगिक शिक्षा देती है।

२. इम्पीरियल एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, दिल्लीः—यहाँ कृषि-शिक्षा दी जाती थी और कृषि में अनुसंधान भी किए जाते थे।

३. बोस रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ताः—भारत के धुरन्धर एवं प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस ने इसकी स्थापना की थी। यह अपने ढंग का अनोखा विद्यालय था। यहाँ प्राणि-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, कृषि एवं रसायन की सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक शिक्षा दी जाती थी।

---

१. The Committee on Indian Students in England, 1921-22.

२. India has now been set on the road to self-government and autonomy, and it must be obvious that her sons and daughters ought to be able to receive their education within her own borders. We believe, therefore, that the only permanent solution of the problem is the development of education in India in all its branches as early as possible. This view has been pressed upon us by all the witnesses that have appeared before us.—The Repor of the Committee on Indian Students in England, para. 84.

इन्डियन स्कूल आफ माइन्स, धनबाद :—सन् १९२६ में यह बिहार में खोला गया था। यहाँ खान-सम्बन्धी बातों की शिक्षा दी जाती है। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् यहाँ के छात्र माइनिंग इंजीनियर कहलाते हैं।

विक्टोरिया जुबली टेकनिकल स्कूल, बम्बई:—यह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्कूल है। इस में अनेक प्रकार की औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था है, जैसे बिजली इंजीनिरिंग, प्रायोगिक रसायन और बरतन आदि बनाने का काम।

अन्य संस्थाएं:—उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त जमशेद पुर टेकनिकल इन्स्टीट्यूट, टाटा नगर; गवर्नमेन्ट स्कूल ऑफ टेकनॉलॉजी, मद्रास; टेकनिकल इन्स्टीट्यूट ऑफ कलकत्ता, टेकनिकल इन्स्टीट्यूट, राँची भी टेकनिकल संस्थाएँ हैं। सन् १९३६-३७ ई० में टेकनिकल तथा औद्योगिक संस्थाओं की कुल संख्या ५३५ थी और इनमें अध्ययन करने वाले छात्रों की ३०,५०९।

राष्ट्रीय शिक्षा

असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप नवनिर्मित राष्ट्रीय विद्यालयों की संख्या एवं दशा सन् १९२२ ई० के पश्चात् क्षीण होने लगी क्योंकि असहयोग आन्दोलन की प्रगति अब मन्द पड़ गई थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति-काल समय कुछ बढ़ता-सा प्रतीत हो रहा था। अतः देश के नेताओं ने सोचा कि यत्रतत्र बिखरे राष्ट्रीय विद्यालयों से देश का कल्याण होना सम्भव नहीं। कुछ ऐसी प्रसिद्ध और सुदृढ़ राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण करना है जो यहाँ से कुशल एवं दृढ़-प्रतिज्ञ देश-सेवक तैयार करें। इन विचारधाराओं के फलस्वरूप निम्नांकित प्रसिद्ध विद्यालयों का निर्माण हुआ।

विश्व-भारती

चित्र २९—रवीन्द्रनाथ

इसका संक्षिप्त उल्लेख हम पीछे 'उच्च शिक्षा' के अन्तर्गत कर चुके हैं। विश्व-भारती की नींव ६ मई सन् १९२२ ई० को विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने डाली थी। इसकी स्थापना निम्नलिखित तीन उद्देश्यों से की गई थी :—

(अ) पूर्व एवं पश्चिम में सहयोग की भावना पैदा करके विश्व-शान्ति की ओर अग्रसर होना।

(ब) प्राच्य संस्कृतियों को संगठित कर के उन्हें एक दूसरे से सम्बन्धित करना और समीप लाना।

(स) पाश्चात्य विज्ञान एवं संस्कृति को एक ही रूप में अध्ययन करना।

यहाँ छात्रावासों की व्यवस्था है। यहाँ छात्रगण सदाचारिता एवं सहयोग का पाठ सीखते हैं। यहाँ योरोप और एशिया के विद्यार्थी अध्ययन करने आते हैं।

विश्व-भारती विश्वविद्यालय के अन्तर्गत अधोलिखित संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।

विद्या-भवन:—यहाँ अर्वाचीन भाषाओं एवं भारतीय दर्शन में अनुसंधान किया जाता है।

शिक्षा-भवन :—यह कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बन्धित कालेज है और उच्च कोटि की शिक्षा देता है।

चीन-भवन :—इसमें चीनी भाषा में लिखित एक लाख पुस्तकें हैं और यहाँ भारतीय एवं चीनी छात्रों को एकात्म का पाठ पढ़ाया जाता है।

कला-भवन :—यहाँ ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती है।

संगीत-भवन :—यहाँ संगीत और नाट्य की शिक्षा दी जाती है।

शिल्प-भवन :—यहाँ छोटे-छोटे गृह-उद्योगों में शिक्षा दी जाती है।

श्री-निकेतन :—यहाँ ग्रामों के जीर्णोद्धार करने की ओर छात्रों में रुचि का विकास किया जाता है।

इनके अतिरिक्त अन्य कई ऐसी शिक्षा-संस्थाओं का इस अवधि में विकास हुआ है जो हिन्दू और मुस्लिम सिद्धान्तों पर आधारित हैं और राष्ट्र-हित की ओर नियोजित हैं। नीचे इनकी ओर संकेत किया जा रहा है :—

दारुलउलूम, देवबन्द[१]

यहाँ अरबी, फारसी और कुरान की उच्च शिक्षा दी जाती है। यह भी आवासित है।

दारुल-उलूमनदवत्तुल उलेमा, लखनऊ—यह भी मुसलिम संस्था है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें नवीन पाठ्यक्रम भी पढ़ाया जाता है।

गुरुकुल विश्वविद्यालय

गुरुकुल विश्वविद्यालय अत्यन्त पुराना है। इसकी स्थापना सन् १९०२ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा की गयी थी। सन् १९२८ ई० में यह विद्यालय

१. Darul-Uloom, Deoband.

२. Darul-Uloom Nadwatul Ulema, Lucknow.

गुरुकुल कांगड़ी को लाया गया जहाँ आज भी गहन वन में बना हुआ है और बालकों को ऋषि और मुनियों के आदर्शों पर उच्च कोटि की शिक्षा प्रदान करता है। यहाँ ६-८ वर्ष के बच्चे प्रवेश पाते हैं और १४ वर्ष का पाठ्य-क्रम होता है।

सन् १९२३ ई० में गुरुकुल पद्धति पर देहरादून में भी एक संस्था स्थापित हुई थी, परन्तु यह केवल स्त्रियों के लिये थी।

जामिया मीलिया इस्लामिया, दिल्ली—गत अध्याय में हम इस विद्यालय का उल्लेख कर चुके हैं। सन् १९२५ ई० में यह अलीगढ़ से दिल्ली स्थानान्तरित हो गया। इसमें निम्नांकित संस्थाएँ संचालित हैं :—

१. **एक आवासिक कालेज**:—इसमें कला एवं सामाजिक विज्ञान की उच्च शिक्षा दी जाती है।

२. **एक आवासिक हाई स्कूल** :—इसकी रूप-रेखा आधुनिक है और बालकों को सक्रिय भाग लेना सिखलाया जाता है।

३. **उर्दू अकादमी** :—यह उर्दू साहित्य के उत्पादन के लिए है।

४. **मकतबा जामिया** :—यहाँ उर्दू साहित्य के तथा उससे सम्बन्धित अन्य प्रकार के प्रकाशन होते हैं जिनमें विशेषतया समाज विज्ञान एवं साहित्यिक बातें होती हैं।

जामिया मीलिया मुख्यत: चन्दे पर चलता है। यह संस्था सरकारी सहायता की कृपा पर निर्भर नहीं है।

इस प्रकार इस अवधि में इन महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का निर्माण हुआ है।

शिक्षा-विभाग

इस अवधि में शिक्षा-विभाग के संगठन में बड़े सराहनीय कार्य हुए हैं। सन् १९२४ ई० में आई० ई० एस० की नियुक्तियाँ समाप्त कर दी गयी थीं और उसके स्थान पर प्रथम श्रेणी की सेवा का प्रबन्ध किया गया था। परन्तु इसके लागू करने में कुछ देर हो रही थी। अत: हर्टॉग समिति ने शीघ्र ही उसे कार्यान्वित करने की सिफारिश की। इसके परिणाम स्वरूप पश्चिमोत्तर प्रान्त और मद्रास को छोड़ कर बाकी सभी प्रान्तों में इसकी व्यवस्था हो गई। इस अवधि में विद्यालयों की संख्यात्मक वृद्धि खूब हुई थी। अत: शिक्षा-संचालक की सहायता के लिए उप-शिक्षा-संचालक की नियुक्ति की गई और सहायक निर्देशक के स्थान भी कायम किए

गये । हर्टांग समिति की दृष्टि में निरीक्षण और नियंत्रण आवश्यक था । अतः उसने बहुत से निरीक्षकों की नियुक्ति की सिफारिश की । समिति ने बताया कि जिस प्रकार रेलमार्ग का निरीक्षण आवश्यक है उसी प्रकार शिक्षा का निरीक्षण भी आवश्यक है, अतः निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि आवश्यक है । सन् १९२१-३७ की अवधि में शिक्षा-संचालक और शिक्षा-सचिव के परस्पर-सम्बन्धों की व्याख्या की गई और निश्चित किया गया कि दोनों पद को एक कर देना चाहिए । इससे समय की भी काफी बचत होगी और रुपया भी बचेगा । इन दोनों पदों के एक हो जाने से बहुत सी सुविधाएँ बढ़ जायँगी । हर्टांग समिति ने जाँच के पश्चात् यह निर्णय दिया कि शिक्षा-सचिव का कार्य लोक-सेवा-निर्देशक को दे देना चाहिये । ऐसा करना शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी होगा, क्योंकि शिक्षा-सचिव का कोई निरीक्षण-सम्बन्धी अनुभव नहीं होता । अतः बहुधा अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुआ करती हैं ।

सन् १९१९ ई० के ऐक्ट के अनुसार स्थानीय संस्थाओं के अधिकार बढ़ा दिए गए थे और विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में उनके अधिकार असीमित थे । हर्टांग समिति ने बताया कि उनका अधिकार शिक्षा के लिए कल्याण-कारी नहीं । अतः ये अधिकार सीमित कर लिए जायँ और सरकार प्राथमिक शिक्षा का निर्देशन और नियन्त्रण स्वयं अपने हाथ में ले ले । इन सब बातों का उल्लेख पीछे 'प्राथमिक शिक्षा' के अन्तर्गत किया जा चुका है ।

सारांश

द्वैध शासन के फलस्वरूप शिक्षा की बागडोर भारतीयों के मंत्रियों के हाथ में आई और शिक्षा की नई-नई योजनायें बनीं । परन्तु आर्थिक संकटों के कारण वे कार्यान्वित नहीं हो सकती थीं । आर्थिक कठिनाई के अतिरिक्त अन्य कई कठि-नाइयाँ भी थी । राष्ट्रीय आन्दोलन ने शिक्षा-प्रसार पर काफी जोर दिया । फलतः अनेक राष्ट्रीय विद्यालय बन गए ।

हर्टांग समिति की नियुक्ति हुई । इसने तत्कालीन परिस्थिति की जाँच की और दोष तथा उनके निवारण के उपाय बताए ।

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा में आशाजनक वृद्धि हुई । लगभग सभी प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा-नियम लागू करने का प्रयत्न किया गया । हर्टांग समिति ने प्राथमिक शिक्षा की प्रगति की सराहना की; परन्तु उसमें आये हुए कतिपय दोष और बाधाओं का वर्णन किया तथा उसके समाधान के उपाय बताए ।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा की दशा पहले से अच्छी थी; परन्तु पाठ्यक्रम न तो व्यापक था और न जीवनोपयोगी। समिति ने इसके सम्बन्ध में अनेक सुझाव रक्खे जिसमें अध्यापकों की दशा, शिक्षा का पाठ्यक्रम, और अनुदान-प्रथा आदि मुख्य थे।

उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा की प्रगति अच्छी रही, क्योंकि माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हो चुकी थी और उससे उत्तीर्ण होने पर छात्र विश्वविद्यालयों की शिक्षा चाहते थे। इस अवधि में ५ नए विश्वविद्यालय बन गए और उनसे सम्बन्धित अनेक नए कालेज खुले। विश्वविद्यालयों का पाठ्यक्रम व्यापक बना दिया गया और कलकत्ता विश्वविद्यालय में परिवर्तन कर दिया गया तथा अन्य अनेक सुधार किए गए। सैनिक शिक्षा की व्यवस्था तथा चिकित्सकों की नियुक्ति आदि महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए। सम्बद्ध पुस्तकालयों की व्यवस्था की गई और अनुसंधान-कार्य को बढ़ावा दिया गया। आनर्स कोर्स की व्यवस्था की गयी।

स्त्रीशिक्षा

स्त्रियों की दशा में काफी सुधार हुआ। बाल-विवाह को रोकने की व्यवस्था की गयी। स्थानीय स्वायत्त शासन में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व होता था। उन्हें वोट देने का अधिकार मिल गया। अखिलभारतीय नेता सम्मेलन हुआ। गाँधी जी ने स्त्रियों में प्रेरणा कूट-कूट कर भर दी। अब उनको एक नई चेतना, नई प्रेरणा तथा नया उत्साह मिला। हर्टाग समिति ने कहा कि इनकी शिक्षा नहीं के बराबर है। समिति ने स्त्री-शिक्षा-प्रचार तथा प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए अनेक उपाय बताए जिनमें, सुदृढ़ योजना, सह-शिक्षा, विविध पाठ्यक्रम, अनिवार्य शिक्षा, अधिकारियों की नियुक्ति, वेतन, प्रशिक्षण, शिक्षा-समितियों में प्रतिनिधित्व आदि मुख्य थे। समिति ने यह भी बताया कि शिक्षा पर नारी और पुरुष दोनों का जन्मसिद्ध अधिकार है।

हरिजनों की शिक्षा

हरिजनों की शिक्षा की प्रगति अधिक तो नहीं हुई, परन्तु वे प्रगति के पथ पर बढ़ रहे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन और गाँधी जी ने उनमें अदम्य उत्साह भर दिया था। हर्टाग समिति ने बताया कि हरिजनों के लिए सामान्य विद्यालयों में पढ़ने की व्यवस्था की जाय; अन्यथा उच्च कुल के लोग और निम्न वर्ग के मध्य

की खाईं भर नहीं सकती । गाँधी जी ने उपवास और हरिजनों को काफी सामाजिक सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयत्न किया ।

मुसलमानों की शिक्षा

मुसलमानों की शिक्षा में सराहनीय प्रगति हुई । सन् १९३६ ई० तक वे हिन्दुओं से शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े न थे । हर्टाग समिति ने बताया कि मुसलमानों के लिए भी सामान्य शिक्षालयों में ही व्यवस्था की जाय । अलग व्यवस्था करने का बड़ा घातक परिणाम होगा ।

आदिवासियों की शिक्षा

सन् १९२१ ई० के पश्चात् आदिवासियों की शिक्षा पर ध्यान दिया गया, क्योंकि उनकी शिक्षा अब अधिक दिनों तक उपेक्षित नहीं रक्खी जा सकती थी । लगभग सभी प्रान्तों ने आदिवासियों की शिक्षा का प्रबन्ध किया । सरकार भी इधर ध्यान दे रही थी तथा आदिवासियों में भी रुचि पैदा हो गई थी । उनमें भी कुछ लोग काफी शिक्षित हो चुके थे जो अपनी जाति को संगठित कर शिक्षा की ओर बढ़ा रहे थे ।

वयस्क-साक्षरता

वयस्कों को साक्षर बनाने के महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किए गए और लगभग सभी प्रान्तों में रात्रि-पाठशालायें खोली गईं तथा छात्र और छात्राओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई, परन्तु सन् १९२७ ई० में विश्वव्यापी आर्थिक क्रान्ति उत्पन्न हो गई और अगले १० वर्षों के लिए वयस्क-शिक्षा की प्रगति रुक गई । परन्तु किसी प्रकार जीवित रहने वाली संस्थायें ही सन् १९३७ ई० के पश्चात् प्रगति मार्ग पर बढ़ने वाली वयस्क-शिक्षा की आधार शिला बनीं ।

व्यावसायिक शिक्षा

व्यावसायिक शिक्षा में कानून, चिकित्सा और इंजीनियरिंग विशेष थे । चिकित्सा कालेजों में काफी वृद्धि हुई थी । कानून कालेजों की संख्या बढ़ी । इंजीनियरिंग कालेजों की संख्या दूनी हो गयी और छात्रों की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ने लगी ।

कृषि-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया । बंगलौर में एनिमल हसबेन्डरी और डेयरिंग की स्थापना की गई । सभी कृषि-कालेजों में योग्य अध्यापकों की

नियुक्ति करने की एवं उनकी सुदृढ़ रूप-रेखा बनाने की सिफारिश की गई। रायल कमीशन ने कृषि-शिक्षा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

पशु-चिकित्सा में कोई विशेष प्रगति न हुई। स्कूलों को तोड़कर कालेज की स्थापना की गयी और पशु-चिकित्सा के लिए स्नातकोत्तर शिक्षा की व्यवस्था की गई। वन-विज्ञान के लिए केवल तीन संस्थायें थीं जो केवल राजकीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति करती थीं।

टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। इसके लिए कलकत्ता, धनबाद तथा बम्बई आदि स्थानों में बड़ी-बड़ी संस्थायें खोली गईं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य स्कूलों की स्थापना हुई जो टेकनिकल शिक्षा देकर बालकों को स्वावलम्बी बनाते थे। इनमें जमशेदपुर, राँची, कलकत्ता आदि के स्कूल मुख्य थे।

राष्ट्रीय शिक्षा

असहयोग आन्दोलन और राष्ट्रीय भावनाओं के फलस्वरूप अनेक राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हुआ। इसमें विश्वभारती, जामिया मीलिया, गुरुकुल, कांगड़ी आदि संस्थाएँ निर्मित हुईं।

शिक्षा-विभाग

शिक्षा-विभाग में सराहनीय परिवर्तन हुए। शिक्षा-सचिव का पद समाप्त करके उसके अधिकार को शिक्षा-संचालक के हाथ में सौंप देने की सिफारिश की गयी। शिक्षा-संचालक के लिए उप-शिक्षा एवं सहायक शिक्षा-संचालकों की नियुक्तियाँ की गईं।

इस प्रकार इस अवधि पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस अवधि में शिक्षा के सभी अंगों पर ध्यान दिया गया। जनता और सरकार दोनों शिक्षा के प्रति जागरूक थीं। अतः प्रगति अच्छी रही और यदि बीच-बीच में कुछ बाधाएँ न आ जातीं तो वास्तव में साक्षरता का प्रतिशत बहुत बढ़ जाता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'हर्टाग समिति ने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है' इस कथन की विवेचना कीजिए।

२. सन् १६२१-३७ ई० की अवधि में व्यावसायिक शिक्षा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

३. 'बीसवीं शताब्दी में होने वाली शिक्षा-प्रगति का श्रेय केवल राष्ट्रीय भावनाओं को है।' इस उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

४. सन् १९२१-१९३७ की अवधि में शिक्षा की प्रगति पर एक निबन्ध लिखिये ।

५. द्वैध शासन के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा की प्रगति कैसी रही ?

६. द्वैध शासन में माध्यमिक शिक्षा का विकास कैसा रहा ? इस विकास का उच्च शिक्षा की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

७. द्वैध शासन में उच्च शिक्षा के विकास पर एक निबन्ध लिखिए ।

८. सन् १९२१-३७ की अवधि में स्त्री-शिक्षा का क्या स्वरूप था ?

अध्याय ३४

सन् १९३७ से वर्तमान तक की शिक्षा-नीति

(सन् १९३७ से १९४७ तक)

भारतीय स्वाधीनता के लिए हमारे देश के नेतागण बहुत दिनों से प्रयत्न कर रहे थे। अतः ब्रिटिश सरकार को भारतीयों के अधिकारों में अभिवृद्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इसी उद्देश्य से सन् १९३५ ई० में एक शासन-विधान[1] बनाया गया जिसमें भारतीयों को आंशिक स्वतंत्रता प्रदान की गयी। फलतः सन् १९३७ ई० में हमारे देश के ११ प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारों की व्यवस्था की गई, जिसमें सात प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का निर्माण हुआ। इन मंत्रियों को बहुत-से नये अधिकार प्राप्त हुए। अतः देश में बहुत नवनिर्माण आरम्भ हुआ।

शिक्षा राष्ट्रोन्नति का प्राण है। अतः भारतीय शिक्षा-प्रणाली की ओर हमारे मंत्रि-मंडलों का ध्यान विशेष रूप से गया। सौभाग्य से उस समय हमारे देश में ऐसे शिक्षा-प्रेमी एवं शिक्षा-विशेषज्ञ वर्तमान थे जो वर्तमान शिक्षा प्रणाली के दोषों को दूर कर युग के अनुकूल आदर्श एवं उपयोगी शिक्षा-प्रणाली का निर्माण कर सकते थे। अतः इस दिशा में हमारी सरकार ने सक्रिय कदम उठाया और प्रायः प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा का पुनर्संगठन आरम्भ हो गया। शिक्षा-क्षेत्र में एक विशेष प्रकार की क्रान्ति शुरू हुई जिसके अनुसार प्रान्तों में प्रौढ़ शिक्षा-प्रसार, अछूतों की शिक्षा, स्त्रियों की शिक्षा एवं साक्षरता-प्रचार आदि के आन्दोलन बड़े उत्साह और लगन के साथ प्रारम्भ हुए। शिक्षा को युग के अनुकूल बनाने के लिए इसी समय महात्मा गाँधी ने एक नवीन शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया और उसपर विचार-विनिमय करने के लिए २२ और २३ अक्टूबर सन् १९३७ ई० में प्रान्तों के शिक्षा-मंत्रियों एवं शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में बुलया गया। इस सम्मेलन में गाँधी जी ने अपनी नई शिक्षा को बेसिक शिक्षा-योजना के रूप में लोगों के समक्ष उपस्थित कर उसके विविध अंगों पर प्रकाश डाला।

---

१. Government of India Act, 1935

सम्मेलन में उपस्थित सभी लोगों ने बेसिक शिक्षा-योजना की हृदय से सराहना की और इस सम्बन्ध में विशेष कार्य करने के लिए डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया। इसके फलस्वरूप यह निश्चय हुआ कि ७ से १४ वर्ष तक के बालकों के लिए शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क कर दी जाय।

परन्तु दुर्भाग्यवश सन् १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया और ब्रिटिश सरकार से मतभेद हो जाने के कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को अपने पद से त्याग-पत्र दे देना पड़ा। अतः बेसिक शिक्षा-योजना भी खटाई में पड़ गई। सन् १९४२ ई० में हमारी स्वाधीनता की देशव्यापी क्रान्ति आरम्भ हुई। इसके परिणामस्वरूप हमारे देश के जन-प्रिय नेताओं से जेल भर दिए गये और अंग्रेजों ने कठोरता से आन्दोलन का दमन किया। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों की सारी शक्ति युद्ध में केन्द्रित कर दी गई जिससे हमारे देश की शिक्षा को बहुत आघात पहुँचा और शिक्षा का विकास बिल्कुल समाप्तप्राय हो गया।

सन् १९४४ ई० में ब्रिटिश सरकार का ध्यान पुनः हमारी शिक्षा की ओर आया और इसी वर्ष केन्द्रीय सलाहकार समिति की ओर से एक सार्जेन्ट शिक्षा योजना युद्धोपरान्त कार्यान्वित होने के लिये आई। सार्जेन्ट रिपोर्ट के पश्चात् हमारे देश की शिक्षा के दिन पुनः लौटने लगे और धीरे-धीरे शिक्षा पुनर्संगठित होने लगी। इधर भारतवासी अपने अधिकारों के प्रति विशेष रूप से जागरूक हो रहे थे और धीरे-धीरे अंग्रेजों के पैर उखड़ने लगे थे। अब अंग्रेजों के लिए भारतीय शासन की बागडोर संभालना असम्भव था। अतः सन् १९४५ ई० के बाद केन्द्रीय शिक्षा-विभाग की अलग स्थापना की गई और उसका उत्तरदायित्व पूर्णरूप से शिक्षा-मंत्री को सौंपा गया। अभी तक शिक्षा-विभाग अन्य विभाग के साथ जुड़ा हुआ था। इसके अतिरिक्त सन् १९४६ ई० में विश्वविद्यालयों के कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए एक 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' की स्थापना की गई।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति

शताब्दियों की परतंत्रता के पश्चात् १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को भारत को अपनी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई। भारतीय जन-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शोषण करने वाले साम्राज्यवादी विदेशी शासन-सत्ता के चंगुल से भारतवासी मुक्त होकर अपने भाग्य के विधाता स्वयं बन गये। भारतवासियों के जन्म-जन्मान्तर की कठोर तपस्या, देश-प्रेमियों की अद्भुत निष्ठा और सपूतों के बलिदानों की परम्परा फलीभूत हुई।

फलतः भारत के कण-कण में नवीनता का संचार हुआ। अब अपने देश में अपना राज्य था। अब तक शासन-कर्त्ता अधिकारी थे, परन्तु अब वे जन-सेवक के रूप में भारत के शोषित अंगों को समृद्धिशाली बनाने में तल्लीन हुए। भारतीय जन-मन में नई चेतना, नवस्फूर्ति और नवीन साहस का संचार हुआ। जिस स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु अमेरिका तथा रूस जैसे देशों में महान विप्लव हुए और रक्त की नदियाँ बहाई गईं उसे भारत ने अपने सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्तों से हस्तगत करके अन्य देशों को चकित कर दिया। उन्हें एक प्रकार की नवीन प्रेरणा प्रदान की।

दीर्घकाल से परतंत्रता के घृणित वातावरण में घुटती हुई भारतीय जनता को भी उन्नत राष्ट्रों की पंक्ति में सहयोगी के रूप में खड़े होने का अवसर प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, अपितु संसार के विविध राष्ट्रों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के पाँच सिद्धान्तों (पंचशील) पर आधारित सक्रिय-तटस्थता के संचालन में योग देकर विश्वशांति की स्थापना में इस नव जात राष्ट्र द्वारा किया गया प्रयास सर्वथा स्तुत्य एवं श्लाघनीय है।

स्वतंत्रता के बाद भारत ने जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली को अपनाया और २६ जनवरी सन् १९५० को स्वनिर्मित संविधान की घोषणा की। जनतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था का आधार जनमत है। अतः देश के प्रत्येक नागरिक को अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति जागरूक होना, अपने मतों की उपादेयता और महत्त्व से परिचित होना जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के लिए उतना ही आवश्यक है जितना जीवन के लिए भोजन। जनता की छोटी से छोटी त्रुटि भी जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली को दोषपूर्ण बनाने में समर्थ हो सकती है और ऐसी परिस्थिति में सम्पूर्ण संविधान अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में असफल और पथ-भ्रष्ट हो सकता है। अतः भारत के लिए आवश्यक था कि जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली को समुचित रूप में कार्यान्वित करने हेतु सर्वप्रथम शताब्दियों से पददलित, शोषित, पीड़ित और क्लान्त जनता में समाजवादी व्यवस्था का बीज-वपन करके उसके सर्वतोन्मुखी विकास का चिन्तन करे।

नये संविधान की घोषणा के उपरान्त शासक और शासित का सम्बन्ध जनसेवक और जनता में परिणत हो गया। अपने देश में अपने राज्य की स्थापना होने के साथ-साथ शासन का उत्तरदायित्व भी अधिक बढ़ गया क्यों कि भारत का यह पुनर्निमाण था। इस पुर्निमाण का तात्पर्य जन-जीवन के सर्वांगीण विकास से है और यह विकास तभी सम्भव है जब देश में शिक्षा का उचित रूप में प्रसार हो।

इसी दृष्टिकोण से शिक्षा को सर्व सुलभ बनाने हेतु शासन ने एक शैक्षिक आन्दोलन को जन्म देकर लक्ष्य की प्राप्ति की ओर ठोस कदम उठाया।

भारत जो प्राचीन काल में अगणित विद्याओं का हरा-भरा उद्यान था, काल के आवर्तन में फँसकर निरक्षरता का मरुस्थल बन गया था। जगद्गुरु के गौरव से विभूषित होने वाला भारत ज्ञान के लिए भी परमुखापेक्षी बन चुका था। विदेशी सत्ताओं ने भारतीय धन-राशि के अपहरण के साथ ही साथ ज्ञान-राशि के अपहरण में भी कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। शिक्षा-प्रणाली को इतना दुषित कर दिया गया कि भारतीय शिक्षा क्लर्क ढालने की मशीन बनकर रह गई। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शासन का यह सर्व प्रथम एवं प्रमुख कर्त्तव्य होगया कि विदेशी सत्ता द्वारा प्रचलित शिक्षा-पद्धति का आमूल परिवर्तन करके जन-जीवन के सर्वांगीण विकास हेतु एक ऐसी लाभकारी प्रणाली का प्रणयन किया जाय जो भारत के भावी नागरिकों को आत्म-निर्भर, स्वावलम्बी, सुसंस्कृत तथा मेधावी बना कर देश की जनतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली को सफल बनाये और भारत के बीते वैभवों को पुनः साकार कर सके।

फलतः संविधान के निर्देशक तत्वों में शिक्षा को प्रमुख स्थान देकर 'शिक्षा-प्रसार' की योजनाएँ बनाकर निरक्षरता के निराकरण का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त १४ वर्ष की आयु तक के बालकों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई। शिक्षा को सर्व-सुलभ बनाने के ध्येय से परिगणित एवं अनुसूचित जातियों को आर्थिक सुविधा भी प्रदान की गई। शिक्षा के साथ-साथ भारतीय ललित कलाएँ जो काल-कवलित हो चुकी थीं, उनको पुनर्जीवन प्रदान करने का प्रयास किया गया। इस उत्तरदायित्व को वहन करने में देश की विषम परिस्थितियों के कारण जो कठिनाइयाँ सम्मुख आयीं, आगे हम उनकी ओर संकेत करेंगे।

स्वतंत्र भारत की विकट परिस्थितियाँ

यों तलवार के बल पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के नियम का भारतीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति की परिपाटी ने अपवाद तो अवश्य उपस्थित किया, परन्तु जिन परिस्थितियों और जिस रूप में हम स्वतन्त्र हुए उस पर विचार किया जाय तो भारतीय जनता के लिए उनकी स्वतन्त्रता अन्य देशों की अपेक्षाकृत अधिक मँहगी पड़ी। स्वतंत्रता का फल इतना मधुर नहीं रहा जितनी आशा की जाती थी। 'गवर्नमेन्ट आफ इंडिया एक्ट' भारतीय प्रगति का कपाट जहाँ खोलता है वहीं यह युग-युग के अखण्ड भारत को दो भागों में विभाजित करके साम्प्रदायिकता का ऐसा नग्न ताण्डव उपस्थित किया कि हमारी स्वतन्त्रता-प्राप्ति की सारी प्रसन्नता और हौसला नष्ट हो गया।

अखंड भारत को दो भागों में विभाजित करके भारत और पाकिस्तान दो स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्थापना में साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासन नीति का क्या, उद्देश्य था यह स्पष्ट ही है। पाकिस्तान के सिक्खों और हिन्दुओं को तथा भारतवर्ष के मुसलमानों को जिन आपदाओं का सामना करना पड़ा, उनका वर्णन मानव को दानव अथवा इससे भी किसी नीच कोटि में ले जाकर खड़ा कर देता है। साम्प्रदायिकता की आड़ में राक्षसों का पाशविक नृत्य चलता रहा। कितनी द्रुपदाओं की अस्मत लूटी गई। कितने अबोध शिशुओं की निर्मम हत्याएँ की गयीं। कितनी ललनाओं के सिन्दूरों की होली खेली गयी—इसका इतिहास हमारे वर्तमान समाज के कण-कण में व्याप्त है। पाशविकता के इस घोर नग्न नर्तन के विनाशकारी फल ने भारत में पुनर्निवास की जटिल समस्या उत्पन्न कर दी। राष्ट्रपिता गाँधी जी ने अपना रक्त देकर काली-कराली के रीते खप्पर की पूर्ति की। मानवता की मूर्ति की इस निर्मम हत्य से दानवता का भी धैर्य जाता रहा। भारतीय जनता एवं शासन के सम्मुख भाग कर आए हुए विपत्ति के मारे शरणार्थियों के आश्रय और रोटी की समस्या विकराल रूप धारण किए खड़ी हो गई। इसे केवल समस्या कहने से ही नहीं संतोष होता। इस घोर संकट-कालीन परिस्थिति में यह भारतीय एकता, भारत सरकार की कार्य-कुशलता, व्यावहारिक नीतिज्ञता और धैर्य की परीक्षा थी। सरकार अपनी शक्ति को केन्द्रीभूत करके इन विस्थापितों की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न कर रही है।

भारत साम्प्रदायिक संघर्ष की समस्या को उधर सुलझा रहा था, और इधर द्वितीय महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न मँहगी मुँह बाये खड़ी थी। साथ ही साथ अधिक जलवृष्टि अथवा बाढ़ के रूप में दैवी प्रकोप का भी भारत शिकार बना। भारत सरकार ने इसे 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के कार्यान्वियन तथा विदेशों से खाद्य पदार्थ प्राप्त करके सुगम बनाने का प्रयास किया।

भारत के सम्मुख तत्कालीन तीसरी मुख्य एवं जटिल समस्या थी भारतीय राज्यों (रियासतों) का एकीकरण। गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के अनुसार देशी रियासतों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। फूट डालकर विदेशी सत्ता की शासन करने वाली नीति का इसमें भी हाथ था, परन्तु लौह पुरुष सरदार पटेल ने इन बिखरी मणियों को हार का रूप प्रदान करके उनके इस अन्तिम दाँव को निष्फल कर दिया। इस प्रकार हमने उन चिरस्वप्नों को साकार कर दिया जो हमारे महापुरुष महाराणा प्रताप एवं शिवाजी आदि का अन्तिम लक्ष्य था।

स्वतन्त्र भारत में शिक्षा-नीति

उपर्युक्त व्यावहारिक समस्याओं के अतिरिक्त कुछ सामान्य समस्याएँ भी हमारे सम्मुख उपस्थित हुईं; जैसे—अंग्रेजी शासन-काल में उपेक्षित भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति का पुनरुद्धार, विदेशी शासन द्वारा चलाई गई शिक्षा-पद्धति का वहिष्कार अथवा परिष्कार तथा शिक्षा के माध्यम का निर्धारण एवं राष्ट्र-भाषा का निर्वाचन आदि ।

यद्यपि अंग्रेजी शासन द्वारा चलाई गई शिक्षा-पद्धति स्वतन्त्र भारत के अपनाने के सर्वथा अनुपयुक्त थी; परन्तु देश, काल और परिस्थितियों पर ध्यान देते हुए प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति भी देश के तात्कालिक विकास में वांछित योग देने में पूर्णतया समर्थ नहीं थी । अतः दोनों के मध्य का मार्ग अपना कर देश और जनता के हितों के अनुसार शिक्षा में आवश्यक सुधार करना ही श्रेयस्कर समझा गया । इसके पश्चात् शिक्षा के माध्यम की समस्या का समाधान सम्मुख आया । माध्यमिक शिक्षा तक तो शिक्षा का माध्यम मातृभाषा को बनाया ही जा चुका था, उच्च शिक्षा में भी माध्यम के रूप में कई राज्यों में मातृभाषा को ही अपनाया गया । अंग्रेजी माध्यम के निष्कासन एवं हिन्दी माध्यम के प्रतिष्ठापन की यह समस्या शिक्षा-मंत्रियों एवं कुछ विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की समितियों के आधार पर किया गया ।

शिक्षा के प्रसार एवं पुनर्संगठन की व्यवस्था

स्वतंत्रता-प्राप्ति के ग्यारह वर्षों के अन्तर्गत शिक्षा-प्रसार एवं पुनर्गठन की समस्याओं पर सक्रिय कदम उठाने के हेतु कई सम्मेलन एवं गोष्ठियाँ हुईं । सन् १९४८ में केन्द्रीय सरकार द्वारा शिक्षा-मंत्रियों एवं उपकुलपतियों और अन्य शिक्षाविदों का एक सम्मेलन हुआ । सम्मेलन के निश्चयानुसार प्राथमिक, वयस्क, सामाजिक, वैज्ञानिक, शिल्पिक शिक्षा के महत्त्व तथा प्रसार पर अधिक बल दिया गया । विभिन्न शिक्षा-आयोग नियुक्त किए गये । बुनियादी शिक्षा के निरीक्षण का कार्य खेर कमेटी को सौंपा गया । इस शिक्षा का ३० प्रतिशत व्यय वहन करने हेतु केन्द्रीय सरकार ने अपनी सम्मति दी । इसे तीन चरणों में विभाजित किया गया । केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त वैज्ञानिक जन-शक्ति समिति की रिपोर्ट जुलाई १९४८ के आधार पर भारत की आगामी १० वर्षों में ५४,००० इंजीनियरों और २०,००० शिल्पियों की आवश्यकता पूर्ति हेतु एक पंचवर्षीय योजना का निर्माण हुआ । १९५० ई० में अन्तर्राष्ट्रीय वयस्क शिक्षा गोष्ठी का आयोजन करके वयस्क-शिक्षा प्रसार पर अधिक बल दिया गया ।

शिक्षण के माध्यम का निर्धारण

शिक्षण के माध्यम के निर्धारण के पुराने प्रश्न पर निर्णय लेने हेतु शिक्षा-मंत्रियों एवं उप-कुलपतियों की एक समिति का आयोजन किया गया। १९४७ में आयोजित इस सम्मेलन ने विश्वविद्यालय की शिक्षा के स्तर एवं महत्ता पर ध्यान देते हुए निश्चय किया कि पाँच वर्ष के भीतर अंग्रेजी के स्थान पर मातृ-भाषा को प्रतिष्ठित किया जाय।

राष्ट्र-भाषा के पद पर हिन्दी की स्थापना

सम्पूर्ण भारत में एकरूपता और सांस्कृतिक आदान-प्रदान की सुगमता की दृष्टि से देवनागरी लिपि को नवीन संविधान ने राष्ट्रीय लिपि घोषित किया। राष्ट्रीय भाषा की यह प्रमुख विशेषता है कि वह जन-भाषा के रूप में ग्रहण की जा सके। अतः इसके प्रसार एवं इसे जन-जन की भाषा बनाने के हेतु शासन द्वारा कुछ सक्रिय प्रयास किए गये। हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों के विकास हेतु भाषा-विदों की समितियाँ बनाई गयीं। १९४९ ई० में केन्द्रीय सरकार ने कुछ राजकीय सरकारों को आदेश दिया कि माध्यमिक स्कूलों में हिन्दी के अध्ययन को अनिवार्य कर दिया जाय। सन् १९५१-५२ में भाषा-विशेषज्ञों की एक समिति एवं दस उप-समितियाँ बनाई गयीं। वैज्ञानिक एवं शिल्पिक तथा कार्यालयों के प्रयोग में आने वाले शब्दों की सूचियाँ बनाई गयीं। शिक्षा-मंत्रालय के अधीन सरकारी अधिकारियों को हिन्दी सिखाने का आयोजन किया गया। इसके प्रसार हेतु १५ वर्षीय कार्यक्रम निर्धारित किया गया। शिल्पिक शब्दों के निर्माणार्थ १९ पारिभाषिकियों का निर्माण हुआ। माध्यमिक स्तर तक की विज्ञान तथा गणित आदि विषयों में प्रयुक्त हिन्दी शब्दों के निर्माण किए जा चुके हैं और उच्च स्तर की शिक्षा में प्रयुक्त होने वाली शब्दावली भी निर्मित की जा रही है। इस पन्द्रह वर्षीय योजना की पूर्ति पर हिन्दी का यथेष्ट प्रसार सम्भावित है।

केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग की स्थापना

स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय की दुरूह परिस्थितियों तथा तत्कालीन शिक्षा की गति-विधि को ध्यान में रखते हुए सन् १९४७ ई० में केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभाग की स्थापना हुई। शिक्षा-विशेषज्ञों को विभाग के प्रशासकीय पदों पर नियुक्त कर के लक्ष्य-प्राप्ति को सुगमतर बनाया गया। शिक्षा मंत्री की सहायता के लिए चार प्रमुख शिक्षा-परामर्शदाता और सचिव एवं उपसचिव नियुक्त किए गये। इस केन्द्रीय विभाग के अधीन ६ शिक्षा-विभागों की और स्थापना की गई। क्रमशः पहले विभाग का प्रशासन एवं विश्वविद्यालयों की शिक्षा, दूसरे का हिन्दी तथा सांस्कृतिक विषयों की शिक्षा, तीसरे का शिल्पिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा की प्रगति एवं देख-

रेख करना है। चौथे विभाग का सम्बन्ध छात्र-वृत्तियों से, पाँचवे का शिक्षा के मौलिक प्रबन्ध एवं छठवें का माध्यमिक शिक्षा के प्रबन्ध से है। इनके अतिरिक्त आरकेलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, एन्थ्रोपोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया एवं नेशनल आरकाइब्स तथा नेशनल लेबोरेट्री (कलकत्ता) आदि ऐसी संस्थाएं भी हैं जो शिक्षा की प्रगति में महत्त्वपूर्ण योग दे रही हैं। विदेशों में भी भारतीय शिक्षा-विभागीय कार्यालय हैं। ये प्रगतिशील देशों से सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित कराने में सक्रिय भाग ले रहे हैं। इस क्षेत्र में यूनेस्को से भी हमें पर्याप्त सहायता मिल रही है।

स्वतन्त्र भारत में शिक्षा-प्रगति

ब्रिटिश शासन काल में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के दोषों को दूर करने एवं शिक्षा को युग के अनुकूल बनाने के लिए हमारी सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के आयोगों की स्थापना की गई है। अब पुस्तकीय शिक्षा के स्थान पर वैज्ञानिक, टेकनिकल, व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। इसके लिए बहुत से नये विद्यालयों की स्थापना की गई है। भारतीय शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रौढ़ों को शिक्षा देने की व्यवस्था, नागरिकता की शिक्षा, गूंगों-बहरों तथा असहायों की शिक्षा की व्यवस्था की गई है। हमारे देश से विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र विदेश भेजे जाते हैं तथा विदेशी छात्र भारतीय शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं। हमारी भारत सरकार इन छात्रों की सहायता के लिए विभिन्न प्रकार की छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था करती है। शिक्षा के क्षेत्र में अछूतों, पिछड़ी जाति के लोगों तथा हरिजनों को सब प्रकार की सहायता व सुविधा प्रदान की जाती है।

चित्र नं० ३०—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली के गुणों एवं दोषों का भली-भाँति अन्वेषण करके उसके सुधार के सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन उपस्थित करने के लिए भारतीय सरकार ने सन १९४८ ई० में एक आयोग की नियक्ति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

की अध्यक्षता में की। इस आयोग ने बड़ी लगन तथा तत्परता से कार्य आरम्भ किया और सन् १९४९ ई० में एक विस्तृत रिपोर्ट विश्वविद्यालय की शिक्षा के पुनर्संगठन के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया। इसी भाँति केन्द्रीय सरकार ने माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन करने के उद्देश्य से जुलाई सन् १९५२ ई० में 'माध्यमिक शिक्षा-आयोग' की नियुक्ति मद्रास विश्वविद्याल के उप-कुलपति डा० लक्ष्मणस्वामी मुदलियर की अध्यक्षता में की। मुदलियर आयोग ने सम्पूर्ण देश के माध्यमिक विद्यालयों का परीक्षण विभिन्न दृष्टियों से किया और विभिन्न राज्यों के शिक्षा-विशेषज्ञों से विचार-विनिमय करने के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन के सम्बन्ध में अपनी विस्तृत रिपोर्ट अगस्त सन् १९५३ ई० में केन्द्रीय सरकार के समक्ष उपस्थित की। राजकीय सरकार द्वारा माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संठन के लिए सन् १९५३ ई० में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक माध्यमिक शिक्षा पुनर्संठन समिति की नियुक्ति की गई तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय की जाँच के सम्बन्ध में जस्टिस मूथम की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया। इन आयोगों ने अपना काम बड़ी तत्परता से किया और सरकार के समक्ष शीघ्र प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। बेसिक शिक्षा, प्राथमिक और माध्यमिक स्तर तक प्रचलित की गई। अत: राज्य में बहुत से बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किए गये।

भारतीय संविधान में शिक्षा के माध्यम एवं राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्थापित किया गया। इस समय प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जाती है और कुछ विश्वविद्यालयों में भी कुछ विषयों जैसे राज-नीति, अर्थशास्त्र एवं इतिहास आदि में परीक्षा का माध्यम मातृभाषा कर दिया गया है।

हमारे देश में शिक्षा का संगठन एवं प्रशासन पहले केन्द्रीय सरकार द्वारा होता था किन्तु यह कार्यभार सन् १९२१ ई० में प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया गया। प्रत्येक राज्य में मंत्रिमंडल के अन्तर्गत एक शिक्षा-मंत्री होता है जो शिक्षा-विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी होता है तथा उसकी सहायता के लिए एक उप-शिक्षा-मंत्री होता है। शिक्षा-मंत्री के कार्य में सहयोग देने के लिए एक सचिव, एक सह-सचिव, एक उप-सचिव, एक अनु-सचिव तथा सचिवालय के अन्य कर्मचारी होते हैं। इसके अतिरिक्त शिक्षा-विभाग में शिक्षा-संचालक, संयुक्त शिक्षा-संचालक, उप शिक्षा-संचालक, उप-शिक्षा-संचालिका, जिला-विद्यालय-निरीक्षक एवं उप-जिला-विद्यालय निरीक्षक आदि होते हैं।

विद्यालयों के प्रशासन एवं संगठन का कुछ अधिकार विश्वविद्यालयों, माध्यमिक शिक्षा बोर्डों, नगरपालिकाओं, जिला मंडलियों तथा ग्राम-सभाओं

इत्यादि को दे दिया गया है । इसके अतिरिक्त बहुत-से विद्यालय व्यक्ति-विशेष द्वारा अथवा किसी संस्था द्वारा संचालित किए जाते हैं ।

यद्यपि हमारे भारतीय संविधान में शिक्षा में आमूल परिवर्तन की व्यवस्था नहीं की गई है और वह विशेषकर राज्य-सरकारों का विषय माना गया है, फिर भी केन्द्रीय सरकार द्वारा वैज्ञानिक, टेकनिकल एवं औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की गई है । केन्द्रीय सरकार द्वारा अखिल भारतीय-शिक्षा-समस्यायें सुलझाई जाती हैं तथा राजकीय सरकारों को आवश्यक सहयोग एवं सुझाव प्रदान किए जाते हैं । अलीगढ़, बनारस, दिल्ली एवं विश्वभारती के विश्वविद्यालयों की व्यवस्था का पूर्ण दायित्व केन्द्रीय सरकार पर रक्खा गया है ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है भारतीय संविधान में सन् १९६० ई० तक १४ वर्ष तक के बालकों एवं बालिकाओं के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है । इस दिशा में हमारा देश कुछ आगे बढ़ रहा है । सन् १९५१ ई० में प्रकाशित शिक्षा के आँकड़ों से पता चलता है कि देश में केवल १६·६ प्रतिशत जनता साक्षर थी । सन् १९४७ ई० में देश के ८ से ११ वर्ष तक के बच्चों में से केवल ३० प्रतिशत बच्चे स्कूल जाते थे । किन्तु यह प्रतिशत संख्या सन् १९१५ ई० में ३० से बढ़ कर ४० प्रतिशत हुई और १९५६ तक ५० प्रतिशत हो गई । इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य की सरकार प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में उन्नति कर रही है । उत्तर प्रदेश में सितम्बर सन् १९५७ ई० में छठवीं कक्षा तक शिक्षा निःशुल्क कर दी गई है, जिसके परिणामस्वरूप सरकार का ७७ लाख रुपये प्रति वर्ष का व्यय बढ़ गया है । इसी तरह उत्तर प्रदेश में छठवीं कक्षा से आगे की शिक्षा को निःशुल्क करने की व्यवस्था की जा रही है । इसी प्रकार के प्रयास अन्य राज्यों द्वारा भी किये जा रहें । पृष्ठ ५६३ की तालिका द्वारा शिक्षा की प्रगति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है ।

पृष्ठ ५६३ के आँकड़ों को देखने से विदित होता है कि हमारा देश शिक्षा में प्रगति कर रहा है । किन्तु इतनी प्रगति हमारे देश की सुख और शांति के लिए पर्याप्त नहीं कही जा सकती । स्वाधीनता के उपरान्त यद्यपि हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का राग अलापा जा रहा है, किन्तु वास्तव में जितनी प्रगति हुई है वह नगण्य-सी जान पड़ती है । अभी हमारे देश की जनता सुखी नहीं है । इसका वास्तविक कारण यह है कि हमारे देश के किसी भी क्षेत्र में जनता की आवश्यकता के अनुकूल प्रगति नहीं हुई है । ब्रिटिश शासन में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को दोषी ठहराया जाता है और उसके सुधार के सम्बन्ध में केन्द्रीय एवं राजकीय सरकारों द्वारा बहुत-से आयोगों की नियुक्तियाँ भी की गयीं, किन्तु आज तक शिक्षा-

शिक्षा संस्थाओं के प्रकार	संस्थाओं की संख्या		छात्रों की संख्या सहस्रों में		व्यय की हुई धन-राशि लाखों में (प्रत्यक्ष रूप में)	
	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५२-५३	१९५३-५४
विश्वविद्यालय	३०	३०	३८	४१	५९४	६०१
बोर्ड	९	१०	—	—	९४	१०५
कला व विज्ञान के कालेज	६२०	६५१	३९१	४२८	९६७	१,११३
व्यावसायिक कालेज	२४०	२४२	६८	७५	५३७	५८३
विशिष्ट शिक्षा के कालेज	८३	८६	८	८	२६	२७
माध्यमिक विद्यालय	२४,२८३	२५,६८४	६,०६१	६,४१३	३,८३३	४,२३४
प्राथमिक व पूर्व माध्यमिक विद्यालय	२,२३,४४२	२,३९,११८	१९,६११	२०,९९२	४,४५१	४,७३६
व्यावसायिक स्कूल	२,६१८	२,७७३	२०७	२२२	४०२	४२९
विशिष्ट शिक्षा के स्कूल	४८,७०६	५२,८२१	१,२५७	१,३५७	२३४	२७७
योग	३,००,०३१	३,२१,४१५	२७,६४१	२९,५३६	११,१३८	१२,१०५

नोट :—इस व्यय के अलावा १९५२-५३ में २,६५९ लाख व १९५३-५४ में २,८३५ लाख रुपये अप्रत्यक्ष रूप में व्यय हुए ।

प्रणाली में किसी प्रकार का संतोषजनक सुधार नहीं हो सका है। शिक्षा अब भी अधिकांशतः एकांगी ही चल रही है और उसमें व्यावसायिक क्षमता का अभाव ज्यों का त्यों वर्तमान है। हमारे वर्तमान शिक्षा-शास्त्री शिक्षा की कोई ऐसी योजना नहीं प्रस्तुत करते जिसे शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित किया जा सके। सरकार भी वैसे तो शिक्षा में सुधार करना चाहती है, परन्तु जब पैसे की समस्या उपस्थिति होती है तो शिक्षा गौण विषय हो जाती है। अध्यापक, जो कि भावी राष्ट्र-निर्माता हैं, बेचारे समाज के अनुकूल जीवन-यापन करने में असमर्थ हैं। उनके स्तर को उठाने का प्रयास नहीं के बराबर है। अतः हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली में अभी तक कोई अत्यधिक सफल सुधार नहीं किया जा सका है। अब भी पराधीनता में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का हम परिवहन कर रहे हैं।

स्पष्ट है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम अध्यापकों के स्तर को उठाना है जो कि शिक्षा-रूपी नौका के कर्णधार हैं। जब तक इस क्षेत्र में योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने की क्षमता न होगी, तब तक शिक्षा का भविष्य आलोकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करके उसे देश की आवश्यकता के अनुकूल बनाना चाहिए। भारत कृषि-प्रधान देश है और यहाँ की अधिकांश जनता गाँवों में निवास करती है। अतः यहाँ की शिक्षा में ग्राम-सुधार एवं कृषि-सुधार का विशेष महत्त्व होना चाहिए। साहित्यिक विद्यालयों के अतिरिक्त टेकनिकल, औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विद्यालय अधिक मात्रा में खुलने चाहिए, जिससे शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त विद्यार्थी को जीविकोपार्जन के लिए रोजगार दफ्तरों की दौड़ न लगानी पड़े। यह हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली के लिए वस्तुतः बड़ा लज्जास्पद विषय है कि अन्य देशों की अपेक्षा शिक्षा का बहुत न्यून प्रतिशत होने पर भी हमारे देश में शिक्षित बेकारों की संख्या अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक है। इसका कारण यह है कि हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली कोरी कागजी है। उसके द्वारा किसी प्रकार का स्वतंत्र व्यवसाय करना सम्भव नहीं।

आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को बहूद्देशीय बनाया जाय जिससे शिक्षा द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास हो सके। इसके अतिरिक्त समाज को समुन्नत बनाने के लिए स्त्री-शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है। हमारे देश में स्त्री-शिक्षा का बहुत अभाव है। बच्चे का बाल्यकाल प्रधानतः माता की ही देख-रेख में व्यतीत होता है। अतः भारतीय अपढ़ माताएँ बालकों के प्रारम्भिक विकास में असमर्थ रह जाती हैं। इसलिए भारतीय शिक्षा में स्त्री-शिक्षा की ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक है।

इस अध्याय में हमने सन् १९३७ से वर्तमान काल तक की शिक्षा की प्रगति का संक्षिप्त सिंहावलोकन किया है। अगले अध्यायों में इस प्रगति की प्रधान घटनाओं की सविस्तार चर्चा की जायगी। गत अध्यायों में हमने शिक्षा-प्रगति का विवरण प्राय: 'काल' (जैसे १८५४-१८८२ तक की शिक्षा, 'स्वदेशी आन्दोलन' तथा 'द्वैध शासन' इत्यादि नामों को देकर) के अन्तर्गत किया है। परन्तु अगले अध्यायों में पाठकों की सुविधा के लिए कुछ अध्यायों के नाम प्रमुख घटनाओं के आधार पर ही रखे जायँगे, जैसे—बेसिक शिक्षा तथा सार्जेण्ट शिक्षा-योजना, आदि-आदि (कुछ पिछले अध्यायों का नामकरण भी इसी नीति के आधार पर किया गया है)। स्वतन्त्र भारत की शिक्षा में घटित घटनाओं, जैसे—माध्यमिक शिक्षा-आयोग, विश्व-विद्यालय शिक्षा आयोग, तथा पंचवर्षीय योजनाओं में और १९४७ से १९५८ तक की शिक्षा का विकास आदि का विवरण हम अलग-अलग अध्यायों में देंगे। प्रस्तुत अध्याय में वर्तमान शिक्षा की कुछ प्रमुख समस्याओं की ओर भी संकेत किया गया है। इन समस्याओं का उल्लेख अगले पृष्ठों में यत्र-तत्र तो किया ही जायगा; परन्तु इनका सविस्तार विवरण दो स्वतन्त्र अध्यायों ('माध्यमिक शिक्षा की समस्यायें' तथा 'भारतीय शिक्षा की कतिपय समस्यायें') में दिया गया है। कुछ पाठकों की सुविधा का ध्यान रखकर 'उत्तर प्रदेश में शिक्षा-प्रगति' का विवेचन आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में किया गया है। परन्तु इन सब अध्यायों पर अलग-अलग आने के पूर्व हम पहले १९३७ से १९४७ की अवधि में शिक्षा-प्रगति की ओर संकेत करेंगे जिससे पिछले अध्यायों से हमारा सम्बन्ध बना रहे।

सारांश

सन् १९३७ ई० में हमारे देश के प्रान्तों में जन-प्रिय सरकारों की स्थापना हुई। फलत: भारतीयों के अधिकारों में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई और विभिन्न प्रकार के कार्य राष्ट्र की उन्नति के लिए आरम्भ हुए। हमारे देश की मुख्य समस्याओं में शिक्षा का स्थान प्रथम था। अत: इस क्षेत्र में प्रगति के लिए २२, २३ अक्टूबर सन् १९३७ ई० में महात्मा गाँधी की ओर से प्रान्त के शिक्षा-मंत्रियों एवं शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में बुलाया गया जो वर्धा शिक्षा-सम्मेलन के नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्मेलन में गाँधी जी ने बेसिक शिक्षा-योजना पर प्रकाश डाला और सभी शिक्षा-शास्त्रियों ने सर्वसम्मति से उसे पास कर दिया। इसके अति-रिक्त बेसिक शिक्षा को कार्यान्वित रूप देने के लिए 'डा० जाकिर हुसेन समिति' का निर्माण हुआ।

परतंत्र भारत की शिक्षा-प्रणाली इतनी दूषित थी कि उसे हम केवल क्लर्क ढालने की मशीन की संज्ञा दे सकते हैं। स्वतंत्रता के बाद भारत ने जन-

तंत्रात्मक शासन-प्रणाली को अपनाया। अतः भारतीय सरकार का शिक्षा के प्रति महान उत्तरदायित्व था।

स्वतन्त्र भारत की विकट समस्यायें :—पहली समस्या थी साम्प्रदायिक संघर्ष की भारत-व्यापी अग्निज्वाला। दूसरी समस्या देशी राजाओं के एकीकरण की और तीसरी समस्या थी प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का मूलोच्छेदन। राष्ट्र के कर्णधारों के नेतृत्व में इन समस्याओं का धैर्यपूर्वक समाधान निकालकर शिक्षा को प्रगति के पथ पर अग्रसर किया गया।

शिक्षा के प्रसार एवं पुनर्गठन की व्यवस्था :—१९४८ में शिक्षाविदों एवं उप-कुलपतियों का सम्मेलन। प्राथमिक, वयस्क, सामाजिक, वैज्ञानिक, शिल्पिक शिक्षा को महत्त्व दिया गया। वैज्ञानिक जन-शक्ति समिति की रिपोर्ट।

शिक्षण का माध्यम :—उप-कुलपतियों एवं शिक्षाविदों का सम्मेलन। ५ वर्ष में विश्वविद्यालय में मातृ-भाषा के माध्यम की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकृत।

राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी की स्थापना एवं प्रसार :—१९५१-५२ में भाषा वैज्ञानिकों की समिति एवं १० उप-समितियों का निर्माण। १५ वर्षीय कार्य क्रम का निर्धारण।

केन्द्रीय सरकार का शिक्षा-विभाग :—शिक्षाविदों की प्रशासकीय पदों पर नियुक्ति। शिक्षा-मंत्री की सहायता हेतु चार प्रमुख शिक्षा-परामर्शदाता एवं सचिव आदि। छः उप-विभागों की स्थापना।

स्वतंत्र भारत में शिक्षा की प्रगति

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश की प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक के पुनर्संगठन के लिए केन्द्रीय एवं राजकीय सरकारों द्वारा विभिन्न आयोगों की नियुक्तियाँ की गईं। सन् १९४८ ई० में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय-आयोग की नियुक्ति की गई तथा सन् १९५२ ई० में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए डा० लक्ष्मण स्वामी मुदलियर की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा आयोग की नियुक्ति की गई। उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा सन् १९५३ ई० में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक माध्यमिक शिक्षा-पुनर्संगठन समिति की नियुक्ति की गई तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय की जाँच के सम्बन्ध में मूथम आयोग की नियुक्ति की गई।

उपर्युक्त आयोगों ने सभी स्तरों की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली, पाठ्यक्रम तथा विभिन्न विषयों का भली-भाँति अन्वेषण करने के उपरान्त अपने प्रतिवेदन

उपस्थित किए। सरकार ने इनके सुझावों का स्वागत किया और उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयत्न कर रही है।

हमारे संविधान में १९६० ई० तक १४ वर्ष तक के बालकों तथा बालिकाओं के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है। इस दिशा में प्रायः सभी राज्यों में आशातीत सफलता मिली है।

नवीन शिक्षा-योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए बहुत-से प्रशिक्षण-केन्द्र खोले गये हैं तथा बहुत-से औद्योगिक एवं टेकनिकल विद्यालयों की स्थापना हुई है। इसके अतिरिक्त विदेशों में जाकर विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था की गई है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सन् १९३७ ई० के बाद हमारे देश की शिक्षा के विकास का परिचय दीजिए।

२. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय की भारतीय समस्याओं का शिक्षा की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ा?

३. स्वतन्त्र भारत में नवीन शिक्षा-प्रणाली के अपनाने में क्या कठिनाइयाँ थीं और उनके समाधान में भारत कहाँ तक सफल रहा?

अध्याय ३५

सन् १९३७-४७ ई० में शिक्षा-प्रगति

द्वैध शासन-काल में केन्द्रीय सरकार शिक्षा-क्षेत्र से अलग हो गई थी। परन्तु, १९३७-४७ की अवधि में केन्द्रीय सरकार शिक्षा-सम्बन्धी बातों में पहले ही की तरह रुचि लेने लगी। सन् १९४६ ई० में पं० जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में केन्द्र में अन्तरिम सरकार की नियुक्ति हुई और केन्द्रीय शिक्षा-विभाग पर भारतीयों का सीधा नियन्त्रण स्थापित हो गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले ही केन्द्रीय शिक्षा विभाग केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रणालय बन गया, और मौलाना अबुल कलाम आजाद प्रथम केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री बनाये गए। फलत: १९४६ से ही केन्द्रीय सरकार शिक्षा की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुई और शिक्षा के नियन्त्रण और नियोजन के लिए कई विभाग और संस्थायें संगठित की गईं। इनमें प्रमुख की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री समिति[1]

सन् १९३७-४७ की अवधि में इस समिति का पुनर्संगठन किया गया। इस समिति के द्वारा केन्द्रीय सरकार सारे देश के लिए शिक्षा-नीति निर्धारित करती है तथा विविध शिक्षा-कार्यों में आवश्यक समन्वय लाने का प्रयत्न करती है। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री इसके अध्यक्ष होते हैं और राजकीय शिक्षा-मन्त्री तथा शिक्षा-संचालक इसके सदस्य होते हैं।

केन्द्रीय शिक्षा-सूचना कार्यालय[2]

इस कार्यालय का प्रधान कार्य विभिन्न राज्यों से शिक्षा-सम्बन्धी आँकड़ों को एकत्र कर केन्द्रीय सरकार की ओर से संयोजित विवरण प्रकाशित करना है। यह कार्यालय केन्द्रीय सरकार की ओर से पत्र-पत्रिकायें भी सम्पादित करता है।

---

१. Central Advisory Board of Education.

२. Central Bureau of Education.

विश्वविद्यालय अनुदान-समिति[१]

इस समिति का संगठन १९४५ में किया गया। इसके सदस्य प्रायः वे व्यक्ति होते हैं जिन्हें विश्वविद्यालय के प्रशासन-सम्बन्धी बातों तथा आर्थिक समस्याओं का ज्ञान रहता है। सरकार तथा विश्वविद्यालय के अधिकारीगण इसके सदस्य नहीं होते। इस समिति का प्रधान कार्य विश्वविद्यालयों को सरकार द्वारा दिये जाने वाले अनुदानों की देख-रेख करना है जिससे विश्वविद्यालयों की आर्थिक माँगें पूरी हो सकें। यही केन्द्रीय अनुदान-समिति नयी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए विश्वविद्यालयों को अनुदान दिया करती है। इस समिति को यह भी देखना होता है कि विश्वविद्यालयों के कार्य देश की परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुकूल हो रहे हैं और उनमें प्रतिद्वन्द्विता की भावना न आने पावे।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा पुरातत्व विभाग, प्राचीन लेख-संग्रह विभाग तथा केन्द्रीय पुस्तकालय आदि हैं। पिछले अध्याय में इनकी ओर संकेत किया जा चुका है। देश की पिछड़ी जातियों, पहाड़ी जातियों तथा आदिवासियों के लिए भी केन्द्रीय सरकार ने विशेष विभागों की स्थापना की है।

नीचे हम विभिन्न प्रकार की शिक्षा की प्रगतियों पर विचार करेंगें।

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में १९३७-४७ की अवधि में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। महात्मा गाँधी द्वारा प्रतिपादित बेसिक शिक्षा योजना इस काल की विशेष घटना है। इसका विवरण आगे हम एक अलग ही अध्याय में देंगे। इस अवधि में प्राथमिक-शिक्षा क्षेत्र में जो अन्य प्रयोग किये गए उनमें मध्यप्रान्त की विद्यामन्दिर-योजना उल्लेखनीय है। मध्यप्रान्त के तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री पण्डित रविशंकर शुक्ल ने सन् १९३७-३८ में इस योजना का नियोजन किया था। इसका प्रमुख उद्देश्य छोटे-छोटे गाँवों में थोड़े ही सरकारी व्यय पर प्राथमिक शिक्षा का आयोजन करना था। विद्यामन्दिर का उद्देश्य साधारण प्राथमिक स्कूलों के विषयों को पढ़ाना था। जिस गाँव में ४० के लगभग बालक और बालिका होते थे वहाँ एक विद्यामन्दिर की स्थापना का प्रयत्न किया जाता था। प्रत्येक विद्यामन्दिर को आवश्यक भवन तथा समान और इतना बड़ा खेत दिया जाता है जिससे लगभग २०० रु० प्रतिवर्ष लगान आ सकती थी। इस खेत से ही विद्यामन्दिर का पूरा खर्च निकाल लेने की

१. University Grants Commission.

योजना थी । एक विद्यामन्दिर में प्राय: एक ही शिक्षक रखने का प्रबन्ध था और उसका वेतन १५ रु० मासिक था। सन् १९३८-३९ में लगभग ८० विद्यामन्दिरों की प्रान्त में स्थापना हो गई। परन्तु १९३९ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र के बाद प्रान्तीय सरकार ने इसके विकास में कोई विशेष रुचि न दिखलाई । फलत: इनका विकास रुक गया।

इस अवधि में बम्बई प्रान्त के कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने १९३८ में ने वॉलण्टरी स्कूल नामक एक योजना चलाई । इस योजना का प्रमुख उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा में व्यक्तिगत उद्योग को प्रोत्साहन देकर शिक्षा के व्यय को कम करना था; और उन गाँवों में प्राथमिक स्कूलों की स्थापना करनी थी जहाँ सरकार के लिए उनका आयोजन करना महँगा पड़ता। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने से इस योजना को बड़ा धक्का लगा ।

आगे हम १९३७-४७ की अवधि में प्राथमिक शिक्षा-प्रगति की ओर संकेत करेंगे। नीचे की तालिका से इस काल की प्रगति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है :—

सन्	प्राथमिक स्कूलों की संख्या	छात्रों की संख्या
१९३६-३७	१,९२,२४४	१०,२,२४,२८८
१९४५-४६	१,६७,७००	१,३०,२७,३१३

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि १९४५-४६ में २४५४४ स्कूल कम हो गए, यद्यपि उनमें २८,०३,०२५ पहले से अधिक छात्र थे । परन्तु यह वृद्धि पहले की अपेक्षा बहुत ही कम थी । अतः इस काल में प्राथमिक शिक्षा का विशेष विस्तार न हो सका ।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने की चेष्टा की परन्तु उन्हें विशेषसफलता न मिल सकी। सन् १९४७-४८ में १४६ शहरों तथा ३,९९५ गाँवों में केवल बालकों के लिए प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य बनाई जा सकी थी और १३५ शहरों तथा ६७१० गाँवों में यह शिक्षा बालक और बालिकाओं दोनों के लिए अनिवार्य बनाई गई थी ।

सरकार ने हर्टाग समिति के सुझावों के अनुसार प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी कई सुविधाओं को जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं से वापस ले लेने का प्रयत्न किया। सन् १९३८-४७ की अवधि में बम्बई सरकार ने दो कानून पास करके प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी स्थानीय संस्थाओं के अधिकार सीमित कर दिये ।

सन् १९३७-४७ की अवधि में शिक्षकों के वेतन को बढ़ाने का कुछ प्रयत्न किया गया । द्वितीय महायुद्ध के बाद जो महँगी आई उससे शिक्षकों की दशा

पहले से भी बुरी हो चली थी । शिक्षकों ने अपने वेतन को बढ़ने की माँग की और कई स्थलों पर उन्होंने हड़ताल भी किया । फलतः प्रायः सभी प्रान्तों में शिक्षकों का वेतन बढ़ाया गया । साथ ही कुछ महँगी भत्ता भी देना स्वीकार किया गया । इस प्रकार १९४७ में शिक्षकों का वेतन १९३७ से कहीं अधिक था, पर इस समय भी इनका वेतन इतना न था कि फैली हुई महँगी के समय उनकी दैनिक आवश्यकताएँ सरलता से पूरी हो सकें । अतः शिक्षकों की वास्तविक आर्थिक दशा १९४७ में भी अच्छी न थी ।

माध्यमिक शिक्षा

सन् १९३७-४७ की अवधि में मध्यमिक शिक्षा की प्रगति अवश्य हुई, परन्तु यह प्रगति पहले की अपेक्षा धीमी थी । सन् १९४६-४७ में भारत में (पाकिस्तान को छोड़कर) कुल ११,९०७ माध्यमिक विद्यालय थे । इस संख्या में १७६३ विद्यालय केवल बालिकाओं के लिए थे। इन विद्यालयों में ३३,५३,८५६ बालक तथा ३,५६,१२५ बालिकायें शिक्षा प्राप्त कर रही थीं ।

इस काल में माध्यमिक शिक्षा की धीमी प्रगति के कई कारण थे । इनमें प्रधान कारण यह था कि इस अवधि में प्राथमिक शिक्षा में पर्याप्त विस्तार न हो सका और प्राथमिक स्कूलों से माध्यमिक स्कूलों में छात्र आते थे । अतः प्राथमिक शिक्षा की धीमी प्रगति के कारण माध्यमिक शिक्षा की भी प्रगति का धीमी होना स्वाभाविक था । दूसरा कारण यह था कि द्वितीय महायुद्ध के कारण आई हुई महँगी से शहर के मध्यम वर्ग के लोगों पर विशेषतः बुरा प्रभाव पड़ा । माध्यमिक स्कूलों के अधिकांश छात्र इसी मध्यम वर्ग से आते थे । परन्तु आर्थिक स्थिति अनुकूल न होने के कारण इस वर्ग से उतने छात्र न आ सके जितने कि सामान्य स्थिति में आते । साथ ही, मँहगी के कारण स्कूलों की फीस में भी वृद्धि कर दी गई थी । पुस्तकें तथा विद्याध्ययन के लिए अवश्यक सामग्रियाँ बड़ी महँगी हो गईं । फलतः अपने बच्चों की शिक्षा के आयोजन में अभिभावकों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा । ऐसी स्थिति में माध्यमिक शिक्षा का द्वार केवल उन्हीं के लिए अच्छी प्रकार खुला रहा जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत बुरी न थी। परिणामतः माध्यमिक शिक्षा के लिए छात्रों का चुनाव योग्यता पर न हो कर आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर हो गया । सुयोग्य बच्चे आर्थिक कठिनाई के कारण माध्यमिक शिक्षा से वंचित होने लगे और अयोग्य बच्चे आर्थिक सुविधाओं के मिलने के कारण माध्यमिक स्कूलों में सरलता से प्रवेश पाने लगे । इस प्रकार १९३७-४७ की अवधि में माध्यमिक शिक्षा सामान्य जनता के हित में न चलकर एक विशेष वर्ग के लिए ही अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई ।

परन्तु सन् १९४७ ई० में प्रायः सभी माध्यमिक विद्यालयों में मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी। माध्यमिक शिक्षा में विविधता लाने का भी इस काल में कुछ प्रयास किया गया। प्रान्तीय सरकारों ने कई व्यावसायिक तथा टेकनिकल स्कूल खोले। कुछ कृषि विद्यालयों की भी स्थापना की गई। द्वितीय महायुद्ध के कारण इन विशिष्ट स्कूलों की आवश्यकता का अधिक अनुभव किया गया। अतः इनकी ओर जनता तथा शिक्षा-विशेषज्ञों का पहले से अधिक ध्यान गया। यद्यपि धनाभाव तथा सुयोग्य अध्यापकों की कमी के कारण व्यावसायिक तथा टेकनिकल स्कूलों की इस काल में अच्छी प्रगति न हुई; तथापि यह मानना होगा कि इस दिशा में लोग विशेष रूप से चेतित हुए।

सन् १९३७-४७ के काल में शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। सन् १९४६-४७ में विभिन्न ट्रेनिङ्ग कालेजों में २,११० पुरुष तथा १,३०७ स्त्रियाँ प्रशिक्षण पा रही थीं।

नई परिस्थितियों का प्रतिकूल प्रभाव

ऊपर हम कह चुके हैं कि मँहगी के कारण इस काल में शिक्षकों की आर्थिक दशा बड़ी बुरी थी। अतः इस अवधि में बहुत-से शिक्षक माध्यमिक स्कूलों को छोड़कर अन्य अधिक लाभप्रद व्यवसायों की ओर मुड़ने लगे। युद्ध के कारण बहुत-सी नई जगहें भी उपलब्ध हो गई थीं और शिक्षक भी अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने के उद्देश्य से इस अच्छे अवसर से लाभ उठाना चाहते थे। फलतः बहुत से प्रशिक्षित शिक्षक स्कूलों को छोड़कर दूसरा व्यवसाय पकड़ने लगे। इन प्रशिक्षित शिक्षकों के स्थान पर स्कूलों में अप्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति होने लगी। फलतः शिक्षण का स्तर गिरने लगा। शिक्षण-व्यवसाय में अच्छा वेतन न पाने के डर से स्कूलों की नौकरी के प्रति नवयुवकों की अरुचि होने लगी और इस अरुचि का फल यह हुआ कि ट्रेनिङ्ग कालेजों में उम्मीदवारों की संख्या घटने लगी और जो इनमें प्रवेश चाहते थे उनमें शिक्षण के लिए पर्याप्त योग्यता का अभाव था।

सन् १९३७-४७ के काल में माध्यमिक स्कूलों में अनुशासन की समस्या विषम हो चली। युद्धजनित आर्थिक कठिनाइयों के कारण शिक्षकों में घोर असन्तोष व्याप्त था। साथ ही, वे अपने उच्च आदर्श पर भी दृढ़ न रह सके। फलतः वे छात्रों के सामने समुचित आदर्श उपस्थित रखने में सर्वथा असमर्थ थे। इसका प्रभाव छात्रों पर बुरा पड़ा, क्योंकि वे प्रायः शिक्षकों से बड़ी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। राजनीतिक हलचलों के कारण भी छात्रों का मानसिक संतुलन कुछ ढीला पड़ गया। इस प्रकार इस काल में भारत के विद्यार्थियों में, विशेषकर माध्यमिक विद्यालयों

के विद्यार्थियों में, एक ऐसी अनुशासन-हीनता की समस्या उत्पन्न हुई जो आज भी हमारे सामने विद्यमान है ।

विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा

सन् १९३७-४७ की अवधि में विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा में कुछ प्रगति हुई । इस काल में चार नये विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई । ये नये विश्वविद्यालय—त्रावणकोर विश्वविद्यालय (१९३७), उत्कल विश्वविद्यालय (१९४३), सागर विश्वविद्यालय (१९४६) तथा राजपूताना विश्वविद्यालय (१९४७) थे । इस प्रकार १९४७ तक देश में कुल १९ विश्वविद्यालय हो गए । विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई । पृष्ठ ५७४ की तालिका[१] से छात्रों की संख्या में वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है ।

तालिका से स्पष्ट है कि १९४७ में प्रत्येक विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या में १९३७ को संख्या की तुलना में पर्याप्त वृद्धि हुई । इस वृद्धि को देखकर कुछ लोगों के अनुसार १९४७ में भारतीय शिक्षा का विस्तार शिखर बोझिल होने लगा । परन्तु वास्तव में अन्य प्रगतिशील देशों की अपेक्षा हमारे देश की विश्वविद्यालय शिक्षा १९४७ में भी बड़ी पिछड़ी हुई थी । १९४७ में ब्रिटेन में प्रति ८३७ की जनसंख्या पर एक विश्वविद्यालय था । रूस में यह अनुपात १:३००; युद्ध-पूर्व जर्मनी में १:६९० और संयुक्तराज्य अमेरिका में १:२२५, भारत में यह अनुपात १९४७ में १:२२०६[२] था । सार्जेन्ट[३] रिपोर्ट के अनुसार इंगलैंड की ४१ मिलियन जनसंख्या के लिए १२ विश्वविद्यालय, कनाडा की ८½ मिलियन जनसंख्या के लिए १३, आस्ट्रेलिया की ५½ मिलियन के लिए ६, संयुक्त राज्य अमेरिका की १३० मिलियन के लिए विश्वविद्यालय-कोटि की १७२० उच्च-संस्थाएँ और भारत में ४०० मिलियन की जनसंख्या के लिए केवल १८ विश्वविद्यालय सन् १९४३-४४ में थे । स्पष्ट है कि १९४७ में हमारे देश की शिक्षा-पद्धति-शिखर बोझिल न थी, वरन् उस समय यह आधार-दुर्बल थी । अतः १९४७ में इनके शिखर को छाटने की आवश्यकता न थी । वस्तुतः तब इसके आधार को दृढ़ बनाने की आवश्यकता थी, और यह दृढ़ता जन-शिक्षा-प्रसार तथा प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का प्रसार तथा उसको सुदृढ़ बनाने से आ सकती थी ।

---

१. Prepared from the calenders of the various universities.

२. The Sargent Report. p. 346

३. pp. 28—9

कहना न होगा, अभी तक भी हम अपने विश्वविद्यालयों को एक सुदृढ़ आधार देने में समर्थ नहीं हुए हैं। कदाचित् इसमें कुछ और समय लगेगा।

विश्वविद्यालय	प्रकार	छात्रों की संख्या	
		१९३७ में	१९४७ में
१—कलकत्ता	सम्बद्धीय और शैक्षिक	३५,३५७	४८,००८
२—बम्बई	"	१७,५७५	४३,०९०
३—मद्रास	"	१७,४५४	२८,८८८
४—पंजाब	सम्बद्धीय और शैक्षिक	१९,८४१	विभाजन के कारण अप्राप्य
५—इलाहाबाद	शैक्षिक	२,०५६	३,५०२
६—बनारस	"	३,३८५	५,०८३
७—मैसूर	शैक्षिक और सम्बद्धीय	२,७२५	६,३५०
८—पटना	"	५,८९८	५,४७१
९—ओसमानिया	शैक्षिक	१,७२३	४,८६२
१०—अलीगढ़	"	१,८२२	४,००९
११—लखनऊ	"	२,३४०	३,८९३
१२—ढाका	"	१,२६८	विभाजन के कारण अप्राप्य
१३—दिल्ली	शैक्षिक फेडेरेटिव	२,१२०	४,३११
१४—नागपुर	शैक्षिक और सम्बद्धीय	३,७६७	५,७३४
१५—आन्ध्र	"	३,५९९	६,४४५
१६—आगरा	सम्बद्धीय	४,१३२	६,६३६
१७—अन्नामलाइ	शैक्षिक	७४१	१,९८१
१८—ट्रावन्कोर	शौक्षिक और सम्बद्धीय	स्थापित नहीं	५,७१५
१९—उत्कल	"	"	३,६६२
२०—सागर	शौक्षिक और सम्बद्धीय	"	१,८२८
२१—राजपूताना	सम्बद्धीय	"	अप्राप्य

हरिजनों की शिक्षा

सन् १९३७ में विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना से हरिजन शिक्षा को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला। हरिजनों के विरुद्ध अछूतपन की भावना को मिटा देने के लिए विभिन्न कांग्रेसी सरकारों ने कानून पास किया। शिक्षा के क्षेत्र में सभी संस्थायें हरिजनों के लिए खोल दी गईं और उनमें उन्हें विशेष सुविधायें भी दी गयीं। पहले प्राथमिक स्कूलों में हरिजन बालकों से फीस नहीं ली जाती थी। अब माध्यमिक तथा उच्च स्कूलों में भी उनकी फीस को माफ कर देने की व्यवस्था की गई। गरीब हरिजन बालकों के लिए पुस्तक-अनुदान, फीस की माफी तथा परीक्षा-शुल्क की माफी आदि कई सुविधायें दी गयीं। मेडिकल तथा इंजीनियरिंग ऐसे विशेष विद्यालयों में उनके लिए स्थान सुरक्षित रक्खे गये। ये स्थान अन्य जाति के छात्रों द्वारा तभी भरे जाते थे जब हरिजन-छात्र उनके लिए न मिलते थे। जिन विद्यालयों में हरिजन छात्रों की संख्या अधिक हो जाती थी उनमें उनके लिए अलग छात्रावास का प्रबन्ध किया जाता था। हरिजन छात्रों के लिए चमड़े की कारीगरी जैसे कुछ विशेष व्यावसायिक विद्यालय भी कहीं-कहीं खोले गए।

प्रान्तीय सरकारों द्वारा दी हुई उपर्युक्त सुविधाओं के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने भी हरिजन-शिक्षा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। सन् १९४२ में हरिजन जनता के नेता डा० अम्बेदकर भारत सरकार के कानून सदस्य बनाये गए। डा० अम्बेदकर की प्रेरणा से केन्द्रीय सरकार ने पिछड़ी जाति के छात्रों को कुछ छात्र-वृत्तियाँ देना स्वीकार किया। इस छात्र-वृत्ति के लिए सन् १९४४-४५ में केन्द्रीय सरकार ने ३ लाख रुपये स्वीकृत किया। इस धन से उन हरिजन छात्रों को छात्र-वृत्ति दी जाने लगी जो प्रवेशक परीक्षा पास करने के बाद वैज्ञानिक तथा टेकनिकल शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे। आदिवासी, पहाड़ी तथा अन्य पिछड़ी जातियों के लिए भी इस प्रकार की छात्र-वृत्ति की व्यवस्था की गई।

स्त्री-शिक्षा

सन् १९३७-४७ की अवधि में स्त्री-शिक्षा में अच्छी प्रगति हुई। विश्व-युद्ध-काल में देश के विभिन्न दफ्तरों और व्यवसायों में अनेक जगहें खाली हुईं। फलत: इनमें स्त्रियों को भी नौकरियाँ मिलीं। अब दफ्तरों में कार्य करने वाली स्त्रियों की संख्या पहले से कहीं अधिक थी। अत: नौकरी करके कुछ आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की भावना शिक्षित स्त्रियों में प्रबल हो उठी। महँगाई के कारण माध्यम वर्ग के कुछ लोगों ने भी अपने घरों की स्त्रियों को बाहर नौकरी करने के लिए स्वतन्त्रता दे दी। इस प्रवृत्ति के कारण भारतीय समाज के एक कक्ष में भी यह भावना घर करने लगी कि स्त्रियों का स्थान केवल घरेलू कार्यों में ही नहीं

है। निम्नलिखित तालिका से १९४६-४७ में स्त्री-शिक्षा की दशा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है :—

शिक्षा-संस्थाओं के प्रकार	संस्थाओं की संख्या	छात्रायें
सामान्य शिक्षा		
कला और विज्ञान के कालेज	५९	१७,६४८
हाई स्कूल	५७६	१,७८,३४१
मिडिल स्कूल	१,१८७	१,७७,७८४
प्राइमरी स्कूल	१४,३३०	२८,३३,०९६
विशिष्ट शिक्षा		
व्यावसायिक और टेकनिकल कालेज	३	१,७६८
ट्रेनिङ्ग कालेज	११	६६०
ट्रेनिङ्ग स्कूल	१८८	१०,४८३
अन्य विशिष्ट स्कूल	५९४	२७,८६४
अन्य संस्थायें (जिन्हें मान्यता नहीं प्राप्त थी)	५३७	४६,६०४
योग	१७,४८५	३२,९४,२४८

मुसलमानों की शिक्षा

सन् १९३७ में शिक्षा-क्षेत्र में मुसलमान किसी अन्य जाति से पिछड़े हुए न रहे। अतः १९३७-४७ की अवधि में केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों के लिए उनकी शिक्षा का कोई प्रश्न ही न था। अब वे अन्य प्रगतिशील जातियों के साथ चलने के लिए अच्छी प्रकार से जागृत थे। इस अवधि में एक अखिल

भारतीय मुस्लिम शिक्षा अधिवेशन[१] का आयोजन हुआ। इस अधिवेशन ने भारत में मुस्लिम शिक्षा पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इस रिपोर्ट की निम्नलिखित बातें अधिक ध्यान देने योग्य हैं :—

१—अनिवार्य शिक्षा को कार्यान्वित करना चाहिए। यद्यपि बेसिक शिक्षा का अनिवार्य बनाना ठीक नहीं है।

२—साम्प्रदायिक स्कूलों को मान्यता मिलनी चाहिए।

३—शिक्षा का आधार धर्म होना चाहिए।

४—शिक्षा का माध्यम उर्दू होना चाहिए।

५—मुस्लिम प्राथमिक स्कूलों का पाठ्यक्रम अलग होना चाहिए।

६—मुस्लिम बालक और बालिकाओं के लिए अलग-अलग स्कूल होने चाहिए।

७—जनसंख्या के अनुपात में हाई स्कूल तथा विश्वविद्यालियों में मुस्लिम छात्रों के लिए जगहें सुरक्षित होनी चाहिए। टेकनिकल शिक्षा-संस्थाओं के मुस्लिम छात्रों के लिए छात्र-वृत्तियाँ सुरक्षित होनी चाहिए।

ऐब्बॉट-उड[२] रिपोर्ट, १९३७

सन् १९३६-३७ में भारत सरकार ने व्यावसायिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिए इंगलैंड के दो विशेषज्ञ ए० ऐब्बॉट और एस० एच० उड को आमन्त्रित किया, इन विशेषज्ञों के पास समय का बड़ा अभाव था। ये लोग व्यावसायिक शिक्षा की जाँच के लिए सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण नहीं कर पाये और पंजाब, दिल्ली तथा संयुक्त प्रान्त तक ही अपने को सीमित रक्खा। चार महीने के अन्दर ही इन्होंने जून, १९३७ में अपनी रिपोर्ट भारत-सरकार के सामने प्रस्तुत कर दी। यह रिपोर्ट 'ऐब्बॉट-उड रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। यह रिपोर्ट शीघ्रता में तैयार की गई थी। इसलिए इसमें व्यावसायिक शिक्षा के सभी अंगों पर विचार नहीं किया जा सका। अतः इस रिपोर्ट के आधार पर व्यावसायिक शिक्षा का पुनर्संगठन कर सकना सम्भव न हो सका। सन् १९४४ में सारजेण्ट रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में ऐब्बॉट-उड के सुझावों के आधार पर व्यावसायिक शिक्षा का विस्तृत अध्ययन किया गया। अतः सारजेण्ट रिपोर्ट के समक्ष ऐब्बॉट-उड रिपोर्ट का महत्त्व घट गया है। तथापि व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में ऐब्बॉट-उड रिपोर्ट ने बहुत दिनों तक लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इस रिपोर्ट की प्रमुख सिफारिशों को आगे दिया जा रहा है :—

---

१. All India Muslim Education Conference.

२. Abbott-Wood Report, 1937.

१—विभिन्न व्यवसायों की आवश्यकताओं का व्यावसायिक शिक्षा अति-क्रमण न करे।

२—किसी प्रान्त की व्यावसायिक शिक्षा उस प्रान्त के विविध उद्योगों तथा व्यापारों के आधार पर ही हो।

३—व्यावसायिक शिक्षा को साहित्यिक शिक्षा से कम महत्त्व न दिया जाय। इसका स्तर नीचा न होने पावे।

४—सामान्य और व्यावसायिक शिक्षायें एक दूसरे से अलग न समझी जायँ, वरन् इनको क्रमशः शिक्षा का पूर्ववर्ती और परवर्ती चरण मानना चाहिए।

५—सामान्य और व्यावसायिक शिक्षाओं के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। अतः एक ही विद्यालय में दोनों प्रकार की शिक्षा का आयोजन न किया जाय।

६—छोटे-छोटे गृह-उद्योगों में लगे हुए कारीगरों को आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाय।

७—प्रत्येक प्रान्त में एक व्यावसायिक शिक्षा सलाहकारिणी समिति[1] स्थापित की जाय। इस समिति का कार्य शिक्षा और उद्योग-व्यापार में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना होगा।

८—व्यावसायिक शिक्षा में जूनियर व्यावसायिक स्कूल तथा सीनियर व्यावसायिक स्कूल दो प्रकार की संस्थायें हों। जूनियर में आठवीं श्रेणी के बाद छात्र प्रवेश पा सकेंगे और इसमें वे ३ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करेंगे। जूनियर स्कूल को उच्च माध्यमिक स्कूल की मर्यादा दी जाय। सीनियर में ११ वीं श्रेणी के बाद दो वर्ष के लिए छात्र लिये जायँ। ये सीनियर स्कूल, इण्डरमीडिएट कालेज के समान माने जायँ।

९—व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र दिया जाय और इसमें उनके कार्य का पूरा विवरण रहे।

१०—व्यावसायिक स्कूलों की स्थापना यथासम्भव व्यावसायिक केन्द्रों में ही की जाय।

११—विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों के लिए अंशकालिक स्कूल खोले जायँ। इन स्कूलों में दिन में ही पढ़ाई हो। सप्ताह में २½ दिन इन स्कूलों में पढ़ने के लिए कर्मचारियों को अवकाश दिया जाय।

१२—चुने हुए स्थानों में भारत सरकार व्यावसायिक प्रशिक्षण कालेज तथा टेकनिकल स्कूल स्थापित करे।

---

१. Advisory Council for Vocational Education

व्यावसायिक-शिक्षा

सन् १९३७-४७ की अवधि में व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति कुछ अवश्य हुई, परन्तु इस काल में कोई विशेष बात न हुई, क्योंकि व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र पूर्ववत् रहे।

कानून की शिक्षा

सन् १९४६-४७ में १३ लॉ कालेज थे और इनमें ५,३३२ छात्र थे। आन्ध्र तथा बम्बई विश्वविद्यालयों ने इण्टरमीडिएट उत्तीर्ण छात्रों को भी लॉ कक्षा में भर्ती कर लेना प्रारम्भ कर दिया, परन्तु अन्य विश्वविद्यालय केवल ग्रेजुएट को ही भर्ती करते थे।

चिकित्सा की शिक्षा

सन् १९४६-४७ में विभाजन के पूर्व भारत में कुल २६ मेडिकल कालेज थे। इनमें ३ कॉलेज केवल महिलाओं के लिए थे। इस अवधि में विश्वविद्यालयों ने चिकित्सा में पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षण के लिए अधिक सुविधायें दीं और काँग्रेस मंत्रि-मण्डलों की प्रेरणा के कारण आयुर्वेद और यूनानी पद्धति को पहले से बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया गया। निम्नलिखित तालिका से इस अवधि में चिकित्सा की शिक्षा की प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है :—

चिकित्सा और पशु-चिकित्सा कालेज
(१९४६-४७)

प्रान्त	कालेज की संख्या		छात्रों की संख्या	
	पुरुषों के लिए	स्त्रियों के लिए	पुरुष	स्त्री
दिल्ली	४	१		१८७
पश्चिमी बंगाल	४	—	१,७५१	८५
संयुक्त प्रान्त	१	—	९७३	८४
उड़ीसा	१	—	८३	११
पूर्वी पंजाब	१	१	३५७	३४४
मद्रास	६	१	१,६३१	५०८
बम्बई	७	—	१,४५८	३६०
बिहार	३	१	४८९	३५
योग	२३	४	६,७४२	१,६१४

व्यापारिक शिक्षा

इस अवधि में व्यापारिक शिक्षा की प्रगति का अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है :—

व्यापारिक कालेज और स्कूल, १९४६-४७

प्रान्त	कालेज		स्कूल	
	कालेज की संख्या	छात्रों की संख्या	स्कूल की संख्या	छात्रों की संख्या
पश्चिमी बंगाल	७	३,७८७	८	६७५
बिहार			१४	८१२
उड़ीसा			२	३६
पूर्वी पंजाब			५	७३
आसाम			४	२०३
मध्य प्रान्त और बरार	२	६२४		
संयुक्त प्रान्त			१	३०
मद्रास			२२७	९,७९५
बम्बई	५	३,३७२	३५	८१२
योग	१४	७,७८३	२९६	१२,४३६

कृषि-शिक्षा

सन् १९३७-४७ की अवधि में कृषि-शिक्षा की बड़ी उन्नति हुई। इस अवधि में कृषि-शिक्षा के लिए १२ नई संस्थायें खुलीं। इनके नाम आगे दिये जा रहे है :—

१—आगरा, बलवन्त राजपूत कालेज (कृषि-विभाग १९४१ में खोला गया) ।

२—अमृतसर, गवर्नमेण्ट अग्रीकल्चरल कालेज, १९४७ ।

३—आनन्द (बम्बई), बंसीलाल अमृतलाल कॉलेज ऑव अग्रीकल्चर. १९४७ ।

४—बनारस, कालेज ऑव अग्रीकल्चर, विश्वविद्यालय, १९४५ ।

५—बंगलोर, इण्डियन डेयरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट १९४४ ।

६—बंगलोर, अग्रीकल्चर कालेज ऐण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट, हेबल, १९४६ ।

७—बपटला (मद्रास), अग्रीकल्चरल कालेज, १९४५ ।

८—दिल्ली, सेण्ट्रल कालेज ऑव अग्रीकल्चर १९४७ ।

९—धरवार (बम्बई), कालेज ऑव अग्रीकल्चर, १९४७ ।

१०—हैदराबाद (दक्षिण), ओसमानिया कॉलेज ऑव अग्रीकल्चर, १९४६ ।

११—लखावटी (संयुक्त प्रान्त), जाट कालेज (१९४१ में कृषि-विभाग खोला गया ।)

१२—साबोर (भागलपुर, बिहार), बिहार अग्रीकल्चर कालेज, १९४५ ।

सन् १९३६-३७ में देश में कृषि-कालेजों की संख्या केवल ६ थी और इनमें केवल १,००८ छात्र थे । परन्तु सन् १९४६-४७ में देश में कुल १८ संस्थायें कृषि में १,५५१ छात्रों को शिक्षा दे रही थीं । स्पष्ट है कि इस अवधि में कृषि-शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई । परन्तु देश की आवश्यकता के अनुसार यह प्रगति भी असन्तोष-जनक ही कही जा सकती है ।

इंजीनियरिङ्ग की शिक्षा

सन् १९३६-३७ में देश में कुल ८ इंजीनियरिङ्ग कालेज थे । विभाजन के कारण १९४७ में लाहौर और कराची के इंजीनियरिङ्ग कालेज पाकिस्तान में चले गए । परन्तु इस हानि के बाद भी १९४६-४७ में भारत में १७ इंजीनियरिङ्ग कालेज थे और इनमें २,५०० छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे थे । परन्तु अभी देश की माँग के अनुसार और भी इंजीनियरिङ्ग कालेजों की आवश्यकता थी ।

टेकनिकल शिक्षा

सन् १९३७-४७ की अवधि में टेकनिकल शिक्षा में अच्छी प्रगति हुई । इस प्रगति के तीन प्रमुख कारण थे; पहला कारण यह था कि द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण

टेकनिकल शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों की माँग थी। दूसरा कारण यह था कि विश्व-युद्ध के कारण देश में नये-नये उद्योगों के लिए टेकनिकल शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों की आवश्यकता थी। तीसरा यह था कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने युद्ध के बाद कई नई योजनायें चलाईं। इन योजनाओं को चलाने के लिए टेकनिकल शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों की आवश्यकता थी। फलतः देश में टेकनिकल शिक्षा का इस अवधि में बड़ा विस्तार हुआ। सन् १९४६-४७ में देश में कुल ४९० संस्थायें ४९,७४० छात्रों को टेकनिकल शिक्षा दे रही थीं।

सन् १९४५ में भारत सरकार ने टेकनिकल शिक्षा के आयोजन और पुनर्संगठन के लिए एक अखिल भारतीय टेकनिकल शिक्षा समिति[1] स्थापित की। इस समिति को विभिन्न टेकनिकल शिक्षा-संस्थाओं में समन्वय प्राप्त करने का भी कार्य दिया गया। इस समिति की सिफारिश पर भारत सरकार ने टेकनिकल शिक्षा के प्रसार के लिए एक योजना स्वीकृत की। इस योजना में सरकार को १,५४,००,००० रुपये अनावर्त्तक[2] तथा ३,००,००० रुपये आवर्त्तक[3] रूप में खर्च करने थे।

सन् १९४५ में भारत सरकार ने टेकनिकल शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए नलिनी रंजन सरकार की अध्यक्षता में एक उच्च टेकनॉलॉजिकल शिक्षा समिति[4] की स्थापना की। इस समिति ने १९४६ में अधोलिखित सुझाव दिये :—

१—देश में उच्च टेकनिकल शिक्षा के लिए ४ बड़ी संस्थायें स्थापित की जाँय।

२—एक संस्था कलकत्ता के पास हो और दूसरी बम्बई के पास।

३—तीसरी संस्था उत्तरी भारत में हो और इसमें जल-विद्युत की इंजीनियरिङ्ग-शिक्षा पर विशेष बल दिया जाय। चौथी संस्था दक्षिण भारत में स्थापित की जाय।

४—इन संस्थाओं के आचार्य तथा विभाग-प्रधान शीघ्र ही नियुक्त किये जायँ जिससे इनमें शिक्षा का कार्य प्रारम्भ हो जाय।

भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकृत कर लिया। स्वतन्त्र भारत में भी इन सिफारिशों के अनुसार कार्य करने का प्रयास किया जा रहा है।

---

१. All India Council of Technical Education.
२. Non-recurring.
३. Recurring.
४. Higher Technological Education Committee.

वयस्क-शिक्षा (१९३७-४७)

सन् १९३७ ई० में ११ प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित होने के बाद प्रान्तीय सरकारों का ध्यान स्वभावतः वयस्क-शिक्षा के प्रसार की ओर गया। जनहित के कार्यों में निरक्षता को दूर करना बड़ा आवश्यक समझा गया। अतः कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने वयस्क-शिक्षा को बड़ा महत्त्व दिया। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार भी वयस्क-शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं रह सकती थी और उसने १९३९ में बिहार के शिक्षा-मन्त्री डा० सैयद महमूद की अध्यक्षता में एक वयस्क-शिक्षा समिति[1] की स्थापना की। इस समिति ने वयस्क-शिक्षा के निम्नलिखित दो उद्देश्य निश्चित किए :—

१—वयस्क निरक्षरों को पढ़ना, लिखना तथा अंकगणित में शिक्षा दी जाय, और

२—वयस्कों को उनके व्यवसाय के सम्बन्ध में आवश्यक बातें बतलाई जायँ और साथ ही उन्हें नागरिकता के महत्त्व और गुणों को समझाया जाय।

अपने वक्तव्य में डा० सैयद महमूद ने समझाया कि सरकार की कोई भी योजना जनता के समुचित सहयोग से ही सफल हो सकती है। और यह समुचित सहयोग शिक्षित जनता से ही सम्भव हो सकता है।[2] इस प्रकार सन् १९३७ ई० के पश्चात् वयस्क-शिक्षा का प्रसार लगभग सभी काँग्रेसी प्रान्तों में किया गया। इन प्रयत्नों में मैसूर, बम्बई तथा बिहार प्रान्तों के कार्य विशेष सराहनीय हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

मैसूर—सन् १९४० ई० में मैसूर विश्वविद्यालय ने शहर में व्याप्त निरक्षरता को दूर करने के लिए एक आन्दोलन चलाया। परन्तु सरकारी सहायता शीघ्र ही प्राप्त हो गई और 'मैसूर राज्य वयस्क-शिक्षा समिति[3] की स्थापना की गई। इस समिति में ६० सदस्य थे जो वयस्क-शिक्षा सम्बन्धी नियम निर्धारित करते थे।

---

१. Adult Education Committee.

२. The efforts of the Nation-Building Departments will succeed and their results be maximized only when the people are able to appreciate intelligently and execute in practice the suggestions made by them. This responsive co-operation is only feasible when the people possess some amount of Education.—Report of the Adult Education Committee (1939) p. 54.

३. Mysore State Adult Education Council.

दैनिक कार्यों को संचालित करने के लिए समिति ने १२ सदस्यों की एक कार्य-कारिणी समिति बनाई। प्रत्येक जिले में वयस्क-शिक्षा का निरीक्षण करने के लिए हर एक जिले के लिए विशेषज्ञ अफसर नियुक्त किये गए। वयस्क-शिक्षा-केन्द्रों के प्रबन्ध के लिए प्रत्येक जिले में कुछ अन्य कार्यकर्त्ता भी रखे जाते थे। मैसूर राज्य में वयस्क-शिक्षा का कार्य मुख्यतः निम्नलिखित तीन रूपों में संचालित किया जाता था :—

(१) **साक्षरता कक्षायें**—सर्व प्रथम साक्षरता कक्षाओं द्वारा निरक्षर वयस्कों को पढ़ने, लिखने तथा अंकगणित का ज्ञान दिया जाता था। जब वयस्कों को इसका पर्याप्त ज्ञान हो जाता था तो उनकी एक परीक्षा ली जाती थी और सफल वयस्क छात्रों को साक्षरता का प्रमाण-पत्र दिया जाता था।

वयस्कों के लिए पढ़ने के लिए केन्द्र—साक्षर बन जाने पर वयस्क फिर भूल कर कहीं निरक्षर के समान न हो जायें, इसलिए उनके पढ़ने के लिए कुछ विशेष केन्द्रों का आयोजन किया जाता था। इन केन्द्रों पर वयस्कों के लिए कुछ पुस्तकें रखी जाती थीं। वयस्कों के लिए कुछ विशेष पुस्तकें भी प्रकाशित की जाती थीं जिससे उनकी पढ़ने में रुचि बनी रहे।

(३) **ग्राम-पंचायत के संरक्षण में पुस्तकालय**—वयस्कों के लिए एक पुस्तकालय खोलने के लिए राज्य ७० रु० देता था और ग्राम-पंचायत रु० ३० रु० देती थी। इस प्रकार १०० रु० में एक छोटा-सा पुस्तकालय वयस्कों के लिए खोल दिया जाता था। सन् १९४८ में राज्य में इस तरह के १,८१२ पुस्तकालय थे।

'मैसूर राज्य वयस्क-शिक्षा सभा' वयस्कों के लिए उपयुक्त पुस्तकों और पत्रिकाओं का प्रकाशन करती थी। बेलकू नामक साप्ताहिक पत्रिका की ६,००० प्रतियाँ विभिन्न साक्षरता-केन्द्रों तथा ग्राम-पुस्तकालयों में भेजी जाती थीं। सभा 'पुस्तक प्रपंच' नामक एक पत्रिका प्रकाशित करती थी। इसमें ग्राम-जीवन सम्बन्धी विभिन्न उपयोगी लेख प्रकाशित किये जाते थे।

विद्यापीठ—राज्य वयस्क-शिक्षा सभा की ओर से नंजनगढ़ में एक विद्यापीठ स्थापित किया गया था। इस विद्यापीठ में वयस्कों को विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। डेनमार्क के 'लोक हाई स्कूल'[1] के आदर्श के आधार पर इस विद्यापीठ का निर्माण किया गया था। इस विद्यापीठ में छात्रावास भी है। इस छात्रावास में छात्रों का रहना अनिवार्य है। इस विद्यापीठ में शिक्षा की अवधि ५ महीने की है।

---

१. Folk High School.

कृषि तथा ग्राम-उद्योग के सम्बन्ध में यहाँ वयस्कों को विशेष शिक्षा दी जाती है। विद्यापीठ में वयस्क-शिक्षा के कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

बम्बई

बम्बई के काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने वयस्क-शिक्षा की समस्या को हल करने के लिए डा० क्लिफोर्ड मन्शार्ट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति की सिफारिश के अनुसार एक प्रान्तीय वयस्क-शिक्षा-बोर्ड स्थापित किया गया। इस बोर्ड के निरीक्षण में वयस्क-शिक्षा का कार्य प्रारम्भ हुआ। बोर्ड की एक योजनानुसार बम्बई शहर के स्कूल तथा कालेजों के छात्रों को गर्मी की छुट्टी में शहर के वयस्क-शिक्षा के कार्य में लगने के लिए अभिप्रेरित किया गया। इस योजना में इतनी सफलता मिली कि वयस्क-शिक्षा के लिए एक 'बम्बई शहर वयस्क-शिक्षा समिति' स्थापित की गई और इस समिति को ५० हजार रुपया वार्षिक अनुदान स्वीकृत कर दिया गया। वयस्क-शिक्षा के निरीक्षण के लिए एक विशेषज्ञ साक्षरता अफसर की नियुक्ति की गई। इस योजना के अनुसार बम्बई शहर में वयस्क-शिक्षा का कार्य अच्छी तरह चलने लगा। परन्तु १९३९ में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र के कारण इस योजना को बड़ा धक्का लगा। यद्यपि गर्वनर की ९३वीं धारा की सरकार ने इस योजना को जीवित रक्खा, परन्तु पहले की तरह इसमें प्रगति न रह सकी।

सन् १९४६ में विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद वयस्क-शिक्षा की ओर फिर ध्यान दिया गया। पन्द्रह से चालीस वर्ष की उम्र वाले सभी वयस्कों को दस वर्ष के अन्तर्गत साक्षर बना देने के लिए एक योजना बनाई गई। सन् १९३७-४७ की अवधि में बम्बई नगर वयस्क-शिक्षा समिप्ति ने १,५९००० वयस्कों को साक्षर बनाने का प्रयास किया। इनमें १,२१,००० वयस्क साक्षरता का प्रमाण-पत्र पा सके। इस संख्या में ९८,००० पुरुष और २३,००० स्त्रियाँ थीं। इस साक्षरता-कार्य में प्रति वयस्क ५ रु० १३ आ० के हिसाब से कुल ७,०६,००० रुपये खर्च हुए। समिति ने वयस्कों के लिए उत्तर-साक्षरता कक्षायें[१] भी चलाईं और उनके लिए विशिष्ट पाठ्य पुस्तकें तथा पाक्षिक पत्रिका प्रकाशित की।

नगर की तरह ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता का कार्य अच्छी तरह न चल सका। अतः गाँवों के लिए प्रान्तीय शिक्षा-बोर्ड ने प्रमण्डलीय और जिला समितियाँ आयोजित कीं। जो व्यक्ति साक्षरता का कार्य करना चाहते थे उन्हें ये समितियाँ

---

१. Post Literacy Classes.

स्वीकृति देती थीं। साक्षरता-केन्द्र के प्रत्येक शिक्षक को चार रुपया मासिक अनुदान दिया जाता था। शिक्षण-केन्द्र के सामान आदि को खरीदने के लिए ६० रु० दिया जाता था। परन्तु इस योजना का दुरुपयोग होने लगा। अतः सरकार ने प्रति साक्षर पारिश्रमिक को ४ रुपये से घटाकर दस आना कर दिया। इस कटौती के कारण साक्षरता-केन्द्रों में वयस्कों की संख्या घटने लगी। इस स्थिति को सुधारने के लिए सरकार ने अनुदान की दर फिर ४ रु० प्रति साक्षर बना दी। वयस्क-शिक्षा-केन्द्रों के प्रशासन में भी कुछ परिवर्तन किए गये। परन्तु वयस्क-शिक्षा की स्थिति में सन्तोषजनक प्रगति नहीं दिखलाई पड़ी। सन् १९४६-४७ में बम्बई के ग्रामीण क्षेत्रों में कुल १,८१८ साक्षरता-कक्षायें खोली गईं। इन कक्षाओं में कुल १,४८,५७७ निरक्षर वयस्क भरती किये गए। इस वर्ष कुल २२,३०० वयस्कों को साक्षरता का प्रमाण-पत्र दिया जा सका।

बिहार

वयस्क शिक्षा का प्रारम्भ बिहार में सन् १९३८ में किया गया। प्रारम्भ में यह कार्य स्थानीय व्यक्तियों द्वारा दिये गए चन्दों के बल पर चला। मई, सन् १९३८ में अर्थात् पाँच ही महीनों में प्रान्त में हजारों केन्द्र खुल गये। इन केन्द्रों में एक लाख से अधिक वयस्कों को साक्षर बनाया गया। सितम्बर, १९३८ में कुल ६,८२१ साक्षरता-केन्द्र खुल गये थे और इनमें १,२१,७९५ वयस्कों को भरती किया गया था। बिहार में वयस्क साक्षरता का कार्यक्रम अधोलिखित सात रूपों में चलाया जाता था।

१—सभी लोअर प्राइमरी, अपर प्राइमरी तथा मिडिल स्कूलों को निरक्षता-निवारण-केन्द्र खोलने पड़ते थे। प्रत्येक केन्द्र को प्रति साक्षर वयस्क पाँच आने के हिसाब से आर्थिक सहायता दी जाती थी।

२—स्कूलों के अतिरिक्त कुछ अन्य संस्थाओं में भी साक्षरता-केन्द्र खुले हुए थे। ऐसे प्रत्येक केन्द्र को १५ रुपये वार्षिक आर्थिक सहायता दी जाती थी।

३—प्रत्येक जिले में प्रतिवर्ष एक थाने का हलका चुन लिया जाता था और इस हलके के १५ से ४० वर्ष के उम्र वाले सभी पुरुषों को साक्षर बनाने का प्रयास किया जाता था। इस कार्य के निरीक्षण के लिए एक विशेष निरीक्षक नियुक्त रहता था। वर्ष की समाप्ति पर थाने के हलके में विभिन्न स्थलों पर छोटे-छोटे पुस्तकालय खोले जाते थे जिससे नये साक्षर बने हुए वयस्क अपना पढ़ना-लिखना जारी रक्खें और वे पुनः निरक्षर न बन जायें।

४—'अपना घर साक्षर बनाओ'[1] नामक एक आन्दोलन चलाया गया। इसके अन्तर्गत प्रत्येक कुटुम्ब के किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति पर अपने घर के निरक्षर वयस्कों को साक्षर बनाने का उत्तरदायित्व दिया जाता था। यह पद्धति सर्वप्रथम चीन देश में चलाई गई थी। इस सम्बन्ध में हरिजन में सन् १९३९ में डॉ० हेग्नाचिह-ताओ के दो लेख छपे थे। इन्हीं लेखों के विचारों के आधार पर यह पद्धति बिहार में अपनायी गई थी।

५—कालेजों तथा उच्च स्कूलों को भी अपने केन्द्रों में निरक्षता-निवारण-केन्द्र खोलने पड़ते थे और उन्हें इसके लिए कोई आर्थिक सहायता नहीं दी जाती थी।

६—जेलों में भी सरकार ने निरक्षता-निवारण-केन्द्र खोला और प्रत्येक निरक्षर कैदी को साक्षर बनाने की चेष्टा की गई। सरकार ने चौकीदारों और सिपाहियों को साक्षर बन जाने का आदेश दिया।

७—मिल-मालिकों तथा अन्य प्रकार के बड़े व्यवसायियों को अपने निरक्षर श्रमिकों को साक्षर बनाने के लिए अपने पैसे से निरक्षता-निवारण-केन्द्र चलाने के लिए सरकार ने विवश किया।

सितम्बर, १९३८ से मार्च, १९३९ तक तीन-तीन महीने के दो सत्र निरक्षता-निवारण-केन्द्रों ने चलाये। प्रथम सत्र में ९,५३८ केन्द्रों में २,०८,६२२ वयस्क साक्षर बनाये गए और द्वितीय सत्र में १४,२५९ केन्द्रों में ३,१८,७३७ वयस्कों को साक्षर बनाया गया। सन् १९३८-३९ में बिहार सरकार ने विभिन्न केन्द्रों के ४३/४ लाख वयस्कों को साक्षर घोषित किया। इसके लिए सरकार ने विभिन्न केन्द्रों को कुल ८०,००० रुपये आर्थिक सहायता दी।

सन् १९३९-४० में साक्षरता-आन्दोलन की बिहार में अच्छी प्रगति हुई। इस वर्ष में वयस्कों को साक्षर बनाने के लिए १८,८७८ नये केन्द्र खोले गये और इन केन्द्रों में ११,६८,३२५ वयस्कों की भरती की गई। इनमें ४,१३,४,३२ वयस्कों को साक्षरता का प्रमाण-पत्र दिया गया। इस प्रकार साक्षरता-प्राप्त वयस्कों की संख्या इस बार ४३/४ लाख से कम रही। विभिन्न साक्षरता-केन्द्रों में कर्मचारियों की संख्या २०,५६७ थी। इस संख्या में ५,२६७ कार्यकर्ता प्राइमरी स्कूलों के अध्यापक थे। इस साल साक्षरता-कार्य में कुल दो लाख रुपये खर्च हुए। इस धन के अन्तर्गत १,८०,५१० रुपये सरकार द्वारा अनुदान के रूप में मिले थे। गत वर्ष की तरह इसवर्ष में भी जेलों में निरक्षर कैदियों को साक्षर बनाने का प्रयास किया गया। सेण्ट्रल जेलों

१. Make your Home Literate.

के ५६४ कैदियों ने दो वर्ष के पढ़ाई के बाद लोअर प्राइमरी तथा अपर प्राइमरी की पूरी परीक्षायें पास कीं। गया जेल में ४,२११ कैदी साक्षर बनाये गये। इनमें २,३६३ कैदियों ने पढ़ना-लिखना अच्छी तरह सीख लिया था। इस वर्ष ६,००० चौकीदारों को भी साक्षर बनाया गया।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बिहार का वयस्क-शिक्षा-कार्यक्रम भारत में अन्य प्रान्तों से कहीं अच्छा था। परन्तु १६३६ में विश्व-युद्ध के कारण जब काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दिया तो इस योजना को बिहार में बड़ा धक्का लगा। ९३ वीं धारा के अनुसार बिहार-सरकार के अन्तर्गत यह योजना जीवित तो रही, परन्तु इसमें कोई जोश न रह गया। तथापि सरकारी आँकड़ों के अनुसार प्रति वर्ष विभिन्न केन्द्रों से २ लाख वयस्क साक्षर होते गए। सरकारी कोष से इस योजना के लिए हर साल दो लाख रुपये खर्च होते रहे और महँगी के कारण यह धन ३ लाख वार्षिक कर दिया गया। सन् १६४४ में एक योजना चलाई गई जिसके अनुसार पहले के बनाये गये साक्षर वयस्कों की जाँच होने लगी जिससे यह पता चल सके कि उनकी साक्षरता कायम है अथवा समाप्त हो गई। इस नई योजना के अनुसार असफल होने वाले वयस्कों को फिर साक्षर बनाने का प्रयत्न किया जाता था। परन्तु इस नई योजना से वयस्क-शिक्षा की प्रगति कुछ विशेष आगे न बढ़ सकी।

सन् १६४६ ई० में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल के फिर आजाने से तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री आचार्य बद्रीनाथ वर्मा के नेतृत्व में पुरानी वयस्क-शिक्षा-योजना का अध्ययन किया गया और १६४७ में 'वयस्क-शिक्षा-योजना' नामक एक नया कार्यक्रम चलाया गया। इस योजना के अनुसार एक पंचवर्षीय कार्यक्रम बनाया गया, जिसमें प्रति वर्ष २ लाख वयस्क साक्षर बनाने की बात सोची गई। योजना का उद्देश्य पहले से अधिक विस्तृत बनाया गया। अब वयस्कों को केवल साक्षर ही बनाने का उद्देश्य नहीं रक्खा गया, वरन् उन्हें सफाई, स्वास्थ्य तथा नागरिकता-सम्बन्धी विविध बातों को भी समझाने का ध्येय बनाया गया।

सारांश

केन्द्रीय सरकार शिक्षा में रुचि लेने लगी। केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री समिति, केन्द्रीय शिक्षा-सूचना कार्यालय, विश्वविद्यालय-अनुदान समिति की स्थापना।

प्राथमिक शिक्षा

बेसिक शिक्षा योजना, विद्यामन्दिर योजना (मध्य प्रान्त), वालण्टरी स्कूल (बम्बई)

१९३७-४७ में प्राथमिक शिक्षा की विशेष प्रगति न हो सकी। प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों को विशेष सफलता न मिल सकी। प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी स्थानीय संस्थाओं के अधिकार को सीमित करने की चेष्टा की गई। शिक्षकों के वेतन में वृद्धि अवश्य की गई, परन्तु मँहगी के कारण उनकी आर्थिक स्थिति पहले से अच्छी न थी।

माध्यमिक शिक्षा

प्रगति पहले की अपेक्षा धीमी। आर्थिक कठिनाई के कारण सुयोग्य बच्चे माध्यमिक शिक्षा से वंचित होने लगे। मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा। पाठ्यक्रम में कुछ विविधता लाने का प्रयत्न। व्यावसायिक, टेकनिकल और कृषि-स्कूलों की व्यवस्था। शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान। बहुत-से प्रशिक्षित शिक्षकों का शिक्षा-क्षेत्र को छोड़ना और उनके स्थान पर अप्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति। फलतः शिक्षा-स्तर का गिरना। विद्यार्थियों में अनुशासन की समस्या।

विश्वविद्यालय तथा उच्च शिक्षा

कुछ प्रगति हुई। चार नये विश्वविद्यालयों की स्थापना। पर अब भी नये विश्वविद्यालयों की आवश्यकता थी। विश्वविद्यालयों को सुदृढ़ आधार देने की आवश्यकता।

हरिजनों की शिक्षा

काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना से बड़ा प्रोत्साहन। सभी शिक्षा-संस्थाओं के द्वार हरिजनों के लिए खोल दिये गये। हरिजन छात्रों को विशेष सुविधायें।

स्त्री-शिक्षा

विश्व-युद्ध के कारण फैली हुई महँगी के कारण स्त्रियाँ भी नौकरी करने की ओर झुकीं। फलतः वे शिक्षा के लिए पहले से अधिक उत्सुक हो उठीं। प्रगति अच्छी रही।

मुसलमानों की शिक्षा

शिक्षा में किसी से पीछे नहीं। अतः उनकी शिक्षा की समस्या नहीं।

ऐब्बाँट-उड रिपोर्ट

व्यावसायिक शिक्षा का संगठन उद्योगों और व्यापारों के आधार पर हो। स्तर नीचा न होने पावे। एक ही विद्यालय में सामान्य और व्यावसायिक दोनों

प्रकार की शिक्षा का आयोजन न किया जाय। जूनियर और सीनियर व्यावसायिक स्कूल। कर्मचारियों के लिए अंशकालिक स्कूल खोले जायँ।

व्यावसायिक शिक्षा

सम्पूर्ण देश में १३ लॉ कालेज और इनमें ५,३३२ छात्र थे। २६ मेडिकल कालेज। आयुर्वेद और यूनानी पद्धति को प्रोत्साहन। १४ व्यापारिक कालेज और इनमें ७,७८३ छात्र। २६६ व्यापारिक स्कूल और इनमें १४,७८४ छात्र। कृषि-शिक्षा के लिए १२ नई संस्थायें खुलीं। १७ इंजीनियरिङ्ग कालेज और इनमें २५०० छात्र।

टेकनिकल शिक्षा

बड़ा विस्तार। ४६० संस्थायें ४६,७४० छात्रों को शिक्षा दे रही थीं। भारतीय टेकनिकल शिक्षा-समिति तथा उच्च टेकनॉलॉजिकल शिक्षा-समिति की स्थापना।

वयस्क-शिक्षा

१६३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना से वयस्क-शिक्षा को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस क्षेत्र में मैसूर, बम्बई और बिहार में विशेष कार्य किया गया।

मैसूर—साक्षरता-कक्षायें, वयस्कों के लिए पढ़ने के लिए केन्द्र तथा ग्राम-पंचायत के संरक्षण में पुस्तकालय। नंजनगढ़ के विद्यापीठ में वयस्कों की शिक्षा तथा वयस्क-शिक्षा के कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था।

बम्बई—प्रान्तीय वयस्क-शिक्षा बोर्ड। गर्मी की छुट्टी में स्कूल और कालेजों के छात्रों को बम्बई शहर के वयस्कों को साक्षर बनाने के लिए अभिप्रेरित किया गया। १६३७-४७ की अवधि में कुल १,२१,००० वयस्क साक्षर बने। उत्तर-साक्षरता-कक्षाओं का आयोजन। ग्रामीण क्षत्रों में प्रगति अच्छी नहीं।

बिहार १—सभी लोअर और अपर प्राइमरी तथा मिडिल स्कूलों में निरक्षरता-निवारण-केन्द्र, २—अन्य संस्थाओं में भी ऐसे केन्द्र, ३—प्रत्येक जिले में प्रति वर्ष एक थाने के अन्तर्गत १५ से ४० वर्ष की उम्रवाले पुरुष वयस्कों को साक्षर बनाने का प्रयत्न, ४—'अपना घर साक्षर बनाओ' आन्दोलन, ५—कालेजों तथा उच्च स्कूलों में निरक्षता-निवारण-केन्द्र, ६—जेलों में निरक्षर कैदियों को साक्षर बनाना, ७—मिल-मालिकों तथा बड़े-बड़े व्यावसायियों को अपने निरक्षर श्रमिकों को साक्षर बनाना।

१९३९ में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल के पदत्याग से प्रगति को धक्का। १९४७ की 'वयस्क शिक्षा-योजना' के अनुसार वयस्कों को सफाई, स्वास्थ्य तथा नागरिकता-सम्बन्धी बातें समझाना निश्चित किया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—सन् १९३७-४७ की अवधि में शिक्षा की प्रगति पर एक निबन्ध लिखिये।

२—सन् १९३७-४७ की अवधि में नई परिस्थितियों का माध्यमिक शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३—अधोलिखित पर टिप्पणी लिखिए :—
ऐब्बाँट-उड रिपोर्ट, '१९३७-४७ में व्यावसायिक और टेकनिकल शिक्षा'।

४—सन् १९३७-४७ की अवधि में 'वयस्क-शिक्षा' की उन्नति कैसी थी ?

अध्याय ३६

बेसिक शिक्षा (वर्धा-शिक्षा-योजना)

भारतवासियों के सतत प्रयत्न के परिणामस्वरूप हमारे देश में सन् १९३७ ई० में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गई और प्रान्तीय शासन की बागडोर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के हाथों में आई। इस समय हमारे देश का पथ प्रदर्शन गाँधी जी कर रहे थे। अतः उन्होंने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए देश के अनुकूल एक शिक्षा-योजना को जन्म दिया। गाँधी जी की इस शिक्षा-योजना पर विचार करने के लिए २२, २३ अक्टूबर सन् १९३७ ई० को वर्धा में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें देश के बहुत-से शिक्षा-विशेषज्ञों तथा प्रान्तों के शिक्षा-मंत्रियों ने भाग लिया। गाँधी जी ने वर्धा-शिक्षा-योजना पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला एवं लोगों के पूछे गये प्रश्नों का संतोषजनक रीति से उत्तर दिया। अतः सम्मेलन ने सहर्ष गाँधी जी की 'वर्धा-शिक्षा-योजना' को 'बेसिक शिक्षा-योजना' के रूप में स्वीकार किया और इस योजना के विषय में विशेष छान-बीन करने के लिए डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया। इस समिति ने २ महीने के उपरान्त अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और तत्पश्चात् 'बेसिक शिक्षा-योजना' प्रान्तों में कार्यान्वित कर दी गई।

चित्र नं० ३१—डा० जाकिर हुसेन

किन्तु दुर्भाग्यवश सन् १९३९ ई० में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को अपने स्थान से त्यागपत्र दे देना पड़ा। फलतः बेसिक शिक्षा-प्रणाली को बड़ा आघात पहुँचा और बहुत-से प्रान्तों में तो यह प्रणाली बिल्कुल समाप्त कर दी गई। बिहार के चम्पारन जिले में बेसिक शिक्षा काफी दिनों बाद तक प्रचलित रही।

बेसिक शिक्षा की विशेषतायें

महात्मा गाँधी ने बताया है कि 'शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक के शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक विकास से है। बालक की आन्तरिक शक्ति और सौन्दर्य को विकसित करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। साक्षरता ही शिक्षा नहीं है। साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अंत। वह तो मनुष्य को शिक्षित बनाने का साधन मात्र है। अतः शिक्षा का आरम्भ साक्षरता से नहीं, वरन् कार्य से होना चाहिए। अतः गाँधी जी ने नवीन शिक्षा-योजना में उपर्युक्त भावों का समावेश किया और इस शिक्षा-प्रणाली का नाम 'बेसिक शिक्षा-योजना' रखा गया। इस नवीन शिक्षा का नाम बेसिक शिक्षा निम्नलिखित कारणों से रखा गया :—

१—'बेसिक शिक्षा' भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का आधार है। प्रत्येक बालक इसे समान निष्ठा के साथ पढ़ेगा।

२—'बेसिक शिक्षा' नामकरण इसलिए किया गया, क्योंकि इस शिक्षा का माध्यम कोई न कोई ऐसी बेसिक (बुनियादी) हस्तकला होगी जो कि भारतीय जीवन का आधार हो। नीचे बेसिक शिक्षा की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

१—शिक्षा का माध्यम बेसिक क्राफ्ट

शिक्षण-कला में माध्यम का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना उपयुक्त माध्यम के शिक्षा न तो बालकों की समझ में आती है और न वह ज्ञान चिरस्थायी ही होता है। इसलिए बेसिक शिक्षा किसी न किसी हस्तकला द्वारा दी जाती है। इस प्रकार बालकों की शारीरिक एवं बौद्धिक शिक्षा में समन्वय हो जाता है। छात्र हाथ से कार्य करते हैं एवं मस्तिष्क से सोचते हैं। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा का सम्बन्ध छात्र के भावी जीवन से होता है। बालकों के अन्दर रचनात्मक एवं उत्पादक शक्ति का विकास होता है। डा० जाकिर हुसेन समिति ने बेसिक शिक्षा के महत्त्व को दर्शाते हुए अपने प्रतिवेदन में कहा है कि इस शिक्षा-प्रणाली से बालकों को मनोवैज्ञानिक लाभ होगा। प्राचीन प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का अन्त हो जायगा, जिससे मुक्ति पाने के लिए हमारी आत्मा विद्रोह किया करती है। इसके द्वारा बालक की शारीरिक, बौद्धिक एवं कार्य-पटुता की शक्तियों का विकास होगा।

स शिक्षा के द्वारा बालक की साक्षरता के अतिरिक्त उसके व्यक्तित्व का विकास होगा। समिति ने प्रतिवेदन में यह भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है कि इस शिक्षा-प्रणाली से सामाजिक भेद-भाव दूर होंगे और ऊँच-नीच की विषमता की खाँई

पट जायगी। इसके द्वारा समाज में शारीरिक एवं मानसिक कार्यकर्त्ताओं को समान महत्त्व प्रदान किया जायगा। समान महत्त्व पाने से राष्ट्र में एकता की भावना में अभिवृद्धि होगी। सभी व्यवसाय के लोग समान रूप से राष्ट्रोन्नति का प्रयास करेंगे। इस शिक्षा-प्रणाली द्वारा ग्रामीणों एवं नागरिकों में भाई-चारे की भावना उत्पन्न होगी।

जीवन की आवश्यकताओं में आधुनिक युग में आर्थिक सुविधाओं की प्रधानता है। अतः इस शिक्षा द्वारा बालक जीविकोपार्जन के लिए स्वावलम्बी बनाये जाते हैं तथा ज्ञान एवं जीवन में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। परन्तु जैसा कि प्रतिवेदन में स्पष्ट कर दिया गया है, 'इस नवीन शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य यह कदापि नहीं है कि बालक ऐसे कारीगर बनाये जायँ, जो यन्त्रवत् कार्य करते रहें, अपितु इसका उद्देश्य तो यह है कि क्राफ्ट में निहित साधन शिक्षण-कार्य में व्यवहृत किये जायँ।' अतः शिक्षण-माध्यम के क्राफ्ट में दो गुणों की विशेष रूप से आवश्यकता है :—१—क्राफ्ट का उत्पादन-कार्य ऐसा होना चाहिए जिसका सम्बन्ध शिक्षा-विज्ञान से हो। २—इस क्राफ्ट का सम्बन्ध छात्र के भावी जीवन से हो तथा छात्रों के अन्दर अध्ययन की रुचि उत्पन्न करने का गुण हो।

क्राफ्ट के अन्दर ऐसा गुण होना चाहिए कि उसकी सहायता से विविध विषयों का अध्यापन सुचारु रूप से हो सके। गाँधी जी ने स्वयं कहा है कि प्रत्येक हस्त-कार्य आज-कल की भाँति यन्त्रवत् नहीं, वरन् वैज्ञानिक विधि से सिखाया जायगा जिससे बालक प्रत्येक पद्धति के कार्य-कारण सम्बन्ध को भली-भाँति समझ जायें।

२—नागरिकता के गुणों का विकास

आज का विद्यार्थी कल का नागरिक है। अतः शिक्षा के अन्दर आदर्श नागरिकता की भावना भी आवश्यक है। विद्यार्थी इस बात का अनुभव करें कि राष्ट्र का भावी भार उन्हीं के कंधों पर आयेगा। अतः विद्यार्थी-जीवन में अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को भली-भाँति समझ लें। गाँधी जी ने इस बात को भली-भाँति समझ लिया था कि 'वर्तमान शिक्षा-प्रणाली' ऐसे युवकों को उत्पन्न कर रही है, जो अपनी जीविका के लिए दूसरों पर निर्भर होंगे। अतः यह आवश्यक है कि ऐसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया जाय जिससे विद्यार्थी स्वावलम्बी बन सकें। बेसिक शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्त्ति पर्याप्त मात्रा में करती है। विद्यार्थी सामूहिक रूप से विद्यालय में हाथों से कार्य करते हैं। इस प्रकार उनकी शारीरिक एवं बौद्धिक शक्तियों का विकास होता है। साथ-साथ काम करने से विद्यार्थियों में

पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। उनमें जाति-पाँति तथा ऊँच-नीच की भावना नहीं रह जाती। सभी बालक कक्षा में समान रूप से सामूहिक कार्य करते हैं। उनमें विद्यालय के अन्दर समाज-सेवा की भी भावना उत्पन्न होती है। अतः आगे चलकर वे सामाजिक जीवन के पथ-प्रदर्शक होते हैं। बालक एक साथ काम करने से अपने को दूसरों से कार्य-कुशल बनाने की चेष्टा करते हैं। अतः सभी बालकों की शिक्षा में रुचि बढ़ती है और वे अपने उत्तम कार्य एवं आचरण द्वारा ऊँचे उठने का प्रयत्न करते हैं। सभी बालक सामूहिक रूप से कार्य करते हुए इस बात का अनुभव करते हैं। अतः बेसिक शिक्षा द्वारा बालकों में नागरिकता की भावना का समुचित विकास होता है।

३—आत्म-निर्भरता की भावना

यह बेसिक शिक्षा की वह प्रमुख विशेषता है जिसके सम्बन्ध में प्रारम्भ में अनेक प्रकार के निराधार भ्रम उत्पन्न किये गये। बेसिक शिक्षा के इस पक्ष की तीव्र आलोचना करते हुए प्रोफेसर के० टी० शाह ने कहा था कि शिक्षा में आत्म-निर्भरता की भावना लाना छात्रों को 'दास' बनाना है। इस प्रकार विद्यार्थियों का शोषण होगा और वे वास्तविक शिक्षा से वंचित रह जायँगे। विद्यालय सामान के उत्पादन की 'फेक्टरी' बन जायँगे और शिक्षक अधिक से अधिक माल उत्पन्न करने की चेष्टा करेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों को यह भी भ्रम हुआ है कि विद्यार्थियों द्वारा बनाया हुआ सामान काम में लाने के लिए उपयुक्त न होगा और निरर्थक व्यय बढ़ जायगा। फिर जब बच्चों को राज्य की ओर से स्वतंत्र रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है तो उनके ऊपर आत्म-निर्भरता का बोझ क्यों लादा जाय? इस प्रकार के बहुत से भ्रम उत्पन्न किये गये।

किन्तु गाँधी जी ने 'हरिजन' समाचार-पत्र द्वारा समय-समय पर सभी लोगों के भ्रमों का निराकरण किया। जहाँ तक शिक्षा में आत्म-निर्भरता का प्रश्न है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षा-कार्य छोड़कर छात्रों को आत्म-निर्भर बनाया जाय। वरन् इसका उद्देश्य यह है कि इस शिक्षा के द्वारा बालकों का शारीरिक एवं बौद्धिक विकास हो तथा वे भावी जीवन के लिए कोई ऐसी शिक्षा प्राप्त करलें जिससे वे अपनी जीविका का उपार्जन कर स्वावलम्बी बन सकें। इसके साथ इस योजना के प्रारम्भ के समय में धन का बड़ा अभाव था। अतः गाँधी जी ने सोचा कि यदि छात्र कुछ पैदा कर सकें तो यह शिक्षा-प्रणाली सरलता से प्रचलित की जा सकती है। जहाँ तक सामानों के बेचने एवं बाजार की स्पर्द्धा का प्रश्न है यह धीरे-धीरे हल हो जायगा। बालकों से ऐसी वस्तुयें न तैयार कराई जायँ जो बाजारों में

प्रचलित हों। गाँधी जी न सभी आलोचनाओं का उत्तर देते हुए बताया कि बालक को ७ वर्ष के अन्दर किसी ऐसे क्राफ्ट की जानकारी हो सकती है जिससे वह स्वावलम्बी बन कर बेकारी का शिकार होने से बच सकता है। इसके अतिरिक्त डा० जाकिर हुसेन समिति ने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट कर दिया था कि यदि इस प्रकार की शिक्षा से कुछ आर्थिक लाभ न भी हो तब भी राष्ट्र-कल्याण के लिए इसे अपनाना आवश्यक है।

गाँधी जी ने इस बात पर जोर दिया कि 'शिक्षा का आत्म-निर्भर होना ही शिक्षा की सच्ची कसौटी है।' जहाँ तक बेसिक स्कूलों को सामान उत्पादन करने वाली 'फैक्टरी' कहने का प्रश्न है, वहाँ गाँधी जी ने बताया कि ऐसा कहने वालों को वास्तविक शिक्षा का ज्ञान नहीं है। क्योंकि फैक्टरी का उद्देश्य शोषण होता है। वहाँ शिक्षा के तत्वों पर किसी प्रकार का ध्यान नहीं दिया जाता। किन्तु बेसिक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य यह है कि बालकों को विभिन्न क्राफ्टों के सहयोग से उचित शिक्षा प्रदान की जाय। अब यदि इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली से कुछ आर्थिक लाभ भी हो जाय, तब तो कहना ही क्या है? स्वर्ण में सुगन्ध आ जायगी। हस्तकलायें शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त की जायेंगी, न कि शिक्षा का उद्देश्य बनेंगी।

इसके अतिरिक्त डा० जाकिर हुसेन समिति ने प्रतिवेदन में यह भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है कि शिक्षा-क्षेत्र में शिक्षकों को चाहिए कि वे शिक्षा के आर्थिक पहलू पर विशेष ध्यान न देकर बालकों में सांस्कृतिक एवं चारित्रिक शिक्षा की भावनाओं का विकास करें। शिक्षा का महत्व ज्ञानोपार्जन समझा जाय न कि अर्थोपार्जन।

४—बालक शिक्षा का केन्द्र

बेसिक शिक्षा में यद्यपि हस्तकला को पूर्ण महत्त्व प्रदान किया है, तथापि शिक्षा का केन्द्र बालक ही माना गया है। बालक के अन्दर हस्तकला के द्वारा क्रियाशीलता उत्पन्न की जाती है। यदि बालक में काम करने की भावना न हो तो क्राफ्ट के द्वारा बालक की शिक्षा असम्भव है। अतः बालक की रुचि के अनुकूल क्राफ्ट ही बालक के गुणों के विकास में उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। बेसिक शिक्षा प्रणाली द्वारा बालक को एक 'शैक्षिक उपभोक्ता' समझा गया है। अतः उसकी आवश्यकताओं और रुचि की पूर्ति करना अध्यापक का कर्तव्य हो जाता है। आधुनिक युग में प्रायः सभी देशों के विद्वान क्रियात्मक शिक्षा के द्वारा बालक के व्यक्तित्व के विकास का प्रयत्न कर रहे हैं। १९ वीं शताब्दी के पश्चात् शिक्षा-शास्त्री रूसो, पेस्तालात्सी, फ्रोबेल एवं हरबार्ट इत्यादि बालक के 'वर्तमान' विकास में विश्वास

रखते थे और शिक्षा में क्रिया शीलता[1] को उत्तम साधन समझते थे। आधुनिक युग के प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षा-शास्त्री डीवी का मत है कि बालक का विद्यार्थी समाज में उतना ही सम्मान होना चाहिए जितना कि एक प्रौढ़ व्यक्ति का समाज में होता है।

बेसिक शिक्षा-प्रणाली द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास किया जाता है। कुछ लोगों का भ्रम है कि बेसिक शिक्षा 'बालक-केन्द्रित' न होकर हस्तकला-केन्द्रित होती है। किन्तु गाँधी जी तथा डा० जाकिर हुसेन समिति ने इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया है कि इस शिक्षा-प्रणाली में हस्तकला को इसलिए अपनाया गया है कि इसके द्वारा बालक का विकास सहज रूप से हो सकता है। शिक्षा का उद्देश्य है बालक के व्यक्तित्व का विकास करना और उसमें सहायता ली जाती है हस्तकला की।

ब्रिटिश भारत में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली केवल परीक्षा के लिए है। उसमें पाठ्य-पुस्तकों एवं परीक्षा को महत्त्व दिया जाता है। अतः इस प्रकार की शिक्षा का प्रभाव विद्यार्थी के भावी जीवन पर नहीं पड़ता। विद्यार्थी तभी तक पढ़ी हुई वस्तुओं को अपने मस्तिष्क में रखते हैं, जब तक उनकी परीक्षा समाप्त नहीं हो जाती। परीक्षा हुई नहीं कि उनके अर्जित ज्ञान का अधिकांश विस्मृत हुआ। इस प्रकार छात्रों की विविध रुचियों एवं उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता। किन्तु बेसिक शिक्षा-प्रणाली उपर्युक्त दोषों से मुक्त है। इसमें शिक्षा का केन्द्र बालक को मानकर उसकी शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों का विकास किया जाता है।

५—सुसम्बद्ध एवं पूर्ण ज्ञान

प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के अनुसार बालकों को विभिन्न प्रकार के विषय अलग-अलग पढ़ाये जाते हैं। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि एक विषय की जानकारी रखने वाला अध्यापक दूसरे विषयों से अपरिचित रहता है। इस प्रकार छात्रों के ऊपर अनेक ऐसे विषयों के अध्ययन का भार लादा जाता है जिनके अध्ययन में उनकी रुचि नहीं होती और न उन्हें ऐसे विषयों का क्रमबद्ध ज्ञान ही हो पाता है।

किन्तु बेसिक शिक्षा-पद्धति में न तो बालक को इतना लचीला समझा जाता है कि उसे जिस तरफ चाहा जाय, मोड़ दिया जाय और न वह ऐसा रिक्त पात्र

---

१. Activity.

ही समझा जाता है कि उसमें जो चाहा जाय वह सामग्री रख दी जाय। यहाँ बालकों को उपयोगी हस्तकला के द्वारा सभी विषयों का ज्ञान एक ही साथ कराया जाता है। उदाहरण के लिए, सूत कातना सिखाते समय बालकों को कपास की खेती के सम्बन्ध में कृषि का ज्ञान, खेत की मिट्टी व पानी आदि के सम्बन्ध में रसायन-शास्त्र का ज्ञान, सूत के उद्योग-धंधों के व्यापार के सम्बन्ध में, अंग्रेजों का भारत में आना से इतिहास तथा सूत का पोला आदि गिनने से गणित इत्यादि विषयों का सुसम्बद्ध ज्ञान दिया जाता है।

६—शिक्षक एवं बालकों को कार्य करने की स्वाधीनता

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में एक निश्चित पाठ्य-क्रम होता है और उसे परीक्षा के समय तक समाप्त करना आवश्यक होता है। इस अवस्था में बालक यन्त्रवत् पाठ्य-क्रम को समाप्त करने में व्यवहृत किये जाते हैं। न चाहते हुए भी बालकों को पढ़ना पड़ता है और अध्यापकों को पढ़ाना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि न तो इससे छात्र लाभान्वित हो पाते हैं और न अध्यापक ही सन्तुष्ट रहता है।

बेसिक शिक्षा-प्रणाली के द्वारा छात्रों एवं अध्यापकों दोनों को रुचि के अनुसार काम करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। यहाँ छात्रों के लिए कोई ऐसा जटिल पाठ्यक्रम नहीं होता जिसको पूर्ण करने के लिए अध्यापकों एवं छात्रों को विशेष बंधन हो। पाठ्यक्रम में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। विद्यार्थी जो कुछ भी करते हैं उसमें उन्हें अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने का अवसर दिया जाता है। इससे वे जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह चिरस्थायी होता है। अध्यापकों को भी इस शिक्षा-प्रणाली के द्वारा कार्य सम्पन्न करने की अधिक स्वतंत्रता दी गई है। अध्यापकों को अपना पाठ्यक्रम (कोर्स) खींचने और परीक्षा-फल का प्रतिशत पूरा करने का डर नहीं होता। अतः वे विद्यार्थी की वास्तविक रुचि को समझ कर उसके अनुकूल विषयों का अध्यापन करते हैं। इस शिक्षा-प्रणाली में हस्तकला को विशेष महत्त्व दिया गया है। छात्र जब पढ़ने से ऊब जाते हैं तो उन्हें दस्तकारी, बागवानी तथा समाज-सेवा इत्यादि का काम सिखाया जाता है। यहाँ विद्यार्थियों में अपने काम को दूसरों से बढ़ाकर करने की भावना उत्पन्न होती है। अतः वे स्वयं ही अपने काम दत्तचित होकर करते हैं। अध्यापकों को उनके काम के पीछे पड़ने की आवश्यकता नहीं होती है। वस्तुतः शिक्षा का कार्य जितना ही मन लगाकर किया जायगा उसका उतना ही अच्छा परिणाम होगा और दत्तचित होने की भावना केवल अपने स्वतंत्र विचार से ही उत्पन्न होती है।

पाठ्यक्रम

बेसिक शिक्षा-प्रणाली का पाठ्यक्रम ७ से १४ वर्ष तक के बालकों तथा बालिकाओं के लिए निर्धारित किया गया है। ५ वीं कक्षा तक सह-शिक्षा की व्यवस्था की गई है, किन्तु इसके बाद बालकों तथा बालिकाओं के विद्यालय अलग-अलग होंगे। बालक और बालिकाओं के लिए पाठ्यक्रम प्रायः समान हैं, किन्तु बालिकाओं के लिए सामान्य विज्ञान के स्थान पर गृह-विज्ञान के अध्यापन की व्यवस्था की गई है।

बेसिक शिक्षा में निम्नलिखित विषय होते हैं :—

१—बेसिक क्राफ्ट :—

(क) कताई-बुनाई

(ख) लकड़ी का काम

(ग) कृषि

(घ) फल तथा वनस्पति की उद्यान-कला

(ङ) चमड़े का काम

(च) मिट्टी का काम

(छ) मछली पालना

(ज) बालिकाओं के लिए गृह-विज्ञान

(झ) भौगोलिक एवं स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार कोई अन्य हस्त-कला

२—मातृभाषा

३—गणित

४—सामाजिक विषय:—इतिहास, भूगोल तथा नागरिक शास्त्र।

५—सामान्य विज्ञान:—प्रकृति-निरीक्षण, वनस्पति-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, भौतिक शास्त्र, स्वास्थ्य-रक्षा तथा रसायन-शास्त्र

६—कला:—ड्राइंग तथा संगीत आदि

७—खेल-कूद व व्यायाम

८—हिन्दी (जहाँ की मातृभाषा हिन्दी नहीं है)

बेसिक शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत अंग्रेजी को बिल्कुल स्थान नहीं दिया गया है। अंग्रेजी के स्थान पर समस्त देश में हिन्दी भाषा देवनागरी लिपि में पढ़ाई

जायगी। विभिन्न प्रान्तों की प्रमुख भाषा के रूप में वहाँ की प्रादेशिक भाषा होगी।

गाँधी जी के कथनानुसार बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम अंग्रेजी को छोड़कर हाई स्कूल के समकक्ष होगा। बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में गाँधी जी ने धार्मिक शिक्षा को बिल्कुल स्थान नहीं दिया है। उनका विचार था कि धार्मिक शिक्षा से विभिन्न धर्मावलम्बियों में विषमता फैलेगी। छात्रों में इस प्रकार की विषमता ठीक नहीं। गाँधी जी स्वावलम्बन को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। वे विभिन्न धर्मों के तत्व की जानकारी बालकों को करने के पक्ष में थे, किन्तु इसके लिए वे अध्यापक के दैनिक चरित्र को ही पर्याप्त समझते थे।

अध्यापकों का प्रशिक्षण

बेसिक शिक्षा-प्रणाली को सफल रूप में कार्यान्वित करने के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम दो प्रकार का होता है :

१—**अल्पकालीन प्रशिक्षण**—इसमें छात्राध्यापकों को एक वर्ष की ट्रेनिङ्ग दी जाती है।

२—**दीर्घकालीन प्रशिक्षण**—इसमें छात्राध्यापकों को ३ वर्ष की ट्रेनिङ्ग दी जाती है।

प्रशिक्षण-विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए उम्मीदवार को कम से कम हाई स्कूल पास होना चाहिए अथवा वर्नाक्यूलर फाइनल मिडिल उत्तीर्ण होने के पश्चात् दो वर्ष के अध्यापन का अनुभव हो। एक वर्ष का पाठ्यक्रम इस योजना को शीघ्राति-शीघ्र प्रचलित करने के लिए रखा गया है। प्रशिक्षण-काल में छात्राध्यापकों को अनिवार्य रूप से प्रशिक्षण विद्यालय के छात्रावास में रहना पड़ता है।

शिक्षण-विधि

बालकों को शिक्षा प्रदान करने में शिक्षण-विधि का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अत: बेसिक शिक्षा में ऐसी शिक्षण-विधि व्यवहृत की जाती है जिससे छात्रों को विभिन्न विषयों का ज्ञान एक साथ ही हो जाता है। इससे छात्रों को थोड़े ही समय में ज्ञान प्राप्त होता है तथा उनके अर्जित ज्ञान की पुष्टि होती है।

बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ७ क्रमिक कक्षाओं में विभक्त किया गया है। प्रथम कक्षा में बालक को भाषा का मौखिक ज्ञान कराया जाता है। इसके पश्चात् बालक पढ़ता एवं फिर लिखना सीखते हैं और लिखना सीखते समय कोई न कोई

बुनियादी क्राफ्ट भी सीखते हैं । इसी भाँति ज्यों-ज्यों विद्यार्थी आगे की कक्षाओं में जाते हैं, वे बुनियादी क्राफ्ट की सहायता से गणित, सामाजिक विषय तथा कला इत्यादि की शिक्षा प्राप्त करते हैं । इस प्रकार ७ वर्ष की शिक्षा के उपरान्त विद्यार्थी उस क्राफ्ट की पूर्ण जानकारी करके उसे अपनी जीविकोपार्जन का साधन बना सकते हैं ।

अधिकांशतः बेसिक हस्तकला के रूप में कताई तथा बुनाई का प्रयोग किया जाता है, परन्तु गाँधी जी के मतानुसार कोई अन्य उद्योग भी इसके लिए प्रयोग किया जा सकता है । विद्यार्थी हाथ से कार्य करते हैं । किन्तु उस समय वे मस्तिष्क से सोचते एवं विभिन्न प्रकार की कल्पना करते हैं । पढ़ाते समय विद्यार्थी केवल मूक श्रोता की भाँति नहीं बैठते, अपितु वे चैतन्य होकर सोचते एवं उद्योग करते हैं । एक साथ सामूहिक रूप से कार्य करते हुए छात्र गौरवान्वित होते हैं, इससे राष्ट्रीय एकता भी बढ़ती है । विद्यार्थियों के अन्दर कौतूहल एवं जिज्ञासा बढ़ती है । वे अनुसंधानों की ओर ध्यान देते एवं सफल होते हैं । छात्र बहुत-से काम एक-दो बार करने के बाद स्वयं सीख जाते हैं; जैसे—सूत कातने या रस्सी बटने में पहले कठिनाई पड़ती है, किन्तु थोड़ा प्रयत्न करने पर बालक इसे स्वयं सीख जाते हैं । जिन विषयों को छात्र कोरा पाठ पढ़ाने से महीने तक नहीं सीख पाते, उन्हें बेसिक शिक्षा द्वारा हाथ से कार्य करते हुए बालक खेल-कूद में सीख लेते हैं । हाँ, इस शिक्षा-प्रणाली में सच्चे एवं योग्य निरीक्षकों एवं पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता है जो छात्रों के कार्य का भली-भाँति निरीक्षण करें एवं उन्हें आवश्यक निर्देश प्रदान करें ।

बेसिक शिक्षा में परीक्षा-पद्धति भी परिवर्तित कर दी गई है । इस परीक्षा-पद्धति से बालक के वास्तविक ज्ञान का मान होता है एवं परीक्षोपरान्त वह अपने जीविकोपार्जन के लिए स्वावलम्बी बन जाता है ।

बेसिक शिक्षा-योजना की प्रगति

प्रारम्भ में बेसिक शिक्षा-योजना में आत्म-निर्भरता के उद्देश्य की कुछ लोगों ने कटु आलोचना की । परन्तु गाँधी जी ने 'हरिजन' समाचार-पत्र के द्वारा समय-समय पर शिक्षा में आत्म-निर्भरता के उद्देश्य का भली-भाँति स्पष्टीकरण किया और लोगों का भ्रम दूर हो गया । इसके अतिरिक्त डा० जाकिर हुसेन समिति ने अपनी रिपोर्ट में बेसिक शिक्षा में आत्म-निर्भरता के पक्ष को पर्याप्त सरल बनाकर उसे ज्ञानोपार्जन का एक साधन मात्र निर्धारित किया एवं पाठ्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के क्राफ्ट सम्मिलित कर दिये गये । तत्पश्चात् इस योजना

का कार्यान्वयन समस्त भारत में हुआ। हरिपुरा कांग्रेस-अधिवेशन में बेसिक शिक्षा-योजना स्वीकृत हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने भी इस योजना के प्रचलन में विशेष योगदान दिया।

सन् १९३८ ई० में बेसिक शिक्षा-योजना को कई प्रान्तीय सरकारों का आश्रय प्राप्त हुआ एवं उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, बम्बई तथा बिहार-उड़ीसा ने इस योजना के विस्तार करने में विशेष कार्य किया। मध्य भारत सरकार ने इस योजना के विकास के लिए वर्धा नार्मल स्कूल को विद्यामंदिर प्रशिक्षण विद्यालय के रूप में परिवर्तित कर दिया एवं अन्य ९८ विद्यामंदिर विद्यालयों की स्थापना की गई। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने इस योजना के विकास के लिए एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की एवं अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए एक 'बेसिक प्रशिक्षण विद्यालय खोलने की व्यवस्था की गई। सबसे अधिक प्रगति इस शिक्षा-योजना की बिहार ने की। परन्तु स्वायत शासन के समाप्त होने एवं राजनीतिक क्रान्तियों के आरम्भ हो जाने से यह शिक्षा-योजना प्रायः सभी राज्यों में कुछ दिनों के लिए समाप्त-प्राय हो गई।

'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' ने १९३८ एवं १९४० ई० में क्रमशः दो शिक्षा-समितियों की भी नियुक्ति बम्बई के मुख्य मंत्री बी० जी० खेर के तत्वावधान में बेसिक शिक्षा के पुनर्संगठनार्थ की। खेर समिति ने बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किया :—

१—बेसिक शिक्षा-योजना का श्रीगणेश ग्रामीण क्षेत्रों से किया जाय।

२—बेसिक स्कूलों में ६ से १४ वर्ष तक की आयु वाले बच्चों को शिक्षा दी जाय। परन्तु विशेष अवस्था में ५ वर्ष की आयु भी प्रवेश पाने के लिए ठीक समझी जाय।

३—बेसिक स्कूलों से अन्य उच्चतर विद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए ५ वीं कक्षा अथवा अन्तिम कक्षा उत्तीर्ण करना आवश्यक समझा जाय।

४—शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जाय। अन्य प्रकार का माध्यम कदापि न हो।

५—सम्पूर्ण भारत में प्रचलित करने के लिए हिन्दुस्तानी भाषा की व्यवस्था की जाय। इसमें हिन्दी एवं उर्दू दोनों लिपियों को सम्मिलित किया जाय तथा छात्रों को दोनों में से किसी एक लिपि को सीखने की सुविधा दी जाय। शिक्षकों के लिए दोनों लिपियों की जानकारी आवश्यक है।

६—बेसिक शिक्षण-पद्धति में बाह्य परीक्षा-पद्धति की अपेक्षा नहीं है। बेसिक शिक्षा का पाठ्यक्रम समाप्त करने के उपरान्त बालकों को आन्तरिक परीक्षण के आधार पर विद्यालय द्वारा एक स्कूल लीविंग प्रमाण-पत्र प्रदान करने की प्रथा प्रचलित की जाय।[१]

खेर समिति ने अपना प्रतिवेदन 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' के समक्ष उपस्थित किया। बोर्ड ने खेर समिति की अधिकतर सिफारिशों को स्वीकार कर लिया एवं सन् १९४४ ई० में 'सार्जेन्ट शिक्षा-योजना' में उन्हें कार्यान्वित करने का आदेश दिया।

इधर सन् १९४५ ई० में दूसरी बार वर्धा में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' ने बेसिक शिक्षा-योजना के महत्त्व एवं प्रगति पर विचार किया एवं निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया :—

१—'बेसिक शिक्षा' का नाम 'नई तालीम' रखा जाय।

२—'नई तालीम' को चार प्रकार के स्कूलों में विभाजित किया जाय :— १—पूर्व-बेसिक स्कूल, २—बेसिक स्कूल, ३—उत्तर-बेसिक स्कूल, ४—प्रौढ़-शिक्षा स्कूल। पूर्व-बेसिक स्कूलों की व्यवस्था ३ से ६ वर्ष तक के बच्चों के लिए की जाय तथा उत्तर-बेसिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में उच्च शिक्षा भी सम्मिलित कर दी जाय। इस निर्णय के पूर्व केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने बेसिक शिक्षा-योजना के विकास पर विशेष ध्यान दिया था एवं 'राष्ट्रीय योजना समिति'[२] ने भी अपने प्रतिवेदन में बेसिक शिक्षा-योजना का स्वागत किया। इसके पश्चात् सन् १९४७ ई० में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' ने बेसिक शिक्षा का एक विस्तृत पाठ्यक्रम बनाया जो प्राय: विभिन्न प्रान्तों की शिक्षा में कार्यान्वित कर दिया गया। इस शिक्षा-योजना में 'उत्तर-बेसिक' अर्थात् माध्यमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान न दिया जा सका। 'उत्तर बेसिक स्कूलों' के पाठ्यक्रम में मुख्य क्राफ्ट कृषि, डेरी, शिल्पकला, धातु-कला एवं काष्ठ-कला इत्यादि निर्धारित किये गये।

माध्यमिक विद्यालयों के हस्तकला द्वारा ग्रामीण जनता का बहुत कल्याण हो सकता है। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर 'विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' ने भारतीय माध्यमिक विद्यालयों को स्कैण्डीनेविया के 'पीपुल्स कालेजों' के अनुसार पुनर्संगठित करने की सिफारिश की है।

---

१. Report of the Committee appointed by C. A. B. E. 1938-45, p. 9-10.

२. National Planning Committee.

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् तो प्रायः समस्त भारत में बेसिक शिक्षा का प्रसार बड़े वेग से हो रहा है। इस शिक्षा योजना में दो बातें बहुत महत्त्व-पूर्ण हैं।

१—सम्पूर्ण भारत में अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करना; तथा

२—सम्पूर्ण प्रारम्भिक विद्यालयों को बेसिक प्राथमिक स्कूलों में परिणित करना।

हमारे नवीन संविधान में इस बात की सम्भावना प्रकट की गई है कि सन् १९६० ई० तक सभी राज्यों में ६ से १४ वर्ष तक के बालक तथा बालिकाओं के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था कर दी जायगी। इस दिशा में प्रायः सभी राज्य बढ़ रहे हैं। उत्तर प्रदेशीय सरकार ने सितम्बर सन् १९५७ ई० से ६ वीं कक्षा तक शिक्षा को निंःशुल्क कर दिया है। स्मरणीय है कि राज्य में केवल छठवीं कक्षा को निःशुल्क करने में सरकार का ७७ लाख रुपये का वार्षिक व्यय बढ़ गया है। इसी भाँति समस्त भारत में प्राथमिक शिक्षा का विकास बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। जहाँ सन् १९४७ ई० के पूर्व उत्तर-पूर्वी सीमा को आदिम जातियों की शिक्षा के लिए एक भी स्कूल की व्यवस्था न थी, वहाँ केवल सन् १९५३ ई० तक १९०० स्कूल स्थापित हो चुके थे। अब तो उन विद्यालयों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हो चुकी है।

प्रारम्भिक पाठशालाओं को बेसिक पा शालाओं में परिणित करने का काम भी हो रहा है। परन्तु निम्नलिखित कठिनाइयों के कारण उसमें संतोषजनक प्रगति अभी तक नहीं हो पाई है :—

१—बेसिक शिक्षा के लिए पर्याप्त प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी है।

२—पाठशालाओं में उपयुक्त भवन एवं पाठन-सामग्री का अभाव है।

३—बेसिक शिक्षा-प्रणाली बालकों के लिए सुगम एवं आकर्षक होते हुए भी अध्यापकों के लिए दुरूह है। आधुनिक युग के अध्यापकों की दयनीय स्थिति के कारण उन्हें दत्तचित होकर कार्य करने का अवसर नहीं मिलता। अतः इस योजना की सफलता के लिए योग्य, प्रशिक्षित एवं सन्तुष्ट अध्यापकों की आवश्यकता है।

४—भारत में कुछ भागों के लोगों ने बेसिक शिक्षा-योजना का समर्थन न करके उसका विरोध किया है।

प्रारम्भ में बेसिक शिक्षा के माध्यम के रूप में कताई-बुनाई अथवा कृषि-कार्य को अपनाया गया था। किन्तु ये माध्यम सभी स्थानों के लिए अनुकूल न

थे। अतः अब विभिन्न स्थानीय सुविधाओं के अनुसार बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में और भी बहुत-से उद्योग सम्मिलित कर दिये गये हैं। अतः इस शिक्षा-योजना में संतोषजनक प्रगति की आशा है। स्वाधीनता के पश्चात् भारत में आर्थिक एवं राजनीतिक संकटों के होते हुए भी हमारी सरकार ने शिक्षा की प्रगति का सदैव ध्यान रखा है। इस प्रगति का अनुमान हम प्रतिवर्ष के शिक्षा सम्बन्धी प्रकाशित आँकड़ों से जान सकते हैं। ३१ मार्च, १९४८ ई० में भारत के (क) वर्ग के राज्यों में प्राथमिक स्कूलों की संख्या १,४०,१२१ थी तथा उनमें १,१०,००,९६४ विद्यार्थी थे तथा ३१ मार्च, सन् १९५३ ई० में इन स्कूलों की संख्या १,७७,२८५ तथा विद्यार्थियों की संख्या १,५६,६५,०५६ हो गई। सन् १९५४ ई० में भारत में २,३९,११८ प्राथमिक स्कूल थे और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या २,१० लाख थी। इस संख्या में बालिकाओं की संख्या ६३ लाख थी। सन् १९४१ ई० में भारत में केवल १८·३ प्रतिशत जनता साक्षर थी। किन्तु यह प्रतिशत बढ़कर सन् १९५१ ई० में २० प्रतिशत हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिवर्ष हमारे देश में साक्षरता का प्रसार हो रहा है। इसी प्रकार प्रतिवर्ष प्राथमिक शिक्षा पर व्यय भी बढ़ता जा रहा है। सन् १९५३ ई० में भारत में प्राथमिक शिक्षा का व्यय ४३ करोड़ ७० लाख रुपये के लगभग था और सन् १९५४ ई० में यह व्यय बढ़कर ४७·३६ करोड़ रुपया हो गया।

बेसिक शिक्षा-प्रणाली में योग्य एवं प्रशिक्षित अध्यापकों की आवश्यकता का उल्लेख किया जा चुका है। अतः इस दिशा में भी निम्नलिखित संस्थायें सफल प्रगति कर रही हैं :— नई तालीम भवन, सेवाग्राम; जामिया मिलिया इस्लामिया, टीचर्स ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट, दिल्ली; श्री रामकृष्ण मिशन विद्यालय टीचर्स बेसिक सेंटर, कोयम्बटूर; ग्रेजुएट बेसिक ट्रेनिंग सेन्टर, ढाबका, बम्बई; विद्या भवन, शान्ति निकेतन; विद्या-भवन, उदयपुर एवं सर्वोदय महाविद्यालय तर्की, बिहार।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त राज्य सरकारों द्वारा बेसिक शिक्षा के प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था की गई है। आसाम सरकार ने अब बेसिक शिक्षा की प्रगति के लिए अपने 'गुरु प्रशिक्षण-केन्द्रों' में बेसिक शिक्षा-प्रशिक्षण आरम्भ कर दिया है और वे विद्यालय अब बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र कहे जाने लगे हैं। बिहार राज्य में बेसिक शिक्षा-प्रशिक्षण-कार्य बहुत सुचारु रूप से चल रहा है। यहाँ प्रायः सभी प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक बेसिक शिक्षा में प्रशिक्षित होते हैं। यहाँ तक कि विद्यालयों के निरीक्षक भी बेसिक प्रशिक्षण प्राप्त होते हैं। प्रशासनिक अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए सन् १९५१ ई० में नरसिंह नगर में वर्तमान सर्वोदय महाविद्यालय की स्थापना हुई थी। बम्बई राज्य में लगभग २० राजकीय बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालय

हैं जिनमें प्रतिवर्ष ३,००० से अधिक अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाता है। यहाँ स्नातकों की प्रशिक्षण-व्यवस्था पृथक् है। सेवाग्राम में उच्चतर बेसिक प्रशिक्षण व्यवस्था है। इसी भाँति अन्य राज्यों में भी बेसिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है तथा बेसिक अप्रशिक्षित शिक्षकों के लिए 'अल्पकालीन'[१] प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है।

भारत में प्राथमिक विद्यालयों के अतिरिक्त माध्यमिक एवं उच्च स्तर की शिक्षा में भी बेसिक शिक्षण-पद्धति को अपनाने का परीक्षण किया जा रहा है। इस दिशा में बिहार राज्य सबसे आगे है। बिहार के सर्वोदय महाविद्यालय प्रशिक्षण-केन्द्र, १९ बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों तथा १३ उत्तर-बेसिक-प्रशिक्षण विद्यालयों द्वारा बेसिक शिक्षा की एक योजना प्रचलित की गई है। किन्तु धनाभाव एवं शिक्षकों की दयनीय स्थिति के कारण इसमें पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। बिहार सरकार ने सन् १९४७-५२ ई० की पंचवर्षीय शिक्षा-योजना में बेसिक शिक्षा के विकास के लिए लगभग ३ करोड़ रुपया व्यय किया। सन् १९५४ ई० में बिहार बेसिक शिक्षा-बोर्ड की कार्य-कारिणी समिति की सिफारिशों से उत्तर-बेसिक शिक्षा-कालेजों की स्थापना प्रारम्भ हुई। सर्वप्रथम तर्की (मुजफ्फरपुर) में एक जनता कालेज[२] की स्थापना हुई। दूसरा कालेज नालन्दा में खोला गया तथा इसी प्रकार नगरपाड़ा (भागलपुर), कोलहन्त पटोरी (दरभंगा) एवं बारवरी (मुजफ्फरपुर) में कालेजों की स्थापना का विचार है। तत्पश्चात् यहाँ एक ग्रामीण विश्वविद्यालय खोला जायगा।

बिहार सरकार बेसिक शिक्षा के विकास के लिए अध्यापकों की दशा भी सुधार रही है। पंजाब में बेसिक शिक्षा का विकास हो रहा है एवं माध्यमिक शिक्षा में बेसिक-शिक्षा-प्रणाली का कार्यन्वित करने के लिए अक्टूबर सन् १९५४ ई० में चंडीगढ़ में एक सीनियर बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालय की स्थापना की गई है। इसमें केवल स्नातकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। सन् १९५४ ई० में त्रिवांकुर-कोचीन में बेसिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देने के परिणामस्वरूप सरकार ने राज्य के प्राथमिक स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिणित करने का निश्चय किया। यह शिक्षा-पद्धति प्रथमतः १ से ३ कक्षाओं तक कार्यान्वित की गई, तत्पश्चात् उच्च कक्षाओं में भी प्रचलित हुई। उत्तर प्रदेश के सभी प्राथमिक स्कूलों में बेसिक शिक्षा प्रणाली कार्यान्वित हो चुकी है। यहाँ प्रथम पंचवर्षीय शिक्षा-योजना में १२,३५०

---

१. Refresher Course.

२. Community College.

प्राथमिक बेसिक स्कूल स्थापित किये जा चुके हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ६,६५० नये प्राथमिक बेसिक स्कूलों को खोलने की योजना है जिसका अनुमानित व्यय ३४ करोड़ रुपया है।

केन्द्रीय सरकार भारत में बेसिक शिक्षा की प्रगति पर विशेष ध्यान दे रही है। १८ जनवरी सन् १९५५ ई० में कांग्रेस ने आवड़ी में अपने ६० वें महाधिवेशन के अवसर पर निम्नलिखित आशय का प्रस्ताव पास किया :—'हमें अपने राष्ट्रीय और सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन करना चाहिए। बेसिक शिक्षा देश की जनता की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुकूल है। अतः केन्द्रीय तथा राज्याय सरकारों को इसे शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए।' इस प्रस्ताव के अनुसार बेसिक शिक्षा-प्रणाली भारत में अनिवार्य रूप से कार्यान्वित की गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में केन्द्रीय सरकार ने बेसिक शिक्षा-प्रणाली के सुधार सम्बन्धी प्रयोगों में १२० लाख रुपये से अधिक धनराशि व्यय की है।

भारत के सभी राज्यों में से बिहार एवं बम्बई राज्य बेसिक शिक्षा की प्रगति में अग्रगण्य है। इन राज्यों में कई समीपी ग्रामीण बेसिक स्कूलों को एक इकाई में संगठित किया जाता है। ग्रामीण छात्रों के रहने के लिए एक 'जनता कालेज' की व्यवस्था की जाती है तथा उनको स्वास्थ्य एवं सामाजिक जीवन सम्बन्धी मुख्य विषयों की शिक्षा दी जाती है। एक बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालय के अन्तर्गत सभी निकटवर्ती बेसिक स्कूल कर दिये जाते हैं तथा उनके लिए एक दृश्य-साधनों[१] से सम्पन्न पुस्तकालय की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार ये सभी शिक्षण-संस्थायें उसकी इकाई के रूप में में शिक्षा का विकास करती हैं। इस प्रकार के कार्य से बेसिक शिक्षा का प्रचार एवं नवीन कार्यकर्त्ताओं की उत्पत्ति होती है।

बेसिक शिक्षा के प्रसार के लिए केन्द्रीय सरकार राज्यों को उनकी बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में किए गये व्यय का ३० प्रतिशत प्रतिवर्ष अनुदान के रूप में देती है। इस प्रकार की सहायता की माँग केन्द्रीय सरकार से खेर समिति ने की थी तथा केन्द्रीय सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया। केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय द्वारा बेसिक शिक्षा-पद्धति के लाभ एवं उद्देश्यों का स्पष्टीकरण करने के लिए एक पुस्तिका प्रकाशित करने का आयोजन किया गया है।

राज्यों की प्रथम पंचवर्षीय योजना में बेसिक शिक्षा के विकास की जो योजना बनाई गई थी उसमें विशेष बात थी नये बेसिक प्राथमिक स्कूलों को खोलना एवं पुराने प्राथमिक स्कूलों को बेसिक प्राथमिक स्कूलों में परिणित करना। किन्तु

१. Visual Aids.

बेसिक प्राथमिक स्कूलों के स्थान पर बहुत-से साधारण प्राथमिक स्कूल खोले गये और बेसिक स्कूलों की स्थापना धनाभाव एवं बेसिक प्रशिक्षित शिक्षकों के अभाव के कारण स्थगित कर दी गई। इस प्रकार राज्यों को बेसिक शिक्षा के विकास में बड़ी शिथिलता है। बेसिक शिक्षा की कठिनाइयों को दूर करने के लिए राज्यों द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजना में अग्रिम योजना[1] का प्रचलन हुआ। इस योजना में प्राथमिक बेसिक स्कूलों से लेकर माध्यमिक शिक्षा-स्तर तक बेसिक शिक्षा का स्वरूप निश्चित किया गया है एवं अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। इस योजना का अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है, परन्तु योजना का कार्यान्वयन प्रारम्भ हो चुका है। इस योजना को सफल बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार राज्यीय सरकारों को योजना के व्यय का ३० प्रतिशत सहायता के रूप में देती है। वर्तमान प्राथमिक स्कूलों को बेसिक प्राथमिक स्कूलों में परिणित करने के लिए केन्द्रीय सरकार ७५ प्रतिशत व्यय राज्यीय सरकारों को देती है तथा नवीन बेसिक स्कूलों के खोलने में २५ प्रतिशत व्यय केन्द्रीय सरकार वहन करती है। सन् १९५५-५६ ई० में इस सम्बन्ध में व्यय की हुई धनराशि २·५ करोड़ रुपये थी।

अग्रिम योजनाओं के विकास के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार द्वारा दिया गया धन निम्नलिखित कामों में व्यय किया जाता है :—

(१) पुराने सामान्य प्राथमिक स्कूलों को बेसिक प्राथमिक स्कूलों में परिणित करना।

(२) नवीन बेसिक प्राथमिक स्कूल खोलना।

(३) बेसिक प्राथमिक स्कूल के भवन, सज्जा एवं अध्यापकों इत्यादि की जर्जरित अवस्था को पुष्ट बनाना।

(४) उचित बेसिक शिक्षा के लिए क्राफ्ट अध्यापकों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना एवं बेसिक शिक्षा में उपयोगी क्राफ्ट्स को सम्मिलित करना।

(५) बेसिक शिक्षण के लिए पाठ्य-सामग्री का प्रबन्ध करना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केन्द्रीय सरकार भारतीय शिक्षा को युगानुकूल बनाने के लिए प्रयास कर रही है। भारत में ग्रामीण शिक्षा को समुन्नत बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने विदेशों की ग्रामीण शिक्षा-प्रणालियों को अपनाने का प्रयत्न किया है। इसी दृष्टिकोण से भारत सरकार ने सन् १९५३ ई० में १८ भारतीय शिक्षा-विशेषज्ञों का एक शिष्ट-मंडल डेनमार्क की प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च

१. Pilot Project.

शिक्षा-प्रणालियों का अध्ययन करने के लिए भेजा था। इसके अतिरिक्त सन् १९५४ ई० में भारत सरकार ने डेनमार्क के प्रसिद्ध ग्रामीण शिक्षा-विशारद डा० पीटर मैनिश को भारतीय ग्रामीण शिक्षा-पद्धति के विकास पर प्रकाश डालने के लिए आमंत्रित किया। डा० पीटर भारत आये और उन्होंने ग्रामीण शिक्षा के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव भी दिये।

इतना ही नहीं, अपितु केन्द्रीय सरकार द्वारा भारत में बेसिक शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करने के लिए एक 'स्थायी बेसिक शिक्षा-समिति'[1] की स्थापना की गई है। इस समिति ने अपनी अप्रैल, सन् १९५६ ई० की बैठक में भारत में बेसिक शिक्षा के प्रसार, नीति एवं भावी प्रगति की एक विस्तृत रूप-रेखा का निर्माण किया है। इस समिति ने 'बेसिक शिक्षा-अनुमान समिति'[2] के सुझावों के आधार पर केन्द्रीय सरकार से एक 'अखिल भारतीय बेसिक शिक्षा-परिषद' को स्थापित करने की माँग की है। यह शिक्षा-परिषद केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों को बेसिक शिक्षा-प्रगति सम्बन्धी विषयों पर अपनी सम्मति प्रदान करेगी। शिक्षा-समिति ने यह भी निर्णय किया कि राज्यों में अधिकाधिक उत्तर-बेसिक स्कूलों की स्थापना की जाय तथा धीरे-धीरे माध्यमिक स्कूलों में भी बेसिक शिक्षा कार्यान्वित कर दी जाय तथा बेसिक स्कूलों में अंग्रेजी भाषा का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया जाय जिससे बेसिक शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने में कठिनाई न हो।

शिक्षा-समिति की माँगों के आधार पर जुलाई सन् १९५६ ई० में तामिलनाद के सर्वोदयपुरम नामक स्थान में एक अखिल भारतवर्षीय बेसिक सम्मेलन हुआ, जिसमें समस्त भारत के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में निम्नलिखित आशय के महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए :—

(१) नवीन शिक्षा के द्वारा 'लोकशक्ति' का निर्माण किया जाना चाहिए।

(२) बेसिक शिक्षा सम्बन्धी परीक्षणों में राजकीय नियन्त्रण का अभाव हो तथा नवीन शिक्षण-प्रणाली का सम्बन्ध ग्रामीण जनता से स्थापित किया जाय।

(३) नवीन शिक्षा (नई तालीम) के प्रचारकों एवं कार्यकर्त्ताओं को चाहिए कि वे आचार्य विनोबा के भूदान-पद-यात्रा की भाँति ग्रामीण क्षेत्रों में पद-यात्रा करें। इससे ग्रामीण जनता प्रभावित होगी।

---

१. Standing Committee on Basic Education.

२. Assessment Committee on Basic Education.

(४) ग्रामीण एवं नागरिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम समान होना चाहिए जिससे ग्रामीण एवं नागरिक जनता के बीच की खाँई पाटी जा सके एवं सम्पूर्ण भारत में आदर्श जनतंत्र का विकास हो सके।

(५) बेसिक शिक्षा प्राथमिक से लेकर उच्चतम शिक्षा तक अपनायी जाय।

(६) सम्मेलन ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि अभी तक भारतीय विश्वविद्यालयों में उत्तर-बेसिक शिक्षा-प्राप्त छात्रों के अध्यापन की व्यवस्था नहीं हो पाई है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेवाग्राम विश्वविद्यालय का पूर्ण रूप से विकास किया जाय तथा प्रत्येक भाषा-भाषी प्रदेश में एक ऐसे शिक्षण-केन्द्र की व्यवस्था की जाय जिसमें प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालय-शिक्षा तक बेसिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था हो।

बेसिक शिक्षा में कतिपय परीक्षण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में जिन राज्यों में प्रमुख परीक्षण किये गये, उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :—

(१) **आसाम**—आसाम सरकार का ध्यान बेसिक शिक्षा की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ जिसके फलस्वरूप सन् १९५४ ई० में 'आसाम बेसिक शिक्षा अधिनियम' पास किया गया। फलतः राज्य के सभी प्राथमिक एवं मिडिल स्कूलों को क्रमशः जूनियर तथा सीनियर बेसिक स्कूलों में परिणित कर दिया गया। इस परिवर्तन के अनुसार मिडिल स्कूलों की व्यवस्था में भी परिवर्तन किया गया। राज्य के सभी स्कूलों की व्यवस्था स्कूल-बोर्डों को सौंप दी गई तथा प्रबन्ध-समितियों का पुनर्संगठन किया गया। पुनर्संगठित प्रबन्ध-समितियों में शिक्षकों, विद्यार्थियों एवं अभिभावकों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित किए गए।

विद्यार्थियों एवं अभिभावकों में शिक्षा के प्रति फैली हुई अरुचि एवं निराशा को दूर करने के लिए पुराने विद्यालयों का जीर्णोद्धार किया गया एवं बहुत से नवीन भवनों का निर्माण भी किया गया। विद्यालय-भवनों को आकर्षक बनाने के लिए महान पुरुषों के चित्रों, अमूल्य वाक्यावलियों एवं विविध प्रकार से सजाने का प्रयत्न किया गया। विद्यार्थियों के बैठने के लिए नवीन ढंग की सज्जा का प्रबन्ध किया गया। इसके अतिरिक्त बालकों के सामयिक ज्ञान के विकास के लिए उत्तम पुस्तकालयों की व्यवस्था की गई। बालकों के स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों का पालन करने के लिए पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य-शिक्षा को विशेष महत्त्व दिया गया है एवं आवश्यकता पड़ने पर विद्यालयों में साधारण औषधियों की भी व्यवस्था की गई है। सभी विद्यालयों में एक छोटे-से हरे-भरे उद्यान की व्यवस्था होती है जिससे

विद्यार्थियों का मनोरंजन होता है एवं वे उद्यान-कला की शिक्षा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली से बालकों को स्वावलम्बी बनने का अवसर मिलता है एवं विद्यालय की सभी वस्तुओं को वे अपनी समझ भर उनका सदुपयोग करते हैं। बालकों के अतिरिक्त अध्यापकों को भी इस नवीन शिक्षा-प्रणाली में प्रोत्साहित किया गया है। विद्यालय के अध्यापकों की एक मासिक बैठक की व्यवस्था की गई है। इसमें सभी अध्यापक भाग लेते हैं और शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करते हैं। अध्यापकों तथा बालकों में सप्ताह में खेल-सम्बन्धी प्रतियोगिताएँ होती हैं। कभी-कभी शिक्षक एवं बालक शैक्षिक परिश्रम के लिए ग्रामों एवं नगरों की यात्रा करते हैं। इससे उन्हें ग्रामीण एवं नागरिक वातावरण की वास्तविक जानकारी प्राप्त होती है। विद्यार्थियों को साक्षरता के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के उद्योग सिखाये जाते हैं; जैसे मिट्टी का काम, साबुन बनाने का काम एवं पुस्तककला इत्यादि का काम। इसी भाँति कभी-कभी विद्यार्थी अध्यापकों के साथ जाकर भौगोलिक एवं ऐतिहासिक स्थानों का निरीक्षण करते हैं। इस प्रकार उनके अर्जित ज्ञान की पुष्टि होती है और अध्यापकों तथा विद्यार्थियों का पाठन-पठन में उत्साह बढ़ता है।

आसाम के बेसिक स्कूलों में आन्तरिक अनुशासन एवं विद्यार्थियों में उत्तर-दायित्व की भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से 'बाल सरकार' का निर्माण किया गया है। छात्रों द्वारा उनके मंत्रिमंडल का निर्माण बरगढ़ नामक बेसिक शिक्षण-विद्यालय में होता है। इस मंत्रिमंडल में मंत्रियों का कार्य-काल एक मास का होता है। कार्य-काल समाप्त होने के उपरान्त बालक-मंत्रियों को अपने कार्यों का विवरण व्यवस्थापक-मंडल के समक्ष उपस्थित करना पड़ता है और व्यवस्थापक-मंडल के सदस्यों की स्वीकृति से वे कार्य-भार से मुक्त किये जाते हैं। बालकों सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय करने के लिए प्रत्येक बेसिक स्कूल में एक न्यायाधिकरण[1] की व्यवस्था होती है जिसमें बालक ही न्यायाधीश होते हैं। विद्यालय की सफाई, उद्यान की सफाई एवं फल तथा तरकारियों के उत्पादन में अध्यापक एवं छात्र बड़ी रुचि से कार्य करते हैं। विद्यालयों में इस प्रकार की व्यवस्था से एक नवीन चेतना उत्पन्न हो गई है तथा छात्र एवं अध्यापक प्रसन्न मुद्रा में अपने कार्य सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार की शिक्षण-व्यवस्था से विद्यार्थी विनयी एवं आत्म-निर्भर बनते हैं।

भारत की प्राचीन संस्कृति के पुनरोत्थान के लिए भी आसाम सरकार ने नवीन प्रणाली का आविष्कार किया है। राज-सुनाखला नामक स्थान के बेसिक

---

१. Tribunal.

प्रशिक्षण-विद्यालय में इसका विशेष केन्द्र स्थापित किया गया है। राष्ट्रोत्थान एवं संस्कृति के पुनरोत्थान के सम्बन्ध में विद्यार्थियों को धार्मिक त्योहारों एवं राष्ट्रीय पर्वों, जैसे गाँधी-जयन्ती, १५ अगस्त एवं २६ जनवरी को ग्रामीण क्षेत्रों में ले जाया जाता है और ग्रामों में इनके महत्त्व पर प्रकाश डाला जाता है। छात्रगण यात्रा से लौटकर विद्यालयों में आपस में वाद-विवाद करते ह तथा भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रोन्नति के उपाय सोचते हैं। इस प्रकार विद्यालयों का सामाजिक जीवन से निकट सम्पर्क स्थापित होता है। विद्यार्थी विद्यालयों के सभी कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। इस प्रकार वे सामाजिक जीवन के लिए तैयार हो जाते हैं। समय-समय पर ग्रामीण क्षेत्रों का भ्रमण करने से बालकों को सामाजिक विषयों की प्रत्यक्ष जानकारी हो जाती है। विद्यार्थियों द्वारा धार्मिक एवं राष्ट्रीय अवसरों पर सामयिक नाटकों का आयोजन भी किया जाता है।

(२) **गुजरात कुमार मंदिर, अहमदाबाद**—गुजरात के बेसिक स्कूलों में गुजरात कुमार मंदिर, अहमदाबाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस विद्यालय की स्थापना सन् १९४८ ई० में गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के तत्वावधान में हुई। प्रारम्भ में इस विद्यालय में पाँचवी कक्षा तक अध्यापन की व्यवस्था की गयी। तत्पश्चात् सन् १९४९ ई० और १९५० ई० में क्रमशः ६वीं एवं ७वीं कक्षायें प्रारम्भ की गयीं। इस विद्यालय में शिक्षण का माध्यम खादी चुना गया। इस शिक्षण-पद्धति के द्वारा यह विद्यालय अहमदाबाद में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर चुका है।

विद्यार्थियों को स्वावलम्बी बनाने एवं भावी उत्तरदायित्व को संभालने के लिए समस्त विद्यार्थियों की एक सभा है जिसके कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए ८ सदस्यों की एक विद्यार्थी-परिषद का निर्माण किया गया है। यह परिषद विद्यार्थियों के हितार्थ विविध कार्यक्रमों को तैयार करती है एवं सभी विद्यार्थी उसमें भाग लेकर विभिन्न विषयों की जानकारी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उनमें व्यवहार-कुशलता एवं सामाजिक कार्यों में रुचि उत्पन्न होती है। छात्रों एवं अध्यापकों के पारस्परिक प्रेम एवं सहयोग के आधार पर ही विद्यालय के सभी काम होते हैं। विद्यार्थी एवं अध्यापक सम्मिलित रूप से खेल-कूद, बागवानी, भवन-निर्माण एवं दस्तकारी के कार्यों में भाग लेते हैं। इस विद्यालय में वर्ष के अन्त में एक वार्षिकोत्सव मनाने की प्रथा कायम की गई है जिसमें विद्यार्थी, अध्यापक एवं अभिभावक सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार अध्यापकों एवं अभिभावकों के सम्पर्क से पारस्परिक प्रेम बढ़ता है एवं विद्यार्थी सतर्क होकर ज्ञानार्जन करते हैं।

इस विद्यालय में शिक्षा का माध्यम खादी है। छात्र पहले तकली से सूत कातते हैं फिर चरखे से सूत कातते एवं धीरे-धीरे वस्त्रों आदि का बनाना सीखते हैं। खादी के सहारे से बालकों को इतिहास, भूगोल एवं गणित इत्यादि की शिक्षा दी जाती है। अच्छा सूत बनाने के सम्बन्ध में अनुकूल वातावरण की जानकारी कराते समय बालकों को भूगोल की शिक्षा दी जाती है। सूत से कपड़ा बनाकर व्यापार करने के सम्बन्ध में बालकों को इतिहास की शिक्षा दी जाती है; जैसे अंग्रेजों का व्यापार के सम्बन्ध में भारत आना। इसी प्रकार सूत के पोले बनाते समय बालकों को गणना सिखाई जाती है और धीरे-धीरे वे गणित के अन्य नियमों को भी सीख जाते हैं।

यहाँ की परीक्षा-प्रणाली में भी कई प्रकार के परीक्षण किये गये हैं। पहले की दूषित परीक्षा-प्रणाली को सुधारने के लिए परीक्षण-विधि में वर्ग-प्रणाली[1] को कार्यान्वित किया गया; किन्तु इसमें सफलता न मिल सकी। अतः दूसरी परीक्षा-विधि अपनाने की आवश्यकता पड़ी। इस परीक्षा-विधि में छात्रों की मास भर में दो अर्ध-मासिक परीक्षायें ली जाती हैं और इसी तरह वर्ष भर परीक्षा-पद्धति जारी रहती है। वर्ष के अन्त में समस्त अर्ध-मासिक परीक्षाओं के फल एवं कक्षा के कार्य के आधार पर बालकों को कक्षोन्नति दी जाती है। यह परीक्षा-प्रणाली पर्याप्त रूप में सफल हो रही है। इस विद्यालय में बालकों को सुलेख[2] की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती है। दूसरी कक्षा से सातवीं कक्षा तक सुलेख अनिवार्य रूप से लिखना पड़ता है एवं इसमें परीक्षा भी ली जाती है। दसवीं कक्षा तक छात्रों को निर्झरिणी (फाउण्टेन पेन) का प्रयोग करने की स्वीकृति नहीं है। बालकों के सांस्कृतिक विकास के लिए इस विद्यालय में विशेष त्योहारों पर सांस्कृतिक नाटक एवं कीर्तन इत्यादि का आयोजन किया जाता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय दिनों पर बच्चों में स्वदेश-प्रेम की भावना भरने के उद्देश्य से महत्त्वपूर्ण आयोजन किये जाते हैं। इस प्रकार बालकों में विद्यार्थी-जीवन में ही भावी जीवन के आवश्यक गुण उत्पन्न हो जाते हैं, और उन्हें गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करने पर किसी प्रकार की अदम्य कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।

नव-युग स्कूल,[3] बम्बई—बम्बई का नव-युग स्कूल अपने ढंग का आदर्श एवं अनुपम विद्यालय है। इसमें बालकों तथा बालिकाओं के लिए सह-शिक्षा की व्यवस्था की गई है। इस विद्यालय की शिक्षण-पद्धति एवं बेसिक शिक्षण-पद्धति में

---

१. Grade System.
२. Good Handwriting.
३. The New Era School.

बहुत साम्य है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास एवं स्वावलम्बन समझा जाता है। बालकों के शारीरिक विकास के लिए विद्यालय में एक विशाल क्रीड़ा-स्थल है जिसमें बालकों के लिए विविध भाँति के खेल खेलने की व्यवस्था की गई है और खेल में भाग लेना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त बालकों के स्वास्थ्य का परीक्षण भी नियमित रूप से किया जाता है। इसी तरह बालकों को स्वदेश-प्रेम एवं नागरिकता की शिक्षा दी जाती है।

यह विद्यालय अपना पाठ्यक्रम आवश्यकतानुकूल स्वयं बनाता है तथा अपनी पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन भी करता है। विद्यालय इस दिशा में स्वतंत्र रूप से कार्य करता है। अतः विद्यार्थी पूर्ण रुचि के साथ शिक्षा प्राप्त करते हैं। अध्यापन-पद्धति में योजना-पद्धति[1] एवं श्रव्य-दृश्य[2] पद्धति का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। बालकों में सामाजिक ज्ञान का विकास करने के लिए एक विशाल पुस्तकालय एवं वाचनालय है जिसमें विभिन्न प्रकार की ज्ञानोपयोगी पुस्तकों एवं समाचार-पत्रों की व्यवस्था की गई है।

बालकों को धार्मिक एवं समाज-सेवा की शिक्षा भी दी जाती है। सप्ताह में प्रत्येक शुक्रवार को विद्यालय के समस्त छात्र एवं अध्यापक सामूहिक रूप से प्रार्थना में भाग लेते हैं। धार्मिक अवसरों एवं विशेष त्योहारों पर छात्रों द्वारा धार्मिक नाटक भी खेले जाते हैं। बालकों में सामाजिक सेवा-भावना भरने के लिए उन्हें भारत के प्रख्यात समाज-सेवियों का जीवन-चरित्र बतलाया जाता है तथा अध्यापक एवं छात्र विद्यालय के समीपी ग्रामों में जाकर क्रियात्मक रूप से समाज-सेवा में भाग लेते हैं। इस सम्बन्ध में किये गये दो कार्य उल्लेखनीय हैं। सन् १९५३ ई० में विद्यालय के छात्रों ने आचार्य विनोबा भावे के 'भूदान आन्दोलन' में बड़ी लगन एवं उत्साह के साथ भाग लिया एवं उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई। इसी तरह सन् १९५४ ई० में छात्रों द्वारा भड़ौच जिले के अविधा नामक ग्राम में बहुत से उपयोगी कार्य हुए। छात्रों तथा अध्यापकों ने वहाँ जाकर बिना किसी संकोच एवं लज्जा के श्रमिकों की भाँति कार्य करना आरम्भ किया तथा बिना किसी व्यय के उस ग्राम में बहुत-सी सुन्दर नालियों, सड़कों, बाँधों, गाँधी चबूतरों एवं व्यायामशालाओं का निर्माण हुआ तथा ग्राम की पूर्ण रूप से सफाई की गई। अब यह ग्राम पहले से अधिक उन्नति कर गया है, क्योंकि यहाँ के निवासियों पर छात्रों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। अब इन ग्रामवासियों द्वारा प्रतिवर्ष पर्याप्त रूप से श्रमदान-कार्य होता है।

---

१. Project-Method.

२. Audio-Visual Method.

विद्यालय के छात्र प्रतिवर्ष श्रमदान में भाग लेते हैं एवं अविधा नामक ग्राम की भाँति दूसरे क्षेत्रों में भी सराहनीय कार्य करते हैं। इसी प्रकार यह विद्यालय बालकों में उन अन्य आवश्यक गुणों का विकास करता है, जिनकी आवश्यकता बालकों को भावी जीवन में पड़ती है। विद्यार्थी पाठशाला छोड़ने के उपरान्त परिवार के लिए भारस्वरूप न बनकर पूर्ण सहायक सिद्ध होते हैं। उनका आचरण, ज्ञान एवं व्यवहार परिवार एवं समाज को प्रसन्न करता है एवं वे दिनोदिन समाज-कल्याण के कार्य करते हैं। यहाँ के छात्रों में अनुशासनहीनता एवं कृत्रिमता बिल्कुल नहीं पाई जाती। विद्यार्थी और अध्यापक सच्चे रूप में विद्यार्थी और अध्यापक हैं। उनमें आज-कल के छात्रों एवं अध्यापकों की भाँति पारस्परिक प्रेम का अभाव नहीं है। अतः यह संस्था आज भारत में श्लाघ्य स्थान प्राप्त कर चुकी है।

स्नातक बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र, धारवार—इस प्रशिक्षण-विद्यालय में विशेषकर समाज-सेवा एवं सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था की गई है। छात्र एवं अध्यापक दोनों ही इसमें सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। समाज-सेवा के कार्यों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है :—१—ऐसे छोटे-मोटे सामाजिक सेवा के कार्य जो तीन दिन के अन्दर सम्पन्न हो सकते हैं। २—समाज-सेवा के ऐसे कार्य जो दो सप्ताह में समाप्त किये जा सकते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने के लिए छात्रों एवं अध्यापकों द्वारा पूर्व योजनायें बना ली जाती हैं। पहले विद्यालय के कुछ छात्र सम्बन्धित ग्राम की जानकारी के लिए चले जाते हैं। तत्पश्चात् विद्यालय के अवशिष्ट छात्र एवं अध्यापक जा कर ग्राम के सुधार सम्बन्धी कार्यों को आरम्भ करते हैं। ग्राम में जाकर विद्यार्थी रास्तों की सफाई, आदर्श घूरों का निर्माण, नये रास्ता का निर्माण, साक्षरता का प्रचार, स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय, मनोरंजन के साधन, दलित वर्ग का उद्धार एवं सहकारिता सम्बन्धी विभिन्न कार्य करते हैं। इस सम्बन्ध में ग्रामीण जनता के बीच प्रदर्शिनियों एवं नाटकों का आयोजन किया जाता है जिसके द्वारा ग्रामीण जनता को पशुपालन, कृषि-शिक्षा, भवन-निर्माण एवं स्वास्थ्य-रक्षा के उत्तम उपाय बताये जाते हैं। अध्यापक ग्रामीण जनता को एकत्र कर उन्हें ग्रामीण क्षेत्रों की बुराइयों से अवगत कराते हैं एवं उनको समस्याओं को सुलझाने का उपाय बताते हैं। विद्यार्थी ग्रामों में जाकर ग्रामीणों की रहन-सहन के स्तर का भली-भाँति अध्ययन करते हैं। इस प्रकार उन्हें पारिवारिक व्यय के सम्बन्ध में बहुत-से उपयोगी आँकड़े भी मिल जाते हैं। छात्र कैम्प-जीवन व्यतीत करने से बाहर रहने के अभ्यस्त हो जाते हैं एवं उन्हें यात्रा में आलस्य का अनुभव नहीं होता।

इस प्रशिक्षण-विद्यालय के छात्राध्यापक ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर बेसिक प्राथमिक शिक्षा का महत्त्व बतलाते एवं सामान्य प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों को बेसिक प्राथमिक शिक्षा-पद्धति से अवगत करते हैं। इस प्रकार धारवार का यह शिक्षण-केन्द्र समाज-सेवा का बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित कर रहा है।

बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र, लोनी कालभोर, पूना :—यह बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र प्रारम्भ में कृषि-शिक्षा का एक सामान्य प्रशिक्षण-केन्द्र था जिसमें पाँचवीं कक्षा उत्तीर्ण करने वाले छात्र प्रवेश पाने के अधिकारी थे। उस समय यह प्रशिक्षण-विद्यालय कृषि-विभाग की व्यवस्था के अन्तर्गत था और इसका पाठ्यक्रम केवल एक वर्ष का होता था। इस अवस्था में यह प्रशिक्षण-विद्यालय सन् १९२३ ई० से सन् १९३१ ई० तक अपना कार्य करता रहा। सन् १९३२ ई० में शिक्षा-विभाग को एक ऐसे विद्यालय की आवश्यकता पड़ी जिसमें ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सके। फलतः शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों का ध्यान इस विद्यालय की ओर गया और यही विद्यालय 'ग्राम प्रशिक्षण-केन्द्र' के रूप में परिणित कर दिया गया और उसकी व्यवस्था पूर्णरूपेण शिक्षा-विभाग द्वारा की जाने लगी। परन्तु यह प्रशिक्षण-पद्धति सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल न होने के कारण विकास न कर सकी। सन् १९३७ ई० में गाँधी जी ने बेसिक शिक्षा-योजना का श्रीगणेश कर दिया था। अतः वह यहाँ भी सन् १९३९ ई० में कार्यान्वित की गई और शनैः-शनैः इस विद्यालय को पूर्ण रूप से बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालय में परिवर्तित कर दिया गया। इस विद्यालय में बेसिक प्राथमिक स्कूलों के लिए अध्यापकों को दीक्षा दी जाने लगी।

सन् १९४५ ई० तक इस बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र में दीक्षा लेने के लिए केवल सामान्य प्रशिक्षित शिक्षक ही आते थे और इनका बेसिक प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम एक वर्ष का होता था, परन्तु सन् १९४६ ई० से अप्रशिक्षित अध्यापक भी इसमें प्रवेश पाने लगे एवं प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम दो वर्ष का हो गया। इस प्रशिक्षण-विद्यालय में ८० छात्राध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रतिवर्ष की जाती है। सन् १९४८ ई० से इस प्रशिक्षण-केन्द्र के अन्तर्गत एक विद्यालय भी स्थापित कर दिया गया है जिसमें छात्राध्यापक अध्यापन का अभ्यास करते हैं। सन् १९४७ ई० तक इस प्रशिक्षण-केन्द्र में कताई-उद्योग को अन्य उद्योगों का माध्यम माना गया था। तत्पश्चात् धीरे-धीरे बुनाई का प्रयोग भी किया जाने लगा एवं कृषि को शिक्षा का ऐच्छिक माध्यम बनाया गया। कृषि-शिक्षा के माध्यम को विशेष सफलता मिली एवं कृषि को एक विशेष माध्यम बना दिया गया और इससे अन्य उद्योगों की शिक्षा

में विशेष सफलता मिली । फलतः प्रशिक्षण-केन्द्र के साथ २४ एकड़ का एक कृषि फार्म भी संलग्न कर दिया गया ।

इस प्रशिक्षण-केन्द्र की सबसे प्रमुख विशेषता स्वावलम्बन है । यहाँ की सभी योजनायें आत्मनिर्भर ही नहीं, अपितु कुछ न कुछ लाभकर भी होती हैं । इसके अतिरिक्त इस प्रशिक्षण-केन्द्र में शिक्षकों में समाज-सेवा एवं स्वदेश-प्रेम की भावना को प्रोत्साहित किया जाता है । प्रशिक्षण-काल में छात्राध्यापक ग्रामों में जाकर श्रमदान करते हैं एवं ग्राम-सुधार सम्बन्धी अन्य कार्य करते हैं । यहाँ का कृषि-फार्म भी प्रसिद्ध है ।

हैदराबाद :—बेसिक शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में हैदराबाद राज्य का नाम भी उल्लेखनीय है । इस राज्य में बेसिक शिक्षा के विकास के लिए सर्वप्रथम पुराने हरिजन विद्यालयों में बेसिक शिक्षा-प्रणाली कार्यान्वित की गई । इन विद्यालयों के कार्यक्रमों में प्रार्थना करना, स्वच्छता पर ध्यान देना, साक्षरता का प्रचार करना एवं समाज-सेवा इत्यादि के कार्य सम्मिलित किए गये । विभिन्न प्रकार के हस्त-उद्योगों द्वारा अन्य विषयों की शिक्षा दी जाने लगी । विद्यार्थियों में पारस्परिक प्रेम बढ़ाने एवं सामाजिक कार्यों में उत्साह बढ़ाने के लिए प्रत्येक सप्ताह में सामूहिक प्रीतिभोज की व्यवस्था की जाने लगी । इस प्रकार छात्रों एवं अध्यापकों में भी पारस्परिक प्रेम बढ़ा एवं वे सार्वजनिक कार्यक्रमों में बिना किसी संकोच के भाग लेने लगे ।

इस राज्य में विभिन्न स्कूलों में क्राफ्ट के माध्यम के रूप में विभिन्न हस्त-उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया है । किसी स्कूल में शिक्षा का माध्यम खादी, किसी में कृषि, किसी में बागवानी, किसी में काष्ठकला एवं किसी में चर्म-कला है । अधिकांशतः बेसिक शिक्षा का प्रचलन जूनियर हाई स्कूलों में है । छूदी बाजार जूनियर हाई स्कूल में शिक्षा का माध्यम चर्म-कार्य है । इसके द्वारा इस स्कूल में बहुत से सराहनीय एवं लाभदायक कार्य हुए हैं । बालक चमड़े की पेटियाँ, चप्पल, सिगरेटकेस एवं चमड़े के थैले इत्यादि बड़ी निपुणता से बनाते हैं एवं उनका उचित मूल्य भी मिलता है । सन् १९५१ ई० में राज्य सरकार ने बेसिक शिक्षा की प्रगति के लिये विशेष कार्य आरम्भ किया । इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा बेसिक शिक्षा के प्रसार के लिए सुझाव देने के लिये एक समिति की स्थापना की गई । सन् १९५१ से १९५४ ई० तक बेसिक प्रशिक्षण के लिये ३६ स्नातक सामान्य प्रशिक्षित अध्यापक सेवाग्राम भेजे गये । इन अध्यापकों में सभी भाषा-भाषी क्षेत्रों के लोग सम्मिलित थे । इसके अतिरिक्त राज्य में भी कई बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों की स्थापना की गई ।

नवीन बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्रों में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम प्रचलित किया गया। इस पाठ्यक्रम की विशेषता यह है कि विभिन्न प्रकार के हस्त-उद्योगों द्वारा भाषा, कला, सामाजिक विषय एवं विज्ञान की शिक्षा में समन्वय स्थापित किया जाता है। इससे छात्रों में स्वल्प समय में अधिक विषयों की जानकारी सम्भव है। छात्राध्यापकों को विशेषकर खादी एवं कृषि-कला के द्वारा बालकों को पढ़ाने की दीक्षा दी जाती है। इसके अतिरिक्त छात्राध्यापक कभी-कभी पास-पड़ोस के ग्रामों में जाकर ग्रामीण जीवन की समस्याओं का अध्ययन करते एवं ग्रामीणों को ग्राम-सुधार के उपाय बताते हैं। बहुधा श्रमदान के सप्ताह में किसी न किसी ग्राम में ही सड़कों का निर्माण, रास्तों की सफाई, बाँधों का निर्माण इत्यादि कार्य किया जाता है। इससे ग्रामीण जनता भी बेसिक शिक्षा के महत्त्व को समझती है और उसमें अधिक से अधिक सहयोग प्रदान करती है। छात्रों, अभिभावकों तथा शिक्षकों को एकत्र होने का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है और वे एक दूसरे की कठिनाइयों से अवगत होते हैं तथा सामूहिक रूप से इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

बेसिक स्कूल, सेवाग्राम, मध्य प्रदेश :--मध्य प्रदेश में बेसिक स्कूल सेवाग्राम का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इस विद्यालय में १ से लेकर ८ वीं कक्षा तक छात्रों के अध्यापन की व्यवस्था की गई है। इस विद्यालय में शिक्षा के माध्यम के रूप में दो भाषायें प्रचलित हैं। स्थानीय एवं निम्न कक्षाओं के बालकों के लिए शिक्षा का माध्यम मराठी भाषा है तथा बाहरी एवं उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा है। प्रत्येक कक्षा में अधिक से अधिक ३० छात्रों के बैठने का स्थान होता है। यह विद्यालय हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की व्यवस्था के अन्तर्गत चल रहा है। इससे सम्बन्धित एक बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालय है। इस प्रशिक्षण-विद्यालय में शिक्षा का माध्यम कोई न कोई हस्तकला का उद्योग रखा गया है। यहाँ के मुख्य उद्योग सूत कातना, बुनाई करना, बागवानी करना एवं तरकारियों की कृषि है। इन उद्योगों के द्वारा विद्यालय को प्रतिवर्ष पर्याप्त आय होती है और प्राय: विद्यालय के व्यय का बहुत बड़ा भाग इनसे निकल आता है। आत्म-निर्भरता इस प्रशिक्षण-विद्यालय की विशेषता है। सन् १९५४-५५ ई० में इस प्रशिक्षण-विद्यालय में विभिन्न उद्योगों से ३,३०० रु० की आय हुई एवं अध्यापकों के वेतन के रूप में ४,३०० रु० व्यय हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि अध्यापकों के वेतन के सम्बन्ध में यह विद्यालय ७५ प्रतिशत आत्म-निर्भर हो चुका है। इसके अतिरिक्त इस विद्यालय में छात्राध्यापकों को संगीत, नृत्य एवं पाक-शास्त्र इत्यादि की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती है। सांस्कृतिक विकास के लिये

विद्यालय में त्योहारों पर उपयुक्त नाटकों एवं संकीर्तनों का आयोजन किया जाता है।

बेसिक शिक्षा में शिक्षक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः हिन्दुस्तानी तालीमी संघ द्वारा प्रमुख रूप से अध्यापकों तथा अध्यापिकाओं को बेसिक शिक्षा की दीक्षा दी जाती है। नवीन शिक्षा-भवन द्वारा विभिन्न राज्यों के पूर्व-बेसिक तथा बेसिक प्राथमिक स्कूलों के लिए अध्यापकों का प्रशिक्षण होता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण का एक विशेष पाठ्यक्रम होता है जिसके निम्नलिखित तीन मुख्य ध्येय होते हैं :—

१—छात्राध्यापकों को सार्वजनिक जीवन के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान से परिचित करना।

२—छात्राध्यापकों को ऐसे हस्त-उद्योगों का ज्ञान देना जिनका उपयोग वे आगे चलकर शिक्षण-काल में शिक्षा के माध्यम के रूप में कर सकें।

३—छात्राध्यापकों को सभी प्रमुख शिक्षण-पद्धतियों से परिचित करना।

लगभग विगत आठ या दस वर्षों से हिन्दुस्तानी तालीमी संघ ने ग्रामीण आवश्यकताओं के अनुकूल अपने बेसिक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में बहुत परिवर्तन कर दिया है। ग्रामों का सुधार करने एवं ग्राम-वासियों में सहयोग की भावना भरने के लिए पाठ्यक्रम में दो नवीन विषय सम्मिलित किये गये हैं :—(१) ग्राम-रचना नई तालीम, (२) ग्रामोद्योग नई तालीम। इस प्रकार शिक्षा का सम्बन्ध बहुत कुछ ग्राम-सुधार के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करना है। इस प्रकार के प्रशिक्षण सम्बन्धी बेसिक शिक्षा के आधार पर सेवाग्राम में एक ग्रामीण विश्व-विद्यालय की स्थापना की गई है जिसमें प्राथमिक से लेकर उच्च बेसिक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। भारत में यह विश्वविद्यालय बेसिक शिक्षा का सबसे बड़ा केन्द्र है।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त भारत में बेसिक शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में निम्नलिखित शिक्षण-संस्थाओं का नाम उल्लेखनीय है :—

१—राजकीय हाई स्कूल सोगाम, काश्मीर।

२—टीचर्स कालेज सैदपेट, मद्रास।

३—मोगा ट्रेनिंग स्कूल, पंजाब।

४—बाल निकेतन जोधपुर, राजस्थान तथा

५—बेसिक ट्रेनिङ्ग कालेज बनीपुर, पश्चिमी बंगाल।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में बेसिक शिक्षकों का प्रशिक्षण

स्वाधीनता के उपरान्त हमारे देश में विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई गई। इस योजना के अनुसार हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में बेसिक शिक्षा के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। इस दिशा में केन्द्रीय एवं प्रायः सभी राज्यीय सरकारों द्वारा ठोस कदम उठाया गया और उसमें कुछ सफलता भी मिली। प्रायः सभी राज्यीय सरकारों द्वारा पूर्व-बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालय एवं उत्तर बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालय खोले गये हैं। इन विद्यालयों में छात्राध्यापकों को बेसिक शिक्षा की दीक्षा दी जाती है तथा सामान्य प्रशिक्षित अध्यापकों के लिए रीफ्रेशर कोर्स की व्यवस्था की जाती है। इन प्रशिक्षण-विद्यालयों के साथ अभ्यास के लिये एक विद्यालय भी संलग्न होता है जिसमें छात्राध्यापक बालकों को बेसिक शिक्षा प्रदान करते हैं। अध्यापकों के प्रशिक्षण के अतिरिक्त इन प्रशिक्षण-केन्द्रों के निम्नलिखित कार्य होते हैं :—

१—(क) बेसिक विद्यालयों के लिए निर्देशक एवं निरीक्षक तैयार करना।

(ख) बेसिक शिक्षा सम्बन्धी प्रशासकों एवं आयोजकों को तैयार करना।

(ग) पूर्व-बेसिक एवं उत्तर-बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों के लिये प्रशिक्षक तैयार करना।

२—बेसिक शिक्षा में प्रगति सम्बन्धी अनुसन्धान करना।

३—अध्यापकों की सहायता के लिए पाठन-सामग्री तैयार करना। इसमें श्रव्य एवं दृश्य दोनों प्रकार के साधन सम्मिलित हैं।

४—बेसिक शिक्षकों के ज्ञान-वर्धन के लिये अनुकूल पुस्तकों का प्रकाशन करना।

५—बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में शिक्षकों एवं अधिकारियों द्वारा अनुमानित कठिनाइयों को दूर करना।

उपर्युक्त योजना के अनुसार इन राज्यों में उत्तर बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों की स्थापना की गई है। आसाम, बिहार, बम्बई, दिल्ली, हैदराबाद, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश एवं बंगाल।

केन्द्रीय सरकार द्वारा बेसिक प्रशिक्षण के लिये समस्त राज्यों को दी जाने वाली धन-राशि विभिन्न वर्षों में निम्नलिखित प्रकार थी :—

सन् १९५२-५३ ई०	६,४२,६२१ रु०
सन् १९५३-५४ ई०	५,२९,२५० रु०
सन् १९५४-५५ ई०	१३,९३,६९७ रु०+४,५०,००० ऋण

बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों की स्थापना मुख्यतः राज्यीय सरकारों द्वारा की गई है और वे ही उनका अधिकांश व्यय भी वहन करती हैं। किन्तु कुछ व्यक्तिगत संस्थाओं को भी बेसिक प्रशिक्षण-योजना के अन्तर्गत ले लिया गया है। इनमें से विद्याभवन ट्रेनिंग कालेज, उदयपुर; श्रीरामकृष्ण मिशन विद्यालय, कोयम्बटूर, मद्रास, एवं जामिया मिलिया टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, दिल्ली मुख्य हैं।

विभिन्न वर्षों में केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यों को दिये गए अनुदान का प्रतिशत निम्नलिखित प्रकार है :—

प्रकार	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६
१—अनावर्तक	६६ प्रतिशत	६६ प्रतिशत	६६ प्रतिशत	६६ प्रतिशत
२—आवर्तक	६० प्रतिशत	६० प्रतिशत	५० प्रतिशत	३३⅓ प्रतिशत

राज्यों द्वारा उत्तर बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों के अतिरिक्त पूर्व-बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों की भी स्थापना की गई है। इनके उद्देश्य प्रायः वही हैं, जो उत्तर-बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों के हैं। इनके साथ भी अभ्यासार्थ एक विद्यालय जुड़ा होता है।

बेसिक शिक्षा सम्बन्धी कुछ समस्यायें

उपर्युक्त चेष्टाओं के होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि बेसिक शिक्षा का प्रसार बहुत मन्द गति से हो रहा है। इस शिक्षा-प्रणाली में अनुसन्धान का कार्य बहुत कम हो रहा है। हमारे देश में बहुत-सी ऐसी समस्यायें हैं जो कि बेसिक शिक्षा-योजना में अनुसन्धान का विषय बन सकती हैं और उनसे बेसिक शिक्षा में पर्याप्त प्रगति हो सकती है। बेसिक शिक्षा में अनुसन्धान सम्बन्धी निम्नलिखित विषय हो सकते हैं :—

(क) पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों को किस अवस्था में हस्त-उद्योग से समन्वित किया जा सकता है ? इस समस्या पर अनुसन्धान होना चाहिए।

(ख) पाठ्यक्रम के ऐसे विषयों को निर्धारित करना जिनका सम्बन्ध भौतिक एवं सामाजिक वातावरण से स्थापित किया जा सके।

(ग) पाठ्यक्रम के विषयों के लिये उपयोगी पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत करना।

(घ) सामान्य विद्यालयों के छात्रों की अपेक्षा बेसिक स्कूलों के छात्र किस प्रकार विभिन्न विषयों में अधिक उन्नत किये जा सकते हैं ?

(ङ) बेसिक शिक्षा किस प्रकार लोकप्रिय बनाई जा सकती है ?

(च) बेसिक शिक्षा को अधिक से अधिक स्वावलम्बी बनाने के कौन-से साधन हो सकते हैं ?

(छ) बेसिक शिक्षा के विकास के लिये सामाजिक आवश्यकताओं का भली-भाँति अध्ययन करना एवं उसे सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना।

वस्तुतः बेसिक शिक्षा में कुछ ऐसी प्रत्यक्ष समस्याएँ हैं जिनका निराकरण होना इसके विकास के लिये नितान्त आवश्यक है। बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्रों का कर्त्तव्य है कि उन समस्त उलझनों को दूर करें जिनके कारण बेसिक शिक्षा की प्रगति मन्द है। अध्यापकों के लिए उपयुक्त पाठन-सामग्री होनी चाहिये तभी हस्त-उद्योगों के द्वारा पाठ्यक्रम के अन्य विषय समन्वित किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त बेसिक शिक्षा का विशेष सम्बन्ध जनता के सामाजिक सम्पर्क से होना चाहिए जिससे अच्छे नागरिकों का निर्माण हो सके।

हमारे देश में प्राथमिक शिक्षा, जिस पर की शिक्षा का भव्य भवन निर्मित किया जा सकता है, बड़ी जर्जरावस्था में चल रही है। यद्यपि पिछले सौ वर्षों से आज तक सरकार ने इस बात का कई बार निर्णय किया कि देश में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क होनी चाहिए तथापि इस दिशा में क्रियात्मक रूप से काम बहुत कम हो पाया है। प्राथमिक शिक्षा की दशा बड़ी शोचनीय है। इन विद्यालयों में योग्य अध्यापक, विद्यालय-भवन एवं पाठन-सामग्री का बड़ा अभाव है। कोमल-मति बालकों की शिक्षा यहाँ से आरम्भ होती है। अतः इस शिक्षा की ओर सरकार को विशेष ध्यान देना चाहिए। सरकार को चाहिए कि माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं का हल निकालने के लिए प्राथमिक शिक्षा-आयोग की नियुक्ति करे। प्राथमिक शिक्षा अखिल भारतीय स्तर पर दी जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में बेसिक शिक्षा का प्रसार और व्यापक रूप से होना चाहिए।

प्राथमिक शिक्षा की प्रगति का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू अध्यापक है। हमारे देश में यों तो सभी श्रेणी के अध्यापकों का वेतन बहुत कम है, परन्तु प्राथमिक शिक्षकों का वेतन तो बिल्कुल ही अल्प एवं अपर्याप्त है। बेचारा प्राथमिक शिक्षक श्रमिक की भाँति अपने कार्य का सम्पादन करता है। न तो उसे आवश्यकतानुसार वेतन मिलता है और न सम्मान। ऐसी स्थिति में वह दत्तचित्त होकर कार्य नहीं कर पाता। अतः दिन प्रतिदिन शिक्षा का स्तर गिरता चला जा रहा है। आये दिन शिक्षा के गिरते हुए स्तर की चर्चा होती है। किन्तु उसके वास्तविक कारण का निराकरण बहुत कम हो रहा है। बेसिक शिक्षकों को प्रशिक्षण-काल में अधिक समय एवं धन व्यय करना पड़ता है तथा अध्यापन-कार्य में भी इन्हें अधिक परिश्रम

करना पड़ता है, परन्तु उन्हें पारिश्रमिक बहुत कम मिलता है। अभी तक मद्रास सरकार ने बेसिक शिक्षकों को अवश्य कुछ प्रोत्साहित किया है। परन्तु अन्य राज्यों द्वारा इस दिशा में संतोषजनक सुधार नहीं हुआ है।

भारत में प्राथमिक शिक्षा की दुर्दशा का कारण विद्यालय-भवन का अनुपयुक्त होना भी है। कतिपय विद्यालय-भवन ऐसे हैं जिनमें बालक शांति-पूर्वक अध्ययन नहीं कर सकते। बरसात में उनकी छतें टपकती हैं और गर्मी में धूप की रोक-थाम नहीं कर पातीं। बेचारे बालकों को बारहों मास वृक्षों की शरण लेनी पड़ती है क्योंकि जो विद्यालय-भवन हैं वे सब बालकों के बैठने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। विद्यालयों में सफाई का प्रबन्ध नहीं होता। अतः बहुत-से छात्रों एवं अभिभावकों में ऐसे वातावरण में शिक्षा के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है।

हमारे देश के नेता एवं प्रतिष्ठित लोग वैसे तो बेसिक शिक्षा का राग अलापते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसके विकास में भाग नहीं लेते। ऐसे लोग प्रायः निजी विद्यालय खोलते चले जा रहे हैं और स्कूल में दलित एवं पिछड़े वर्ग के बच्चों के साथ अपने बच्चों को पढ़ने के लिए भेजने में अपना अपमान समझते हैं। ऐसी दशा में गाँधी जी का शिक्षा के प्रति जो उद्देश्य था वह पूर्ण नहीं हो रहा है।

आज के कतिपय प्राथमिक स्कूल ऐसे चल रहे हैं जिनमें न तो लड़कों को बेसिक शिक्षा का ज्ञान हो पाता है और न साहित्यिक शिक्षा का। अतः बेसिक शिक्षा के नाम पर ग्रामों में शिक्षा का दिवाला निकल रहा है। प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर के पूर्व-माध्यमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों में आने वाले छात्रों के ज्ञान का स्तर बहुत नीचा होता जा रहा है और उन्हें इन विद्यालयों में शिक्षा के आवश्यक स्तर पर लाने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। अल्प वेतन पाने के कारण अध्यापकों का मन भी इस व्यवसाय में नहीं लग रहा है। ऐसी दशा में छात्रों के ज्ञान को देखकर ग्रामीण अभिभावक भी बेसिक शिक्षा से मुँह मोड़ रहे हैं। उनका कथन है कि जब छात्रों को विद्यालयों में गुड़ाई एवं निकाई ही सिखनी है तो हम घर पर सिखा सकते हैं। वास्तव में गाँधी जी ने जिस बेसिक शिक्षा की कल्पना वर्धा में की थी, उसका आज शिक्षा में अभाव दिखाई पड़ रहा है। फलतः स्वाधीनता के उपरान्त ११ वर्ष समाप्त हो जाने पर भी बेसिक शिक्षा में सन्तोषप्रद उन्नति के लक्षण नहीं दिखाई पड़ते।

आवश्यकता इस बात की है कि बेसिक शिक्षा को वस्तुतः शिक्षा का आधार समझ कर उसे अधिक से अधिक सबल बनाया जाय। प्राथमिक शिक्षकों का वेतन एवं उनका स्तर ऊँचा किया जाय, जिससे शिक्षा-विभाग में योग्य व्यक्ति आने लगें। इसके अतिरिक्त विद्यालय-भवन, शिक्षा का पाठ्यक्रम, पाठन-सामग्री, अध्यापकों

के प्रशिक्षण की व्यवस्था एवं पाठ्य-पुस्तकों इत्यादि में भी समुचित संशोधन की आवश्यकता है। प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था में स्थानीय बोर्डों की दूषित राजनीति का भी उन्मूलन करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त भारत की ग्रामीण जनता की निर्धनता एवं अशिक्षा भी बेसिक शिक्षा की प्रगति में कम बाधक नहीं है। निर्धनता के कारण कितने ही कृषक एवं मजदूर अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज सकते। अशिक्षा के कारण उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि वे अपने बच्चों को शिक्षित कर अपनी निर्धनता दूर कर सकते हैं। अतः बेसिक शिक्षा की वास्तविक प्रगति के लिए उपर्युक्त समस्त दोषों को दूर करने की आवश्यकता है।

सारांश

२२,२३ अक्टूबर, सन् १९३७ ई० में गाँधी जी के भारत के प्रख्यात शिक्षा शास्त्रियों एवं राज्य के शिक्षा-मंत्रियों का एक सम्मेलन वर्धा में बुलाया और सम्मेलन में उन्होंने भारत के लिए एक नवीन शिक्षा-योजना पर प्रकाश डाला, जिसे वर्धा-शिक्षा-योजना कहते हैं। आगे चल कर वर्धा-शिक्षा-योजना में कुछ संशोधन करने के लिए डा० जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति बना दी गई और इस समिति के संशोधन के पश्चात् वर्धा-शिक्षा-योजना बेसिक शिक्षा-योजना के रूप में प्रायः सभी राज्यों में प्रचलित कर दी गई।

बेसिक शिक्षा की विशेषतायें

(१) बेसिक शिक्षा भारतीय संस्कृति का आधार है।

(२) शिक्षा का माध्यम बेसिक क्राफ्ट रखा गया है।

(३) बेसिक शिक्षा के द्वारा छात्रों में नागरिकता का विकास होता है।

(४) बेसिक शिक्षा में आत्म-निर्भरता की विशेषता प्रधान है।

(५) शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालकों की मानवीय प्रवृत्तियों का विकास करना होता है। अतः बेसिक शिक्षा में बालक को शिक्षा का केन्द्र माना गया है।

(६) बेसिक शिक्षा के द्वारा बालक विभिन्न कलाओं का ज्ञान रुचिपूर्वक प्राप्त करते हैं एवं उनका शारीरिक एवं मानसिक विकास एक साथ समान रूप से होता है।

(७) बेसिक शिक्षा में बालकों एवं अध्यापकों को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त होती है।

पाठ्यक्रम

'बेसिक शिक्षा' का पाठ्यक्रम ७ से १४ वर्ष तक के बालकों एवं बालिकाओं के लिए निर्धारित किया गया है। पाँचवीं कक्षा तक सह-शिक्षा की व्यवस्था की गई

है। बालकों तथा बालिकाओं का पाठ्यक्रम समान होता है। बालिकाओं को सामान्य विज्ञान के स्थान पर गृह विज्ञान की शिक्षा दी जाती है। बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में हस्त-उद्योगों को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

अध्यापकों का प्रशिक्षण

बेसिक शिक्षा के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए दो प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की गई है:—

१—अल्पकालीन प्रशिक्षण में १ वर्ष का समय लगता है।

२—दीर्घकालीन प्रशिक्षण में ३ वर्ष का समय लगता है।

शिक्षण-विधि में बालकों के सर्वांगीण विकास का ध्यान रखा जाता है।

बेसिक शिक्षा की प्रगति

इस योजना की प्रगति विशेषकर उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, बम्बई तथा बिहार एवं उड़ीसा में हुई। 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' द्वारा बेसिक शिक्षा के विकास के लिए सन् १९३८ एवं सन् १९४० ई० में दो बार बम्बई के मुख्य मंत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में शिक्षा-समितियों की स्थापना हुई। इस समिति ने बेसिक शिक्षा की प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव उपस्थित किये। खेर समिति के अधिकांश सुझाव 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' द्वारा मान लिये गये और बोर्ड ने सन् १९४४ ई० में 'सार्जेन्ट शिक्षा-योजना' में उन्हें कार्यान्वित करने का आदेश दिया।

सन् १९४५ ई० में पुनः बेसिक शिक्षा की प्रगति के लिए वर्धा में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' द्वारा कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए। इन प्रस्तावों के आधार पर 'बेसिक शिक्षा' का नाम 'नई तालीम' रखा गया एवं उसे चार भागों में विभाजित किया गया। इस योजना में 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' ने भी योगदान किया। तत्पश्चात् सन् १९४७ ई० में 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' ने बेसिक शिक्षा का एक विस्तृत पाठ्यक्रम बनाया और पाठ्यक्रम विभिन्न प्रान्तों की शिक्षा में प्रचलित कर दिया गया।

विभिन्न राज्यों में बेसिक शिक्षा के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करने को बहुत-से प्रशिक्षण-विद्यालय खोले गये हैं। बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में ३० प्रतिशत व्यय केन्द्रीय सरकार देती है।

बेसिक शिक्षा के परीक्षण में निम्नलिखित संस्थाओं के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं:—

(१) आसाम सरकार ने सन् १९५४ ई० में 'बेसिक शिक्षा अधिनियम' पास किया। फलतः राज्य के सभी प्राथमिक एवं मिडिल स्कूल क्रमशः

जूनियर एवं सीनियर बेसिक स्कूलों में परिणित कर दिये गये। विद्यालयों को आकर्षक बनाया गया। विद्यार्थियों को अनुशासित रखने के लिए 'बाल सरकार' की स्थापना की गई।

(२) गुजरात कुमार मंदिर, अहमदाबाद——यह गुजरात का सबसे बड़ा बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र है। इस विद्यालय में शिक्षा का माध्यम 'खादी' है। इस विद्यालय में छात्रों को स्वावलम्बन, सदाचार, सहकारिता एवं नागरिकता की शिक्षा विशेष रूप से दी जाती है तथा बालकों के सुलेख पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(३) नवयुग स्कूल, बम्बई——इस विद्यालय में बालकों तथा बालिकाओं के लिए सह-शिक्षा की व्यवस्था की गई है। इस विद्यालय की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य छात्र का बहुमुखी विकास एवं स्वावलम्बन है। बालकों को धार्मिक एवं सामाजिक शिक्षा भी दी जाती है।

(४) स्नातक प्रशिक्षण-केन्द्र, धारवार——इस प्रशिक्षण-विद्यालय में छात्राध्यापकों को विशेषकर समाज-सेवा एवं सामाजिक शिक्षा के लिए प्रशिक्षित किया जाता है।

(५) बेसिक प्रशिक्षण केन्द्र लोनी, कालभोर, पूना——वर्तमान बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र प्रारम्भ में कृषि का एक सामान्य स्कूल था। परन्तु सन् १९३२ ई० में इसको शिक्षा-विभाग ने 'ग्राम्य प्रशिक्षण-केन्द्र' के रूप में परिवर्तित कर दिया एवं इस प्रशिक्षण-विद्यालय में ग्रामीण क्षेत्रों के अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाने लगा। इस प्रशिक्षण-केन्द्र की सबसे प्रमुख विशेषता स्वावलम्बन है।

(६) हैदराबाद——यहाँ पर सर्वप्रथम हरिजन स्कूलों में बेसिक शिक्षा-प्रणाली कार्यान्वित की गई। इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम में प्रार्थना, समाज-सेवा, स्वच्छता एवं साक्षरता का प्रचार सम्मिलित कर दिया गया। छात्रों एवं अध्यापकों में पारस्परिक प्रेम बढ़ाने के लिये साप्ताहिक भोज की व्यवस्था की जाती है। हैदराबाद के विद्यालयों में शिक्षा के माध्यम विभिन्न प्रकार के हस्त-उद्योग रखे गये हैं।

(७) बेसिक स्कूल सेवाग्राम, मध्य प्रदेश——यहाँ शिक्षा के माध्यम के रूप में दो भाषाएँ प्रचलित हैं। इस विद्यालय से सम्बन्धित एक प्रशिक्षण-केन्द्र भी है। इसमें प्रशिक्षण का माध्यम कोई न कोई हस्त-कार्य होता है। सांस्कृतिक विकास के लिए छात्रों एवं अध्यापकों द्वारा त्योहारों पर कीर्तन एवं नाटकों का आयोजन किया जाता है।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त बेसिक शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में राजकीय हाई स्कूल, सोगाम, काश्मीर; टीचर्स कालेज, सैदपेट, मद्रास; मोगा ट्रेनिंग स्कूल, पंजाब; बाल निकेतन, जोधपुर एवं बेसिक ट्रेनिंग कालेज, बनीपुर, पश्चिमी बंगाल के नाम उल्लेखनीय हैं ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में बेसिक शिक्षकों का प्रशिक्षण-कार्य

स्वाधीनता-प्राप्ति के उपरान्त केन्द्रीय एवं सभी राज्यीय सरकारों का ध्यान बेसिक शिक्षा की ओर गया । फलतः शिक्षा के विकास के लिये योग्य अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए सभी राज्यों में पूर्व-बेसिक एवं उत्तर-बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्रों की स्थापना की गई ।

बेसिक शिक्षा की कुछ समस्यायें

बेसिक शिक्षा की प्रगति बहुत मन्द है । शिक्षा में अनुसन्धान-कार्य बहुत ही शिथिल है । सरकार शिक्षा-विभाग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देती । अतः इस विभाग में सुयोग्य व्यक्ति बहुत कम आते हैं । इसी भाँति बेसिक शिक्षा के मार्ग में अनुपयुक्त विद्यालय-भवन, उच्च वर्ग की उदासीनता के कारण दयनीय स्थिति, जटिल पाठ्यक्रम, अनुपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें एवं अव्यवस्था आदि ऐसी बाधायें हैं जिनको दूर किये बिना भारत में बेसिक शिक्षा की वांछित प्रगति सम्भव नहीं ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. बेसिक शिक्षा से आप क्या समझते हैं ? इसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिये ।
२. बेसिक शिक्षा के आत्म-निर्भरता सम्बन्धी पक्ष की समीक्षा कीजिये ।
३. बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का उल्लेख कीजिये एवं उसके संशोधन के सम्बन्ध में अपने मत की पुष्टि कीजिये ।
४. बेसिक शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में प्रमुख संस्थाओं का उल्लेख कीजिये एवं उनके कार्यों का विवरण दीजिये ।
५. भारत में बेसिक शिक्षा की प्रगति का संक्षिप्त समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत कीजिये ।
६. पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार एवं राज्यीय सरकारों द्वारा बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में किये गये कार्यों पर प्रकाश डालिये ।
७. बेसिक शिक्षा की प्रमुख समस्याओं का विवेचन कीजिये ।

अध्याय ३७

सार्जेन्ट शिक्षा-योजना

भारतीय शिक्षा-प्रणाली के दोषों को ब्रिटिश सरकार भी समझ रही थी। अतः द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त उसका ध्यान इस ओर गया। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार द्वारा तत्कालीन भारतीय शिक्षा-सलाहकार जॉन सार्जेन्ट को एक स्मृति-पत्र बनाने का आदेश मिला जिसमें द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त भारतीय शिक्षा के विकास का कार्यक्रम हो। जॉन सार्जेन्ट ने इस काम में बड़ी तत्परता दिखाई और प्राथमिक से लेकर उच्चतम शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड के समक्ष सन् १९४४ ई० में प्रस्तुत की। 'बोर्ड' ने इस रिपोर्ट को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया और उसे कार्यान्वित करने का आदेश दिया। यही शिक्षा-योजना आगे चल कर 'सार्जेन्ट शिक्षा-योजना' के नाम से प्रख्यात हुई।

सार्जेन्ट योजना के अनुसार सम्पूर्ण शिक्षा को १२ अध्यायों में विभाजित किया गया है, जिसका विवरण निम्नलिखित प्रकार है :—

१. ६ से १४ वर्ष तक के बालकों तथा बालिकाओं के लिये अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय। इस शिक्षा के दो चरण होंगे :—(१) जूनियर बेसिक, ६ से ११ तक, (२) सीनियर बेसिक, ११ से १४ वर्ष तक।

२. ३ से ६ वर्ष तक के बच्चों को सामाजिक अनुभव एवं सद्व्यवहार की शिक्षा देने के लिये पूर्व-प्राथमिक बेसिक स्कूलों की व्यवस्था की जाय।

३. ११ से १७ वर्ष तक के चुने हुए प्रतिभासम्पन्न छात्रों के लिए ६ वर्ष की हाई स्कूल शिक्षा की व्यवस्था की जाय। ये हाई स्कूल दो प्रकार के होंगे : १—साहित्यिक हाई स्कूल[1] और २—व्यावसायिक हाई स्कूल[2]। प्रथम प्रकार के स्कूलों में मातृभाषा, अंग्रेजी, इतिहास,

---

१. Academic High School.
२. Professional High School.

प्राच्य भाषाएँ, आधुनिक भाषाएँ, भूगोल, गणित, विज्ञान, स्वास्थ्य-रक्षा, कृषि, संगीत कला, अर्थ-शास्त्र एवं नागरिक-शास्त्र इत्यादि विषयों के अध्यापन की व्यवस्था की जायगी। दूसरे प्रकार के हाई स्कूलों में व्यावहारिक विज्ञान[1] एवं औद्योगिक तथा व्यापारिक विषय जैसे, काष्ठ-कला एवं धातु-कला, इंजीनियरिंग तथा ड्राइंग आदि तथा व्यापारिक विषय, जैसे बुक-कीपिंग, शार्ट-हैन्ड, टाइप-राइटिंग, एकाउन्टेंसी तथा व्यापार-पद्धति इत्यादि होंगे।

शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जायगी तथा दूसरी भाषा अंग्रेजी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जायगी। बालिकाओं को सामान्य विज्ञान के स्थान पर गृह-विज्ञान की शिक्षा दी जायगी। इन स्कूलों में ५० प्रतिशत छात्रों की निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होगी तथा प्रतिभा-सम्पन्न छात्रों के प्रोत्साहन के लिए छात्र-वृत्तियाँ दी जायँगी।

४. सार्जेन्ट रिपोर्ट में इस बात की भी सिफारिश की गई है कि इन्टर-मीडिएट कक्षा को समाप्त कर दिया जाय और इसकी ग्यारहवीं कक्षा को हाई स्कूल एवं बारहवीं कक्षा को डिग्री कोर्स में सम्मिलित कर दिया जाय। विश्वविद्यालय में प्रवेश पर भी इस प्रकार नियन्त्रण किया जाय कि केवल १५ विद्यार्थियों में से १ विद्यार्थी माध्यमिक शिक्षा के बाद विश्वविद्यालय में प्रवेश पा सके। इसके अतिरिक्त अध्यापकों के वेतन में सुधार एवं अध्यापकों एवं छात्रों के पारस्परिक प्रेम पर भी जोर दिया गया। विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम एवं स्तर में साम्य लाने के लिए 'विश्वविद्यालय अनुदान-समिति' के निर्माण की सिफारिश की गई।

५. टेकनिकल, वाणिज्य एवम् कला-शिक्षा के ऐसे विद्यालय खोले जायँ जिनमें पूर्णकालिक[2] एवम् अंशकालिक[3] छात्र प्रवेश पा सकें। इन उद्योगों को सुचारु रूप से चलाने के लिये निम्नलिखित चार प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता होगी:—

(१) उत्तम श्रेणी—हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त उत्तम श्रेणी के छात्र विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए टेकनॉलॉजिकल विभाग में भर्ती किये जायँगे।

---

१. Applied Sciences.
२. Full time.
३. Part time.

(२) निम्न श्रेणी—औद्योगिक हाई स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त विद्यार्थियों को फोरमैन तथा चार्ज-हेड इत्यादि की शिक्षा दी जायगी।

(३) कुशल शिल्पकार—कुशल शिल्पकारी की शिक्षा के लिए सीनियर हाई स्कूल उत्तीर्ण छात्र लिये जायँगे।

(४) सामान्य शिल्पकार—सामान्य शिल्पकार की शिक्षा के लिये मिडिल स्कूलों के छात्र लिए जायँगे, तत्पश्चात् उन्हें कुशल शिल्पकारों की कक्षा में सम्मिलित कर लिया जायगा।

६. प्रौढ़ों के लिये व्यावसायिक एवं साधारण शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इस प्रकार की शिक्षा में सिनेमा, मैजिक लैन्टर्न, ग्रामोफोन एवं पुस्तकालय इत्यादि विशेष रूप से सहायक हो सकते हैं।

७. सार्जेन्ट शिक्षा-योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए योग्य शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय। इस योजना के आधार पर पूर्व-बेसिक एवं जूनियर बेसिक स्कूलों में ३० छात्रों के लिये एक अध्यापक की व्यवस्था होनी चाहिये तथा सीनियर बेसिक स्कूलों में २५ छात्रों पर एक अध्यापक होना चाहिये एवं हाई स्कूलों में २० छात्रों के लिये एक अध्यापक होना चाहिए। शिक्षा-विभाग में योग्य व्यक्तियों को लाने के लिये अध्यापकों के लिये उच्च वेतन की व्यवस्था की जाय।

८. छात्रों को पूर्ण स्वस्थ रखने के लिये व्यायाम-शिक्षकों की व्यवस्था की जाय तथा प्रतिवर्ष छात्रों के स्वास्थ्य की योग्य एवं अनुभवी डाक्टरों द्वारा जाँच की जाय एवं आवश्यकता पड़ने पर उनकी निःशुल्क चिकित्सा की जाय। विद्यार्थियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जानकारी रखने के लिये पुस्तकों की व्यवस्था होनी चाहिये। उनके बैठने वाले कमरों में धूप एवं वायु का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिये तथा बैठने के लिये आधुनिक ढंग का स्वच्छ फर्नीचर होना चाहिये।

९. बौद्धिक एवं शारीरिक दोष वाले छात्रों की शिक्षा के लिये अलग से विद्यालयों की व्यवस्था की जाय। इस प्रकार के विद्यालयों में गूंगे-बहरे, अंधों एवं मंदबुद्धि वालों को शिक्षा दी जायगी।

१० व्यवसाय पाने वालों के लिये रोजगार दफ्तरों[१] की स्थापना की जाय।

११. छात्रों के स्वास्थ्य को समुन्नत बनाने के लिये विद्यालयों में विनोदात्मक शिक्षा की व्यवस्था हो।

---

१. Employment Bureaus.

१२. केन्द्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों में शिक्षा के कार्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये शिक्षा-विभाग की व्यवस्था होनी चाहिये। इनकी देख-रेख के लिये शिक्षा-विशषज्ञों की व्यवस्था हो। विश्वविद्यालय की शिक्षा के नीचे की समस्त शिक्षा का भार प्रान्तीय सरकारों पर छोड़ दिया जाय। विश्वविद्यालयों की शिक्षा अखिल भारतीय स्तर पर दी जाय। सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में साम्य हो एवं सभी विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को समान वेतन दिया जाय। विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों का चरित्र एवं नैतिक बल आदर्श होना चाहिये।

समीक्षा

गुण

वास्तव में भारतीय शिक्षा की दशा अन्य देशों की शिक्षा की अपेक्षा बहुत पिछड़ी थी। अतः द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तत्कालीन सरकार का ध्यान भारतीय शिक्षा के विकास की ओर गया। इस दिशा में सार्जेन्ट शिक्षा-योजना बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। प्रायः अभी तक शिक्षा के सम्बन्ध में जितने प्रयास हुए हैं उन सब में सार्जेन्ट शिक्षा-योजना सबसे महत्त्वपूर्ण थी। इस शिक्षा-योजना में शिक्षा के सभी आवश्यक अंगों पर विशेष ध्यान दिया गया। शिक्षा को पूर्व-माध्यमिक, प्राथमिक, माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय की शिक्षा में विभक्त किया गया। अभी तक शिक्षा एकांगी थी। इस योजना के द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास करने की व्यवस्था की गई। बहु उद्देशीय शिक्षा के द्वारा बालक की विभिन्न रुचियों के विकास की व्यवस्था की गई। इस योजना में व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की गई जिससे बालकों को शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त रोजगार के लिये भटकना न पड़े। बालकों के शारीरिक विकास के लिये इस योजना में सुन्दर विद्यालय-भवन, स्वास्थ्य-परीक्षा एवं चिकित्सा इत्यादि की समुचित व्यवस्था पर बल दिया गया। सम्पूण समाज को समुन्नत बनाने के लिये प्रौढ़ों की शिक्षा-व्यवस्था की गई। इस शिक्षा-योजना द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह हुआ कि सभी प्रकार की शिक्षा में अध्यापक का वास्तविक स्थान माना गया एवं अध्यापकों का स्तर उठाने एवं योग्य व्यक्तियों को इस विभाग में लाने के लिए उच्च वेतन की सिफारिश की गई। इसके अतिरिक्त सार्जेन्ट रिपोर्ट में परीक्षा-प्रणाली के नवीन सुझाव का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। रिपोर्ट में विश्वविद्यालय के प्रवेश पाठ्यक्रम एवं स्तर इत्यादि के सम्बन्ध में दिये गये सुझाव प्रायः अभिनन्दनीय हैं।

दोष

यह योजना यद्यपि अंग्रेजी सरकार की व्यवस्था को देखते हुए सन्तोषजनक जान पड़ती थी किन्तु एक स्वाधीन राष्ट्र के दृष्टिकोण से इसमें बहुत-से दोष थे। इस योजना के कार्यान्वयन का समय ४० वर्ष रक्खा गया था और इस बात की कल्पना की गई थी कि ४० वर्ष बाद भारतीय शिक्षा का स्तर इंगलैण्ड की शिक्षा के स्तर पर पहुँच जायगा। किन्तु इस परिकल्पना में ब्रिटेन की भावी शिक्षा की प्रगति का ध्यान न रखा गया था। इसका फल यह होता कि भारत सदैव ब्रिटेन से शिक्षा में पिछड़ा रहता। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा-योजना को कार्यान्वित करने के लिए इसे ५ सप्तवर्षीय योजनाओं में विभाजित किया गया था। इतना अधिक समय लेना योजना को कार्यान्वित करने के लिये ठीक न था। इस योजना में ३१३ करोड़ रुपये का खर्च था जिसमें से २७७ करोड़ रुपया जनता-कोष से लिया जाता। अतः भारत के लिये यह शिक्षा-योजना केवल योजना मात्र ही थी। इसका कार्यान्वयन यहाँ की निर्धन जनता के लिये सम्भव न था। इस शिक्षा-योजना में स्त्री-शिक्षा तथा धार्मिक शिक्षा को महत्त्व नहीं प्रदान किया गया जिसका कि भारत के लिये बड़ा महत्त्व है। इस शिक्षा-योजना द्वारा उच्च शिक्षा का द्वार सर्वसाधारण के लिये बन्द कर दिया गया। विश्वविद्यालय का प्रवेश-नियम इतना जटिल न होना चाहिए था। इस योजना में आत्म-निर्भरता वाले पक्ष पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया गया जिसकी कि भारतीय शिक्षा में नितान्त आवश्यकता है। जब तक शिक्षा में आत्म-निर्भरता नहीं होगी तब तक बेकारी की समस्या का हल होना सम्भव नहीं।

योजना के कुछ प्रतिवेदनों का कार्यान्वयन

यद्यपि सार्जेण्ट शिक्षा-योजना देश की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थी, फिर भी केन्द्रीय सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया तथा इसके कुछ प्रतिवेदनों के अनुसार शिक्षा में निम्नलिखित संशोधन किये गये :—

१. सन् १९४५ ई० में केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से शिक्षा-विभाग की स्थापना की गई।

२. प्रान्तीय सरकारों को पंचवर्षीय शिक्षा-योजना बनाने का आदेश दिया गया। कुछ प्रथम पंचवर्षीय योजनाएँ सन् १९४६ ई० में ही प्रारम्भ हो चुकी थीं।

३. शिक्षा-योजना को सुचारु रूप से चलाने के लिये केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४७-४८ के लिये ४० करोड़ रुपया प्रान्तीय सरकारों को देना स्वीकार किया।

४. इस शिक्षा-योजना के अन्दर ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा, प्रौढ़ों की शिक्षा तथा शिक्षा में अन्य सुधार एवं अध्यापकों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया गया।

५. इस योजना को कार्यान्वित करने का समय ४० वर्ष को कम करके १६ वर्ष कर दिया गया।

६. भारत में टेकनिकल शिक्षा के विकास के लिए 'अखिल भारतीय टेकनिकल शिक्षा-समिति' की स्थापना की गई और दिल्ली में एक 'पोलीटेकनिक विद्यालय' खोला गया।

७. शिक्षा में अनुसंधान एवं विकास के लिए 'शिक्षा ब्यूरो' एवं 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' की व्यवस्था की गई।

सारांश

द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध के उपरान्त केन्द्रीय सरकार द्वारा तत्कालीन शिक्षा-सलाहकार जॉन सार्जेन्ट को भारतीय शिक्षा के विकास के लिए एक स्मृति-पत्र बनाने का आदेश मिला। जॉन सार्जेन्ट ने प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक का भली-भाँति परीक्षण करके अपनी रिपोर्ट शिक्षा-सलाहकार बोर्ड के समक्ष सन् १९४४ में प्रस्तुत की।

"शिक्षा-सलाहकार बोर्ड" ने सार्जेन्ट रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया तथा उसे कार्यान्वित करने के लिए आदेश दिया। यही योजना आगे चलकर 'सार्जेन्ट शिक्षा-योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस योजना के अनुसार सम्पूर्ण शिक्षा को १२ अध्यायों में विभाजित किया गया है। इसके अनुसार भारत में शिक्षा की प्रगति पर जोर दिया गया है। इस योजना के अनुसार भारतीय शिक्षा को पूर्व-प्राथमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा, सीनियर प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा एवं उच्चतम शिक्षा में विभाजित किया गया है।

इस योजना द्वारा शिक्षा को बालक के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। शिक्षा द्वारा बालक के सर्वांगीण विकास की व्यवस्था की गई है। इस योजना में व्यावसायिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया गया है। वर्तमान शिक्षा के दोषों को दूर करना, अध्यापकों का स्तर उठाना, बालकों को स्वस्थ बनाना एवं सामाजिक स्तर को ऊँचा करना इस योजना का लक्ष्य रहा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सार्जेन्ट शिक्षा-योजना का विवरण दीजिये।

२. सार्जेन्ट शिक्षा-योजना की समीक्षा कीजिए।

अध्याय ३८

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली की समालोचना

इस पुस्तक के इस तृतीय खण्ड में अब तक हम प्राय: ब्रिटिश-कालीन शिक्षा का ही विवेचन करते रहे हैं। इसके आगे अब हम स्वतन्त्र भारत में शिक्षा का विवरण देंगे। परन्तु इस विवरण पर आने के पूर्व देश में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की समीक्षा करना समीचीन दिखलाई पड़ता है। इस अध्याय में हम इसी समीक्षा पर आ रहे हैं।

किसी देश के राजनीतिक परिवर्तन का प्रभाव वहाँ के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक परिस्थितियों पर अवश्यम्भावी होता है। यही कारण था कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के पश्चात् भारतीय शिक्षा-प्रणाली का भी कलेवर बदल गया।

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के गुण

जिस प्रकार अंग्रेजी शासन में अनेक बुराइयाँ थीं फिर भी तज्जनित कठिनाइयों ने ही भारतवासियों को स्वतन्त्रता-प्राप्ति की ओर प्रेरित किया, उसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली भी दोषयुक्त तो अवश्य थी, परन्तु भारत को अन्य प्रगतिशील देशों के सांस्कृतिक सम्पर्क में लाने का श्रेय भी उसी को प्राप्त है। किसी वस्तु का उचित मूल्यांकन काल एवं परिस्थिति करती है। भारत की तत्कालीन परिस्थिति में, नवीन और प्राचीन, प्राच्य तथा पाश्चात्य तथा रूढ़ि एवं प्रगतिवादी आदि विरोधी विचार-धाराओं के संघर्ष के अन्तर्गत अंग्रेजी शिक्षा का प्रस्फुटन भारत के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

अहित की अपेक्षा हित अधिक

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति में केवल वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय विकास पर ध्यान न दिये जाने के कारण ही उसके सम्पूर्ण रूप को दूषित कह देना समीचीन न होगा, क्योंकि इन बुराइयों के साथ ही साथ इस प्रणाली में बहुत से ऐसे गुण भी थे जो भारत के लिए प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूप में हितकर सिद्ध हुए। इस प्रकार यदि हम निष्पक्ष भाव से एक समालोचक की दृष्टि से इस प्रणाली के गुण तथा दोषों पर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली से भारतवासियों का अहित की

अपेक्षा हित अधिक हुआ है। कुछ लोगों का मत है कि इसे अपनाने के लिए भारतवासियों को जबरदस्ती बाध्य किया गया, तथा इस नीति में मैकाले को विशेष रूप से दोषी ठहराया जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। अंग्रेजी शासन तथा शासक भारत की शिक्षा-व्यवस्था के प्रति सदैव उदासीन रहे। यहाँ तक कि हेस्टिंग्ज, मिन्टो तथा प्रिन्सेप आदि तो भारत में अंग्रेजी शिक्षा को स्थापित करने के विरोध में थे; जब कि राजा राममोहन राय सदृश प्रगतिशील देश-नायकों ने इसकी स्थापना के लिए प्राण-पण से प्रयत्न किया। मैकाले तथा बैंटिक ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा के जो कुछ प्रयास किये उनके मूल में भारतीयों की उन्नति के निर्मल एवं निष्पक्ष भाव ही दृष्टिगोचर होते हैं। मैकाले ने जिस अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के स्थापन के लिए सरकार से सिफारिश की उससे भारतीय साहित्य तथा संस्कृति पर धक्का अवश्य लगा; परन्तु तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार यह आवश्यक था कि भारत में वैसी ही शिक्षा की व्यवस्था हो जिससे भारत की भाषा-जनित विभिन्नताओं को मिटाया जा सके। देश को उन्नतिशील बनाने के हेतु अन्य देशों की भाँति नये ज्ञान की खोज में भारत भी भाग ले सके; तथा वैज्ञानिक अन्वेषणों से परिचित होकर भारत विश्व के वैज्ञानिक कार्यों में वांछित योग प्रदान कर सके।

अंग्रेजी शिक्षा की स्थापना तथा भारत की परिस्थिति

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में भारत राजनीतिक विश्रृंखलताओं, सामाजिक विभेदों तथा रूढ़ियों एवं अंध-विश्वासों के कारण त्राहि-त्राहि कर रहा था। वह न तो नवीन पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आ सका था और न अपनी प्राचीन संस्कृति, साहित्य तथा आदर्शों को अक्षुण्ण एवं गतिशील करने की उसमें योग्यता थी। भारतीय प्रगति के सभी पथ कंटकाकीर्ण थे तथा भारत को नैराश्यरूपी अंधवाद ने आच्छादित कर लिया था। ऐसी परिस्थिति में भारत को आलोक प्रदान करने का श्रेय अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति को ही है। इस शिक्षा-प्रणाली ने भारतीयों को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से परिचित किया जिससे उन्हें अपने को प्रगतिशील बनाने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

अंग्रेजी शिक्षा तथा भारत का प्राचीन गौरव और साहित्य

विश्व की प्रगति तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराने के अतिरिक्त अंग्रेजी शिक्षा ने हमारी प्राचीन सांस्कृतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा धार्मिक निधियों को अंग्रेजी के माध्यम द्वारा पुनः सँजोकर हमारे ही सम्मुख उपस्थित कर दिया। ऐसी निधि जिसको कि हम भूल गये थे, जो काल-कवलित हो चुकी थी, हमें मैक्समूलर, मोनियर तथा विलियम्स आदि महापुरुषों की कृपा से अंग्रेजी भाषा में पुनः हस्तगत हुई। इन विद्वानों ने हमारे प्राचीन इतिहास के पन्नों को संग्रह करके

पुनः व्यवस्थित रूप दिया। इन अंग्रेज विद्वानों के आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक अध्ययन ने ही हमें अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाकर उसके अन्वेषण एवं अनुशीलन के लिए प्रोत्साहित किया। यही अनुशीलन हमारी चेतना का कारण बना और हम अपने प्राचीन वैभव को पाने के लिए पुनः प्रगति की ओर अग्रसर हुए।

अंग्रेजी शिक्षा और भारतीय भाषायें

विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के कारण हमारी विविध मातृ-भाषाओं का विकास तो नहीं हो सका, परन्तु परोक्ष रूप से उन्हें विकसित करने की प्रेरणा हमें इसी पद्धति से प्राप्त हुई। अंग्रेजी शिक्षा के स्थापन के समय भारत में अनेक भाषायें प्रचलित थीं; किन्तु उनमें से संस्कृत एवं फ़ारसी के अतिरिक्त कोई भाषा ऐसी नहीं थी जो शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग की जा सकने के योग्य होती। इसके अतिरिक्त अंग्रेज विद्वानों तथा अधिकारियों ने भारत की विभिन्न भाषाओं के भाषा-विज्ञान का अध्ययन करके उनके शब्द-कोष तथा व्याकरण की रचना की। इतना ही नहीं इन भाषाओं में पत्र-पत्रिकायें भी प्रकाशित कराईं। भले ही उनका यह प्रयास धर्म-प्रचार अथवा उनके निजी स्वार्थ-सिद्धि का फल रहा हो; परन्तु भारत इसके लिए उन विद्वानों का सदैव ऋणी रहेगा। हमारे लिए ग्रियर्सन का 'लिंगविस्टिक सर्वे ऑव् इण्डिया' अंग्रेजी शिक्षा की अमूल्य देन है। यह अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेज विद्वानों के प्रयासों का ही फल है कि हम आज अपनी मातृ-भाषा को इस रूप में समुन्नत करके उसे विश्वविद्यालय की शिक्षा का भी माध्यम बना सके हैं। यदि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का आविर्भाव न हुआ होता तो आज हम पाश्चात्य वैज्ञानिक अन्वेषणों एवं प्रगति से बिल्कुल अनभिज्ञ होते। अंग्रेजी शिक्षा ही ने भारत में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न ऐसे विद्वानों को जन्म दिया जो आज भारतीय विश्वविद्यालयों में मातृ-भाषा के प्रतिष्ठापन में यथाशक्ति लगे हुए हैं।

अंग्रेजी शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता का प्रस्फुटन

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति ने पाश्चात्य विज्ञान तथा भारत को अपने प्राचीन गौरव, वैभव, संस्कृति एवं साहित्य से परिचित कराने के अतिरिक्त जो और महत्वपूर्ण आलोक प्रदान किया उसे हम राष्ट्रीयता की भावना का प्रस्फुटन कह सकते हैं। भारतीयों के बिखरे विचारों एवं भावों को एक लड़ी का रूप प्रदान करने का श्रेय अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली तथा उसके पाठ्यक्रम को ही है। अंग्रेजी भाषा की विश्वव्यापकता के कारण ही हम अपने प्राचीन तथा अर्वाचीन वैभव से संसार को परिचित करने में सफल हो सके हैं।

अंग्रेजी शिक्षा-संस्थाओं तथा विभिन्न प्रकार के स्कूलों, कालेजों तथा विश्व-विद्यालयों का पाठ्यक्रम समान होने के कारण भारत में एक ऐसे समान स्तर के बुद्धिवादियों का आविर्भाव हुआ जो सम्पूर्ण भारत की समस्याओं पर एकमत होकर विचार कर सकते थे। प्रान्तीयता की दूषित भावना का यहीं से विनाश प्रारम्भ हो सका। साथ ही साथ दूसरे देशों से भी भाषा तथा साहित्य के समुचित आदान-प्रदान की सुविधा प्राप्त करने के अतिरिक्त भारत उनकी सुख-सुविधाओं को समझने तथा अपनी परिस्थितियों से उन्हें अवगत करने योग्य हो सका। इस सुविधा का फल वही हुआ जो कि मैकाले ने १८३३ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार-पत्र के पुनरावर्तन के समय कल्पना की थी। भारत में राष्ट्रीय जागरण की लहर एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गयी। सभी प्रान्तों के बुद्धिवादी वर्ग, जिनका आविर्भाव अंग्रेजी शिक्षा ने किया था, प्रायः इस राष्ट्रीय आन्दोलन के नायक रहे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत में राष्ट्रीयता के उन्नयन, राष्ट्र-नायकों के आविर्भाव तथा भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की सफलता को हस्तागत कराने का श्रेय अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति को ही प्राप्त है।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की उपयोगिता को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यह उसकी उपयोगिता ही का फल है कि आज भी अंग्रेजी नैतिकता, कला-कौशल, कानून, नियम, साहित्य, विज्ञान तथा शासन-प्रणाली भारत में प्रचलित है और उपयुक्त भी है।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के दोष

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के लाभों तथा भारत पर पड़े उसके प्रभावों से अवगत होकर अब यह देखना है कि उक्त पद्धति से भारत की क्या हानियाँ हुईं। जब अंग्रेजी पद्धति का देश में प्रारम्भ हुआ उस समय देश पराधीन था। अंग्रेजों तथा भारतवासियों में शासक और शासित होने का महान अन्तर था। यदि हम यह कहें कि अंग्रेजों ने भारत की प्रगति के लिए उस दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर कभी नहीं प्रयत्न किया जो दृष्टिकोण उनका अपने देश की प्रगति के लिए होना चाहिए तो यह अक्षरशः सत्य है। उक्त शिक्षा-प्रणाली से हुए प्रत्यक्ष लाभ बहुत कम हैं, जो कुछ हैं, वे परोक्ष रूप में ही हो सके हैं।

शिक्षा के विकास को संख्यात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि लगभग २०० वर्ष में अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति केवल १५ प्रतिशत भारतीयों को शिक्षित बना सकी। इस संख्या की यदि अन्य देशों के आँकड़ों से तुलना की जाय तो इसे किसी भी श्रेणी में नहीं रक्खा जा सकता।

अंग्रेजी शिक्षा के गुणों से परिचित होने के लिए कम्पनी के १८१३ के अधिकार-पत्र तथा १८८८ ई० के संदेश-पत्रों का उल्लेख करना आवश्यक है। अधिकार-पत्र का आशय था कि इस शिक्षा द्वारा विद्वान भारतवासियों को प्रलोभन तथा पाश्चात्य साहित्य का पुनरुद्धार हो। संदेश-पत्र का मन्तव्य शिक्षा द्वारा कम्पनी के लिए सुयोग्य, स्वामिभक्त क्लर्क तथा कर्मचारी उत्पन्न करना था। जिस शिक्षा-प्रणाली का इतना सीमित और संकीर्ण क्षेत्र होगा उससे व्यक्ति, समाज, देश अथवा राष्ट्र के हित की कल्पना करना बालू पर दीवार खड़ी करने के समान है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति अंग्रेजी साम्राज्यवाद की पोषक थी और उसका प्रारम्भ भारतीयों के लाभ के दृष्टिकोण से नहीं किया गया था। जो कुछ हित इसके द्वारा भारत का हुआ वह सब उस शिक्षा-प्रणाली की स्वाभाविक शिथिलता के परोक्ष फल थे। यही कारण था कि उक्त शिक्षा-प्रणाली संख्यात्मक, गुणात्मक तथा मुख्यात्मक तीनों दृष्टिकोणों से भारतीयों के लिए विशेष उपयोगी न सिद्ध हो सकी।

भारतीयों की आवश्यकता के विरुद्ध शिक्षा-पद्धति का होना

उसी शिक्षा-प्रणाली को उपयुक्त कहा जा सकता है जिससे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र का सर्वांगीण विकास हो सके। इस दृष्टि से अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति सर्वथा गुणरहित थी। यही कारण था कि इसे जनवर्ग ने अपनाया भी नहीं। स्वावलम्बन के लिए इस पद्धति में कोई स्थान ही नहीं था। अधिकतर अंग्रेज शासकों का विचार था कि स्वावलम्बन की शिक्षा भारतीयों में स्वतन्त्रता की भावना उत्पन्न कर देगी और इसकी कल्पना करके वे सिहर जाते थे। उनका ध्येय था भारत को अपने हाथ ही कठपुतली बनाकर उसके संचित वैभव, गौरव को नष्ट करना तथा उसकी निधियों को हड़प कर अन्य देशों के सम्मुख अपने को वैभवशाली तथा सुसम्पन्न प्रमाणित करना। इन्हीं मंतव्यों की पूर्ति का अनुसरण उनके द्वारा व्यवस्थित अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली भी करती थी।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के प्रसार की गलत रीतियाँ

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के लक्ष्यों के निर्धारण तो दोष-पूर्ण थे ही, साथ ही साथ इस पद्धति का प्रसार भी बड़े बुरे ढंग से किया गया। इसके प्रसार के फलस्वरूप भारत के प्राचीन विद्यालयों, विद्यापीठों, पाठशालाओं, मदरसों तथा मकतबों का, जो कि भारतीय जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति में आवश्यक योग प्रदान करते थे, लोप हो गया। इन्हें किसी प्रकार का प्रोत्साहन न मिल सका। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के प्रसार का दूसरा मुख्य दोष निस्यन्दन सिद्धान्त[१] का प्रति-

१. Filtration Theory.

ष्ठापन था। इस सिद्धान्त के अनुसार नवीन ज्ञान-प्राप्ति की अवधि अनावश्यक रूप में अधिक हो गई। फलस्वरूप शिक्षा का प्रसार समुचित रूप में न हो सका और यह केवल वर्ग विशेष तक ही सीमित रही।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति में भारतीय भाषाओं की अवहेलना करके अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। विश्वविद्यालय की शिक्षा में तो इससे लाभ हुआ, परन्तु निम्न कोटि की कक्षाओं के कोमल-मति बालकों पर यह एक अनावश्यक भार हो गया। फलतः अंग्रेजी भाषा की वेदी पर अन्य विषयों तथा भाषाओं की बलि देनी पड़ी। साथ ही साथ नवीन ज्ञान-प्राप्ति का अवसर भी पर्याप्त न मिल सका।

शिक्षा का आदर्श भारतीय वातावरण के विपरीत

अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था का एक प्रमुख दोष यह भी था कि भारत में व्यवहृत करने के लिए भी उसके आदर्श तथा मान्यतायें वही रहीं जो कि इंग्लैण्ड में थीं; जब कि भारत तथा इंग्लैण्ड की सामाजिक, आर्थिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों में महान अन्तर था। इस प्रकार भारत की शिक्षा-प्रणाली, इंग्लैण्ड की शिक्षा-प्रणाली के क्रोड से चिपट कर भारत के लिए लाभकारी नहीं सिद्ध हो सकी।

भारत की परिस्थितियों के प्रति अंग्रेजों के उदासीन होने का प्रमुख कारण भारत तथा भारतीयों के प्रति उनमें उद्भूत घृणास्पद भावना थी। वे भारत की सभ्यता तथा संस्कृति को सदैव निम्न कोटि की समझते थे। यह उनका भ्रम था, परन्तु वे शासक थे। यद्यपि परोक्ष रूप में उनकी यही भावना विनाश का कारण बनी, परन्तु भारतीय जागरण के पूर्व इस पद्धति ने भारत में ही 'भारतीय अंग्रेजों' के एक वर्ग को जन्म दे दिया जो रहन-सहन में अंग्रेज, किन्तु वास्तव में भारतीय थे। इस प्रकार प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यताओं का समन्वय न करके अंग्रेजी शिक्षा ने भारत में शिक्षित तथा अशिक्षितों एवं नये और पुराने वर्गों के बीच एक अभेद्य दीवार खड़ी कर दी। इसके विपरीत यदि पूर्व की आध्यात्मिकता तथा पश्चिम की भौतिक-वादिता में इंग्लैण्ड की योगवृत्ति तथा भारत की त्यागवृत्ति का समन्वय हो जाता तो विश्व में एक नवीन ज्ञान की धारा प्रवाहित हो उठती। अंग्रेजी शासकों की इस विचारधारा ने भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों का अहित करने के साथ ही साथ पश्चिमी सभ्यता पर भी कुठाराघात किया।

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का राज्याश्रित होना

राज्याश्रित होने के कारण अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली केवल शासक-वर्ग द्वारा ही मान्य रही। यह शासन की गतिविधियों का अनुसरण करती थी। यही कारण था

जिससे जनवर्ग इसे अपना नहीं सका। इस शिक्षा-प्रणाली में भी शासन-नीति की भाँति भेद पैदा करके शासन करने की नीति प्रतिपादित होती रही। यहाँ तक कि प्रत्यक्ष रूप से भारतीय राष्ट्र को विभाजित करना इसका लक्ष्य था। इस प्रकार इस पद्धति में सुधारात्मक तथा सृजनात्मक भावनाओं को जागृत करने का पूर्णतया अभाव रहा। समाज को सुयोग्य नागरिक प्रदान करने में यह शिक्षा-प्रणाली सर्वथा असमर्थ रही। एक प्रकार से यह केवल अंग्रेजी शासन का सम्वर्द्धन करती रही। भारत के अभ्युत्थान से इसका कोई सम्बन्ध न था। ऐसी परिस्थिति में इस शिक्षा से राष्ट्रीयता की प्रेरणा प्राप्त करना असम्भव ही था; परन्तु परोक्ष रूप से इस राख से ही राष्ट्रीयता की चिनगारी ने दावानल का रूप ग्रहण कर लिया। परन्तु इसके लिए अंग्रेजी शिक्षा का आभारी होना न्यायोचित नहीं।

प्रशासकीय क्षेत्रों द्वारा शिक्षा-विभाग की उपेक्षा

अंग्रेजी शासन-काल में शिक्षा-विभाग को बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था। इसके पदाधिकारियों का वेतन-क्रम अन्य अधिकारियों की अपेक्षा कम था। यही कारण था कि निम्न कोटि के अंग्रेज इन पदों पर नियुक्त किये जाते थे जिनसे शिक्षा की प्रगति की आशा करना व्यर्थ ही था। इस विभाग को अन्य विभाग के सचिव को सुपुर्द कर दिया जाता था जो कि इस विभाग के कार्य को दोपहर के बाद अपनी थकान मिटाने के लिए देखते थे। इस प्रकार भारतीय शिक्षा की अंग्रेजी शासन-काल में अवहेलना होती रही। इस विभाग में ग्रान्ट, माइकल तथा सैडलर सदृश कुछ योग्य व्यक्ति अवश्य थे, परन्तु इनके अतिरिक्त इस विभाग में कोई ऐसा अधिकारी नहीं हुआ जो इसका संचालन सुचारु रूप से कर सकता। यही कारण था कि अन्य विभागों द्वारा इसे वांछित सहयोग भी नहीं मिलता था।

भारतीय शिक्षा के सुसंगठन हेतु अंग्रेजी सरकार ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। कोई सुव्यवस्थित योजना इसके संचालन एवं सुसम्पादन हेतु नहीं बनाई जा सकी। विभिन्न शिक्षाधिकारियों के मतानुसार उनके कार्य-काल तक विभिन्न प्रकार की नीति का अनुसरण होता रहा। एक अधिकारी के स्थानान्तरण के पश्चात् दूसरा अधिकारी उसकी नीति का स्थगन करके अपनी रुचि के अनुसार नवीन नीति को जन्म देता था। इसी नीति-परिवर्तन के आवर्तन में भारतीय शिक्षा की प्रगति तो दूर रही, दिन प्रति दिन उसकी अवनति होती गई।

सारांश

गुण

अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली से भारत का अहित तो अवश्य हुआ, परन्तु कुछ हित भी हुआ। इस शिक्षा-प्रणाली में कुछ ऐसे गुण विद्यमान थे जो प्रत्यक्ष से अधिक परोक्ष

रूप में भारत के उत्थान के लिए वरदान सिद्ध हुए। इसी प्रणाली से भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव का स्मरण हुआ। भारत के प्राचीन साहित्य की अंग्रेज विद्वानों द्वारा समीक्षा की गई और वे पुनः प्रकाश में लाये गये। फलतः भारतीयों को उससे परिचित होने का अवसर मिला। भारत को भी पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आने तथा नवीन ज्ञानार्जन और अन्वेषणों से परिचित होकर अपने बीते वैभव को पुनर्जीवन प्रदान करने की प्रेरणा मिली।

अंग्रेजी शिक्षा की स्थापना भारत की तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल थी। उस समय भारत में अनेक भाषायें प्रचलित थीं। प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना लोगों में व्याप्त थी। इन सब कुरीतियों का अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली ने किसी सीमा तक मूलोच्छेदन किया। हमें विश्व के सम्पर्क में लाने का श्रेय इसी शिक्षा-प्रणाली को है।

दोष

इस प्रणाली का दोषयुक्त होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि यह राज्याश्रित थी तथा विदेशी नीति की पोषक थी। इसके प्रचलन का मूल ध्येय राज्य-सत्ता को दृढ़तर करने का उपकरण प्रस्तुत करना था, जैसा कि कम्पनी के अधिकार-पत्रों से स्पष्ट है। इस प्रणाली में व्यक्ति तथा समाज की उन्नति पर किंचित् मात्र भी ध्यान नहीं दिया गया था। अतः न तो इससे संख्यात्मक गुणों का विकास हो सका और न यह गुणात्मक ही बन सकी। यह सर्वथा शासन-नीति की पोषक बनी रही। इसके दोषयुक्त होने के निम्नलिखित प्रमुख कारण थे :—

१. भारतीय आवश्यकताओं के विरुद्ध शिक्षा-पद्धति का होना।

२. शिक्षा-प्रणाली के प्रसार की रीति का गलत होना।

३. शिक्षा का आदर्श भारतीय वातावरण के विपरीत होना।

४. इस प्रणाली का राज्याश्रित होना।

५. प्रशासकीय क्षेत्रों द्वारा शिक्षा-विभाग की उपेक्षा होना।

६. शिक्षा-प्रणाली में राष्ट्रीयता की भावना को स्थान न मिलना, इत्यादि।

इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली, जिसकी रूपरेखा का निर्माण इंग्लैण्ड में होता था और वह थोपी जाती थी भारतीयों पर, का सफल होना दुष्कर ही नहीं, अपितु असम्भव था। इस प्रणाली द्वारा भारत में एक बुद्धिजीवी-वर्ग का

निर्माण अवश्य हुआ, लेकिन उस वर्ग को भारतीय अंग्रेज कहना ही उचित होगा। २०० वर्ष की अवधि में इस शिक्षा-पद्धति द्वारा भारत की केवल १५ प्रतिशत जनता साक्षर बनाई जा सकी जो कि अन्य देशों की अपेक्षा नगण्य संख्या कही जा सकती है।

इस शिक्षा-प्रणाली से परोक्ष रीति से भारत अवश्य लाभान्वित हुआ, परन्तु उसे इस प्रणाली की देन न कह कर भारत का सौभाग्य ही कहा जा सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के गुण तथा दोषों पर प्रकाश डालिए।

२. 'अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति भारत के लिए वरदान सिद्ध हुई' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

३. अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली द्वारा भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति किस सीमा तक हुई ? अपने विचार प्रगट कीजिए।

अध्याय ३६

माध्यमिक शिक्षा-आयोग (१९५२-५३)[1]

आयोग की नियुक्ति के पूर्व

शिक्षा का मानव-जीवन में बहुत उच्च स्थान है। अशिक्षित मनुष्य के लिए किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं। अतः सन् १९३७ ई० में हमारे देश में जनप्रिय सरकारों की स्थापना होने पर प्राथमिक शिक्षा-प्रसार के साथ माध्यमिक शिक्षा-प्रसार पर भी अधिक ध्यान दिया गया। जनता एवं सरकार दोनों की ही ओर से उत्साहपूर्वक इस दिशा में कार्यारम्भ हुआ और बहुत से नवीन माध्यमिक विद्यालय खोले गये तथा पुराने विद्यालयों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया गया। किन्तु सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने तथा जनप्रिय सरकारों के त्याग-पत्र दे देने से यह प्रगति समाप्तप्राय हो गई। प्रगति के अवरोध के निम्नलिखित दो कारण थे :—

१. जनप्रिय सरकारों के त्याग-पत्र देने से ब्रिटिश सरकार का ध्यान शिक्षा-प्रगति की ओर से हट गया तथा युद्ध के कारण शासन का व्यय भी अधिक बढ़ गया।

२. जनता मँहगाई एवं युद्ध-काल में सरकार की सहायता करने से तबाह हो गई। अतः अधिकांश जनता विद्यार्थियों का शिक्षा-व्यय वहन करने में असमर्थ हो गई।

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० को भारत स्वाधीन हुआ और अनेक स्तरों की शिक्षा-प्रगति पुनः प्रारम्भ हुई। प्राथमिक शिक्षा का प्रसार होने के कारण माध्यमिक विद्यालयों की माँग बढ़ी। फलतः माध्यमिक विद्यालयों की बाढ़-सी आ गई। देहात के प्रायः सभी कस्बों में माध्यमिक स्कूल खोले गये। इसके अतिरिक्त लड़कियों के भी बहुत से माध्यमिक स्कूल खोले गये। अभी तक जिस शिक्षा के लिए ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यार्थियों को शहरों में जाना पड़ता था, वह उनके लिए समीप में ही सुलभ होने लगी। इस प्रकार माध्यमिक विद्यालयों में दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हुई। किन्तु माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम भारतीय जनता की

---

१. The Secondary Education Commission (1952-53).

आवश्यकताओं के अनुकूल न था। अतः स्वाधीनता प्राप्त करने के कुछ ही दिन उपरान्त केन्द्रीय एवं राज्योय सरकारों द्वारा माध्यमिक शिक्षा को पुनर्संगठित करने का कार्य आरम्भ हो गया।

सन् १९३८ ई० में बम्बई सरकार द्वारा एक 'माध्यमिक शिक्षा-पुनर्व्यवस्था समिति' की नियुक्ति की गई थी। इस समिति ने माध्यमिक शिक्षा के लिए ४ वर्ष का एक पाठ्यक्रम तैयार किया था। यह पाठ्यक्रम ७ वर्षीय प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त प्रारम्भ किया जाने वाला था। ४ वर्ष के पाठ्यक्रम को 'विज्ञान' एवं 'सामान्य पाठ्यक्रम' दो भागों में विभाजित किया गया था। किन्तु कुछ दिनों बाद इन पाठ्यक्रमों को तीन-तीन भागों में विभाजित कर दिया गया :—१—सामान्य वर्ग : इसके अन्तर्गत साहित्यिक, कलात्मक तथा वाणिज्य के पाठ्यक्रम थे। २—वैज्ञानिक वर्ग: इसके अन्तर्गत कृषि, व्यावसायिक एवं टेकनॉलाजिकल तथा वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक पाठ्यक्रम थे।

सन् १९३९ ई० में उत्तर प्रदेश में प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव के तत्वावधान में एक 'प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा पुनर्गठन समिति'[1] की नियुक्ति की गई। इस प्रकार शिक्षा के पुनर्गठन के लिये अन्य प्रान्तों में भी समितियाँ बनाई गईं।

युद्ध के उपरान्त की शिक्षा

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने पर केन्द्रीय सरकार तथा सभी प्रान्तीय सरकारों द्वारा शिक्षा में सुधार के लिये समितियाँ नियुक्त की गईं। इन समितियों ने प्रायः सभी राज्यों में इस बात की सिफारिश की कि माध्यमिक शिक्षा को बहु-उद्देश्यीय शिक्षा के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। इन्टरमीडिएट कक्षा को समाप्त कर ग्यारहवीं कक्षा को हाई स्कूल में सम्मिलित कर दिया जाय एवं बारहवीं कक्षा को स्नातकीय पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिया जाय। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ६ वर्ष का तथा स्नातकीय कक्षा का पाठ्यक्रम ३ वर्ष का हो जायगा। नवीं कक्षा से विद्यार्थियों की रुचि के अनुसार व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

प्रारम्भ में इस प्रकार की योजना 'सप्रू समिति' द्वारा बनाई गई थी और आगे चलकर इस योजना का महत्त्व 'अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड', 'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' तथा केन्दीय सरकार ने भी समझा और यह योजना विभिन्न राज्यों में कार्या-

१. Primary and Secondary Education Recognisation Committee.

न्वित की जाने लगी। इस योजना का कार्यान्वयन सर्वप्रथम दिल्ली राज्य में किया गया। उत्तर प्रदेशीय सरकार भी इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए गंभीरता से विचार कर रही है।

इसके अतिरिक्त सन् १९४८ ई० में केन्द्रीय सरकार द्वारा माध्यमिक शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिये एक समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति के सुझावों पर केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने सन् १९४९ ई० की अपनी इलाहाबाद की बैठक में विचार किया। इस बैठक में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण निर्णय किये :—

१—विश्वविद्यालय की स्नातकीय कक्षाओं में प्रवेश पाने के लिये ४ वर्ष का माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम उत्तीर्ण करना आवश्यक है।

२—सीनियर बेसिक कक्षाओं में राष्ट्रभाषा अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाय तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में वैकल्पिक रूप में पढ़ाई जाय।

३—विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी माध्यम के समाप्त होने पर राष्ट्रभाषा की शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय।

४—माध्यमिक विद्यालयों में बहुउद्देश्यीय[१] शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

५—विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रतिभा-सम्पन्न छात्रों की सहायता के लिये छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की जाय।

६—अध्यापकों को उनकी आवश्यकतानुसार वेतन दिया जाय।

७—प्रान्तीय शिक्षा-अधिकारियों को राय देने के लिये एक 'प्रान्तीय शिक्षा बोर्ड' की स्थापना की जाय।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग (१९५२-५३)[२]

स्वाधीनता प्राप्त करने के पश्चात् हमारे राष्ट्र के कर्णधारों का ध्यान विशेष रूप से शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ और प्रचलित माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने २३ सितम्बर १९५२ ई० को एक माध्यमिक शिक्षा-आयोग की नियुक्ति की।

आयोग के सदस्यों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

---

१. Multi-purpose.

२. The Secondary Education Commission (Oct. 1952—June 1953).

१—डा० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदलियर, उप-कुलपति, मद्रास विश्वविद्यालय (अध्यक्ष)।

चित्र नं० ३२—डा० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदलियर

२—प्रिंसिपल ए० एन० बसु (मंत्री)
३—प्रिंसिपल जान क्रिस्टल ऑक्सफोर्ड
४—डा० के० एल० श्रीमाली

आयोग के सामने अन्वेषण के विषय

(अ) भारतीय माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली के प्रत्येक पहलू का भली-भाँति अन्वेषण करना तथा उसके सम्बन्ध में अपना सुझाव प्रस्तुत करना।

(ब) माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन एवं सुधार के लिए शिक्षा के निम्नलिखित अवयवों के सम्बन्ध में सुझाव प्रस्तुत करना :—

(१) माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, संगठन एवं अध्यापन के विषय।

(२) माध्यमिक शिक्षा का प्रारम्भिक एवं उच्च शिक्षा से सम्बन्ध।

(३) अनेक प्रकार के माध्यमिक विद्यालयों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विचारणीय विषय।

उपर्युक्त विषयों की जाँच का एकमात्र उद्देश्य यह था कि सम्पूर्ण देश के लिए एक समान उपयोगी शिक्षा अपनायी जाय।

नियुक्ति के कुछ ही दिनों बाद आयोग ने इस दिशा में सक्रिय कदम उठाया। आयोग ने सर्वप्रथम यह निश्चित किया कि आयोग के मंत्री एवं अध्यक्ष देश के कुछ प्रमुख प्रधानाध्यापकों एवं शिक्षा-प्रेमियों से मिलकर विचारणीय विषयों की एक प्रश्नावली तैयार करें और यह प्रश्नावली भारत के प्रत्येक राज्य के शिक्षा-विशेषज्ञों एवं शिक्षा-प्रेमियों के पास प्रेषित कर दी जाय। फलतः आयोग के अध्यक्ष एवं मंत्री ने आयोग के निर्णयानुसार विचारणीय विषयों की एक प्रश्नावली तैयार की और वह विचारार्थ देश के शिक्षा-विशेषज्ञों के पास प्रेषित कर दी गई।

तदुपरान्त आयोग ने सम्पूर्ण देश में भ्रमण की एक योजना बनाई और उसके अनुसार देश के विभिन्न राज्यों की माध्यमिक शिक्षा के विषय में विचार-विनिमय किया। जिस राज्य में आयोग जाता था, उस राज्य की सरकार द्वारा

एक शिक्षा-विशेषज्ञ आयोग के काम में सहयोग देने के लिये नियुक्त किया जाता था। इस प्रकार आयोग ने सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया और प्रत्येक राज्य के शिक्षा-शास्त्रियों के सहयोग से माध्यमिक शिक्षा के प्रत्येक पहलू पर विचार किया। तत्पश्चात् २९ अगस्त सन् १९५३ ई० को अपना प्रतिवेदन केन्द्रीय सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया।

प्रतिवेदन में २४४ पृष्ठ के १५ अध्याय हैं तथा अन्त में ६७ पृष्ठ की एक ज्ञानवर्धिनी परिशिष्ट भी जोड़ दी गई है।

आयोग द्वारा परीक्षित वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोष

१—वर्तमान शिक्षा-प्रणाली एकांगी है। इसमें विद्यार्थियों की रुचि के अनुसार पाठ्य-विषयों का अभाव है।

२—वर्तमान शिक्षा के द्वारा छात्रों में विनय, पारस्परिक सहयोग एवं स्वावलम्बन के भाव नहीं उत्पन्न होते।

३—वर्तमान परीक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण है। इसके द्वारा परीक्षार्थी के ज्ञान की वास्तविक परीक्षा नहीं हो पाती।

४—वर्तमान शिक्षा कोरी पुस्तकीय होने के कारण विद्यार्थियों को बाद में उपयुक्त व्यवसाय दिलाने में असमर्थ हो जाती है।

५—पाठ्यक्रम उपयुक्त नहीं है एवं पाठ्य-पुस्तकें छात्रों की योग्यता एवं रुचि के प्रतिकूल होती हैं, अतः अध्ययन उनके लिये भार-स्वरूप मालूम होता है। इसके अतिरिक्त अध्यापकों को इतना समय नहीं मिलता कि वे छात्रों के निकट सम्पर्क में आकर उनका नैतिक विकास करें।

६—वर्तमान शिक्षा-पद्धति के अनुसार कक्षा में छात्रों की संख्या इतनी अधिक होती है कि अध्यापक के लिए बालकों से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करना असम्भव है।

७—उचित वेतन न मिलने के कारण शिक्षा-क्षेत्र में योग्य एवं अनुभवी अध्यापकों का अभाव है।

८—वर्तमान शिक्षा के द्वारा बालकों का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने उपर्युक्त दोषों को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया है :—

(क) विद्यालयों की शिक्षा का सम्बन्ध छात्रों के भावी जीवन से बहुत कम है।

(ख) वर्तमान शिक्षा में बालक की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के विकास की क्षमता का अभाव है।

(ग) शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा दी जानी चाहिये।

(घ) वर्तमान शिक्षा-पद्धति द्वारा बालकों के अन्दर स्वतंत्र रूप से सोचने एवं कार्य करने की भावना नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि वर्तमान शिक्षा का क्रियात्मक पहलू बहुत निर्बल है।

(ङ) वर्तमान शिक्षा द्वारा बालकों का आदर्श चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता है जो कि शिक्षा का सबसे प्रमुख उद्देश्य है।

आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के निर्दिष्ट उद्देश्य

१—आदर्श नागरिकों का निर्माण

जनतन्त्र-युग में किसी राष्ट्र की प्रगति उसके भावी नागरिकों के ऊपर निर्भर होती है। अतः शिक्षा के अन्दर आदर्श नागरिक उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए जिससे प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों को समान महत्त्व देकर समाज में भाई-चारे की भावना उत्पन्न करे। विद्यार्थियों के अन्दर निर्भीकता, सहयोग, सहनशीलता, स्पष्टता एवं रचनात्मक भावनायें उत्पन्न होनी चाहिए। उन्हें विद्यालय में विनयपूर्वक रहकर सभी कार्यक्रमों में भाग लेना चाहिए तथा प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिए। विद्यालय में बालकों पर जैसा प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार का बाद में उनका जीवन समाज में होता है। आदर्श शिक्षा में आदर्श युगपुरुष बनाने की क्षमता होनी चाहिए। शिक्षा द्वारा छात्रों में सच्ची राष्ट्रीय भावना का तात्पर्य निम्नलिखित है :—

(१) विद्यार्थी अपने राष्ट्र की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं की हृदय से सराहना करें।

(२) वे अपनी भलों कथा दुर्गुणों को सहर्ष स्वीकार कर लें एवं उन्हें दूर करने के लिये कटिबद्ध हो जायँ।

(३) अपने व्यक्तिगत स्वाथ के समक्ष राष्ट्रीय हित को प्रमुखता दें।

२—जीविकोपार्जन की सुविधा

मनुष्य के विकास के लिए जीविका अनिवार्य है। अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे जीविकोपार्जन में सुविधा हो। पाठ्य-विषयों में ऐसे विषयों का होना अनिवार्य है जिनकी शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थियों को रोजगार दफ्तर की खाक न छाननी पड़े।

३—मानवीय गुणों का विकास

समाज में विभिन्न प्राणियों की रुचि एवं गुण विभिन्न प्रकार के होते हैं। अत: शिक्षा में विद्यार्थी की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं रचनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रम में विविध विषयों के अध्यापन की व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार विषयों का अध्ययन कर सकें। पाठ्यक्रम में साहित्य, विज्ञान, समाज-शास्त्र, संगीत, शिल्प-कला एवं नृत्य आदि विषयों के अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए।

४—नेतृत्व करने की भावना का विकास

समाज में बहुधा दो प्रकार की प्रतिभा के मनुष्य दिखाई पड़ते हैं :—१—प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा-सम्पन्न, और २—अर्जित प्रतिभा-सम्पन्न। प्रथम प्रकार के व्यक्तियों की संख्या द्वितीय प्रकार के व्यक्तियों की संख्या से बहुत कम है। विद्यालयों में विद्याध्ययन के समय विद्यार्थी परिश्रम द्वारा अपने गुणों का विकास कर दूसरों के लिए आदर्श बन सकते हैं। माध्यमिक शिक्षा-काल में विद्यार्थियों को बहुत से ऐसे अवसर मिलते हैं, जब कि वे अपने विद्यार्थी-समाज में नेता अथवा पथ-प्रदर्शक का काम करते हैं। इस प्रकार उनके अन्दर संगठन करने की शक्ति उत्पन्न होती है। अत: विद्यालय की शिक्षा में वह गुण होना चाहिए जिससे विद्यार्थी के अन्दर दूसरों का नेतृत्व करने की भावना उत्पन्न हो सके। यदि विद्यार्थी अपने समाज में नेता बन सकेगा तो आगे चलकर वह नागरिक जीवन में समाज का सच्चा नायक बन सकेगा।

माध्यमिक शिक्षा की अवधि

माध्यमिक शिक्षा का सभी दृष्टिकोणों से जाँच करने के उपरान्त आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि माध्यमिक शिक्षा का समय ११ से १७ वर्ष तक के बालकों के लिए हो। इतने समय में विद्यार्थी पूर्णरूप से शिक्षित हो जाते हैं और उनके अन्दर ज्ञान-प्राप्ति के आधार पर अपने उत्तरदायित्व को समझने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। अत: आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के लिए ७ वर्ष का समय निश्चित किया। इसके अनुसार आयोग ने निर्णय किया कि वर्तमान इन्टरमीडिएट कक्षा की समाप्ति कर ग्यारहवीं कक्षा को माध्यमिक शिक्षा में सम्मिलित कर दिया जाय तथा बारहवीं कक्षा को बी० ए० के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिया जाय। इस प्रकार बी० ए० का पाठ्यक्रम २ वर्ष से ३ वर्ष का हो जायगा।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के दो भाग किये :—(१) जूनियर माध्यमिक शिक्ष, ३ वर्ष की, (२) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा, ४ वर्ष की हो।

माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में परिवर्तन

१—छात्रों की विभिन्न रुचियों का विकास करने के लिए बहूद्देशीय विद्यालय खोले जायँ।

२—ग्रामीण विद्यालयों में कृषि की शिक्षा अनिवार्य हो।

३—जहाँ तक सम्भव हो बहूद्देशीय एवं औद्योगिक स्कूल एक दूसरे के समीप खोले जायँ जिससे दोनों में पारस्परिक सहयोग स्थापित हो सके।

४—बड़े-बड़े नगरों में केन्द्रीय टेकनिकल नगरों की व्यवस्था की जाय जिससे वे स्थानीय माँगों की पूर्ति कर सकें।

५—बालकों तथा बालिकाओं का पाठ्यक्रम लगभग समान हो। किन्तु बालिकाओं के लिए गृह-विज्ञान के अध्यापन की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

शिक्षा का माध्यम

आयोग के मतानुसार शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा अथवा प्रादेशिक भाषा होनी चाहिए, किन्तु अनेक प्रकार के भाषा-भाषी अल्पसंख्यकों के लिए केन्द्रीय परामर्श-दात्री समिति के सुझावों के अनुसार विशेष सुविधा प्रदान की जाय।

भाषाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये :—

(१) जूनियर हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने तक बालकों को कम से कम दो भाषायें सीखनी चाहिए।

(२) माध्यमिक विद्यालयों की भाषा-शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग के सदस्यों में पर्याप्त मतभेद था, किन्तु अन्ततोगत्वा यह निर्णय हुआ कि माध्यमिक शिक्षण-काल में बालकों को कम से कम ये तीन भाषायें सीखनी चाहिए :—

शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा अथवा प्रादेशिक भाषा सीखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा तथा एक विदेशी भाषा सीखनी चाहिए।

हिन्दी के अध्ययन के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि भारत में प्रचलित सभी भाषाओं में से हिन्दी भाषा का प्रयोग प्राय: सभी राज्यों में किसी न किसी रूप में किया जाता है। बहुत-से राज्यों में हिन्दी अनिवार्य तथा राष्ट्रभाषा के रूप में पढ़ाई जाती है। कुछ राज्यों में हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जाती है, किन्तु शिक्षा का माध्यम हिन्दी नहीं है। बहुत-से राज्य ऐसे हैं जिनमें हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य रूप से कराया जाता है, किन्तु परीक्षा-फल में इसके अंक नहीं जोड़े

जाते। कुछ राज्य ऐसे हैं जिनके पाठ्यक्रम में हिन्दी को वैकल्पिक विषय के रूप में स्थान दिया जाता है।

पाठ्यक्रम

माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सुधार करने के लिए आयोग ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये :—

१. पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जिससे विद्यार्थियों की विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास हो।

२. पाठ्य-क्रम में परिवर्तनशीलता का होना आवश्यक है जिससे उसमें विद्यार्थियों की आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके।

३. पाठ्य-क्रम सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल होना चाहिए।

४. पाठ्य-क्रम ऐसा होना चाहिए जिससे विद्यार्थी समय के सदुपयोग का महत्त्व समझें।

इन सुझावों के आधार पर आयोग ने जूनियर हाई स्कूल के पाठ्य-क्रम में निम्नलिखित विषय निर्धारित किये :—

१—भाषायें, २—सामाजिक शिक्षा, ३—साधारण विज्ञान, ४—गणित ५—कला और संगीत, ६—शिल्प, ७—शारीरिक शिक्षा।

आयोग ने कहा कि माध्यमिक विद्यालयों में अनेक प्रकार के पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की जाय तथा पाठ्यक्रमों में ये ७ समूह हों :—१—मानव-ज्ञान सम्बन्धी विषय (ह्यूमैनिटीज), २—विज्ञान, ३—औद्योगिक विषय, ४—वाणिज्य विषय, ५—कृषि, ६—ललित कलायें, ७—गृह विज्ञान।

पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव

पाठ्य-पुस्तकों के स्तर का शिक्षा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः आयोग ने यह सुझाव दिया कि पुस्तकों का चुनाव करने के लिए एक शक्तिशाली समिति[१] का निर्माण किया जाय जो शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए पाठ्य-पुस्तकों की व्यवस्था करे। समिति को पाठ्य-पुस्तकों के कागज, आकार, चित्र एवं छपाई आदि के विषय में निश्चित सिद्धान्त बनाने का अधिकार होना चाहिए।

पाठ्य-पुस्तक समिति में ये सदस्य होने चाहिए :—

---

१. High-Power Committee.

१—उच्च न्यायालय का न्यायाधीश।

२—प्रदेश की जनता सेवा-आयोग का एक सदस्य।

३—प्रदेश के विश्वविद्यालय का एक उप-कुलपति।

४—राज्य का एक प्रधान अध्यापक अथवा प्रधानाध्यापिका।

५—दो प्रख्यात शिक्षा-शास्त्री।

६—शिक्षा-संचालक।

इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि पाठ्य-पुस्तकों में शीघ्रता से परिवर्तन न किया जाय।

शिक्षा-प्रणाली

आयोग के मतानुसार शिक्षा-प्रणाली में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) विद्यार्थी के भावात्मक ज्ञान के साथ-साथ उसका क्रियात्मक ज्ञान भी बढ़े।

(२) पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यालयों में अच्छे पुस्तकालयों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(३) शिक्षण-कार्य में रुचि उत्पन्न करने के लिए अध्यापकों को कभी-कभी उचित साहित्य प्रदान किया जाय।

चरित्र-निर्माण

चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि हमारे जीवन में चरित्र का स्थान धन एवं स्वास्थ्य से कहीं महत्त्वपूर्ण समझा गया है। अतः विद्यालय की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों में आदर्श चरित्र-निर्माण की भावना उत्पन्न हो सके। इस सम्बन्ध में अध्यापकों एवं विद्यार्थियों में पारस्परिक प्रेम आवश्यक है, क्योंकि इससे छात्रों के अन्दर विनय की भावना उत्पन्न होती है, जो मानवीय गुणों का बहुत आवश्यक अंग है।

शिक्षा-सम्बन्धी पथ-प्रदर्शन

केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध में विचार करने के लिए कुछ शिक्षा-प्रेमियों एवं शिक्षा-विशारदों को इस लिए नियुक्त करे कि वे उत्तमोत्तम शिक्षा-प्रणाली का अनुसंधान करें और समय-समय पर प्रत्येक विद्यालय में

जाकर उसको कार्य रूप में परिणत करें। इस प्रकार अध्यापकों को प्रोत्साहन मिलेगा और उनके ज्ञान में वृद्धि होगी।

स्वास्थ्य-सुरक्षा-शिक्षा

स्वस्थ्य-सुरक्षा-शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने कहा कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। अतः छात्रों की स्वास्थ्य-रक्षा के लिए चिकित्सा का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। वर्ष में कम से कम दो बार छात्रों के शरीर का परीक्षण किया जाय एवं उन्हें स्वास्थ्य सुधार सम्बन्धी सुझाव दिए जायँ। विद्यालय में कुछ प्राथमिक चिकित्सा में प्रशिक्षित अध्यापक होने चाहिए जो बालकों को प्राथमिक चिकित्सा की शिक्षा दें। इसके अतिरिक्त छात्रालयों में स्वास्थ्य-वर्धक एवं पौष्टिक भोज्य पदार्थों की व्यवस्था होनी चाहिए। विद्यालय का वातावरण बिल्कुल स्वच्छ होना चाहिए तथा बालकों की शारीरिक शक्ति का विकास करने के लिए उनसे शारीरिक श्रम भी लिया जाय। शिक्षकों से भी कुछ शारीरिक श्रम कराया जाय जिससे छात्र उनका अनुकरण करें। व्यायाम-शिक्षकों को स्वास्थ्य-सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कराने की व्यवस्था की जाय तथा उनका महत्त्व बढ़ाया जाय।

परीक्षाएँ

आयोग ने परीक्षाओं के सम्बन्ध में कहा कि वर्तमान परीक्षा-प्रणाली में बहुत दोष हैं। अतः उनके सुधार के लिए प्रत्येक विद्यार्थी के वर्ष भर के कार्य का विवरण रहना चाहिए। परीक्षा में प्राप्त अंकों से ही विद्यार्थी की सफलता अथवा असफलता न समझी जाय, वरन् इसमें उसके वर्ष भर के कार्य को भी समुचित मान्यता दी जाय।

अध्यापक

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा की पुनर्गठन-व्यवस्था में अध्यापक को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। वस्तुतः किसी विद्यालय की अच्छाई एवं बुराई में उसके अध्यापकों का विशेष प्रभाव हुआ करता है। अतः आयोग ने माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं के अध्यापकों की स्थिति का प्रत्येक दृष्टिकोण से परीक्षिण करके उनकी स्थिति में सुधार करने के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये :—

(१) माध्यमिक विद्यालयों में उच्चतर कक्षाओं के अध्यापन के लिये प्रशिक्षित अध्यापकों की व्यवस्था होनी चाहिए।

(२) समान योग्यता तथा समान श्रेणी के कार्य करने वाले अध्यापकों का वेतन समान होना चाहिये।

(३) वर्तमान समय में अपने अध्यापकों को उनके कार्य एवं सामाजिक स्थिति के अनुकूल वेतन नहीं मिलता। अतः उनको उचित वेतन देने की व्यवस्था होनी चाहिये।

(४) अध्यापकों को दत्तचित होकर कार्य करने के लिये सभी राज्यों में त्रिमुखी सहायता योजना कार्यान्वित होनी चाहिए; अर्थात् उन्हें पेंशन, प्राविडेण्ट फण्ड तथा इंश्योरेंस की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए।

(५) शिक्षकों की कठिनाइयाँ दूर करने एवं उनकी प्रार्थनाओं पर विचार करने के लिये अलग से समितियों का निर्माण किया जाय।

(६) लोक-शिक्षा-निर्देशक का परामर्श लेकर शिक्षकों का कार्यकाल ६० वर्ष तक होना चाहिए।

(७) शिक्षकों के बच्चों के लिए विद्यार्थी-जीवन में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

(८) अध्यापकों एवं उनके आश्रितों के लिये निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था होनी चाहिये।

(९) गृह-शिक्षण (ट्यूशन) की प्रथा बिल्कुल समाप्त कर दी जाय।

(१०) माध्यमिक विद्यालय के प्रधानाध्यापक का पद बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाय तथा उसके लिये समुचित वेतन की व्यवस्था की जाय।

अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था

माध्यमिक विद्यालयों में दो श्रेणी के अध्यापकों की व्यवस्था होनी चाहिए:—निम्न कक्षाओं के लिए माध्यमिक शिक्षा प्राप्त, एवं उच्चतर कक्षाओं के लिए स्नातक (बी० ए० पास)।

(१) **माध्यमिक शिक्षा प्राप्त**—इन अध्यापकों के प्रशिक्षण की अवधि दो वर्ष की हो तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था किसी विशिष्ट बोर्ड द्वारा की जाय।

(२) **स्नातक**—उच्चतर कक्षाओं के अध्यापन के लिए प्रशिक्षित स्नातकों की व्यवस्था होनी चाहिये। इन अध्यापकों के प्रशिक्षण की अवधि इस समय एक वर्ष की होनी चाहिये, किन्तु कुछ दिनों बाद दो वर्ष की कर दी जाय। स्नातकों के प्रशिक्षण सम्बन्धी विद्यालय विश्वविद्यालयों द्वारा शासित हों।

प्रशासन

शिक्षण-संस्थाओं के प्रशासन एवं मार्ग-दर्शन के लिये समुचित प्रशासन का अभाव था। अतः इस सम्बन्ध में आयोग ने ये सुझाव प्रस्तुत किये :—

(१) शिक्षा-मंत्री को परामर्श देने में लोक-शिक्षा-निर्देशक को प्रमुखता दी जाय तथा उसका पद कम से कम संयुक्त शिक्षा-सचिव के समकक्ष समझा जाय।

(२) लोक-शिक्षा-निर्देशक के तत्वावधान में एक माध्यमिक शिक्षा-परिषद की स्थापना की जाय जो माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी विविध विषयों की व्यवस्था करे।

(३) शिक्षकों की समुचित प्रशिक्षण-व्यवस्था के लिए 'शिक्षक प्रशिक्षण बोर्ड' की स्थापना की जाय।

(४) समय-समय पर शिक्षा के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए केन्द्रीय एवं राज्यीय समितियों की व्यवस्था की जाय।

(५) जिला विद्यालय-निरीक्षक विद्यालयों की सभी अन्य समस्याओं को देखते हुए समय-समय पर शिक्षण-कार्य में शिक्षकों को आवश्यक निर्देश दें तथा शिक्षा सम्बन्धी अन्य अनुसंधानों से उन्हें परिचित कराएँ। उनका कार्य अध्यापकों की कोरी आलोचना नहीं होनी चाहिए।

(६) नवीन विद्यालयों को मान्यता प्रदान करने के पहले मान्यता सम्बन्धी सभी शर्तों की पूरी जाँच कर ली जाय।

(७) प्रत्येक विद्यालय के प्रबन्ध के लिये सरकार द्वारा स्वीकृत एक प्रबन्ध-समिति होनी चाहिये। इस समिति को विद्यालय के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक एवं अध्यापकों पर होना चाहिये।

अर्थ-व्यवस्था

माध्यमिक शिक्षा को पुनर्गठित करने के लिये धनाभाव की कमी की पूर्ति से लिये आयोग ने निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये हैं :—

(१) व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार को करनी चाहिये।

(२) टेकनिकल एवं व्यावसायिक शिक्षा की उन्नति के लिये 'औद्योगिक शिक्षा उपकर' लगाया जाय।

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यीय सरकारों को आर्थिक सहायता दी जाय।

(४) शिक्षण-संस्थाओं को दी जाने वाली धन-राशि पर किसी प्रकार का कर नहीं लगना चाहिये।

(५) विद्यालयों द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं पर चुंगी नहीं लगनी चाहिये ।

प्रत्येक सत्र में कार्य एवं अवकाश-दिवस

आयोग ने सत्र में कार्य एवं अवकाश के दिनों के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :—

(१) प्रत्येक सत्र में कम से कम २०० दिन विद्यालय खुलने चाहिये ।

(२) ग्रामीण विद्यालयों में फसलों के बोने और काटने के समय कम से कम एक सप्ताह का अवकाश होना चाहिये जिससे बच्चे अपने अभिभावकों के कार्य हाथ में बँटा सकें तथा कुछ व्यावसायिक शिक्षा की जानकारी प्राप्त कर सकें ।

(३) हमारे देश में छुट्टियों की संख्या बहुत अधिक है । अतः धार्मिक छुट्टियों को कुछ कम कर देना चाहिये ।

(४) प्रत्येक सत्र में कम से कम दो महीने का ग्रीष्मावकाश होना चाहिये तथा दो उपयुक्त अवसरों पर १० से १५ दिन तक का अवकाश दिया जाना चाहिये ।

(५) प्रत्येक सप्ताह में अध्यापन के घंटों की संख्या कम से कम ३५ हो ।

(६) विद्यालय के समय-विभाजन एवं स्थानीय अवकाशों के सम्बन्ध में प्रधानाध्यापक को पूर्ण अधिकार होना चाहिये ।

विद्यालय-भवन

इस सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :—

(१) विद्यालय-भवन ग्रामीण तथा नागरिक कोलाहल से दूर होना चाहिये ।

(२) विद्यालय-भवन इस योजना से बनाया जाय कि कमरों के अन्दर वायु एवं प्रकाश पर्याप्त मात्रा में पहुँच सके ।

(३) प्रत्येक कक्षा में अधिक से अधिक ४० छात्रों के बैठने का स्थान हो ।

(४) छात्रों के बैठने के लिये कुर्सियाँ एवं डेस्क आधुनिक ढंग से बने हों तथा उनकी प्रतिदिन सफाई की जाय ।

(५) प्रत्येक विद्यालय में एक विस्तृत वाचनालय की व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें बैठकर विद्यार्थी समाचार-पत्र तथा अन्य ज्ञान-वर्द्धिनी पत्रिकाएँ पढ़ सकें ।

(६) वर्ष में कितने ही अवसर ऐसे आते हैं जब कि समस्त अध्यापक, छात्रों एवं अभिभावकों को एकत्र होना पड़ता है। अतः इस काम के लिए विद्यालय में एक विशाल कमरा (हाल) होना चाहिए। यह कमरा विभिन्न प्रकार के शिक्षा-शास्त्रियों, आदर्श नेताओं, युग-पुरुषों के चित्रों एवं उपदेश-पूर्ण वाक्यों से सुशोभित होना चाहिए।

आयोग के सुझावों की समीक्षा

माध्यमिक शिक्षा-पुनर्गठन-व्यवस्था के सम्बन्ध में आयोग द्वारा जितने प्रतिवेदन प्रस्तुत किए गये हैं उनमें से अधिकांश अभिनन्दनीय हैं। किन्तु माध्यमिक विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों के सम्बन्ध में एक शक्तिशाली समिति का निर्माण करना और उसमें राजकीय अधिकारियों जैसे, उच्च न्यायालय का न्यायाधीश, जनता-सेवा-आयोग का सदस्य एवं विश्वविद्यालय के उप-कुलपति आदि का सम्मिलित होना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। इन अधिकारियों से यह आशा नहीं की जा सकती कि उन्हें माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों के ज्ञान-स्तर एवं वातावरण का ज्ञान होगा। बिना अध्यापन के अनुभव के ये अधिकारी छात्रों की आवश्यकताओं को नहीं समझ सकते। अतः छात्रों की योग्यता के अनुकूल पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव करना इनके लिए सम्भव नहीं जान पड़ता।

पाठ्य-पुस्तकों के निर्धारण के सम्बन्ध में यदि केवल सुयोग्य अध्यापकों का ही हाथ रहे तो विद्यार्थियों का अधिक कल्याण हो सकता है। यदि कोमल-मति बालकों का भविष्य अध्यापकों पर छोड़ा जा सकता है तो कोई कारण नहीं कि अध्यापक छात्रों के लिए अनुकूल पाठ्य-पुस्तकें चुनने में असमर्थ रहें।

माध्यमिक शिक्षा के प्रचलित दोषों पर आयोग ने पूर्ण प्रकाश डाला एवं उनके सुधार के लिए अपने सुझाव उपस्थित किए। वर्तमान शिक्षा के एकांगीपन तथा साहित्यिक ज्ञान की प्रचुरता के दोषों को आयोग ने भलीभाँति प्रस्तुत किया तथा प्रचलित पाठ्य-क्रम में व्यावसायिक शिक्षा का नितान्त अभाव बताया। इस सम्बन्ध में आयोग ने वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के दोषों, अध्यापकों की शोचनीय दशा एवं माध्यमिक विद्यालयों में प्रचलित कुप्रबन्ध का उल्लेख किया है तथा उनके लिये सराहनीय सुझाव भी प्रस्तुत किये हैं। विद्यार्थियों की रुचि के अनुसार अध्ययन करने तथा बाद में जीविकोपार्जन के लिये व्यवसाय चुनने में सहायता प्रदान करने के लिये आयोग ने बहूद्देशीय विद्यालयों की सिफारिश की है। भारत कृषि-प्रधान देश है। अतः इस देश की शिक्षा में आयोग द्वारा कृषि-शिक्षा को प्रमुखता देनी की सिफारिश की गई है।

प्रचलित परीक्षा-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये आयोग ने जो सुझाव दिए हैं वे सराहनीय हैं। छात्रों की परीक्षा में उनके वर्ष भर के कामों को सम्मिलित करने का सुझाव बहुत उत्तम है। इससे छात्रों में प्रतिदिन कर्त्तव्यपरायणता का भाव उत्पन्न होगा, तथा उनकी वास्तविक परीक्षा भी होगी। इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सुझाव दिया है कि परीक्षा में ऐसे प्रश्न न पूछे जायँ जो रटने के बल पर उत्तरित किये जा सकें। परीक्षा द्वारा वास्तविक ज्ञान की परख होनी चाहिये। आयोग द्वारा उपलब्धि-परीक्षाओं[१] की सिफारिश की गई है। यह बहुत उत्तम सुझाव है।

शिक्षकों की दशा बहुत शोचनीय है। अतः शिक्षकों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में आयोग ने बहुत महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। शिक्षकों का वेतन बढ़ाना, उनका सामाजिक गौरव बढ़ाना, उनके बच्चों को निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था इत्यादि के सुझाव वस्तुतः श्लाघ्य हैं।

यदि आयोग के उपर्युक्त सुझावों को दृष्टि में रखकर माध्यमिक शिक्षा का पुनर्संगठन किया जाय तो वस्तुतः माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य बहुत हद तक पूर्ण हो सकते हैं। किन्तु राष्ट्र में शिक्षा इतना महत्त्वपूर्ण विषय है कि उसके पूर्ण विकास के लिए केवल एक बार आयोग बैठाने से काम पूर्ण नहीं हो सकता। यद्यपि माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने अन्य आयोगों की अपेक्षा बहुत कुछ अच्छे सुझाव दिये हैं, किन्तु उनमें भी कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं जिनका निवारण करना देश के सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास के लिये आवश्यक है।

आयोग ने प्रायः परीक्षा-प्रणाली के सुधार, पाठ्य-क्रम में सुधार तथा विद्यालयों के प्रबन्ध इत्यादि के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये हैं उनमें मौलिकता का अभाव है। इन सुझावों के द्वारा परम्परागत दोषों का आमूल निवारण नहीं हो सकता। माध्यमिक शिक्षा के प्रबन्ध के सम्बन्ध में दिये गये सुझाव पर्याप्त नहीं हैं। जब तक माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीयकरण नहीं होगा तब तक उसकी दशा में सुधार होना सम्भव नहीं जान पड़ता। फ्रांस के प्रसिद्ध वीर नैपोलियन ने बताया है कि किसी राष्ट्र की उन्नति के लिये सुमाता की बड़ी आवश्यकता है, किन्तु आयोग द्वारा स्त्री शिक्षा को विशेष महत्त्व नहीं प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यीय सरकारों को अपना कार्य सुचारुरूप से चलाने के लिये अनुदान के भी सुझाव पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। फिर भी आयोग के सुझावों के तत्व श्लाघ्य हैं और उनका कार्यान्वयन बहुत अच्छा फल देगा।

---

१. Achievement or Objective Tests.

सारांश

शिक्षा राष्ट्रीय जीवन का प्राण है। अतः स्वाधीनता के उपरान्त हमारी सरकार का ध्यान शिक्षा की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। माध्यमिक शिक्षा सभी लोगों के लिये उपयोगी एवं सुलभ हो सकती है। अतः केन्द्रीय सरकार ने माध्यमिक शिक्षा के दोषों को दूर करने एवं उसे पुनर्संगठित करने के उद्देश्य से २३ सितम्बर सन् १९५२ ई० को एक माध्यमिक शिक्षा-आयोग की नियुक्ति मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० ए० लक्ष्मणस्वामी मुदलियर की अध्यक्षता में की।

आयोग ने बड़ी लगन एवं तत्परता से अपना काम आरम्भ किया तथा माध्यमिक शिक्षा के विभिन्न अंगों का भलीभाँति परीक्षण करने के उपरान्त अपना प्रतिवेदन २९ अगस्त सन् १९५३ ई० को सरकार के समक्ष उपस्थित किया।

आयोग ने वर्तमान माध्यमिक शिक्षा-प्रणाली के दोषों पर प्रकाश डाला एवं निम्नलिखित विषयों को पुनर्संगठित करने का सुझाव उपस्थित किया :—

(१) शिक्षा के मुख्य उद्देश्य, (२) माध्यमिक शिक्षा की अवधि, (३) विभिन्न राज्यों में हिन्दी भाषा का प्रचलन, (४) कम से कम ३ भाषाओं की शिक्षा, (५) पाठ्यक्रम, (६) पाठ्य-पुस्तकें, (७) परीक्षा-प्रणाली, (८) विद्यालय के कार्य के दिन एवं अवकाश के दिन, (९) विद्यालय भवन, (१०) अध्यापकों की स्थिति इत्यादि।

उपर्युक्त विषयों के सुझाव के सम्बन्ध में प्रायः सभी लोगों ने आयोग से सहमति प्रकट की और सरकार ने उसको कार्यान्वित करने को कदम उठाया है, जिसके परिणामस्वरूप माध्यमिक शिक्षा के प्रायः सभी क्षेत्रों में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई और संघीय एवं राज्यीय सरकारें आयोग के सुझावों पर चलने का प्रयत्न कर रही हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—सन् १९५२-५३ ई० के माध्यमिक शिक्षा-आयोग के समक्ष अन्वेषण के कौन-कौन से विषय थे ? उन विषयों के सम्बन्ध में आयोग के सुझावों की समीक्षा कीजिए।

२—आयोग द्वारा निर्धारित शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों पर प्रकाश डालिए।

३—माध्यमिक शिक्षा की अवधि एवं भाषा-शिक्षण के विषय में आयोग के क्या सुझाव हैं ?

४—शिक्षण म पाठ्य-पुस्तकों का क्या स्थान है ? तथा आयोग द्वारा प्रस्तावित पुस्तकों की चुनाव-पद्धति कहाँ तक युक्तिसंगत है ?

अध्याय ४०

माध्यमिक शिक्षा की कुछ प्रमुख समस्यायें[१]

१——उद्देश्य

हमारा भारत लगभग दो सौ वर्षों तक पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था। अतः ब्रिटिश भारत में प्रचलित शिक्षा के उद्देश्य स्वतन्त्र राष्ट्र की शिक्षा के उद्देश्यों से भिन्न थे। ब्रिटिश कालीन प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का एकमात्र उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ करने वाले बाबू लोगों को तैयार करना था। अधिकांश विद्यार्थी कूप-मंडूक होते थे और उनके लिए क्लर्की के अलावा अन्य व्यवसाय करना अत्यन्त कठिन था।

दुर्भाग्यवश स्वाधीन भारत में भी अब तक वही पुरानी शिक्षा-पद्धति चली आ रही है और उसी प्रकार के युवक आज भी विद्यालयों से निकल रहे हैं। स्वाधीनता के उपरान्त हमारी शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन करने के लिए केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों द्वारा प्रयत्न हो रहे हैं, परन्तु ये परिवर्तन अभी पर्याप्त नहीं जान पड़ते। आज विद्यार्थियों के समक्ष शिक्षा का कोई उद्देश्य नहीं है। लगभग अस्सी प्रतिशत छात्र प्रायः इसलिए विद्यालय में जाते हैं कि उनके माता-पिता उन्हें भेज देते हैं। विद्यालय में जाकर ये सरल से सरल विषय चुनते हैं, जिससे उन्हें बिना विशेष परिश्रम के सफलता प्राप्त हो जाय। उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि इस शिक्षा के बाद उन्हें क्या करना है। आज माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य केवल विश्वविद्यालयों के लिये छात्र तैयार करना रह गया है।

वास्तव में विद्यार्थी-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण काल माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत होता है। ११ से १८ वर्ष तक की किशोर-अवस्था के बालकों के भावी जीवन की आधार-शिला इसी समय पड़ती है। अतः बालक के जीवन में इस समय की शिक्षा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस समय बालक की शिक्षा का उद्देश्य उसकी शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक शक्तियों का विकास होना चाहिए।

---

१. Some Main Problems of Secondary Education.

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की जनता अन्य देशों की जनता की अपेक्षा बहुत निर्धन है। अतः यहाँ माध्यमिक शिक्षा तक अपने बालकों को भेजना कृषकों के लिए बहुत बड़ा काम है। अतः माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि इस शिक्षा के बाद विद्यार्थी को व्यवसाय चुनने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। इसके अतिरिक्त देश की सरकार भी इन्हीं ग्रामीणों के प्रतिनिधियों द्वारा बनती है। अतः माध्यमिक शिक्षा, जहाँ तक ग्रामीण विद्यार्थी सरलता से पहुँच सकते हैं, ऐसी होनी चाहिए जिससे उनके अन्दर नागरिकता की भावना, नेतृत्व की भावना तथा समाज-सेवा की भावनायें उत्पन्न हो सकें।

हमारा भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है। इसमें विभिन्न धर्मावलम्बियों को समान अधिकार प्रदान किये गये हैं। ऐसी दशा में आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा द्वारा युवकों में ऐसी राष्ट्रीयता एवम् भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न हो कि नागरिक राष्ट्र-हित को ही सब कुछ समझें।

अतः संक्षेप में माध्यमिक शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हो सकते हैं :—

१. **चरित्र-निर्माण**—माध्यमिक शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य होना चाहिए कि उससे बालक का चरित्र आदर्श बने।

२. **व्यवसाय की प्राप्ति**—बहुधा बहुत से लोग जीविकोपार्जन के लिए ही पढ़ते हैं। अतः माध्यमिक शिक्षा से कुछ व्यावसायिक क्षमता भी आ जानी चाहिए।

३. **बालक का बहुमुखी विकास**—माध्यमिक विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए बहुत से बालक आते हैं और उनकी रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः शिक्षा का उद्देश्य विभिन्न प्रकार के बालकों की विभिन्न रुचियों का पूर्ण विकास करना होना चाहिए। इसके अतिरिक्त बालकों का शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास भी होना चाहिए।

४. **नेतृत्व करने की भावना**—माध्यमिक शिक्षा के द्वारा बालकों में नेता बन कर जनता का पथ-प्रदर्शन करने की भावना उत्पन्न होनी चाहिए जिससे शासन की बागडोर सदैव योग्य व्यक्तियों के हाथों में रहे एवं भारत दिन-प्रति-दिन विश्व में आगे बढ़ता जाय।

खेद का विषय है कि हमारे माध्यमिक विद्यालयों में इस प्रकार की शिक्षा का अभाव है।

२—पाठ्य-क्रम

हमारे माध्यमिक विद्यालयों को देखने से पता चलता है कि उनका पाठ्य-क्रम लगभग सैकड़ों वर्ष पुराना है। यद्यपि समय-समय पर हमारे देश की आर्थिक, सांस्कृतिक एवम् शैक्षिक दशाओं में परिवर्तन करने के प्रयत्न किये गये, किन्तु हमारे माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में कोई मौलिक परिवर्तन अभी तक नहीं किया जा सका। यह पाठ्यक्रम ऐसा है कि इसकी शिक्षा का सम्बन्ध विद्यार्थी के भावी जीवन से बहुत कम होता है। प्रायः विद्यार्थी इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त करते चले जाते हैं, किन्तु उनके उद्देश्य का पता नहीं चलता। परीक्षा पास हो जाने के बाद जब वे जीविकोपार्जन की ओर देखते हैं तो उन्हें अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पड़ता है। इसका कारण यह है कि माध्यमिक शिक्षा का प्रभाव तो बालकों में केवल तभी तक रहता है जब तक वे परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर लेते। इसके पश्चात् वे शिक्षा की बहुत सी बातों को भूल जाते हैं, क्योंकि इस शिक्षा का उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में बहुत कम उपयोग होता है।

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की जनता का लगभग तीन-चौथाई भाग ग्रामों में निवास करता है। अतः माध्यमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिससे विद्यार्थियों को कृषि के सम्बन्ध में विशेष रूप से शिक्षा मिल सके। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम बहुत व्यापक एवं विस्तृत होना चाहिए जिससे उसमें विभिन्न विषयों के अध्ययन की व्यवस्था की जा सके। विद्यार्थियों को उनकी रुचि के अनुसार विषयों को चुनने में सहायता देने के लिये मनोवैज्ञानिकों की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे बालकों की विभिन्न शक्तियों का परीक्षण कर उन्हें उचित निर्देशन दिया जाय।

३—अनुशासन[1]

विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता आज अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी है। क्या उच्च, क्या निम्न सभी शिक्षाओं के विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता देखी जाती है। यह विद्यार्थी का सबसे बड़ा दोष है; फिर भी, आज का विद्यार्थी अनुशासनहीनता में ही अपना गौरव समझता है। न जाने कितने उदाहरण अनुशासनहीनता के नित्यप्रति देखे जाते हैं। मुख्य कारणों की ओर आगे संकेत किया जा रहा है :—

---

१. Discipline.

(१) सर्वसाधारण का नैतिक स्तर गिरना

आजकल के विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता का प्रमुख कारण हमारे वर्तमान समाज में सर्वसाधारण का नैतिक स्तर से गिर जाना है। यद्यपि विद्यार्थी तो अपनी अनुशासनहीनता के कारण कुख्यात हो ही चुके हैं, किन्तु यदि समाज के अन्य वर्गों को देखा जाय तो हमें कहीं भी पूर्ण अनुशासन नहीं दिखाई पड़ता। सर्वत्र सभी व्यवसाय में गिरावट जान पड़ती है। आज बाजार में जाकर देखने से पता चल सकता है कि कोई भी ऐसा खाद्य पदार्थ नहीं है जिसमें किसी न किसी प्रकार की कृत्रिम वस्तु न मिलाई गई हो। इसी भाँति देश के कार्यकर्त्ताओं में बहुत कम व्यक्तियों में उच्च कोटि की कर्त्तव्य-परायणता दिखलाई पड़ती है। इस प्रकार समाज का नैतिक स्तर गिरते देखकर स्वभावतः विद्यार्थी भी विद्यालयों में अनुशासन-हीनता दिखाते हैं।

(२) राजनीतिक क्रान्तियाँ

पराधीनता के समय में भारतीय विद्यार्थियों ने भी स्वाधीनता-संग्राम में विशेष भाग लिया और उस समय उनका भाग लेना उचित भी था। किन्तु आज भी विद्यार्थियों में वही पुरानी आदतें पड़ी हुई हैं और वे स्वाधीन भारत में भी अनावश्यक उपद्रव मचाया करते हैं। स्वाधीन भारत में बालकों को राजनीति से पृथक् रहकर केवल स्वाध्याय करना चाहिए।

(३) वर्तमान परीक्षा-प्रणाली

आज विद्यार्थियों में फैली भयानक अनुशासनहीनता का बहुत बड़ा कारण वर्तमान परीक्षा-प्रणाली है। आज बहुत से छात्र वर्ष भर आनन्द करते हैं और परीक्षा में अनुचित साधनों का प्रयोग करके सफल होना चाहते हैं। ऐसी दशा में जब उनके ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया जाता है तब वे प्राण-पण से अनुशासन-हीनता पर तुल जाते हैं। परीक्षा के दिनों में कितने ही अध्यापक ऐसे छात्रों द्वारा पिटते और अपमानित होते हैं। इस परीक्षा-प्रणाली में अध्यापक की दशा साँप और छछूँदर की-सी होती है। किसी तरफ से अध्यापक की खैर नहीं। यदि अध्यापक विद्यार्थी के अनौचित्य को पकड़ता है तो उसकी जान के लाले पड़ जाते हैं और यदि विद्यार्थी को छूट मिल जाती है तो अध्यापक अपने कर्त्तव्य से च्युत होता और अपनी जीविका से हाथ धोता है।

(४) शिक्षकों की दयनीय आर्थिक स्थिति

विद्यार्थियों की बढ़ती हुई अनुशासनहीनता का एक कारण अध्यापक की शोचनीय आर्थिक स्थिति भी है। कम वेतन मिलने के कारण योग्य व्यक्ति इस

विभाग में नहीं आते और जो आते हैं वे अपनी आर्थिक चिन्ता में ही पड़े रहते हैं। अध्यापकों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण विद्यार्थी उनका सम्मान नहीं करते। अतः अध्यापक बेचारा भी विद्यार्थी-समाज की ओर से उदासीन रहता है। आज का अध्यापक न तो अपने को विद्यार्थी-स्रष्टा समझता है, और न विद्यार्थी उसे अपना निर्माणकर्त्ता समझते हैं। अतः दोनों में पारस्परिक प्रेम का अभाव रहता है, अन्यथा सच्चे अध्यापकों एवं विनयी छात्रों में अनुशासनहीनता का कोई प्रश्न नहीं उठता।

(५) अभिभावकों की असावधानी

आज का विद्यार्थी गुरुकुल का विद्यार्थी नहीं है, जो अपना सारा समय गुरुजनों के समीप रहकर बिताता था। आज तो स्थिति इसके प्रतिकूल है। विद्यार्थी अपना अधिकांश समय घर पर अपने अभिभावकों के साथ बिताते हैं। यदि अभिभावक उनके चरित्र पर पूरा ध्यान रक्खें और उन्हें कुसंगति एवं बुरी लतों से बचायें तो विद्यार्थियों में इस प्रकार की अनुशासनहीनता न फैले। बहुधा देखा जाता है कि अभिभावकों की लापरवाही के कारण विद्यार्थियों में सिनेमा जाना, आज्ञोल्लंघन करना एवं कुसंगति इत्यादि की बुरी लतें पड़ जाती हैं।

४—व्यवस्था एवं प्रशासन

प्रायः माध्यमिक विद्यालयों का प्रबन्ध व्यक्तिगत समितियों द्वारा होता है। इसमें सरकार का हाथ बहुत कम रहता है। अतः इन विद्यालयों के व्यवस्थापक विद्यालय की भलाई को न देख कर अपनी भलाई का ध्यान रखते हैं। आज ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यालयों के प्रबन्ध में जो छीछालेदर हो रही है, उसको वहाँ के अध्यापक एवं छात्र ही समझते हैं। विद्यालयों में बहुधा प्रबन्ध-समिति के सदस्यों के मनचाहे व्यक्ति अथवा उनके सम्बन्धी ही अध्यापक रक्खे जाते हैं। इस प्रकार योग्य अध्यापकों की व्यवस्था नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त कम वेतन देना, समय पर वेतन न देना एवं कम वेतन देकर अधिक पर हस्ताक्षर कराना इत्यादि माध्यमिक विद्यालय के प्रबन्ध की प्रचलित स्थिति है। इन विद्यालयों की आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि विद्यालयों में बैठने के लिए अनुकूल भवन, सज्जा, पुस्तकालय एवं खेल-कूद के सामान का नितान्त अभाव है।

इसके अतिरिक्त बहुत से विद्यालय व्यक्ति-विशेष के नाम पर अथवा जाति के नाम पर चलाये जा रहे हैं। इससे उनमें सम्पूर्ण जनता का सहयोग नहीं होता और इन विद्यालयों में तथा दूसरों विद्यालयों में खींचातानी लगी रहती है। विद्यालयों में बहुधा अप्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति की जाती है और उन्हें वर्ष

के अन्त में विद्यालय की सेवाओं से पृथक् कर दिया जाता है। बहुधा इन विद्यालयों के अध्यापकों की सेवायें सुरक्षित रहती हैं। प्रबन्ध-समितियों से मेल न खाने के कारण आये दिन बहुत से योग्य एवं स्वाभिमानी अध्यापक विद्यालयों की सेवाओं से पृथक् किये जाते हैं। दूसरे विद्यालय में जाने पर ऐसे अध्यापकों की नियुक्ति पुनः प्रारम्भिक वेतन पर की जाती है। अतः अध्यापक दत्तचित्त होकर काम नहीं कर पाते। इस कारण उनका सम्मान भी समाज में घट जाता है।

व्यक्तिगत विद्यालयों का प्रशासन भी ठीक नहीं है। बहुधा देखा जाता है कि इन विद्यालयों के व्यवस्थापकों के काम में निरीक्षक दखल नहीं देते और बहुत से विद्यालयों में तो यहाँ तक देखा गया है कि जिला विद्यालय-निरीक्षक व्यवस्थापकों का ही पक्ष लेते हैं। अध्यापकों द्वारा बार-बार जिला विद्यालय-निरीक्षक के पास प्रार्थना-पत्र भेजे जाते हैं, किन्तु वे उनको देखते तक नहीं। अतः बेचारे अध्यापकों के साथ प्रशासन भी सहयोग नहीं कर पाता।

बहुधा देखा जाता है कि माध्यमिक विद्यालयों की प्रबन्ध-समितियों में बहुधा बड़े-बड़े सेठ-साहूकार होते हैं, जिन्हें शिक्षा का कोई ज्ञान नहीं रहता। अतः वे इन विद्यालयों को भी अपनी दूकान समझते हैं और उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। बड़े-बड़े बुद्धिमान एवं स्वाभिमानी अध्यापक इन अशिक्षित एवं लोभी व्यक्तियों के प्रबन्ध के अन्दर कैसे टिक सकते हैं? अतः परिणाम यह होता है कि इन विद्यालयों में कामचलाऊ अध्यापक ही निभ पाते हैं। किन्तु शिक्षा का काम इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसमें कामचलाऊ अध्यापक से काम चलना असम्भव है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि माध्यमिक विद्यालयों के प्रबन्ध एवं प्रकाशन को सरकार पूर्ण रूप से अपने हाथों में ले और प्रबन्ध-समितियों में कम से कम तीन शिक्षा-शास्त्री एवं अध्यापकों का एक प्रतिनिधि अवश्य रखा जाय। शिक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को अभी भारत की अशिक्षित जनता पर छोड़ना न्यायसंगत नहीं।

५—शिक्षा का स्तर[1]

आजकल प्रायः समाज में सर्वत्र इस बात की चर्चा चल रही है कि शिक्षा का स्तर बहुत गिर गया है। बात भी बहुत अंशों में सत्य है। किन्तु इसके कारण केवल अध्यापक ही नहीं कहे जा सकते। स्वाधीनता के उपरान्त देश में सरकार की नीति शिक्षा-प्रसार की हुई है। किन्तु इससे शिक्षा के स्तर पर भी कुप्रभाव पड़ा है।

१. Standard.

आज के ग्रामीण विद्यालयों में न तो विद्यालय-भवन हैं, न पाठन-सामग्री एवं न योग्य अध्यापकों की व्यवस्था। जिन लोगों को किसी विभाग में नौकरी नहीं मिलती प्राय: वे ही व्यक्ति आज अध्यापक बने बैठे हैं। इसके अतिरिक्त विद्यालयों में अशिक्षित अध्यापक भरे पड़े हैं। इन अध्यापकों का नैतिक स्तर भी धनाभाव के कारण गिर गया है। वे अपनी परीक्षाओं में विद्यार्थियों को अनुचित रूप से उत्तीर्ण कराने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा-विभाग में अध्यापकों का वेतन इतना कम है कि कोई भी व्यक्ति जब तक दूसरे विभाग में काम पाता है, शिक्षा-विभाग में नहीं आता। अत: इस विभाग में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जो केवल अपनी जीविका के लक्ष्य से इस विभाग में आये हैं। किन्तु शिक्षा जैसे गहन विषय के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ नहीं होना चाहिए। इसमें उच्च वेतन की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे योग्य व्यक्ति इधर आकर्षित हो सकें। इसके अतिरिक्त शिक्षा-विभाग की ओर सरकार की उदासीनता, अभिभावकों का अपने बच्चों की शिक्षा पर विशेष ध्यान न रखना, प्रशासकों की असावधानी एवं अवैज्ञानिक परीक्षा-प्रणाली शिक्षा के स्तर को गिराने में हाथ बटाते हैं।

शिक्षा का स्तर गिरने का एक प्रमुख कारण वर्तमान शिक्षा का पाठ्य-क्रम भी है। विद्यालयों में आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण बहुधा अच्छे विषयों के अध्यापन की व्यवस्था नहीं हो पाती। अत: विद्यार्थी बिना रुचि के पढ़ते हैं। फलत: इस प्रकार की शिक्षा का स्तर नीचा होगा ही। शिक्षा में बालकों का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। परीक्षा उत्तीर्ण करना ही आज के विद्यार्थी की शिक्षा का सबसे बड़ा लक्ष्य है। अत: परीक्षोपरान्त विद्यार्थी बहुत सी बातों को भूल जाते हैं। इसके अतिरिक्त छात्रों में सिनेमा की रुचि, पाठ्य-पुस्तकों का अनुपयुक्त होना एवं अभिभावकों का अशिक्षित होना इत्यादि भी वर्तमान शिक्षा के स्तर गिरने के कारण हैं।

अत: आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अध्यापकों का स्तर ऊँचा किया जाय एवं शिक्षा सम्बन्धी अन्य बातों पर भी समुचित ध्यान दिया जाय।

६—परीक्षा-प्रणाली

शिक्षा की वर्तमान जटिल समस्याओं में उसकी परीक्षा-पद्धति बहुत बड़ी समस्या है। आज समाज विद्यालय के परीक्षा-फल के उच्च प्रतिशत के आधार पर ही उस विद्यालय की शिक्षा की श्रेष्ठता एवं अध्यापकों की श्रेष्ठता समझने लगा है। अत: अध्यापकों एवं छात्रों को विवश होकर इस शिक्षा में अनुचित साधनों को अपनाना पड़ता है। विद्यार्थी केवल परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए पढ़ते हैं। उनके

समक्ष ज्ञानार्जन अथवा चरित्र-निर्माण का उद्देश्य नहीं रहता। कतिपय विद्यार्थी ऐसे देखे गये हैं, जो वर्ष भर इधर-उधर घूमते और अनुशासनहीनता करते हैं एवं परीक्षा में नकल कर उत्तीर्ण हो जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त छात्र वास्तविक ज्ञान के अभाव में व्यावहारिक जीवन में असफल होते हैं और वे गुंडागर्दी में लग जाते हैं। खेद का विषय है कि अध्यापकों की आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण कतिपय अध्यापक भी इस परीक्षा-प्रणाली को दूषित करने में सहायता प्रदान करते हैं। वे छात्रों से उत्कोच लेकर उन्हें परीक्षा में अनुचित साधनों का उपयोग करने में सहायता प्रदान करते हैं। वास्तव में परीक्षा-प्रणाली में जब तक आमूल परिवर्तन नहीं होगा, तब तक शिक्षा के स्तर में सुधार होना असम्भव है। अतः छात्र की योग्यता का आधार उसके वर्ष भर का कार्य होना चाहिए, न कि केवल थोड़े दिनों की परीक्षा।

वर्तमान माध्यमिक शिक्षा के उपर्युक्त दोषों को देखने से पता चलता है कि जब तक इन दोषों का उन्मूलन नहीं किया जायगा तब तक भारतीय शिक्षा की रीढ़ सुदृढ़ नहीं हो सकती। माध्यमिक शिक्षा ही हमारी सब प्रकार की शिक्षा का आधार है और इसी शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी बनते और बिगड़ते हैं। माध्यमिक शिक्षा का सम्बन्ध हमारी प्राथमिक एवं उच्चतम शिक्षा से भी है। माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर छात्र प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापक बनते हैं और माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी विश्वविद्यालय में प्रवेश करते हैं। अतः स्पष्ट है कि हमारी माध्यमिक शिक्षा का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से समाज के सभी अंगों पर पड़ता है।

अतः बिना माध्यमिक शिक्षा को सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाये भारत का उत्थान असम्भव है।

सारांश

पराधीनता के युग में भारत में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों से शून्य था। उस समय की शिक्षा-प्रणाली छात्रों को पंगु बना देती थी। वे विद्यार्थी-जीवन के बाद व्यावसायिक जीवन की दौड़ में पीछे रह जाते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारी वर्तमान शिक्षा में वे दोष आज भी विद्यमान हैं। स्वतन्त्र भारत में शिक्षा को देश की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना आवश्यक है। स्वतन्त्र भारत में माध्यमिक शिक्षा का महत्त्व समुचित रूप में समझना चाहिए। किन्तु आज हमारी माध्यमिक शिक्षा में आगे लिखी कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिनका सुधार होना आवश्यक है।

१. उद्देश्य

हमारी माध्यमिक शिक्षा अब भी अपने पुराने रूप में चली आ रही है। इस शिक्षा को प्राप्त कर छात्रों में स्वतन्त्र व्यवसाय करने की क्षमता नहीं उत्पन्न होती। वास्तव में शिक्षा का उद्देश्य चरित्र-निर्माण, व्यवसाय की प्राप्ति, बहुमुखी प्रतिभा का विकास एवं नेतृत्व की भावना का विकास करना होना चाहिए।

२. पाठ्यक्रम

माध्यमिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम एकांगी है। इसके द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास नहीं होता। अतः इसे विस्तृत करना चाहिए।

३. अनुशासन

माध्यमिक शिक्षा में अनुशासन की बड़ी जटिल समस्या है। आज के छात्र विद्यालयों में जाकर वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने के विपरीत अनुशासनहीन बन जाते हैं।

४. शिक्षकों की दयनीय स्थिति

आर्थित स्थिति शोचनीय होने के कारण भी माध्यमिक शिक्षा में बहुत से दोष पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त संरक्षकों को असावधानी, परीक्षा-प्रणाली एवं प्रशासन की उदासीनता माध्यमिक शिक्षा को पीछे किये हुए हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं पर प्रकाश डालिए एवं उनके सुधार के लिए अपने सुझाव दीजिए।

अध्याय ४१

विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग और उसके बाद

विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग[1] (१९४८-४९)

उच्चतम शिक्षा के प्रसार में सन् १९४७-५८ की विशेष उल्लेखनीय घटना "विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' की नियुक्ति थी। ४ नवम्बर १९४८ को भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय के एक प्रस्ताव के अनुसार इस आयोग का निर्माण डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में हुआ। इस आयोग में १० सदस्य थे, जिनमें भारत के अतिरिक्त इंगलैंड और अमेरिका के विख्यात शिक्षा-विशारद तथा अध्यापक भी सम्मिलित थे। आयोग को यह बताया गया था कि वह भारतीय विश्वविद्यालय की शिक्षा की परिस्थिति के विषय में अपनी विचारधारा प्रकट करे और उसके विस्तार व विकास के लिए अपनी ऐसी राय दे जो देश की वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के दृष्टिकोण से उपयुक्त हो।

भारत के शिक्षामन्त्री श्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने ६ दिसम्बर १९४८ को इस आयोग का उद्घाटन करते हुए इसकी नियुक्ति के उद्देश्यों का विवरण दिया। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर आयोग ने विविध स्थानों में जाकर विश्वविद्यालयों का निरीक्षण किया, उनसे सम्बन्धित अधिकारियों से परामर्श किया और उन्होंने विद्यार्थियों की प्रतिनिधि-संस्थाओं के अधिकारियों से भी विचार-विनिमय किया। आयोग ने शिक्षा की ओर अभिरुचि रखने वाले विशिष्ट व्यक्तियों के पास एक प्रश्नावली भी उपस्थित की जिसका उत्तर लगभग ६०० व्यक्तियों ने दिया। बड़ी तत्परता के साथ कार्य करते हुए आयोग ने आशातीत अल्प काल में शिक्षा-मन्त्रालय को अपनी रिपोर्ट सन् १९४९ ई० की अगस्त को भेज दी। आयोग ने विश्वविद्यालय की शिक्षा से सम्बन्धित सभी पक्षों का विशद विवेचन किया। आयोग की रिपोर्ट के महत्त्वपूर्ण अंशों और सिफारिशों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

---

१. The University Education Commission (December 1948-August 1949).

विश्वविद्यालय-शिक्षा के उद्देश्य[२]

आयोग ने देश के भूत, भविष्य तथा वर्तमान परिस्थितियों को सामने रखते हुए विश्वविद्यालय-शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना व्यक्ति, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से किया है। आयोग ने विश्वविद्यालय के लिये नीचे दिये प्रमुख लक्ष्य निश्चित किये :—

१——स्वतन्त्र देश के नाते विश्वविद्यालयों का कर्तव्य और दायित्व बढ़ गया है, इसलिए उन्हें ऐसी विभूतियों को जन्म देना है जो राजनीति, प्रशासन, व्यवसाय, उद्योग तथा वाणिज्य आदि सभी क्षेत्रों में नेतृत्व ग्रहण करने की क्षमता रखें। यहाँ के विश्वविद्यालय ऐसे बुद्धिमान व्यक्तियों को जन्म दें जो देश के साधनों और मनुष्योचित शक्तियों को देश की विविध भौतिक कमियों की पूर्ति के लिये जुटा सकें। केवल ज्ञान ही देना विश्वविद्यालय का काम न रहे।

२——विश्वविद्यालयों को देश की भौतिक समृद्धि के संरक्षण के साथ उसकी संस्कृति और सभ्यता का संरक्षण और संवर्धन भी करना है। भारत वर्तमान उलझनों के कंटकाकीर्ण मार्ग से यदि सुरक्षित निकलना चाहता है तो उसे अपने देश के साहित्यिकों, वैज्ञानिकों, कवियों, कलाकारों, अन्वेषकों तथा गवेषकों को पथ-प्रदर्शन देने का उत्तरदायित्व सौंप देना चाहिये। ऐसे व्यक्ति विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षित तथा उपलब्ध होत हैं और राष्ट्रीय सभ्यता के निर्माता होते हैं। हमें उन लोगों की ओर नहीं देखते रहना है जो सामयिक समस्याओं की ही उधेड़-बुन में अपना समय व्यतीत करते रहते हैं। किसी राष्ट्र की आत्मा उसकी सभ्यता में निहित रहती है और इस सभ्यता के बौद्धिक दूतों के निर्माता ये ही विश्वविद्यालय हैं।

३——अपनी संस्कृति को प्रगतिशील रखने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्राचीन अन्ध-परम्परा को छोड़ दें और विकास के मार्ग में अग्रसर होते हुए संसार के साथ अपनी प्राचीन मर्यादा का समुचित आदर करके नई मान्यताओं को जन्म दें। हमें यह ध्यान में रखना है कि मनुष्य ने अब तक जो कुछ प्राप्त किया है वह उसका एक अंश-मात्र है जिसे वह भविष्य में उपलब्ध कर सकता है। इस प्रकार हम अतीत के प्रति आस्था और भविष्य के प्रति सतर्क रहना चाहिये। नवीन विचारधारा के निर्माताओं को जन्म देने वाले विश्वविद्यालय ही हैं।

४——विश्वविद्यालय विविध प्रकार के ज्ञान का समन्वय उपलब्ध करने का अवसर दें।

---

२. The Aims of University Education.

५—शिक्षा का तात्पर्य है मस्तिष्क तथा आत्मा का प्रशिक्षण। इसका उद्देश्य है ज्ञान तथा विवेक देना। विश्वविद्यालय अपने छात्रों को ये दोनों शक्तियाँ देकर अपने दायित्व का निर्वाह करें।

६—हमारी शिक्षा-पद्धति उन सामाजिक आदर्शों की सुरक्षा करे जिनका निर्देश हमारे संविधान में है। आज हम एक ऐसे गण तांत्रिक समाज के निर्माण में लगे हैं जो न्याय, स्वतन्त्रता, समता तथा बन्धुत्व पर निर्भर है।[1] विश्वविद्यालय इन आदर्शों के संवर्धन तथा संरक्षण में सहयोग करें।

७—शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति और समाज में सामंजस्य स्थापित करने के साथ-साथ नयी विधियों का सृजन और उसे उपलब्ध करने की शक्ति उत्पन्न करना है।

८—राष्ट्र के सम्मुख नैतिक तथा सद्व्यवहार का आदर्श उपस्थित करने का दायित्व विश्वविद्यालयों पर है। खेद है कि कतिपय विश्वविद्यालय इस आदर्श का प्रतिपालन नहीं कर रहे हैं। हम अपने चरित्र का विकास, व्यक्तित्व का निर्माण, बौद्धिक तथा ऐच्छिक-प्रशिक्षण; शिक्षा-संस्थाओं में अनुशासनमय जीवन व्यतीत करके; उपलब्ध कर सकते हैं।

९—विश्वविद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय विषयों से सम्बन्धित विविध परिस्थितियों के अध्ययन के लिये एक ऐसी विचारधारा को जन्म दें जिससे हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धांत अपनाते हुए विश्वशान्ति स्थापित करने में सहयोग दे सकें।

उच्चशिक्षा के महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, ज्ञान का विस्तार, नवीन ज्ञान के लिये अविरल परिश्रम, जीवन की सार्थकता के लिये निरन्तर अन्वेषण तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यावसायिक शिक्षा का आयोजन। इन आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रत्येक नागरिक को सतत प्रयत्नशील होना चाहिए।

शिक्षण के स्तर[2]

हमारे विश्वविद्यालयों को देश के भावी नेताओं को उत्पन्न करना है। उनका मुख्य कर्तव्य है कि वे स्नातकों का शिक्षण तथा परीक्षण उच्चतम स्तर पर रखें जिससे कि उनकी उपाधियाँ स्नातकों के बौद्धिक विकास का उच्चतम मान विश्व के

---

१. We are engaged in a quest for democracy through the realisation of justice, liberty, equality and fraternity.—The Report of The University Education Commission, p. 36.

२. Standards of Teaching.

समक्ष रख सकें। यह शोचनीय विषय है कि भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा का स्तर तुलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त निम्नतर है। इसका विशेष कारण यह है कि इससे नीचे वाली इण्टरमीडिएट कक्षा की शिक्षा का स्तर इतना गिरा हुआ है कि छात्र विश्वविद्यालय की शिक्षा को पचाने में नितान्त असमर्थ रहते हैं। स्वयं इण्टरमीडिएट परीक्षा में ही अधिक परीक्षार्थी अनुत्तीर्ण हो जाते हैं।

उच्चशिक्षा के स्तर की अभिवृद्धि के लिये नीचे दिये गये उपायों को अपनाया जाय :—

१—विश्वविद्यायल में प्रवेश करने के लिए वर्तमान इण्टरमीडिएट परीक्षा के उत्तीर्ण करने की योग्यता होना आवश्यक है।

२—प्रत्येक प्रान्त के विविध स्थानों में इण्टरमीडिएट कालेज आवश्यकतानुसार अधिक मात्रा में हों।

३—वे छात्र जिन्होंने १०–१२ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की हो अधिकतया व्यावसायिक स्कूलों में प्रवेश पाने के लिए प्रेरित किये जायँ और ऐसे व्यावसायिक स्कूलों की संख्या पर्याप्त मात्रा में हो।

४—शैक्षणिक विश्वविद्यालय की अधिकतम छात्र-संख्या कला तथा विज्ञान में ३००० हो और संबद्ध महाविद्यालयों के लिये यह संख्या १५०० रहे।

५—महाविद्यालय के वार्षिक कार्य-दिनों की न्यूनतम संख्या १८० रहे।

६—शिक्षक व्याख्यान, ट्यूटोरियल, पुस्तकालय तथा लिखित कार्य से सुसम्बद्ध रहे।

७—किसी विषय के लिये कोई भी पाठ्यपुस्तक निश्चित न की जाय।

८—व्याख्यानों में छात्रों की उपस्थिति अनिवार्य रहे और व्यक्तिगत[1] परीक्षार्थियों की श्रेणियाँ सीमित कर दी जायँ।

९—उपकक्षा-प्रणाली को प्रभावमयी बनाया जाय और उसके लिये ऐसे अधिक शिक्षक नियुक्त किये जायँ जो अपने विषय में निपुण हों।

१०—विश्वविद्यालय का पुस्तकालय सुसंगठित तथा सुचारु रूप से संचालित रहे।

११—प्रयोगशालाओं[2] के भवन, यन्त्र तथा सम्बन्धित विषय-सामग्री से परिपूर्ण हों।

---

१. Private.

२. Laboratories.

शिक्षक-वर्ग[1]

विश्वविद्यालयों के सुधार की किसी भी योजना में सुयोग्य शिक्षकों की नियुक्ति पर विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि शिक्षा की सफलता सच्चरित्र तथा सुयोग्य शिक्षकों पर आधारित है। खेद है कि इसी बात के न होने से विश्वविद्यालय के शिक्षण के स्तर को गहरी चोट पहुँच रही है। इसके कई कारण और भी हैं जिनमें प्रमुख ये हैं—शिक्षकों का न्यून वेतन, सेवा की अनाकर्षक शर्तें, अनुसन्धान के अवसरों तथा प्रोत्साहनों के लिये न्यून अवसर। इन त्रुटियों को दूर करने के लिये निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

१—शिक्षकों के दायित्व और महत्त्व पूर्णतया स्वीकार किये जायँ।

२—विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाय।

३—विश्वविद्यालय के शिक्षक चार श्रेणियों में विभक्त किये जायँ :—

(क) प्रोफेसर, (ख) रीडर, (ग) लेक्चरर्स, (घ) इन्स्ट्रक्टर्स। इनके वेतनक्रम इस प्रकार हों :—

(क) प्रोफेसर—९००-५०-१३५० रु०

(ख) रीडर्स—६००-३०-९०० रु०

(ग) लेक्चरर्स—३००-२५-६०० रु०

(घ) इन्स्ट्रक्टर्स या फेलोज—२५०-२५-६०० रु०

(ङ) रिसर्च फेलोज—२५०-२५-५०० रु०

संबद्ध कालेजों के शिक्षकों के वेतनक्रम इस प्रकार हों :—

(क) जिनमें स्नातकोत्तर शिक्षा नहीं होती हो—

लेक्चरर—२००-१५-३२०,२०-४०० रु०
श्रेष्ठ पद—४००-२५-६०० रु०
(प्रत्येक कालेज में दो)
प्रिंसिपल—६००-४०-८०० रु०

(ख) जिनमें स्नातकोत्तर शिक्षा होती हो—

लेक्चरर—२००-१५-३२०,-२०-४००,-२५-५०० रु०
श्रेष्ठ पद—५००-२५-८०० रु०

---

१. The Teaching Staff.

(प्रत्येक कालेज में दो)

प्रिंसिपल—८००-४०-१००० रु०

५—एक पद से दूसरे ऊँचे पद पर योग्यता के आधार पर ही शिक्षक की उन्नति करनी चाहिए।

६—उच्च और निम्नतर पदों का अनुपात १ : २ हो।

७—शिक्षकों के निर्वाचन में पूरी सतर्कता से काम लिया जाय।

८—शिक्षकों के प्राविडेन्ट फण्ड, अवकाश तथा कार्य की अवधि आदि की शर्तें निश्चित रूप से तय कर दी जायँ।

९—६० वर्ष की उम्र पर शिक्षकों को अवकाश दे दिया जाय। प्रोफेसरों को ६४ वर्ष तक कार्य करने की स्वीकृति दी जा सकती है।

स्नातकोत्तर प्रशिक्षण और अनुसंधान[१]

विद्वान, आविष्कारक तथा अन्वेषक लोग प्रगतिशील समाज की आधार-शिलाएँ हैं। विद्वान अतीत को पुनरुज्जीवित करते हैं, आविष्कारक नये तथ्य को जन्म देते हैं और अन्वेषक इन्हीं तथ्यों को आवश्यकताओं में प्रयुक्त करते हैं। प्रगतिशील विचारों को प्रभावशाली बनाने वाले उपर्युक्त तीनों प्रकार के व्यक्तियों को जन्म देने वाले विश्वविद्यालय हैं।[२] विश्वविद्यालय का कार्य नागरिकता का प्रशिक्षण और ज्ञान को फैलाना है। भारत में बौद्धिक और व्यावहारिक अनुसंधान की आवश्यकता है। बिना अनुसन्धान के कृषि, स्वास्थ्य तथा उद्योग आदि का नव निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए विश्वविद्यालय की शिक्षा में अनुसन्धान और अन्वेषण को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये नीचे दिये परामर्श को अपनाया जाय :—

१—स्नातकोत्तर कक्षाओं में अखिल भारतीय स्तर पर छात्रों का प्रवेश किया जाय। पाठ्यक्रम में अनुसन्धान की विधियों का प्रशिक्षण देते हुए इन कक्षाओं के विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच निकट सम्पर्क स्थापित किया जाय।

२—पी-एच० डी० के छात्रों का निर्वाचन अखिल भारतीय स्तर पर हो। इनका प्रशिक्षण-काल दो वर्ष का हो और इनका विषय-सम्बन्धी अध्ययन व्यापक और गम्भीर हो।

---

१. Post-Graduate Training and Reseasch.

२. The Universities are the chief agencies for producing these types of men who will fuse progressive activities into an effective instrument—The Report, Vol. I, p. 140.

३—पी-एच० डी० के पश्चात् विशेष योग्यता रखने वाले निर्वाचित छात्रों के लिए विशेष अध्ययन का प्रबन्ध किया जाय और उनके लिये 'फेलोशिप' का संविधान किया जाय ।

४—डी० लिट्० तथा डी० एस-सी० की डिग्रियाँ मौलिक कृतियों पर दी जायँ ।

५—शिक्षा-सचिवालय एम० एस-सी० तथा डी० एस-सी० की उपाधियाँ प्राप्त विशिष्ट छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देकर उनके लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करे । उनका निर्वाचन विवेकपूर्ण होना चाहिए ।

६—विश्वविद्यालयों को आवर्तक तथा अनावर्तक अनुदान की व्यवस्था पर्याप्त-मात्रा में होनी चाहिए ।

पाठ्यक्रम[१]

विभिन्न क्षेत्रों में ज्ञान एक दूसरे से सम्मिश्रित होकर उपस्थित होते हैं । शिक्षा की सुविधा के लिये हम विभिन्न अनुभवों को पाठ्यक्रम द्वारा एक दूसरे से पृथक् करके रखते हैं । यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि पाठ्यक्रम सम्पूर्ण अनुभव के साधन हैं; अतः उन्हें साध्य नहीं समझना चाहिए । अतः पाठ्यक्रम के निर्धारण और अनुसरण में इस बात का ध्यान रहना नितान्त आवश्यक है कि विभिन्न अनुभवों के पारस्परिक सम्बन्ध का सामंजस्य सुव्यस्थित रहे और इन अनुभवों के द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान का भंडार उपार्जित हो सके ।

उच्च शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य—सामान्य, बौद्धिक और व्यावसायिक ये तीन शिक्षाएँ होनी चाहिए । जिन सूचनाओं के आधार पर छात्र अपने विचार, तर्क और कार्यों को प्रकट कर सकेंगे, उन सीमित सूचनाओं का बोध हम सामान्य शिक्षा द्वारा छात्रों को करायेंगे और उन शिक्षाओं को महत्त्व देंगे । मस्तिष्क के विकास के लिये हम बौद्धिक शिक्षा का प्रयोग करते हैं जिससे छात्रों की चिन्तन-शक्ति, आलोचनात्मक जिज्ञासा-पूर्त्ति तथा कार्य-पटुता की अभिवृद्धि होती है । व्यावसायिक शिक्षा द्वारा हम छात्रों को उनके व्यावसायिक जीवन के लिये प्रशिक्षित करते हैं । इन शिक्षाओं का पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण इनमें सामंजस्य रहना चाहिए ।

शिक्षा के विभिन्न तत्व विद्यार्थियों के सामने उनके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिये परस्पर-सम्बन्धित दशा में उपस्थित किये जायँ । इसमें जड़-रूढ़िवादिता का अनुसरण न किया जाय । वर्तमान विश्वविद्यालयों में इसी रूढ़िवादिता

१. Courses of Study.

के कारण पर्याप्त ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो पाती है। छात्रों को उनके विश्वविद्यालय के विशिष्ट क्षेत्र में पूर्णतया प्रशिक्षण मिलने के लिए उनकी इन विशिष्ट विषयों की शिक्षा माध्यमिक कक्षाओं से ही प्रारम्भ कर देनी चाहिए। पाठ्यक्रम के सिलसिले में आयोग ने नीचे दिये गये विशेष सुझाव उपस्थित किये हैं :—

१—विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक विद्यालय दोनों ही आयोग के परामर्शों के आधार पर उपयुक्त अध्ययन-क्रम तथा अध्यापन-सामग्री प्रस्तुत करें और सामान्य शिक्षा के सिद्धांतों तथा व्यवहारों का अध्यापन प्रारम्भ कर दें।

२—इण्टरमीडिएट तथा विश्वविद्यालय में निर्धारित विशिष्ट शिक्षा की त्रुटियों को दूर करने के लिये सामान्य शिक्षा-सिद्धान्तों तथा व्यवहारों की शिक्षा शीघ्र ही प्रारम्भ कर दी जाय।

३—छात्रों के वैयक्तिक, नागरिक तथा व्यावसायिक हितों की दृष्टि से ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में सामान्य तथा विशेषीकृत शिक्षा के पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाय।

व्यावसायिक शिक्षा[१]

आयोग ने व्यावसायिक शिक्षा की समीक्षा सभी दृष्टिकोणों से करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार दी है :—'व्यावसायिक भावना के साथ स्त्री और पुरुष उत्तरदायी तथा परिश्रमपूर्ण सेवा के लिये जिस शिक्षा से अपने को उपयुक्त बनाते हैं वह शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा कहलाती है। व्यावसायिक शिक्षा से तात्पर्य केवल उस शिक्षा से है जिसमें पर्याप्त अनुभव हो, अनुशासनमय बौद्धिक विकास हो और उच्च कोटि की कार्यपटुता हो।[२] साधारण कोटि के परिश्रम की आवश्यकता तो उदरपूर्तिमय साधारण कोटि के शिल्प में अपेक्षित है।

व्यावसायिक शिक्षा की आधार-शिलाएँ हैं कार्यकुशलता, सामाजिक उत्तर-दायित्व की भावना, सामाजिक तथा मानवीय मूल्यांकन की क्षमता, और वस्तु-

---

१. Professional Education.

२. Professional Education is the process by which men and women prepare for exacting, responsible service in the professional spirit. The term may be restricted to preparation for fields requiring well-informed and disciplined insight and still of a high order—The Report, p. 174.

स्थिति का शुद्ध ज्ञान। वर्तमान व्यावसायिक शिक्षा में यह एक बड़ी त्रुटि है कि वह कुशल व्यक्तियों को जन्म तो देती है, किन्तु वे अपने जीवन तथा कुशलता का प्रयोग समुचित रूप से नहीं कर पाते। ऐसा होने से सामाजिक हित नहीं हो पाता।

व्यावसायिक शिक्षा के इन दायित्वों के आधार पर आयोग ने भारत के मुख्य व्यवसायों की शिक्षा-सम्बन्धी गतिविधियों का अध्ययन किया और उनके सम्बन्ध में इस प्रकार से अपनी राय प्रकट की है :—'भारत कृषि-प्रधान देश है। देश की वर्तमान आवश्यकताओं में राष्ट्रीय शिक्षा-योजना में कृषि-शिक्षा का विशिष्ट स्थान है। देश की आर्थिक योजनाओं में प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षाओं में 'कृषि के अध्ययन' को प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

यह शिक्षा ग्रामीण विधि से दी जानी चाहिए जिससे विषय का बोध वास्तविक परिस्थितियों में व्यावहारिक रूप से हो सके। कृषि के वर्तमान या नवीन विद्यालयों को ग्रामीण विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित किया जाय। राज्य तथा केन्द्रीय सरकार देश के विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्त 'कृषि-प्रयोगशालाओं' का आयोजन करें। प्रत्येक बेसिक प्राथमिक स्कूल तथा ग्रामीण माध्यमिक स्कूलों में भी यथासंभव एक छोटे-से 'कृषि फार्म' का आयोजन किया जाय। उच्च कक्षाओं में भी कृषि के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन तथा अनुसन्धान की व्यवस्था की जाय। विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग के साथ एक कृषि-समिति भी जोड़ दी जाय जो कृषि की उन्नति के लिये उपलब्ध सामग्री में से आवश्यक पूंजी की सिफारिश कर सकें।

व्यापारिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने ये विचार व्यक्त किये हैं कि व्यापारिक विषयों के छात्रों को तीन-चार तरह की व्यापार-संस्थाओं में व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए और स्नातक होने के अनन्तर कुछ छात्रों को किसी-किसी विषय में विशेष अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया जाय। व्यापारिक शिक्षा की मास्टर डिग्री का अध्ययन व्यावहारिक अधिक और पुस्तकीय कम होना चाहिए। यह डिग्री तुलनात्मक रूप से अधिक व्यक्तियों को नहीं दी जानी चाहिए। शिक्षा-व्यवसाय[1] के विषय में आयोग द्वारा दी हुई सिफारिशों में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१—प्रशिक्षण-संस्थाओं के पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया जाय। पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा स्कूल में व्यावहारिक अभ्यास पर अधिक बल दिया जाय। छात्रों की उपलब्धियों के मूल्यांकन में अभ्यास का विशिष्ट स्थान रहे।

---

१. Teaching Profession.

२—ट्रेनिंग कालेज के अधिकांश प्रशिक्षक स्कूल-शिक्षण का पर्याप्त अनुभव रखने वाले लोगों में से नियुक्त किये जायँ।

३—शिक्षा-सिद्धांत के पाठ्यक्रम स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल लचीले बनाये जायँ।

४—मास्टर डिग्री के लिये कुछ वर्ष के शिक्षण-कार्य के अनुभवी छात्र ही चुने जायँ।

५—अखिल भारतीय स्तर पर प्रोफेसर तथा लेक्चरर मौलिक कार्य करें।

इंजीनियरिंग तथा टेकनॉलॉजिकल शिक्षा के विषय में आयोग ने निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें की हैं :—

१—देश की वर्तमान संस्थाएँ राष्ट्रीय निधि समझी जायँ और उनकी अभि-वृद्धि के लिये प्रयत्न किये जायँ।

२—इंजीनियरिंग स्कूलों की संख्या में वृद्धि की जाय।

३—देश की बढ़ती हुई विविध आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए इंजीनियरिंग स्कूलों में पाठ्य-विषयों का विस्तार किया जाय।

४—इंजीनियरिंग शिक्षा में व्यावहारिक विषय पर विशेष ध्यान दिया जाय।

५—वर्तमान इंजीनियरिंग कालेजों में स्नातकोत्तर अध्ययन तथा अनुसन्धान यथासम्भव आरम्भ किये जायँ।

६—उच्चतर शिल्पकला सम्बन्धी[१] संस्थाओं की स्थापना शीघ्रातिशीघ्र की जाय।

७—इंजीनियरिंग कालेजों पर मंत्रियों तथा शासकीय विभागों का आधि-पत्य न रहे।

चिकित्सा[२]—शिक्षा की समस्याओं का विश्लेषण करने के पश्चात् आयोग ने चिकित्सा-सम्बन्धी शिक्षा के सुधार तथा उन्नति के लिये विविध विचार प्रकट किये, जिनमें से नीचे दी हुई बातें मुख्य हैं :—

(१) किसी मेडिकल कालेज में अधिक-से-अधिक १६० छात्रों का प्रवेश किया जाय।

---

१. Techonological.

२. Medicine.

(२) प्रत्येक छात्र के अधीन १० रोगी रहें।

(३) किसी ग्रामीण क्षेत्र में भी चिकित्सा-शास्त्र के विद्यार्थी को प्रशिक्षण दिया जाय।

(४) जिन संस्थाओं में अनुभवी शिक्षक तथा पर्याप्त साधन विद्यमान हों, केवल उन्हीं चुनी हुई संस्थाओं में स्नातकोत्तर शिक्षा दी जाय।

(५) सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा रुग्ण-सेवाकार्य[१] (नर्सिङ्ग) को विशिष्टता दी जाय।

(६) देशी चिकित्सा-प्रणालियों में अनुसंधान की समुचित व्यवस्था की जाय।

स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा का विवेचन करते हुए आयोग ने अपना मत व्यक्त किया है कि स्वतन्त्र देश में पुरुषों की भाँति स्त्रियों की शिक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिए, किन्तु पति और पत्नी के कार्य-क्षेत्र पृथक्-पृथक् होने से उनकी शिक्षा के विषय भी पृथक्-पृथक् होने चाहिए। सभी स्वतंत्र देशों की स्त्रियों का प्रमुख कर्तव्य गृह का सुचारु रूप से प्रबन्ध करना है। अतएव स्त्रियों की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे कि वे कुशल-गृहिणी सिद्ध हो सकें।[२] आयोग ने अपना मत व्यक्त किया है कि गृहिणी के ज्ञान और कुशलता की उन्नति शिक्षा से ही हो सकती है। आयोग ने स्त्री-शिक्षा के विषय में नीचे लिखी हुई बातों को कार्यरूप में लाने पर जोर दिया है :—

(१) स्त्री-शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार किया जाय।

(२) स्त्रियों को आदर्श नारी बनने के लिये अपने हितों के उपयुक्त शिक्षा को चुनने में सुयोग्य व्यक्तियों की सहायता वांछनीय है।

(३) पुरुष तथा स्त्रियों की शिक्षा की बहुत-सी बातें समान हो सकती हैं, किन्तु दोनों की शिक्षाएँ एकदम एक ही प्रकार की न हों।

(४) स्त्रियों को इस बात का पूर्ण बोध कराया जाय कि सामान्य समाज में सामान्य स्त्रियों का क्या स्थान है। उन्हें उसके उपयुक्त बनाने का दायित्व शिक्षा-संस्थाओं पर हो।

---

१. Nursing.

२. Her education as a woman should include practical laboratory, experience in the care of a home and family.—Report, p. 394.

(५) गृह-प्रबन्ध तथा गृह-अर्थशास्त्र के अध्ययन में स्त्रियों की अभिरुचि उत्पन्न की जाय।

(६) सह-संस्थाओं में स्त्रियों की आवश्यकताओं तथा सुविधाओं पर समुचित ध्यान रखा जाय।

धार्मिक शिक्षा[1]

सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास तथा अच्छे सफल जीवन को बनाने के लिये, हमें बौद्धिक विकास के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा की भी आवश्यकता है। जीवन में अवश्य ही आ पड़ने वाले संघर्षों तथा दबावों को सहन करने की क्षमता रखने वाले संवेगात्मक पक्ष की शान्ति भी हमें आवश्यक है। हम छात्रों के संवेगात्मक तथा नैतिक विकास की अवहेलना नहीं कर सकते। आयोग ने भारत में धार्मिक शिक्षा का विवेचन करते हुए कहा कि 'विदेशी शासन के पूर्व तक भारतीय शिक्षा-पद्धति में धार्मिक शिक्षा का विशेष स्थान था। विदेशी शासन की नीति ने धार्मिक शिक्षा को भारतीय शिक्षा-पद्धति में स्थान ही नहीं दिया, किन्तु आधुनिक युग में इसकी आवश्यकता फिर प्रतीत होने लगी है। आयोग की अनुमति में धर्म-निरपेक्ष राज्य का तात्पर्य धर्मशिक्षा का निषेध नहीं है।[2] धर्म-निरपेक्षता का तात्पर्य है गम्भीर आध्यात्मिकता का अवगाहन, न कि भेद-भाव-मयी संकीर्ण धार्मिकता। इस विचारधारा के आधार पर आयोग ने धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में नीचे लिखे सुझाव उपस्थित किये :—

१—सभी शिक्षा-संस्थाओं के दैनिक कार्य कुछ क्षण तक मौन रहकर आन्तिरिक चिन्तन के साथ प्रारम्भ किये जायँ।

२—डिग्री कक्षा के प्रथम वर्ष में संसार की महान धार्मिक विभूतियों—गाँधी, बुद्ध, कनफ्यूसियस, जरथुस्त्र, सुकरात, ईसा, मुहम्मद, नानक तथा गाँधी आदि—के जीवन-चरित्र पढ़ाये जायँ।

३—द्वितीय वर्ष में संसार के धर्मग्रन्थों से सार्वजनिक सामग्रियाँ संगृहीत कर के पढ़ाई जायँ।

४—तृतीय वर्ष में धर्म के दर्शन की विशिष्ट समस्याओं पर विचार-विनिमय किया जाय।

---

१. Religious Education.

२. The intention is not to ban all religious education but to ban dogmatic or sectarian religious instruction—The Report, p. 294.

शिक्षा[1] के माध्यम

आयोग को शिक्षा का माध्यम निश्चित करने में परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं की उलझन का सामना करना पड़ा। यह प्रश्न प्रान्तीयता का रूप ले लेता था। विभिन्न भारतीय भाषाओं की उपादेयता की गहन समीक्षा के बाद आयोग ने माध्यम के विषय में नीचे दिये गये विचार प्रकट किये हैं :—

१—जब सम्भव हो तब शीघ्र ही उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को अपनाया जाय। कई कठिनाइयों के कारण यह भाषा संस्कृत नहीं हो सकती।

२—उच्चतर माध्यमिक स्कूलों तथा विश्वविद्यालय के छात्रों के लिये तीन भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है—(१) प्रादेशिक । ।, (२) संघीय (केन्द्रीय सरकारी) भाषा तथा (३) अंग्रेजी।

३—किसी प्रादेशिक भाषा के द्वारा उच्चतर शिक्षा दी जाय। विशेष विषयों अथवा सभी विषयों की शिक्षा के लिये संघीय भाषा भी व्यवहृत की जा सकती है।

४—संघीय भाषा की लिपि देवनागरी होनी चाहिए। इस लिपि में आवश्यक सुधार किये जायँ।

५—संघीय तथा प्रादेशिक भाषाओं का विकास यथाशीघ्र किया जाय।

६—सभी भारतीय भाषाओं में समान रूप से प्रयुक्त किये जाने वाले वैज्ञानिक शब्दों का निर्माण करने के लिये भाषा-शास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों की एक समिति नियुक्त की जाय, जो वैज्ञानिक ग्रन्थों के प्रकाशन का प्रबन्ध करे और उनका अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं में किया जाय।

७—प्रान्तीय सरकार सभी उच्चतर माध्यमिक स्कूलों, स्नातकीय महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में संघीय भाषा की शिक्षा का प्रबन्ध करे।

८—सांसारिक नवीन ज्ञान की उपलब्धि के लिये हाई स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी शिक्षा का पाठ्यक्रम यथापूर्व चलता रहे।

---

१. Medium of Instruction.

छात्र, उनके कार्य तथा उनके हित[१]

विद्यार्थियों के शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक जीवन के सभी क्षेत्रों में उनकी संभावनाओं का चरम विकास करने के लिए विश्वविद्यालयों में उन्हीं छात्रों का प्रवेश किया जाय जो इसकी शिक्षा को ग्रहण करने के योग्य हों,[२] क्योंकि विश्वविद्यालयों की स्थापना छात्रों के निमित्त होती है न कि विश्वविद्यालयों के लिये। छात्रों के चरित्र-निर्माण तथा उनके हितों के पूर्ण विकास के लिये आयोग ने अन्य तथ्यों के साथ-साथ नीचे लिखी हुई अनुमति व्यक्त की है :—

१—विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालयों में योग्यता के आधार पर ही छात्रों का प्रवेश किया जाय।

२—उन्हीं दीन तथा साधन-हीन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जायँ जो सुयोग्य तथा प्रतिभाशाली हों।

३—छात्रों के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रखा जाय और उनकी रक्षा के लिये सभी समुचित उपायों की व्यवस्था की जाय।

४—छात्रों के स्वास्थ्य तथा शारीरिक विकास के लिये खेल तथा व्यायाम-शालाओं आदि की व्यवस्था की जाय।

५—शारीरिक त्रुटियों के कारण असमर्थ अथवा एन० सी० सी० के सदस्यों को छोड़कर सभी छात्रों के लिये दो वर्ष की शारीरिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय।

६—सभी संस्थाओं में एन० सी० सी० के दल का संगठन हो।

७—केन्द्रीय सरकार विश्वविद्यालयों तथा कालेजों के लिए एन० सी० सी० के प्रबन्ध का सुविधाजनक आयोजन करे।

८—छात्रावास की व्यवस्था अच्छी हो।

९—विश्वविद्यालय का छात्र-संघ, यथासम्भव, राजनीति से दूर रहे। यह संघ छात्रों की शिक्षा की उन्नति के दृष्टिकोण से छात्रों द्वारा संचालित किया जाय।

---

१. Students, their activities and welfare.

२. The Policy of selection should be based upon the desirability of giving to each boy and girl who has the intellectual and physical powers, the character and habits and the industry to improve these, every possible opportunity to realize his or her other ambitions—The Report, Vol. I, p. 346.

१०—छात्र-प्रशासन को प्रोत्साहन दिया जाय।

११—विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में विद्यार्थी-विभाग की स्थापना की जाय।

१२—सभी शिक्षा-संस्थाओं में छात्रों के हितों की सुरक्षा के निमित्त एक परामर्शदात्री समिति का आयोजन किया जाय।

परीक्षा

भारतीय शिक्षा-पद्धति में परीक्षा को विशिष्ट स्थान दिया जाता रहा है यद्यपि इसके विरुद्ध विगत कई वर्षों से विभिन्न समितियों तथा आयोगों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। आयोग ने कहा है "यदि विश्वविद्यालय-शिक्षा में सुधार का सबसे बड़ा विषय कोई है तो वह परीक्षा है।"[१] आयोग ने परीक्षा-पद्धति में सुधार का सुझाव उपस्थित किया है, न कि उसे हटाने का। सुधार के लिए आयोग ने नीचे दी गई सिफारशें की हैं :—

१—शिक्षा-मंत्रालय के निर्देश से कतिपय विशेषज्ञों की एक समिति द्वारा परीक्षा लेने की विविध वैज्ञानिक पद्धतियों का अध्ययन किया जाय और इस अध्ययन के फलस्वरूप वर्तमान परीक्षा-पद्धति में सुधार लाया जाय।

२—प्रत्येक विश्वविद्यालय के द्वारा अधिक-से-अधिक तीन सदस्यों का एक स्थायी परीक्षक-मंडल संगठित किया जाय। इसके दो कार्य होंगे :—

(क) विश्वविद्यालय अथवा कालेजों के शिक्षकों को नवीन परीक्षा-विधि (ऑब्जेक्टिव टेस्ट्स)[२] तथा प्रयोग-विषयक परामर्श देना और पाठ्यक्रम के संशोधन का स्तर नियत करना।

(ख) सम्बद्ध महाविद्यालयों की यथासमय गुणात्मक जाँच करना। संख्यात्मक मान के साथ-साथ गुणात्मक मान की प्राप्ति के लिए इन कालेजों को इन जाँचों के फल से अवगत करना।

३—उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिये मनोवैज्ञानिक जाँच की प्रश्नावली का पाठ्यक्रम तैयार किया जाय और उसमें परीक्षा भी ली जाय। विश्वविद्यालय के प्रथम वर्ष में प्रवेश पाने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाय।

---

१. We are convinced that if we are to suggest one single reform in University Education it should be that of the examination—The Report, Vol. I, p. 328.

२. Objective Tests.

ऑब्जेक्टिव टेस्ट्स के निर्माण होने तक नीचे दी गई पद्धति से परीक्षाओं के दोषों को रोका जाय :—

(१) राजकीय प्रशासन-पदों के लिए विश्वविद्यालय की डिग्री आवश्यक न समझी जाय ।

(२) प्रत्येक विषय की परीक्षा के पूर्णांकों का एक-तिहाई भाग अध्ययन-काल की अवधि के कार्य के लिए रक्खा जाय ।

(३) कालेज की तीन वर्ष की डिग्री के अध्ययन में एक अन्तिम परीक्षा के स्थान पर बहुत-सी सामयिक परीक्षाएँ ली जायँ ।

(४) कोई भी व्यक्ति उस विषय में परीक्षक न बनाया जाय जिसे उस विषय में कम-से-कम पाँच वर्ष के अध्यापन का अनुभव न हो ।

(५) परीक्षाओं की सफलता का स्तर सर्वत्र एक-सा रहे और यह ऊँचा कर दिया जाय । मानदण्ड इस प्रकार से ऊँचा कर दिया जाय : प्रथम श्रेणी के लिए ७० प्रतिशत से अधिक, द्वितीय श्रेणी ५५ प्रतिशत और तृतीय श्रेणी ४० प्रतिशत ।

प्रशासन[१]

आयोग की राय में विश्वविद्यालयों की प्रशासन-प्रणाली कई दृष्टिकोणों से त्रुटिपूर्ण होने से उसकी शिक्षा के पुनर्गठन में तथा विश्वविद्यालयों और कालेजों की प्रशासन-व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता है । आयोग ने नीचे दिये गये कतिपय सुझाव उपस्थित किये हैं :—

(१) समवर्ती[२] सूची में विश्वविद्यालय-शिक्षा रखी जाय ।

(२) केन्द्रीय सरकार के अधिकार, प्रशासन के मानदण्ड के निर्धारण, धनराशि, सुविधाओं का संगठन, राष्ट्रीय नीति के प्रचालन तक सीमित रहें ।

(३) एक केन्द्रीय अनुदान-आयोग विश्वविद्यालयों को अनुदान देने के लिए नियुक्त हो । इसकी सहायता के लिए कई समितियाँ हों ।

(४) कालेजों को स्वीकृति निश्चित शर्तों पर ही दी जाय ।

(५) कालेज की प्रबन्ध-समिति सुसंगठित हो ।

---

१. Constitution and Control.

२. Concurrent list.

(६) कोई भी विश्वविद्यालय केवल सम्बद्धीय न रहे।

(७) सभी राजकीय महाविद्यालय क्रमशः विश्वविद्यालयों के अंगीभूत हो जायँ।

(८) विश्वविद्यालयों के दस अधिकारी इस क्रम में हों: (क) परिदर्शक[१], (ख) कुलपति, (ग) उप-कुलपति, (घ) सिनेट, (ङ) सिन्डिकेट, (च) ऐकेडेमिक कॉउन्सिल, (छ) फैकल्टीज, (ज) बोर्ड आफ स्टडीज, (झ) अर्थ-समिति, (य) चुनाव-समिति। भारत के गवर्नर-जनरल (अब राष्ट्रपति) परिदर्शक हों। कुलपति साधारणतः राज्य के गवर्नर (राज्य-पाल) हों, उपकुलपति एक पूर्णकालीन सवेतन अधिकारी हों।

अर्थ[२]

आयोग ने विश्वविद्यालयों तथा कालेजों की आर्थिक स्थिति असन्तोषजनक बताते हुए यह व्यक्त किया कि आर्थिक न्यूनता के कारण उच्च शिक्षा की महत्त्वपूर्ण योजनाएँ परिचालित नहीं हो सकतीं। इसलिए नवीन योजनाओं को कार्यरूप में परिणत करने के लिए पर्याप्त आर्थिक अनुदान स्वीकृत करने की सिफारिश करते हुए आयोग ने नीचे लिखे हुए सुझाव उपस्थित किये हैं:—

(१) राज्य उच्च शिक्षा का आर्थिक उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले।

(२) निजी कालेजों को आवर्तक[३] तथा अनावर्तक[४] दोनों प्रकार के अनुदान दिये जायँ। आवर्तक अनुदान निर्धारित नियम के अनुसार दिया जाय।

(३) आय-कर के नियमों में संशोधन किया जाय, जिससे शिक्षा-कार्य के लिए दान देने वाले लोगों का उत्साह बढ़े।

(४) संस्थाओं को अतिरिक्त दान दिये जायँ जिससे वे आयोग के सुझावों को कार्यान्वित कर सकें।

(५) आगामी पंचवर्षीय योजना के कार्यकाल में सरकार विश्वविद्यालय-शिक्षा के विकास के लिए दस करोड़ रुपये अतिरिक्त अनुदान के रूप में दे।

---

१. Visitor.

२. Finance.

३. Recurring.

४. Non-recurring.

ग्रामीण विश्वविद्यालय[1]

भारतीय विश्वविद्यालय की रूपरेखा शहरी ढाँचे की है। अतः भारतीय गणतंत्र की उच्च शिक्षा का अधिकांश क्षेत्र उससे वंचित है। देश के अधिकांश नागरिक ग्रामों में रहते हैं। वर्तमान उच्च शिक्षा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा रुचि के अनुकूल नहीं है। अतः ऐसी उच्च शिक्षा-संस्थाओं की आवश्यकता है जो भारतीय ग्रामीण जनता के वातावरण तथा उनके जीवन से सम्बन्धित जानकारी तथा कार्यपटुता प्रदान कर सकें। इस न्यूनता की पूर्ति के लिए आयोग ने ग्रामीण विश्वविद्यालय की योजना का सुझाव दिया है।

इन विश्वविद्यालयों की योजना बहुत से छोटे-छोटे और आवासिक पूर्व-स्नातक कालेजों[2] से प्रारम्भ हो। ये कालेज केन्द्रगत विश्वविद्यालय के चारों ओर उपग्रह की भाँति वृत्ताकार में हों। प्रत्येक कालेज में लगभग ३०० और समस्त विश्वविद्यालयों में २५०० छात्र-संख्या हो। प्रत्येक विषय के लिए विशेष शिक्षा-प्राप्त शिक्षक पृथक् नियुक्त किया जाय और अनिवार्य विषयों की पर्याप्त सामग्री रहे। कई महाविद्यालयों के लिए पुस्तकालय, प्रयोगशाला, क्रीड़ाक्षेत्र तथा व्यायामशाला का आयोजन किया जाय। पूर्व-स्नातकीय शिक्षा-काल में ही छात्र को अपने विशेष रुचिकर विषय की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर उपलब्ध हो जाना चाहिए। यह विशेषीकृत[3] शिक्षा किसी व्यावसायिक स्कूल या केन्द्रस्थ विश्वविद्यालय में ही दी जा सकती है। इस प्रणाली से कोई छात्र पूर्वस्नातक कालेज तथा विश्वविद्यालय में साथ ही साथ शिक्षा पा सकता है। कालेजों की शिक्षा में आजीविका-सम्बन्धी तयारी भी रहे। इन छात्रों का आधा समय तो अध्ययन में और आधा समय प्रयोगात्मक शिक्षा में लगाया जाय।

आयोग के सुझावों की समीक्षा

गुण

विश्वविद्यालय शिक्षा का मानव-जीवन में सर्वोच्च स्थान है। प्रायः इसी क्षेत्र से विश्वविख्यात राजनीतिज्ञ कुशल कलाकार, अद्भुत वैज्ञानिक, अलौकिक आविष्कारक तथा महान् साधक एवं चिन्तक तथा समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाले नेता एवं कवि उत्पन्न होते हैं। विद्यार्थियों की विविध भाँति की प्रतिभा

---

१. Rural Universities.

२. Residential undergraduate Colleges.

३. Specialised.

का सम्पूर्ण विकास इसी शिक्षा के द्वारा होता है। अतः इस शिक्षा को देश एवं काल के अनुसार परिवर्तित करने का सुझाव देकर विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग ने बड़ा ही श्लाघ्य कार्य किया है। विश्वविद्यालय-शिक्षा के सम्बन्ध में यह आयोग अपने ढंग का अनुपम है। इस आयोग ने सम्पूर्ण भारत के विश्वविद्यालयों की आन्तरिक एवं वाह्य परिस्थितियों का अध्ययन करने के उपरान्त विश्वविद्यालय-शिक्षा को अखिल भारतीय स्तर पर लाने का क्रान्तिकारी सुझाव प्रस्तुत किया।

भारत की अधिकांश जनता ग्रामों में निवास करती है। अतः आयोग ने पाश्चात्य एवं ग्राम्य संस्कृति में समन्वय करने का सामयिक प्रयत्न किया है। आयोग ने अपने प्रतिवेदन में पाश्चात्य देशों की वैज्ञानिक शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है एवं उचित अध्यापन-पद्धतियों को भी स्वीकार किया है। किन्तु इसके साथ ही साथ भौतिक शास्त्रों के समक्ष मानवीय शास्त्रों की उपेक्षा नहीं की गई है। विद्या का उद्देश्य हर दशा में मानव-कल्याण रखा गया है। यहाँ तक कि भौतिक प्रगति वहीं तक वांछनीय समझी गई है जहाँ तक उससे विश्व-कल्याण की आशा हो। विनाशकारी भौतिक प्रगति का सर्वथा त्याग किया गया है। भारतीय शिक्षा-पद्धति का यह उद्देश्य ऐसा है जिसका ध्यान पाश्चात्य देशों की शिक्षा में कम है। किन्तु भारतीय शिक्षा में विश्व-कल्याण के उद्देश्य को प्रमुखता देकर आयोग ने विश्व के भ्रमित राष्ट्रों का पथ-प्रदर्शन किया है। वस्तुतः यदि किसी भी वैज्ञानिक अनुसन्धान से विश्व की शांति को खतरा है तो ऐसी प्रगति, प्रगति नहीं, अपितु विनाश है। अतः आयोग ने मानवीय शास्त्रों के अध्ययन पर बल देकर विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रसार किया है, जो कि हमारे राष्ट्रपिता गाँधी जी का प्रधान लक्ष्य था। विश्वविद्यालय-शिक्षा में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की बाकी झाँकी दिखलाई पड़ती है। हमारे राजर्षि भर्तृहरि ने कहा था कि 'फाँसी' चाहे जितने कलात्मक ढंग से क्यों न दी जाय, उसका परिणाम मरण ही होगा। अतः ऐसी वैज्ञानिक प्रगति का आयोग ने सर्वत्र वहिष्कार किया है। आयोग की यह भावना भारतीय परम्परा की परिचायिका है।

इसके अतिरिक्त आयोग ने विश्वविद्यालय-शिक्षा के वर्तमान दोषों, जैसे शिक्षा स्तर का दिन-प्रति-दिन निम्न होना, शिक्षा के द्वारा छात्रों का एकांगी विकास, विश्वविद्यालय-शिक्षा में व्यावसायिक क्षमता का अभाव, पाठ्यक्रम की जटिलता, दूषित परीक्षा-प्रणाली, विश्वविद्यालय के छात्रों में उत्तरदायित्व की कमी, विश्वविद्यालय के आन्तरिक प्रबन्ध में अनावश्यक षड्यन्त्र एवं दलबन्दी की भावना, विश्वविद्यालयों के छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता, उद्देश्यरहित शिक्षा-पद्धति, अध्यापकों की दयनीय स्थिति, विद्यालय-भवन का अनुपयुक्त होना, पाठन-सामग्री

का अभाव तथा विद्यालयों में छात्रावासों की कमी इत्यादि पर व्यापक प्रकाश डाला है एवं सुधार के लिए बड़े समीचीन सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

आयोग ने विश्वविद्यालय-शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित कर पथ-भ्रमित छात्रों का पथ-प्रदर्शन किया है। इससे उन्हें छात्र-जीवन के पश्चात् व्यवसाय के लिए भटकना न पड़ेगा। यह बड़े हर्ष एवं महत्त्व की बात है कि आयोग ने विश्वविद्यालय-शिक्षा को ठीक स्तर पर लाने के लिए योग्य एवं सन्तुष्ट अध्यापकों की व्यवस्था को प्राथमिकता प्रदान की है। इसी भाँति शिक्षा में वर्तमान सभी दोषों को परिष्कृत करने के लिए आधारभूत सुझाव दिये हैं। विश्वविद्यालय-शिक्षा में अनुसन्धान-कार्य की उपादेयता को आयोग ने भली-भाँति समझकर उसे कार्यान्वित करने की महत्त्वपूर्ण सिफारिश की है। विश्वविद्यालय के शिक्षक सभी प्रकार की राजनीति से पृथक् रहकर शिक्षण-कार्य में दत्तचित रहें, इसके लिए विश्वविद्यालय के आन्तरिक शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अध्यापकों के उचित वेतन की व्यवस्था एवं एक 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' की स्थापना की सिफारिश की गई है। भारत गाँवों का देश कहा जाता है। अतः आयोग ने ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना का सुझाव देकर इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है। इसी भाँति आयोग ने विश्वविद्यालय-शिक्षा के पाठ्यक्रम, चिकित्सा, परीक्षा-प्रणाली माध्यम एवं अन्य अपेक्षित विषयों के सम्बन्ध में मूल्यवान सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

दोष

परन्तु जहाँ एक ओर स्वर्ण-गगन में सन्ध्या की लालिमा है, वहाँ दूसरी ओर कालिमा शलाका से रंजित विभावरी का अंचल भी है। अतः यह निर्विवाद है कि कोई भी योजना दोषशून्य अथवा सम्पूर्ण नहीं कही जा सकती। इसलिए विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग का प्रतिवेदन भी इसका अपवाद नहीं कहा जा सकता।

आयोग ने कतिपय महत्त्वपूर्ण विषयों जैसे, शिक्षा का माध्यम, धार्मिक शिक्षा एवं स्त्री-शिक्षा को स्पष्ट रूप में छोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय-शिक्षा की सिफारिशों में ललित कलाओं की शिक्षा में प्रोत्साहन का अभाव है। भारत सदैव से धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ की जनता में अब भी धर्म के प्रति आदर-भाव है। इस देश में धार्मिक नियमों के समक्ष राजनीतिक नियमों की अवहेलना हो सकती है। अतः देश को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बाँधने के लिए विश्वविद्यालयों की शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। इसी भाँति देश की स्त्री-शिक्षा को भी पर्याप्त रूप में ऊँचे उठाने की आवश्यकता है। आज हमारा देश स्त्री-शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ है। इसके परिणामस्वरूप हमारा राष्ट्र सबल नहीं हो पा रहा है। फ्रांस देश के प्रसिद्ध वीर नैपोलियन ने

कहा था कि 'किसी राष्ट्र की प्रगति के लिए सुमाता की बड़ी आवश्यकता है।' वस्तुतः बालकों को सुयोग्य बनाना केवल माताओं के ऊपर बहुत कुछ निर्भर होता है। अशिक्षित मातायें बच्चों का लालन-पालन सुचारु रूप से नहीं कर पाती हैं, और न बालकों को प्रारम्भिक शिक्षा ही दे पाती हैं। अतः पुरुषों की शिक्षा की भाँति स्त्री-शिक्षा भी ध्यान देने योग्य है। बिना समुचित स्त्री-शिक्षा के कोई भी राष्ट्र सुखी एवं समुन्नत नहीं हो सकता।

परन्तु उपर्युक्त अभावों के होते हुए भी यह स्पष्ट है कि 'विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' अपने ढंग का निराला है। यह निर्विवाद है कि आयोग के सुझावों का समाश्रयण कर भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा में आदर्श नवयुग का निर्माण करने की क्षमता होगी। वर्तमान समय में शिक्षा में जिन गुणों की अपेक्षा है, प्रायः आयोग की सिफारिशों में वे सभी विद्यमान हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि आयोग द्वारा की गई सिफारिशों को पूर्णरूपेण कार्यान्वित करने के लिए सरकार एवं जनता यथोचित सहयोग प्रदान करे जिससे विश्वविद्यालय की नवीन शिक्षा से आदर्श नवयुग के निर्माता उत्पन्न हो सकें।

केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड की सिफारिशें

'विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' ने अपना काम बड़ी लगन एवं तत्परता से सम्पन्न किया। तत्पश्चात् आयोग की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए २२, २३ अप्रैल, सन् १९५० ई० को केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड की बैठक हुई। इस बैठक में बोर्ड ने आयोग की कुछ सिफारिशों को मौलिक रूप में एवं कुछ को संशोधित रूप में स्वीकार कर लिया। उत्तरस्नातक[1] शिक्षा एवं अनुसंधान-कार्य के सम्बन्ध में दिये गये सुझाव मौलिक रूप में मान लिये गए। व्यावसायिक शिक्षा के सम्बन्ध में कृषि, वाणिज्य, इंजीनियरिंग एवं टेकनॉलॉजी, विधान तथा चिकित्सा शास्त्र-सम्बन्धी सुझाव कुछ संशोधन के साथ स्वीकृत किए गये। इसके अतिरिक्त बोर्ड ने शिक्षा के माध्यम, शिक्षकों के वर्गीकरण, वेतन-क्रम, काम करने की दशा, पाठ्य-क्रम, परीक्षा-विधि, स्त्री-शिक्षा, नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना, दीन एवं प्रतिभा-सम्पन्न छात्रों को प्रोत्साहन देने इत्यादि के सम्बन्ध में आयोग द्वारा प्रस्तुत किए हुए सुझावों को मौलिक रूप से मान लिया। धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने निम्नलिखित निर्णय प्रस्तुत किया :—

(१) सभी शिक्षण-संस्थाओं में कार्यारम्भ होने के पूर्व कुछ क्षणों तक प्रकट अथवा मौन रूप से ईश्वर-चिन्तन होना चाहिए। इसी उद्देश्य से

१. Post-graduate Education.

कतिपय विद्यालयों में अध्यापन-कार्य आरम्भ होने से पूर्व ईश-प्रार्थना की जाती है ।

(२) स्नातक शिक्षा[1] के प्रथम वर्ष में छात्रों को विश्व के महान धार्मिक पुरुष एवं गुरुजनों का जीवन-चरित्र पढ़ाया जाय एवं द्वितीय वर्ष में धर्म-दर्शन के गूढ़ रहस्यों की शिक्षा दी जाय ।

(३) विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा सम्मिलित की जा सकती है ।

विश्वविद्यालय के विधान एवं नियंत्रण के सम्बन्ध में दिए गए सुझाव मान लिये गए । आयोग द्वारा विश्वविद्यालयों को केन्द्रीय सरकार की तालिका में रखने का सुझाव बोर्ड ने नहीं माना । आयोग के अर्थ-सम्बन्धी सुझाव प्रायः स्वीकृत हो गये । इसके अतिरिक्त 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रगति एवं लोकप्रियता बढ़ाने पर विचार किया ।

विश्वविद्यालय विधेयक, १९५२[2]

सन् १९५२ ई० में हमारे देश में गणतंत्रात्मक रीति से आम चुनाव सम्पन्न हुआ । इसके पश्चात् केन्द्रीय एवं राजकीय सरकारों की स्थापना हुई । तत्पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयों को ठीक स्तर पर लाने के लिए एक 'विश्वविद्यालय विधेयक' संसद के समक्ष प्रस्तुत करना चाहा । किन्तु कुछ विशेष कारणवश उसे आज तक सर्वसाधारण की जानकारी के लिए अच्छी तरह प्रकाश में नहीं लाया जा सका । इतना अवश्य ज्ञात होता है कि इस विधेयक की प्रतियाँ विचारार्थ राज्यीय सरकारों एवं विश्वविद्यालयों के उप-कुलपतियों के पास प्रेषित कर दी गई थीं । परन्तु इतने दिनों तक सर्वसाधारण की जानकारी के लिए विधेयक पर अच्छी तरह प्रकाश न डालना इस बात का द्योतक जान पड़ता है कि संसद के समक्ष विधेयक को उपस्थित करने का विचार परित्यक्त कर दिया गया है ।

विधेयक की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित प्रकार हैं :—

(१) इस विधेयक के अनुसार नवीन विश्वविद्यालयों को सुचारु रूप से चलाने के लिए केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण अपेक्षित होगा ।

(२) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधेयक में एक 'विश्वविद्यालय-शिक्षा केन्द्रीय परिषद'[3] की व्यवस्था की गई है ।

---

१. Degree Education.
२. The Universities Bill, 1952.
३. Central Council of University Education.

(३) 'विश्वविद्यालय-शिक्षा केन्द्रीय परिषद' को भारत के सभी विश्वविद्यालयों की आन्तरिक स्थिति में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा तथा वह विश्वविद्यालय की 'कार्यकारिणी समिति' के द्वारा अपने आदेशों का कार्यान्वयन करा सकेगी।

(४) इस परिषद को देश के समस्त विश्वविद्यालयों की जाँच एवं परीक्षण का पूर्ण अधिकार प्राप्त होगा। इस परिषद के नियमों की अवहेलना करने वाले विश्वविद्यालयों की मान्यता समाप्त कर दी जायगी।

(५) इस विधेयक द्वारा उच्च शिक्षा प्रदान करने वाली सभी शिक्षण-संस्थाओं को विश्वविद्यालय का रूप देने की व्यवस्था की गई है।

(६) 'विश्वविद्यालय-शिक्षा केन्द्रीय परिषद' का निर्माण संघीय सरकार द्वारा होगा तथा इसके एक-तिहाई सदस्य विभिन्न विश्वविद्यालयों के उप-कुलपति होंगे।

(७) इस विधेयक की एक धारा के अनुसार विश्वविद्यालय-शिक्षा की उपाधि पाने के लिए किसी विषय की सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक परीक्षा उत्तीर्ण करना अपेक्षित होगा।

सन् १९५२ के विधेयक की समालोचना

सन् १९५२ ई० के आम चुनावों के बाद केन्द्रीय सरकार ने विश्वविद्यालय विधेयक संसद के समक्ष लाने का विचार किया था। किन्तु वह आज तक प्रकाशित नहीं किया जा सका। तथापि अप्रत्यक्ष रूप से इस विधेयक की बड़ी तीखी आलोचना राज्यीय सरकारों एवं देश के विश्वविद्यालयों द्वारा की गई है। ऐसा जान पड़ता है कि इस विधेयक के पास हो जाने पर इसे विश्वविद्यालयों में कार्यान्वित करने में बड़ा बाद-विवाद एवं वितंडावाद उठेगा और इससे विश्वविद्यालय शिक्षा के स्वतंत्र केन्द्र न रहकर 'केन्द्रीय शिक्षा परिषद' के हाथ की कठपुतली बन जायेंगे। ऐसी दशा में विश्वविद्यालय-शिक्षा का उचित विकास न हो सकेगा। विश्वविद्यालय जैसी उच्च शिक्षा की व्यवस्था में विश्वविद्यालय के अधिकारियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के हस्तक्षेप उचित नहीं कहे जा सकते। इस विधेयक के विरोधियों का मत है कि इसके पारित हो जाने पर विश्वविद्यालय-स्वायत्त शासन-पद्धति भी समाप्तप्राय हो जायगी। इसके होते हुए जब विश्वविद्यालयों की आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने के लिए 'अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड' की स्थापना हुई है, तो उसी के अधिकारों में अभिवृद्धि क्यों न की जाय? विभिन्न प्रकार के नियन्त्रणों से क्या लाभ?

परन्तु आज-कल के विश्वविद्यालयों की दशा को देखने से जान पड़ता है कि उपर्युक्त विचार पर कोई भी विश्वविद्यालय पूर्णतः नहीं चल रहा है। वास्तव में आज उच्च से उच्च विद्यामंदिर एवं ज्ञानमंदिर भी कलुषित राजनीति के अड्डे बने हुए हैं। कतिपय विश्वविद्यालयों की सीनेटों, कार्यकारिणी समितियों एवं अन्य कार्यकर्ताओं में बहुधा एक ही दल के व्यक्तियों का बहुमत हो जाता है और वे विश्वविद्यालय-शिक्षा में अनेक प्रकार के स्वार्थ-सिद्धि के काम करते हैं। बहुधा उन्हीं के गुट के अध्यापक नियुक्त होते हैं एवं मनमानी पाठ्य-पुस्तकें प्रचलित की जाती हैं। आज बिरला ही ऐसा विश्वविद्यालय होगा जहाँ प्रान्तीयता, जातीयता एवं दलबन्दी की भावना का विषाक्त वातावरण न हो। अतः ऐसी दशा में विश्वविद्यालयों पर समुचित नियंत्रण रखने के लिए तथा राजकीय अंकुश की अवहेलना की पूर्ति के लिए उत्तर प्रदेशीय सरकार ने आगरा, इलाहाबाद एवं लखनऊ विश्वविद्यालयों के विधानों में संशोधन कर दिया है। इन्हीं संशोधित विधानों से मिलता-जुलता विधान गोरखपुर विश्वविद्यालय के लिए भी उत्तर प्रदेशीय सरकार ने बनाया है। सन् १९५२ के विधयेक के समर्थकों का कहना है कि स्वाधीन भारत में सभी विश्वविद्यालय आदर्श शिक्षा-केन्द्र बनें एवं आदर्श नवीन भारत का निर्माण करने वाले नागरिकों को उत्पन्न करें, इसी उद्देश्य से विश्वविद्यालयों पर नियन्त्रण रखने के लिए केन्द्रीय सरकार ने विश्वविद्यालय विधेयक में केन्द्रीय शिक्षा परिषद की व्यवस्था की थी। यदि विश्वविद्यालयों में किसी प्रकार का दोष न होगा तो परिषद अनावश्यक हस्तक्षेप न करेगी। अतः सुव्यवस्थित विश्वविद्यालयों के 'केन्द्रीय शिक्षा परिषद' से डरने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सन् १९५२ के विधेयक के समर्थकों का यह भी कहना है कि सम्भवतः उन्हीं विश्वविद्यालयों ने इस विधेयक का प्रबल विरोध किया है जिनमें स्वायत्त-शासन की ओट में भ्रष्टाचार एवं मनमानी होती है। अतः वर्तमान दशा में विश्वविद्यालयों के प्रबन्ध को नियमित बनाने के लिए विधेयक की सार्थकता अमान्य नहीं हो सकती।

विश्वविद्यालय की उन्नति पर देश की उन्नति निर्भर

हमारे विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ से ही दोष विद्यमान रहे हैं। फिर भी स्वतंत्र भारत में उच्च शिक्षा प्रगति के पथ पर अग्रसर है। 'विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' ने भारतीय विश्वविद्यालयों के समुचित विकास के लिए सभी उपयुक्त सुझावों को प्रस्तुत किया है और वे सुझाव विश्वविद्यालयों में कार्यान्वित भी किये जा रहे हैं। अतः आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हमारे विश्वविद्यालय ऐसी खान हो जायँगे, जिसमें से नर-रत्नों की उत्पत्ति होगी। वस्तुतः हमें किसी देश के उच्च शिक्षा रूपी दर्पण में उस देश की सारी प्रगति स्पष्ट दीख पड़ती है।

अतः उच्च शिक्षालयों को आदर्श बनाना नितान्त आवश्यक है। सर रांबर्टसन के मतानुसार 'विकासोन्मुख विश्वविद्यालय उन्नतिशील समाज के, सुव्यस्थित विश्वविद्यालय, सुव्यवस्थित एवं संयमित समाज के तथा अव्यवस्थित एवं निर्बल विश्वविद्यालय पिछड़े एवं विपन्न समाज के प्रतीक होते हैं। कहना न होगा कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक आदर्श प्रगतिशील राष्ट्र प्रमाणित होने के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों को आदर्श बनाना नितान्त अपेक्षित है। सामाजिक सुख एवं शांति का विश्वविद्यालयों की शिक्षा से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। एक अव्यवस्थित एवं अनियन्त्रित विश्वविद्यालय की उपमा उस दूषित जल-स्रोत से दी गई है जिसका जल-पान करने वाले व्यक्ति रुग्णावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आदर्श उच्च शिक्षा पर ही हमारा सामाजिक जीवन आदर्श बन सकता है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग[१]

विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ एवं नियन्त्रित करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५३ ई० में एक 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की नियुक्ति की। इस आयोग के अध्यक्ष स्व० शान्तिस्वरूप भटनागर तथा सदस्य डा० लक्ष्मण स्वामी मुदलियर, सर एन० जे० वाडिया, श्री के० आर० के० मेनन तथा श्री के० जी० सईदेन नियुक्त किये गये। आयोग के निम्नलिखित कर्तव्य निर्धारित किये गये :—

(१) विश्वविद्यालय-शिक्षा को समन्वित कर शिक्षा का स्तर उठाने में एक विशेषज्ञ-संस्था के रूप में केन्द्रीय सरकार का सहयोग करना।

(२) विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति का भलीभाँति परीक्षण करके उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करने के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को राय देना।

(३) विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्राप्त धन-राशि का वितरण करना एवं अनुदान के सम्बन्ध में उठे विभिन्न विश्वविद्यालयों के भ्रमों का समाधान करना।

(४) नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना एवं प्राचीन विश्वविद्यालयों के विस्तार के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को सम्मति प्रदान करना।

(५) केन्द्रीय सरकार अथवा अन्य विश्वविद्यालयों द्वारा उत्पन्न हुए भ्रमों को दूर करना एवं अन्य पूछे हुए विषयों के सम्बन्ध में सूचना देना।

---

१. The University Grants Commission.

(६) विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान की हुई उपाधियों को विभिन्न प्रकार की सेवाओं के लिए निर्धारित करने में केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों को अपनी राय देना ।

(७) विश्वविद्यालय-शिक्षा में सुधार के लिए विश्वविद्यालयों को निर्देश प्रदान करना एवं विश्वविद्यालय-शिक्षा के विकास के विविध विषयों पर केन्द्रीय सरकार को सुझाव देना ।

'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के कार्यों से प्रभावित होकर भारतीय संसद ने दिसम्बर सन् १९५५ ई० में इसको स्थायित्व प्रदान किया एवं इसके वैधानिक कर्तव्य निर्धारित कर दिये गये । संसद के निर्णयानुसार आयोग का रूप निम्न-लिखित होगा :—

(१) आयोग में कुल सदस्यों की संख्या ९ होगी ।

(२) इनमें तीन सदस्य विश्वविद्यालयों के उप-कुलपति, २ केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि एवं ४ प्रसिद्ध भारतीय शिक्षा-विशेषज्ञ होंगे ।

(३) आयोग को विभिन्न विश्वविद्यालयों की आवश्यकतानुसार अनुदान स्वीकृत करने तथा विश्वविद्यालयों के विकास-सम्बन्धी पूर्णाधिकार प्राप्त होंगे ।

'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' द्वारा सन् १९५४-५५ ई० में वैज्ञानिक एवं कलात्मक विषयों के अध्ययन, भवन-निर्माण, सज्जा की व्यवस्था, रसायन-शालाओं एवं पुस्तकालयों के विकास के लिए १·९४ करोड़ रुपये की धनराशि स्वीकृत की गई । सन् १९५५-५६ में यह अनुदान-राशि बढ़ाकर ३५ करोड़ रुपये निर्धारित की गई । सन् १९५५ ई० में आयोग द्वारा अध्यापकों के वेतन-क्रमों में भी संशोधन किया गया । यह संशोधित वेतन-क्रम[1] अप्रैल सन् १९५६ ई० से कार्यान्वित किया

---

१ (अ) विश्वविद्यालय

(१) प्रोफेसर	८००-१२५० रु०
(२) रीडर	५००-८०० रु०
(३) लेक्चरर	२५०-५०० रु०
(४) लेक्चरर से निम्नकोटि के अध्यापक	१५० रु०

(ब) सम्बन्धक महाविद्यालय

(१) प्रधानाचार्य	६००-८०० रु०
(२) विभागाध्यक्ष	४००-७०० रु०
(३) अध्यापक, प्रथम वर्ग	२००-५०० रु०
(४) अध्यापक, द्वितीय वर्ग	२००-४०० रु०

गया। परन्तु संशोधित वेतन-क्रम विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित महा-विद्यालयों के अध्यापकों पर लागू नहीं किया गया। इससे सम्बन्धित महाविद्यालयों के अध्यापकों में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ।

सारांश

सन् १९४८ ई० में भारत सरकार ने डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग का उद्देश्य देश की वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं के विचार से भारतीय विश्वविद्यालय-शिक्षा के विकास तथा विस्तार के विषय में अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करना था। आयोग ने भारत के सभी विश्वविद्यालयों का निरीक्षण करके विश्वविद्यालय-शिक्षा के सभी पहलुओं का विशद परीक्षण किया और यथाशीघ्र निम्नलिखित प्रमुख विषयों पर अपने महत्त्वपूर्ण विस्तृत सुझाव भारत सरकार के समक्ष उपस्थित किये :—

१—उच्च शिक्षा के उद्देश्य, २—शिक्षण का स्तर, ३—शिक्षक-वर्ग, ४—स्नातकोत्तर प्रशिक्षण, ५—पाठ्यक्रम, ६—व्यावसायिक शिक्षा, ७—स्त्री-शिक्षा, ८—धार्मिक शिक्षा, ९—शिक्षा के माध्यम, १०—छात्र, उनके कार्य तथा उनके हित, ११—परीक्षा, १२—प्रशासन, १३—अर्थ और १४—ग्रामीण विश्वविद्यालय।

१—आयोग ने उच्च शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान का संचरण, नये ज्ञान का अन्वेषण, जीवनोपयोगी पदार्थों की निरन्तर ढूँढ़ और देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यावसायिक शिक्षा का आयोजन बताया है।

२—शिक्षण के स्तर के विषय में आयोग ने कहा कि विश्वविद्यालय की शिक्षा ऐसी हो कि उससे देश के नेता उत्पन्न हो सकें और विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की हुई डिग्रियाँ स्नातकों की बौद्धिक उपलब्धियों के उच्चमान प्रतिमूर्त करें।

३—शिक्षकों के विषय में आयोग ने उनकी सच्चरित्रता तथा योग्यता को विशेष महत्त्व दिया है। उनकी स्थिति के सुधार की आवश्यकता बताते हुए आयोग ने उनकी आर्थिक दशा, अनुसन्धान के अवसरों का प्रोत्साहन तथा अनाकर्षक सेवा की शर्तों को मिटाने की ओर जोर दिया है।

४—स्नातकोत्तर प्रशिक्षण और अनुसन्धान के विषय में सुझाव देते हुए आयोग ने कहा है कि विश्वविद्यालयों को प्रगतिशील समाज के निर्माण के लिए भारत में बौद्धिक और व्यावहारिक अनुसन्धान, नये सत्य की प्राप्ति तथा नागरिकता

के ज्ञान के निमित्त तीन प्रकार की विभूतियों—अन्वेषक, आविष्कारक तथा विद्वान् —को जन्म देना है ।

५—पाठ्यक्रम के विषय में आयोग ने कहा है कि विभिन्न अनुभवों के शिक्षण की सुविधा के लिए पाठ्यक्रम के निर्माण तथा अनुसरण में इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि विभिन्न अनुभवों में संघर्ष की भावना न रहे, अपितु उनमें समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की जाय, जिससे अनुभवों के द्वारा समग्र ज्ञान की उपलब्धि हो सके ।

६—व्यावसायिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की है कि आजीविका के लिए अपनाये गए शिल्पिक तथा अन्य व्यवसायों के साथ देश की वर्तमान आवश्यंकताओं में कृषि-शिक्षा का राष्ट्रीय महत्त्व है। केन्द्रीय सरकार को देश के विभिन्न क्षेत्रों में कृषि-विद्यालय, कृषि-प्रयोगशालाओं का निर्माण तथा छोटे-छोटे कृषि फार्मों का आयोजन करना अपेक्षित है ।

७—स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में अपना दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए आयोग ने कहा है कि स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, प्राचीन आदर्श के अनुसार उन्हें एक कुशल गृहिणी बनने की शिक्षा दी जाय ।

८—धार्मिक शिक्षा के विषय में आयोग ने सुझाव दिया है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धार्मिक भावना का निष्कासन नहीं है, अपितु धर्म के गहन तत्व का अध्ययन करते हुए आध्यात्मिकता को अपनाया जाय, न कि वर्तमान धार्मिक संकीर्णता को ।

९—शिक्षा के माध्यम के विषय में आयोग ने कहा है कि जहाँ तक संभव हो अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषा और विशेषकर संघीय भाषा का प्रयोग उच्चतम शिक्षा के माध्यम के रूप में हो और उच्चतर शिक्षा के लिए प्रादेशिक भाषा का प्रयोग किया जाय। किन्हीं विशेष कठिनाइयों के कारण संस्कृत को माध्यम नहीं बनाया जा सकता ।

१०—छात्रों के कार्य तथा उनके हित के विषय में बताते हुए आयोग ने कहा है कि छात्रों की शारीरिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक अभिवृद्धि ही विश्वविद्यालय-शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और उनके हितों की पूर्ण सुरक्षा होनी चाहिए ।

११—परीक्षा के विषय में आयोग ने कहा है कि परीक्षाओं को हटाना नहीं चाहिए, बल्कि उनमें सुधार की आवश्यकता है ।

१२—प्रशासन के विषय में आयोग ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि केन्द्रीय सरकार के अधिकार विश्वविद्यालय को सुविधायें प्रदान करने तक ही सीमित रहें और शासकीय व्यवस्था कुलपति, उपकुलपति आदि के अधीन सिनेट आदि को रहे तथा कई कमेटियों द्वारा विविध विभागों की प्रशासन-व्यवस्था रहे ।

१३—आर्थिक दशा सुधारने के लिए आयोग ने अपनी सिफारिश की है कि नई योजनाओं में उच्चतम शिक्षा के प्रचालन के लिए धन की पर्याप्त व्यवस्था की जाय ।

१४—ग्रामीण विश्वविद्यालयों की योजना के विषय में आयोग ने कहा है कि इनका संगठन छोटे-छोटे आवासिक तथा पूर्व-स्नातक कालेजों से हो, और ये कालेज केन्द्रस्थ विश्वविद्यालय के चारों ओर वृत्ताकार में स्थित हों ।

आम चुनावों के पश्चात् सन् १९५२ में केन्द्रीय सरकार द्वारा एक 'विश्व-विद्यालय विधेयक' संसद के समक्ष विचारार्थ उपस्थित किया जाने वाला था। किन्तु, आज तक प्रत्यक्षतः वह प्रकाश में न आ सका ।

विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ एवं नियन्त्रित करने के लिए सन् १९५३ ई० में केन्द्रीय सरकार द्वारा एक 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की नियुक्ति की गई । इस आयोग के अध्यक्ष स्व० शान्तिस्वरूप भटनागर थे एवं अन्य चार सदस्य थे।

इस आयोग के काम से प्रभावित होकर केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५५ ई० में आयोग को स्थायी एवं वैधानिक अधिकार प्रदान कर दिया तथा आयोग के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ९ कर दी गई । सदस्यों में ३ विश्वविद्यालयों के उप-कुलपति, २ केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि तथा ४ प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री होंगे ।

आयोग को विभिन्न विश्वविद्यालयों की आवश्यकतानुसार अनुदान स्वीकृत करने का अधिकार होगा तथा विश्वविद्यालयों के विकास का पूर्णाधिकार होगा । 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' द्वारा कतिपय महत्त्वपूर्ण कार्य विश्वविद्यालय-शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में प्रतिवर्ष हो रहे हैं। विश्वविद्यालय के अध्यापकों का वेतन बढ़ाने का श्रेय इसी आयोग को है ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' की प्रमख सिफारिशों पर प्रकाश डालिए ।

२. 'विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' की सिफारिशों के सम्बन्ध में समीक्षात्मक दृष्टिकोण उपस्थित कीजिए ।

३. 'विश्वविद्यालय-शिक्षा का प्राण अनुसन्धान-कार्य है।' इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

४. विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में अपने मत की पुष्टि कीजिए।

५. आयोग ने विश्वविद्यालय-शिक्षा का मामदण्ड बढ़ाने के लिए क्या सिफारिशें की हैं ?

६. शिक्षकों की नियुक्ति और उनकी दशा को सुधारने के लिए आयोग ने क्या सुझाव उपस्थित किये हैं ?

७. व्यावसायिक, धार्मिक तथा स्त्री-शिक्षा के विषय में आयोग ने अपना क्या मत व्यक्त किया ?

८. शिक्षा के माध्यम के विषय में आयोग ने क्या सुझाव रखे ?

९. ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना किस प्रकार की जानी चाहिए ?

१०. विश्वविद्यालयों की प्रशासन-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए ?

११. विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए आयोग ने क्या सुझाव रखे हैं ?

१२. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—
(क) विश्वविद्यालय विधेयक, १९५२, (ख) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ।

———

अध्याय ४२

पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा

भारतवर्ष में शिक्षा-सुविधाओं की उपलब्धता देश की विशाल जन-संख्या को देखते हुए पर्याप्त नहीं है। इसकी अपर्याप्तता दूसरे देशों से इसकी तुलना करते समय और भी असंतोषपूर्ण प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में विद्यालय जाने योग्य बालकों में केवल १७·२ प्रतिशत को ही शिक्षण-सुविधायें प्राप्त हो सकी हैं, जब कि इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिका एवं रूस इत्यादि देशों में इनका प्रतिशत ८० से लेकर १०० तक है।

प्रत्येक देश के विकास में शिक्षा का आधारभूत महत्त्व है, परन्तु जनतन्त्रात्मक देशों में इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। योजना-आयोग[१] के मतानुसार देश में जनतान्त्रिक प्रणाली को सफलीभूत बनाने तथा उसे सुख और समृद्धि की ओर अग्रसरित करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश-वासियों को अधिक से अधिक शिक्षा-सुविधायें प्रदान की जायँ। इस प्रकार लोगों की सांस्कृतिक एवं सृजनात्मक प्रवृत्तियों को परिष्कृत और पोषित किया जा सकेगा। इससे नागरिकता के गुणों का विकास होगा और राष्ट्र को देश के जन-समूह का बौद्धिक सहयोग प्राप्त हो सकेगा। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के प्रत्येक स्तर पर शिक्षा-पुनर्गठन की व्यवस्था की है।

भारतीय शिक्षा-योजना पर विचार करते समय प्राप्त आँकड़ों के अनुसार उस समय देश में ६ से ११ वर्ष आयु वाले ४० प्रतिशत, ११ से १७ वर्ष आयु वाले १० प्रतिशत तथा १७ से २३ वर्ष आयु वाले केवल ९ प्रतिशत शिक्षार्थियों को ही शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें उपलब्ध थीं। ये सुविधायें एक जनतन्त्र राष्ट्र के जीवन के लिए अपर्याप्त थीं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-पुनर्गठन

योजना-आयोग ने समय की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं पर विचार-विमर्श के पश्चात् शासन को शिक्षा-पुनर्गठन के लिए निम्नांकित प्रस्ताव प्रस्तुत किये :—

---

१. Planning Commission.

१—बेसिक तथा सामाजिक शिक्षा का प्रसार। माध्यमिक, प्राविधिक[1] एवं व्यावसायिक शिक्षा को नवीन एवं परिमार्जित रूप प्रदान करना।

२— माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय-शिक्षा को सुव्यवस्थित एवं ठोस बनाना तथा इन स्तरों पर शिक्षण को ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार परिवर्तित करना तथा उपयुक्त शिक्षा-पद्धति को प्रारम्भ करना।

३—देश भर में स्त्री-शिक्षा का प्रसार तथा ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी अधिकाधिक सुविधायें प्रदान करना।

४—शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना।

५—शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करना तथा प्रशिक्षण-सुविधाओं का विस्तार विशेषकर बेसिक तथा महिला शिक्षकों के लिए करना।

६—शिक्षकों के वेतन तथा उनकी कार्य-प्रणाली में सुधार करना।

७—शिक्षा-क्षेत्र में पिछड़े राज्यों को शिक्षा-प्रसार हेतु अधिकाधिक शिक्षण-सुविधायें प्रदान करना, आदि।

योजना-आयोग के मतानुसार शिक्षा-पुनर्गठन के लिए प्राथमिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। अतः आयोग ने कहा कि बेसिक शिक्षा का विशेष प्रसार करना चाहिए। बेसिक शिक्षा-प्रसार से माध्यमिक शिक्षा-स्तर का अपने आप ही प्रसार होगा। उच्च शिक्षा के प्रसार की अपेक्षा उसे सुव्यवस्थित करने तथा ठोस बनाने की अधिक आवश्यकता है। इनके साथ ही शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता होगी। देश में शिक्षितों की संख्या में वृद्धि करने के लिए समाज के विभिन्न लोगों, नगरों तथा गाँवों में शिक्षा-सुविधाओं का समान वितरण होना चाहिए। आयोग ने इन बातों के साथ ही साथ विभिन्न राज्यों में शिक्षा-समन्वय, प्राथमिक शिक्षा-समन्वय, प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा-समन्वय, पर्याप्त प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार, शिक्षा में विशेषकर विश्वविद्यालय स्तर पर अपव्यय रोकने, परीक्षाओं को उसकी आवश्यकता से अधिक महत्त्व न देने, तथा देश के सांस्कृतिक उत्कर्ष हेतु प्रयत्न करने की संस्तुति की।

शिक्षा-योजना पर व्यय

प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में शिक्षा-विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ४०० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष व्यय होने का अनुमान लगाया गया था। इस धन-राशि

---

१. Technical Education.

के अतिरिक्त २०० करोड़ रुपये बेसिक तथा माध्यमिक विद्यालयों, २७२ करोड़ रुपये विद्यालय-भवनों के निर्माण तथा २७ लाख रुपये शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु व्यय होने चाहिए थे। परन्तु धनाभाव के कारण इतना धन व्यय करने में शासन की असमर्थता थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए बहुत थोड़ी धन-राशि प्रदान की जा सकी और साथ ही साथ यह भी अनुमान किया गया कि जनता एवं व्यक्तिगत व स्थानीय संस्थायें भी शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करेंगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-पुनर्गठन के लिए कुल १५१·६६ करोड़ रुपये की व्यवस्था थी जिसमें ३६·०२ करोड़ केन्द्र तथा ११२·६४ करोड़ राज्य सरकारों के लिए था। तदनुसार ३०·३३ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष व्यय होते जिसमें ८७०२·८ लाख प्राथमिक शिक्षा, ८३०·४ लाख माध्यमिक शिक्षा, ११७२·१ लाख विश्वविद्यालय-शिक्षा, २१४५·४ लाख प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा, १५१०·० लाख सामाजिक शिक्षा तथा शेष धन अन्य सम्बन्धी योजनाओं पर व्यय होगा[१]।

शिक्षा-योजना के लक्ष्य

योजना-आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में शिक्षा-क्षेत्र में निम्नलिखित लक्ष्य-प्राप्ति की आशा की थी :—

१—प्राथमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या जो कि १९५०-५१ में १५१·१ लाख थी, १९५५-५६ में १८७·९ लाख हो जायगी।

२—जूनियर बेसिक विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या जो १९५०-५१ में २९ लाख थी, पर १९५६-५७ में ५२·८ लाख हो जायगी।

३—माध्यमिक विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या जो कि योजना के पूर्व ४३·९ लाख थी, योजना के अन्त में २१·८ लाख हो जायगी।

४—प्राविधिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण विद्यालयों में प्रशिक्षार्थियों की संख्या जो योजना के प्रारम्भ में २६·७ हजार थी योजना के अन्त में ४३·६ हजार हो जायेगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में विभिन्न आयु वाले विद्यार्थियों को शिक्षा-सुविधाओं की उपलब्धता के विस्तार का अनुमान निम्नांकित तालिका से किया गया था :—

आयु	शिक्षा-सुविधायें	
	१९५०-५१	१९५५-५६
१—६ से ११ वर्ष आयु वाले बालकों के लिए	४४·५ प्रतिशत	६०·० प्रतिशत
२—११ से १७ वर्ष आयु वाले विद्यार्थियों के लिए	११·० प्रतिशत	१५·० प्रतिशत

इसके अतिरिक्त योजना में १४ वर्ष से ४० वर्ष तक आयु वाले कम से कम ३० प्रतिशत व्यक्तियों को सामाजिक शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं की उपलब्धि का भी लक्ष्य था ।

योजना की पूर्व-निश्चित रूपरेखानुसार विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा-विस्तार की आवश्यकता नहीं समझी गई थी । अतः इसके प्रसार का कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं किया गया था । केवल पूर्व-स्थित शिक्षा का पुनर्गठन ही निश्चित हुआ था ।

शिक्षा-प्रसार-कार्यक्रम केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों में आवश्यकतानुसार बाँट दिए गए थे । केन्द्रीय शासन उन्हीं योजनाओं का प्रतिपादन कर रहा था जिस का राष्ट्र-व्यापी महत्त्व था । राज्य सरकारों को उनके क्षेत्र में शिक्षा-पुनर्गठन सम्बन्धी सभी कार्यक्रम के प्रतिपादन का भार सौंप दिया गया था ।

राज्य में प्रादेशिक स्तर पर योजना-कार्यक्रम

१—प्राथमिक शिक्षा :—साधारण प्राथमिक विद्यालयों को बेसिक प्राथमिक विद्यालयों में परिवर्तित करना, प्राचीन प्राथमिक विद्यालयों की दशा में सुधार तथा अशिक्षित क्षेत्रों में नये विद्यालयों की व्यवस्था ।

२—माध्यमिक शिक्षा :—प्राचीन माध्यमिक विद्यालयों को पुनर्व्यवस्थित करना, उनकी दशा में आवश्यकतानुसार सुधार, आदर्श विद्यालयों को संरक्षण प्रदान करना एवं उनका पुनर्संगठन करना तथा नये विद्यालयों की स्थापना । माध्यमिक पाठ्यक्रमों में सैनिक शिक्षा-प्रशिक्षण, शारीरिक शिक्षा, कृषि-विज्ञान, उद्यान-विज्ञान एवं संगीत-कला आदि को सम्मिलित करना ।

३—विश्वविद्यालय-शिक्षा :—प्राचीन विश्वविद्यालयों एवं उनसे संलग्न-स्नातय[१] विद्यालयों की दशा में सुधार तथा स्थानीय आवश्यकतानुसार विस्तार एवं पोषण। ऐसे क्षेत्रों में जहाँ उच्चशिक्षा-सुविधाओं का अभाव हो, नये विश्वविद्यालय की स्थापना करना आदि।

४—प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा :—कलात्मक[२] विद्यालयों को पूर्व प्राविधिक[३] माध्यमिक विद्यालयों अथवा पालीटेकनिक विद्यालयों में परिवर्तित करना, सामान्य-माध्यमिक विद्यालयों को प्राविधिक माध्यमिक विद्यालयों में परिवर्तित करना, नवीन हस्तकला-विद्यालयों तथा नवीन जूनियर बहु-उद्योगी विद्यालयों की स्थापना, व्यावसायिक एवं प्राविधिक विद्यालयों को विकसित करके उच्च व्यावसायिक एवं प्राविधिक विद्यालयों में परिवर्तित करना। इसके साथ ही साथ इन विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में कृषि-विज्ञान को स्थान तथा अधिक महत्त्व देना, सर्वोच्च व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षार्थियों को विदेश जाने के लिए सुविधा तथा उचित छात्र-वृत्ति देना आदि।

५—सामाजिक एवं प्रौढ़-शिक्षा :—अशिक्षित तथा अल्प-शिक्षित क्षेत्रों में साक्षरता तथा प्रौढ़-शिक्षा केन्द्रों की स्थापना, श्रव्य-दृश्य[४] शिक्षा की व्यवस्था, शारीरिक शिक्षा की सुविधा तथा युवक-मंगल कार्यक्रमों की व्यवस्था एवं उनका प्रतिपादन।

इसके अतिरिक्त शारीरिक दोष-युक्त बालकों एवं व्यक्तियों के लिए विषय-शिक्षा तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था, माध्यमिक तथा उच्चतर विद्यालयों में अधिकाधिक सैनिक-शिक्षा[५] प्रशिक्षण की सुविधा तथा उसका प्रसार, राज्य तथा व्यक्तिगत संस्थाओं की सेवाओं में लगे व्यक्तियों[६] के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था, प्राच्य-शिक्षा व सांख्य-शास्त्र जैसे विषयों के क्षेत्र में सुधार तथा प्रान्तीय भाषाओं एवं साहित्य को विकसित करना भी राज्य सरकारों की योजना में सम्मिलित किये गये थे।

केन्द्रीय सरकार के कार्यक्रम

१—प्राथमिक शिक्षा-प्रशिक्षण के लिए प्रत्येक राज्य में कम से कम एक प्रशिक्षण की पूर्ण इकाई की स्थापना करना जिसमें पूर्व-बेसिक

१. Affiliated Degree Colleges.
२. Crafts School.
३. Junior Technical Schools.
४. Audio-Visual Education.
५. National Cadet Corps.
६. Peoples employed in Government and Private Services.

प्रशिक्षण विद्यालय से लेकर उत्तर-बेसिक प्रशिक्षण विद्यालय तक सम्मिलित होगा ।

२—शारीरिक दोष-युक्त बालकों के लिए शिक्षा एवं प्रशिक्षण-व्यवस्था ।

३—१४ वर्ष से १८ वर्ष तक के बालकों के लिए नवीन व्यावसायिक विद्यालयों की व्यवस्था, माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं पर शोध-कार्य करने के लिए शिक्षा-अनुसंधान-शाला[१] की स्थापना, व्यावसायिक शिक्षा के विद्यार्थियों को आवश्यक सुझाव देने वाले केन्द्रों की स्थापना तथा कुछ विशेष व्यावसायिक विषयों में प्रशिक्षण की व्यवस्था ।

४—प्रत्येक राज्य में कम से कम एक बहु-उद्देशीय विद्यालय की व्यवस्था, सामाजिक शिक्षा के लिए एक जनता उच्चतर विद्यालय तथा एक विद्यालय एवं सामाजिक शिक्षा-केन्द्र की स्थापना ।

५—राज्य के जनता-विद्यालयों में अध्ययन के लिए निर्धन छात्रों की सहायता हेतु उचित छात्र-वृत्ति की व्यवस्था ।

६—बालकों, अल्प-शिक्षितों एवं बेसिक तथा सामाजिक शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के लिए उचित साहित्य-रचना हेतु लेखकों तथा प्रकाशकों को प्रोत्साहन ।

७—केन्द्रीय शिक्षा-संस्था[२] में श्रव्य-दृश्य-शिक्षा-सामग्री निर्माण के लिए अलग उप-विभाग की स्थापना तथा अन्य सम्बन्धी-व्यक्तिगत प्रकाशन संस्थाओं को सामग्री प्रकाशित करने हेतु उचित प्रोत्साहन ।

८—देश में १४ इंजीनियरिंग संस्थाओं की स्थापना तथा भारतीय वैज्ञानिक शोध-केन्द्र[३] बंगलौर का विस्तार ।

९—राष्ट्रभाषा तथा अन्य भारतीय भाषाओं का विकास, इनमें मौलिक एवं आनुवादिक रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहित करना, इन भाषाओं में शब्द-कोषों, विश्व-कोषों एवं उद्धरण-ग्रंथों[४] का निर्माण आदि ।

१०—विश्वविद्यालयों में प्रशिक्षण एवं शोध-कार्यों के लिए छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था तथा विश्वविद्यालय-पुस्तकालयों को आर्थिक सहायता ।

---

१. Educational Research Bureau.
२. Central Institute of Education.
३. Indian Institute of Science, Banglore.
४. Reference Books.

समालोचना

केन्द्रीय तथा राज्यीय सरकारों ने पंचवर्षीय योजना के लागू होते ही निश्चित रूपरेखा के अनुसार शिक्षा-विकास कार्यक्रम प्रारम्भ तो कर दिया था, परन्तु उसकी गति धीमी रही। योजना के अन्तर्गत अनुमानित लक्ष्य के अनुसार शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर पर्याप्त विकास होना निश्चित किया गया था और शासन द्वारा उसके लिए प्रयत्न भी किये गये थे। परन्तु योजना के अन्त में पाया गया कि कुछ स्तरों पर नाम मात्र का ही कार्य हो पाया। उदाहरणार्थ; ६ से ११ वर्ष की आयु वाले बालकों में से ६० प्रतिशत को शिक्षा-सुविधायें उपलब्ध न हो सकीं। बहु-उद्देशीय तथा जनता विद्यालयों की स्थापना मात्र ही हो सकी, तथा प्राविधिक शिक्षा क्षेत्र में केवल श्रीगणेश हो सका।

कुछ लोगों ने योजना की आलोचना करते हुए यह दोषारोपण किया कि योजना का लक्ष्य पूर्व शिक्षा में स्थित दोषों को दूर करने का न होकर केवल शिक्षा के कुछ स्तरों पर प्रसार ही है जबकि देश की आवश्यकतानुसार इस में समूल-परिवर्तन होना चाहिये। प्राचीन दोषों को नष्ट किये बिना यदि इसका प्रसार किया जाता है तो शिक्षा-पद्धति ज्यों की त्यों दोष-युक्त रह जायेगी और राष्ट्र के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकती है। दूसरी ओर यह कहा गया कि योजना-कार्यक्रम निश्चित करते समय पूर्व प्राथमिक शिक्षा-प्रसार की ओर ध्यान नहीं दिया गया जिसका कि देश के भावी नागरिकों को विकसित करने में एक विशेष एवं प्रभाव-युक्त स्थान होता है। साथ ही साथ पंचवर्षीय योजना में शिक्षकों की दुर्दशा का अनुभव करते रहने पर भी योजना-आयोग तथा शासन ने शिक्षकों की दशा सुधारने की ओर उचित ध्यान नहीं दिया और जो व्यवस्था की भी वह अल्प एवं अपर्याप्त है, जबकि तथ्य यह है कि देश में कोई भी विकास-योजना तभी सफल हो सकती है जब कि उसे देश के शिक्षकों का सहयोग एवं सहानुभूति प्राप्त हो। परन्तु दुरवस्था में होने के कारण इस योजना को शिक्षकों का किसी भी स्तर पर क्रियात्मक सहयोग प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है।

तीसरी और सबसे बड़ी आलोचना यह की गई कि योजना के कार्य-क्रम का निर्धारण करते समय शिक्षा-क्षेत्र में मौलिक सुधार की ओर ध्यान नहीं दिया गया जो प्रगति के लिये अत्यावश्यक था। फलस्वरूप अपनाये गये कार्य-क्रम विशेष जन-हितकारी न सिद्ध हो सके। साथ ही साथ कार्य-क्रम निर्धारित करते समय साधनों की उपलब्धता तथा उसे क्रियात्मक रूप देते समय उत्पन्न होने वाली बाधाओं की ओर भी विचार नहीं किया गया। इसका फल यह हुआ कि कुछ योजनायें प्रारम्भ करने के पश्चात् बन्द कर दी गईं और इस प्रकार पर्याप्त राष्ट्र-धन एवं शक्ति

नष्ट हो गई तथा अधिकांश जानकार लोगों की यह धारणा बन गई कि योजना के नाम पर लाखों रुपयों का अपव्यय किया गया।

चौथी आलोचना यह की गई कि देश की विशाल जन-संख्या तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं की कठिनता एवं आवश्यकता को देखते हुए शासन द्वारा शिक्षा-योजना के लिये जो १५५·६६ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई वह अपर्याप्त है। दूसरी ओर, योजना के अन्दर व्यय का वितरण ठीक प्रकार से न होने के कारण कुछ कार्य-क्रमों में इसका दुरुपयोग हुआ और कुछ कार्य-क्रमों को धनाभाव की स्थिति में स्थगित एवं समाप्त करना पड़ा। जबकि उचित तो यह था कि शिक्षा-नियोजन के लिये निश्चित धन-राशि में दुरुपयोगों को रोका जाता तथा उसका सदुपयोग किया जाता।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास में प्रथम बार शिक्षा-नियोजन किया गया और इसके द्वारा देश में शिक्षा के कुछ स्तरों पर प्रसार एवं राष्ट्रव्यापी कार्य होने के कारण इसके व्यावहारिक पहलू में त्रुटियों का पाया जाना अवश्यम्भावी था। आगे के कार्य-क्रमों तथा भावी योजनाओं में इस प्रकार की त्रुटियों के निवारण की पूर्ण आशा की जाती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा

शिक्षा-पुनर्गठन

विकासोन्मुख समाज के लिये शिक्षा की समुचित व्यवस्था आवश्यक है। जो शिक्षा-प्रणाली समाज की आवश्यकताओं से दूर हट जाती है, उसकी कोई उपयोगिता नहीं रहती। विदेशी शासन-काल में हमारी शिक्षा-प्रणाली कुछ इसी प्रकार की थी और प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस दोष को दूर करने का कुछ प्रयत्न भी किया गया था, परन्तु उसमें केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त हो सकी। अतएव इस निरुद्देश्य शिक्षा-प्रणाली का अंत करने के लिये १९५४ में एक अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें प्रथम पंचवर्षीय योजना में निहित दोषों पर विचार करने के पश्चात्, समय और समाज की आवश्यकता के अनुकूल शिक्षा-प्रणाली का पुनर्संगठन किया गया और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में एक नवीन योजना के अनुसार कार्य-क्रम प्रारम्भ किया गया।

इस योजना के लिये निम्नांकित कार्य-क्रमानुसार कार्य करने का निर्णय किया गया था :—

१—बेसिक प्राथमिक शिक्षा को विकसित करना तथा उसका विस्तार।

२—माध्यमिक शिक्षा को ठोस बहु-उद्देशीय बनाना।

३—उच्च एवं विश्वविद्यालय-शिक्षा को सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित करना।

४—सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सैनिक शिक्षा को विस्तृत रूप में कार्यान्वित करना।

५—प्राविधिक, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा के लिये उचित व्यवस्था तथा उसका विस्तार।

द्वितीय शिक्षा-आयोजन पर व्यय

द्वितीय शिक्षा-योजना पर व्यय करने के लिये ३०७ करोड़ रुपये की धन राशि स्वीकृत की गई है जिसमें ९५ करोड़ केन्द्र तथा २१२ करोड़ राज्य-सरकारों की योजनाओं पर व्यय किये जायेंगे। इस योजना में प्राथमिक शिक्षा को छोड़ कर अन्य सभी शिक्षा स्तरों पर पिछली योजना में व्यय की गई धन-राशि की अपेक्षा अधिक व्यय की व्यवस्था की गई है। पिछली योजना में प्राथमिक शिक्षा पर ९३ करोड़, माध्यमिक शिक्षा पर २२ करोड़, विश्वविद्यालय-शिक्षा पर १५ करोड़, प्राविधिक एव व्यावसायिक शिक्षा पर २३ करोड़, तथा सामाजिक शिक्षा पर ५ करोड़ रुपये व्यय किये गए थे। इस के अतिरिक्त ११ करोड़ रुपये योजना-सम्बन्धी प्रशासन तथा अदृश्य-मदों[1] में खर्च हुए थे। परन्तु इस योजना में प्राथमिक शिक्षा पर ८९ करोड़, माध्यमिक शिक्षा पर ५१ करोड़, विश्वविद्यालय-शिक्षा पर ५७ करोड़, प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा पर ४८ करोड़, सामाजिक शिक्षा पर ५ करोड़ तथा प्रशासन व अदृश्य-मदों पर ५७ करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। साथ ही साथ सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवा-योजनाओं के लिये निश्चित धन-राशि में से १२ करोड़ रुपये सामान्य-शिक्षा पर तथा १० करोड़ रुपये सामाजिक शिक्षा पर व्यय किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त कृषि-विकास, स्वास्थ्य, विस्थापित पुनर्स्थापना, तथा पिछड़ी जाति-कल्याण-सम्बन्धी योजनाओं में भी शिक्षा-विकास के लिये पर्याप्त धन व्यय करने का निश्चय किया गया।

लक्ष्य

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-प्रगति धीमी होने के कारण विभिन्न स्तरों के लिये अनुमानित लक्ष्य-प्राप्ति न हो सकी थी। अतएव द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिये पूर्व निर्धारित लक्ष्य में कमी करनी पड़ी। उदाहरण के लिये, भारत सरकार ने प्रथम आयोजन के अवसर पर यह घोषणा की थी कि द्वितीय योजना के अंत तक ६ से १४ तक आयु वाले सभी बालकों के लिये शिक्षण-सुविधायें उपलब्ध हो जायेंगी। उस समय ये सुविधायें ३२ प्रतिशत को ही उपलब्ध थीं और प्रथम

१. Unforeseen items.

योजना के अंत तक केवल ४० प्रतिशत को ही उपलब्ध की जा सकीं। फलस्वरूप यह आशा की जाती है कि दूसरी योजना के अंत तक यह ४९ प्रतिशत बालकों के लिये सुलभ की जा सकेगी जबकि उस समय तक यह प्रतिशत १०० होनी चाहिये थी। फिर भी द्वितीय आयोजन-काल में प्रथम योजना की कमी को पूरा करने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया जो कि निम्नांकित तालिका द्वारा स्पष्ट हो सकता है।

शिक्षा स्तर	शिक्षण-संस्थायें	
	योजना के पूर्व (१९५५-५६)	योजना के अंत तक (१९६०-६१)
१—प्राथमिक एवं पूर्व-बेसिक	२,७४,०३८	३,२६,८००
२—प्राइमरी बेसिक	८,३६०	३३;८००
३—पूर्व-माध्यमिक एवं उत्तर-बेसिक	१९,२७०	२२,७२५
४—उत्तर-बेसिक	१,६४५	४,५७१
५—उच्चतर माध्यमिक	१०,६००	१२.१२५
६—बहु-उद्देशीय विद्यालय	२५०	१,१८७
७—माध्यमिक विद्यालय जिन्हें उच्चतर माध्यमिक बनाया जायगा	४७	१,१९७
८—विश्वविद्यालय	३१	३८
९—इंजीनियरिंग डिप्लोमा विद्यालय	८३	१०४
१०—इंजीनियरिंग डिग्री विद्यालय	४५	५४
११—टेकनॉलॉजी डिप्लोमा विद्यालय	३६	३७
१२—टेकनॉलॉजी डिग्री विद्यालय	२५	२८

प्राथमिक स्तर

निर्धारित लक्ष्य के अनुसार प्रमुख दो कार्य-क्रम शासन के सामने थे :--(१) प्राथमिक शिक्षा को बेसिक शिक्षा में परिवर्तित करना, (२) प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का अधिकाधिक विकास। इसके अतिरिक्त पिछली योजना में देखी गई कठिनाइयाँ जैसे स्त्री-शिक्षा के लिये योग्य एवं प्रशिक्षित अध्यापिकाओं की कमी, तथा उपयुक्त वातावरण व विद्यालय-भवनों का अभाव इत्यादि कठिनाइयों का भी निवारण करना था। पिछली योजना की प्रगति का निरीक्षण करते समय यह भी देखा गया था कि प्रारम्भिक कक्षा में जितने बालक प्रवेश लेते हैं उनमें सब प्राथमिक शिक्षा स्तर को पूरा नहीं कर पाते। धीरे-धीरे इनकी संख्या कम होती रहती है और कक्षा ४, व ५ तक पहुँचते-पहुँचते उनके लगभग आधे ही रह जाते हैं। इस प्रकार प्रवेश होने वाले ५० प्रतिशत बालकों पर राष्ट्र तथा सम्बन्धी व्यक्तिगत धन का अपव्यय होता है। कन्या-विद्यालय में यह प्रवृत्ति और भी देखी जाती है। अतः इसके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रगति के इस पुराने शत्रु को दूर किया जाय।

योजना-आयोग ने इन सभी बातों एवं कठिनाइयों पर विचार-विमर्श के पश्चात् यह सुझाव दिया कि प्रथमतः बालकों को शिक्षा की ओर आकर्षित करने के लिये शिक्षण-पद्धति में सुधार किया जाय तथा इसके रूप को आकर्षित बनाया जाय। दूसरी आवश्यकता यह होगी कि शिक्षा की अनिवार्यता पर विशेष ध्यान दिया जाय और इसको लागू करने में हर सम्भव दबाव डाला जाय।

बालिकाओं की शिक्षा-प्रगति एवं विद्यालय-भवनों की समस्या पर आयोग ने यह सुझाव दिया कि इसके लिये योग्य एवं प्रशिक्षित अध्यापिकाओं की व्यवस्था की जाय। गाँवों के बालिका-विद्यालयों की अध्यापिकाओं को आवश्यक सुविधायें प्रदान की जायँ तथा उनके रहने के लिये विद्यालयों के समीप ही गृह बनवाये जायँ। विद्यालय-भवनों के अभाव की पूर्ति के लिये दो बार[1] स्कूल बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया जिससे एक बार में बालक तथा दूसरी बार में बालिकायें पढ़ सकें। इस प्रकार के भवनों के साथ ही साथ अन्य आवश्यक पाठ्यक्रम सामग्री के अभाव की पूर्ति होगी। १९५६ में व्यवस्थापित केन्द्रीय सलाहकारिणी समिति ने भी इस प्रथा को उपयुक्त एवं उचित माना। यह प्रथा त्रावंकोर-कोचीन तथा बम्बई राज्य में सफल भी हो चुकी है। विद्यालयों के भवन-सम्बन्धी अभाव को दूर करने के लिये आयोग ने एक अन्य सुझाव यह प्रस्तुत किया कि जहाँ सुविधा उपलब्ध हो सके,

---

१. Shift System.

सार्वजनिक स्थान जैसे; पंचायत-घर तथा मंदिर आदि में विद्यालयों की स्थापना कर दी जाय; अन्यथा सामूहिक सहायता से आवश्यकतानुसार अंश-भवन का निर्माण कर दिया जाय और विद्यार्थियों को उन्मुक्त वातावरण में पेड़ों के नीचे पढ़ाया जाय जो कि भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के अनुसार होगा। इस प्रकार शिक्षण प्रारम्भ हो जावेगा और समय आने पर सुविधानुसार भवनों का निर्माण भी होता रहेगा।

योजना-आयोग ने प्राथमिक स्तर पर १४ वर्ष तक की उम्र के सभी बालकों को शिक्षण-सुविधायें उपलब्ध करने सम्बन्धी संविधान के निर्णय की सम्भावनाओं पर विचार किया। लक्ष्य-प्राप्ति के लिये बहुत अधिक धन की आवश्यकता होगी और शासन की वर्तमान आर्थिक स्थिति को देखते यह आशा नहीं की जा सकती कि सरकार द्वारा आवश्यक धन-राशि की व्यवस्था की जा सकेगी। अतः आयोग ने राज्य सरकारों द्वारा जनता पर शिक्षा-उपकर[1] लगाने का प्रस्ताव किया। यह उपकर सम्पत्ति अथवा लगान के साथ इस प्रकार से लगाया जाय कि समाज के प्रत्येक अंग से कुछ न कुछ अंश में लिया जा सके।

माध्यमिक स्तर

माध्यमिक शिक्षा-विकास के लिये प्रथम आयोजन के पूर्व ही माध्यमिक शिक्षा-आयोग की स्थापना की गई थी। आयोग ने यह अनुभव किया कि आयोजन-काल में विभिन्न विकास कार्यक्रमों को मूर्त रूप देने के लिये ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता होगी जो कि साधारण विषय-शिक्षण के साथ-साथ व्यावसायिक एवं प्राविधिक शिक्षा भी प्राप्त किये हों। उस समय देश की अधिकांश शिक्षा साहित्यिक ही थी और व्यावसायिक एवं आर्थिक योजनाओं को इस प्रकार के शिक्षण से किंचित् सहायता असम्भावी थी। व्यावसायिक एवं प्राविधिक शिक्षण के लिये माध्यमिक स्तर से ही विद्यार्थी उपलब्ध हो सकते थे। अतः एक ऐसी सुदृढ़ माध्यमिक शिक्षा, जो जीवन में विभिन्न उद्यमों के द्वार खोलती हो देश के आर्थिक सुधार एवं विकास संबंधी नियोजन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए आवश्यक थी। तदनुसार माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने उपरोक्त उद्देश्य पूर्ति के हेतु माध्यमिक शिक्षा पाठ्यक्रम को बहुमुखी बनाने, उसमें अन्यान्य कलात्मक[2], व्यावसायिक, प्राविधिक एवं वैज्ञानिक विषयों के लि सुविधायें प्रदान करने, विद्यार्थियों को विभिन्न उद्यमों में प्रशिक्षित करने तथा बहुधंधी एवं प्राविधिक विद्यालय स्थापित करने के लिए प्रस्ताव प्रस्तुत किये। इन पर प्रथम आयोजन में कार्य-क्रम प्रारम्भ कर दिये थे। माध्यमिक शिक्षा-पुनर्गठन

१. Educational Cess.
२. Craft.

के लिए बाइस करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई और २५० माध्यमिक विद्यालयों को बहुधंधी विद्यालयों में परिवर्तित किया गया था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसके लिए ५१ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई और यह अनुमानित किया गया कि ऐसे ११८७ विद्यालयों की स्थापना की जा सकेगी। साथ ही साथ यह भी अनुमानित किया गया कि द्वितीय आयोजन-काल में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-शिक्षण को विकसित करने के लिए २०० ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों में कृषि-शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। सामान्य शिक्षा-क्षेत्र में माध्यमिक विद्यालयों एवं निम्नतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या १०,६०० से बढ़ाकर १२,००० कर दी जा सकेगी। १,१५० उच्च विद्यालयों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया जायगा और इस प्रकार उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या २,८०० तक हो जायगी।

आयोग ने देश में बालिकाओं की शिक्षा पर विचार किया। उस समय केवल ३ प्रतिशत बालिकायें ही माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर रही थीं जो कि स्वतंत्र देश के लिए नितान्त अल्प था। प्रथम पंचवर्षीय आयोजन में इस दिशा में भी प्रयत्न किये गये थे। द्वितीय आयोजन में राज्य सरकारों ने बालिका विद्यालयों की संख्या में लगभग १५ प्रतिशत वृद्धि करने का ध्येय प्रस्तुत किया। साथ-ही-साथ बालिकाओं को विशेष व्यवसायों की शिक्षा के लिए उत्साहित करने हेतु उन्हें अध्यापिकायें, नर्स, स्वास्थ्य-निरीक्षिका एवं ग्राम-सेविका इत्यादि प्रशिक्षणों में छात्रवृत्तियाँ प्रदान करने की योजना प्रस्तुत की गई।

माध्यमिक शिक्षण-प्रणालियों में सुधार के लिए यह आवश्यकता थी कि विद्यालयों को अधिकाधिक प्रशिक्षित अध्यापक प्रदान किये जायँ। अतः आयोग ने प्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या बढ़ाने के लिए भी प्रस्ताव किये। प्रथम आयोजन के अन्त में प्रशिक्षित अध्यापक कुल के ६० प्रतिशत थे। इनकी संख्या द्वितीय योजना के अन्त तक ६८ प्रतिशत करने का ध्येय सम्मुख रखा गया। देश में बेकारी की बढ़ती हुई समस्या को हल करने के लिए यह आवश्यक था कि अधिकाधिक विद्यार्थियों को माध्यमिक शिक्षा के पश्चात् विशेष व्यवसायों में प्रवेश कराने के लिए प्राविधिक प्रशिक्षण दिये जायँ। अतः देश में ९० प्राविधिक प्रशिक्षण विद्यालय[1] खोलने की व्यवस्था की गई जिसमें १४ से १७ वर्ष की आयु के नवयुवकों को ३ वर्ष तक सामान्य शिक्षा के साथ प्राविधिक एवं प्रयोगात्मक प्रशिक्षण[2] देना निश्चित किया गया।

---

१. Junior Technical Schools.

२. Workshop Training.

व्यावसायिक विषयों को पढ़ाने के लिए प्रशिक्षित शिक्षकों की आवश्यकता पर भी बल दिया गया और केन्द्रीय शासन द्वारा प्राविधिक व बहु-उद्देशीय विद्यालयों के लिए १००० डिप्लोमा शिक्षक तथा ५०० डिग्री शिक्षकों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था की जायेगी। राज्य सरकार ने द्वितीय योजना-काल में माध्यमिक शिक्षा-पुनर्गठन, माध्यमिक विद्यालयों को उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में परिवर्तित करने, विज्ञान-शालाओं व पुस्तकालयों को विकसित करने, व्यावसायिक शिक्षण एवं निर्देशन, शिक्षकों के वेतन-क्रम में सुधार तथा उनके प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था के लिए ६४ करोड़ रुपयों की धन-राशि स्वीकृत की।

बेसिक शिक्षा

भारतवर्ष में बेसिक शिक्षा एक उपयुक्त शिक्षण-प्रणाली के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। प्रथम योजना में इसे मूर्त रूप देने का सफल प्रयास किया गया और इसके सभी स्तर पर आशातीत विकास हुआ। बेसिक विद्यालयों की संख्या जो कि प्रथम योजना के प्रारम्भ में १७५१ थी योजना के अन्त तक १०,००० हो गई। तदनुसार विद्यार्थियों की संख्या १,८५,००० से ११,००,००० हो गई और बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों की संख्या जो कि १९५०-५१ में ११४ थी १९५५-५६ में ४४९ हो गई। प्रथम योजना की ही भाँति द्वितीय योजना में भी बेसिक शिक्षा-विकास के लिए कार्यक्रम निर्धारित किये गये और यह अनुमान किया गया कि योजना के अन्त तक बेसिक विद्यालयों की संख्या ३८,४००; विद्यार्थियों की संख्या ४२,२४,००० तथा बेसिक प्रशिक्षण-विद्यालयों की संख्या ७२९ हो जावेगी। इस आयोजन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि अधिकाधिक शिक्षकों को बेसिक शिक्षा के लिए प्रशिक्षित किया जाय। अतएव आयोग ने नौकरी में रहते हुए प्रशिक्षण-व्यवस्था, रिफ्रेशर-पाठ्यक्रमों तथा सेमिनार के आयोजन के लिये प्रस्ताव किये। साथ ही साथ यह भी व्यक्त किया गया कि अधिकतर राज्यों में व्यवस्थापित कक्षा ५ तक के बेसिक विद्यार्थियों तक ही बेसिक शिक्षा की व्यवस्था है और इससे ऊपर की कक्षाओं में फिर सामान्य पाठ्यक्रमानुसार ही पढ़ना पड़ता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षण व्यर्थ हो जाता है। अत: जहाँ तक सम्भव हो कक्षा ८ तक के सम्पूर्ण बेसिक विद्यालय स्थापित किये जायँ अन्यथा ५वीं कक्षा तक की बेसिक शिक्षा के पश्चात् विद्यालयों के ३ वर्ष के पाठ्य-क्रम के लिये अलग बेसिक पाठ्य-क्रम के विद्यालय खोले जायँ। यह भी अनुभव किया गया कि बेसिक शिक्षण का जीवन से साम्य स्थापित किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। बेसिक विद्यालयों का जन-जीवन-केन्द्र के रूप में विकास होना चाहिये जिससे ग्रामीण लोग प्रेरणा ले सकें। अतएव बेसिक शिक्षा को कृषि,

ग्रामीण उद्योग, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास आदि योजनाओं के विकास कार्य-क्रमों से सम्बन्धित किया जाय। आवश्यक निर्देशन एवं सुझाव के लिये माध्यमिक शिक्षा-परिषद के ढंग पर एक प्राथमिक एवं बेसिक शिक्षा-परिषद की स्थापना के लिये माँग की गई।

बेसिक शिक्षा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण समस्या माध्यमिक स्तर पर सामान्य शिक्षा के साथ इसके समन्वय की थी। योजनानुसार वर्तमान प्रारम्भिक विद्यालयों को शीघ्र ही बेसिक विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया जायगा और तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार निम्नतर माध्यमिक विद्यालयों को निम्नतर बेसिक माध्यमिक विद्यालयों[1] में परिवर्तित किया जायगा। परन्तु इसके उपरान्त माध्यमिक स्तर पर उत्तर-बेसिक शिक्षण की व्यवस्था ही मुख्य विचार की बात थी। अतः इसके अध्ययन करने तथा समन्वय-सम्बन्धी सुझाव प्रस्तुत करने के लिये केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने एक समिति की स्थापना की जो कि समय-समय पर उचित सुझाव दिया करेगी। केन्द्रीय मंत्रालय ने देश में अधिकाधिक उत्तर-बेसिक विद्यालयों की स्थापना के लिये द्वितीय योजना-काल में प्रयत्नशील रहेगा तथा राज्य सरकारें भी माध्यमिक शिक्षा-पुनर्व्यवस्था के साथ-साथ माध्यमिक स्तर पर उत्तर-बेसिक शिक्षा-समन्वय के लिये व्यवस्था करेंगी।

विश्वविद्यालय एवं उच्च शिक्षा-स्तर

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विश्वविद्यालय-शिक्षा को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया। प्रथम आयोजन-काल में इसके प्रसार के लिये कोई भी कार्य-क्रम निर्धारित नहीं किया गया था। उस समय जो भी कार्य-क्रम थे वे केवल इसे संगठित बनाने के लिए थे। परन्तु द्वितीय आयोजन-काल में ७ नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के लिये व्यवस्था की गई है। साथ-ही-साथ विश्वविद्यालय-शिक्षा-विकास के लिये ३ वर्ष के स्नात्य पाठ्य-क्रम[2] आरम्भ करने, ट्यूटोरियल कक्षाओं की व्यवस्था, भवन, विज्ञान-शालाओं एवं पुस्तकालयों के विकास, सेमिनार एवं विभिन्न गोष्ठियों के आयोजन, योग्य छात्रों के लिये उचित छात्रवृत्तियाँ, शोधकार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिये विशेष सुविधायें, शिक्षकों के वेतन में सुधार तथा छात्रावासों में सुविधाओं के विस्तार इत्यादि सम्बन्धी कार्य-क्रम भी निश्चित किये गये।

प्रथम आयोजन की अपेक्षा, इस बार, विश्वविद्यालय-शिक्षा पर व्यय होने वाली धन-राशि भी ४ गुनी कर दी गई। प्रथम योजना में विश्वविद्यालय-

१. Senior Basic Schools.

२. Degree Courses.

शिक्षा पर कुल व्यय का ८·८ प्रतिशत व्यय हुआ जो कि १४ करोड़ था, परन्तु इस बार कुल शिक्षा-व्यय का १८·६ प्रतिशत व्यय होगा जो कि लगभग ५७ करोड़ है। इस धन-राशि में से ३४·४ करोड़ केन्द्र तथा २२·५ करोड़ राज्य सरकारों की योजनाओं पर व्यय किया जायगा। केन्द्रीय सरकार की धन-राशि में से २७ करोड़ रुपये "विश्वविद्यालय अनुदान आयोग"[1] को उचित रूप से व्यय करने के हेतु सौंप दिया गया। साथ ही साथ यह भी निश्चित किया गया कि स्वीकृत धन-राशि का अधिकांश भाग वैज्ञानिक एवं प्राविधिक शिक्षा के उत्थान और प्रसार पर व्यय होगा। इसके अतिरिक्त १० करोड़ रुपये स्वास्थ्य-शिक्षा के लिये छात्रवृत्तियों, १३ करोड़ इन्जीनियरिंग टेकनॉलॉजी, १० करोड़ उच्च शिक्षा तथा २० करोड़ वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक शोध-कार्यों पर व्यय करने के लिये अलग धन-राशि की व्यवस्था की गई। अनुसंधान पर होने वाले २० करोड़ रुपयों का व्यय वैज्ञानिक एवं व्यावसायिक परिषद[2] के माध्यम से किया जायगा।

योजना-आयोग का मत है कि माध्यमिक शिक्षा स्तर पर बहुप्रयोजनीय पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने पर विद्यार्थियों की रुचि वैज्ञानिक, प्राविधिक एवं व्यावसायिक विषयों की ओर बटेगी और विश्वविद्यालय एवं उच्च शिक्षा स्तर पर साहित्यिक विषयों में विद्यार्थियों की बढ़ती हुई संख्या पर नियन्त्रण सम्भव हो सकेगा। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा इस प्रवृत्ति को कम करने के लिये यह भी प्रयत्न किया जा रहा है कि उच्चसार्वजनिक[3] सेवाओं के लिये निर्धारित योग्यता की निम्नतर सीमा यथासम्भव कम कर दी जाय और यदि सम्भव हो तो डिग्री की अनिवार्यता हटा दी जाय।

प्राविधिक शिक्षा

पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना है जिससे प्रयोग में आने वाली सभी सम्भव वस्तुयें देश में ही तैयार की जा सकें और विदेशी आयात पर निर्भर न रहना पड़े। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये योजना के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे अधिक-से-अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता है जो प्राविधिक प्रशिक्षण प्राप्त किये हों तथा उत्पादन में वृद्धि करने वाली मशीनों के प्रयोग एवं निर्माण में योग दे सकें। अतएव प्रथम योजना में प्राविधिक शिक्षा को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। उसी काल में इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ साइंस, बंगलौर का विकास

१. University Grant Commission.
२. Council of Scientific and Industrial Research.
३. Higher Civil Services.

तथा इन्स्टीट्यूट आफ टेकनॉलॉजी, खड़गपुर की स्थापना की गई जो कि देश के उत्पादन-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण घटनायें थीं। फलतः प्रथम योजना के अंत तक प्रशिक्षार्थियों की संख्या में तिगुनी वृद्धि हो गई। द्वितीय योजना में भी तदनुसार प्राविधिक शिक्षा-विकास पर विशेष बल दिया गया। इसके लिये ४८ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई, जिसका एक अंश तो उन कार्य-क्रमों पर व्यय किया जायगा जिन्हें प्रथम योजना-काल में प्रारम्भ किया गया था। इसके अन्तर्गत खड़गपुर की संस्था को उच्च प्राविधिक अध्ययन (अण्डर-ग्रेजुएट तथा पोस्ट-ग्रेजुएट अध्ययन) के लिए पूर्ण रूप से विकसित तथा विस्तारित किया जायगा, डिग्री तथा डिप्लोमा पाठ्यक्रम की जितनी संस्थायें प्रथम आयोजन-काल तक व्यवस्थापित की गई थीं उन्हें इस योजना-काल में पूर्णरूपेण बनाया जायगा, तथा उच्च पाठ्य-क्रम एवं अनुसंधान के केन्द्र जो प्रथम योजना-काल में स्थापित किये गये थे उन्हें विकसित किया जायगा। दूसरा अंश देश के विभिन्न भागों में खड़गपुर जैसी ३ अन्य संस्थाओं में व्यय किया जायगा, जिनमें प्रत्येक में एक बार में १२०० विद्यार्थी अंडर-ग्रेजुएट पाठ्य-क्रम के लिए तथा ६०० विद्यार्थी पोस्ट-ग्रेजुएट पाठ्य-क्रम तथा शोध-कार्य के लिये प्रवेश पा सकें। इसके साथ ही साथ विभिन्न भागों में डिग्री तथा डिप्लोमा की ३ अन्य संस्थायें स्थापित की जायँगी और प्राविधिक प्रशिक्षार्थियों को मिलने वाली छात्रवृत्तियों की संख्या ६३३ से बढ़ा कर ८०० कर दी जायगी।

विद्यार्थियों की आवास-सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए छात्रावास स्थापित करने की भी व्यवस्था की गई और यह अनुमान किया गया कि योजना के अंत तक लगभग १६००० विद्यार्थियों के लिए छात्रावास बनवाए जा सकेंगे।

इंजीनियरिंग तथा टेकनॉलॉजी विषयों में अधिक व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने हेतु दिल्ली पॉलीटेकनिक इन्स्टीट्यूट को और अधिक विकसित करने का निश्चय किया गया।

देश की लोहा और ईस्पात, रेलवे, श्रम इत्यादि उत्पादन-सम्बन्धी योजनाओं में भी प्राविधिक प्रशिक्षण हेतु व्यवस्था करने के कार्यक्रम इस योजना के अन्तर्गत निर्धारित किये गये हैं जिनके अनुसार डिग्री प्रशिक्षार्थियों की संख्या में प्रथम आयोजन की अपेक्षा दुगनी तथा डिप्लोमा प्रशिक्षार्थियों की संख्या में तिगुनी वृद्धि होगी और क्रमशः ५७०० तथा ६२०० अन्य व्यक्तियों को योजना-काल में प्रशिक्षित किया जा सकेगा। इस प्रकार यह अनुमानित किया जाता है कि द्वितीय योजना के अंत तक प्राविधिक विद्यार्थियों की संख्या डिप्लोमा पाठ्यक्रम में ११,३००; जूनियर प्राविधिक विद्यालयों में ५,४००; प्रथम डिग्री पाठ्य-क्रम में ७,५५० एवं पोस्ट-ग्रेजुएट पाठ्यक्रम तथा शोध-कार्यों में ५७० तक पहुँच जायगी।

अन्य शैक्षिक योजनाएँ

उपर्युक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त शिक्षा-सम्बन्धी कुछ अन्य कार्यक्रम भी निर्धारित किए गए। इस बार योजना-आयोग ने शिक्षकों के प्रशिक्षण एवं उनकी दशा में सुधार के लिए विशेष बल दिया। अतः द्वितीय आयोजन में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए १७ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई। कार्यक्रमानुसार इस योजना-काल में ३० प्रशिक्षण कालेज तथा २१३ प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किए जायेंगे। बेसिक प्रशिक्षण कालेजों की संख्या ३३ से ७१ तथा बेसिक प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या ४४६ से ७२६ कर दी जायगी। आवश्यक शोध-कार्य के लिए एक नेशनल इन्स्टीट्यूट आफ बेसिक एजूकेशन भी स्थापित किया जा रहा है। इस प्रकार यह अनुमान किया गया है कि योजना के अन्त तक प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों में लगभग ७० प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षित हो जायेंगे। शिक्षकों का वेतन-क्रम बढ़ाने के लिए भी पर्याप्त आश्वासन दिया गया है और यह विषय राज्यीय सरकारों के आगे विचाराधीन है। परन्तु यह आशा की जाती है कि शीघ्र ही वेतन-क्रम में कुछ न कुछ वृद्धि अवश्य हो जायगी। केन्द्रीय सरकार ने इस प्रकार होने वाले अतिरिक्त व्यय का ५० प्रतिशत देने का निर्णय किया है।

इस योजना में सार्वजनिक साक्षरता एवं सामाजिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया है। इसके अन्तर्गत सामाजिक शिक्षा एवं साक्षरता के लिए कक्षायें खोली जायँगी तथा अशिक्षितों एवं अल्प-शिक्षितों के लिए उपयुक्त पठन-सामग्री की व्यवस्था की जायगी। शासन द्वारा १५ करोड़ रुपये की अतिरिक्त धनराशि की व्यवस्था इसके लिए की गई है। इस धनराशि के अन्तर्गत उपर्युक्त कार्यक्रमों के साथ ही साथ जनता कालेजों की स्थापना, श्रव्य-दृश्य शिक्षा-प्रचार, नवीन साहित्य-रचना की व्यवस्था भी की जायगी। जनता में साक्षरता के साथ ही साथ नागरिकता एवं उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करने उन्हें स्वास्थ्य-शिक्षा देने, आर्थिक कठिनाइयों के लिए निर्देश एवं सुझाव प्रस्तुत करने, तथा मनोरंजन की सुविधायें प्रदान करने के लिए सामुदायिक विकास-योजना के अन्तर्गत १० करोड़ रुपया सामाजिक समस्याओं पर व्यय करने की व्यवस्था की गई है।

ग्रामीण जनता को उच्च-शिक्षा सुलभ करने हेतु एक हायर रूरल एजूकेशन कमेटी की स्थापना गई है जो कि इनकी समस्याओं का पूर्ण अध्ययन करके शासन को आवश्यक सुधार सम्बन्धी सुझाव प्रस्तुत करेगी। शासन ने २ करोड़ रुपये की व्यवस्था देश में १० ग्रामीण संस्था स्थापित करने के लिए भी की है जिनके द्वारा अधिक ग्रामीण जनता को शिक्षित किया जायगा तथा उन्हें अपनी समस्याओं के लिए उचित निर्देशन भी प्राप्त हो सकेगा।

इसके अतिरिक्त प्रथम आयोजन-काल में निर्धारित प्रादेशिक भाषाओं का विकास, संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार, सांस्कृतिक उत्थान, साहित्य, संगीत, नाटक एवं ललित कला एकेडेमी सम्बन्धी कार्यक्रमों को पूरा किया जायगा और अधिकाधिक सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन के लिए प्रयत्न होगा। इस सम्बन्ध में शासन ने यूनेस्को से भी आवश्यक सम्पर्क स्थापित करने का निर्णय किया है।

समालोचना

द्वितीय योजना पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि शासन ने यद्यपि देश के अन्य पहलुओं के ही अनुसार शिक्षा को भी विकसित करने का प्रयत्न किया है, परन्तु प्रथम योजना की त्रुटियाँ अब भी विद्यमान रहीं और कार्यक्रमों की आयोजनहीनता अब भी स्पष्ट है। तथ्य तो यह है कि अन्य विकसित राष्ट्रों-रूस, चीन, तथा अमेरिका आदि की तरह हमारी योजना के कार्यक्रम निर्धारित न किए जा सके। केवल कुछ नवीन पाठशालायें खोल देने, उनके भवनों का निर्माण करा देने, छात्रवृत्तियों की संख्या बढ़ा देने, विद्यालयों का विस्तार करा देने से ही शिक्षा का विकास नहीं हो जायगा। यह तो शिक्षा का आंशिक प्रसार हुआ। भारतवर्ष में प्रचलित शिक्षा में व्याप्त त्रुटियों पर अनेक बार प्रकाश पड़ चुका है और देश की आवश्यकतानुसार शिक्षा-क्षेत्र में आमूल परिवर्तन ही वांछनीय है। आयोजकों के लिए यही उचित था कि इसके अन्तर्गत व्याप्त त्रुटियों को समूल नष्ट करने के कार्यक्रम निधारित करते और शिक्षा को देश एवं काल के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करते। केवल शिक्षा पर कुछ अधिक धन-राशि का व्यय किया जाना किसी भी अर्थ में नियोजन नहीं स्वीकार किया जा सकता। कुछ आलोचकों का मत है कि देश की पूर्व स्थित शिक्षा की त्रुटियों का पोषण एवं आधुनिक आवश्यकताओं को ठीक से न समझना ही योजना की असफलता का द्योतक है।

यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि भारत का आर्थिक विकास आयोजना द्वारा हो रहा है और उसकी आवश्यकतानुसार शासन में अधिक से अधिक व्यक्तियों को प्राविधिक विषयों में प्रशिक्षित करने के लिए प्राविधिक शिक्षा के विस्तार को महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार के कार्यक्रमों से देश का लाभ अवश्य होगा। अधिक भोजन-सम्बन्धी कार्यक्रमों के लिए दीक्षित कारीगर प्राप्त होंगे तथा भारतीय शिक्षा के दोषों के कुछ अंश तक दूर होने के साथ ही साथ बेकारी की बढ़ती हुई समस्या को दूर करने में भी थोड़ा योग मिलेगा। इस आयोजना में प्रथम पंचवर्षीय योजना की अपेक्षा प्राविधिक शिक्षा पर व्यय की जाने वाली धन-राशि भी दुगुनी कर दी गई है। इसके अतिरिक्त नवीन प्राविधिक विद्यालयों

की स्थापना, सम्बन्धी विद्यार्थियों के लिए अधिकाधिक छात्रवृत्ति एवं आवास-व्यवस्था इस योजना की विशेषता है। परन्तु भारत की विशाल जनसंख्या को देखते हुए यह प्रसार अल्प है। शासन ने एक ओर वृद्धि करके दूसरी ओर अन्य स्तरों पर अपेक्षाकृत कमी कर दी है जिससे इसका महत्त्व और भी कम हो गया।

प्रारम्भिक शिक्षा पर प्रथम योजना की अपेक्षाकृत धन-राशि ९३ करोड़ से ८९ करोड़ कर दी गई तथा प्रथम योजना में कुल धनराशि का ५५ प्रतिशत प्रारम्भिक स्तर पर व्यय किया गया था और इस बार कुल धनराशि का केवल २९ प्रतिशत ही व्यय किया गया था जो कि प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम है। माध्यमिक शिक्षा-प्रसार पर भी अधिक बल नहीं दिया गया और स्वीकृत धनराशि जो प्रथम आयोजन-काल में १३ प्रतिशत थी इस बार १९·५ प्रतिशत कर दी गई। इसके विपरीत विश्वविद्यालय एवं उच्च शिक्षा व्यय को ८ प्रतिशत से १८ प्रतिशत कर दिया गया। इस प्रकार यह समस्या उत्पन्न होती है कि प्राथमिक स्तर को महत्त्व न देकर शासन ने किस लक्ष्य के अनुसार विश्वविद्यालय शिक्षा को पोषित करने का निश्चय किया है। भारतीय संविधान के अनुसार द्वितीय योजना के अन्त तक १०० प्रतिशत बालकों को प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने की घोषणा की गई थी और निश्चित कार्यक्रमानुसार उस समय तक केवल ४९ प्रतिशत बालकों को ही ये सुविधायें उपलब्ध हो सकेंगी। अतः यह स्पष्ट है कि योजना निर्धारित लक्ष्य से दूर जा रही है।

द्वितीय आयोजन में प्रशासन पर होने वाले व्यय को ५७ करोड़ कर दिया गया है, जो कि प्रथम योजना में केवल ११ करोड़ था। यह स्पष्ट नहीं है कि इस बार प्रशासन को क्यों इतना अधिक विस्तृत कर दिया गया और यह समझा जा सकता है कि आयोजन में प्रशासन के नाम पर जनता का धन, जो कि शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर विकास-कार्य के लिए व्यय किया जाना चाहिए था, उच्चाधिकारियों को दिया जा रहा है।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने अपनी आख्या में शिक्षकों की दशा-सुधार तथा शिक्षण-संस्थाओं के प्रबन्ध में व्याप्त त्रुटियों को दूर करने पर विशेष बल दिया था। साथ ही साथ शिक्षकों की दशा का सुधारना शिक्षा-विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक था। परन्तु योजना-आयोग ने शिक्षकों की दशा सुधारने तथा प्रबन्ध-समितियों के सम्बन्ध में कोई भी ठोस कार्यक्रम नहीं निर्धारित किया है। देश की वर्तमान आवश्यकतानुसार सामाजिक शिक्षा पर सबसे अधिक बल दिया जाना चाहिए था; क्योंकि १९५१ की गणनानुसार देश में केवल १६ प्रतिशत के

लगभग लोग साक्षर पाये गए। प्रथम योजना में सामाजिक शिक्षा एवं सार्वजनिक साक्षरता के लिए कुल स्वीकृत धन का ३ प्रतिशत व्यय किया गया था। परन्तु द्वितीय योजना के इस पर होने वाले धन को १·६ प्रतिशत कर दिया गया जो कि केवल ५ करोड़ है। यह कार्य भारतवर्ष की विशाल निरक्षरता को दृष्टि में रखते हुए अल्प ही नहीं, हास्यास्पद भी है। ऐसी परिस्थिति में शासन की जनतंत्र-प्रणाली के सफलीभूत होने की कहाँ तक आशा की जा सकती है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि केवल प्राविधिक एवं विश्वविद्यालय स्तर को छोड़कर शिक्षा के सभी स्तरों के लिए निर्धारित कार्यक्रम एवं स्वीकृत धन-राशि असंतोषजनक है। द्वितीय योजना में प्रथम योजना की कुछ त्रुटियाँ अब भी विद्यमान हैं। योजना के किसी भी अंग में उचित लक्ष्य-प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती। केवल यही सोचकर कुछ संतोष किया जा सकता है कि सम्भव है भविष्य में निर्धारित योजनायें उचित लक्ष्य प्राप्त कर सकें और इस योजना के कार्यक्रमों से अगली योजनाओं में सुधार हो तथा उन्हें बल मिले।

शासन द्वारा शिक्षा-क्षेत्र में अन्य प्रयोग

शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर राष्ट्र की परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षण-पद्धति अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश भर में एक शिक्षा-नीति अपनाई जाय तथा उसका यथासम्भव विकास किया जाय। इसके लिए क्षेत्र में प्रयोगात्मक अनुभव की आवश्यकता होती है। अधिकतर योजनायें राज्यों में कार्यान्वित की जाती हैं और एक नीति रखने के लिए केन्द्र द्वारा उन पर आवश्यक नियंत्रण रखना तथा सामूहिक प्रगति-निरीक्षण की आवश्यकता थी। अतः केन्द्र ने राज्य सरकारों की सहायता से परीक्षण के लिए कार्यक्रम निश्चित किये जिन्हें योजना-आयोग ने भी स्वीकार किया। इसके अन्तर्गत कुछ चुने हुए क्षेत्रों में सघन शिक्षा-विकास, माध्यमिक शिक्षा स्तर पर शोधकार्यों का विस्तार तथा सार्वजनिक विद्यालयों में योग्यता, छात्रवृत्तियाँ, श्रव्य-दृश्य-शिक्षा, विशेषज्ञों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था एवं बालकों एवं अल्पशिक्षितों के लिये उचित साहित्य-सृष्टि एवं अन्य भाषा-भाषी भागों में राष्ट्रभाषा-प्रसार, युवक मंगल-कार्यक्रमों का प्रसार, स्वेच्छा शिक्षण-संगठनों को आर्थिक सहायता, बाल अपराधियों के लिए सुधार-केन्द्र, अन्तर्राज्य विचार-विनिमय-प्रवृत्ति की वृद्धि, राष्ट्रीय आधारभूत शिक्षा-केन्द्र की स्थापना, केन्द्र में पाठ्यपुस्तक अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना, राष्ट्रीय प्राविधिक व व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं निर्देशन-संस्था की स्थापना, केन्द्र में राष्ट्रीय पुस्तकालय की स्थापना, प्रौढ़, अंधे व्यक्तियों के लिए शिक्षा-केन्द्र की स्थापना, चुने हुए शिक्षा-प्रयोग तथा विभिन्न शिक्षण-योजनायें। प्रथम योजना में केन्द्र की ओर से इन कार्यक्रमों को

मूर्त रूप देने के लिए धनराशि स्वीकृत की गई थी। द्वितीय आयोजन-काल में भी इन्हें चलाते रहने तथा यथासम्भव वृद्धि करने का निश्चय किया गया है। ये कार्यक्रम केन्द्र की देख-रेख में राज्य सरकारों द्वारा प्रतिपादित किये जायेंगे। इन कार्यक्रमों से शिक्षा के साथ ही साथ उसे सुव्यवस्थित बनने, तथा उसके आकार की बाढ़ के साथ-साथ उसकी गहराई के बढ़ने की भी आशा की जाती है।

भारतीय राष्ट्रीय आयोग

भारत सरकार ने १९४९ में देश में यूनेस्को[1] की सहायता से शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विकास के लिए भारतीय राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की। भारत सरकार १९४६ में ही यूनेस्को की सदस्यता प्राप्त कर चुकी थी और उसके नियमानुसार यूनेस्को द्वारा प्रतिपादित कार्यक्रमों को मूर्त रूप देने के लिए एक आयोग की स्थापना आवश्यक थी। यह आयोग केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री मौ० अबुल कलाम आजाद की अध्यक्षता में स्थापित किया गया और इसमें ११ सदस्य थे। इसे १९५३ में स्थायी भी बना दिया गया। इसका प्रथम सम्मेलन १९५४ के जनवरी मास में नई दिल्ली में आयोजित किया गया था, जिसमें मिस्र, इन्डोनेशिया, ईरान, इराक, लेबनान, सीरिया, तुर्की, अफगानिस्तान, लंका तथा जापान ने भाग लिया और इसमें एशियाई तथा अफ्रीकी सांस्कृतिक एवं शैक्षिक समस्याओं पर सारगर्भित प्रस्ताव स्वीकृत हुए। राष्ट्रीय आयोग ने प्रारम्भ से ही उत्साहपूर्ण कार्यक्रम निर्धारित किये जिसके अनुसार मैसूर राज्य में एक आधार-भूत शिक्षा-केन्द्र[2] की स्थापना की जा रही है। इस केन्द्र में विशेषज्ञों को प्रशिक्षण दिया जायगा। श्री काका कालेलकर की अध्यक्षता में एक शिक्षा उप-आयोग की स्थापना की गयी है जिसके द्वारा गाँधी जी के विचारों के प्रचार हेतु कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर किया जायगा। अंततः आयोग यूनेस्को की योजनाओं को कार्यान्वित करने के साथ ही साथ देश में राष्ट्र-संघ तथा मानव-अधिकार के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार भी करेगा।

सारांश

योजना-आयोग ने देशवासियों को अधिक से अधिक शिक्षा-सुविधा प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक समझा। प्राप्त शिक्षा-सुविधायें अपर्याप्त थीं।

---

१. United Nations Educational Scientific, and Cultural Organisation.

२. Centre for Instruction in Fundamental Education.

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा

कार्यक्रम:—बेसिक तथा सामाजिक शिक्षा का प्रसार। माध्यमिक और विश्वविद्यालय-शिक्षा का परिमार्जन। स्त्री-शिक्षा का प्रसार। शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में समन्वय स्थापित करना। शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना। शिक्षकों की स्थिति में सुधार करना। शिक्षा-क्षेत्र में पिछड़े हुए राज्यों में शिक्षा-प्रसार करना।

शिक्षा-प्रसार-कार्यक्रम केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों में बाँट दिया गया। राज्यीय स्तर पर साधारण प्राथमिक विद्यालयों को बेसिक विद्यालय में परिवर्तित करना, माध्यमिक विद्यालयों का समाज की विविध आवश्यकतानुसार पुनर्संगठन, विश्वविद्यालय की स्थिति में सुधार तथा सामाजिक और प्रौढ़ शिक्षा तथा दोषयुक्त बालकों की शिक्षा और सैनिक शिक्षा-प्रशिक्षण के प्रसार का कार्यक्रम रक्खा गया।

केन्द्रीय सरकार ने अपने ऊपर विशेषतः नवीन व्यावसायिक विद्यालयों की स्थापना, शिक्षा-अनुसन्धान-शाला की स्थापना, बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना, निर्धन छात्रों के लिए छात्रवृत्ति, सामाजिक शिक्षा के लिए आवश्यक साहित्य-रचना, श्रव्य-दृश्य-शिक्षा-सामग्री-निर्माण, वैज्ञानिक शोध-केन्द्र तथा भारतीय भाषाओं के विकास का उत्तरदायित्व लिया।

समालोचना:—कार्यक्रम के अनुसार प्रगति बड़ी धीमी रही। कुछ आलोचकों के अनुसार योजना का लक्ष्य पूर्वस्थित दोषों को दूर करने का न होकर शिक्षा के केवल कुछ स्तरों का विकास करना गलत था। कार्यक्रम निर्धारित करते समय साधनों की उपलब्धता पर ध्यान न देने से उसे क्रियात्मक रूप देने में शक्ति और धन का बड़ा अपव्यय हुआ। फलतः धनाभाव के कारण कुछ कार्यक्रमों को स्थगित भी करना पड़ा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

कार्यक्रम:—बेसिक शिक्षा को विकसित करना। माध्यमिक शिक्षा को बहु-उद्देशीय बनाना। विश्वविद्यालय-शिक्षा का परिमार्जन। सामाजिक, सांस्कृतिक और सैनिक शिक्षा को विस्तृत रूप में कार्यान्वित करना। व्यावसायिक शिक्षा के लिए उचित व्यवस्था करना।

बेसिक शिक्षा तथा बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। प्राविधिक प्रशिक्षण-विद्यालय खोलने की व्यवस्था की गई। विश्वविद्यालय की शिक्षा

को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया। शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। सार्वजनिक साक्षरता तथा सामाजिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया।

समालोचना:—शिक्षा में व्याप्त त्रुटियों को आमूल नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया जा सका। नवीन प्राविधिक विद्यालयों की स्थापना इस योजना की विशेषता है। द्वितीय योजना के अन्त तक केवल ४९ प्रतिशत ही बालक शिक्षित किये जा सकेंगे। इस प्रकार भारतीय संविधान द्वारा साक्षरता सम्बन्धी निर्धारित लक्ष्य पूरा न होगा। शिक्षकों की स्थिति को सुधारने के लिए कोई ठोस कार्यक्रम नहीं निर्धारित किया गया है।

भारतीय राष्ट्रीय आयोग:—यूनेस्को की सहायता से शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विकास के लिए इस आयोग की स्थापना की गई। मैसूर राज्य में आधारभूत शिक्षा-केन्द्र की स्थापना की गई।। गाँधी जी के विचारों तथा राष्ट्रसंघ और मानव-अधिकारों के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार किया जायगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१—प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के पुनर्संगठन के लिए क्या-क्या कार्यक्रम निर्धारित किए गए थे? इन कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की समालोचनात्मक विवेचना कीजिए।

२—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा के पुनर्संगठन सम्बन्धी कार्यक्रम की प्रथम पंचवर्षीय योजना के शिक्षा विषयक कार्यक्रमों से तुलना कीजिए।

३—हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की असफलता के क्या कारण हैं?

———

अध्याय ४३

स्वतन्त्रता के बाद शिक्षा (१९४७-५८)

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० को विदेशी राज्यसत्ता ने भारत को स्वतन्त्र तो अवश्य कर दिया, परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता का यह रूप हमारे सम्मुख मँहगी, साम्प्रदायिक विप्लव, प्राकृतिक प्रकोप एवं तज्जनित नाना प्रकार की कठिनाइयों के साथ आया। इन जटिल तथा दुरूह समस्याओं से लड़ते हुए प्रथम ग्यारह वर्षों में शिक्षा में हमने जो प्रगति की आगे हम उसी पर विचार करेंगे।

प्रारम्भिक और बुनियादी शिक्षा

स्वतन्त्रता के बाद सरकार के शिक्षा सम्बन्धी दायित्व में महान अन्तर आया। इस दायित्व के निर्वहन में शासन का ध्यान सर्वप्रथम बुनियादी शिक्षा की प्रगति की ओर आकृष्ट हुआ और इसका यथेष्ट विकास एवं विस्तार हुआ। सन् १९४७ ई० में प्राथमिक स्कूलों की संख्या १,३४,९६६ और इनके छात्रों की संख्या १,००,४७,३१७[1] थी जो सन् ५३ में बढ़कर क्रमशः १,४०,२८५ एवं १,५६,६५,०५६ हो गई। सन् ५४ में यह संख्या २,३९,११८ तथा २,१०,००,००० तक पहुँच गई। इन विद्यालयों पर शासन द्वारा कुल व्यय ४७·३६ करोड़[2] रुपये हो रहा था। केन्द्रीय सरकार की शिक्षा-परामर्शदात्री समिति के निश्चयानुसार प्राथमिक स्कूलों को बुनियादी स्कूलों का रूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया गया और सन् ५३ ई० में जूनियर बेसिक स्कूलों की संख्या ३३,७३९ की गई। आसाम तथा बम्बई में सन् १९४७ में और विन्ध्य प्रदेश तथा मध्य भारत में क्रमशः सन् १९५२ एवं १९४९ में बुनियादी शिक्षा को अनिवार्य घोषित किया गया। बुनियादी शिक्षा के लाभों से पूर्णतया लाभान्वित होने में देश के सम्मुख जो प्रमुख बाधा उपस्थित हुई वह थी शिक्षकों का दीक्षित न होना।

अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था

शिक्षा की बुनियादी प्रणाली से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण पर ध्यान देना परमावश्यक था। गुणात्मक शिक्षा की यथेष्ट प्रगति

---

१. India 1955—A Reference Annual. The Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India.

२. India 1956—Reference Annual.

हेतु अनेक प्रशिक्षण-विद्यालयों को बेसिक ट्रेनिंग स्कूलों में परिणत किया गया। छात्राध्यापकों की संख्या एवं उन पर व्यय होने वाले धन में वृद्धि की गई। सन् १९४८-५३ में प्रतिवर्ष दीक्षित होने वाले अध्यापकों की संख्या ७०,००० हो गई जब कि १९४७ में केवल ४०,००० थी। इन पर व्यय होने वाली धनराशि भी १०६ करोड़ से बढ़ाकर २०९ करोड़ कर दी गई।[१]

अध्यापकों के वेतन में वृद्धि

शिक्षा के विकास में अध्यापकों की सुख-सुविधाओं पर ध्यान देते हुए केन्द्रीय वेतन-आयोग की रिपोर्ट के आधार पर प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों के वेतन-क्रम में संशोधन किया गया। प्रशिक्षित मैट्रिक अध्यापकों का वेतन-क्रम ६८-४-१२०-५-१७० और अप्रशिक्षित मैट्रिक शिक्षकों का ५५-३-८५-४-१२५-५-१३० कर दिया गया। अप्रशिक्षित अमैट्रिक अध्यापकों का वेतन-क्रम ३५-१-४०-२-६० निर्धारित करने पर ऐसा कोई शिक्षक नहीं था जिसे मँहगाई आदि भत्ता मिलाकर १९५३ में १०० रु० प्रतिमास न मिल जाता हो। केन्द्रीय सरकार का अनुसरण करके राज्य सरकारों ने १२-१५ रु० पाने वाले प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों का न्यूनतन वेतन ३० रु० कर दिया।

बिहार राज्य में शिक्षकों का वेतन एवं शिक्षा का प्रशासन

समय-समय पर बिहार राज्य में भी अन्य राज्यों की भाँति शिक्षकों के वतन एवं शिक्षा की प्रशासन-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहली अप्रैल १९४९ से राजाज्ञा-संख्या ३८४९ दिनांक २७ मई के अनुसार दीक्षित स्नातकों का वेतन-क्रम ७५-४-९५ द०रो० ५-१२०, अप्रशिक्षित स्नातकों यथा आई० एस-सी० आई० ए० (सी० टी०) अध्यापकों का ६०-२-८० द० रो० २-१००, अप्रशिक्षित आई० ए० प्रधानाध्यापकों का ४५-२-५५ द० रो० २-७५ तथा सहायक अध्यापकों का वेतन-क्रम ४० रु० से प्रारम्भ किया। मैट्रिक सी० टी० का वेतन-क्रम ४५-२-५५ द० रो० २-७५ और अप्रशिक्षित मैट्रिक अथवा व्ही० एम० सी० टी० का वेतन-क्रम ४०-१-५० द० रो० १-६० निश्चित किया। अमैट्रिक प्रशिक्षित अध्यापकों में एम० व्ही० जी० टी० या इ० टी० का ३५-२-४५ द० रो० १-५५, संस्कृत फारसी आदि भाषा-शिक्षकों का ४०-१-५० द० रो० १-६०, यू० पी० जी० टी० या इ० टी० का २५-½-३५ तथा अन्य अप्रशिक्षित अध्यापकों का वेतनक्रम २५-१-३० निर्धारित करके इन वेतनों के साथ १० रु० मंहगाई भत्ते को जोड़ दिया गया। अमैट्रिक प्रशिक्षित अध्यापकों के वेतन-क्रम को पहिली अप्रैल १९५५ से ३५-१-४५

१. Quinquennial Review—Progress of Education in India, p. 5

कर दिया गया तथा नवीन योजना के अनुसार प्रशिक्षित स्नातक और प्रशिक्षित इन्टरमीडिएट अध्यापकों के अतिरिक्त अन्य अध्यापकों के वेतन-क्रमों को पुनः बढ़ाया जा रहा है ।

विभिन्न आयोगों एवं कमेटियों की रिपोर्टों पर ध्यान देते हुए प्राथमिक विद्यालयों से सम्बन्धित स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों को कम करके इसकी उन्नति की ओर ठोस कदम उठाया गया । प्रशासन की नवीन योजना का रूप सर्वप्रथम राज्यपाल के २५ जनवरी, १९५४ के अभ्यादेश द्वारा जनता के सम्मुख आया । पुनः विधान-मण्डल द्वारा "बिहार लोकल सेल्फ गवर्नमेन्ट अमेन्डिंग एण्ड वैलिडेटिंग एक्ट १९५४" घोषित किया गया । प्रत्येक जिले में जिला शिक्षा-अधीक्षक की संरक्षता में एक जिला शिक्षा-कोष[1] खोला गया जिसमें जिला परिषद द्वारा प्राप्त शिक्षा-सम्बन्धी धन संग्रहित होता था । जिला शिक्षा-अधीक्षक की नियुक्ति शासन द्वारा की जाती है । शिक्षा-अधीक्षक को सहायता प्राप्त विद्यालयों के अध्यापकों की नियुक्ति, पदोन्नति, पदावनति एवं बर्खास्तगी आदि बोर्ड की अनुमति से करने का आदेश दिया गया । बोर्ड एवं अधीक्षक में किसी विषय पर मतभेद हो जाने पर विवादास्पद विषय का निर्णय शासन द्वारा नियुक्त नवीन अधिकारी करता था ।

प्रत्येक जिले में एक परियोजना कमेटी[2] का निर्माण हुआ जिसका अध्यक्ष डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट तथा मंत्री शिक्षा-अधीक्षक को बनाया गया । इस कमेटी के सदस्य (१) जिला बोर्ड के चेयरमैन, (२) जिला शिक्षा-निरीक्षक, (३) जिला नगरपालिका के चेयरमैन, (४) राज्य सरकार द्वारा नियुक्त गैर सरकारी सदस्य, और (५) राज्य सरकार द्वारा नियुक्त विधान-मण्डल के अधिक से अधिक ५ प्रतिनिधि । कानून द्वारा जिला शिक्षा-कोष के धन के व्यय का स्वामित्व शासन के हाथ में था । इस प्रकार प्राथमिक तथा मिडिल शिक्षा से सम्बन्धित बोर्डों के अधिकार को अत्यन्त सीमित कर दिया गया और प्रशासन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण अधिकारों को जिला शिक्षा-अधीक्षकों को हस्तान्तरित करके बिहार राज्य ने शिक्षा की पर्याप्त प्रगति की । स्कूल सब-इन्स्पेक्टर जो अब तक पूर्णतया नगरपालिका एवं बोर्ड के अध्यक्षों की देख-रेख में कार्य करते थे उन्हें जिला निरीक्षकों की अधीनता में कर दिया गया । इस प्रकार अब जिला निरीक्षक को इन सब-इन्स्पेक्टरों के स्थानान्तरण तथा निलम्बन[3] आदि में अध्यक्ष के परामर्श की आवश्यकता नहीं थी ।

---

१. District Education Fund.
२. Planning Committee.
३. Suspension.

माध्यमिक शिक्षा की प्रगति

भारतीय शिक्षा-पद्धति में माध्यमिक शिक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए स्वतन्त्रता के बाद इसे समुन्नत बनाने हेतु आयोगों की नियुक्ति, गोष्ठियों के आयोजन एवं परिषदों के निर्माण द्वारा शासन ने लक्ष्य-प्राप्ति की ओर प्रयास किया। शिक्षा के गुणात्मक तथा संख्यात्मक दोनों पक्षों की वृद्धि के लिए माध्यमिक शिक्षा-आयोग[1] की रिपोर्ट के अनुसार विद्यालयों के आकार-प्रकार, शिक्षा-पद्धति, पाठ्य-क्रम, पाठ्य-पुस्तकों एवं शिक्षा की अन्य सहायक सामग्रियों को बढ़ाने का प्रयास किया गया। मिडिल, हाई स्कूल एवं माध्यमिक स्कूलों और उनके छात्रों की संख्या बढ़ाकर लगभग दो गुनी कर दी गई। सन् १९५३-५४ में माध्यमिक स्कूलों की संख्या २५,६८४ और छात्रों की संख्या ६४·१३ लाख थी। १९५३-५४ में ५,७०० माध्यमिक शिक्षा के और विद्यालयों का शिलान्यास हुआ। फलतः छात्र-संख्या १४·५ लाख और बढ़ गई।

केन्द्रीय सरकार की ओर से माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन में ५०० बहूद्देशीय, ३०० विज्ञान के स्कूल खोले जा रहे हैं। दस्तकारी की शिक्षा की व्यवस्था तथा पुस्तकालयों को समुन्नत किया जा रहा है। अध्यापकों के शिक्षण की सुव्यवस्था और गोष्ठियाँ[2] आयोजित की जा रही हैं। अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा समिति[3] की स्थापना की गई। दिल्ली में प्रशिक्षण हेतु सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट आफ एजूकेशन का विस्तार किया गया। केन्द्रीय शासन द्वारा शिक्षा पर होने वाले आवर्तक व्यय का २५% एवं अनावर्तक व्यय का ६६ प्रतिशत दिया जाता है। दिल्ली में पाठ्य-पुस्तकों के सुधार हेतु केन्द्रीय पाठ्य-पुस्तक कार्यालय[4] की स्थापना की गई जो पाठ्य-पुस्तकों की उपयोगिता पर विचार करके उसे सर्वप्रकारेण उपयुक्त रूप प्रदान करने का प्रयास करता है।

केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार समिति का २६वाँ अधिवेशन केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री की अध्यक्षता में मद्रास में १३ जनवरी से १६ जनवरी १९५९ तक हुआ। इस अधिवेशन में विशेषकर माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया गया। माध्यमिक स्कूलों में शैक्षिक और व्यावसायिक निर्देशन सम्बन्धी पाठ्यक्रम के निर्धारण पर विचार किया गया। माध्यमिक स्कूलों के लिए छात्रावास तथा विज्ञान

---

१. Secondary Education Commission.

२. Seminar.

३. All India Council of Secondary Education.

४. Central Bureau of Textbook Research.

ऐसे विषयों के लिए अध्यापकों की समुचित संख्या के लिए केन्द्रीय सहायता पर विचार-विमर्श हुआ।

बिहार प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा में सुधार

अन्य राज्यों की भाँति स्वतन्त्रता के बाद बिहार राज्य में शिक्षा के पाठ्य-क्रम एवं परीक्षा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। लोक-शिक्षा-निर्देशक की विज्ञप्ति (१९४९) के अनुसार अनिवार्य विषयों के अतिरिक्त ८वीं तथा ९वीं कक्षा के लिए वैकल्पिक विषयों के चार वर्ग निश्चित किए गए। ये वर्ग वैज्ञानिक, मानवीय, कलात्मक एवं व्यापारिक विषय के थे। इन्हीं वर्गों के अनुसार १०वीं तथा ११वीं कक्षाओं के पाठ्य-क्रमों को भी संशोधित करके शिक्षा को अधिक उपयोगी बनाया गया। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् विद्यार्थी अपने वर्ग के व्यवसाय चुनने में पहले से अधिक समर्थ हो सकता है।

पटना विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित होने वाली मैट्रिक परीक्षा को १९५२ में बिहार स्कूल परीक्षा बोर्ड[1] नामक संस्था की स्थापना करके उसे दे दिया गया। परीक्षा के रूप और नाम को भी परिवर्तित कर दिया गया। इसे अब माध्यमिक स्कूल परीक्षा[2] कहा जाने लगा। १०वें तथा ११वें वर्ग की परीक्षा के २० प्रतिशत अंकों को दैनिक कार्य हेतु सुरक्षित कर दिया गया। शेष ८० प्रतिशत अंकों में लिखित परीक्षा होती थी। बिहार राज्य के विद्यालयों का सत्र जनवरी के बदले जुलाई से कर दिया गया। इस परीक्षण में बिहार की राज्य सरकार को आशातीत सफलता प्राप्त हुई और यह प्रचलित प्रणाली सर्वथा नवीन एवं अनु-करणीय है। इस प्रकार बिहार प्रदेश की शिक्षा-प्रणाली का पुनर्गठन शिक्षा एवं उसकी उपयोगिता की दृष्टि से बहुत अच्छी हो गई। परीक्षा की असेसमेन्ट[3] प्रणाली अपने ढंग की अनूठी प्रणाली थी।

विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रगति

स्वतन्त्रता के बाद विगत ग्यारह वर्षों के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों की शिक्षा में भी पर्याप्त विकास हुआ। १९४७ के पूर्व भारत में कुल २१ विश्वविद्यालय थे। देश के विभाजन के फलस्वरूप इनकी संख्या १९ हो गई। उच्च शिक्षा के प्रसार पर भारत सरकार ने पर्याप्त ध्यान दिया। १९५५ में भारतीय विश्वविद्या-लयों की संख्या बढ़कर ३३ और कला तथा विज्ञान कालेजों की संख्या ६५१ हो

---

१. School Examination Board.
२. Secondary School Examination.
३. Assesment.

गई । इनके अतिरिक्त २४२ व्यावसायिक और ८० विशिष्ट कालेज भी १९५४ में स्थापित किए जा चुके थे । १९४७-४८ में उच्च शिक्षा पर शासन द्वारा कुल ५·९९ करोड़ व्यय किया जाता था । विशिष्ट संस्थाओं, व्यावसायिक कालेजों, कला तथा विज्ञान कालेजों एवं उच्च शिक्षा बोर्ड में १९५३-५४ में यह खर्च बढ़ाकर २४·७४ करोड़ कर दिया गया । नीचे नवीन विश्वविद्यालयों का परिचयात्मक संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है :—

१—पंजाब विश्वविद्यालय (चन्दीगढ़)—पंजाब के पूर्वी क्षेत्र में इस सम्बद्धीय एवं शैक्षणिक विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९४७ ई० में की गई। पहले इसका प्रधान कार्यालय सोलन में था। अब यह चन्दीगढ़ में आ गया है ।

२—गौहाटी विश्वविद्यालय (आसाम)—यह भी शैक्षणिक एवं सम्बद्धीय दोनों है । इसकी स्थापना १९४८ ई० में हुई । फलस्वरूप कलकत्ता विश्वविद्यालय का क्षेत्रीय अधिकार आसाम से उठ गया ।

३—जम्मू तथा काश्मीर विश्वविद्यालय (श्रीनगर)—इस सम्बद्धीय विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९४८ ई० में हुई ।

४—रुड़की विश्वविद्यालय—सन् १९४८ ई० में रुड़की के थॉमसन कालेज को भारत के एकमात्र इंजीनियरिंग शिक्षा के शैक्षणिक विश्वविद्यालय का रूप दिया गया ।

५—पूना विश्वविद्यालय—इस शैक्षणिक एवं सम्बद्धीय विश्वविद्यालय की सन् १९४९ ई० में स्थापना करके महाराष्ट्र के कालेजों को इसके आधीन कर दिया गया ।

६—महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय (बड़ौदा)—इस विश्वविद्यालय का प्रारम्भ महाराजा जी की स्मृति में १९४९ ई० में हुआ । यह भी शैक्षणिक एवं सम्बद्धीय दोनों है । गृहविज्ञान, भारतीय संगीत, ललित कलाएँ एवं समाज-शिक्षा इसके प्रमुख विषय हैं । इन विषयों की शिक्षा का स्तर यहाँ काफी उच्च है । (इस विश्वविद्यालय की नींव १९४० में ही पड़ गई थी, परन्तु विश्वविद्यालय के रूप में यह १९४९ में ही आ सका)

७—गुजरात विश्वविद्यालय (अहमदाबाद)—इसकी स्थापना सन् १९५० ई० में हुई । यह शैक्षणिक एवं सम्बद्धीय दोनों है । इसके अधिनियम में उल्लेख किया गया था कि कुछ कालोपरान्त अंग्रेजी माध्यम समाप्त करके उसके स्थान पर हिन्दी या गुजराती या दोनों को अपनाया जावेगा ।

८—कर्नाटक विश्वविद्यालय (धारवाड़)—इस शैक्षणिक एवं सम्बद्धीय विश्वविद्यालय की स्थापना सन् १९५० ई० में हुई ।

९—बिहार विश्वविद्यालय—पटना विश्वविद्यालय के क्षेत्र को पटना निगम तक सीमित करके सन् १९५१ ई० में इसकी स्थापना की गई। यह पूर्णतया सम्बद्धीय इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कई कालेजों में इसके द्वारा शिक्षण का प्रबन्ध किया गया है ।

१०—एस० एन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय (बम्बई)—श्रीमती नाथें बाई दामोदर थैकरसे विद्यालय पहले महिला-शिक्षण की अखिल भारतीय संस्था थी। सन् १९५१ ई० में महिलाओं की शिक्षा हेतु इसे सम्बद्धीय विश्वविद्यालय में रूपान्तरित कर दिया गया ।

११—विश्व-भारती विश्वविद्यालय (शान्ति निकेतन)—विश्वकवि रवीन्द्र नाथ द्वारा स्थापित इस संस्था को सन् १९५१ में भारत सरकार द्वारा आवासिक, एकीय तथा शैक्षणिक विश्वविद्यालय का रूप दे दिया गया। इसके विशिष्ट विषय संस्कृत, ललित कला और शिक्षा हैं ।

१२—श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरीपती (मद्रास)—इस विश्वविद्यालय की स्थापना केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १९५४ ई० में की गई। यह आवासिक एवं शैक्षणिक दोनों है ।

१३—जादवपुर विश्वविद्यालय (कलकत्ता)—इस शैक्षणिक एवं सम्बद्धीय विश्वविद्यालय की स्थापना भारतीय सरकार द्वारा सन् १९५५ ई० में की गई ।

१४—सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ (विश्वविद्यालय), वल्लभनगर, आनन्द—इसकी स्थापना सन् १९५५ ई० में हुई । यह सम्बद्धीय है ।

इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त विश्वविद्यालय-आयोग की संस्तुति के आधार पर हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस एवं मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के साम्प्रदायिक स्वरूप में कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया । दिल्ली विश्वविद्यालय के भी अधिनियमों में कुछ परिवर्तन किए गए ।

उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालयों की आन्तरिक दलबन्दी दूर करने के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने आगरा, इलाहाबाद तथा लखनऊ के विश्वविद्यालयों के विधानों में आवश्यक संशोधन किया । अगले अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जायगा ।

१५—उत्तर प्रदेश में सन् १९५७ में गोरखपुर विश्वविद्यालय की स्थापना की गई है । गोरखपुर शैक्षणिक तथा सम्बद्धीय विश्वविद्यालय है ।

१६—सन् १९५७ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का उद्घाटन किया गया। इस संस्कृत विश्वविद्यालय में संस्कृत की उच्च शिक्षा दी जाती है और साथ ही संस्कृत के विविध क्षेत्रों में उच्च अनुसन्धान की भी इसमें व्यवस्था की गई है।

१७—जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर का प्रारम्भ १९५७ में हुआ। यह सम्बद्धीय विश्वविद्यालय है। १९५६ में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र का प्रारम्भ किया गया। यह शैक्षणिक और आवासिक है।

१८—सन् १९४७ में जयपुर में शैक्षणिक और सम्बद्धीय राजस्थान विश्वविद्यालय का जन्म हुआ।

१९—सन् १९५७ में उज्जैन में विक्रम विश्वविद्यालय का प्रारम्भ हुआ। यह आवासिक, शैक्षणिक और सम्बद्धीय विश्वविद्यालय है।

नई दिल्ली में स्थित इंडियन अग्रीकल्चर रीसर्च इन्स्टीट्यूट[1] को युनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन ऐक्ट के सेक्शन (३) के अनुसार १९५८ में विश्वविद्यालय घोषित कर दिया गया। अब इस शिक्षा-केन्द्र में आई० ए० आर आई०[2] डिप्लोमा के स्थान पर कृषि-विज्ञान में एम० एस-सी और पी-एच० डी० डिग्री के लिए शिक्षा दी जायगी। कृषि-क्षेत्र में जिस उच्चतर शिक्षा के लिए छात्र विदेश जाया करते थे वह शिक्षा उन्हें अब यहीं मिल जाया करेगी।

मिथिला (बिहार) में संस्कृत विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए बिहार की सरकार हर प्रकार का कदम सन् १९५८ से उठा रही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अक्टूबर १९५८ से विधान-सभा में आवश्यक नियम पास करने का प्रयत्न किया जा रहा है, और द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल के बीतने के पूर्व ही यह विश्वविद्यालय खुल जायगा।

उत्तर प्रदेश के कुमायूँ मण्डल में रुद्रपुर में कृषि-विश्वविद्यालय के निर्माण के लिए आवश्यक आयोजन किया जा चुका है। मार्च २२, १९५९ को श्री जवाहर लाल नेहरू द्वारा इसका शिलान्यास करना निश्चित किया जा चुका है। इसकी परिपक्व योजना के निर्माण के लिए अमेरिका से कृषि-विशेषज्ञ बुलाये गये हैं। आशा की जाती है कि १९६० तक यह विश्वविद्यालय अवश्य ही खुल जायगा।

औरंगाबाद (बम्बई) में मराठवाड़ विश्वविद्यालय का उद्घाटन श्री जवाहर लाल नेहरू द्वारा २३ अगस्त, १९५८ को किया जा चुका है।

---

१. Indian Agriculture Research Institute.

२. I. A. R. I.

उत्तर प्रदेश में कानपुर और मेरठ की जनता अपने-अपने शहर में अलग-अलग विश्वविद्यालय खोलने के लिए बड़ी प्रयत्नशील हो उठी है। आश्चर्य नहीं यदि तृतीय पंचवर्षीय योजना-काल में इनकी इच्छा पूरी हो जाय।

विश्व धर्मसंघ द्वारा प्राचीन तक्षशिला के आधार पर दिल्ली में एक विश्व-विद्यालय खोलने की योजना बनाई जा रही है। इस विश्वविद्यालय में अहिंसादर्श के अध्ययन और अध्यापन की व्यवस्था की जायगी। विश्व धर्म-सम्मेलन के निर्णय के अनुसार दिल्ली में अहिंसा-अनुसन्धान केन्द्र खोल दिया गया है। यह केन्द्र ही अन्ततोगत्वा विश्वविद्यालय का रूप लेगा। इस अनुसन्धान केन्द्र में पहले केवल १०० विद्यार्थी लिये जायेंगे और उन्हें संस्कृत, पाली और प्राकृत के माध्यम द्वारा अनुसन्धान करने की सुविधा दी जायगी। इस केन्द्र में 'योगासन' पाठ्य-क्रम का एक आवश्यक अंग होगा।

नीचे भारतीय विश्वविद्यालयों की उनके स्थापन-वर्ष के अनुसार क्रमिक तालिका दी जा रही है :—

भारतीय विश्वविद्यालयों का विवरण

विश्वविद्यालय का नाम	स्थापन-तिथि	प्रकार	छात्रों की संख्या सन् १९५५-५६ में	सम्बद्ध कालेजों की संख्या
१—कलकत्ता	१८५७ई०	सम्बन्धक एवं शिक्षण	१,००,१३६	१३६
२—बम्बई	१८५७ई०	संघीय और शिक्षण	३६,३०४	४२
३—मद्रास	१८५७ई०	सम्बन्धक और शिक्षण	५३,१७७	१३६
४—इलाहाबाद	१८८७ई०	आवासिक और शिक्षण	७,७३६	४
५—बनारस	१९१६ई०	आवासिक और शिक्षण	९,९५९	१९
६—मैसूर	१९१६ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	२४,३४७	४५
७—पटना	१९१७ई०	आवासिक एवं शिक्षण	८,४१७	१०
८—उस्मानिया	१९१८ई०	आवासिक एंव शिक्षण	१५,१३२	३५

विश्वविद्यालय का नाम	स्थापन-तिथि	प्रकार	छात्रों की संख्या सन् १९५५-५६ में	सम्बद्ध कालेजों की संख्या
९—अलीगढ़	१९२०ई०	आवासिक एवं शिक्षण	३,९५०	१
१०—लखनऊ	१९२०ई०	आवासिक एंव शिक्षण	१०,११३	१४
११—दिल्ली	१९२२ई०	सम्बन्धक एवं शिक्षण	११,६१५	२२
१२—नागपुर	१९२३ई०	सम्बन्धक एवं शिक्षण	१३,१५३	२८
१३—आन्ध्र, वाल्टेयर	१९२६ई०	सम्बन्धक एवं शिक्षण	३५,७२६	४७
१४—आगरा	१९२७ई०	सम्बन्धक	४१,१५९	७९
१५—अण्णामलाई	१९२९ई०	आवासिक और शिक्षण	२,४८३	अप्राप्त
१६—केरल, त्रिवेण्द्रम	१९३७ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	२९,८७८	४६
१७—उत्कल	१९४३ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	६,४०३	१९
१८—सागर	१९४६ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	६,९२५	१९
१९—राजस्थान, जयपुर	१९४७ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	१७,७२४	५३
२०—पंजाब, चंदीगढ़	१९४७ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	४८,१२५	११२
२१—गोहाटी	१९४७ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	१४,५७१	२२
२२—पूना	१९४८ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	१८,१८८	३३
२३—रुड़की	१९४८ई०	शिक्षण और आवासिक	५६७	
२४—जम्मूकश्मीर, श्रीनगर	१९४८ई०	शिक्षण एवं सम्बन्धक	५,६७०	२५
२५—बड़ौदा	१९४९ई०	शिक्षण और आवासिक	४,८०३	४

विश्वविद्यालय का नाम	स्थापन-तिथि	प्रकार	छात्रों की संख्या सन् १९५५-५६ में	सम्बद्ध कालेजों की संख्या
२६—कर्नाटक, धारवाड	१९५०ई०	सम्बन्धक और शिक्षण	७,६७५	१७
२७—गुजरात, अहमदाबाद	१९५०ई०	सम्बन्धक और शिक्षण	२०,९२४	४१
२८—एस०एन०टी०डी० महिला विश्वविद्यालय बम्बई	१९५१ई०	सम्बन्धक और शिक्षण	१,६१३	६
२९—विश्व भारती, शान्ति निकेतन	१९५१ई०	शिक्षण और आवासिक	५७९	६
३०—बिहार, पटना	१९५२ई०	सम्बन्धक और शिक्षण	३९,९९६	६२
३१—श्री वेंकटेश्वर, तिरीपती, (आन्ध्र)	१९५४ई०	सम्बन्धक एवं शिक्षण	४२८	१२
३२—जादवपुर, कलकत्ता	१९५५ई०	आवासिक और शिक्षण	१,३९६	२
३३—सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ, वल्लभनगर, आनन्द	१९५५ई०	सम्बद्धक	अप्राप्त	४
३४—कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र	१९५६ई०	आवासिक और शिक्षण	अप्राप्त	अप्राप्त
३५—गोरखपुर	१९५७ई०	शिक्षण और सम्बद्धक	अप्राप्त	अप्राप्त
३६—जबलपुर	१९५७ई०	सम्बद्धक	अप्राप्त	१७
३७—विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन	१९५७ई०	सम्बद्धक		अप्राप्त
३८—वाराणसेय संस्कृत, विश्वविद्यालय, वाराणसी	१९५७ई०	शिक्षण	अप्राप्त	अप्राप्त

इन नवीन विश्वविद्यालयों के खुलने पर विश्वविद्यालय-शिक्षा का माध्यम एक विवादास्पद विषय बन गया। अधिकतर भाषावार विश्वविद्यालयों के खुलने से प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम पर बल दिया गया। भारत सरकार भी विश्वविद्यालय-शिक्षा के माध्यम में परिवर्तन करना चाहती थी, किन्तु उसकी गति धीमी थी। उसका अनुमान यह था कि माध्यम को अचानक परिवर्तित कर देने से अध्यापकों एवं छात्रों को अनावश्यक कठिनाई उठानी पड़ेगी।

इन समस्याओं पर विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १९४८ ई० में सम्पूर्ण विश्वविद्यालयों के उप-कुलपतियों का एक सम्मेलन किया गया जिसने बहुत से महत्त्वपूर्ण सुझाव विश्वविद्यालय-शिक्षा के सम्बन्ध में प्रदान किये।

कुछ विद्वान बहुत दिनों से विश्वविद्यालय-शिक्षा की आलोचना में लगे थे। उनका विचार था कि बढ़ती हुई विश्वविद्यालय की शिक्षा में व्यावसायिक क्षमता का अभाव है। इससे बेकारी बढ़ रही है। अतः विश्वविद्यालय-शिक्षा का पुनर्गठन होना चाहिए एवं उसे सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना चाहिए। समय-समय पर 'अन्तर्विश्वविद्यालय बोर्ड' एवं 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार परिषद' द्वारा भी इन विचारों का सम्मान हुआ। अतः विश्वविद्यालय-शिक्षा का भलीभाँति परीक्षण कर उसे युग की आवश्यकताओं के अनुकूल पुनर्गठित करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने ४ नवम्बर सन् १९४८ ई० में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक 'विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' की नियुक्ति की। इस आयोग की रिपोर्ट का विवरण ४१वें अध्याय में दिया जा चुका है। आयोग की रिपोर्ट से जनता तथा सरकार दोनों को हर्ष हुआ और सरकार ने आयोग के सुझावों को विश्वविद्यालयों में यथासम्भव कार्यान्वित करने का आदेश दिया। नवम्बर सन् १९५३ ई० में पुनः 'केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' ने आयोग की सिफारिशों के औचित्य पर विचार किया और केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री को इस बात के लिए परामर्श दिया कि आयोग की सिफारिशों के कार्यान्वयन की जाँच एवं प्रचलन में तीव्रता लाने के लिए एक समिति की स्थापना की जाय।

फलतः इस सम्बन्ध में एक समिति की नियुक्ति की गई एवं उसने अपनी जाँच रिपोर्ट एवं सुझाव केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड के समक्ष उपस्थित किया। 'केंद्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड' ने समिति की रिपोर्ट पर ७ फरवरी सन् १९५४ ई० को अपने २१वें अधिवेशन में विचार किया। समिति के द्वारा निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये गये :—

१—विश्वविद्यालयों की आन्तरिक दलबन्दी को दूर करने के लिए विश्वविद्यालयों के विधानों में संशोधन किये जायँ।

२—उप-कुलपतियों की नियुक्ति में सभी विश्वविद्यालय दिल्ली विश्वविद्यालय का अनुकरण करें।

३—शिक्षकों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाय।

४—विद्यार्थियों के रहने के लिए विश्वविद्यालयों में समुचित छात्रावासों की व्यवस्था की जाय।

५—शिक्षण-पद्धति में 'ट्यूटोरियल' शिक्षण-पद्धति व्यवहृत की जाय।

६—निर्धन एवं प्रतिभा-सम्पन्न छात्रों के उत्साहवर्धन के लिए अधिक छात्र-वृत्तियों की व्यवस्था की जाय।

उपर्युक्त सभी सुझाव बोर्ड द्वारा प्रायः स्वीकृत हो गये हैं। 'विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' की सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय सरकार द्वारा एक 'विश्व-विद्यालय अनुदान समिति' की स्थापना की गई एवं इस समिति को सन् १९५३ ई० में एक 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' के रूप में परिणत कर दिया गया। इसका विस्तृत वर्णन पीछे किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त मानव-विज्ञानों के अध्ययन में प्रोत्साहन दिलाने के लिए केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५४ ई० से एम० ए० के बाद इस विषय में अनुसन्धान करने वाले १०० छात्रों के लिए २०० रु० प्रतिमास की छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की है।

कतिपय शिक्षा-विशेषज्ञों एवं राजनीतिज्ञों का मत है कि अब भारत में विश्वविद्यालय-शिक्षा का विकास अवांछनीय है, क्योंकि इससे हमारी प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा को आघात पहुँचता है। हमें शिक्षा की जड़ को दृढ़ बनाने की आवश्यकता है। किन्तु यह मत युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। हमारे देश में अभी क्या प्राथमिक, क्या माध्यमिक, क्या उच्च सभी प्रकार की शिक्षा में भारी कमी है। अतः शिक्षा के सभी क्षेत्रों में विकास की आवश्यकता है। विश्वविद्यालय-शिक्षा राष्ट्र की प्रगति का विशेष अंग होती है। परन्तु हमारे देश में विश्वविद्यालयों की संख्या अन्य देशों के विश्वविद्यालयों की संख्या के अनुपात में बहुत ही कम है। इस कमी का अनुभव सन् १९४४ ई० में 'सार्जेण्ट रिपोर्ट'[१] में भी किया गया है। द्वितीय महायुद्ध से पहले जर्मनी में विश्वविद्यालयों के छात्रों की संख्या का अनुपात वहाँ की जनसंख्या का १:६९० था। ग्रेट ब्रिटेन में विश्वविद्यालय के छात्रों का अनुपात १:८३७, रूस में १:३००, अमरीका में १:२२५ तथा भारत में यह अनुपात केवल १:२२०६ था। 'सार्जेण्ट रिपोर्ट' (१९४४) में विभिन्न देशों में विश्वविद्यालयों की संख्या इस प्रकार है :

१. Post-war plan of Educational Development (1944) p. 28-29.

देश	जनसंख्या	विश्वविद्यालयों की संख्या
इंगलैंड	४·१ करोड़	१२
कनाडा	८५ लाख	१३
आस्ट्रेलिया	५५ लाख	६
संयुक्त राज्य अमरीका	१३ करोड़	१७२० वि० वि० शि० संस्थायें
भारतवर्ष	४० करोड़	१८

भारत में उच्च शिक्षा की आवश्यकता बतलाते हुए विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग ने बतलाया है कि हमारे देश में विश्वविद्यालय की शिक्षा अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। उदाहरण के लिए सन् १९४६-४७ ई० में अमरीका की १५ करोड़ जनता में से २०,७८,०९५ छात्र विश्वविद्यालय-शिक्षा प्राप्त कर रहे थे तथा भारत में ३२ करोड़ जनता में से केवल २,४१,७९४ छात्र विश्वविद्यालयों की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। उपर्युक्त आँकड़ों से पता चलता है कि अमरीका में विश्वविद्यालय के छात्रों की संख्या भारत में विश्वविद्यालयों के छात्रों की संख्या की आठ गुनी से अधिक थी। अतः भारत में विश्वविद्यालय-शिक्षा को बढ़ाना नितान्त आवश्यक है।

विश्वविद्यालयों में अनुसंधान-कार्य

शिक्षा में अनुसन्धान-कार्य का बहुत महत्त्व है। यह कार्य उच्च शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त प्रतिभा-सम्पन्न छात्रों द्वारा किया जाता है। अनुसन्धान-कार्य हमारे देश के विश्वविद्यालयों में २० वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में प्रारम्भ हुआ एवं सन् १९३७ ई० में जन-प्रिय सरकारों के समय में इस कार्य में पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध के छिड़ जाने से यह कार्य बहुत धीमा पड़ गया। सन् १९४७ ई० में स्वाधीनता प्राप्त करने के उपरान्त हमारी सरकार का ध्यान विशेष रूप से इस ओर आकृष्ट हुआ। फलतः शिक्षा के विविध विषयों में अनुसंधान-कार्य आरम्भ हुआ। वर्तमान समय में कला के विभिन्न क्षेत्रों, औद्योगिक शिक्षा एवं नैसर्गिक विज्ञानों में अनुसंधान पर बहुत ध्यान दिया जा रहा है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् उच्च शिक्षा में अनुसन्धान की भी कुछ प्रगति हुई। अनुसन्धान की प्रगति के उपकरणों को हम तीन रूपों में विभक्त कर सकते

हैं। प्रथम छात्रवृत्तियाँ, द्वितीय परिषदों एवं भाषणों का आयोजन एवं तृतीय विभिन्न संस्थाओं का संस्थापन है जो अनुसन्धान-कार्य में विशेष रूप से सहायक हुए।

दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर १५०) रु० की तीन अनुसन्धान फेलोशिप और इतिहास एवं अर्थशास्त्र में तीन अन्य छात्रवत्तियाँ स्वीकृत की गईं। संस्कृत के स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान हेतु बिहार सरकार ने दरभंगा में मिथिला इन्स्टीट्यूट तथा नालन्दा में पाली के अध्ययन हेतु मगध इन्स्टीट्यूट की स्थापना की। जायसवाल इन्स्टीट्यूट पटना, ने विशेष प्रगति की। बम्बई में १२ प्रगतिशील संस्थाओं ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किए जिनमें निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं:—

१—भौतिक प्रयोगशाला (अहमदाबाद), २—आर्थिक तथा सामाजिक विभाग (बम्बई विश्वविद्यालय), ३—इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स, ४—टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फन्डामेन्टल रिसर्च तथा ५—टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज। राष्ट्रभाषा-परिषद, बिहार ने हिन्दी में विख्यात विद्वानों के महत्त्वपूर्ण भाषणों का आयोजन किया और विभिन्न विषयों के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी में प्रकाशित करवाया। इसके अतिरिक्त प्राचीन रचनाओं के अन्वेषण में भी महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त की।

हमारे देश में विश्वविद्यालयों में अनुसन्धान-कार्य को व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ करने का श्रेय सर आसुतोष मुकर्जी को है। इन्होंने सन् १९१४ ई० से कलकत्ता विश्वविद्यालय में अनुसंधान-कार्य प्रारम्भ किया, जिसके परिणामस्वरूप भारत के सभी विश्वविद्यालयों में विज्ञान एवं कला के क्षेत्रों में अनुसंधान-कार्य को प्रोत्साहन मिला और नित्य प्रति नवीन अनुसंधान हो रहे हैं। अनुसंधान-कर्त्ताओं को पी-एच० डी०, डी० लिट० एवं डी० एस-सी० की उपाधियाँ उनके विषयों के अनुसार प्रदान की जाती हैं। इस समय भारत सरकार द्वारा विश्वविद्यालयों को अनुसंधान-अनुदान दिया जाता है एवं इस कार्य के लिए विदेश जाने वाले विद्यार्थियों को छात्र-वृत्तियाँ भी दी जाती हैं।

स्वाधीनता के बाद हमारी सरकार ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है, किन्तु अन्य देशों की प्रगति को देखते हुए भारत में अनुसन्धान-कार्य बहुत पिछड़ा हुआ है। अनुसंधान-कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का होना चाहिए। सन् १९४८ ई० में विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग ने पता लगाया है कि गत १० वर्षों के अन्दर भारत के सभी विश्वविद्यालयों में २६० छात्रों को ६ विज्ञानों के अनुसंधान-कार्य में डाक्टर की उपाधियाँ प्रदान की गई हैं जब कि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में केवल सन् १९३५ ई० में ४०० से अधिक छात्र अनुसंधान-कार्य में लगे हुए थे। इससे स्पष्ट है कि भारत में अनुसंधान-कार्य के विकास की बहुत आवश्यकता है।

भारत में अनुसंधान-कार्य के पिछड़ेपन का कारण निम्नलिखित है :—

१—विश्वविद्यालयों के अध्यापकों का वेतन कम होने के कारण योग्य व्यक्ति इस विभाग में नहीं आते।

२—विश्वविद्यालयों में अनुसंधान में सहायक उपकरणों का अभाव है; जैसे पर्याप्त सज्जा, समुचित अनुसंधान-शाला एवं उच्च स्तर के पुस्तकालयों की कमी इत्यादि।

३—शिक्षकों में अनुसंधान-कार्य के लिए प्रोत्साहन का अभाव है। विश्वविद्यालय के शिक्षकों का वेतन बहुत कम है एवं उन्हें अनुसंधान करने वाले छात्रों का भी निरीक्षण करना पड़ता है। इसके लिए उन्हें प्रायः कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता।

४—हमारे देश की जनता अधिकांशतः निधन है। अतः विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रह जाते हैं।

परन्तु अब हमारी सरकार एवं देश के धन-पतियों का ध्यान इस दिशा में जाने लगा है और अनुसंधान-कार्य को कुछ प्रोत्साहन मिलने लगा है। हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना में कई महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों का बड़ा महत्त्व है। प्रत्येक देश अधिक से अधिक वैज्ञानिक अनुसंधान करने में अपनी गरिमा समझता है। आधुनिक युग में प्रगतिशील देशों के वैज्ञानिक केवल पार्थिव अनुसंधानों से ही सन्तुष्ट नहीं हैं, वे चन्द्रलोक तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी उद्देश्य से सन् १९५७ ई० तथा १९५८ ई० में रूस ने कृत्रिम चाँद छोड़ा था जिसका अनुकरण करने का प्रयत्न अमरीका ने भी किया है। यह स्पष्ट है कि प्रयास-परायण रहने पर उन्हें कभी न कभी सफलता अवश्य प्राप्त होगी ही। अतः भारत को भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आगे बढ़ाने के लिए अनुसंधान-कार्य में बढ़ना नितान्त आवश्यक है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग[1] एवं उसके कार्य

भारत सरकार ने, सन् १९५३ ई० में, विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग की संस्तुति के आधार पर, उच्च शिक्षा के गुणात्मक विकास एवं समुचित आयोजन की आवश्यकता पर ध्यान देते हुए डा० भटनागर (अब स्वर्गीय) की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना की। सन् १९५५ ई० में इस आयोग के कार्य-कलापों एवं महत्त्व पर बल देते हुए संसद में कानून पास करके इसे वैधानिक अस्तित्व प्रदान किया गया। आयोग में विश्वविद्यालयों के ३ उपकुलपतियों, ४ सुप्रसिद्ध

१. University Grants Commission.

शिक्षा-शास्त्रियों एवं २ केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधियों को सदस्यता प्रदान की गई। इस आयोग के प्रमुख कार्य उच्च शिक्षा के मापदण्ड का निर्धारण, विभिन्न विश्वविद्यालयों के मानों में समानता लाना, विकास-योजनाओं का कार्यान्वयन तथा विश्वविद्यालयों के अनुदानों के धन को निर्दिष्ट करना था।

इस आयोग ने अपने कार्य-क्षेत्र में आशातीत सफलता प्राप्त की। उच्च शिक्षा के विकास में सन् १९५४-५५ में इसके द्वारा विश्वविद्यालयों को १·९४ करोड़ एवं १९५५-५६ में ३·५ करोड़ रुपए दिए गये।

उपर्युक्त आयोग की स्थापना के अतिरिक्त विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग की अन्य संस्तुतियों पर भी शासन द्वारा विशेष रूप में ध्यान दिया गया। दूसरे देशों में भारतीय विश्वविद्यालयों की उपाधियों को मान्यता दिलाने के प्रयास हेतु अन्तर्विश्वविद्यालय मंडल[1] स्थापित किया गया। इस बोर्ड द्वारा सन् १९५३ ई० में विश्वविद्यालयों के कुलपतियों एवं शिक्षा-मंत्रियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य उच्च शिक्षा के स्तर को ऊपर उठाना था।

शिक्षाप्रद एवं सृजनात्मक इतर पाठ्यक्रम[2] के कार्य

इतर पाठ्यक्रम के कार्यक्रमों को भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् विश्वविद्यालय तथा कालेजों ने अपनाया। लगभग सभी विश्वविद्यालयों एवं कालेजों में छात्र-संघों, मंडलों, सहयोगी सोसाइटियों, संगीत-नाट्य-सभाओं, समाज-सेवादलों की स्थापना हुई। विद्यालयों में भी सामाजिकता का प्रस्फुटन हुआ जो जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है। अन्तर्विश्वविद्यालयीय एवं अन्तर्विद्यालयीय प्रतियोगिताएँ भी आयोजित होने लगीं। भारत सरकार की नेशनल कैडेट कोर[3] योजना वांछित मन्तव्य की प्राप्ति में विशेष प्रगतिशील हुई। सन् १९५१ ई० में बड़ौदा विश्वविद्यालय ने हिमालय की 'पिन्डारी ग्लेसियर' की चढ़ाई का आयोजन किया।

वयस्क अथवा सामाजिक शिक्षा का विकास

शिक्षा की दृष्टि से भारत बहुत ही पीछे था। सम्पूर्ण देश में निरक्षरता का साम्राज्य था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व भारतीय मंत्रिमंडल ने इस ओर ध्यान दिया था, परन्तु मंत्रियों के पद-त्याग एवं द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप इसकी प्रगति में शिथिलता आ गई थी। स्वतंत्रता के बाद जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली-व्यवस्था की स्थापना ने वयस्क शिक्षा के महत्त्व पर ध्यान देते हुए पुनः इस ओर

---

१. Inter-University Board.
२. Extra Curricular activities.
३. N. C. C.

प्रयास किया। वयस्क शिक्षा को साक्षरता की संकीर्णता से ऊपर उठाकर इसे सामाजिक शिक्षा की विस्तृत सीमा में प्रतिष्ठित करने के प्रयास किए जाने लगे। फलतः साक्षरता के अतिरिक्त नागरिकता, स्वास्थ्य, स्वच्छता, मौलिक शिक्षा किंबहुना वयस्कों की समस्त मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सम्बन्धी ज्ञान का सन्निवेश करके इसकी गुणात्मक एवं बलात्मक उन्नति की ओर ठोस कदम उठाया गया। जन-सामान्य की आर्थिक स्थिति पर ध्यान देते हुए उनके मस्तिष्क को विकसित करने के साथ ही साथ उनमें व्यावसायिक कुशलता उत्पन्न करने का भी प्रयास किया गया। इस दिशा में यूनेस्को द्वारा प्राप्त मौलिक शिक्षा[1] की प्रेरणा का भी विशेष महत्त्व है।

सामाजिक शिक्षा के विकास में यद्यपि केंद्रीय सरकार द्वारा आवश्यक निर्देश एवं आर्थिक सहायता अवश्य मिलती रही, परन्तु राज्यीय सरकारों ने इसके सम्पूर्ण उत्तरदायित्व को प्रायः अपने ऊपर ही ले लिया। गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा भी इसकी प्रगति में पर्याप्त सहायता मिली। इनमें अखिल भारतीय वयस्क शिक्षा सभा[2] ने प्रशंसनीय योग प्रदान किया। सन् १९४९ ई० में मैसूर में एशियायी देशों की एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी हुई। इस गोष्ठी ने भारतीय वयस्क शिक्षा के विकास पर विचार करने के पश्चात् निश्चय किया कि इसे समुन्नत बनाने हेतु केन्द्रीय सरकार को चाहिए कि वह वयस्कों हेतु सरल साहित्य-निर्माण केन्द्र की स्थापना करे। गोष्ठियों के आयोजन द्वारा वयस्क शिक्षा की समस्याओं पर विचार किया जाय। सलाहकारिणी समितियों का निर्माण हो जो शिक्षा के सुग्राह्यता सम्बन्धी उपादानों का संयोजन करें। राज्य सरकारों को भी प्रादेशिक गोष्ठियों के आयोजन एवं उपादानों के उपलब्ध करने में केन्द्रीय शासन की सहायता करने का भार सौंपा गया। अनुसंधान-कार्य पर भी विशेष बल दिया गया।

केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति ने सन् १९४८ के प्रारम्भ में पुनर्वास-मंत्री की अध्यक्षता में एक वयस्क शिक्षा कमेटी[3] की स्थापना की। इस कमेटी ने सामाजिक शिक्षा की एक योजना को प्रस्तुत करते हुए केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति का ध्यान सामाजिक शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति की ओर आकर्षित किया। इनमें से नागरिकता के अधिकार, संस्कृति के प्रति श्रद्धा, नागरिक-कर्त्तव्यों के प्रति जागरूकता एवं भारतीय गणतंत्र के प्रति स्नेह उत्पन्न करना इस शिक्षा के मुख्य ध्येय बताये गये।

---

१. Fundamental Education.

२. All India Adult Education Association.

३. Adult Education Committee.

समाज-शिक्षा कौंसिल की स्थापना की संस्तुति करते हुए योजना ने त्रिवर्षीय कार्य-क्रम प्रस्तुत करके बताया कि इस अवधि में ५० प्रतिशत वयस्क साक्षर हो जावेंगे। केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति ने इन सिफारिशों को स्वीकार करके सामाजिक शिक्षा का परिचालन निर्देशक परियोजना[1] के नाम से १९४९ ई० में प्रारम्भ किया। दिल्ली में आयोजित शिक्षा-मंत्रियों के सम्मेलन ने इसे फरवरी १९४९ में स्वीकार किया और केन्द्रीय शासन द्वारा इस पर १९४९-५० में ५९·६७ लाख रुपया खर्च किया गया। इसी वर्ष जुलाई में आयोजित समाज-शिक्षा-अधिकारियों की बैठक ने दृश्य-श्रव्य उपादानों एवं भ्रमणशील पुस्तकालयों की माँग प्रस्तुत करते हुए सामाजिक शिक्षा का पाठ्य-क्रम निर्दिष्ट किया। इसके अतिरिक्त शिक्षकों को प्रशिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था पर शासन का ध्यान आकर्षित किया गया।

अप्रैल सन् १९५१ ई० में दिल्ली में शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। सम्मेलन ने साक्षरों के लिए सरल साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं एवं टीचर्स हैंडबुक के प्रकाशन की सिफारिश की जो कि शासन द्वारा स्वीकार की गई और विश्वकोष प्रकाशन की अनुमति दी गई। शासन द्वारा जनता-कालेजों की स्थापना की गई। श्रव्य एवं दृश्य उपादानों के लिए सचल-चलचित्र एवं भ्रमणशील पुस्तकालयों और प्रदर्शनियों की व्यवस्था की गई। इसे शिक्षा-कारवाँ[2] की संज्ञा दी गई। यूनेस्को के तत्वावधान में दिल्ली और मैसूर में दृश्य तथा श्रव्य उपादानों के विकास हेतु आयोजित सम्मेलन की संस्तुति के आधार पर प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये। सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन, दिल्ली ने एक सस्ते प्रोजेक्टर का निर्माण करके इस समस्या को काफी सरल कर दिया।

सरकार के इन प्रयासों के फलस्वरूप सन् १९४७-५३ में भारत में २·४ लाख सामाजिक शिक्षा-कक्षाओं द्वारा ६० लाख वयस्कों को शिक्षित किया गया। इस दिशा में भारतीय सेना का कार्य प्रशंसनीय रहा। सेना की निरक्षरता का लोप हो गया। इस अवधि में सामाजिक शिक्षा पर लगभग ४ करोड़ रुपया व्यय किया गया। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामाजिक शिक्षा पर व्यय की जाने वाली प्रस्तावित धनराशि ७·५ करोड़ एवं द्वितीय योजना में ५ करोड़ थी।

राष्ट्रीय प्रसार-सेवा तथा सामुदायिक विकास-योजनाओं[3] का सामाजिक शिक्षा के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि

१. Guide Plan.
२. Educational Carvans.
३. Community Project.

सामाजिक शिक्षा का अर्थ केवल जन-वर्ग को साक्षर बना देना ही नहीं है, अपितु उन्हें अपने उत्तरदायित्व एवं राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों से परिचित कराकर राष्ट्र और विश्व की उन्नति में सक्रिय भाग लेने योग्य बनाना है। इस दृष्टि से सामुदायिक विकास-योजना के सभी कार्य सामाजिक शिक्षा के ही विभिन्न अंग हैं। सामुदायिक योजना अपने अभीष्ट की प्राप्ति में विशेष रूप से सफल है। इनके आधीन १९५४ तक ४६७ विकास-केन्द्र[1] खोले जा चुके थे। इनमें १२,२९५ वयस्क शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना करके १,७५,९७५ वयस्कों को शिक्षा प्रदान की गई। इस योजना के अन्तर्गत सामाजिक शिक्षा-संगठन-कर्त्ताओं के प्रशिक्षण-केन्द्रों की भी स्थापना की गई। इन केन्द्रों में से एक केन्द्र महिलाओं का भी है। इस प्रकार इस मद में कुल २९,९७,३५० रु० व्यय किए गये।

व्यावसायिक एवं विशिष्ट शिक्षा

'आवश्यकता आविष्कार की जननी है।' स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमें अपने पैरों पर खड़े होने का अवसर प्राप्त हुआ। फलतः अपनी पृष्ठ-भूमि के निर्माण हेतु देश को उन्नतशील करने में विश्व-व्यापी औद्योगीकरण को देखकर हम कैसे चुप रह सकते थे। इस निर्माण के युग में निर्माणकर्त्ताओं के प्रजनन की व्यवस्था करने में भारत ने भी विशेष प्रगति की। सन् १९४७ में केवल ६,६०० छात्रों की टेकनिकल[2] शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था थी। १९५३ में इस संख्या को बढ़ाकर १२,७०० कर दिया गया। टेकनिकल शिक्षा की प्रगति दो रूपों में हुई। प्रथम शिक्षा-प्राप्ति की सुविधाओं की व्यवस्था और द्वितीय इस शिक्षा के प्रमुख विभागों के विशेषीकरण की शिक्षा का आयोजन किया गया। कुछ इसी ध्येय से सन् १९४५ ई० में 'आल इंडिया कौंसिल आफ टेकनिकल एजूकेशन'[3] की स्थापना हुई थी। इसके द्वारा ७ बोर्ड आफ इन्डस्ट्रीज और ४ क्षेत्रीय कमेटियाँ नियुक्त की गई थीं। इसके द्वारा निर्मित योजना को स्वीकार करते हुए शासन ने २५·५ लाख आवर्तक एवं १६२ लाख अनावर्तक अनुदान भी स्वीकृत किया जिनसे १५ संस्थाओं में इस शिक्षा को विस्तृत एवं सुव्यवस्थित किया गया। इस योजना को भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में ज्यों का त्यों सम्मिलित करके टेकनिकल शिक्षा के सर्वांगीण विकास की ओर महत्त्वपूर्ण एवं सफल प्रयास किये गए।

---

१. Development Blocks.

२. Technical.

३. All India Council of Technical Education.

विभिन्न क्षेत्रीय संस्थाओं की स्थापना

सन् १९५२ ई० में इंजीनियरिंग एवं टेकनॉलॉजी के विशिष्ट अध्ययन हेतु खड़गपुर (पश्चिमी बंगाल) में इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेकनॉलॉजी की स्थापना हुई। जमशेद जी टाटा द्वारा स्थापित बंगलौर के 'इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स' नामक संस्था के विकास पर शासन ने १७७ लाख रुपया व्यय किया। दिल्ली में नगर एवं ग्राम पुनर्निर्माण परियोजना के अन्तर्गत 'स्कूल ऑफ टाउन एण्ड कन्ट्री प्लानिंग' की स्थापना हुई। बम्बई में टेकनॉलॉजी की विशिष्ट शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा की प्रगति हेतु तीन कमेटियों का निर्माण किया गया, जिन पर इनके आयोजन, प्रसार एवं संवहन का भार था। इन कमेटियों के नाम मानवी शक्ति कमेटी, वैज्ञानिक कमेटी एवं समुद्र-पार छात्रवृत्ति कमेटी थे। इनके नामकरण कार्यों के आधार पर किए गए थे। इन कमेटियों द्वारा टेकनिकल एवं इंजीनियरिंग की कुल १९५४ ई० तक १,३९० सीनियर एवं ८७८ जूनियर छात्रवृत्तियाँ अनुसन्धान और विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करने हेतु प्रदान की गईं। इसके अतिरिक्त पाठ्य-सामग्री एवं सज्जा के क्रय हेतु विभिन्न संस्थाओं को २·५ करोड़ का अनुदान दिया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १९५५ तक केन्द्रीय सरकार ने टेकनिकल शिक्षा की प्रगति के लिए १·४४ करोड़ अनुदान तथा छात्रावासों के निर्माण हेतु ९८ लाख रुपए विभिन्न संस्थाओं को ब्याज-रहित ऋण के रूप में दिया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश की चिकित्सीय शिक्षा की भी आशातीत प्रगति हुई। १९५५-५६ में ४२ मेडिकल कालेज, २ मेडिकल स्कूल तथा ५ एलोपैथिक संस्थायें क्रियाशील की गईं। इन कालेजों में ६ कालेज दन्त-चिकित्सा के थे। अखिल भारतीय मेडिकल इन्स्टीट्यूट[1] की स्थापना की गई। इस पर कुल अनुमानित व्यय ६·१ करोड़ रुपया हुआ। सहायक चिकित्सकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। विशिष्ट रोगों के ६ इन्स्टीट्यूट खोले गये। प्रयोगशालाओं का भी पुनरुद्धार करने के अतिरिक्त स्थापना भी की गई। आयुर्वेदिक चिकित्सा के ४० कालेज एवं देशी चिकित्सा के विकास हेतु सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ रिसर्च की स्थापना की गई। होमियोपैथी चिकित्सा के विकास पर भी कुछ ध्यान दिया गया।

स्त्री-शिक्षा का विकास

सन् १९४७ ई० के बाद स्त्री-शिक्षा की प्रशंसनीय प्रगति हुई। १९४७-४८ में शिक्षा प्राप्त करने वाली कन्याओं की संख्या ३,००,००० थी जो १९५४ में

---

१. All India Medical Institute.

बढ़कर ७५,५४,६२६ हो गई। देश के लगभग सभी प्रान्तों में स्त्री-शिक्षा की विशेष प्रगति हुई। अजमेर, बम्बई, मद्रास, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि सभी प्रान्तों में इस अवधि में लगभग दो गुनी प्रगति हुई। यह प्रगति शिक्षा के प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च सभी स्तरों में हुई। कालेजों, स्कूलों की संख्या में अनुपाततः उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी की छात्राओं की संख्या में।

केन्द्रीय सरकार ने स्त्री-शिक्षा में आवश्यक सुधार लाने के लिए मई १९५८ में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में स्त्री-शिक्षा के लिए एक राष्ट्रीय समिति[१] स्थापित की। इस समिति ने जनवरी ५, १९५९ को सरकार को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस समिति ने कहा है कि स्त्री-शिक्षा को देश की शिक्षा-समस्याओं में एक प्रमुख स्थान देना है। पुरुष-शिक्षा और स्त्री-शिक्षा के बीच जो खाई है उसे मिटाने के लिए दृढ़ता के साथ प्रयत्न करना होगा।[२] स्त्री-शिक्षा की समस्या इतनी गूढ़ और गम्भीर है कि केन्द्रीय सरकार को इसका पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को यह देखना चाहिए कि बालकों और बालिकाओं की शिक्षा में शीघ्रातिशीघ्र समानता आ जाय। इसके लिए केन्द्रीय सरकार को एक निश्चित योजना बनानी चाहिए और इस योजना की पूर्ति के लिए एक समय निर्धारित कर देना चाहिए। इसके लिए उसे राज्यीय सरकारों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए जिससे विभिन्न राज्यों में केन्द्रीय सरकार की नीति के अनुसार स्त्री-शिक्षा का प्रसार किया जा सके। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि केन्द्रीय सरकार को शिक्षा-मन्त्रालय में अलग से स्त्री-शिक्षा विभाग खोलना चाहिए और इस विभाग का अध्यक्ष संयुक्त शिक्षा-परामर्शदाता (ज्वाइण्ट एजूकेशनल ऐडवाइजर) के पद का हो। राज्यीय सरकारों को अपने-अपने राज्यों में स्त्री-शिक्षा को राज्यीय समिति[३] स्थापित करना चाहिए। ये समितियाँ किसी स्त्री की ही अध्यक्षता में रहेंगी और ये शित्री-शिक्षा के संगठन, नियोजन और प्रसार का सारा

---

१. The National Committee on Women's Education.

२. The education of women should be regarded as a major special problem in education for a good many years to come and a bold and determined effort be made to face its difficulties and magnitude and to close the existing gap between the education of men and women in as short time as possible.—The Report of the National Committee on Women's Education, reported in the Pioneer, Dated January 27, 1959.

३. State Councils of the Education of Girls and Women.

कार्य करेंगी। स्त्री-शिक्षा के हित में सभी स्थानीय संस्थाओं, शिक्षक-संघों तथा अफसरों का सहयोग प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। रिपोर्ट ने यह भी कहा है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में स्त्री-शिक्षा के लिए जो कुछ धन खर्च किया जा रहा है उसके अलावा १० करोड़ रुपये और खर्च करने चाहिए। 'विश्वविद्यालय अनुदान समिति' को एक करोड़ रुपये और अधिक स्त्री-शिक्षा के लिए देना चाहिए जिससे स्त्रियों के लिए कालेजों तथा छात्रावासों का समुचित प्रबन्ध किया जा सके। ग्रामीण क्षेत्र में स्त्री-शिक्षा-प्रसार का विशेष प्रयत्न करना चाहिए। ग्रामीण क्षेत्र में स्त्री-शिक्षा का पूरा व्यय-भार सरकार पर होना चाहिए और शहरों में यह व्यय-भार केवल ७५ प्रतिशत ही रखा जा सकता है।

शारीरिक एवं व्यायाम-शिक्षा का विकास

मानसिक स्वस्थता का आधार शारीरिक स्वस्थता है। अतः शिक्षा की उन्नति में शारीरिक शिक्षा का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भारतीय नागरिकों की सर्वांगीण उन्नति के ध्येय से भारतीय सरकार द्वारा शारीरिक शिक्षा के विकास पर अधिक बल दिया गया। इसकी प्रगति हेतु विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन एवं मण्डलों की स्थापना की गई। इनमें 'इंडियन ओलियम्पिक एसोसिएशन', 'भारत स्काउट्स एण्ड गाइड्स', 'नेशनल कैडेट कोर' आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। आलियम्पिक एसोसिएशन ने १९५१ ई० में एक एशियायी खेल सम्मेलन का आयोजन किया। इसी वर्ष शिमला में संयुक्त राष्ट्रसंघ युवक-कल्याण गोष्ठी का आयोजन हुआ। बिहार प्रान्त में शारीरिक शिक्षा के ६ स्कूल को सुव्यवस्थित किया गया और एक कालेज का शिलान्यास हुआ। मुजफ्फरपुर के कालेज के विकास पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। हनुमान व्यायाम प्रसारक मण्डल अमरावती को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी गई। टीमों[१] की प्रतियोगिता में भाग लेने हेतु विदेशों में भेजा गया। महिला विद्यालय, उदयपुर में लड़कियों की एक प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। यह प्रतियोगिता अपने प्रकार की अनूठी एवं प्रथम प्रतियोगिता थी। विद्यार्थियों के शारीरिक विकास पर ध्यान देते हुए उनके स्वास्थ्य की जाँच की कुछ व्यवस्था भी की गई।

विशिष्ट भारतीय जातियों की शिक्षा-व्यवस्था

आदिम[२], अनुसूचित[३] तथा पिछड़ी एवं ऐंग्लो-इंडियन तथा योरोपीय भारत की विशिष्ट जातियाँ हैं।

---

१. Teams.
२. Aboriginal Tribe.
३. Scheduled and Backward Classes.

आदिम जाति अथवा आदिवासियों की शिक्षा

भारत की इस पुरातन जाति का वैभव धर्म के ठेकेदारों के कुचक्र में फँस कर नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। स्वतन्त्रता के मिलने के बाद भारतीय संविधान में इनकी शिक्षा-व्यवस्था की चर्चा की गई। सन् १९५०-५१ में इस जाति के छात्रों को ३५६ एवं १९५१-५२ में ५२१ छात्रवृत्तियाँ प्रदान की गईं। संविधान की धारा २५७ 'क' के अनुसार इनकी प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की सुविधा प्रदान करने हेतु केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को पर्याप्त धन दिया।

आदिवासियों में शिक्षा के प्रसार के लिए आदिवासी स्त्री और पुरुषों को ही शिक्षण-पद पर कार्य के लिए शिक्षित करना चाहिए। आदिवासी जंगलों और पहाड़ी क्षेत्रों में कार्य करके सरकार की आय-वृद्धि में सहायता करते हैं। अतः उनकी दशा में सुधार के लिए सरकार को काफी पैसा खर्च करना चाहिए। आदिवासियों की जन-संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है। अतः उनमें भविष्य में आने वाली बेकारी को दूर करने के लिए उन्हें कुटीर उद्योगों तथा अन्य छोटे-छोटे धन्धों में कार्य करने के लिए अभिप्रेरित करना चाहिए। इसके लिए उनके क्षेत्र में सहकारी समितियों को भी प्रारम्भ करना चाहिए।[१]

अनुसूचित एवं पिछड़ी जातियों की शिक्षा-व्यवस्था

भारतीय वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के दुष्परिणामों के कारण य जातियाँ सर्वथा वैभव-शून्य रूप में निरक्षरता के गहन अन्धकार में विलीन-सी हो गई थीं। जन-तंत्रात्मक शासन-प्रणाली ने इनके उत्थान हेतु प्रयास करना प्रारम्भ कर दिया है। इनकी स्थिति पर ध्यान देते हुए भारतीय संविधान में इनको उत्थान करने के उद्देश्य का उल्लेख किया गया। सन् १९५०-५१ में उच्च शिक्षा-प्राप्ति हेतु इनकी छात्रवृत्ति के रूप में केन्द्रीय सरकार ने २७ लाख रुपया व्यय किया। १९५४-५५ में यह धनराशि बढ़ाकर १ करोड़ ७ लाख कर दी गई। ६ विदेशी छात्र-वृत्तियों का भी इसके लिए आयोजन किया गया। तत्पश्चात् विदेशी छात्रवृत्तियों की संख्या १२ कर दी गई। अन्य छात्रवृत्तियों में १७½ प्रतिशत छात्रवृत्तियाँ इनके लिए सुरक्षित कर दी गईं। १९५५-५६ में इनके लिए २५,००० छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की गई। राज्य सरकारों ने १९५१-५२ तक इनकी शिक्षा पर कुल २ करोड़ रुपया व्यय किया। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिये

---

१. From the Presidential Address by V. L. Mehta at the Fifth Tribal Welfare Conference held under the auspices of Bhartiya Adimjati Sewak Sangh, at Bordi (Thana), on January 12, 1959.

विभिन्न राज्यों में बुनियादी, प्राथमिक एवं आवासिक स्कूलों के अतिरिक्त वयस्क शिक्षा-केन्द्र, वृत्तियाँ एवं छात्रवृत्तियाँ तथा पुस्तक-अनुदान की कुल २,४२,१८४ संस्थाओं की व्यवस्था की गई। बिहार प्रान्त में इस ओर विशेष प्रगति हुई। १,७५९ विशिष्ट स्कूल लड़कों के लिए और ९१ स्कूल लड़कियों के खोले गये जिनमें ५४,५३६ लड़के एवं ८,१५५ लड़कियाँ शिक्षा पा रही थीं। सन् १९५२ तक इस मद में कुल १७,३६, ५९७ रु० व्यय किया गया।

यूरोपियन जातियों की शिक्षा

इनकी शिक्षा हेतु विशिष्ट स्कूल पर्याप्त संख्या एवं सुव्यवस्थित रूप में थे। जातीयता का बन्धन शिक्षा-संस्थाओं से हटाने के फलस्वरूप इन विद्यालयों की संख्या कम तो अवश्य हो गई परन्तु इनके छात्रों की संख्या बढ़ गई।

असहायों की शिक्षा की समस्या[१]

प्रायः सभी देशों में दुर्भाग्यवश कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जो जीवित रहते हुए भी समाज में मृतक की भाँति होते हैं और अपने जीवन में पग-पग पर दुःख झेलते हैं। ऐसे लोगों में लूले-लँगड़े, अन्धे, अपाहिज, विकलाङ्ग, मूर्ख तथा वधिरों आदि की गणना की जा सकती है। यदि इन असहायों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाय तो आशा है कि इनमें पर्याप्त सुधार हो सकता है। अन्य देशों में इस प्रकार के लोगों के लिए शिक्षा की व्यवस्था होती है। परन्तु भारत इस दिशा में बहुत पिछड़ा हुआ है।

असहायों का विभाजन निम्नलिखित भागों में किया जा सकता है :—

१—मानसिक दृष्टि से असहाय[२] कोटि में वे बालक आते हैं जिनकी बुद्धि जन्म से ही मन्द होती है।

२—शारीरिक दृष्टि से असहाय[३] लोगों में उन व्यक्तियों की गणना होती है जिनमें किसी प्रकार का शारीरिक दोष होता है; जैसे—लूले, लँगड़े, बहरे और गूँगे आदि।

३—सामाजिक दृष्टि से असहाय[४] लोगों में उनकी गणना होती है जो निर्धनता एवं अशिक्षा के कारण समाज में पिछड़े रहते हैं।

---

१. The Problem of Education of the Handicapped.
२. Mentally Handicapped.
३. Physically Handicapped.
४. Socially Handicapped.

स्वाधीनता-प्राप्ति से पहले हमारे देश में असहायों की शिक्षा की व्यवस्था बहुत कम थी। अंधों की शिक्षा के लिए उत्तर प्रदेश में ६, कलकत्ता में २, बम्बई में ४, नागपुर में १, पंजाब में २, बिहार में २ और मद्रास में ६ स्कूल थे। इन स्कूलों में गूँगों और बहरों को पढ़ना और लिखना तथा दस्तकारी की शिक्षा दी जाती थी। कलकत्ता में गूँगे और बहरों को शिक्षा प्रदान करने के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाता था। इसके अतिरिक्त नागपुर, बम्बई, पटना, राँची, कोयम्बटूर, कराईकुडी, कटक, इलाहाबाद, लखनऊ और कानपुर तथा दिल्ली नगरों में गूँगे और बहरों की शिक्षा का प्रबन्ध था। इसी भाँति कुछ रोग से पीड़ितों के लिये भी कई विद्यालय थे जिनमें उन्हें जीविकोपार्जन एवं स्वास्थ्य-सुधार के लिए शिक्षा दी जाती थी। बाल-अपराधियों की शिक्षा के लिए भी कई स्कूल थे। अंधों की शिक्षा के लिए सन् १९४१ ई० में ब्रैललिपि का आविर्भाव हुआ।

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों का ध्यान असहायों की शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ। फलतः अंधों की शिक्षा की उचित व्यवस्था पर ध्यान दिया गया और सन् १९४९ ई० में प्रायः समस्त भारत में अंधों की शिक्षा के लिए ब्रैललिपि का प्रचलन किया गया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये देहरादून में केन्द्रीय सरकार द्वारा एक विशेष स्कूल अंधों की शिक्षा के लिए खोला गया तथा गूँगे और बहरों की शिक्षा के लिए दिल्ली में स्थित लेडी नोयस स्कूल का विकास किया गया। ब्रैल प्रिंटिङ्ग प्रेस की स्थापना करके भारत सरकार ने असहायों की शिक्षा को और आगे बढ़ाया है।

मानसिक दौर्बल्य को दूर करने के लिए पश्चिमी बंगाल में झारग्राम और कुरस्यौंग के स्कूल महत्वपूर्ण हैं। बालकों के मनोवैज्ञानिक परीक्षण के सम्बन्ध में उत्तरप्रदेशीय सरकार द्वारा इलाहाबाद में एक ब्यूरो ऑफ साइकॉलॉजी की व्यवस्था की गई है। हमारे देश की प्रथम पंचवर्षीय शिक्षा-योजना में असहायों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है। प्रति वर्ष इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अलग से कुछ धनराशि स्वीकृत की जाती है। छात्रों को प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। सन् १९५५-५६ ई० में अंधे युवकों को शिक्षित करने के लिए एक विद्यालय की स्थापना की गई है जिसमें उन्हें अनेक प्रकार की उपयोगी कलाओं की शिक्षा दी जाती है। सन् १९५५ ई० में ब्रैल प्रेस का विकास किया गया, और तब से इसमें विभिन्न भाषाओं के साहित्य का प्रकाशन होता है। इस प्रेस से सम्बन्धित एक कारखाना भी है जिसमें अंधों की शिक्षा के लिए उप-करण तैयार किये जाते हैं। इस कारखाने का विकास भी सरकार बड़ी धनराशि देकर कर रही है। सन् १९५६ ई० में अन्धों को प्रोत्साहित करने के लिए ३३

हजार रुपये की धनराशि छात्रवृत्ति के रूप में दी गई। अंधों की शिक्षा के उद्देश्य से ही 'दीपावली' पत्रिका को ब्रैललिपि में प्रकाशित करने की व्यवस्था की गई है। भारत में अंधों को शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिये सन् १९५६ ई० में एक शैक्षिक गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें लंका, पाकिस्तान, ब्रह्मा, मलाया एवं इंडोनेशिया इत्यादि देशों ने भाग लिया। इस गोष्ठी को अध्यक्षा अमरीका की अंधी अध्यापिका कुमारी डा० हैलेन केलर थी।

अन्धों की शिक्षा की भाँति भारत सरकार बहरों की शिक्षा की भी व्यवस्था कर रही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत से स्कूल खोले गए हैं तथा छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। भारत में 'बहरों' नाम की एक पत्रिका भी प्रकाशित की जाती है। इसी भाँति मन्दबुद्धि एवं विकलांग बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था भी सरकार कर रही है।

भारत बहुत दिनों तक पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़ा रहा और यहाँ पर अशक्तों की संख्या बहुत बढ़ गई है। अत: अशक्तों की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। अशक्तों की मानसिक स्थिति का अध्ययन करके उन्हें उचित व्यवसाय में लगाना चाहिए। यदि अशक्त शिक्षित होकर सफल हो जायँ तो इससे राष्ट्र को बल मिलेगा। इसलिए अशक्तों की शिक्षा के लिए अनुसंधान-केन्द्रों, बाल-भवनों एवं सामूहिक श्रवण-सहायक यंत्रों की व्यवस्था होनी चाहिए। इनके लिये भी प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

कला एवं सांस्कृतिक शिक्षा का विकास

चिरकाल से अवहेलित भारतीय संस्कृति एवं कलाओं के विकास के निमित्त भारतीय सरकार ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये। राष्ट्रपति पुरस्कार[1] की व्यवस्था करके गायन-कला को प्रोत्साहित किया गया। साहित्य, संगीत एवं ललित कला की अकादमियाँ[2] स्थापित की गईं। चित्रकारों की अखिल भारतीय प्रतियोगिता आयोजित की गई। १९५१ ई० में राष्ट्रीय कला संग्रहालय[3] की स्थापना हुई। १९४९-५० में २५०० रु० की ८ प्रतियोगिक छात्रवृत्तियाँ दी गईं। अखिल भारतीय औद्योगिक शिक्षा कौंसिल के तत्वावधान में कला-शिक्षा के पुनर्गठन एवं मान-निर्धारण तथा संयोजन हेतु कला-संस्थाओं के प्राचार्यों और प्रौद्योगिक शिक्षा-बोर्ड के सदस्यों का सम्मेलन हुआ।

---

१. Presidential Award

२. Academies

३. National Art Treasure Fund

राज्य सरकारों ने भी इस ओर पर्याप्त प्रयास किया। पटना स्कूल आफ आर्ट्स का राज्यीकरण हुआ। सन् १९५२ में बिहार-नृत्य, नाट्य तथा संगीत अकादमी की स्थापना हुई। भारतीय नृत्य-कला मंदिर, पटना, आर्ट एण्ड आर्टिस्ट, पटना तथा गीताली जंत्री संघ, राँची आदि कई संस्थाओं का निर्माण हुआ। पटना विश्वविद्यालय तथा मगध महिला कालेज में संगीत-शिक्षा के विभाग खोले गये।

शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

सन् १९४७ के बाद हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं संस्कृति के आदान-प्रदान में सराहनीय प्रगति हुई। सन् १९५० ई० में इन्डियन कौंसिल आफ कल्चरल रिलेशन्स की स्थापना के पश्चात् विद्यार्थियों के आदान-प्रदान, कलाकारों के परिभ्रमण एव भारतीय संस्कृति के अध्ययन की सुव्यवस्था के माध्यम द्वारा हम अन्य देशों के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। सन् १९५२ ई० में राष्ट्रीय आयोग की स्थापना करके 'यूनेस्को' से अधिक घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किया गया। सन् १९५१ ई० में यूनेस्को' के परामर्श पर दर्शन के प्रोफेसरों के एक सम्मेलन का आयोजन कराके विश्वदर्शन पर एक पुस्तक प्रकाशित कराई गई। दिसम्बर १९५१ में शिक्षा-मंत्रालय ने मानव-मान्यताओं की दार्शनिक समीक्षा हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया। गोष्ठी के विचारों को पुस्तक के रूप में 'ह्यूमैनिज्म एण्ड एजूकेशन इन ईस्ट एण्ड वेस्ट' की संज्ञा दी गई।

विदेशी छात्रों के लिये छात्रवृत्तियों का आयोजन करके १९५४-५५ में २६० एशियायी तथा अफ्रीकी छात्रों को भारतीय उच्च शिक्षा के अध्ययन की सुविधा दी गई। १९५५-५६ में ८३ छात्रवृत्तियाँ और दान की गईं। पश्चिमी जर्मनी ने ९५ भारतीय छात्रों को छात्रवृत्तियाँ प्रदान कीं और भारत ने जर्मन नागरिकों को दस। १९५५-५६ में कोलम्बो आयोजन के अधीन सिक्किम, नैपाल एवं फ़िलीपाइन से कुल ७४ छात्र भारतीय शिक्षा ग्रहण करने आये। व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने हेतु अफ्रीका, मौरिसस, ब्रिटिश वेस्ट इन्डीज तथा फिजी के विद्यार्थियों को २५ छात्रवृत्तियाँ दी गईं। बेल्जियम, इटली, मैक्सिको, नार्वे, स्वेडन, स्वीटजरलैण्ड तथा यूगोस्लाविया को १७ छात्रवृत्तियाँ पारस्परिक छात्र-योजना के अन्तर्गत भारत द्वारा प्रदान को गईं। उपर्युक्त राष्ट्रों द्वारा भारतीय छात्रों को स्नातकोत्तर अध्ययन की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इस प्रकार शिक्षा एवं संस्कृति के अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान का भारतीय दर्शन, संस्कृति एवं शिक्षा पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

भारत की युवक-कल्याण योजना

युवक-कल्याण के प्रति भी भारत सरकार ने प्रशंसनीय कार्य किए। सन् १९५३ ई० में शिक्षा-मंत्रणालय के अन्तर्गत एक युवक-कल्याण-शाखा का संगठन हुआ। अक्टूबर १९५४ में युवक-समारोह की नींव पड़ी जो निर्विघ्न प्रतिवर्ष मनाया जाता है। समारोह के अवसर पर ललितकलाओं, हस्तकलाओं एवं सांस्कृतिक प्रदर्शनों की प्रतियोगिता का आयोजन करके पुरस्कार वितरित किया जाता है। अनुशासन एवं सहयोग की भावनाओं को अंकुरित तथा फलित करने के ध्येय से युवक नेतृत्व प्रशिक्षण शिविरों[1] का आयोजन किया गया। सन् १९५५ में शासन द्वारा ३० दलों को सांस्कृतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक स्थानों के भ्रमण हेतु ३७ हजार रु० स्वीकृत किया गया। ८० युवक आवास-गृहों[2] का निर्माण हुआ। अखिल भारतीय खेल-कूद समिति का निर्माण हुआ। १९५४-५५ में शासन ने इस मद में २,००,७६३ रु० व्यय किया।

सन् १९५६-५८ में शिक्षा की गति-विधि[3]

प्रथम पंचवर्षीय योजना समाप्त होने पर भारत की शिक्षा और संस्कृति का सर्वांगीण विकास एवं विस्तार हुआ। सन् १९५६-५७ ई० में द्वितीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई और इसमें नई-नई योजनायें बनीं। भारत की आर्थिक दशा को ध्यान में रखते हुए योजनाओं की रूपरेखा निर्धारित की गई। साधन सीमित थे, परन्तु उद्देश्य ऊँचे और विस्तृत थे, क्योंकि भारत के प्रजातंत्र को सफल बनाने के लिये शिक्षा नितान्त आवश्यक है। भारत के शिक्षा-मंत्रणालय द्वारा किये गये कुछ प्रमुख कार्यों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

सामान्य शिक्षा का विकास

बुनियादी शिक्षा समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के लिये भारतीय शिक्षा-मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ। काफी विचार करने के पश्चात् बुनियादी शिक्षा को प्राथमिक शिक्षा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव रक्खे गये, क्योंकि भारतीय शिक्षा का पुनर्संगठन हो रहा था। काम तो प्रारम्भ हो गया, परन्तु अब देश के समक्ष दो समस्यायें थीं;

---

१. Youth Leadership Training Camps.

२. Youth Hostels.

३. शिक्षा-मन्त्रणालय, भारत सरकार, द्वारा प्रकाशित पुस्तिका और India, A (A reference Annual), 1958, p. 99—113, के आधार पर।

१—बुनियादी शिक्षा पर नए-नए प्रयोग एवं खोज कराना, तथा २—शिक्षा सम्बन्धित निरीक्षकों एवं प्रकाशकों को बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित करना।

प्राथमिक एवं बुनियादी शिक्षकों का वेतन बढ़ाना आवश्यक था। राज्य सरकारें तैयार तो थीं, परन्तु इसके लिए उनके पास पर्याप्त धन न था। अतः व्यय का ५० प्रतिशत केन्द्रीय सरकार ने देना स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त १९५६-५७ ई० में राज्य सरकारों के पूर्व-प्राथमिक एवं बेसिक शिक्षा की योजना के कारण बढ़े हुए व्यय में केन्द्रीय सहायता किस प्रकार दी जायगी, इसकी रूपरेखा इस प्रकार है।

(१) नर्सरी शिक्षा की योजनाएँ	अनावर्ती खर्च का ६६ प्रतिशत आवर्तीका ६० प्रतिशत
(२) प्रारम्भिक शिक्षा की योजनाएँ	कुल खर्च ५० प्रतिशत
(३) बुनियादी शिक्षा की योजनाएँ	कुल खर्च का ६० प्रतिशत

इसके अतिरिक्त प्रौढ़ों एवं बालकोपयोगी पुस्तकों की रचना पर सरकार ने विशेष ध्यान दिया और उस पर काफी धनराशि व्यय की।

सन् १९५६-५७ ई० में स्थापित किए गए पुस्तकालय एवं राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा-केन्द्रों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है। इसके अतिरिक्त समान शिक्षा के लिए अनुसंधान का जो आयोजन किया गया था उसका भी कार्य प्रारम्भ हो गया है। पुस्तकालय परामर्श समिति ने भी पुस्तकालयों के संबंध में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

शिक्षा-मंत्रणालय ने सूचना एवं प्रसार मंत्रणालय से निवेदन करके शिक्षा-संबंधी सात फिल्मों का निर्माण कराया तथा दृश्य एवं श्रव्य शिक्षा पर दिल्ली में एक अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन किया गया और उसमें यह विचार किया गया कि शिक्षा के लिए फिल्मों का उपयोग किस प्रकार किया जाय कि शिक्षा-प्रसार शीघ्र हो सके और अधिक लाभ हो सके। शिक्षा-मंत्रणालय का विचार है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा से संबंधित सभी योजनाओं को सफल बनाने के लिए अधिक रुपये की आवश्यकता है। दृश्य एवं श्रव्य-शिक्षा के विचारों को कार्य रूप में परिणित करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को ३·६३९ लाख रुपये देना स्वीकार किया।

सरकार प्रथम पंचवर्षीय योजना में माध्यमिक शिक्षा में पुनर्निर्माणता करना चाहती थी और इस सम्बन्ध में ४८० माध्यमिक विद्यालयों को ४४१ बहुमुखी विद्यालयों में परिवर्तित करने के लिए तथा विज्ञान के अध्यापन एवं पुस्तकालयों के सुधार

आदि के लिए ५·१८७ करोड़ स्वीकृत किया। दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में माध्यमिक शिक्षा में परिवर्तन करने एवं उसे सफल बनाने के लिए राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार २·३ करोड़ रुपया देगी। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए परीक्षा-प्रणाली में परिवर्तन किया जा रहा है और अजमेर में एक अखिल भारतीय परीक्षा-परिषद स्थापित किया जा रहा है जहाँ देश के सभी राज्यों के छात्र सम्मिलित हो सकेंगे। इस परिषद ने भारत के विभिन्न राज्यों में प्रयोगशालाओं एवं सफल सेमिनारों की व्यवस्था की है तथा ३३ सिखलाई कालेजों में समाज-सेवा का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। सरकार ने सोचा कि विभिन्न कालेजों में विज्ञान का अध्ययन सुचारु और स्पष्ट रूप से होना चाहिए। अतः उसने भारत में स्थित यूनाइटेड स्टेट एजूकेशन फॉउन्डेशन, फोर्ड फाउण्डेशन और ब्रिटिश काउन्सिल आदि के सहयोग से एक आयोजन प्रारम्भ किया। विज्ञान-अध्यापन-आयोजना के अन्तर्गत सिखाई कालेजों और माध्यमिक विद्यालय के ४० विज्ञान अध्यापक कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैन्ड भेजे गए हैं जहाँ वे दो वर्ष अध्ययन करेंगे। इस अध्ययन के साथ ही साथ इनको व्यावहारिक ज्ञान भी दिया जायगा। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सम्बद्ध कालेजों की उन्नति और विकास के लिए ५ करोड़ रुपया दिया गया है और त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम प्रारम्भ करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई है जिसने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत नहीं की है। इसी योजना के अन्तर्गत छात्रावासों के लिए २ करोड़ रुपए की सहायता दी गई। इसमें विभिन्न प्रकार की शिक्षा-संस्थायें रक्खी गई हैं। इसके अतिरिक्त सन् १९५६-५७ ई० में बम्बई, केरल, मद्रास और उत्तर प्रदेश के चुने हुए संबद्ध कालेजों को ३८·४१ लाख रुपए ऋण के स्वरूप दिए गए हैं।

विश्वविद्यालय अनुदान समिति को १९५६-५७ में स्वीकृत किये गये ३ करोड़ रुपये में से केवल २·९ करोड़ रुपए ही दिए गए, बाकी धन वर्ष के अन्त तक दिया गया। विश्वविद्यालय अनुदान समिति के लिए १९५७-५८ ई० में ४·१७ करोड़ रुपए की व्यवस्था फिर की गई है।

द्वितीय योजना में ४६ पालीटेकनिक और १९ इंजीनियरिंग कालेजों का स्तर उठाकर उनके आकार और प्रकार को बदलने पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त ३ नए कालेजों और २८ पालीटेकनिकों को भी स्थापित करने की बात सोची गई है। इनमें उपाधि एवं प्रमाणपत्र दोनों प्रकार के छात्र अलग-अलग प्रवेश ले सकेंगे। अनुसंधान-कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए ६५ अनुसंधान-कलाओं को ३,४१,७७० रुपया दिया गया है तथा ६ मार्च १९५७ ई० को टेकनॉलॉजी और उद्योग-संस्थाओं को १४,५०८ लाख रुपए की धनराशि दी गई है, जिससे सिखलाई, अनुसंधान,

उद्योग-विद्या और विशिष्ट पाठ्यक्रम का विकास किया जायगा। कुछ इंजीनियरिंग कालेजों का स्तर ऊँचा करके उन्हें स्नातक कालेज बनाकर माइनिंग मेटलार्जी कालेज, बनारस विश्वविद्यालय तथा धनबाद से संबंधित करने की योजना बनाई गई है। भारतीय विज्ञान संस्थान, बंगलोर में मोटर इंजीनियरिंग, ढलाई इंजीनियरिंग तथा अन्य कई प्रकार के इंजीनियरिंग का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम प्रारम्भ किए गए हैं। भारतीय उद्योग-विद्या संस्थान, खड़गपुर राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था मान ली गई है। बम्बई सरकार ने पश्चिमी उद्योग-विद्या संस्थान के निर्माण के लिए बम्बई के निकट ५०० एकड़ भूमि दी है।

हिन्दी का विकास

सम्पूर्ण भारत में हिन्दी का प्रचार करने के लिए १,४६,३८० रुपये व्यय किए जा चुके हैं। अहिन्दी-भाषी प्रान्तों को इसके प्रचार हेतु काफी धन दिया गया है। बुनियादी हिन्दी के व्याकरण की अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में १२ द्विभाषी सूचियाँ तैयार की गई हैं। इस प्रकार अपनी भाषा के द्वारा अन्य प्रदेश वाले हिन्दी सीख सकेंगे। हिन्दी-लेखकों को पुरस्कार दिए जाते हैं। भौतिक, रसायन तथा अन्य विज्ञानों के सम्बन्ध में पारिभाषिक शब्दों का प्रकाशन किया जा चुका है। हिन्दी के बुनियादी शब्दों की दो सूचियाँ तैयार की गई हैं। एक कम से कम हिन्दी ज्ञान रखने वालों के लिए, और दूसरी अहिन्दी प्रान्तों में पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने के लिए। हिन्दी-भाषी प्रान्तों के छात्रों और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को अहिन्दी भाषी प्रदेशों में भेजना, तथा अहिन्दी-भाषी प्रान्तों के लोगों को हिन्दी-भाषी प्रान्तों में भेजना, नुमाइश आदि कराना इस योजना में रक्खा गया है।

छात्रवृत्तियाँ

द्वितीय योजना में योग्य व्यक्तियों को विदेशों में अध्ययन करने के लिए २० छात्रवृत्रियों का प्रबंध किया गया तथा हाई स्कूल के पश्चात् शिक्षा प्राप्त करने के लिए ४०० छात्रवृत्तियों की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त भूटान और सिक्किम को भी क्रमशः २३ और ६ छात्रवृत्तियाँ दी गईं। अनुसूचित जातियों, कबीलों एवं पिछड़े वर्ग के लोगों को अधिक छात्रवृत्तियाँ देन की व्यवस्था की गई है। इन छात्रवृत्तियों को छोड़कर अन्य कई प्रकार की छात्रवृत्तियाँ भी रक्खी गई हैं।

कला और संस्कृति

कला और संस्कृति के विकास एवं प्रोत्साहन के लिए अखिल भारतीय शिक्षा और साहित्य-संस्थाओं को ४,३८,५०० रु० की सहायता दी गई है। विश्वविद्यालयों

तथा अन्य उच्च संस्कृत-विद्यालयों की जाँच करके अपने सुझाव रखने के लिए एक संस्कृत आयोग नियुक्त किया गया। संस्कृति-क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं को १०,३०,६०३ रु० दिए गए हैं। साहित्य और कला के प्रोत्साहन के लिए भी काफी रुपए दिए गए हैं। बुद्ध जयन्ती के अवसर पर सरकार ने विशेष प्रबन्ध किया और इस अवसर पर विदेशों से भी विद्वानों को आमन्त्रित किया। इसके अतिरिक्त भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास के प्रकाशन के लिए ३ लाख रुपए व्यय किए गए।

देश के विभिन्न संग्रहालयों से सम्बन्ध स्थापित कर संग्रहालयों के पुनर्निर्माण के लिए २० लाख रुपया रक्खा गया है। राष्ट्रीय संग्रहालयों के पुरातन और नवीन नमूने खरीदने के लिए १९५६-५७ और १९५७-५८ ई० में ८,००,००० रु० खर्च किए गए हैं।

नृत्यों, नाटकों, फिल्मों और लोकनृत्यों में पुरस्कार देने तथा इनके लिए अच्छी पुस्तकों के लेखन व प्रकाशन के लिए भी काफी रुपया रक्खा गया है। ललित कलाओं के संरक्षण, प्रोत्साहन एवं विस्तार के लिए उनके जानकारों तथा संस्थाओं को पुरस्कार देने की भी व्यवस्था की गई है। यूनेस्को के नवें सम्मेलन के अवसर पर सभी मुख्य भारतीय भाषाओं की प्रदर्शनी एवं प्रकाशन की व्यवस्था की गई है। दिल्ली में एक राष्ट्रीय रंगशाला का निर्माण कराया जायगा। इसके लिए कई विशेषज्ञ विदेश भेजे गए हैं। इनकी रिपोर्ट पर इसका निर्माण होगा।

यूनेस्को

५ नवम्बर से ५ दिसम्बर १९५६ ई० को यूनेस्को का नवाँ महासम्मेलन दिल्ली में हुआ। यह भारत के लिए एक महत्त्वपूर्ण बात थी। देश में प्रथम बार इतना बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ था। इसमें रूस के अनुसंधान एवं पश्चिमी सांस्कृतिक मान्यताओं को समझने में भारत ने विशेष रुचि दिखाई। भारत पूर्वी गौरव-ग्रन्थों का पश्चिमी भाषाओं में अनुवाद कराने तथा यूनेस्को के महत्त्वपूर्ण कार्यों को हिन्दी में प्रकाशन कराने में बड़ी रुचि दिखला रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी भारत काफी रुचि ले रहा है। जिनेवा अधिवेशन में भी भारत ने भाग लिया था।

विदेशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध

विचारों में उदारता लाने तथा एक दूसरे के प्रति सहानुभूति के लिए विदेशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सरकार ने २५,००,००० रुपए व्यय करने का आयोजन किया है। सांस्कृतिक क्रिया-कलापों की एक विस्तृत रूपरेखा बनाकर कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत भारत विदेशों में अपने

कवियों, लेखकों एवं पुस्तकालयाध्यक्षों को भेजता है और बाहर से शिष्ट-मंडलों को बुलाता है ।

समाज तथा बाल-हित

केन्द्रीय सामाजिक बोर्ड के निम्नांकित तीन कार्य हैं :—

(१) समाज हित के कार्य करने वाली संस्थाओं को आर्थिक सहायता देती है ।

(२) सार्वजनिक भलाई की योजनाओं का विस्तार करती है ।

(३) वाणिज्य एवं उपभोक्त मंत्रणालय की सहायता से नगर में रहने वालों के हित का ध्यान रखना । सन् १९५७-५८ ई० की समाप्ति पर ४३४ समाज-हित योजनाएँ काम करने लगेंगी । इस पर सरकार ने १९५६-५७ ई० में २५,३७,६२८ रु० खर्च किए हैं ।

युवक हित तथा शारीरिक शिक्षा

इस सम्बन्ध में दार्जिलिंग और हैदराबाद में दो नेतृत्व शिविर आयोजित किए गए थे । विद्यालयों के चुने हुए अध्यापक अल्पकालीन शिक्षा देने के लिए इनमें बुलाये गए थे । इसके लिए देश की २०० संस्थाओं के लिए १०५ लाख रुपए सरकार ने स्वीकृत किया था । १९५६ ई० में एक अन्तर्विश्वविद्यालय गोष्ठी की व्यवस्था की गई जिसमें सांस्कृतिक क्रियाकलापों, नाटकों एवं नृत्यों आदि का आयोजन किया गया था । इसमें ३१ विश्वविद्यालयों ने भाग लिया था और भाग लेने वालों की संख्या १,४४१ थी ।

प्रकाशन

प्रकाशन और बिक्री दोनों भागों पर ध्यान दिया गया और ३१ मार्च सन् १९५७ ई० तक ७५ पुस्तकें प्रकाशित हुई । शिक्षा मंत्रणालय की त्रैमौसिक पत्रिका "शिक्षा" है । यूनेस्को सम्मेलन पर इसका एक विशेषांक प्रकाशित किया गया था ।

शिक्षा सम्बन्धी आँकड़े

मंत्रणालय के बहुत-से अधिकारी राज्यों में भेजे गए, जिससे वे वहाँ जाकर शिक्षा-सम्बन्धी आँकड़ों को तैयार करें । आँकड़ा-सम्बन्धी इन प्रकाशनों को निकालने की व्यवस्था की गई जिनमें नौ ऐसे चार्टों की व्यवस्था की गई जो दीवारों पर लटकाए जा सकते हैं ।

अन्य विभाग (पुरातत्व, पुराविद्या, मानवविज्ञान, पुस्तकालय)

भारत सरकार ने १०,४०० दस्तावेज और ३१६ जिल्दें संरक्षण के लिए दिया था। इसके अतिरिक्त २५८ फिल्म, प्रतिलिपियों की रीलें जो भारत से सम्बन्धित थीं, मिली थीं। अभिलेखों के प्रकाशन और सरल सूची का काम बड़ी तीव्र गति से किया जा रहा है। नागार्जुन कोंड़ा में खुदाई बड़ी तेजी से की जा रही है। सन् १९५७-५८ ई० में इस विभाग के लिए १,०७,५७,००० रु० की आयोजना की गई है। इसके अतिरिक्त मानवविज्ञान-विभाग द्वारा भी बहुत सी महत्त्वपूर्ण खोजें की गई हैं। इनमें रूपकुंड का अभियान सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है। इस विभाग ने कबीलों की बस्तियों की स्थितियों का एक नक्शा तैयार कराया है।

गत वर्षों में राष्ट्रीय पुस्तकालय को अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार मिले हैं। पुस्तकालय ने ५५४ पत्रिकायें मँगवाने की व्यवस्था की और पाली, प्राकृत, संस्कृत और योरोपीय भाषाओं में पुस्तकों, पत्रिकाओं और समाचार-पत्रों की सूची छपवाई और अनेक प्रकार के चित्रों और पांडुलिपियों का प्रबन्ध किया। पुस्तकालयों का कार्यक्रम काफी विस्तृत हो चुका था और रुपए की काफी आवश्यकता थी। अतः १९५७-५८ ई० में १२,९६,७०० रुपये की स्वीकृति दी गई है।

सिंहावलोकन

इस अध्याय में हमें स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत की स्थिति का जो परिचय प्राप्त हुआ उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि स्वतन्त्र भारत का शैशवकाल, साम्प्रदायिकता की दुर्भावनाओं से ओत-प्रोत, प्राकृतिक विपत्तियों से त्रस्त, राजनैतिक विषमताओं से पीड़ित घोर आर्थिक संकीर्णता का काल रहा। ऐसी परिस्थिति में समस्त राष्ट्रीय शक्तियों का देशव्यापी इन महान आपदाओं के निवारणार्थ केन्द्रीभूत होना अनिवार्य हो गया। फलतः निर्माण-कार्य की ओर भारत कुछ दिनों तक उदासीन रहा। देश की आर्थिक दशा के सुधार हेतु पंचवर्षीय योजना में भी कृषि और उद्योग को ही प्राथमिकता देनी पड़ी। इन्हीं कारणों से शिक्षा के क्षेत्र में आशातीत सफलता नहीं प्राप्त हो सकी।

उपर्युक्त विषमताओं का सामना करते हुए भारत ने सन् १९४७-५८ में शिक्षा का जो पुनर्गठन, प्रसार और संख्यात्मक एवं गुणात्मक विकास किया वह सर्वथा प्रशंसनीय है। इस योजना-निर्माण एवं लक्ष्य-निर्धारण के युग में हुई इस प्रगति को सर्व प्रकारेण महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

शिक्षा के इस परिवर्तित कलेवर में भी कुछ ऐसे धब्बे दृष्टिगोचर होते हैं जिन्हें यदि राष्ट्र की अवनति के कारण नहीं तो उन्नति के बाधक तो अवश्य ही

कहा जा सकता है। शिक्षा की गुणात्मक दशा को शोचनीय बनाने वाली इन अधोमुखी प्रवृत्तियों में से शैक्षिक मान ह्रास, अनुशासनहीनता, अध्ययनहीनता एवं मानसिकता की उपेक्षा करने की निरर्थक दलीलें प्रमुख हैं। शिक्षा के राष्ट्रीकरण में विदेशी शिक्षा-प्रणालियों का ज्यों का त्यों अपना लेना बड़ा घातक सिद्ध होगा। भारतीय शिक्षा की स्तरहीनता का प्रमुख कारण प्रशासनिक व्यवस्था का दोषमुक्त एवं सुयोग्य अधिकारियों का न होना भी है। शिक्षा-विभागीय सेवाओं की शर्तें योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं। इन त्रुटियों के होते हुए भी शिक्षा के क्षेत्र में भारत ने अनुकरणीय प्रगति की, परन्तु वांछित लक्ष्य की पूर्ति में अन्य आयोजनों के साथ-साथ ४०० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष का व्यय राष्ट्र को वहन करना होगा।

सारांश

प्रारम्भिक अथवा आधारिक शिक्षा—अनिवार्य घोषित करना—संख्यात्मक एवं गुणात्मक प्रगति—शासन द्वारा ४७·३६ करोड़ का व्यय।

अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था—बेसिक ट्रेनिंग स्कूलों की स्थापना—छात्राध्यापकों की संख्या में लगभग दूनी प्रगति—दुगने व्यय की व्यवस्था—धनराशि १०९ करोड़।

अध्यापकों के वेतन में वृद्धि—वेतन-क्रमों में वृद्धि—कम से कम १००) प्रति अध्यापक को वेतन तथा मँहगाई भत्ते की स्वीकृति—राज्य सरकारों द्वारा इस ओर प्रगति।

बिहार राज्य में शिक्षकों का वेतन एवं शिक्षा का प्रशासन—जिला शिक्षा-कोष का उद्घाटन एवं शिक्षा-अधीक्षक की शक्ति में वृद्धि—परियोजना कमेटी का निर्माण।

माध्यमिक शिक्षा की प्रगति—आयोगों की नियुक्ति—गोष्ठियों का आयोजन एवं परिषदों के निर्माण द्वारा उन्नति—१४·५ लाख छात्र-संख्या का बढ़ना—बहूद्देशीय स्कूलों की स्थापना—पाठ्य पुस्तकों में सुधार—पुस्तकालयों की प्रगति।

बिहार प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा में सुधार—माध्यमिक शिक्षा के पाठ्य क्रमों में संशोधन—बिहार स्कूल परीक्षा-बोर्ड की स्थापना—विद्यालयों के सत्र में परिवर्तन—शिक्षा-प्रणाली का पुनर्गठन—परीक्षा की असेसमेंट प्रणाली।

विश्वविद्यालय-शिक्षा का विकास—विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि-८० विशिष्ट कालेजों की स्थापना-विशिष्ट संस्थाओं, व्यावसायिक कालेजों, कला तथा विज्ञान कालेजों एवं उच्च शिक्षा बोर्डों की स्थापना—छात्रवृत्तियों, परिषदों एवं भाषणों के आयोजन—विभिन्न संस्थाओं की स्थापना।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं उसके कार्य—अनुदान आयोग की स्थापना-१९५४-५५ में—१·९४ करोड़ एवं १९५५-५६ में ३·५ करोड़ के अनुदान की स्वीकृति।

शिक्षाप्रद एवं सृजनात्मक इतर पाठ्यक्रम—छात्र-संघों, मंडलों, सह-योगी सोसाइटियों, संगीत-नाट्य सभाओं एवं समाज-सेवा-दलों की स्थापना-प्रति-योगिताओं का आयोजन-वयस्क अथवा सामाजिक शिक्षा-संकीर्णता का निरोध-अखिल भारतीय वयस्क शिक्षा-सभा का योगदान-गोष्ठियों का आयोजन-उपा-दानों का संयोजन—अनुसंधान-कार्य-वयस्क शिक्षा कमेटी-विश्वकोष प्रकाशन-शिक्षा-कारवाँ का निर्माण- ६० लाख वयस्कों को २·४ लाख सामाजिक शिक्षा-कक्षाओं द्वारा शिक्षित किया जाना—संगठन-कर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था, —विकास केन्द्रों की स्थापना-कुल व्यय २९,९७,३५० रु०।

व्यावसायिक एवं विशिष्ट शिक्षा—शिक्षा-प्राप्ति की सुविधाओं की व्यवस्था —विशेषीकरण की शिक्षा का आयोजन-आल इण्डिया कौंसिल आफ टेकनिकल एजूकेशन की स्थापना—७ बोर्ड आफ इन्डस्ट्रीज एवं ४ क्षेत्रीय कमेटियों की नियुक्ति-२५·५ लाख आवर्तक एवं १६२ लाख अनावर्तक अनुदान की स्वीकृति।

विभिन्न क्षेत्रीय संस्थाओं की स्थापना—इंजीनियरिंग, टेकनॉलॉजी एवं साइंस की संस्थाओं की स्थापना-तीन कमेटियों का निर्माण (मानवीय शक्ति कमेटी, समुद्र पार छात्रवृत्ति कमेटी, वैज्ञानिक कमेटी)—संस्थाओं को ब्याज रहित ऋण एवं अनुदानों की स्वीकृति—चिकित्सकीय संस्थाओं की स्थापना—अनुमानित व्यय ६·१ करोड़-सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट आफ रिसर्च की स्थापना।

स्त्री-शिक्षा का विकाश—सभी प्रान्तों में लगभग दोगुनी प्रगति—छात्राओं की संख्या में अपेक्षाकृत स्कूलों-कालेजों से अधिक वृद्धि। शिक्षा के प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च स्तर में विकास।

शारीरिक एवं व्यायाम शिक्षा का विकास—प्रतियोगिताओं का आयो-जन—उदयपुर में लड़कियों की प्रतियोगिता। विदेशी खेलों एवं प्रतियोगिताओं में भाग लेना—मंडलों की स्थापना—संयुक्त राष्ट्र संघ, युवक-कल्याण गोष्ठी एन०, सी० सी०, इण्डियन ओलियम्पिक एसोसिएशन आदि।

विशिष्ट भारतीय जातियों की शिक्षा-व्यवस्था—आदिम, अनुसूचित एवं पिछड़ी तथा ऐंग्लो इन्डियन जातियों की शिक्षा-व्यवस्था—संविधान की धारा २५७ 'क' का महत्त्व—छात्रवृत्तियों का आयोजन, १९५२ तक अनुसूचित जातियों की शिक्षा पर १७,३६,५९७ रु० का खर्च।

गूँगे-अंधे वधिरों की शिक्षा—राष्ट्रीय सलाहकारिणी समिति का निर्माण—भारती ब्रेले—भारतीय सांकेतिक चिह्नों का प्रचलन।

कला एवं सांस्कृतिक शिक्षा का विकास—कला संग्रहालय की स्थापना—राष्ट्रपति-पुरस्कार की व्यवस्था—विभिन्न कला की संस्थाओं का निर्माण।

शिक्षा एवं संस्कृति के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग—राष्ट्रीय आयोग की स्थापना—यूनेस्को का सम्पर्क—अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन—इन्डियन कौंसिल आफ कल्चरल रिलेशन्स की स्थापना—छात्रवृत्तियों का आदान-प्रदान।

भारत की युवक-कल्याण योजना—शिक्षा-मंत्रणालय के अन्तर्गत १९५३ ई० में युवक-कल्याण शाखा का संगठन—समारोहों के अवसर पर प्रतियोगिताओं का आयोजन—युवक नेतृत्व प्रशिक्षण-शिविरों का आयोजन—भ्रमण हेतु ३७ हजार रु० की स्वीकृति—८० युवक आवास-गृहों का निर्माण—१९५४-५५ में कुल २,००,७६३रु० का व्यय।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. शैशव-कालीन स्वतन्त्र भारत की विषम परिस्थितियों का तत्कालीन शिक्षा की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्रथम १० वर्ष में भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में हुई प्रगति पर संक्षेप में प्रकाश डालिये।

३. भारतीय शिक्षा-प्रणाली की क्या विशेषताएँ हैं ? राष्ट्रीय प्रगति में नवीन शिक्षा-प्रणालियों का क्या स्थान है ?

४. भारतीय शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते हुए उसमें सुधार के लिये अपने सुझाव प्रस्तुत कीजिये।

५. स्वतन्त्रता के बाद विश्वविद्यालय-शिक्षा की प्रगति पर एक निबन्ध लिखिये।

———

अध्याय ४४

हमारी शिक्षा में सुधार सम्बन्धी समस्यायें

मानव की प्रगति में शिक्षा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः सृष्टि के प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में उसे यह दी जाती रही है और भविष्य में तो दिन प्रति दिन शिक्षा की उपादेयता में और भी वृद्धि होने की पूर्ण सम्भावना है। प्रारम्भ में शिक्षा एवं उसकी व्यवस्था का यह स्वरूप न था, जो आज दृष्टि-गोचर हो रहा है। प्रारम्भ में शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों को गुरुजनों के आश्रमों पर जाना पड़ता था और उन्हें निश्चित अवधि में शिक्षा समाप्त कर पुनः घर लौटना पड़ता था। इसी भाँति उस समय मुद्रण-कला के न होने के कारण पुस्तकों का बहुत अभाव था और प्रायः शिक्षा मौखिक रूप से ही देनी पड़ती थी। परन्तु ज्यों-ज्यों शिक्षा का विकास हुआ त्यों-त्यों कुछ कठिनाइयों का हल तो अवश्य हुआ, परन्तु इसके साथ ही साथ शिक्षा-क्षेत्र में नवीन समस्यायें उत्पन्न होती गईं। कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा के विकास के साथ ही साथ उसमें नवीन समस्यायों का उत्पन्न होना स्वाभाविक-सा जान पड़ता है। यद्यपि ये समस्यायें शिक्षा के क्षेत्र में कुछ बाधा अवश्य उपस्थित करती हैं, तथापि इनका शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि समस्याओं के हल हो जाने पर शिक्षा की प्रगति अबाध रूप से चलने लगती है और इसके साथ ही साथ शिक्षा की प्रगति के लिए नवीन उपकरणों की व्यवस्था की जाती है। नवीन समस्याओं को सुलझाने के सम्बन्ध में शिक्षा-विशेषज्ञों को सोचने का अवसर मिलता है और वे अपने मस्तिष्क की नवीन सूझों को जनता के समक्ष उपस्थित करते हैं। यदि कोई समस्या न हो तो लोगों की चिंतन-शक्ति का विकास सम्भव नहीं। अतः समस्याओं के उत्पन्न होने एवं उनके समाधान होने से शिक्षा युग के अनुकूल बनती रहती है।

हमारा देश, प्रारम्भ में तो, क्या शिक्षा, क्या राजनीति, क्या संस्कृति सभी क्षेत्रों में विश्व का पथ प्रदर्शन करता था, परन्तु समय के फेर से उसे भी बुरे दिन देखने पड़े और परतन्त्रता की अवस्था में उसके प्रायः सभी गौरव समाप्त-प्राय हो गये। परतंत्रतावस्था में जहाँ हमारे देश की समृद्धि एवं सुसंस्कृति लुटी, वहाँ शिक्षा का भी दिवाला निकल गया। दासता के युग में भारतीय शिक्षा का स्वरूप बिल्कुल

परिवर्तित हो गया और उसके कारण हमारी शिक्षा में कतिपय ऐसी समस्याओं का जन्म हुआ जिनका हल करना बहुत दुरूह जान पड़ रहा है। विदेशी शासकों ने अपने शासन को सुदृढ़ करने के लिए ही शिक्षा का स्वरूप निर्धारित किया था। अतः वह स्वरूप अब स्वाधीन भारत के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। परन्तु आज भी भारतीय शिक्षा में बहुत सी ऐसी समस्यायें चली आ रही हैं जो लगभग ब्रिटिश शासन-काल में भी विद्यमान थीं। आज का भारत स्वाधीनता के पश्चात् ११ वर्ष से अधिक समाप्त कर चुका है, परन्तु उसकी शिक्षा में अपेक्षित प्रगति नहीं हुई है और शिक्षण-क्षेत्र में, शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम की दुरूहता, अध्यापकों की दयनीय स्थिति, स्त्री-शिक्षा की कमी, शिक्षा में आत्म-निर्भरता की भावना का अभाव, विद्यालय-भवन एवं सज्जा का अभाव एवं अनुपयुक्त होना, छात्रों की निर्धनता, शिक्षा-प्रसार की कमी, छात्रों की कमी, छात्रों की बढ़ती हुई संख्या के अनुकूल अध्यापकों का न होना, शिक्षा में औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का अभाव, शिक्षा-क्षेत्र में प्रथम श्रेणी के बुद्धिमान अध्यायकों का अभाव, छात्रों एवं अध्यापकों में पारस्परिक समुचित प्रेम का अभाव, छात्रों की बढ़ती हुई अनुशासनहीनता, प्रचलित परीक्षा-प्रणाली इत्यादि कतिपय ऐसी समस्यायें हैं जिनके बिना हल किये भारतीय शिक्षा भारतीयों के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध नहीं हो सकती।

यद्यपि ब्रिटिश शासनकाल में भी उपर्युक्त समस्याओं को हल करने का कुछ प्रयत्न किया गया, परन्तु उस काल में शिक्षा के आन्तरिक एवं वाह्य उद्देश्य में अन्तर हुआ करता था। अंग्रेज आंतरिक रूप से भारतीय शिक्षा के विकास द्वारा ब्रिटिश राज्य को भारत में सुदृढ़ एवं चिरस्थायी बनाना चाहते थे, परन्तु प्रदर्शन म वे भारतीयों के लिए भारतीय शिक्षा का सुधार करते थे। यद्यपि अंग्रेजों का आन्तरिक उद्देश्य यह नहीं था कि भारतीय शिक्षा में विकास हो और भारतीय स्वधीन हो सकें तथापि अनजान में अंग्रेजों द्वारा कभी-कभी भारतीय शिक्षा को कुछ लाभ होता रहा और वह जीवित रह सकी। परन्तु खेद का विषय यह है कि स्वाधीन भारत में भी वे समस्यायें प्रायः ज्यों की त्यों विद्यमान हैं और उनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। स्वाधीनता के उपरान्त देश के कर्ण·धारों से बड़ी आशा थी कि उनकी दृष्टि शिक्षा की ओर समुचित रूप से जायगी और ब्रिटिश शासन काल की फैली हुई शिक्षा की बुराइयों का निष्कासन शिक्षण-क्षेत्र से किया जायगा। परन्तु इस दिशा में अब तक किये गये कार्य आवश्यकता से बहुत कम हैं। भारतीय शिक्षा की समस्याओं को हल करने के लिए केन्द्रीय एवं राज्यीय सरकारों द्वारा जो प्रयत्न हुए हैं वे प्रायः सुचारु रूप से कार्यान्वित नहीं किये जा सके हैं और शिक्षा के क्षेत्र में कोई आमूल परिवर्तन अभी तक नहीं हुआ है। अब भी ब्रिटिश कालीन

शिक्षण-पद्धति का ही विस्तार किया जा रहा है। आवश्यकता इस बात की थी कि स्वाधीन भारत में ब्रिटिश कालीन शिक्षण-पद्धति के स्थान पर समय के अनुकूल शिक्षण-पद्धति अपनाई जाती और छात्र भावी जीवन में स्वावलम्बी बनते। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि हमारे देश के शिक्षा-शास्त्री एवं राजनीति-नेता इस दिशा में अपेक्षित ध्यान नहीं दे रहे हैं और शिक्षा-क्षेत्र में वही पुरानी लकीर आज भी पीटी जा रही है। फलतः यद्यपि भारतवर्ष की शिक्षित प्रतिशत संख्या अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है तथापि यहाँ शिक्षित बेकारों की समस्या बहुत अधिक है। कितने ही शिक्षित युवक अपने परिवार के लिए भारस्वरूप बने हुये हैं और उन्हें जीविकोपार्जन का कोई साधन दृष्टिगोचर नहीं होता।

आजकल भारत में साक्षरों की संख्या में अवश्य वृद्धि हो रही है, परन्तु इस से जीवन की समस्याओं का हल नहीं हो रहा है और इससे विविध क्षेत्रों में अनुशासनहीनता बढ़ रही है। विद्यार्थी इतनी संख्या में बढ़ रहे हैं कि विद्यालयों में उनके बैठने के लिए स्थान नहीं है और न उनकी संख्या के अनुपात में पढ़ाने वाले अध्यापक ही हैं। छात्रों की अधिक संख्या के कारण उनमें और अध्यापकों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध न स्थापित हो सकने से उनकी (छात्रोंकी) मनोवैज्ञानिक स्थिति का अध्ययन भली-भाँति नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में बहुधा ऐसा होता है कि छात्रों को उनके मस्तिष्क के अनुकूल शिक्षा नहीं दी जाती और वे गलत ढंग पर पढ़ते तथा अध्यापक एवं अभिभावक उन्हें गलत ढंग से पढ़ाते चले जाते हैं। ऐसी दशा में शिक्षा से विशेष लाभ नहीं हो पाता और ऐसा ही छात्र आगे चलकर अनुशासनहीनता और बेकारी का परिचय देता है। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि शिक्षा द्वारा छात्र का शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास कर उसे स्वावलम्बी बनाया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय शिक्षा की प्रमुख समस्याओं की ओर नीचे संकेत किया जायगा तथा उनको हल करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जायेंगे।

१—हमारी शिक्षा का उद्देश्य

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि भली-भाँति उस कार्य के परिणाम को सोच लिया जाय। तत्पश्चात् उसके लिये निश्चित उद्देश्यों का पता लगाना चाहिये। यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि इन उद्देश्यों का क्या फल होगा। यही बात हमें शिक्षा के प्राप्त करने के उद्देश्य में भी देखनी है। मानव-जीवन में शिक्षा के दो मुख्य उद्देश्य हो सकते हैं; पहला—व्यक्तिगत उद्देश्य, इससे व्यक्ति की शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक शक्तियों के विकास की

आशा की जायगी। इसके अतिरिक्त शिक्षा का दूसरा उद्देश्य यह होना चाहिए कि उसके द्वारा कल्याणकारी समाज के लिए आदर्श व्यक्तियों का निर्माण हो और अन्त में एक सुखी एवं समृद्धिशाली राष्ट्र का निर्माण हो सके। ये दोनों ही उद्देश्य देखने में दो मालूम होते हुए भी वस्तुत: एक ही हैं, क्योंकि शिक्षा द्वारा आदर्श व्यक्ति का निर्माण हो जाने पर उससे कल्याणकारी समाज की रचना होगी।

आधुनिक युग एकांगी और संकुचित भावना की ओर से हटकर व्यापक दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहा है। अब सर्वत्र व्यक्ति की प्रधानता के समक्ष समाज-कल्याण को वरीयता दी जा रही है। अत: विश्व में सर्वत्र समाजवाद की लहर दौड़ रही है और प्राय: सभी राष्ट्र शिक्षा को सामाजिक कल्याण का उद्देश्य बना रहे हैं। अत: वर्तमान भारत को भी अपनी प्रचलित शिक्षा के उद्देश्य में संशोधन लाने की आवश्यकता है। परतन्त्रता के काल में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य अंग्रेजी शासन की नींव को भारत में दृढ़ करने वाले व्यक्तियों को तैयार करना था। अत: उससे शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो सकती थी। अत: भारतीय शिक्षा को अब भारतीय दृष्टिकोण अपनाना है, जिससे नवोर्जित स्वाधीनता सुदृढ़ एवं चिरस्थायी हो सके। अत: यह आवश्यक है कि भारतीय शिक्षा में रचनात्मक परिवर्तन किया जाय और भारतीय शिक्षा के अपने लक्ष्य और कार्य करने की अपनी शिक्षा हो। हमें भारत के विकास के लिये प्रत्येक क्षेत्र में अपना मार्ग स्वयं निश्चित करना है, दूसरों के पीछे रह कर हमारा कल्याण सम्भव नहीं है। अर्थात् हमें आवश्यकतानुकूल शिक्षा-पद्धति का निर्धारण स्वयं करना है। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के द्वारा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं होता और न उसे इस शिक्षा से स्वावलम्बन ही प्राप्त होता है। परीक्षा उत्तीर्ण करने के अतिरिक्त छात्रों के समक्ष अन्य कोई उद्देश्य नहीं होता। आज के छात्रों का न तो स्वास्थ्य ही उत्तम दिखाई पड़ता है और न उनमें आध्यात्मिक बल ही है। छोटी-छोटी बातों में छात्र झूठ बोलते एवं चोरी करते हैं। इस प्रकार की कतिपय समस्यायें अध्यापक के समक्ष प्रतिदिन उपस्थित होती रहती हैं। यदि शिक्षा के निश्चित उद्देश्य के अनुसार छात्र ज्ञानार्जन करें तो इस प्रकार की समस्यायें समाप्त हो जायँ। आज का विद्यार्थी कल का नागरिक है। अत: स्पष्ट है कि जैसे छात्र होंगे वैसे ही आगे चलकर नागरिक भी होंगे। आज भारत में प्रारम्भिक से लेकर उच्च शिक्षा तक के ढांचों में सुधार की आवश्यकता है। छात्र न तो कुशाग्र बुद्धि हैं और न उनका स्वास्थ्य ही उत्तम है। अत: वे अपना एवं समाज दोनों का कल्याण करने में असमर्थ हैं। सका एकमात्र कारण हमारी शिक्षा-पद्धति है। छात्र यह समझते हैं कि परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर उन्हें नौकरी मिल जायेगी। अत: वे इसी उद्देश्य की पूर्ति

में अपना स्वास्थ्य एवं बुद्धि-बल खो बैठते हैं। परीक्षा देने के उपरान्त छात्रों का अर्जित ज्ञान थोड़े ही दिनों में समाप्त हो जाता है।

वर्तमान पद्धति के अनुसार शिक्षा प्राप्त कर हमारा देश सुखी एवं समुन्नत राष्ट्रों के समक्ष नहीं टिक सकता और न स्वावलम्बी ही बन सकता है। इस वर्तमान शिक्षा-पद्धति का कुप्रभाव केवल छात्रों तक ही सीमित नहीं है, अपितु अध्यापक भी इसके शिकार हो रहे हैं। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय है कि अध्यापक समाज में अपने को अध्यापक कहने में अपनी मानहानि समझते हैं। आज समाज के अन्दर अध्यापकों की मर्यादा बिल्कुल समाप्त हो गई है। अतः वे शिक्षण-कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पाते।

सामाजिक उपेक्षा के कारण उसकी मानसिक स्थिति कुंठित हो गई है, महत्त्वाकांक्षायें शान्त हो गई हैं और ऐसी स्थिति में कभी-कभी वह अपने नैतिक बल से भी हाथ धो बैठता है। परन्तु अब हम स्वाधीन भारत के नागरिक हैं और हमें अपनी सभी योजनायें देश की आवश्यकताओं के अनुकूल स्वयं बनानी हैं। शिक्षा समाज का दर्पण होती है। अतः हम शिक्षा के द्वारा किसी देश की आन्तरिक स्थिति का पता लगा सकते हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है। अतः यहाँ की शिक्षा का उद्देश्य भारतीय कृषि को उन्नत बनाना होना चाहिए। हमारा देश गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली पर आधारित है। अतः इस देश की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य एक वर्ग-विहीन, जाति-विहीन, समृद्धिशाली और कल्याणकारी समाज की रचना करना है। इसके लिये हमें शिक्षा के ढाँचे को परिवर्तित करना पड़ेगा और सभी को शिक्षा प्राप्त करने की ओर आकर्षित करना पड़ेगा। हमारे देश में शिक्षित युवकों की बेकारी के कारण शिक्षा को बहूद्देशीय बनाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त हमारे देश की शिक्षा में व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा का भी बड़ा अभाव है। हमारी शिक्षा के उद्देश्यों में आत्मनिर्भरता, शारीरिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा, आदर्श नागरिकता, पारस्परिक प्रेम और सहयोग की भावना, लोक कल्याणकारी समाज की रचना तथा आर्थिक शोषण विहीन समाज की स्थापना को प्राथमिकता प्रदान करनी चाहिए।

२—हमारे विश्वविद्यालयों के उद्देश्य[1]

हमारे विश्वविद्यालयों के उद्देश्य और आधार क्या होने चाहिए? क्या विश्वविद्यालय में विभिन्न जीवनदर्शनों को स्थान मिलना चाहिए, अथवा इसके आधार

१. The Aims of our Universities—उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ द्वारा संचालित 'शिक्षा' के जनवरी १९५६ में प्रकाशित लेखक का एक लेख।

में एक ही जीवन-दर्शन होना चाहिए ? यदि विश्वविद्यालय के आधार में जीवन-दर्शन लाना आवश्यक है तो इसका साधन क्या हो ? विभिन्न अध्यापकों के भिन्न-भिन्न जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में विश्वविद्यालय का उत्तरदायित्व क्या है ? भारत में तो कई प्रकार के जीवन-दर्शन दिखलाई पड़ते हैं। विश्वविद्यालय-केन्द्र में उनमें एक समन्वय कैसे प्राप्त किया जा सकता है, जिससे लोग एक दूसरे के अनुभवों से अधिक से अधिक लाभ उठा सकें ? हमारे देश के वर्तमान विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में ये प्रश्न बड़े ही महत्वपूर्ण दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु इन प्रश्नों की ओर अधिकारियों तथा अन्य सम्बन्धित जनों का समुचित रूप से ध्यान नहीं जा सका है। फलतः विश्वविद्यालय की विभिन्न क्रियाओं और कार्यों में सामंजस्य का एक अभाव दिखलाई पड़ता है।

वर्तमान स्थिति में उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान खोजने में हमारा प्रयास बहुत दूर तक नहीं जा सकता। इस समय प्रयास की सीमा समस्या की एक परिचयात्मक रेखा ही होगी, क्योंकि हमारी धारणा है कि विश्वविद्यालय के अधिकांश विद्यार्थियों, शिक्षकों, अधिकारियों को मनःस्थिति इससे अधिक जानने के लिए अभी तैयार नहीं है। दूसरे इस समाधान की खोज के क्रम में गहरे चिन्तन के उपरान्त हमें कई प्रकार के परीक्षण करने होंगे। अतः इस समय चिन्तन को इस ओर जागृत करने के लिए एक प्रेरणा मात्र देने का ही यहाँ हम प्रयत्न कर सकते हैं।

क्या विश्वविद्यालय जीवन-दर्शन अथवा विभिन्न जीवनदर्शनों के सम्बन्ध में तटस्थ रह सकता है ? यदि विश्वविद्यालय इस सम्बन्ध में तटस्थ रहना चाहता है तो यह तटस्थता निष्क्रिय न होकर सक्रिय होनी चाहिए, अर्थात् विश्वविद्यालय को इन्हें अपने क्षेत्र से निकाल नहीं देना है, प्रत्युत उनके सम्बन्ध में विचार-विनिमय तथा वाद-विवाद प्रोत्साहित करना है। इस प्रोत्साहन के बिना अध्यापक तथा विद्यार्थी एक दूसरे के निकट नहीं आ सकेंगे और उनका सम्बन्ध केवल कक्षा-शिक्षण तक ही सीमित रह जायगा। आज के विश्वविद्यालय के अध्यापक और विद्यार्थी एक दूसरे के सम्पर्क में प्रायः इस प्रकार नहीं आते कि वे पारस्परिक व्यक्तिगत अनुभूतियों से अधिक से अधिक लाभ उठाकर अपने जीवन-दर्शन का रूप सुनिश्चित कर सकें। प्रायः आज का अध्यापक अपने को किसी एक विशिष्ट विषय का ही शिक्षक समझता है। वस्तुतः उसे तो "विद्यार्थियों के जीवन का शिक्षक" बनना है अर्थात् उसे विद्यार्थियों को "जीवन की शिक्षा" देनी है, उन्हें 'रहना' सिखलाना है। इस सिखाने के क्रम में विभिन्न विषय, जैसे मनोविज्ञान, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा हिन्दी आदि साधन-मात्र हैं। विद्यार्थियों को भी इस भावना से

ओत-प्रोत रहना है कि उन्हें विश्वविद्यालय में किसी क्षेत्र-विशेष की कोई डिग्री ही नहीं प्राप्त करनी है, वरन् 'जीवन की शिक्षा' अथवा पाठ लेना है; अर्थात् उन्हें 'रहना' सीखना है। 'रहना सीखने' का तात्पर्य जीविका के लिए किसी ज्ञान या कौशल से ही नहीं है। 'रहना सीखने' का तात्पर्य तो यहाँ व्यक्ति के वैसे जीवन से है जो कि दूसरों के लिए प्रेरणास्वरूप होता है।

वस्तुत: व्यक्ति को कुछ अनुकरणीय आदर्शों का प्रतीक होना है। उसे अपना जीवन इस प्रकार चलाना है कि उसका नाम ही दूसरों के लिए प्रेरणास्वरूप हो जाय। महान् पुरुषों के नाम इसी प्रकार दूसरों के लिए प्रेरणास्वरूप होते हैं। यदि हमें अपने विद्यार्थियों के जीवन को इस आदर्श की प्राप्ति की ओर नियोजित करना है तो विश्वविद्यालय में जीवन के विभिन्न आदर्शों, मान्यताओं और गूढ़ समस्याओं पर विचार-विमर्श होते रहने चाहिए। कहना न होगा कि इन विचार-विमर्शों का उद्देश्य विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास के साथ-साथ शारीरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास भी होगा। विश्वविद्यालय के अध्यापक का कर्त्तव्य केवल कक्षा-शिक्षण से ही न होकर सर्वांगीण उन्नति और विकास से होगा; और साथ ही साथ विद्यार्थी का उद्देश्य केवल डिग्री ही प्राप्त करना नहीं; वरन् शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास भी होगा। इस सम्बन्ध में अध्यापक के कर्त्तव्यों और विद्यार्थियों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि ये दोनों एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आवें और समय का अधिक से अधिक सदुपयोग करें। किन्तु आज के विश्वविद्यालय में जो उपलब्ध साधन हैं उनसे यह सम्भव नहीं दिखलाई पड़ता। अधिकांश अध्यापकों को विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कोई ऐसा उपयुक्त स्थान नहीं मिलता जहाँ बैठकर वे विद्यार्थियों की व्यक्तिगत समस्याओं को समझें, उनसे स्पष्ट हृदय और मन से बात करें और उनके जीवन-दर्शन के निर्माण में आवश्यक योग दें। अध्यापकों के लिए निर्मित कमरे बहुधा गप के केन्द्र हो जाते हैं, क्योंकि स्थानाभाव के कारण कई अध्यापकों को वहीं बैठना पड़ता है। इस ओर अधिकारियों का क्या कर्त्तव्य है वह स्पष्ट ही है।

अध्यापक और विद्यार्थियों के रूप में विश्वविद्यालय में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का होना सर्वथा स्वाभाविक है। यदि इन व्यक्तियों के विकास का समुचित आयोजन करना आवश्यक है तो उन्हें पूर्ण शास्त्रीय स्वतन्त्रता देनी होगी। विश्वविद्यालय को ऐसा समुदाय बनना है जिसमें जीवन की विभिन्न मान्यताओं के पोषक और प्रतिपादक परस्पर विचार-विनिमय के फलस्वरूप नई-नई मान्यताओं को जन्म देकर नई संस्कृति का सृजन करें परन्तु यह नई संस्कृति ऐसी हो कि लोक-मत अपने हितार्थ धीरे-धीरे इसे स्वयं स्वीकृत करले। स्पष्ट है कि विश्वविद्यालय

में जीवन की मौलिक समस्याओं की उपेक्षा नहीं करनी है, वरन् उनका स्वागत करते हुए उनकी पूरी परीक्षा करनी है।

मनुष्य अपना जीवन कैसे चलाए? किन-किन बातों का उसके जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इन बातों का परस्पर तुलनात्मक महत्त्व क्या है? व्यक्ति को किस प्रकार संसार में अपने मत को व्यवस्थित करना है? इन सब प्रश्नों का उत्तर देना विश्वविद्यालय का उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व के पालन में विश्वविद्यालय को किसी एक जीवन-दर्शन का प्रतिपादन नहीं करना है, प्रत्युत विश्व-विद्यालय का दायित्व यह है कि वह विद्यार्थियों की अपने-अपने जीवन-दर्शन के निर्माण में सहायता करे, जिससे आगे चल कर वे समाज के उपयोगी सदस्य बन सकें और परिस्थितियों के सामने जल को धारा में तृणवत् बह न जायँ। दूसरे शब्दों में हमें विद्यार्थियों को जीवन की विभिन्न समस्याओं पर गूढ़ चिन्तन करने के लिए अभिप्रेरित करना है। हमारा यह उद्देश्य नहीं है कि एक ही प्रकार से चिन्तन करें, वरन् हमारा उद्देश्य तो यह है कि वे चिन्तन करें और गहन चिन्तन करें।

प्रत्येक व्यक्ति का, चाहे वह कैसा ही क्यों न हो, अपना एक जीवन-दर्शन होता है, भले ही उसे उसकी चेतना न रहे। प्रतिदिन उसे व्यक्तिगत समस्याओं पर निर्णय करना होता है, और निर्णय करने के पूर्व व्यक्ति उसे अपने सिद्धान्त की कसौटी पर कसता है। विश्वविद्यालय के अध्यापक और विद्यार्थी-वर्ग को यह सोचना है कि इन व्यक्तिगत समस्याओं का वर्तमान युग की विभिन्न समस्याओं से क्या सम्बन्ध है। ऐसा न सोचना अपने कर्तव्य-पालन में ढिलाई दिखाना होगा। वस्तुतः विश्वविद्यालय के किसी दर्शक को भान हो जाना चाहिए कि यहाँ पर इन विभिन्न समस्याओं पर गहन विचार और तर्क के पश्चात् कुछ वास्तविक निर्णय पर पहुँचा जाता है। यदि विश्वविद्यालय में यह कार्य होता है तो उसके स्नातक यह अवश्य ही अनुभव करने लगेंगे कि उनके भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों तथा आदर्शों की नींव दृढ़ हो गई है। विश्वविद्यालय अपने को कितना ही तटस्थ क्यों न रखे, परन्तु इस सम्बन्ध में इसका उत्तरदायित्व बड़ा भारी है। किसी प्रकार विद्यार्थियों के हृदय-पट पर यह बात अंकित कर देनी है कि उन्हें अपनी तथा संसार की विभिन्न समस्याओं पर ऐसे निर्णय करने हैं जो अनुकरणीय संस्कृति के विकास में सहायक हों। इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालय अपने स्नातकों को किसी एक विशिष्ट जीवन-दृष्टिकोण की ओर नियोजित नहीं करेगा, वरन् उन्हें अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार संस्कृति-विकास में योग देने के लिए अभिप्रेरित करेगा, अर्थात् समाज हित में विश्वविद्यालय से कई प्रकार की आवाजें आयेंगी। स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध

में मौन रहना विश्वविद्यालय के लिए अपेक्षित नहीं। उसे विद्यार्थियों को संस्कृति-विकास में योग देने के लिए सदैव प्रेरित करते रहना है।

जीवन की विभिन्न समस्याओं के प्रति एक निष्ठावान तथा कर्तव्यपरायण व्यक्ति की धारणाओं को जानना एक विद्यार्थी के लिए बड़ी भारी शिक्षा हो सकती है। विश्वविद्यालय के अध्यापक को अपनी व्यक्तिगत अनुभूति और ज्ञान के आधार पर यह शिक्षा देने में समर्थ होना चाहिए। यह शिक्षा देने के क्रम में उसका उद्देश्य किसी को अपना शिष्य बनाना नहीं है, प्रत्युत दूसरों को अपने-अपने निर्णय खोजने के लिए अभिप्रेरित करना है। विश्वविद्यालय के विभिन्न अधिकारीगण, सीनेट, कोर्ट और कौंसिल के सदस्य, वाइसचांसलर, डीन तथा प्रिंसिपल आदि सभी लोगों को यह देखना है कि उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अध्यापकों और विद्यार्थियों को आवश्यक उपकरण सुलभ हैं। यदि ये सुलभ नहीं हैं तो उन्हें आयोजित करने के लिए हमें क्या करना चाहिए? यह केवल एक शिक्षा-समस्या ही नहीं है, वरन् हमारी सभी शिक्षा-समस्याओं में यह आधारभूत दिखलाई पड़ती है। इसके संतोष-जनक निराकरण पर ही विश्वविद्यालय के उद्देश्य की पूर्ति सम्भव है।

ऊपर हमने यह संकेत किया है विश्वविद्यालय में विभिन्न जीवन-दर्शनों के पोषकों और प्रतिपादकों का होना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः विश्वविद्यालय में किसी विशिष्ट जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में एकमत नहीं स्थापित किया जा सकता, परन्तु हमारे जीवन की कुछ ऐसी आधारभूत मान्यतायें हैं जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते। वस्तुतः ये मान्यतायें हमारे जीवन के विभिन्न कार्यों में निहित रहती हैं। यदि ऐसा न होता तो हम एक दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध अनुभव न करते। विचार-स्वातन्त्र्य को हम कितना ही महत्त्व क्यों न दें, परन्तु हमें किसी समान विश्वास के आधार पर तो टिकना ही होगा। इस "सत्य" की खोज में विश्वविद्यालय को रत रहना है। इस खोज में विभिन्न व्यक्तियों का योग आवश्यक है। इस योग का अर्थ यह हुआ कि योग देने वालों में कुछ मौलिक मान्यताओं के विषय में मतैक्य होगा, और इस मतैक्य में उनका अटूट विश्वास। अतः इन मान्यताओं पर किसी प्रकार का आघात लगने पर उनकी रक्षा के लिए सबको सन्नद्ध हो जाना है। परन्तु वे मौलिक मान्यतायें क्या हैं जिनकी हमें रक्षा करनी है और जिनके आधार पर हमारे विश्वविद्यालयों को अपना एक सामुदायिक जीवन बनाना है? इन मान्यताओं की पहचान कैसे की जा सकती है? इस पहचान के लिए दो साधन दिखलाई पड़ते हैं। पहला साधन इन आधारों और धारणाओं को माना जा सकता है जिनके बिना विश्वविद्यालय का कार्य चल नहीं सकता। ये आधार और धारणायें विश्वविद्यालय-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य की जड़ में हैं, किन्तु

इनका अस्तित्व ही 'आन्तरिक विश्वासघातियों' अथवा 'वाह्य हस्तक्षेप' के कारण संकट-ग्रस्त हो सकता है। जिनको विश्वविद्यालय-सम्बन्धी विविध कार्यों का भली-भाँति व्यक्तिगत अनुभव है वे ही इन 'आन्तरिक विश्वासघातियों' तथा 'वाह्य हस्त-क्षेप' के स्वरूप को समझ सकते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह कर्त्तव्य है कि वे इस सम्भावित संकट से विश्वविद्यालय की रक्षा करें। ऐसी स्थिति में उन्हें नेतृत्व करना है न कि लोक का अनुसरण।

दूसरा साधन वे मौलिक मान्यतायें हैं जो किसी विश्वविद्यालय तथा समाज के लिए समान होती हैं। हमारे देश के अधिकांश विश्वविद्यालय राजकीय न होकर सामुदायिक संस्थायें हैं, और ये सामुदायिक संस्थायें ऐसी हैं जो किसी विशिष्ट सामुदायिक विभाग का प्रतिनिधित्व न करके पूरे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। अतः उनके आधार में वे ही मौलिक मान्यतायें हो सकती हैं जो साधारण भारतीय समाज की हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय के लिये किन्हीं ऐसी मान्यताओं का पोषक बनना जो कि वर्तमान समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताओं के विपरीत हों, अनु-चित होगा। इस दृष्टिकोण का यह तात्पर्य नहीं कि विश्वविद्यालय नई संस्कृति के सृजन में योग न दे। उसे तो इस सृजन में समाज के साथ-साथ इस प्रकार चलना है कि समाज विश्वविद्यालय के स्नातकों द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं और जीवन-दर्शन को स्वयं अपने हित में स्वीकार करने के लिए अभिप्रेरित हो जाय। वस्तुतः विश्वविद्यालय का उद्देश्य ऐसे ही स्नातकों को उत्पन्न करना है। फलतः विश्वविद्यालय केन्द्र में विभिन्न विश्वासों और मान्यताओं का गहन अन्वेषण और अध्ययन किया जायेगा, और विद्यार्थियों को समाज-हित के पक्ष में गहन चिन्तन करने के लिए अभिप्रेरित किया जायगा।

यदि समाज-हितार्थ किसी एक आदर्श जीवन-दर्शन के अनुसार विश्वविद्यालय कार्य कर सकें तो उनके विभिन्न कार्यों में नयी जान आ जायगी और सभ्यता के विकास में उनका योग सराहनीय होगा। परन्तु कदाचित् ऐसा बहुत दिनों तक सम्भव नहीं हो सकेगा। तथापि हमारे विश्वविद्यालय के अध्यापक और विद्यार्थियों के जीवन-दृष्टिकोण में वे सभी मान्यतायें निहित हैं जो भारतीय जनता के दृष्टि-कोण में मिलती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जिनका सम्बन्ध विशेष-तया विश्वविद्यालय की अपनी परम्पराओं से है। यदि विश्वविद्यालय को अपनी इन परम्पराओं की रक्षा करनी है तो उसे इन मान्यताओं की स्पष्टतर व्याख्या करनी होगी। इनकी स्पष्टतर और यथेष्ट व्याख्या के आधार पर ही विश्वविद्या-लय अपने विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में समुचित योग दे सकेगा। विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास पर ही समाज अथवा संस्कृति का विकास निर्भर करेगा।

यदि विश्वविद्यालय में इस सत्य की उपेक्षा की गई तो हमारा विश्वविद्यालय अवश्य ही आन्तरिक विश्वास-घातियों अथवा 'वाह्य हस्तक्षेप' के चंगुल में फँस जायगा, उसकी गति अवरुद्ध हो जायगी और वह विभिन्न प्रकार की स्वार्थपूर्ति का केन्द्र बन जायगा। अतः देखना है कि विश्वविद्यालय इस प्रकार का केन्द्र न बनने पावे; अन्यथा उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति सम्भव न होगी।

३—पाठ्यक्रम के पुनर्संगठन की समस्या

हमारी भारतीय शिक्षा में केवल पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करने की क्षमता है। अतः इस शिक्षा के द्वारा छात्रों के क्रियात्मक ज्ञान का विकास नहीं होता। परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी-जीवन में छात्र बिना किसी रुचि के यंत्रवत् पुस्तकों का अध्ययन करते रहते हैं और उनके समक्ष ज्ञान प्राप्ति नहीं, अपितु परीक्षा उत्तीर्ण करने का प्रश्न होता है। परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त ये छात्र समाज में अपरिचित रूप में प्रवेश करते हैं और अचानक उनके समक्ष जीविकोपार्जन का प्रश्न उपस्थित होता है। उनकी शिक्षा ऐसी नहीं होती कि वे उसके द्वारा अर्जित ज्ञान के आधार पर कोई व्यवसाय अथवा उद्योग प्रारम्भ कर दें और अपनी जीविका चलायें तथा अपने माता-पिता की आशाओं को भी पूर्ण करें। बेचारे छात्र विद्याध्ययन को समाप्त कर इधर-उधर नौकरी प्राप्त करने के लिए भटकते हैं और उन्हें कहीं सफलता की झलक नहीं दिखलाई पड़ती। परिणाम यह होता है कि कितने प्रतिभासम्पन्न एवं मेधावी छात्र सामान्य लिपिक (क्लर्की) एवं छोटी-छोटी नौकरियों में अपना जीवन फँसा देते हैं और अल्पाय के लिये जीवन भर अपने को कोसते रहते हैं, क्योंकि इन लोगों को लिपिक, अध्यापक अथवा कम्पनियों के एजेन्टों के रूप में काम करने में बड़ा आर्थिक अभाव रहता है और उनमें अपने मालिकों के प्रति ईर्ष्या की भावना बढ़ती जाती है। इसके अतिरिक्त उच्च सेवाओं के लिये इतनी कठोर प्रतियोगितायें होती हैं कि उनमें सफलता प्राप्त करना टेढ़ी खीर होती है। अतः आधुनिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति का जीवन सामान्य किसान एवं मजदूर से भी बुरा हो जाता है। ऐसी दशा में वह परिवार एवं समाज दोनों के लिए बोझ हो जाता है और सर्वत्र असम्मान का भाजन बनता है।

इस प्रकार शिक्षितों की दुर्दशा में हमारे देश की शिक्षा के पाठ्यक्रम एवं शिक्षा-पद्धति का भी बड़ा भारी हाथ है। हमारी शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा है कि उसके द्वारा छात्रों की शारीरिक एवं नैतिक शक्ति का तो विकास होता ही नहीं। छात्र जो कुछ सीखते हैं, वह उनके व्यवहार की वस्तु नहीं होती, और उसे वे प्रायः शीघ्र ही भूल भी जाते हैं। इस शिक्षा के द्वारा छात्रों की सभी मूल

प्रवृत्तियों का विकास समुचित रूप से नहीं हो पाता। अतः छात्र अपने भावी जीवन के लिए पूर्ण रूप से तैयार नहीं हो पाते हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है। अतः शिक्षा के पाठ्यक्रम में कृषि को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली भारत में अंग्रेजी राज्य को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से अंग्रेजों द्वारा प्रचलित की गई थी। उनके उद्देश्य के लिए तो यह उपयुक्त थी, किन्तु स्वतन्त्र भारत में यह पाठ्यक्रम एवं शिक्षण-पद्धति बिल्कुल अनुपयुक्त है। यद्यपि स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के पाठ्यक्रमों के सुधार के लिये समय-समय पर प्रयत्न किये गये हैं और उसके लिये माध्यमिक शिक्षा-आयोग तथा विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर की गई है, किन्तु उनके सुझावों के कार्यान्वयन में अभी तक विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने संक्षेप में माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित दोषों की ओर संकेत किया है जिनको दूर करना बहुत आवश्यक है :—

१. माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम संकुचित दृष्टिकोण रखता है। इसमें व्यापकता लाने की आवश्यकता है।
२. पाठ्यक्रम कोरा सैद्धान्तिक एवं पुस्तकीय है। उसके द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास असम्भव है।
३. पाठ्यक्रम में विषयों का बाहुल्य है।
४. पाठ्यक्रम में छात्र के ज्ञान का क्रियात्मक पहलू सुसुप्तावस्था में पड़ा रहता है और उसे विकसित होने का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता।
५. पाठ्यक्रम में छात्रों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता नहीं है। उसके विषयों के अध्ययन में छात्र पूर्ण रुचि नहीं दिखलाते।
६. पाठ्यक्रम में परीक्षा की प्रधानता है।
७. पाठ्यक्रम में व्यावसायिक क्षमता का अभाव है।
८. पाठ्यक्रम में कृषि-शिक्षा को उपयुक्त स्थान नहीं दिया गया है।
९. पाठ्यक्रम में समाज-सेवकों एवं राष्ट्रनिर्माताओं को उत्पन्न करने की क्षमता का अभाव है।
१०. पाठ्यक्रम में नैतिक एवं सांस्कृतिक शिक्षा का अभाव है, जो कि भारतीय शिक्षा का प्राण है।

उपर्युक्त दोष सर्वमान्य हैं और उनको दूर करने का प्रयत्न अखिल भारतीय स्तर पर किया जा रहा है। प्रायः सभी राज्यों में माध्यमिक शिक्षा-आयोग द्वारा

की गई सिफारिशों को कुछ हद तक कार्यान्वित करने का प्रयास किया जा रहा है। इस दिशा में उत्तर प्रदेशीय सरकार ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस राज्य में माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिये माध्यमिक शिक्षा-आयोग एवं उत्तर प्रदेशीय माध्यमिक शिक्षा-पुनर्गठन समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने का कुछ प्रयास किया जा रहा है। फलतः प्राविधिक एवं जूनियर हाई स्कूलों में बेसिक शिक्षण प्रणाली कार्यान्वित की गई है, जिसका माध्यम कोई हस्तकला होती है और इस शिक्षा में ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि-शिक्षा को प्राथमिकता दी गई है। माध्यमिक शिक्षा द्वारा छात्रों का सर्वांगीण विकास हो एवं उनमें स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न हो जाय, इस उद्देश्य से बहुत से राज्यकीय माध्यमिक विद्यालय बहूद्देशीय विद्यालयों में परिवर्तित कर दिये गये हैं और प्रति वर्ष इस प्रकार के बहूद्देशीय विद्यालय खोले जा रहे हैं। इस शिक्षा का उद्देश्य यह है कि छात्र माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त अपने पैरों पर खड़े हो जायँ एवं अपनी जीविकोपार्जन की समस्या को स्वयं सुलझा सकें।

इन बहूद्देशीय माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों को साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त कला-कौशल, उद्योग, व्यवसाय, कृषि एवं इंजीनियरिंग इत्यादि के शिक्षण की व्यवस्था की गई है। इसका उद्देश्य यह है कि छात्र स्वावलम्बी बन सकें एवं राष्ट्रोत्थान के लिये हमारी विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के लिये अधिक संख्या में कार्यकर्त्ता मिल सकें। हमारे देश में विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने के लिये वैज्ञानिक, चिकित्सकों, समाज-सेवियों, अभियन्ताओं एवं टेकनिशियन इत्यादि की बड़ी आवश्यकता है। अतः बालकों में ऐसी शिक्षा का बीजारोपण करना नितान्त आवश्यक है। इस मत पर हमारे देश के सभी शिक्षा-शास्त्री सहमत हैं कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में विभिन्न प्रकार की हस्तकलाओं को स्थान दिया जाय, विज्ञान की शिक्षा के लिए छात्रों को अधिक सुविधा प्रदान की जायं, बहूद्देशीय विद्यालयों एवं जूनियर टेकनिकल स्कूलों की स्थापना की जाय एवं अधिक से अधिक माध्यमिक स्कूलों को बहूद्देशीय विद्यालयों में परिवर्तित किया जाय।

प्रायः विश्वविद्यालय-शिक्षा में भी वही दोष विद्यमान हैं जिनकी ओर माध्यमिक शिक्षा में संकेत किया जा चुका है। विश्वविद्यालय-शिक्षा के पाठ्यक्रम में साहित्यिक विषयों की प्रचुरता है और प्रायः अभी तक हिन्दी, अंग्रेजी, इतिहास, एवं राजनीति आदि विषयों के अध्ययन पर बल दिया जाता था और इनकी अपेक्षा भौतिक शास्त्र, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान एवं गणित आदि विषयों के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान न था, परन्तु स्वाधीनता के उपरान्त विश्वविद्यालय-शिक्षा का महत्त्व विशेष रूप से समझा गया एवं उसके सुधार की ओर हमारे देश के शिक्षा-

शास्त्रियों एवं राष्ट्र के कर्णधारों का ध्यान विशेष रूप से गया। वास्तव में विश्व-विद्यालय-शिक्षा को देखकर ही किसी देश की आन्तरिक स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि विश्वविद्यालय ही वह केन्द्र है, जिससे समाज के सर्वोत्तम कार्यकर्त्ताओं की उत्पत्ति होती है। इसी विश्वविद्यालय रूपी खान से देश के नव निर्माण के लिये साधक, चिन्तक, कवि, प्रशासक, चिकित्सक, अभियन्ता, अर्थशास्त्री, कुशल कलाकार, नियोजन-निर्माता एवं निपुण राजनीतिज्ञ उत्पन्न होते हैं। अतः विश्वविद्यालय-शिक्षा का देश एवं काल के अनुरूप होना नितान्त आवश्यक है। हमारी विश्वविद्यालय-शिक्षा के दोषों को दूर करने के लिए पाठ्यक्रम-सम्बन्धी जो सिफारिशें विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग ने की हैं, वे प्रायः समीचीन है और उन्हीं पर संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकाश डाला जायगा।[1]

विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग द्वारा विश्वविद्यालय-शिक्षा के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित शिक्षाओं को सम्मिलित करने की सिफारिश की गई है :—

(१) सामान्य शिक्षा

(२) उदार शिक्षा

(३) व्यावसायिक शिक्षा

(१) सामान्य शिक्षा की उपादेयता

विश्वविद्यालय-शिक्षा ही नहीं अपितु शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर सामान्य ज्ञान की शिक्षा की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि बिना इस ज्ञान के व्यक्ति की आव-श्यकताओं की पूर्ति नहीं होती और केवल एक विषय का ज्ञान रखने वाला विश्व-विद्यालय का छात्र बिना सामान्य ज्ञान के कूप-मंडूक बना रहता है और उसे जीवन में काम करने वाली सामान्य बातों की जानकारी नहीं हो पाती। अतः वह अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों जीवन में निष्फल रहता है। अतः यह आवश्यक है कि विशेषकर विश्वविद्यालय-शिक्षा के पाठ्यक्रम में सामान्य शिक्षा की व्यवस्था अवश्य की जाय। उच्च सेवा की प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले अभ्या-र्थियों के उत्तरों से पता चला है कि वे अपने विषय के पूर्ण ज्ञाता होते हुए भी अन्य विषयों की सामान्य जानकारी भी नहीं रखते। यह स्थिति बड़ी लज्जास्पद है। केवल एक ही विषय की जानकारी तो केवल एकांगी है और ठीक वैसे ही है कि किसी व्यक्ति की दृष्टि बहुत तीव्र हो किन्तु उसके कान बहरे और हाथ-पैर पंगु हों। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वस्थ शरीर के लिये स्वस्थ

---

१. Utility of General Education.

मस्तिष्क एवं अन्य स्वस्थ अंगों का होना आवश्यक है, उसी भाँति ज्ञान रूपी शरीर, के विभिन्न शास्त्रों रूपी अंगों का पुष्ट होना नितान्त आवश्यक है।

(२) उदार शिक्षा की उपादेयता[1]

समाज को प्रगति-पथ पर लाने एवं लोगों में स्वतन्त्र रूप से विचार करने की भावना को उत्पन्न करने के लिए मानव-जीवन में उदार शिक्षा का बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा समाज के अन्दर नवीन विचार एवं नव निर्माणकर्ताओं की उत्पत्ति होती है तथा इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके द्वारा मनुष्य के अन्दर निर्भीक होकर दूसरों के गुणों एवं दोषों पर प्रकाश डालने की शक्ति उत्पन्न होती है। अतः इस शिक्षा के द्वारा कुमार्ग पर जाने वाले लोगों को सावधान किया जाता है। किसी भी राष्ट्र एवं समाज का कल्याण इसी में है कि उसका प्रत्येक नागरिक, चाहे वह बहुत बड़ा विद्वान हो अथवा सामान्य जन हो, अपने को समाज का सेवक समझे। तभी राष्ट्र की प्रगति सम्भव है। अतः इस प्रकार की शिक्षा के रूप में राजनीति, मनोविज्ञान, दर्शन-शास्त्र और कानून इत्यादि की शिक्षा दी जानी चाहिए एवं इन विषयों में आवश्यक रूप से अनुसन्धान को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त इन विषयों की शिक्षा के लिए समय-समय पर सम्मेलनों एवं गोष्ठियों का आयोजन होना चाहिए।

(३) व्यावसायिक शिक्षा की उपादेयता[2]

एक प्रकार से विद्यार्थी के लिये व्यावसायिक शिक्षा की उपादेयता सर्वोपरि है, क्योंकि इस शिक्षा के द्वारा वह भविष्य में जीविकोपार्जन एवं सांसारिक जीवन को सुखमय बनाने की बाँकी झाँकी देखता है। इस युग में जिसके पास धन है, उसके लिये सब कुछ सरल है और धनाभाव में बहुत कुछ असम्भव है। विशेषकर विश्वविद्यालय की शिक्षा में तो यह गुण होना ही चाहिए कि उसको प्राप्त करने वाला छात्र व्यवसाय के लिए न भटके। परन्तु इस प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा की परिभाषा का यह तात्पर्य नहीं है कि छात्र केवल जीविकोपार्जन एवं संसार की भोग-विलास की सामग्रियों को ही एकत्र करने में पड़ा रहे, अपितु इसका तात्पर्य यह है कि इस शिक्षा के द्वारा सभी मानवीय गुण का विकास हो और छात्र स्वावलम्बी बन कर समाज के समक्ष आदर्श नागरिक के रूप में उपस्थित हो। इस शिक्षा में कृषि, इंजीनियरिंग, शिक्षा-शास्त्र, वाणिज्य, टेकनॉलॉजी एवं चिकित्सा इत्यादि विषय सम्मिलित किये जा सकते हैं।

---

१. Utility of Liberal Education.

२. Utility of Professional Education.

वास्तव में आयोग द्वारा सुझाये गये ये तीनों शिक्षा के प्रस्ताव बहुत ही उपयुक्त हैं और इनके सम्मिश्रण से विश्वविद्यालय की शिक्षा जीवन के सभी क्षेत्रों में उपयुक्त सिद्ध हो सकती है। परन्तु तीनों प्रकार की शिक्षा का अध्ययन छात्र को समन्वयात्मक रीति से करना चाहिए। ऐसा करने से ही ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है क्योंकि ज्ञान एक अथाह समुद्र की भाँति है और विभिन्न प्रकार के शास्त्र उसे जानने के साधन मात्र हैं और उन सबका आपस में पारस्परिक सम्बन्ध है। इसी भाँति प्रारम्भिक से लेकर उच्चतम शिक्षा तक के पाठ्यक्रम में निश्चित उद्देश्य को लक्ष्य करके आवश्यक परिवर्तन होने चाहिए। स्वतन्त्रता के बाद यद्यपि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई आयोगों एवं समितियों की नियुक्ति की गई है। किन्तु पाठ्यक्रम के संशोधन में अभी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है और प्रायः प्राचीन शिक्षण-पद्धति ही विस्तृत की जा रही है। आयोगों द्वारा इस दिशा में किये गये कार्य अपूर्ण सिद्ध हुए हैं और सुधार सम्बन्धी कार्य आधार-हीन जान पड़ते हैं। इसलिए समस्त शिक्षा के पाठ्यक्रम में अखिल भारतीय स्तर पर परिवर्तन किया जाय और उसे अनिवार्य रूप से सभी राज्यों में कार्यान्वित कर दिया जाय।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में समाज-सेवा का विषय अनिवार्य कर दिया जाय तथा छात्र एक वर्ष में समस्त भारत का भ्रमण करें और उनका सम्पर्क समाज के विभिन्न वर्गों से स्थापित किया जाय। इस प्रकार आधुनिक स्नातक समाज के सभी प्राणियों से मिल कर जीवन व्यतीत करना सीखेंगे एवं उनमें भाई-चारे का सम्बन्ध स्थापित होगा तथा उन्हें विभिन्न व्यवसाय के विषय में कुछ न कुछ जानकारी होगी। अभी जो छात्र अपने को समाज से पृथक् समझते हैं और भोली-भाली ग्रामीण जनता के बीच में जिन्हें रहना अच्छा नहीं लगता वे ही ग्रामीण किसानों एवं मजदूरों के साथ रह कर उनके कार्यों का मूल्यांकन करेंगे और उनकी सेवाओं को भूलेंगे नहीं। आज समाज में जो इतनी शोषण एवं विषमता की भावना फैली हुई हैं उसका कारण है नागरिकों, राज्य के उच्च अधिकारियों एवं जनता का पारस्परिक सम्पर्क का अभाव। सम्भवतः इसी सम्पर्क के दृष्टिकोण से योरोप के कुछ देशों में स्नातक का प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण योरोप का परि-भ्रमण अनिवार्य कर दिया गया है। इस प्रकार शिक्षा में अधिक से अधिक हस्त उद्योगों के अध्ययन एवं जन-सम्पर्क स्थापित करने पर बल देने की आवश्यकता है। यदि हमें भारत में समाजवादी राज्य की स्थापना करनी है तो यह आवश्यक है कि छात्रों को ग्रामीण जनता के बीच दिल खोलकर कार्य करने की शिक्षा देनी होगी, क्योंकि किसी भी राष्ट्र की उन्नति का अनुमान उसकी अधिकतम जन-संख्या

के सुख एवं समृद्धि से ही लगाया जाता है। अतः गाँवों के देश भारत को अन्त-र्राष्ट्रीय क्षेत्र में अग्रसर करने के लिये हमें ग्राम-सुधार-शिक्षा पर विशेष बल देना है।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय शिक्षा की रूढ़िगत एवं परम्परा से आई हुई रीतियों को युग के अनुकूल परिवर्तित करना है, क्योंकि बिना इनके परिवर्तन के हमारा देश विश्व के उन्नतिशील राष्ट्रों की दौड़ में पीछे रह जायगा। अतः विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में व्यावहारिक शिक्षा को सम्मिलित करने की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये छात्रों में ललित कलाओं को विकसित करना आवश्यक है। विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से खेल-कूद, संगीत एवं नृत्य इत्यादि सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेना चाहिए। छात्रों को वर्ष भर में कम से कम दो बार परिभ्रमण के लिए ले जाना चाहिए। इससे छात्रों को वाह्य ज्ञान होगा एवं उनके अर्जित ज्ञान की पुष्टि होगी। इसी भाँति समय-समय पर छात्रों एवं छात्राओं को सम्मिलित रूप से सांस्कृतिक कार्य-क्रमों में भाग लेकर भारतीय संस्कृति को युगानुकूल बनाने की आवश्यकता है।

४—छात्रों में अनुशासनहीनता

भारतीय शिक्षा में अनुशासन की समस्या दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है। जहाँ प्राचीन भारत का छात्र अपने संयम, विनय, अनुशासन एवं बड़ों के प्रति श्रद्धा के लिये जगत्प्रसिद्ध था और बड़े-बड़े सत्ताधारी उसके समक्ष नतमस्तक होते थे, आज उसी की अनुशासनहीनता की शिकायत चारों दिशाओं से आ रही है। यह अनुशासनहीनता कक्षा में और कक्षा के बाहर भी दृष्टिगोचर होती है। यदि इस समस्या का उचित समाधान न हुआ तो विद्यार्थी-समाज अधोगति के गर्त में जायगा। यों तो यह अनुशासन की समस्या प्रायः शिक्षा के सभी स्तरों में कुछ न कुछ विद्य-मान है, किन्तु माध्यमिक एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों में अनुशासन की बड़ी जटिल समस्या है। माध्यमिक विद्यालय तक पहुँचते-पहुँचते छात्र कैशोर्य में आ जाते हैं एवं उनकी प्रवृत्तियों का विकास बड़े वेग से होने लगता है। इस समय उनको लेशमात्र अवसर मिलने पर भी शरारत सूझने लगती है और वे छोटी-छोटी बातों से क्षुब्ध होकर अनुशासनहीनता कर बैठते हैं। इसके प्रतिकूल विश्वविद्यालय के छात्र अपेक्षाकृत कुछ अधिक परिपक्व रहते हैं और वे अपने अधिकारों से कुछ परिचित हो जाते हैं और जब उन्हें किसी प्रकार से सामाजिक अहित या अधिकारों का अपहरण दिखाई पड़ता है तब वे विध्वंसात्मक कार्य आरम्भ कर देते हैं। इसके अतिरिक्त छात्रगण बहुत से कार्य सामाजिक उपद्रव के लिये भी कर बैठते हैं। परन्तु इस अनुशासनहीनता में केवल छात्र ही दोषी नहीं कहे जा सकते। उनको अनुशासनहीनता की प्रेरणा सामाजिक वातावरण से भी मिलती है।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की अनुशासनहीनता का अध्ययन किया एवं उसके वैयक्तिक एवं सामूहिक दो स्वरूप निर्धारित किये। आयोग का मत है कि भारतीय छात्र व्यक्तिगत रूप से अनुशासनहीन नहीं होता और उसमें आज भी अपने गुरुजनों एवं बड़ों के प्रति श्रद्धा की भावना विद्यमान है। वह केवल सामूहिक प्रभाव में आकर अनुशासनहीनता कर बैठता है। छात्रों को इस अवस्था में अपने काम के परिणाम का भान बहुत कम हो पाता है। अतः दूसरे से प्रेरणा पाकर वह संगठित होकर मनमाना काम कर बैठता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि छात्रों की अनुशासनहीनता का प्रचार वस्तु-स्थिति को अतिरंजित करके किया जाता है।

भारत का प्राचीन छात्र बहुत विनयी था और उस समय अनुशासन की समस्याओं का नाम भी न था, पर आज उसका कुप्रभाव समाज में व्याप्त है। अतः इसके प्रादुर्भाव का पता लगाना है। इस दिशा में गम्भीरता से विचार करने से ज्ञात होता है कि अनुशासनहीनता का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। प्रायः अनुशासनहीनता का श्रीगणेश स्वाधीनता-प्राप्ति की प्रबल भावनाओं से हुआ है। छात्रों में संगठित होने की भावना होती है। परिणामस्वरूप हमारे देश के नेताओं ने स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए छात्रों से हड़ताल करने एवं विदेशी शासन की बुराइयों का प्रचार करने में सहयोग प्राप्त किया। यद्यपि उस समय भारतीय छात्रों का यह कर्त्तव्य था कि वे अपने देश को स्वाधीन बनाने में नेताओं का साथ दें, पर उनकी वे भावनायें एवं क्रिया-कलाप अब स्वतंत्र भारत के लिए उपयुक्त नहीं हैं। किन्तु अब छात्रों के लिए देश के किसी भी आन्दोलन में भाग लेना स्वाभाविक हो गया है और वे किसी प्रकार का अनियमित कार्य देखकर आज भी उपद्रव कर बैठते हैं। आज भी कुछ राजनीतिक नेता वैसे तो छात्रों की अनुशासनहीनता की कटु आलोचना करते हैं, किन्तु चुनाव के अवसरों पर उनसे अनुचित लाभ उठाते हैं और अपने पक्ष में उन्हें प्रचार करने के लिए प्रेरित करते हैं।

छात्रों की अनुशासनहीनता का दूसरा प्रमुख कारण आधुनिक शिक्षा की उद्देश्यहीनता है। छात्र बहुधा बिना किसी उद्देश्य के शिक्षा प्राप्त करते चले जाते हैं और शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त उनके समक्ष जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं दिखलाई पड़ता। अतः वे क्षुब्ध होकर अनुशासनहीनता का परिचय देते हैं। आधुनिक परीक्षा-प्रणाली भी छात्रों में अप्रत्यक्ष रूप से कुछ अनुशासनहीनता उत्पन्न करती है। आधुनिक परीक्षा-विधि ऐसी है कि उसमें छात्र के वर्ष भर के दैनिक कार्य को कुछ महत्त्व नहीं दिया जाता और केवल वर्ष के अन्त में पाँच या छः प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर उसकी सम्पूर्ण योग्यता का मूल्यांकन किया जाता है।

ऐसी स्थिति में वर्ष भर अपने अध्ययन में रत रहने के लिए छात्र अभिप्रेरित नहीं होता, और वह परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करने का प्रयत्न करता है। जब परीक्षा-भवन में अनुचित साधनों को अपनाने से उसे निरीक्षक रोकता है तो वह अनुशासनहीनता पर तुल जाता है। वस्तुतः अध्यापक-निरीक्षक के लिए परीक्षा-काल बड़ा विकट होता है। इस समय निरीक्षक की स्थिति साँप और छँछूदर की होती है। यदि वह छात्रों को अनुचित साधनों के प्रयोग से रोकता है तो उसे प्राणों की बाजी लगानी पड़ती है और यदि नहीं रोकता तो जीविका से हाथ धोना पड़ता है। स्मरण रहे कि कई ऐसी दुर्घटनाएँ परीक्षा-काल में घटी हैं जिनसे निरीक्षक मौत के घाट उतार दिये गये। शिक्षा-विभाग को इस दिशा में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

छात्रों की अनुशासनहीतना का एक कारण अभिभावकों की उदासीनता है। आजकल छात्रों का अधिक समय घर पर उनके अभिभावकों के साथ व्यतीत होता है और उन्हें विद्यालय में रहने का समय घर की अपेक्षाकृत बहुत कम मिलता है। कक्षा में छात्रों की अधिक संख्या होने के कारण अध्यापकों का उनसे प्रत्यक्ष सम्पर्क भी नहीं स्थापित हो पाता। ऐसी दशा में छात्रों की अनुशासनहीनता का बहुत कुछ दायित्व अभिभावकों पर भी है।

छात्रों की अनुशासनहीनता का कारण आधुनिक युग में छात्रों की बढ़ती हुई संख्या एवं उसके लिए उपयुक्त विद्यालय-भवन वं संगठन-सामग्री का अभाव भी है। प्रायः देखा जाता है कि कहीं-कहीं छात्र स्थानाभाव के कारण भेंड़ की तरह बैठते हैं और उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

परन्तु छात्रों में अनुशासनहीनता का सबसे प्रमुख कारण अध्यापकों की दयनीय स्थिति एवं व्यक्तिगत विद्यालयों की व्यवस्था है। आजकल अध्यापकों की बड़ी दयनीय स्थिति है। उनकी आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय है कि उनको सदैव अपने भरण-पोषण की चिन्ता लगी रहती है। ऐसी स्थिति में वे अपना काम निपुणता के साथ नहीं कर पाते। अतः स्वाभाविक है कि छात्र उनकी खिल्ली उड़ायेंगे और उनका सम्मान घटता जायगा। इसके अतिरिक्त अध्यापकों का सामाजिक गौरव भी समाप्त हो गया है। विद्यालयों के व्यवस्थापकों की दृष्टि में अध्यापकों का सम्मान बहुत कम होता है और अधिकांशतः अध्यापकों की सेवायें अरक्षित रहती हैं। ऐसी दशा में जब छात्र अध्यापक के गौरव का सर्वत्र अभाव पाता है तो उसकी दृष्टि में भी अध्यापक की मर्यादा कम हो जाती है, और छात्र अनुशासनहीनता की धृष्टता कर बैठता है। यदि अध्यापक योग्य हों और निश्चिन्त होकर छात्रों को विद्यादान करें तो क्या मजाल है कि छात्रों में किसी प्रकार के दुस्साहस

की भावना उत्पन्न हो । कतिपय ऐसे अध्यापक देखे गये हैं जिनका गौरव छात्रों की दृष्टि में सर्वोपरि माना गया है और वे सदैव अपने गुरुजनों की आज्ञा का अक्षरशः पालन करते रहे हैं ।

शिक्षा की वर्तमान समस्याओं के परिशोधन के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक को वास्तव में शिक्षक बनाया जाय और उसका स्थान राष्ट्र में बहुत ऊँचा समझा जाय जिससे योग्य व्यक्ति इस क्षेत्र में पदार्पण करें एवं छात्रों को अपनी योग्यता से प्रभावित कर सकें । ज्ञान में इतना प्रभाव होता है कि अन्ततोगत्वा उसका प्रभाव छात्रों पर पड़े बिना नहीं रह सकता । अतः अध्यापक की आर्थिक स्थिति इतनी सुदृढ़ कर दी जाय कि वे धन की चिन्ता न करके ज्ञान-वर्धन को धुन में लगे रहें । इसके अतिरिक्त शिक्षा द्वारा बालक के सर्वांगीण विकास का ध्यान रक्खा जाय तथा शिक्षा में व्यावसायिक क्षमता की प्रधानता हो जिससे शिक्षित युवकों को बेकारी का शिकार न बनना पड़े । अभिभावक घर पर छात्रों के पढ़ने के अनुकूल वातावरण रक्खें और उन्हें बुरी संगति से बचायें, क्योंकि छात्र-जीवन में संगत का बड़ा प्रभाव पड़ता है । परीक्षा-विधि में सुधार किया जाय एवं छात्रों को प्रतिदिन के कार्य पर पुरस्कृत किया जाय एवं कक्षोन्नति दी जाय । छात्रों की माँगों के औचित्य को समझकर स्नहेपूर्वक उन्हें सुविधा देनी चाहिए तथा उन्हें धमकी अथवा दंड देने की अपेक्षा प्रेम एवं सहानुभूति से अपने पक्ष में करना चाहिए ।

५—परीक्षा-पद्धति की समस्या

भारतीय शिक्षा की कतिपय समस्याओं का मूल कारण यहाँ की परीक्षा प्रणाली भी है । शिक्षितों में बढ़ती हुई बेकारी की समस्या, छात्रों की अनुशासन-हीनता एवं शिक्षा के गिरते हुए स्तर में वर्तमान भारतीय परीक्षा-पद्धति का बहुत बड़ा हाथ है । आज कल शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य परीक्षा उत्तीर्ण कर कागजी प्रमाण-पत्र लेना होता है । इसका परिणाम यह हो रहा है कि शिक्षा अपने मुख्य उद्देश्यों से कोसों दूर होती चली जा रही है, और उसका महत्त्व दिन प्रति दिन गिरता जा रहा है । परीक्षा पास करने के उद्देश्य से छात्र वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर पाते और वे जीवन में सदैव अपूर्ण ही बने रहते हैं । छात्र वर्ष भर इधर-उधर आनन्द से घूमते हैं और परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए कुछ चुने हुए प्रश्नों के उत्तर रट लेते हैं । यदि वे ही प्रश्न परीक्षा में आ गये, तो कहना ही क्या है, छात्र बिना यथोचित मूल्य के ही वस्तु की प्राप्ति कर लेता है और वे प्रश्न न आयें तो अभिभावक का वर्ष भर का व्यय व्यर्थ होता है और छात्र भी बेकार हो जाता है । पर यदि छात्र कुछ चुने हुए प्रश्नों के उत्तर रट कर उत्तीर्ण भी हो जाय तो इससे उसके जीवन में बहुत कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और वास्तविक ज्ञान

के अभाव में उसे व्यावसायिक क्षेत्र में असफलता मिलती है, क्योंकि छात्र अपनी ज्ञान-गरिमा को परीक्षा-भवन में उड़ेलकर खोखला मस्तिष्क लेकर के सांसारिक जीवन में प्रवेश करते हैं। अतः शिक्षा में वर्तमान परीक्षा-प्रणाली की प्रधानता के कारण वास्तविक ज्ञान का हनन हो रहा है।

वर्तमान परीक्षा-पद्धति में बहुत से परीक्षक होते हैं और उन सब का दृष्टिकोण स्वभावतः भिन्न होता है। ऐसी दशा में बहुधा अंकदान में अन्तर पड़ जाता है और सभी छात्रों के साथ न्याय करना असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान परीक्षा-पद्धति में कभी-कभी तो परीक्षकों को उत्तर-पुस्तकों को जाँचने का बहुत कम समय मिलता है और वे न्यायतः उसकी जाँच नहीं कर पाते। इस परीक्षा-प्रणाली का सबसे बड़ा दोष तो यह है कि परीक्षार्थी का ज्ञान स्थायी नहीं होता और परीक्षा उत्तीर्ण करने के कुछ ही दिनों बाद बहुत सी बातें भूल जाती हैं। इस परीक्षा-प्रणाली से छात्रों एवं अध्यापकों का नैतिक पतन भी होता जा रहा है। छात्र वर्ष भर कुछ नहीं पढ़ते और परीक्षा में अनुचित साधनों के प्रयोग का प्रयत्न करते हैं। कहीं-कहीं अध्यापक भी उन्हें इस बात के लिए प्रेरणा देते हैं। इसके अतिरिक्त वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के द्वारा शिक्षा का स्तर दिन प्रति दिन गिरता जा रहा है और अध्यापकों तथा छात्रों का पारस्परिक सम्पर्क भी घटता जा रहा है।

उपर्युक्त समस्याओं को हल करने के लिए यद्यपि समय-समय पर कुछ प्रयत्न किये गये हैं, तथापि परीक्षा का स्वरूप ज्यों का त्यों बना हुआ है और जब कि वर्तमान परीक्षा-पद्धति की समस्या दिन प्रति दिन जटिल होती जा रही है, इसके सुधार के लिए कोई क्रियात्मक एवं रचनात्मक कदम नहीं उठाया जा रहा है। ब्रिटिश शासन-काल में भी विभिन्न विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोगों ने परीक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था, पर उसमें कोई रचनात्मक परिवर्तन नहीं किया जा सका। इधर स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न शिक्षा आयोगों एवं राष्ट्रीय स्तरों पर निर्मित होने वाली शिक्षा-समितियों ने भी वर्तमान परीक्षा-प्रणाली की बड़ी कटु आलोचना की है और इसमें सुधार के लिए मूर्त्त परीक्षाओं एवं आन्तरिक परीक्षकों की नियुक्ति के लिए विशेष रूप से सिफारिश की है। परन्तु दुर्भाग्यवश इनका प्रचलन अभी तक दृष्टिगोचर नहीं होता। परीक्षा-प्रणाली में संशोधन करने के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने सन् १९५३ ई० में ये सिफारिशें[1] की थीं :—

---

१. Report of the Secondary Education Reorganisation Committee, U. P., 1953 p. 41.

१. छात्रों के ज्ञान की परीक्षा लेने के लिए परीक्षकों की नियुक्ति बाहर से न की जाय, अपितु उनको पढ़ाने वाले अध्यापक ही उनकी योग्यता की जाँच करें।

२. छात्रों की उनकी योग्यता का प्रमाण-पत्र केवल वार्षिक परीक्षा के आधार पर न दिया जाय, अपितु इसमें उनका वर्ष भर का कार्य सम्मिलित किया जाय।

३. विभिन्न विषयों में अध्यापकों द्वारा दिये गये अंकों के औचित्य का अनुमान लगाने के लिए उन्हीं विषयों के अंकों की तुलना अन्य विद्यालयों के शिक्षकों द्वारा प्रदान किये गये अंकों से करनी चाहिए।

उपर्युक्त सुझावों से अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्तमान परीक्षा-प्रणाली छात्रों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है और उसमें परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है।

भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी नवीन परीक्षा-प्रणाली को प्रोत्साहित किया जा रहा है। पाश्चात्य देशों में परीक्षा-प्रणाली को अधिक से अधिक वैज्ञानिक रूप दिया जा रहा है। इस दिशा में अमेरिका बहुत आगे है। यहाँ पर छात्रों की वुद्धि, योग्यता, अभिरुचि एवं व्यक्तित्व की परीक्षा मूर्त्त विधि से ली जाती है। बालकों की मानसिक दशा की जानकारी करने के लिए यंत्रों का प्रयोग अमेरिका बड़ी तेजी से कर रहा है। अमेरिका शिक्षा परिषद की अध्यक्षता में काम करने वाली 'मार्ग-प्रदर्शन समिति'[१] ने बालकों की मनोदशा के अध्ययन के संबंध में बहुत प्रभावशाली कार्य किया है। इसके अतिरिक्त इस समिति ने अमेरिकी परिषद की मनोवैज्ञानिक क्षमताओं के संबंध में महत्त्वपूर्ण अन्वेषण किये हैं। अमेरिका के कतिपय राज्यों में मूर्त्त परीक्षा का सफल प्रयोग चल रहा है। स्पष्ट है कि अमेरिका की परीक्षा-पद्धति को भारत में भी आवश्यकतानुसार संशोधित कर के लागू किया जा सकता है।

भारत में बढ़ती हुई शिक्षितों की बेकारी को दूर करने में इस परीक्षा-प्रणाली से बहुत सहायता मिलेगी और छात्र अपनी-अपनी बुद्धि एवं रुचि के अनुसार व्यवसाय में लग जायेंगे। हर्ष की बात है कि हमारी सरकार अब इस तरफ कुछ ध्यान दे रही है और देश के कुछ राजकीय माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों की मनोवैज्ञानिक दशा की जाँच कर उन्हें अध्ययन के लिए उपयुक्त विषयों के चुनने

---

१. Committee on Measurement and Guidance.

में सहायता प्रदान करने के लिये एक मनोविज्ञान के अध्यापक की नियुक्ति की जाने लगी है। अतः मनोवैज्ञानिक परीक्षा[1] तथा ज्ञान-परीक्षा[2] का प्रयोग व्यापक रूप से करना चाहिए, जिससे सभी व्यक्तिगत एवं राजकीय संस्थाओं के छात्र इससे लाभान्वित होकर अपने अनुकूल शिक्षा ग्रहण करें।

वर्तमान परीक्षा-प्रणाली के दोषों को दूर कर भारत के लिये अनुकूल शिक्षा-प्रणाली का निर्माण करने के लिए शिक्षा-विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाय और वे इस विषय में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये विश्वविद्यालयों में भी ऐसे शिक्षा-बोर्ड की नियुक्ति होनी चाहिए जो परीक्षा के विविध पहलुओं पर विचार करें एवं उसे आवश्यकता के अनुकूल बना सके। विश्वविद्यालयों में प्रवेश पाने से पूर्व छात्रों के लिये मनोवैज्ञानिक एवं ज्ञान-परीक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिए। छात्रों को उनके कार्य में उत्साहित करने के लिये उनके कार्य की प्रतिदिन जाँच की जाय एवं उन्हें कक्षोन्नति देने में प्रतिदिन के कार्य का ध्यान रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त छात्रों के नैतिक बल को प्रोत्साहित करने के लिए उनकी नैतिक परीक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जब तक छात्र स्वतः अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को नहीं समझेंगे, तब तक शिक्षा में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता एवं गिरते हुए स्तर आदि के दोष दूर न होंगे।

६—भारतीय शिक्षा का नियंत्रण तथा प्रबन्ध[3]

भारतीय शिक्षा के उत्थान एवं पतन में शिक्षा के नियंत्रण एवं प्रबन्ध का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः अब हम यहाँ भारत के प्रचलित विभिन्न स्तर की शिक्षा के नियन्त्रण एवं प्रबन्ध पर विचार करेंगे। भारत में प्राथमिक एवं जूनियर हाई स्कूल की शिक्षा मुख्यतः जिला बोर्ड एवं नगरपालिकाओं की व्यवस्था के अन्तर्गत होता है। इसके अतिरिक्त कुछ स्कूलों का प्रबन्ध राज्य सरकारों द्वारा होता है और कुछ का प्रबन्ध धार्मिक संस्थाओं एवं व्यक्तिगत प्रबन्धों द्वारा होता है। इन विद्यालयों में निरीक्षण के लिये उप-जिलाविद्यालय-निरीक्षक एवं सहायक उप-जिलाविद्यालय-निरीक्षक होते हैं। माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था दो प्रकार से होती है। प्रायः प्रत्येक जिले में एक आदर्श राजकीय या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय होता है जिसका सम्पूर्ण प्रबन्ध राज्यीय सरकार करती है। इसके अतिरिक्त अधिकांशतः विद्यालय जनता द्वारा निर्मित प्रबन्ध-समितियों की व्यवस्था के अन्तर्गत चलते हैं। इसके अतिरिक्त रेलवे, डाक-तार-विभाग तथा सुरक्षा इत्यादि

१. Intelligence or Psychological test.
२. Achievement test.
३. Control and Management of Indian Education.

विभागों की ओर से अपने बच्चों की शिक्षा के लिये माध्यमिक विद्यालयों की व्यवस्था कहीं-कहीं होती है। शिक्षा की व्यवस्था के लिए केन्द्रीय मंत्रिमंडल में एक शिक्षा-मंत्री होता है तथा उसकी सहायता के लिए एक उप-शिक्षा-मंत्री एवं अन्य बहुत से सहायक अधिकारी शिक्षा-मंत्रालय में होते हैं।

प्रत्येक राज्य में एक शिक्षा-मंत्रालय की व्यवस्था की गई है जिसका सबसे बड़ा अधिकारी शिक्षा-मंत्री होता है। उसकी सहायता के लिये एक उप-शिक्षा-मंत्री, सचिव एवं उप-सचिव तथा शिक्षा-मंत्रालय के अन्य अधिकारी होते हैं। शिक्षा-मंत्री को शिक्षा की नीति एवं प्रशासन में सहयोग प्रदान करने के लिये एक शिक्षा-संचालक होता है जो शिक्षा-विभाग का अनुभवी एवं योग्य शिक्षा-विशेषज्ञ होता है। शिक्षा-संचालक की सहायता के लिये संयुक्त-शिक्षा-संचालक, क्षेत्रीय उप-शिक्षा-संचालक, जिला-विद्यालय-निरीक्षक एव उप-शिक्षा-विद्यालय-निरीक्षक इत्यादि होते हैं। प्रत्येक राज्य में माध्यमिक शिक्षा की परीक्षा, पाठ्यक्रम एवं पाठ्य-पुस्तकों के निर्धारण के लिये एक माध्यमिक शिक्षा-परिषद होती है जिसका अध्यक्ष शिक्षा-संचालक होता है। एक सचिव की देख-रेख में माध्यमिक शिक्षा-परिषद अपना काम करती है। यह परिषद नवीन विद्यालयों को मान्यता भी प्रदान करती है। अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा में समन्वय स्थापित करने के लिए केन्द्र में एक शिक्षा-सलाहकार बोर्ड होता है।

विश्वविद्यालय का प्रबन्ध दो प्रकार का है। बनारस, अलीगढ़, विश्व-भारती, दिल्ली एवं ओसमानिया विश्वविद्यालय केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था के अन्तर्गत हैं। इनका सर्वोच्च अधिकारी राष्ट्रपति होता है, जो विजीटर कहलाता है। अन्य विश्वविद्यालय राज्य सरकार के अन्तर्गत होते हैं एवं इनका सबसे बड़ा अधिकारी राज्य का राज्यपाल होता है जिसे चांसलर कहा जाता है। विजीटर एवं चान्सलर के नीचे प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक उप-कुलपति (वाइस-चान्सलर) होता है जो सीनेट अथवा एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के सहयोग से विश्वविद्यालय की सम्पूर्ण व्यवस्था करता है। विश्वविद्यालयों की आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए सन् १९४९ ई० में विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग द्वारा विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग का निर्माण करने का सुझाव दिया गया था। यह सुझाव अब कार्यान्वित कर दिया गया है और सभी विश्वविद्यालयों को उनकी आवश्यकतानुसार समय-समय पर आर्थिक सहायता दी जाती है।

भारतीय शिक्षा की उपर्युक्त व्यवस्था पुराने ढंग की है। इसमें अनेक प्रकार के दोष आ गये हैं। अतः इस व्यवस्था में संशोधन करना बहुत आवश्यक है। प्राथमिक एवं जूनियर हाई स्कूलों की शिक्षा स्थानीय बोर्ड के हाथ में होने के कारण

दिन प्रतिदिन अवनति करती जा रही है। इन बोर्डों में स्थानीय सदस्य होते हैं और प्रायः उन्हें शिक्षा का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतः वे शिक्षा के महत्त्व के साथ खिलवाड़ करते हैं। देहातों में तो न अच्छे विद्यालय-भवन हैं और न अध्यापकों को समय पर वेतन ही मिलता है। इन बोर्डों में बहुधा राजनीतिक दलबन्दी होती है और उसमें शिक्षा को घिसना पड़ता है। इन विद्यालयों के अध्यापकों और जिला बोर्ड के अध्यापकों पर उपजिला-विद्यालय निरीक्षक का दोहरा शासन होता है। ऐसी दशा में वे अपना काम सुचारु रूप से नहीं कर पाते और उनका स्थानान्तरण भी बहुधा हो जाया करता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राथमिक शिक्षा पर से स्थानीय बोर्डों की व्यवस्था हटा ली जाय और शिक्षा को पूर्णतः राज्य की सरकार अपने हाथ में ले ले और अध्यापकों की आर्थिक स्थिति में यथेष्ट सुधार किया जाय और उन्हें सरकारी नौकरों की सारी सुविधायें प्रदान की जायँ।

माध्यमिक विद्यालय भारतीय शिक्षा की रीढ़ है। माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति प्राथमिक स्कूलों में अध्यापक बनते हैं और विश्वविद्यालय के छात्र बनते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा की अच्छी व्यवस्था हो और उसका स्तर ऊँचा रहे। परन्तु आज माध्यमिक विद्यालयों की दशा सबसे अधिक शोचनीय है।

कुछ माध्यमिक विद्यालयों की बड़ी बुरी दशा है और उनके अध्यापक एवं छात्रों को बड़ा ही कष्ट होता है। यहाँ की आर्थिक दशा एवं व्यवस्था बहुत शोचनीय है क्योंकि अधिकांश माध्यमिक विद्यालय व्यक्तिगत संस्थाओं के प्रबन्ध पर आधारित हैं। इन विद्यालयों में अशिक्षित लोग व्यवस्थापक होते हैं। अतः वे शिक्षा के महत्त्व को न समझ कर अपने अन्तर्गत विद्यालयों के द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि का प्रयत्न करते हैं। अध्यापकों को समय पर वेतन न मिलना, एवं उन्हें उचित वेतन न मिलना तथा उनकी सेवाओं का अरक्षित रहना इत्यादि यहाँ के सबसे बड़े दोष हैं। यहाँ का अध्यापक कभी भी यह नहीं समझता कि अब उसे दूसरे व्यवसाय की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब भी वह अपने अभिमान की रक्षा के लिये व्यवस्थापकों का विरोध करता है तो उसे विद्यालय की सेवा से पृथक् कर दिया जाता है।

माध्यमिक शिक्षा के इन दोषों को दूर करने के लिए समय-समय पर प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु उनकी सफलता नहीं के बराबर दिखाई पड़ती है। सन् १९३७ ई० में उत्तर प्रदेश में इन दोषों को दूर करने के लिए श्री जे० सी० पावल प्राइस की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्ति की गई थी किन्तु द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने के कारण इस समिति के सुझाव कार्यान्वित न किये जा सके। तत्पश्चात् सन्

१९४६ ई० में एक दूसरी समिति नियुक्त की गई और उसने अपना प्रतिवेदन सन् १९४७ ई० में प्रस्तुत किया। उस समिति ने ये सिफारिशें कीं :—

१—व्यक्तिगत विद्यालयों को प्रबन्ध-समितियों में तीन सदस्य सरकार द्वारा नामजद किए जायँ तथा प्रधानाध्यापक एवं अध्यापकों के एक प्रतिनिधि को भी समिति का सदस्य बनाया जाय। २—अध्यापकों की नियुक्ति क्षेत्रीय पंचायत बोर्ड द्वारा की जाय। परन्तु ये सिफारिशें कार्यान्वित न हो सकीं। पुनः सन् १९५३ ई० में अचार्य नरेन्द्रदेव समिति की स्थापना हुई एवं उसने माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था के लिए निम्नांकित सिफारिशें कीं :—१—प्रबन्ध समिति में प्रधानाध्यापक एवं अध्यापकों का एक प्रतिनिधि सम्मिलित किया जाय। २—विभिन्न व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों की प्रबन्ध-समितियों में प्रधानाध्यापक तथा अध्यापकों के प्रतिनिधि रक्खे जायँ। ३—समिति के सदस्यों की संख्या १२ से अधिक न हो। ४—अध्यापकों की नियुक्ति शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा प्रधानाचार्य की सिफारिसे की जाय। इसी भाँति मुदलियर आयोग ने भी माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। किन्तु इन सुझावों का प्रचलन विद्यालयों में अब तक केवल नाम-मात्र को ही हुआ है। आवश्यकता इस बात की है कि माध्यमिक शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था राज्य सरकार अपने हाथ में ले और सभी माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों को सरकारी कर्मचारी घोषित कर उन्हें वे सभी सुविधायें दी जायँ जो अन्य सरकारी कर्मचारियों को प्राप्त हैं।

विश्वविद्यालय-शिक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध में दो विचार-धारायें कार्य कर रही हैं। कुछ विचारकों का मत है कि विश्वविद्यालय की शिक्षा पूर्ण स्वतन्त्र होनी चाहिए; अर्थात् विश्वविद्यालय की व्यवस्था, पाठ्यक्रम एवं शिक्षण इत्यादि में किसी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप अवांछनीय है। दूसरे प्रकार के विचारकों का कहना है कि वर्तमान समय में प्रायः सभी देशों में लोकतन्त्र-शासन का बोलबाला है। अतः जब जनता के धन का उपयोग विश्वविद्यालय की शिक्षा में किया जाता है तो यह आवश्यक है कि सरकार विश्वविद्यालयों पर नियन्त्रण रक्खे और उन्हें सुचारु रूप से चलाने के लिए अच्छी योजनाएँ बनाये; पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ भी किया जाय वह केवल सामाजिक शिक्षा के विकास के उद्देश्य से किया जाय और किसी प्रकार से भी विश्वविद्यालय राजनीतिक प्रांगण न बनाये जायँ।

ठीक तो यह है कि विश्वविद्यालयों की व्यवस्था के लिए एक समुचित विधान का निर्माण कर लिया जाय और उसकी व्यवस्था के लिए वाह्य शिक्षा-विशेषज्ञ रख लिये जायँ जो अखिल भारतीय स्तर पर विश्वविद्यालय-शिक्षा की

व्यवस्था करें और उन्हें आदर्श रूप में चलाएँ। विश्वविद्यालयों की व्यवस्था में एक और आवश्यक बात यह है कि इनसे सम्बद्ध सरकारी अथवा व्यक्तिगत महाविद्यालयों की व्यवस्था, विश्वविद्यालय की व्यवस्था में ही सम्मिलित होनी चाहिए। परन्तु जब तक सरकार शिक्षा पर अधिक से अधिक व्यय न करेगी और शिक्षण-संस्थाओं की आर्थिक व्यवस्था का दायित्व अपने ऊपर न लेगी तब तक शिक्षा का समुचित विकास न होगा, क्योंकि अधिकांश भारतीय जनता अशिक्षित है और दरिद्रता के कारण उसके पास इतना धन भी नहीं है कि वह उन्हें चला सके। इसके अतिरिक्त देश की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था और अनेक प्रकार के करों के कारण जनता की आर्थिक स्थिति तो अब और भी क्षीण होती जा रही है। ऐसी स्थिति में शिक्षा ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय को जनता पर छोड़ना बुद्धिमानी से खाली होगा।

यह ध्यान रहे कि प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा का दायित्व सरकार पर होने का तात्पर्य विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं की स्वतन्त्रता का हनन करना न होना चाहिए। सरकारी दायित्व का तात्पर्य शिक्षा में केवल समुचित आर्थिक व्यवस्था तथा आवश्यक साधनों का आयोजन करना ही है, जिससे धनाभाव के कारण अध्यापक तथा विद्यार्थी तथा विद्यालयों के कार्यों में किसी प्रकार की रुकावट न आवे।

स्त्री-शिक्षा की समस्या[1]

फ्रांस के प्रसिद्ध वीर नैपोलियन ने कहा था कि किसी देश की प्रगति के लिए सुमाता की बड़ी आवश्यकता है। यदि माता सुशिक्षित नहीं तो बच्चों का जीवन दूभर हो जाता है और भविष्य में उनका समुचित विकास नहीं हो पाता। एक विद्वान ने गृहस्थी की उपमा एक गाड़ी से की है और स्त्री और पुरुष को उस गाड़ी के दो पहिये माना है। अतः गाड़ी के दो पहियों की भाँति स्त्री और पुरुष में समानता लाये बिना काम नहीं चल सकता। अतः परिवार को सुखी बनाने के लिये स्त्री-शिक्षा की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि पुरुषों की। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि हमारे देश में स्त्रियों की दशा समाज में बहुत दिनों से बड़ी दयनीय रही है और चिरकाल से वे पुरुषों की दासी समझी जाती रही हैं। हमने स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखकर स्त्री-समाज का बड़ा अहित किया है। मुसलमानों की पर्दा-प्रथा और हिन्दुओं की बाल-विवाह-प्रथाओं ने स्त्री-शिक्षा को विशेष क्षति पहुँचाई है। किन्तु समय के परिवर्तन से देश के विविध क्षेत्रों में चेतना के साथ स्त्री-शिक्षा में भी कुछ जान आई और अब तो स्त्रियों को प्रायः सभी क्षेत्रों में पुरुषों

१. The Problem of Women Education.

की भाँति ही अधिकार देना प्रायः स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु स्त्री-शिक्षा का विकास अभी तक बहुत कम हो पाया है। नगरों में बालिकाओं की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तो अवश्य हुई है, परन्तु वह भी पर्याप्त नहीं है। किन्तु भारत की अधिकांश जनता ग्रामों में निवास करती है और वहाँ पर बालिकाओं के लिये कौन कहे, बालकों के लिये भी पर्याप्त स्कूल नहीं हैं।

स्वाधीनता के उपरान्त हमारी सरकार इस ओर कुछ सचेत हुई है और स्त्री-शिक्षा के लिए कुछ अलग स्कूल खोले गये हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से विद्यालयों में बालकों के साथ बालिकाओं के भी अध्ययन की व्यवस्था की गई है। केवल महिलाओं को उच्च शिक्षा के लिये बम्बई में एक महिला-विश्वविद्यालय की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कालेज खोले गये हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी अब भी हमारे देश में शिक्षित स्त्रियों की संख्या केवल अँगुलियों पर ही गिनी जा सकती है।

वर्तमान भारतीय स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेष कठिनाइयाँ हैं :—

१—बालिकाओं के विद्यालयों के लिए प्रशिक्षित अध्यापिकाओं एवं निरीक्षिकाओं का अभाव है।

२—बालिकाओं के लिये उपयुक्त पाठ्यक्रम का अभाव है। उन्हें भी अभी तक प्रायः बालकों का ही पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है।

३—भारत की अधिकांश ग्रामीण जनता अब भी अशिक्षित है। अतः वह अपनी रूढ़वादिता के कारण स्त्री-शिक्षा को बुरा समझती है।

४—गाँवों के लोग इतने निर्धन हैं कि वे बालिकाओं को विद्यालय नहीं भेज सकते। बहुत सी बालिकायें मजदूरी करके अपनी जीविका चलाती हैं।

५—गाँवों में बालिका-विद्यालयों का अभाव है और ग्रामीण जनता अपनी लड़कियों को नगरों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए नहीं भेज सकती।

आवश्यकता इस बात की है कि स्त्री-शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा का एक अनिवार्य अंग समझा जाय और उसकी सभी कठिनाइयों को दूर करके उसे देश और काल के अनुरूप बनाया जाय। स्त्री-शिक्षा के लिए अधिक विद्यालय खोले जायँ तथा अधिक अध्यापिकाओं के शिक्षण की व्यवस्था की जाय। बालिकाओं के पाठ्य-क्रम सरल एवं बालकों से भिन्न होने चाहिए। उन्हें गृह-विज्ञान की विशेष शिक्षा दी जाय। ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक से अधिक बालिका-विद्यालय खोले जायँ एवं बालिकाओं को छात्रवृत्ति देकर शिक्षा की ओर आकर्षित किया जाय। जब तक

भारत की स्त्रियाँ शिक्षित न होंगी तब तक हमारा देश अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अग्रसर नहीं हो सकता। अतः सब प्रकार से सरकार स्त्री-शिक्षा को उठाने का प्रयत्न करे।

८—शिक्षा के माध्यम की समस्या[1]

शिक्षा प्रदान करने में माध्यम का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा के माध्यम की समस्या बहुत पुरानी है और समय-समय पर इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये गये हैं। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही अंग्रेजी सरकार के समक्ष यह एक समस्या रही है कि शिक्षा के माध्यम के रूप में कौन-सी भाषा स्वीकार की जाय। परन्तु सन् १९३५ ई० में अंग्रेजी भाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार करके लगभग १०० वर्ष तक के लिये यह समस्या हल हो गई और शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी का महत्त्व खूब बढ़ा, किन्तु २०वीं शताब्दी के प्रथम विश्वव्यापी युद्ध के समाप्त होने पर भारतवासियों में राष्ट्रीयता की लहर बड़े वेग से उठी और विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय भाषा को प्रोत्साहन मिला। फलतः शिक्षा-क्षेत्र में भी राष्ट्रीय भाषा को प्रोत्साहन मिला और हिन्दी और प्रान्तीय भाषाओं का महत्त्व बढ़ गया। तत्पश्चात् यह समस्या उठ खड़ी हुई कि कौन सी भाषा भारत की राष्ट्रभाषा बनाई जाय तथा विद्यालय में शिक्षा के माध्यम के रूप में किस भाषा को स्वीकार किया जाय। बहुत दिनों तक तो इस पर विचार चलता रहा। किन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में सक्रिय कदम उठाये गये और इस समस्या को हल करने के लिए विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग एवं माध्यमिक शिक्षा-आयोग की नियुक्ति की गई। सन् १९५६ ई० में विभिन्न राज्यों के सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में, राष्ट्रीय भाषा एवं शिक्षण के माध्यम की भाषा के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़े हुए। अतः इस ओर सरकार का ध्यान विशेषरूप से गया और अखिल भारतीय स्तरपर एक भाषा-आयोग की नियुक्ति की गई। भाषा-आयोग ने समस्त भारत की भाषा सम्बन्धी सभी समस्याओं का अध्ययन किया और अगस्त १९५७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

आजकल माध्यमिक शिक्षा में प्रदेशीय भाषाओं का वही स्थान है जो पहले अंग्रेजी भाषा का था और उच्च शिक्षा में हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं का विकास अंग्रेजी के स्थान पर हो रहा है। विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग का मत है कि माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय-शिक्षा में छात्र को तीन भाषाओं की जानकारी होनी चाहिए। इन तीन भाषाओं में क्षेत्रीय भाषा, हिन्दी और अंग्रेजी सम्मिलित हैं।

---

१. The Problem of Medium of Instruction.

उच्च शिक्षा की व्यवस्था प्रादेशिक भाषाओं में तथा देवनागरी लिपि में हिन्दी के माध्यम से होनी चाहिए। आयोग ने अंग्रेजी शिक्षा के महत्त्व पर इसलिए जोर दिया कि छात्र का सम्पर्क विश्वव्यापी ज्ञान से रहे। इसके अतिरिक्त आयोग ने राष्ट्रीय भाषा तथा क्षेत्रीय भाषाओं के समुचित विकास के लिए वैज्ञानिकों एवं विशेषज्ञों के एक ऐसे बोर्ड की नियुक्ति की सिफारिश की जो कि समस्त देश के लिए वैज्ञानिक शब्दवली एवं पाठ्य पुस्तकों का निर्माण करे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समस्त राज्यों को हिन्दी के अध्यापन की व्यवस्था अनिवार्य रूप से करनी चाहिए। भाषा सम्बन्धी आयोग की उपर्युक्त सभी सिफारिशों को केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार परिषद ने मान लिया। सन् १९५० ई० में भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को भारतीय भाषा के रूप में स्वीकार किया गया। संविधान में इस बात का भी उल्लेख किया गया कि १५ वर्ष के बाद अर्थात् सन् १९६५ ई० तक सभी राजकीय कार्यों में हिन्दी व्यवहृत होने लगेगी तथा समस्त भारत में शिक्षा का माध्यम हिन्दी हो जायगी।

सन् १९५२ ई० में माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने केवल दो भाषाओं के सीखने का सुझाव दिया था। किन्तु सन् १९५६ ई० में अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद ने निश्चय किया कि माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर छात्रों को कम से कम तीन भाषायें सीखनी चाहिए और अंग्रेजी तथा हिन्दी को लगभग समान स्थान प्राप्त होना चाहिए। अंग्रेजी के अध्ययन का महत्त्व बतलाते हुए परिषद ने बताया कि इस समय विश्व में अंग्रेजी ही एक ऐसी भाषा है, जिसमें विश्वव्यापी ज्ञान एवं दर्शन का बोध कराने के साधन उपलब्ध हैं। हिन्दी का महत्त्व इसलिए है कि वह भारत की राष्ट्रीय भाषा है। इस प्रकार हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में अंग्रेजी, हिन्दी तथा अन्य कोई आधुनिक भाषा, तथा अहिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में मातृ-भाषा के साथ हिन्दी और अंग्रेजी का अध्यापन अनिवार्य रूप से होना चाहिए। इस व्यवस्था के अनुसार सम्पूर्ण भारत के माध्यमिक विद्यालयों में तीन भाषाओं के अध्यापन का सुझाव अनिवार्य रूप से दिया गया है। किन्तु अभी तक यह सुझाव कार्यान्वित नहीं किया गया है। सरकार शिक्षा-परिषद के तीन भाषाओं के प्रश्नों को भली-भाँति समझ सकी है और आशा है कि निकट भविष्य में ही तीन भाषाओं की जानकारी माध्यमिक शिक्षा में अनिवार्य कर दी जायगी।

सारांश

मानव-जीवन में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में वर्तमान शिक्षा की व्यवस्था ठीक नहीं है। आज हमारे देश में बहुत सी शिक्षा-समस्यायें हैं। इनका सुलझाव देश के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

१—उद्देश्य

वर्तमान शिक्षा के ढाँचे का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को सुदृढ़ करना था। अतः स्वतंत्र भारत में शिक्षा का उद्देश्य भिन्न होना चाहिए। संक्षेप में शिक्षा के दो उद्देश्य हो सकते हैं :—१. व्यक्तिगत उद्देश्य, २. समाज-कल्याण का उद्देश्य। व्यक्तिगत उद्देश्य द्वारा व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक शक्तियों का विकास होना चाहिए तथा समाज-कल्याण के उद्देश्य से शिक्षा द्वारा ऐसे नागरिकों का निर्माण होना चाहिए जिनके द्वारा कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सके।

२—हमारे विश्वविद्यालयों के उद्देश्य

विश्वविद्यालय को लोकमत का नेतृत्व करना है, न कि अनुसरण। विश्वविद्यालय नई संस्कृति के सृजन में योग दे। विश्वविद्यालय के केन्द्र में विभिन्न विश्वासों और मान्यताओं का गहन अन्वेषण और अध्ययन होना चाहिए, और उसे विद्यार्थियों को समाज-हित के पक्ष में गहन चिन्तन के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। विश्वविद्यालय अपने को 'आन्तरिक विश्वास-घातियों' और वाह्य हस्तक्षेप से बचायें।

३—पाठ्यक्रम

भारतीय शिक्षा का पाठ्यक्रम अनुपयुक्त है। इसमें बालक की सर्वांगीण उन्नति करने की क्षमता का सर्वथा अभाव है। समय-समय पर भारतीय शिक्षा के संबंध में नियुक्त होने वाले आयोगों की सिफारिशों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करना चाहिए।

४—अनुशासनहीनता

जहाँ पर प्राचीन काल में 'विद्या ददाति विनयम्' का आदर्श था, वहाँ आज दिन प्रतिदिन विद्यालयों में अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है और छात्रों एवं अध्यापकों में पारस्परिक प्रेम बहुत कम हो गया है। इस अनुशासनहीनता के प्रमुख कारण स्वाधीनता-संग्राम के उपद्रव, शिक्षा का उद्देश्य-विहीन होना, वर्तमान परीक्षा-प्रणाली, शिक्षा में व्यावसायिक क्षमता का अभाव तथा अध्यापकों की दयनीय स्थिति आदि है। अतः उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए छात्रों को विनयशील बनाना चाहिए तथा अभिभावकों को भी छात्रों के आचरण एवं व्यवहार पर पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। जब तक शिक्षा में अनुशासनहीनता की समस्या हल न होगी, तब तक देश में शान्ति स्थापित न होगी।

५—परीक्षा

शिक्षा में वर्तमान परीक्षा-प्रणाली की एक जटिल समस्या है। इसके द्वारा छात्र की वास्तविक योग्यता का परीक्षण नहीं हो पाता। बहुधा ऐसा होता है कि योग्य छात्र अपनी योग्यता के अनुसार अंक नहीं पाते और अयोग्य छात्र सफल हो जाते हैं। अतः परीक्षा का स्वरूप बदलना चाहिए और उसके द्वारा छात्र की वास्तविक योग्यता की जाँच होनी चाहिए। इसके लिए छात्र के प्रतिदिन के कार्य को ध्यान में रखकर कक्षोन्नति दी जानी चाहिए तथा मूर्त परीक्षाओं का प्रयोग होना चाहिए। छात्रों के नैतिक बल को उच्च करने के लिए छात्रों की नैतिक परीक्षा भी होनी चाहिए।

६—नियन्त्रण एवं प्रबंध

शिक्षा का नियंत्रण एवं प्रबंध अनुपयुक्त होने के कारण शिक्षा का स्तर दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है। अतः सरकार को चाहिए कि शिक्षा को पूर्ण रूप से अपने हाथ में ले ले तथा अध्यापकों को समय-समय पर उचित शिक्षण का निर्देश देने के लिए शिक्षा-विशेषज्ञों को निरीक्षक के रूप में नियुक्त करे। निरीक्षक अध्यापकों की कोरी आलोचना ही न करें, अपितु उनके समक्ष कुछ रचनात्मक एवं क्रियात्मक कार्य भी करें।

७—स्त्री-शिक्षा

गृह-कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए स्त्री-शिक्षा बहुत आवश्यक है। परन्तु हमारे देश में स्त्रियों की शिक्षा बहुत पिछड़ी हुई है। स्त्री-शिक्षा को भी पुरुषों की शिक्षा के समान ही महत्त्व देना चाहिए। स्त्रियों की शिक्षा के लिए उचित पाठ्यक्रम का निर्माण करना चाहिए।

८—माध्यम

शिक्षा के माध्यम के संबंध में बहुत दिनों से विवाद चला आ रहा है। किन्तु अभी तक केवल माध्यमिक शिक्षा का माध्यम निश्चित हो सका है। विश्वविद्यालय-शिक्षा का माध्यम अब भी खटाई में पड़ा हुआ है।

उपसंहार

भारतीय शिक्षा की प्रमुख समस्याओं का विवेचन ऊपर किया गया है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी ऐसी समस्यायें हैं जो कि शिक्षा के मार्ग में रोड़ा डाले पड़ी हैं। शिक्षा के लिए उचित भवन, पुस्तकालय, योग्य अध्यापकों का अभाव एवं शिक्षा में व्यावसायिक क्षमता का अभाव इत्यादि ऐसी समस्यायें हैं जिनका हल किये बिना हमारा देश विकासोन्मुख नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शिक्षा में

सबसे अधिक अभाव उसमें नैतिक बल की कमी है। प्राचीन काल में भारत सब देशों का नेता था। इसका एकमात्र कारण यह था कि हमारे देशवासियों का नैतिक बल बहुत ऊँचा था। आजकल शिक्षा में नैतिक बल के अभाव का ही यह परिणाम है कि छात्र परीक्षा-भवन में अनुचित साधनों के प्रयोग का प्रयत्न करते हैं तथा निरीक्षक द्वारा रोके जाने पर उसके प्राणों के प्यासे बन जाते हैं। अतः शिक्षा में नैतिक बल को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त शिक्षा में व्यावसायिक क्षमता को लाने की आवश्यकता है। यदि शिक्षा द्वारा छात्रों के भावी जीवन की समस्या हल हो जाय तो छात्रों में बहुत कुछ नैतिक सुधार हो सकता है। अतः शिक्षाधिकारियों एवं सरकार को चाहिए कि शिक्षा के उपर्युक्त दोषों को दूर कर शिक्षा को देश एवं काल के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करें, क्योंकि समुचित शिक्षा के अभाव में राष्ट्र की उन्नति असम्भव है।

शिक्षा मानव-जीवन की प्रगति का आवश्यक अंग है। अतः सरकार को चाहिए कि इस विषय को पूर्ण रूप से अपने हाथ में ले ले। शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए योग्य अध्यापकों की व्यवस्था की जाय एवं समाज में उन्हें उच्च स्थान दिया जाय। शिक्षा ऐसी हो कि उसके द्वारा बालक का शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक विकास हो तथा छात्र शिक्षा के द्वारा स्वावलम्बी बन सकें।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारतीय शिक्षा की प्रमुख समस्याओं पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

२. वर्तमान शिक्षा के पाठ्य-क्रम की समीक्षा करते हुए उसमें सुधार के लिए सुझाव दीजिए।

३. देश में स्थापित जनतंत्र के सन्दर्भ में हमारी शिक्षा का क्या उद्देश्य होना चाहिए ?

४. छात्रों में बढ़ती ही अनुशासनहीनता के क्या कारण हैं ? उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ?

५. स्त्री-शिक्षा की समस्या से आप क्या समझते हैं ?

६. हमारे देश के विश्वविद्यालयों के क्या उद्देश्य होने चाहिए ?

७. वर्तमान परीक्षा-प्रणाली क्यों दूषित है ? उसमें कैसे सुधार किया जा सकता है ?

८. देश में शिक्षा के माध्यम की समस्या कैसे सुलझाई जा सकती है ?

९. हमारे देश की शिक्षा के नियन्त्रण और प्रबन्ध में किस प्रकार के सुधार की आवश्यकता है ? कारण सहित समझाइए।

———

अध्याय ४५

उत्तर प्रदेश में शिक्षा (१६३६–१६५८)

प्राचीन तथा मध्यकाल में उत्तर प्रदेश शिक्षा का प्रमुख केन्द्र रहा है परन्तु आधुनिक शिक्षा का प्रारम्भ यहाँ अन्य प्रान्तों की अपेक्षा देर में हुआ। यद्यपि १९वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में ही वर्तमान शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश हो चुका था, परन्तु विशेष प्रगति न हो सकी। वास्तविक प्रगति तो बीसवीं शताब्दी के साथ प्रारम्भ होती है और सन् १९३० तक उत्तर प्रदेश में प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च एवं विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रगति अच्छी रही। सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा की भी व्यवस्था हो चुकी थी। लार्ड कर्जन की घोषणा के परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश में भी प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई थी। सन् १९१३ ई० तक यहाँ की सरकार को प्राथमिक शिक्षा में सुधार की आवश्यकता का अनुभव हो चुका था। अत: उत्तर प्रदेश की सरकार ने प्राथमिक शिक्षा में सुधारों के लिए सुझाव रखने के लिये पिगट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। समिति ने सुझाव रक्खा कि २५ वर्ग मील में कम से कम १ प्राइमरी स्कूल तथा कई अन्य लोअर प्राइमरी स्कूलों की स्थापना की जाय, पाठ्यक्रम सरल एवं उपयोगी बनाया जाय और उसमें गणित, बहीखाता, भूगोल, बागवानी, हाईजीन, भाषा एवं गाँव का नक्शा जोड़ दिया जाय। पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय बालकों की परिस्थितियों एवं वातावरण पर ध्यान रक्खा जाय। समिति ने बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष जोर दिया। सन् १९१६-१७ ई० में कुछ सिफारिशें मान ली गईं और पाठ्यक्रम में सुधार कर कुछ नये प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण किया गया।

सन् १९१९ ई० में उत्तर प्रदेश सरकार ने प्राथमिक शिक्षा-नियम बनाया और नगरपालिकाओं को ६ वर्ष से १२ वर्ष तक के बच्चों के लिए शिक्षा अनिवार्य कर देने का अधिकार दे दिया। ग्रामीण क्षेत्रों के लिये वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल और नगरों के लिए एंग्लो हाई स्कूलों की व्यवस्था की गई। प्रत्येक जिले में एक-एक राजकीय हाई स्कूलों की स्थापना की गई। शिक्षा-विभाग के सुझावों पर सन् १९२६ ई० में जिला-बोर्डों को भी अधिकार दे दिया गया कि वे ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा अनिवार्य कर सकती थीं। इस कार्य को पूर्ण करने के लिये जिला-बोर्डों

की आर्थिक सहायता में वृद्धि कर दी गई। इस प्रकार शिक्षा-विभाग ने निरक्षरता-निवारण का संकल्प किया। फलतः सन् १९२७ ई० में प्रौढ़ों को साक्षर बनाने के लिये रात्रि-पाठशालाओं की व्यवस्था की गई और प्रान्त भर में अनेक रात्रि-पाठशालायें स्थापित हो गईं और साक्षरता-आन्दोलन तीव्र वेग से चल पड़ा। सन् १९२९ ई० में हर्टाग समिति के सुझावों के अनुसार सरकार ने ऐसे स्कूलों को, जिनकी व्यवस्था ठीक न थी अथवा उचित शिक्षा देने में अक्षम्य थे, बन्द कर देना चाहा, क्योंकि ऐसे स्कूलों से शिक्षा की गति अवरुद्ध हो रही थी। सन् १९३०-३१ ई० में विश्व में आर्थिक संकट की एक समस्या उठ खड़ी हुई और उत्तर प्रदेश भी उससे अछूता न रह सका। अतः इस संकट का सामना करने के लिये परिषदों ने अपना व्यय कम कर दिया। छात्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी और व्यय कम हो जाने के कारण अध्यापकों के वेतन में कटौती हो गई थी। अतः शिक्षा का स्तर गिर रहा था। सरकार ने इन समस्याओं की जाँच करने के लिये वियर[1] को उपयुक्त और योग्य समझा। अतः यह उत्तरदायित्व उसी पर छोड़ दिया गया। उसने सन् १९३३ ई० में सरकार के समक्ष अपने सुझावों सहित अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

वियर की रिपोर्ट हर्टाग समिति की रिपोर्ट से काफी मिलती-जुलती थी। वियर ने सिफारिश की कि :—

१—प्रत्येक विद्यालय में कम से कम २ अध्यापक और ५० छात्र होने चाहिए। जिन स्कूलों में केवल एक ही अध्यापक हैं उन्हें शीघ्र ही तोड़ दिया जाय।

२—जो स्कूल शिक्षा-प्रचार का उद्देश्य पूरा करने में असमर्थ हों उनको तोड़ दिया जाय, यदि उनके टूटने से उस क्षेत्र की शिक्षा पर कोई प्रभाव न पड़ता हो।

३—विद्यालयों के भवन बड़े और सुन्दर तथा पक्के होने चाहिए तथा उनके छात्रावासों का प्रबन्ध करना चाहिए। इन सभी कार्यों के लिए रुपये की अधिक आवश्यकता है। अतः परिषदों को अधिक सहायता दी जाय।

४—जिन क्षेत्रों में शिक्षा अनिवार्य कर दी गई है वहाँ इस नियम को कठोरता के साथ लागू किया जाय।

५—प्रत्येक क्षेत्र में राजकीय प्रशिक्षण-केन्द्र खोलकर अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय।

६—स्त्री-शिक्षा प्रोत्साहित की जाय, परन्तु उनका पाठ्यक्रम बालकों से भिन्न होना चाहिए। उनको ऐसे विषयों की शिक्षा दी जाय जो दैनिक जीवन में उपयोगी हों।

---

१. Weir.

७—जो स्कूल अनिवार्य क्षेत्र में नहीं आते हैं उनके छात्रों से शुल्क लिया जाय।

वियर की अधिकांश सिफारिशें मान ली गईं और शिक्षा-क्षेत्र में बहुत-से परिवर्तन किये गये। प्राथमिक शिक्षा में ही नहीं, वरन् माध्यमिक और विश्वविद्यालयों की शिक्षा में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गये। सन् १९३४ ई० में प्रान्तीय सरकार ने सुझाव रक्खा कि उच्चतर माध्यमिक शिक्षा में कला, व्यापार, विज्ञान एवं कृषि ४ प्रकार का पाठ्यक्रम रक्खा जाय। कलाकौशल पर विशेष ध्यान दिया गया। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अपने सुझाव रक्खे और बताया कि माध्यमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम व्यापक और जीवनोपयोगी होना चाहिये। इन सुझावों की पुनः जाँच करने के लिए वियर को नियुक्त किया गया। उसने कहा कि शिक्षा का पाठ्यक्रम व्यापक एवं बहुमुखी होना चाहिए तथा शिक्षा का पुनर्गठन किया जाय और माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के लिये अलग-अलग परिषदें स्थापित की जायँ।

सन् १९३७ ई० में कांग्रेस मंत्रिमंडल बना और शिक्षा की नई-नई योजनायें बनीं और उत्तर प्रदेश में बेसिक शिक्षा को कार्यान्वित करने का निश्चय किया गया और अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये प्रयाग में प्रशिक्षण-महाविद्यालय का निर्माण किया गया। फिर धीरे-धीरे अन्य स्थानों पर भी प्रशिक्षण-केन्द्र खुले।

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति, यू० पी० (१९३९)

सन् १९३९ ई० में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन के लिये आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति के सदस्यों में उमा नेहरू, मुहम्मद इस्माइल खाँ, केन, आर० एस० पण्डित, जुगुल किशोर, धूलेकर, कुमारी विलियम्स, वियर, बेगम अजीजुल रसूल, रामउग्रह सिंह और जाकिर हुसेन प्रमुख थे। बड़े परिश्रम के बाद समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने सुझाव दिया कि बेसिक शिक्षा जारी की जाय और ७ से १४ वर्ष तक की

चित्र नं० ३३—आचार्य नरेन्द्रदेव

आयु के शहरी और ग्रामीण बालकों के लिये शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय। समिति ने शिक्षा के लिये हिन्दुस्तानी माध्यम पर बल दिया। नीचे हम समिति की प्रमुख सिफारशों की ओर संकेत कर रहे हैं :—

समिति की सिफारशें

१—वर्तमान शिक्षा द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता और इसमें व्यावहारिक क्षमता का अभाव है।

२—माध्यमिक शिक्षा का काम केवल विश्वविद्यालयों के लिये छात्र उत्पन्न करना हो गया है।

३—माध्यमिक शिक्षा एवं पाठ्यक्रम पूर्ण तथा स्वतन्त्र होना चाहिए।

४—माध्यमिक शिक्षा का काल १२ से १८ वर्ष तक होना चाहिए।

५—सभी माध्यमिक विद्यालयों को कालेज की संज्ञा दी जाय और उनका स्तर वर्तमान इन्टरमीडिएट कक्षाओं से उच्च हो।

६—नये कालेजों की प्रथम दो कक्षाओं का पाठ्यक्रम प्राथमिक विद्यालयों की अन्तिम दो कक्षाओं के पाठ्यक्रम के समान हो। अंग्रेजी भाषा की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाय।

७—नवीन पाठ्यक्रम में निम्नलिखित विषय सम्मिलित हों :—

(क) भाषा, साहित्य एवं सामाजिक विषय
(ख) प्राकृतिक विज्ञान तथा गणित
(ग) कला
(घ) वाणिज्य
(ङ) टेकनिकल तथा व्यावसायिक शिक्षा
(च) गृहविज्ञान (बालिकाओं के लिये)।

८—कालेज में प्रवेश पाने के लिए 'बेसिक प्राथमिक परीक्षा' उत्तीर्ण होना अथवा ७ वर्षीय पाठ्यक्रम समाप्त करना आवश्यक हो।

९—'हाई स्कूल' तथा 'इन्टरमीडिएट' नाम हटा दिये जायँ।

१०—शिक्षा हिन्दुस्तानी भाषा द्वारा दी जाय।

११—पाठ्यक्रम विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा देश एवं काल की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर बनाया जाय।

१२—अंग्रेजी, शारीरिक विज्ञान एवं सामान्य ज्ञान अनिवार्य रूप से पढ़ाये जायँ।

१३—विभिन्न प्रकार के विद्यालयों की स्थापना के लिये 'सलाहकार-बोर्ड' की व्यवस्था की जाय, जिसका काम पाठ्यक्रम में सलाह देना तथा इन संस्थाओं के विकास के लिये धन एकत्र करना हो।

१४—बालिकाओं के लिए गृह-विज्ञान कालेजों की व्यवस्था की जाय।

१५—सभी कालेजों में अनिवार्य रूप से उत्तम पुस्तकालयों की व्यवस्था की जाय।

१६—छात्रों में चरित्र-संगठन, राष्ट्र-प्रेम, स्वावलम्बन एवं समाज-सेवा आदि की भावना उत्पन्न करने के लिये समय-समय पर अतिरिक्त कार्यक्रमों[1] की व्यवस्था होनी चाहिए। विद्यालयों में बालचर-संस्था, वाद-विवाद समिति, प्राथमिक चिकित्सा, सहयोगी समितियाँ तथा समाज-सेवा इत्यादि के कामों में पूर्ण उत्साह होना चाहिए।

उपर्युक्त सुझा ों के अतिरिक्त 'नरेन्द्रदेव समिति' ने निम्नलिखित सुझाव भी दिये :—

१—स्त्री-शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जाय।

२—अध्यापकों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय तथा उनकी आर्थिक एवं सामाजिक दशा सुधारी जाय।

३—छात्र-जीवन समाप्त करने के उपरान्त व्यवसाय पाने के लिये व्यावसायिक विद्यालयों की व्यवस्था की जाय।

४—अध्यापकों की सेवाओं की सुरक्षा के लिए अध्यापकों एवं व्यवस्थापकों की ओर से "संविदा पत्र" भरे जायँ।

५—पाठ्य-पुस्तकों एवं परीक्षा-प्रणाली में सुधार किया जाय।

६—प्रत्येक विद्यालय में वाचनालय तथा पुस्तकालय हो।

७—प्रदेश में एक केन्द्रीय पेडागाजिकल इन्स्टीट्यूट खोला जाय।

सन् १९४४ ई० की सार्जेन्ट रिपोर्ट प्रकाशित होने पर उत्तर प्रदेश ने भी अपनी शिक्षा-नीति उसी पर आधारित की और बहुत से बेसिक पद्धति के स्कूल खुल गए। सन् १९४६ ई० में पुनः काँग्रेस मंत्रिमंडल बना और शिक्षा की दश-वर्षीय योजना बनाई गई। सौभाग्य से १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्त हुई और भारत भी एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। सन् १९५३ ई० में फिर आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने माध्यमिक शिक्षा पर अपना विचार प्रकट किया। लखनऊ, इलाहाबाद और आगरा विश्वविद्यालयों के संविधान में अब परिवर्तन कर दिया गया है। और पूर्वी

१. Extra Curricular Activities.

जिलों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए १९५७ ई० में गोरखपुर विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। १९४८ ई० में थामसन कालेज, रुड़की को इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय बना दिया गया। इस प्रकार शिक्षा के सभी क्षेत्रों की प्रगति होती रही। नीचे अब हम इन विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा का विवरण अलग-अलग देंगे।

पूर्व प्राथमिक अथवा शिशु-शिक्षा (नर्सरी शिक्षा)

प्राथमिक विद्यालयों में प्रवेश लेने के लिए बालकों की निम्नतम आयु ६ वर्ष थी। इससे कम आयु वाले बच्चों की शिक्षा के लिए राज्य में कोई प्रबंध न था। ३ से ५ वर्ष के शिशुओं के लिए नाममात्र की दो-एक संस्थायें थीं परन्तु वे भी बड़े-बड़े नगरों में थीं, और उनमें भी सीमित संख्या में ही छात्र प्रवेश ले सकते थे। प्रथमतः आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने उचित स्थानों पर ऐसे बालकों के लिए किंडरगार्टन पाठशालाओं का निर्माण करने की सिफारिश की थी, परन्तु सरकार ने इस ओर कोई ध्यान न दिया। अतः सार्जेन्ट रिपोर्ट ने भी आचार्य नरेन्द्रदेव समिति के इस सुझाव को दुहराया और इस बात पर जोर दिया कि ३ से ५ वर्ष के बालकों के लिए ऐसे स्कूलों की व्यवस्था की जाय। सरकार ने अपने को इस उत्तरदायित्व से अब भी अलग रक्खा और इसका प्रबन्ध गैर सरकारी संस्थाओं पर छोड़ दिया। उत्तर प्रदेश के मुख्य-मुख्य स्थानों पर शिशुओं की शिक्षा का प्रबंध किया गया। इन विद्यालयों को शिशु-मन्दिर, बाल-मन्दिर, नर्सरी स्कूल तथा मान्टेसरी स्कूल अथवा किन्डरगार्टन स्कूल का नाम दिया गया। ये संस्थायें पूर्ण रूप से जनता द्वारा संचालित थीं। इन विद्यालयों में अध्यापकों की कमी की पूर्ति के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने इलाहाबाद में १९५१ ई० प्रशिक्षण-विद्यालय स्थापित किया जिसमें मिडिल पास व्यक्ति प्रवेश ले सकते थे और उनका एक वर्ष का प्रशिक्षण किया जाता था। परन्तु कुछ दिनों पश्चात् उनकी योग्यता बढ़ा कर कक्षा १० कर दी गई और अवधि २ वर्ष की। दो वर्ष का पाठ्यक्रम रक्खा गया और इसके साथ ही नर्सरी की शिक्षा दी जाती थी। इसमें उत्तीर्ण होने के पश्चात् उनको जे० टी० सी० का प्रमाण-पत्र दिया जाता है। नर्सरी शिक्षा में शिशुओं के क्रिया-कलापों[1] का ध्यान रक्खा जाता है। बालकों को इस बात के लिए उत्साहित किया जाता है कि उनको काम स्वयं करने की आदत पड़ जाय। उनके पाठ्यक्रम में ऐसे खेलों का प्रबंध किया जाता है जो उनके लिए उपयोगी हैं। इसके अतिरिक्त खेलों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। शिशुओं को स्वच्छता रखने एवं अपने स्वास्थ्य पर अधिक ध्यान देने की बात सिखाई जाती है। उनको पढ़ाने के लिए मनमोहक चित्रों तथा सुन्दर रंगों का प्रयोग

---

१. Activity.

किया जाता है । उनको लिखना, पढ़ना, संगीत, कला और व्यायाम की शिक्षा दी जाती है ।

वास्तव में यह योजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । धीरे-धीरे लोगों को इसका महत्त्व मालूम होता गया और उनका मन इधर आकर्षित होता गया । जनता ने अधिक से अधिक विद्यालयों को स्थापित करने का प्रयत्न किया । यदि सरकार भी अपनी रुचि दिखाती और थोड़ा सहयोग देती तो वास्तव में पूर्ण लाभ होता, परन्तु सरकार ने यह कह कर टाल दिया कि वह आर्थिक संकट में है । सन् १९४८ ई० की प्रान्तीय योजना में इसकी महानता स्वीकार की गई और यह भी मान लिया गया कि देश में तथा प्रान्त में ऐसी शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है और जैसे-जैसे सरकार की आर्थिक कठिनाइयाँ कम होती जायँगी वह इस शिक्षा को अपने हाथ में लेती जायेगी । अब तक राज्य में लगभग २५ नर्सरी विद्यालयों की व्यवस्था हो सकी जिसमें लगभग २,५०० बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं । इसके अतिरिक्त राज्य के ९ मुख्य स्थानों के शिशु-स्कूलों को २०,००० रु० की सहायता दी जाती है तथा ११ राजकीय नार्मल स्कूलों (बालिका) से सम्बद्ध आदर्श विद्यालयों में नर्सरी शिक्षा में प्रशिक्षण दिया जाता है । शिक्षिकाओं तथा बालकों के लिए वासों की भी व्यवस्था की गई है ।

प्राथमिक तथा बेसिक शिक्षा

सन् १९३७ ई० में भारत के ११ प्रान्तों में से सात प्रान्तों में काँग्रेस का मंत्रिमंडल बना और देश में शिक्षा की नई-नई योजनायें बनीं । उत्तर प्रदेश में भी शिक्षा में प्रगति लाने के प्रयत्न हुए, परन्तु दुर्भाग्यवश ये सभी योजनायें पूर्ण न हो सकीं क्योंकि काँग्रेस मंत्रिमंडल को सन् १९३९ ई० में त्यागपत्र दे देना पड़ा । परन्तु फिर भी भारतीय नेताओं ने साहस न छोड़ा और वे शिक्षा सम्बन्धी सुधारों में तथा उसे जीवनोपयोगी बनाने में निरन्तर प्रयत्नशील रहे । गाँधीजी ने सन् १९३७ ई० में 'हरिजन' में अपने सुझाव रक्खे और उसी वर्ष अक्टूबर मास में वर्धा में गाँधी जी की अध्यक्षता में अखिल भारतीय काँग्रेस का अधिवेशन हुआ और उसमें वर्धा-योजना पर विचार-विमर्श हुआ । इसी वर्ष वर्धा-योजना लागू कर दी गई और सन् १९३७ ई० में अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए बेसिक ट्रेनिंग स्कूल की व्यवस्था भी की गई । उत्तर प्रदेश ने भी बेसिक शिक्षायोजना लागू की, परन्तु यहाँ पर उसके वास्तविक महत्त्व अर्थात् स्वावलम्बन पर ध्यान न देकर उसकी गौण भावना पर अधिक जोर दिया गया । छात्रों के श्रम से आय की बात को प्रधानता दी गई । इसके अतिरिक्त कला तथा उसके प्रयोगात्मक अंग पर विशेष ध्यान दिया गया । डा० जाकिर हुसैन

कमेटी ने इस परिणाम की ओर पहले ही से संकेत किया था।[1] यही नहीं बल्कि उनके सामाजिक वातावरण की भी उपेक्षा की गई। बेसिक शिक्षा में अध्यापकों को प्रशिक्षित बनाने के लिए प्रान्त में प्रशिक्षण-विद्यालयों की स्थापना की गई। परन्तु इस शिक्षा को उन्नति करने का अधिक अवसर न मिल सका क्योंकि काँग्रेस मंत्रिमंडल ने द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने पर त्यागपत्र दे दिया।

सार्जेन्ट रिपोर्ट के आधार पर प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी अनेक प्रयत्न किए गए परन्तु कोई विशेष प्रगति न हो सकी। सौभाग्यवश १९४५ ई० में केन्द्रीय और प्रान्तीय जनप्रिय मंत्रिमंडल का फिर निर्माण हुआ और जनता की शिक्षा की ओर फिर से उसका ध्यान गया। अतः इसकी विशेष प्रगति सन् १९४६ ई० से फिर प्रारम्भ होती है। जुलाई सन् १९४७ ई० में बेसिक योजना लागू करने के लिए सरकार ने प्रत्येक गाँव में एक प्राथमिक स्कूल खोलने की योजना बनाई। १५ अगस्त सन् १९४७ ई० को भारतवर्ष को स्वतंत्रता प्राप्त हो गई और शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण अंग मानकर सरकार ने इस ओर अधिक ध्यान दिया। इस वर्ष प्राथमिक विद्यालयों में जाने योग्य बालकों की संख्या १५ लाख थी जिनका २५·८ प्रतिशत अर्थात् १५ लाख ही बालक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। शेष बालकों के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। ४३ लाख बालकों की शिक्षा-व्यवस्था के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने २,२०० प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण करने का निश्चय किया। परिणामस्वरूप १० वर्षों में उत्तर प्रदेश के २,२०० गाँवों में प्रत्येक के लिए एक-एक स्कूल स्थापित किया जा सका। आर्थिक समस्याओं पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रान्तीय सरकार ने बोर्डों की सहायता ७५ प्रतिशत कर दी। इसके अतिरिक्त सरकार ने अन्य विकास-योजनायें भी चलाईं। उसका संचालन सरकार स्वयं करती थी। सरकार के इन प्रयासों के फलस्वरूप सन् १९४६-५२ ई० तक उत्तर प्रदेश में १५,००० प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण किया गया। इसके पश्चात् भी प्राथमिक विद्यालयों का खोलना जारी रक्खा गया। इनकी संख्या इस प्रकार है।

---

१. There is an obvious danger that in the working of this scheme the economic aspect may be stressed at the sacrifice of the cultural and educational objective. Teachers may devote most of their attention and energy to extracting the maximum amount of labour from children, whilst neglecting the intellectual, social and moral implications and possibilities of craft training—Zakir Hussain Committee Report.

सन्	खोले गये प्राथमिक विद्यालयों की संख्या
१९५१-५२	५५०
१९५२-५३	२५०
१९५३-५४	२२५

अब इस योजना के अन्तर्गत नए प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण स्थगित कर दिया गया है। सन् १९५८ के अन्त तक ६ से १२ वर्ष की आयु के बालकों के लिए उत्तर प्रदेश में ३,२०० से भी अधिक प्राथमिक विद्यालय खुल गये। इनमें २८ लाख से भी अधिक बच्चे शिक्षा ग्रहण करते हैं। गत १० वर्ष में हमारे प्रदेश में प्राथमिक विद्यालयों की संख्या लगभग दुगुनी हो गई है।

सन् १९४७ में शिक्षा-स्थिति की तुलना में सन् १९५८ में प्राइमरी स्कूलों की संख्या में ७५ प्रतिशत, शिक्षकों की संख्या में १०१ प्रतिशत तथा विद्यार्थियों की संख्या में १०२ प्रतिशत वृद्धि हुई।[१]

उत्तर प्रदेश में पहली से छठीं कक्षा तक निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध कर दिया गया है। इस प्रकार हर साल एक अगली कक्षा की शिक्षा निःशुल्क कर देने की व्यवस्था है, अर्थात् जुलाई १९५९ में आशा की जाती है कि सातवीं कक्षा तक शिक्षा निःशुल्क हो जायगी। इसके अतिरिक्त सरकार १६ प्रतिशत प्राथमिक विद्यालयों को बढ़ाना चाहती है और दस हजार विद्यालय-भवनों का विस्तार करना चाहती है। वर्तमान समय तक उत्तर प्रदेश में लगभग ४३ प्रतिशत बालकों की प्राथमिक शिक्षा का प्रबंध हो सका है। सन् १९४८ ई० की योजना के अनुसार उत्तर प्रदेश की समस्त नगरपालिकाओं में अनिवार्य शिक्षा लागू करने का प्रयत्न किया गया और इस निश्चय के अनुसार ६ से ११ वर्ष के बालकों के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दी गई, परन्तु द्वितीय योजना तक केवल ११० नगरपालिकाओं में ही लागू हो सकी जब कि कुल नगरपालिकाओं की संख्या लगभग १२० है। इन स्कूलों के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश सरकार ने कुछ ऐसे प्राथमिक विद्यालय भी स्थापित किए जिनका सम्बन्ध सीधे सरकार से था। ये विद्यालय जिलापरिषदों के अन्तर्गत नहीं थे। परन्तु आर्थिक एवं प्रशासनिक कठिनाइयों के कारण कुछ दिनों के पश्चात् इनको भी स्थानीय बोर्डों को दे दिया गया। इनकी संख्या लगभग ११,५५० थी। निम्नांकित तालिका पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि नगरों में अनिवार्य शिक्षा के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है :—

१. From the Education Minister's Speech in the U. P. Legislative Assembly on March 19, 1959 ; as reported in the Pioneer, Lucknow.

सन्	जितनी नगरपालिकाओं ने अनिवार्य शिक्षा दी	
१९४६	२४	कुल नगरपालिकाओं की संख्या १२०
१९४८-४९	४३	
१९५३-५४	८६	
१९५६-५७	११०	

ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा-प्रोत्साहन के लिये सरकार ने भवनों के निर्माण के लिये १,००० रु० देना प्रारम्भ किया। परन्तु इसके साथ शर्त यह थी कि उस क्षेत्र के निवासी एक स्वीकृत ढंग का भवन बना कर देने के लिये तैयार हों। देश में अब काफी जागृति हो चुकी है और लोग शिक्षा का महत्त्व समझने लगे हैं। अतः उन्होंने इसमें काफी सहयोग दिया, और श्रमदान देकर, चन्दा देकर तथा भूमि आदि देकर उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा का प्रबन्ध किया और काफी गाँवों में प्राथमिक विद्यालयों का निर्माण हो गया। प्राथमिक विद्यालयों की संख्या में वृद्धि के साथ ही साथ उनके लिये अधिक अध्यापकों की आवश्यकता पड़ती गई। अतः इस कमी की पूर्ति के लिये प्रत्येक जिले में एक नार्मल स्कूल स्थापित कर दिया गया। सरकार ने एक 'सचल शिक्षा-दल' की योजना चलाई। इसके अनुसार अध्यापक कार्य करते रहते थे और समय-समय पर निश्चित केन्द्रों पर उनको बुलाकर १५ दिन की ट्रेनिंग दी जाया करती थी। इस प्रकार जब पूरा कोर्स समाप्त हो जाता था तब उनकी परीक्षा नार्मल विद्यार्थियों के साथ हो जाया करती थी। इस शिक्षा के लिये बेसिक शिक्षा में दीक्षित स्नातक एवं बेसिक हस्तकला में निपुण दो एच० टी० सी० सहायक अध्यापक होते थे। छात्राध्यापकों को इस योजना में मनोविज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, कला-कौशल, सांस्कृतिक कार्य तथा शारीरिक व्यायाम आदि सिखाया जाता था। इसका केन्द्र प्रायः गाँवों में होता था। परन्तु यह योजना अधिक दिन तक न चल सकी। परन्तु सरकार ने अब भी अपना ध्यान अध्यापकों के प्रशिक्षण की ओर से न हटाया और सन् १९५५ ई० के निर्णय के अनुसार जे० टी० सी० का पाठ्यक्रम दो वर्ष का और एच० टी० सी० का एक वर्ष का कर दिया गया है।

प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों को प्रशिक्षित बनाने के लिये इस समय प्रदेश में पुरुषों के लिये ४३ राजकीय एच० टी० सी० कालेज तथा ५ जे० टी० सी० कालेज हैं। इसी प्रकार लड़कियों के लिये ९ राजकीय एच० टी० सी० कालेज और एक जे० टी० सी० कालेज की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त २० वैयक्तिक संस्थायें भी क्रियाशील हैं। उत्तर प्रदेश सरकार की योजना के अनुसार १९६०-६१

ई० तक पुरुषों के लिये ४१ एच० टी० सी० कालेज और १५ जे० टी० सी० कालेज तथा स्त्रियों के लिये १० एच० टी० सी० कालेज और ५ जे० टी० सी० कालेज स्थापित करने की व्यवस्था है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्राथमिक विद्यालयों की संख्या ३७,००० पहुँच जायगी जिनमें १५,००० नये शिक्षकों की आवश्यकता पड़ेगी। सरकार ने योजना बनायी है कि जूनियर हाई स्कूल तक निःशुल्क शिक्षा कर दी जायगी। अभी तक प्राथमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम प्राचीन प्रथा के अनुसार था। बालकों को केवल पुस्तकीय ज्ञान दिया जाता था, परन्तु अब पाठ्य-पुस्तकों पर कम बल दिया जाता है। अब क्रियात्मक विषयों पर अधिक बल दिया जाता है। विषयों में भाषा पर विशेष बल दिया जाता है। उसमें पुराण, रामायण, महाभारत और आधुनिक भारतीय इतिहास की कहानियाँ सम्मिलित हैं। बालकों को कृषि और बालिकाओं को सीना-परोना सिखाने पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इस प्रकार नया दृष्टिकोण लाकर शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

जूनियर हाई स्कूल में शिक्षा की पुनर्व्यवस्था-योजना[१]

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की जनसंख्या के लगभग ६९·४ प्रतिशत लोग कृषि पर ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। अतः इस देश की शिक्षा में कृषि भी एक महत्त्वपूर्ण विषय होना चाहिए। केवल पुस्तकीय ज्ञान पर अधिक बल देना ठीक नहीं, क्योंकि इससे देश में बेकारी बढ़ती जा रही है और इस शिक्षा का व्यावहारिक प्रयोग नहीं हो पाता। ऐसी शिक्षा अधिकांशतः लोगों को आलसी एवं काहिल बनाती है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये गाँधी जी ने प्राथमिक शिक्षा में बेसिक योजना चालू करने का प्रस्ताव रक्खा और यह योजना लागू भी हो गई। इसे और व्यापक और सफल बनाने के लिये तथा बालकों को व्यावहारिक ज्ञान देने के उद्देश्य से ग्रामीण माध्यमिक विद्यालयों में बालकों को कृषि की शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। प्राथमिक विद्यालयों में तो कोई भी कला बालक सीख सकता है; परन्तु माध्यमिक विद्यालयों तथा जूनियर हाई स्कूलों में उसे कृषि को ही सीखाने की विशेष व्यवस्था की गई।

इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये सरकार ने ३,००० कृषि-अध्यापकों का चुनाव किया और उन्हें कई मुख्य केन्द्रों पर ६ माह की कृषि-कार्य-शिक्षा

१. The Reorientation Scheme of Education in Junior High Schools.

का प्रशिक्षण देकर प्रत्येक ग्रामीण जूनियर हाई स्कूल तथा हायर सेकेन्डरी स्कूल में एक-एक कृषि-अध्यापक नियुक्त कर दिया। ये अध्यापक जूनियर हाई स्कूलों में बालकों को कृषि के सुन्दर ढंग सिखायेंगे तथा इसका प्रायोगिक ज्ञान देंगे। इस शिक्षा में उद्योग-कला, पशुपालन, वन-विभाग तथा पहाड़ी क्षेत्रों में मधुमक्खी-पालन भी रक्खा गया है। इस योजना के अनुसार प्रत्येक जूनियर हाई स्कूल तथा हायर सेकेन्डरी स्कूल के पास कम से कम १० एकड़ का एक फार्म होगा। इसी में बालकों को २ घंटे प्रतिदिन कृषि का प्रायोगिक ज्ञान दिया जायगा। इस फार्म में बालक प्रतिदिन परिश्रम करेंगे। इस प्रकार उनमें श्रम की महत्ता का भाव जागृत होगा। देश के ये भावी कर्णधार विद्यालयों से निकलने के पश्चात् अपने क्षेत्रों में अन्य लोगों को कृषि के नये ढंग सिखायेंगे तथा स्वयं नये ढंग पर कृषि करके अधिक अन्न का उत्पादन करेंगे।

स्कूल के इस फार्म में कृषि-अध्यापक और छात्र काम करेंगे। उसके लिये बैल तथा यंत्रादि सरकार देगी और उत्पादन का केवल २५ प्रतिशत सरकार को देना होगा, शेष शिक्षक छात्रों में वितरित कर देगा। इस फार्म से निकटवर्ती किसानों को भी प्रेरणा मिलेगी और उन्हें नये-नये तरीके मालूम होंगे तथा बालक शारीरिक श्रम, स्वावलम्बन तथा सामाजिक जीवन की भावना ग्रहण करेंगे। जूनियर हाई स्कूल या हाई स्कूल की परीक्षा पास करके जो छात्र अपना अध्ययन समाप्त कर देना चाहते हैं वे अपना जीविकोपार्जन कर सकेंगे तथा जो आगे बढ़ना चाहते हैं उनको श्रम का महत्त्व ज्ञात हो जायगा तथा उसकी आदत पड़ जायगी। कृषि-कालेजों में कृषि की उच्च शिक्षा एवं अनुसन्धान की व्यवस्था है। इस प्रकार प्रारंभ से लेकर अन्त तक कृषि की उच्च शिक्षा से भारतवर्ष को अधिक लाभ हो सकेगा। अतः कृषि-शिक्षा का जूनियर हाई स्कूल आधार है।

सरकार की यह भी योजना थी कि बालकों को कृषि-सम्बन्धी किसी कार्य के लिए बाहर से सहायता लेने की आवश्यकता न पड़े; और यदि प्रत्येक विद्यालय में एक छोटा-सा कारखाना हो जाय जहाँ बढ़ई और लोहार का काम भी सिखाया जा सके तो काफी अच्छा होगा। कृषि-शिक्षा के खोलने का उद्देश्य केवल कृषि-शिक्षा देना ही नहीं, वरन् शिक्षित समाज और ग्रामीण समाज के मध्यान्तर उस भेद को मिटाना है जो अभी तक चला आ रहा है। शिक्षित समाज अपने को ग्रामीणों से अलग समझता है और ग्रामीणों के हृदयों में उनके प्रति तनिक भी विश्वास, सहानुभूति एवं सौहार्द की भावना नहीं। अतः कृषि-विज्ञान का अध्ययन करने वाले ये छात्र तथा कृषि के अध्यापक सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन विकसित करने की भी व्यवस्था करेंगे। संसार में क्या हो रहा है इसके लिए पत्र-पत्रिकाओं

तथा सुन्दर पुस्तकों का प्रबन्ध रहेगा तथा अपने मनोरंजन एवं निकटवर्ती ग्रामों के थके-मादे किसानों के मनोरंजन के लिए छात्र नाटक, लोकगीत, भजन, लोकनृत्य तथा अन्य ऐसे ही कार्यक्रमों का आयोजन करेंगे। गाँवों में जाकर लोगों को वे स्वच्छता का पाठ पढ़ायेंगे और स्वयं उनकी बस्तियों की सफाई करके उनके समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार शिक्षित समाज ग्रामीणों को अपना सहयोगी बना सकेगा और उनका विश्वासपात्र बनकर अधिक सफल हो सकेगा। भारत के सात लाख गाँवों में जब कृषि-शिक्षा के प्रति यह नई भावना जागृत हो जायगी तो उनकी समझ में आ जायगा कि यह शिक्षित समाज हमारा मित्र एवं सहयोगी है और यदि हम लोग मिल कर काम करें तो भारत का अधिक कल्याण हो सकता है। गाँव भारत की रीढ़ की हड्डियाँ हैं और उनके सुधारने का यही एक उत्तम उपाय है।

इन कार्यों के अतिरिक्त कृषि-अध्यापक और छात्र स्कूल के क्षेत्र में आने वाले गाँवों में रहने वाले कुछ युवकों को मिलाकर एक संस्था का आयोजन करेंगे। इस संस्था का अध्यक्ष अथवा नेता छात्र ही होगा। इस संस्था का कार्य होगा गाँवों के विकास के लिये कुछ कार्य करना; जैसे :—ग्रामों में सड़क बनाना, नाली बनाना, पुल बनाना, वृक्षारोपण करना, अभिनय करना तथा अन्य कृषि-फार्मों तथा कालेजों में जाकर उनका निरीक्षण करना। इससे बालकों में नेतृत्व की भावना पैदा होगी। इस दल को फसलों में कीड़ों के लगने का कारण और उन्हें मारने के उपाय, तथा यदि कहीं आग लग जाय तो उसे बुझाने का ढंग एवं टिड्डी आदि मारने का भी ढंग सिखाया जायगा। इसके अतिरिक्त कृषि-अध्यापक ग्रामों के योग्य और कुशल किसानों तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों को मिलाकर एक कृषि-समिति बनाएगा। यह कृषि-समिति उन्हें कृषि-सम्बन्धी कार्यों में तथा अन्य स्थानीय मामलों में सलाह देगी। इससे ग्रामीण किसानों में आत्म-गौरव की भावना जागृत होगी और वे इन विद्यालयों को अधिक सहयोग देने का प्रयत्न करेंगे। किसानों को अधिक सम्पर्क में लाने के लिये कृषि-अध्यापक समय-समय पर प्रतियोगिताओं, प्रदर्शनियों एवं सार्वजनिक मेलों का प्रबन्ध करेगा। इन आयोजनों में किसानों को भी भाग लेने का अवसर दिया जायगा।

उपरोक्त बातों को देखने से ज्ञात होता है कि यह विद्यालय एक निश्चित क्षेत्र के सभी क्रियाकलापों का प्रदर्शन करेगा, क्योंकि बिना उनके सहयोग के इस कार्य का होना असम्भव होगा। कृषि-अध्यापक इन सभी कार्यों का पथ-प्रदर्शक होगा। अतः यह निश्चित हो जाता है कि यदि वह कुशल और योग्य है तथा उचित रूप से पथ-प्रदर्शन करता है तो योजना सफल होगी, अन्यथा नहीं। अन्य अध्यापकों

के अतिरिक्त कृषि-अध्यापक के कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि अन्य अध्यापक तो विशेषतः मानसिक विकास पर ही बल देते हैं; परन्तु कृषि-अध्यापक छात्रों के मानसिक, चारित्रिक एवं सबसे महत्त्वपूर्ण उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर बल देता है। वास्तव में वह बालकों को कृषि, व्यायाम, उद्यान-कला, सार्वजनिक-कृषि तथा मधुमक्खी-पालन ही न सिखाकर उन्हें समाज में अपने को व्यवस्थित करना एवं उनका विश्वासपात्र बन कर सहयोग प्राप्त करना सिखाता है। ये सभी बातें कार्य रूप में तब तक नहीं परिणित की जा सकती हैं जब तक अध्यापक उन्हें अपना परम पुनीत कर्त्तव्य नहीं समझता। अतः उसे इन सभी क्रियाओं का प्राण समझना चाहिए।

योजना की प्रगति

१० जनवरी सन् १९५४ ई० को उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में प्रदेशीय सरकार ने शिक्षा-मंत्री के सभापतित्व में एक सम्मेलन किया जिसमें उत्तर प्रदेश के सभी जिलों के जिला-परिषद के अध्यक्ष, जिला विद्यालय-निरीक्षक तथा अन्य सभी उच्चाधिकारी गण उपस्थित हुए। इस सम्मेलन में निर्णय किया गया कि राज्य के लगभग सभी जूनियर हाई स्कूलों में यह योजना लागू की जाय। जुलाई सन् १९५४ ई० में यह योजना लागू कर दी गई और प्रान्त के लगभग ३,००० जूनियर हाई स्कूल तथा हायर सेकेन्डरी स्कूलों में यह योजना संचालित है। प्रत्येक विद्यालय के निकट ही उसका १० एकड़ का फार्म और उसी में एक कुएँ की व्यवस्था की गई। तहसीलदारों को आदेश दिये गये कि यदि विद्यालयों के फार्मों की भूमि अच्छी नहीं है तो उसे बदल दी जाय। बैल देने की व्यवस्था १९५५-५६ ई० के बजट में की गई थी, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण उस समय केवल ६०० विद्यालयों को बैल दिये जा सके।

सन् १९५५-५६ ई० तक कुल विद्यालयों को मिलाकर केवल २४४५ विद्यालयों के पास २५,०१९ एकड़ भूमि है जिसमें २,०९४ जूनियर हाई स्कूल के पास १९,८६९ एकड़ तथा ३५१ उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के पास ५,१५० एकड़ है। इन विद्यालयों के भूमि का विवरण इस प्रकार है :—१७ प्रतिशत भूमि उच्च कोटि की है। २७ प्रतिशत भूमि में दो फसलें उत्पन्न की जाती हैं। ३६ प्रतिशत भूमि ऐसी है जिसको ४ फसलें पैदा करने के पश्चात् खेती के योग्य बनाया जा सकता है। २० प्रतिशत ऊसर है जिसमें खेती नहीं की जा सकती है। इस प्रकार केवल ४५ प्रतिशत भूमि ही खेती करने योग्य है और शेष ३६ प्रतिशत में उत्तम खेती नहीं जा सकती। उसे केवल असन्तोषजनक कहा जा सकता है। २०

प्रतिशत भूमि तो विद्यालयों से २ मील दूरी पर है और शेष की दूरी एक मील है ।

अभी तक लगभग ६०० स्कूलों से अधिक में सिंचाई की व्यवस्था नहीं की जा सकी है । प्रथम वर्ष में ही प्रसाराध्यापकों ने १,७४४ एकड़ भूमि को तोड़ कर कृषि के योग्य बनाया और २,२०,०५४ रुपये का लाभ हुआ । सन् १९५४ ई० में २,००६ विद्यालयों में ही प्रसाराध्यापक नियुक्त किये जा सके थे । शेष ऐसे विद्यालयों में जहाँ भूमि नहीं मिल सकी थी वहाँ काष्ठ-कला, कताई, चर्मकला, रँगाई, दर्जीगीरी तथा अन्य उद्योग-धन्धों की शिक्षा देने की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया । इस निश्चय के अनुसार सन् १९५५-५६ में प्रदेश के ९८ जूनियर हाई स्कूलों में शिल्प-शिक्षकों की नियुक्ति की गई और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ४५ राजकीय दीक्षा-विद्यालय (पुरुष) और ६ बालिका दीक्षा-विद्यालय में शिल्प-शिक्षा का प्रबन्ध किया गया और इनमें उन अध्यापकों को दीक्षा दी जाती है जो इन नवीन स्थानों को ग्रहण करेंगे ।

आर्थिक व्यवस्था

किसी भी योजना को चलाने के लिये पर्याप्त धन-राशि की आवश्यकता होती है । इस योजना को संचालित करने के लिये भी काफी धन की आवश्यकता थी । प्रदेशीय सरकार ने इस योजना के लिये ४१,३२,००० रु० आवर्तक तथा ३० लाख रुपया अनावर्तक धन-राशि स्वीकृत किया जिसमें ५०० रुपया एक जोड़ी बैल खरीदने के लिए, ४०० रुपया कुयें में रहट लगाने के लिये भी था । सन् १९५५-५६ में ४९,४८,६०० रुपया आवर्तक तथा १२,४७,५०० अनावर्तक धनराशि स्वीकार की गई । इसके अतिरिक्त मुख्य मंत्री-शिक्षा-कोष में भी ३०,८६,९८२ रुपया जमा है जिसे आवश्यकता पड़ने पर काम में लगाया जा सकता है ।

प्रसाराध्यापकों का प्रशिक्षण

इस योजना को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक था कि शीघ्र ही कुछ नये प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किये जायँ । अतः अस्थायी प्रशिक्षण-केन्द्र गोरखपुर, बलिया, प्रतापगढ़, झाँसी, हरदोई और आगरा में खोले गये । पहाड़ी क्षेत्रों के लिए रानीखेत से लगभग ३ मील की दूरी पर चौबटिया में केन्द्र स्थापित किया गया तथा नैनीताल जिले में भीमताल और रुद्रपुर तथा प्रतापगढ़ के कृषि फार्मों पर भी प्रसाराध्यापकों की दीक्षा का प्रबन्ध किया गया ।

राज्य शिक्षा-परिषद

इस योजना के कार्य-संचालन एवं सफलता के लिए एक 'राज्य शिक्षा-परिषद' की स्थापना की गई है । यह परिषद इसकी नीति-निर्धारण करके इसके अन्य

कार्यों में परामर्श देगी। इस परिषद के अध्यक्ष प्रदेश के मुख्य मंत्री हैं। राज्य का शिक्षा-मंत्री इसका उपाध्यक्ष होगा तथा अन्य मंत्री सदस्यों के रूप में होंगे। यह परिषद प्रदेशीय स्तर की है और सम्पूर्ण प्रदेश की शिक्षा के पुनर्गठन के लिए परामर्श देती है।

जिला नियोजन समिति

राज्य शिक्षा-परिषद तो सारे प्रदेश की पुनर्व्यवस्था-योजना का प्रबन्ध करेगी, परन्तु वह प्रत्येक जिले के लिए अलग-अलग अधिक ध्यान नहीं दे सकती। अतः प्रत्येक जिले में एक जिला नियोजन समिति का निर्माण किया गया। इसके अध्यक्ष और उपाध्यक्ष क्रमशः जिलाधीश और अध्यक्ष जिला-परिषद होंगे। जिले के नियोजन अधिकारी, जिला विद्यालय-निरीक्षक, जिला कृषि-अधिकारी तथा जिले के सभी विधान सभा के सदस्य इस समिति के सदस्य होंगे।

ग्राम-परिषद

जिला नियोजन समिति की अध्यक्षता में जिले के सभी विद्यालय होंगे। अतः यह समिति प्रत्येक विद्यालय के लिए अलग-अलग तथा विशेष रूप से ध्यान देने में समर्थ न हो सकेगी। इसके अतिरिक्त स्थानीय व्यक्तियों को स्थानीय बातों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान होता है और भिन्न-भिन्न स्थानों में विभिन्न परिस्थितियाँ भी होती हैं। अतः विद्यालयों के लिए स्थानीय समिति अधिक लाभदायक होगी। इन्हीं दृष्टिकोणों से ग्राम-प्रधान की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया है। क्षेत्र के सभी किसान इसके सदस्य तथा प्रसाराध्यापक इसका मंत्री होता है। यह समिति उत्पादन में व्यय की जाने वाली धनराशि की रूपरेखा तैयार करेगी और यह निश्चित करेगी कि यह धनराशि किस प्रकार व्यय की जाय।

शिक्षा की पुनर्व्यवस्था की आलोचना

गुण

अपने शासन-काल में ब्रिटिश सरकार भारतीय बालकों को केवल किताबी कीड़े बनाना चाहती थी। शिक्षा के व्यापक और महत्त्वपूर्ण अर्थ पर ध्यान न देकर वह केवल उसके संकुचित अर्थ पर ही अधिक ध्यान देती रही और इस दृष्टिकोण से उसने केवल बाबू बनाने की शिक्षा दी। भारतीयों को वह ऐसे साँचे में ढालती रही कि वे वास्तव में बाबू बनते गए और परिश्रम से दूर हटते गए। परिणाम-स्वरूप समाज की दशा उत्तरोत्तर गिरती गई और शिक्षित व्यक्ति कालेजों से निकलने के पश्चात् नौकरी की खोज में संलग्न रहने लगे। परन्तु भारत की वसुन्धरा पर वीर, त्यागी

एवं कर्मठ नेताओं का अभाव नहीं रहा और उन्हीं के परिश्रम के फलस्वरूप १९४७ ई० में भारत फिर एक स्वाधीन राष्ट्र बना। अब देश के विद्वान एवं नेता, गाँधी जी के विचारों के अनुसार, उस शिक्षा की व्यवस्था में संलग्न हुए जो वास्तविक स्वतंत्रता प्रदान कर सके तथा प्राचीन शिक्षा-पद्धति के अनेक दोषों को दूर कर बालक का सर्वांगीण विकास कर सके। इस शिक्षा-व्यवस्था का उद्देश्य बालकों को सामाजिक शिक्षा देकर उन्हें समाज का एक मुख्य अंग बनाना है। साथ ही, उन्हें शारीरिक श्रम का महत्त्व समझा कर उनके स्वभाव में जनतंत्र की विशेषतायें और नेतृत्व के गुण का विकास करना है जिससे वे ग्रामीण जनता के अधिक निकट आने और अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके देशव्यापी बेकारी को दूर करने में सहायक हो सकें। अब बालक स्कूल के फार्म में काम करने के पश्चात् घर लौटने पर भी शारीरिक परिश्रम में तनिक भी संकोच न करेगा। यही नहीं अब वह कहीं भी कोई श्रम का कार्य करने के लिए उद्यत रहेगा, क्योंकि वह परिश्रम का महत्त्व समझ चुका है।

अभी तक हमारे गाँवों के व्यक्ति उच्च शिक्षा प्राप्त कर नौकरी की खोज में निकल जाते थे। इस प्रकार ग्राम फिर उसी भाँति रह जाता था। गाँवों में वे रत्न, जो वहीं पलते थे और जिनसे गाँवों को बड़ी-बड़ी आशायें रहती थीं, शिक्षा प्राप्त करके बाहर चले जाते थे। यदि वे वहाँ रहते तो ग्रामीणों को भी प्रगतिशील बना सकते थे। परन्तु अब यह नवीन शिक्षा उन्हें ग्रामों में रहने की प्रेरणा दे सकेगी। ग्रामों में रह कर ये शिक्षित युवक ग्रामीणों को स्वच्छता एवं सफाई, सहयोग तथा स्वाभिमान के पाठ पढ़ाकर उन्हें उत्तम नागरिक बनाएँगे।

गाँवों में पड़ी हुई बेकार और बंजर भूमि का उपयोग हो सकेगा। अनेक विद्यालय दिन-रात परिश्रम करके प्रान्त की काफी भूमि को कृषि योग्य बना लेंगे इस भूमि के उपजाऊ बन जाने के कारण खाद्य समस्या कुछ हद तक हल हो सकती है और राष्ट्रीय आय बढ़ाई जा सकेगी।

इस योजना से निरीक्षकों एवं छात्रों को आंशिक आय होगी और उससे वे स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा ग्रहण करेंगे। इसके साथ ही साथ बची हुई धनराशि को सरकार राज्य के अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगा सकेगी।

ये विद्यालय सामुदायिक केन्द्र बन सकेंगे तथा सांस्कृतिक, ग्रामीण एवं आर्थिक उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

वास्तव में इस शिक्षा के उद्देश्य काफी ऊँचे एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे माध्यमिक शिक्षा में जान आ गई है, परन्तु कुछ ऐसे दोष हैं जिनके कारण वांछित फल की

प्राप्ति होने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। यदि ये दोष न होते तो वास्तव में यह भारतीय गाँवों को स्वर्ग बना देती और बेकारी की समस्या को यहाँ स्थान न मिलता। अब नीचे हम इसके दोषों की विवेचना करेंगे।

दोष

१—इस योजना के लागू हो जाने के कारण शिक्षा का स्तर निम्न हो गया है। बालकों को अपना अधिक समय कृषि फार्मों पर लगाना पड़ता है, और वहाँ से अवकाश पाने के बाद उसी का मानसिक ज्ञान कराया जाता है। अतः स्वाभाविक है कि उनके पास अन्य विषयों के अध्ययन करने का समय नहीं रह जाता।

२—यह शिक्षा केवल ग्रामीण बालकों को ही दी जाती है। अतः नगर और ग्रामीण बालकों के स्तर में तथा ग्रामीण और नगर के विद्यालयों के पाठ्यक्रम में काफी अन्तर हो गया है। ग्रामीण बालकों के वाह्य ज्ञान का दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है और जब वे नगरों में उच्च शिक्षा के लिए आते हैं तो शहर के बालकों के समक्ष उन्हें लज्जित होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सरकारी नौकरियों को प्राप्त करने में वे नगर के बालकों के समक्ष नहीं ठहर सकते, क्योंकि उनका मानसिक स्तर नीचा होता है।

३—नगर और ग्रामीण विद्यालयों के पाठ्यक्रम में अन्तर होने के कारण दोनों समाज में एक गहरी खाँई बनती चली जा रही है। एक ओर तो हम वर्ग-विहीन समाज स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरी ओर दो प्रकार के समाज बनते जा रहे हैं।

४—अभिभावकों का कथन है कि कृषि-शिक्षा तो बालक घर पर ही प्राप्त कर सकता है। इसके लिए उसे स्कूल जाने की क्या आवश्यकता है? कहने का तात्पर्य यह है कि इस नई योजना के कारण जनता में शिक्षा के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही है; यद्यपि उनका यह तर्क सारहीन है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक कार्यक्रम को देखकर ग्रामीण लोग समय नष्ट करना बताते हैं।

५—किसी भी कार्य को करने के लिए पहले एक योजना बनाई जाती है अन्यथा वह कार्य सफल नहीं हो सकता। दुर्भाग्यवश यह योजना पूर्वनियोजित नहीं है। अतः इसके कार्यान्वयन में हमारे सामने अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। इसमें काफी धन नष्ट हो रहा है।

६—प्रसाराध्यापकों में बहुत कम प्रसाराध्यापक कृषि-स्नातक हैं। बाकी सबको ३ या ६ माह का प्रशिक्षण देकर भेज दिया गया है। इससे कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा है।

७—उच्चाधिकारियों को भी इसके सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञान नहीं है । अतः वे भी इसके सम्बन्ध में प्रसाराध्यापकों को कोई विशेष और उपयोगी सुझाव नहीं दे सकते हैं । जिले में जो एक्सटेन्शन गाइड होते हैं वे भी कोई विशेष सुझाव नहीं दे सकते क्योंकि उनके अधिकार सीमित हैं ।

८—स्कूलों के लिए मिलने वाली भूमि प्रायः बंजर है और उसको कृषि योग्य बनाने में पर्याप्त धन एवं साधन की आवश्यकता है और इतना धन सरकार नहीं व्यय कर सकती है ।

९—हल, बैल, बीज और सिंचाई तथा अन्य साधनों के लिए प्रसाराध्यापकों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ।

१०—प्रसाराध्यापकों को इतने कार्य दे दिए गए हैं कि उनके लिए फार्म का कार्य करने का समय ही नहीं । वे केवल कागजों पर कार्य करते हैं ।

११—इस योजना में लड़कियों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है । स्वतंत्र नागरिकों को समान अधिकार है, फिर उन्हें इस शिक्षा से क्यों वंचित रक्खा गया है ?

१२—कुछ ग्रामीण इसके विरोध में इसलिए हैं कि उनकी वह भूमि जिसमें जानवर चरते थे, विद्यालय को दे दी गई है ।

यदि हम ध्यान से देखें तो उपरोक्त सभी दोष कार्यान्वित करने की प्रणाली के हैं न कि शिक्षा-पुनर्व्यवस्था-योजना के । यदि इसको उचित ढंग से नियोजित किया जाय तो इन सभी दोषों का निराकरण हो सकता है और निराकरण हो जाने पर हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होगा तथा योजना भी सफल हो सकेगी ।

माध्यमिक शिक्षा

पिछले अध्यायों में कई बार यह संकेत किया जा चुका है कि अंग्रेजी सरकार ने कुछ सरकारी अथवा वैयक्तिक स्कूलों में लोगों को पढ़ाकर लेखक और अन्य सरकारी कर्मचारी बनाने की नीति अपनायी थी । वह अधिक लोगों को शिक्षा नहीं देना चाहती थी ताकि बेकारी न बढ़ जाय । माध्यमिक विद्यालयों से निकलने के पश्चात् लोगों को राजकीय पद मिल जाते थे और कुछ लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए उच्च विद्यालयों में प्रवेश ले लेते थे । सन् १९३७ ई० प्राथमिक स्कूलों की संख्या बढ़ने के कारण माध्यमिक स्कूलों की संख्या में वृद्धि स्वाभाविक थी । भारतीयों को यह अनुभव होने लगा कि माध्यमिक विद्यालयों तक अध्ययन करने में विद्यार्थी अपने अमूल्य समय का १२ वर्ष बिता देता है, परन्तु फिर भी माध्यमिक विद्यालयों से निकलने के पश्चात् वह स्वावलम्बी नहीं बन पाता और उसे नौकरी की ही खोज

करनी पड़ती है। अधिकांश विद्यार्थी आर्थिक कठिनाइयों के कारण उच्च अध्ययन को भी छोड़ देते हैं; क्योंकि प्रथमतः वे उच्च शिक्षा का भार नहीं वहन कर सकते हैं और फिर उनके सामने रोटी का प्रश्न भी रहता है।

इस दशा को देख कर उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९३९ ई० में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इस समिति की सिफारिशों का विवरण हम पीछे दे चुके हैं। इस समिति के सुझावों के अनुसार माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम व्यापक होना चाहिए और उसमें विविध विषय रक्खे जायँ जिससे छात्रों को अपनी इच्छानुसार विषयों को चुनने का अवसर प्राप्त हो सके और उन्हें सर्वांगीण शिक्षा मिल सके और उनके जीवन का कोई क्षेत्र अछूता न रह जाय। सन् १९३७ ई० के पश्चात् माध्यमिक विद्यालयों का विकास प्रारम्भ हुआ था और इस विकास की गति भी तीव्र हो रही थी कि १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के बादल घिर आए और माध्यमिक शिक्षा का प्रभात फिर कुछ समय के लिए अन्धकारमय हो गया। युद्ध-काल में माध्यमिक शिक्षा को बड़ी निराशा हुई और कुछ कारणों से उसका शैक्षिक स्तर भी गिर गया। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा का भाग्य फिर चमका। सन् १९४७ ई० में भारतवर्ष को स्वतंत्रता मिल गई और अब माध्यमिक शिक्षा में आश्चर्यजनक वृद्धि प्रारम्भ हो गई।

सन् १९४८ ई० तक माध्यमिक शिक्षा कक्षा आठ से प्रारम्भ होती थी। कक्षा १० हाई स्कूल की अन्तिम परीक्षा होती थी और उसके पश्चात् बालक इन्टरमीडिएट कालेजों में प्रवेश लेते थे और २ वर्ष तक वहाँ अध्ययन करते थे। परन्तु सन् १९४८ ई० से माध्यमिक शिक्षा का प्रारम्भ कक्षा ९ से होने लगा। प्राथमिक विद्यालयों में कक्षा पाँच तक, जूनियर हाई स्कूलों में कक्षा ६,७ और ८ कक्षायें थीं। सन् १९४८ ई० में राज्य में उच्चतर माध्यमिक योजना लागू कर दी गई और माध्यमिक शिक्षा का प्रसार बड़े जोरों से प्रारम्भ हो गया। सरकार भी काफी प्रोत्साहन दे रही थी और भारतीय जनता भी इस ओर काफी रुचि ले रही थी। परन्तु इन दिनों माध्यमिक शिक्षा का विकास ग्रामीण क्षेत्रों में अधिक जोर पकड़ रहा था। सन् १९४८ ई० में माध्यमिक विद्यालयों के फाइनल परीक्षार्थियों की संख्या सन् १९३७ ई० की अपेक्षा ढाई गुना से भी अधिक हो गई थी। इसकी प्रगति देखने के लिए इस तालिका पर दृष्टिपात करना चाहिए:—

सन्	प ीक्षार्थियों की संख्या	परीक्षा के लिए मान्यता प्राप्त स्कूलों की संख्या	मान्यता प्राप्त कालेजों की संख्या
१९३७	१९०९१	२५४	४०
१९४७	४८५२१	५७०	१६५
१९५३	२५९४१९	१०९८	५३४
१९५५	३०००००	—	—

प्रति जिले में हाई स्कूल तथा इन्टर कालेजों का अनुपात ६ था। आगे चल कर सन् १९५३ ई० में यही अनुपात ३२ हो गया और सन् १९५३-५४ ई० में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में सराहनीय प्रगति हुई। सन् १९५६ ई० में बालकों के लिए राजकीय इन्टर कालेज की संख्या ३५, बालिकाओं के लिए राजकीय इन्टर कालेज की संख्या २२ है, तथा इसी प्रकार राजकीय हाई स्कूल की संख्या बालकों और बालिकाओं के लिए क्रमशः ४० और २२ थी।

सन् १९४७ की तुलना में १९५८ तक (अर्थात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ग्यारह वर्षों में) उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में २११ प्रतिशत वृद्धि हुई तथा इनमें शिक्षकों और छात्रों की संख्या में क्रमशः २३४ और २५९ प्रतिशत वृद्धि[1] हुई।

उच्चतर माध्यमिक योजना के अनुसार सभी हाई स्कूल ११ वीं और १२ वीं कक्षायें खोलने का प्रयत्न करने लगे और प्रदेश में उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की बाढ़ आ गई। इस योजना के आदेशानुसार सरकार चाहती थी कि या तो सभी हाई स्कूल ११वीं और १२वीं कक्षा तक खोलकर पूरे इन्टर कालेज हो जायँ या केवल जूनियर स्कूल ही रहें। जब सभी हाई स्कूलों ने, और यही नहीं, वरन् बहुत-से मिडिल स्कूलों ने भी इन्टरमीडिएट कालेज बनने का प्रयत्न किया तो स्वाभाविक था कि शिक्षा का मानदण्ड गिरे, क्योंकि उनके पास न तो योग्य और पर्याप्त संख्या

१. From the Education Minister's Speech in the U. P. Legislative Assembly on March 19, 1959—Ibid.

में अध्यापक थे और न उनके पास इतना धन ही था कि उनमें प्रवेश लिए हुए छात्रों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था की जा सके।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-योजना

स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक भारत में माध्यमिक शिक्षा का जो रूप था, उसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। जुलाई सन् १९४८ ई० में उत्तर प्रदेश ने उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की नयी योजना की रूपरेखा निर्धारित कर उसी के आधार पर प्रान्तीय माध्यमिक शिक्षा आधारित की। इसका रूप इस प्रकार निश्चित किया गया :—१—जूनियर हाई स्कूल में कक्षायें ६, ७ और ८ और २—उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में ९, १०, ११ और १२ कक्षायें रहेंगी।

जूनियर हाई स्कूल—सन् १९४८ ई० तक उत्तर प्रदेश में दो प्रकार के जूनियर हाई स्कूल संचालित थे। प्रथम; हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल और द्वितीय, ऐंग्लो हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल। प्रथम प्रकार के विद्यालय प्रायः जिला परिषदों से मान्य होते थे और उनमें कक्षा ७ तक शिक्षा दी जाती थी तथा उनके छात्रों को इलाहाबाद डिपार्टमेंटल परीक्षाओं में बैठना पड़ता था। दूसरे प्रकार के जूनियर हाई स्कूल में कक्षा आठ तक शिक्षा दी जाती थी और यह बोर्ड ऑफ हाई स्कूल और इन्टरमीडिएट से स्वीकृत होते थे। इनका पाठ्यक्रम और रूप-रेखा हाई स्कूल की भाँति ही होती थी और इनका प्रधानाध्यापक स्वयं ही कक्षा ८ की परीक्षा ले सकता था। सन् १९४८ ई० में जब उच्चतर माध्यमिक योजना लागू की गई तो यह भेद मिटा दिया गया। अब एक ही प्रकार के जूनियर हाई स्कूल रह गये और सब में कक्षा ८ तक पढ़ाई होने लगी और हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूल, ऐंग्लो जूनियर हाई स्कूल और हाई स्कूल के कक्षा ८ में कोई अन्तर नहीं रह गया। तीनों का पाठ्यक्रम एक हो गया। पहले हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूलों की डिपार्टमेन्टल परीक्षाएँ पास करने पर छात्र जब अंग्रेजी पढ़ने जाते थे और यदि जूनियर स्कूलों में द्वितीय भाषा अंग्रेजी नहीं होती थी तो उन्हें 'स्पेशल' में भरती किया जाता था। यह स्पेशल, कक्षा ६ के बराबर होता था। अब किसी भी जूनियर हाई स्कूल से पास करने के पश्चात् छात्र नवीं कक्षा में प्रवेश पा सकता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् पूर्व माध्यमिक शिक्षा में अनेक सुधार किये गये और उसकी उन्नति बड़ी तीव्र रही। इसका अनुमान इस तालिका से लगाया जा सकता है :—

वर्ष	विद्यालयों की संख्या	छात्रों की संख्या	अध्यापकों की संख्या	व्यय सहस्र रु० में
१९४६-४७	१८५०	२४७८४१	११३८१	६७७०
१९४७-४८	२०५२	२६६५१६	१०७१३	७५३५
१९४८-४९	२१९३	२७५७२०	११४३०	८७०५
१९४९-५०	२५८५	३११६०७	१४१२६	११०२८
१९५०-५१	२८५४	३४८१३७	१४५०५	१३३५०
१९५१-५२	३०१७	३६९८६१	१६२२७	१४४०२
१९५२-५३	३२४४	३८८१५७	१७३४७	१५८१०

विगत[1] मार्च १९, १९५९ को विधान-सभा के अपने वक्तव्य में प्रदेश के शिक्षा-मंत्री ने कहा है कि पिछले ग्यारह सालों में अर्थात् १९५८ तक जूनियर हाई स्कूल के विद्यालयों, शिक्षकों और छात्रों में क्रमशः ११५, ८६ और ८४ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

जूनियर हाई स्कूलों के अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण :—सन् १९४८ के पहले हिन्दुस्तानी मिडिल स्कूलों में नार्मल पास अध्यापक होते थे, और ऐंग्लो जूनियर हाई स्कूलों में सी० टी० पास अध्यापक होते थे। परन्तु सन् १९४८ ई० में जूनियर हाई स्कूल के लिए जे० टी० सी० कालेज की व्यवस्था की गई। राज्य के ८ नार्मल स्कूल जे० टी० सी० कालेज में परिवर्तित कर दिये गये और जिन वैयक्तिक संस्थाओं के पास पर्याप्त साधन थे उन्हें भी जे० टी० सी० कालेज चलाने की अनुमति दे दी गई। अब प्रदेश में अध्यापकों के लिए सी० टी० का पाठ्यक्रम समाप्त कर दिया गया। इन जे० टी० सी० कालेजों में प्रवेश पाने के लिए निम्नतम योग्यता हाई स्कूल रक्खी गई है, परन्तु हाई स्कूल और इन्टरमीडिएट के प्रशिक्षण काल में अन्तर है।

१. As Reported in The Pioneer, Lucknow, Dated March 20, 1959.

उच्चतर माध्यमिक विद्यालय[1]

उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में ६, १०, ११ और १२वीं कक्षायें होती हैं। इन विद्यालयों को जूनियर हाई स्कूल की कक्षाओं को रखने का अधिकार है। परन्तु कक्षा ३, ४, ५ ये अपने यहाँ नहीं रख सकते। सन् १६३६ ई० में नरेन्द्र-देव समिति ने सुझाव रक्खा था कि सभी छात्रों की रुचियाँ और योग्यतायें एक प्रकार की नहीं होतीं, अतः उनकी योग्यता और रुचि का ध्यान रखकर व्यापक पाठ्यक्रम रक्खा जाय जिससे उनको अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनने का अव-सर मिले और उनको वे विषय जीवनोपयोगी हो सकें। सन् १६४८ में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संगठन में नरेन्द्रदेव समिति के सुझाव पर ध्यान देकर पाठ्यक्रम को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया गया :—

१. **साहित्यिक**—इसमें साहित्यिक विषय रक्खे गये हैं।
२. **वैज्ञानिक**—विज्ञान और गणित, हिन्दी और अंग्रेजी अनिवार्य है। और कुछ ऐच्छिक विषय भी लेने पड़ते हैं।
३. **व्यावसायिक**—इसमें वाणिज्य, अर्थ, बैंकिंग, टंकण तथा आशुलिपि आदि विषय रखे गये हैं।
४. **रचनात्मक**—इसमें रचनात्मक विषय रक्खे गए हैं, जैसे काष्ठ-कला, धातु-कला, पुस्तक-कला आदि।
५. **कलात्मक**—इसमें ड्राइंग, संगीत, नृत्य और पेन्टिंग आदि विषय रक्खे गए हैं।

कक्षा १० की परीक्षा हाई स्कूल और इन्टरमीडिएट बोर्ड द्वारा संचालित की जाती है। बालक-बालिकाओं की शिक्षा में कोई विशेष अन्तर नहीं रक्खा गया है। जूनियर हाई स्कूलों में गृह-हस्तकला अनिवार्य कर दी गई है। उच्च शिक्षा में नृत्य, संगीत, हस्तकला और गृह-शिक्षा भी सम्मिलित कर दिये गये हैं। उपर्युक्त वर्ग-विभाजन को देखने से ज्ञात होता है कि साहित्यिक और वैज्ञानिक विषय पहले से ही थे। इस नई योजना में कुछ रचनात्मक और टेकनिकल विषय नए रक्खे गये हैं। रचनात्मक में टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा, विशेषतया कृषि, धातु-कला, पुस्तक-कला, औद्योगिक रसायन[2], चर्म-कार्य एवं वाणिज्य मुख्य विषय रक्खे गये। इन विषयों का प्रायोगिक ज्ञान बालकों को दिया जाता है।

---

१. Higher Secondary Schools.
२. Industrial Chemistry.

उच्चतर माध्यमिकविद्यालयों के अध्यापकों एवं छात्रों की संख्या और उनकी वृद्धि

सन् १९५६-५७ की रिपोर्ट के अनुसार इन विद्यालयों की संख्या १,४७४ है। इनमें साढ़े छः लाख छात्र शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। सन् १९५६-५७ ई० में छात्रों की संख्या में काफी वृद्धि हुई। इसमें ६० हजार से अधिक छात्र और ३० हजार से अधिक छात्राओं की संख्या बढ़ी है। छात्रों के अतिरिक्त विद्यालयों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई है। हमीरपुर और काशीपुर, नैनीताल में दो नये राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों का निर्माण किया गया है। लोहाघाट (अलमोड़ा), चकिया (वाराणसी) को बालकों के हाई स्कूल और बाराबंकी, बाँदा, बिजनौर और एटा की लड़कियों के हाई स्कूलों का स्तर बढ़ाकर इन्टरमीडिएट कालेज बना दिया गया। रामपुर और शाहजहाँपुर के माध्यमिक विद्यालयों का स्तर ऊँचा करके हाई स्कूल बना दिया गया।

वर्ष	उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या	छात्रों की संख्या	अध्यापकों की संख्या	राजकीय कोष से किया गया व्यय
१९४५-४७	५०६	२०३२२५	९१७८	९९१६८००
१९४७-४८	६०९	२४९३०९	१२२१०	११९८६६००
१९४८-४९	७७४	२९७५४१	१४७२७	१४१७७३००
१९४९-५०	९०३	३६०७७५	१६३४३	१६७५५६००
१९५०-५१	९८७	४१७४०५	१८२२७	१६५९५०००
१९५१-५२	११२६	४८५७५६	२१९६८	१७७९२८००
१९५२-५३	१२१५	५४१८०३	२३९०२	१९१४९००
१९५३-५४	१३२२	५७८१३९	२५८८२	२०४७०९००
१९५४-५५	१४१४	६१४७८२	२७७८३	२११३६७०००
१९५५-५६	१४७४	६४४१२५	२८६७१	८३५४६४००

राज्य के आदेशानुसार राजकीय अथवा अराजकीय विद्यालयों में कार्य करने वाले उन कर्मचारियों के, जिनकी आय १०० रु० तक है, बच्चों की फीस १० से १२वीं कक्षा तक आधी कर दी गई है। इससे विद्यालय को जो हानि हुई है उसके लिए सरकार ने ६५,००० रुपये का प्रबन्ध किया है। सहायता-प्राप्त विद्यालयों के अध्यापकों के वेतन में वृद्धि करने के लिए ५०,००० रुपया और इनके सुधार के लिए १,८५,००० रुपया तथा मेज-कुर्सी आदि खरीदने के लिए ६ लाख रुपये तथा ७,६५,००० रुपया जमींदारी-उन्मूलन के कारण हुई क्षति की पूर्ति के लिये सरकार ने दिया है और यह आशा की गई कि इनसे विद्यालयों की दशा में काफी सुधार होगा। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। इसका अनुमान पृष्ठ ८१८ की तालिका से लगाया जा सकता है।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-योजना की आलोचना

गुण

१—अभी तक जूनियर हाई स्कूलों तथा हाई स्कूलों के बीच में एक गहरी खाँई बनी हुई थी। उच्चतर माध्यमिक योजना में इस खाँई को मिटा कर दोनों कड़ियों को जोड़ दिया गया। अब उच्चतर माध्यमिक विद्यालय एवं जूनियर हाई स्कूल में एक तारतम्य स्थापित हो गया।

२—उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में पाँच प्रकार के वर्ग रख दिये गये। अब बालक अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार किसी एक वर्ग को ले सकता था। फिर उसमें भी उसे अपने विषय सुनने की सुविधा थी।

३—उच्चतर माध्यमिक योजना लागू हो जाने के कारण बालकों के सर्वांगीण विकास के लिए सुविधा बढ़ गई। अभी तक वे केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर सकते थे और इस ज्ञान को प्राप्त कर उन्हें आजीविका कमाने की समस्या पर ध्यान देना पड़ता था। परन्तु अब वे कक्षा १० उत्तीर्ण होने के पश्चात् अपनी जीविका कमा सकने के साधन के सम्बन्ध में अधिक ठोस कदम उठा सकते थे।

४—औद्योगिक शिक्षा एवं कला को प्रोत्साहन मिला।

५—अब छात्रों के समय के नष्ट होने का डर न रहा, क्योंकि जूनियर हाई स्कूल की परीक्षा पास करने के पश्चात् छात्र कक्षा ९ में प्रवेश पा जाता है।

६—इस योजना से प्राथमिक विद्यालयों को प्रोत्साहन मिला, क्योंकि हाई स्कूलों से ३, ४, ५ कक्षायें हटा दी गईं। अतः उन बालकों को प्राथमिक विद्यालय में पढ़ना आवश्यक हो गया।

दोष

१—उच्चतर माध्यमिक योजना लागू तो कर दी गई, परन्तु न तो यह पूर्ण रूपेण लागू ही की गई और न सरकार ने इस ओर पूर्ण ध्यान ही दिया।

२—अधिकांश बालकों ने साहित्यिक वर्ग ही चुना। इसके पश्चात् वैज्ञानिक विषय का जोर था। व्यावसायिक, कलात्मक एवं रचनात्मक वर्गों का न तो उचित प्रबन्ध ही किया गया और न वह जन-प्रिय ही बनाया जा सका।

३—इस योजना में अनिवार्य, गौण और सहायक आदि अनेक विषय रख दिये गए जिसका परिणाम यह हुआ कि अध्यापकों एवं अभिभावकों के समक्ष एक विकट समस्या खड़ी हो गई। क्योंकि अधिकांश विद्यालयों के सामने आर्थिक समस्या थी और वे इतनी जल्दी इन अनेक विषयों के अध्यापन का प्रबन्ध करने में असमर्थ थे। परिणाम यह हुआ कि उनका स्तर गिर गया, क्योंकि सस्ते और अयोग्य अध्यापक रखने के लिए बहुत से विद्यालय बाध्य हुए।

४—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा का विकास इतनी तीव्र गति से हुआ कि सरकारी योजना उसकी गति के साथ कदम न मिला सकी। परिणामतः नियंत्रण ढीला हो गया।

५—कलात्मक एवं रचनात्मक विषयों के लिए वांछित साधन और अध्यापक न थे तथा स्कूल के दो वर्ष की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उन्हें नौकरी भी नहीं मिल पाती थी। क्योंकि न तो वे अच्छी तरह साहित्यिक एवं कलात्मक शिक्षा ही ग्रहण कर पाते थे और न साहित्यिक और वैज्ञानिक ही।

द्वितीय आचार्य नरेन्द्रदेव समिति (१९५२-५३)

नियुक्ति

माध्यमिक विद्यालयों की प्रगति तथा सन् १९४८ ई० की उच्चतर माध्यमिक योजना की वास्तविक दशा की जाँच करने के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने मार्च सन् १९५२ ई० में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसका नाम माध्यमिक शिक्षा पुनर्संगठन समिति[1] था। समिति ने बड़े परिश्रम से कार्य किया और लगभग १४ माह पश्चात् मई सन् १९५३ ई० में अपनी रिपोर्ट कुछ महत्त्वपूर्ण सुझावों के साथ रक्खी। यह राज्य के लिए नवीतम तथा अनोखी रिपोर्ट थी।

---

१. Secondary Education Reorganisation Committee, U. P. 1953.

जाँच क्षेत्र

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति को निम्नांकित विषयों की जाँच करने का उत्तर-दायित्व सौंपा गया था :—

१—साहित्यिक, वैज्ञानिक, व्यावसायिक, रचनात्मक और कलात्मक वर्गों की वास्तविक स्थिति पर विचार करना।

२—यह जाँच करना कि साहित्यिक और वैज्ञानिक वर्गों की वास्तविक स्थिति क्या है और उससे कोई लाभ हो रहा है या नहीं।

३—इस बात की जाँच करना कि अभी तक बालकों ने अपनी रुचि और इच्छानुसार किन-किन विषयों को चुना है और क्या उनका चुनाव सही है ?

४—उच्चतर माध्यमिक योजना को कहाँ तक सफलता मिली है।

५—वे छात्र जो व्यावसायिक और औद्योगिक विषय पढ़ते हैं उनको जीविकोपार्जन में सुविधा होती है या नहीं तथा उनकी आर्थिक समस्या कहाँ तक सफल हो सकती है।

६—उन उपायों को बताना जिससे उच्चतर माध्यमिक योजना सफल हो सके।

७—सामान्य शिक्षा तथा औद्योगिक और टेकनिकल शिक्षा के समन्वय के उपाय की ओर संकेत करना।

थोड़े दिनों पश्चात् इस समिति को पाठ्य-पुस्तकों, परीक्षा तथा प्रबन्ध-समिति, अध्ययन के घण्टे तथा अवकाश-सम्बन्धी प्रश्नों पर भी जाँच करने का अधिकार दे दिया गया। इतना ही नहीं वरन् आगे चलकर सरकार ने इलाहाबाद के मनोवैज्ञानिक केन्द्र तथा गृह-विज्ञान कालेज की जाँच करना, तथा छात्रों में अनुशासनहीनता के कारणों का पता लगाना और अंग्रेजी व संस्कृत को अनिवार्य विषय बनाना तथा धार्मिक व नैतिक शिक्षा सम्बन्धी प्रश्नों को भी इनकी जाँच-सूची में सम्मिलित कर दिया। समिति ने जाँच करके माध्यमिक शिक्षा के दोष और अपने सुझाव मई सन् १९५३ ई० में सरकार के सामने रक्खा। नीचे समिति की रिपोर्ट की कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण बातों की ओर संकेत किया जा रहा है।

माध्यमिक शिक्षा के दोष

१. उच्चतर माध्यमिक योजना को काफी परीक्षण के पश्चात् नहीं लागू किया गया था। अतः इसके समक्ष अनेक कठिनाइयाँ हैं।
२. इस योजना को बहुत कम सफलता मिली है।

३. अनिवार्य, सहायक और प्रमुख विषयों के कारण छात्रों को तथा अध्यापकों को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

४. सामान्य ज्ञान से किंचित मात्र लाभ नहीं।

५. हिन्दी को अनिवार्य तो बना दिया गया, परन्तु अन्य विषयों के साथ इसके अंक न जुड़ने के कारण इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। अतः हिन्दी पर्याप्त प्रोत्साहन न पा सकी।

६. छात्रों को विषयों के चुनाव के लिए मार्ग-प्रदर्शक की व्यवस्था का वर्णन तो मिलता है, परन्तु उसकी कोई व्यवस्था नहीं की गई है।

इसके अतिरिक्त समिति ने बताया कि माध्यमिक विद्यालयों और विद्यार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और शिक्षण-कार्य के लिए अधिक अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण-महाविद्यालयों की संख्या बढ़ती जा रही है। ये नव-निर्मित प्रशिक्षण-महाविद्यालय अधूरे ज्ञान वाले अध्यापकों का उत्पादन करते हैं। परिणामस्वरूप शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष नए शिक्षक रक्खे जाते हैं और पुराने शिक्षकों को हटा दिया जाता है। अध्यापकों को कम तथा देर से वेतन दिया जाता है। अच्छे वाचनालय, पुस्तकालय एवं भवनों का सर्वथा अभाव है।

समिति ने आगे बताया कि हाई स्कूल से ३, ४, ५ कक्षायें निकल जाने के कारण बहुत से व्यक्ति प्रायः अपने बच्चों को कक्षा ५ तक प्राइवेट पढ़ाते हैं और प्राइवेट पढ़ाकर हाई स्कूलों की कक्षा ६ में प्रवेश दिलाते हैं। घर पर शिक्षा होने के कारण उनकी नींव कमजोर हो जाती है। अतः इस प्रकार इन हाई स्कूलों का स्तर उत्तरोत्तर गिरता जा रहा है।

सिफारिशें

उपरोक्त दोषों को दूर करने तथा उच्चतर माध्यमिक योजना को सफल बनाने के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने निम्नांकित सुझाव रक्खे :—

१—हिन्दी के साथ संस्कृत को अनिवार्य कर दिया जाय और उसे क्रमशः ४ वर्ष पढ़ाया जाय। हिन्दी के तीन प्रश्न-पत्र होने चाहिए जिसमें प्रथम और द्वितीय प्रश्न-पत्र ३५-३५ अंक का हो और तीसरा प्रश्न-पत्र संस्कृत का हो जिसमें ३० अंक होने चाहिए।

२—कक्षा ९ और १० में गणित अनिवार्य कर दिया जाय तथा कक्षा ९ और १० में ६ विषय और कक्षा ११ और १२ में ५ विषय रक्खे जायें। प्रमुख एवं

सहायक आदि विषयों का विभाजन समाप्त कर दिया जाय तथा माध्यमिक शिक्षा-स्तर में सुधार के लिए प्राथमिक बेसिक और जूनियर हाई स्कूलों के पाठ्यक्रम में सुधार करना आवश्यक है।

३—टेकनिकल विद्यालयों की स्थापना के पूर्व चुने हुए स्थान की भौगोलिक उपयुक्तता आवश्यक है तथा इन स्कूलों को शिक्षा-विभाग के ही अन्तर्गत् होना चाहिए। समिति ने यह भी कहा कि इन टेकनिकल विद्यालयों के शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण-विद्यालय स्थापित किए जायँ। टेकनिकल शिक्षा और सामान्य शिक्षा में समन्वय आवश्यक है तथा टेकनिकल शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए इसकी निःशुल्क शिक्षा आवश्यक है।

४—विषयों के चुनने में छात्रों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। उनमें इतनी बुद्धि नहीं होती कि वे इतना सोच सकें। अतः विषयों के चुनने में विद्यार्थियों को उचित मार्ग-प्रदर्शन के लिए प्रत्येक जिले में एक मनोवैज्ञानिक केन्द्र का निर्माण किया जाय तथा प्रत्येक विद्यालय में एक शिक्षक को ऐसा प्रशिक्षण देना चाहिए कि वह वैज्ञानिक ढंग से छात्रों की रुचि का पता लगा कर उनको उचित निर्देश दे सके। इसके अतिरिक्त हमारे प्रदेश में एक मनोवैज्ञानिक शिक्षा अनुसंधान परिषद की स्थापना करके विभिन्न प्रकार के टेस्ट तैयार किए जायँ तथा प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के कोर्स में सुधार किया जाय[१]।

५—इन्टरमीडिएट कालेज की बारहवीं कक्षा को बी० ए० के साथ मिला कर बी० ए० का कोर्स ३ वर्ष का कर दिया जाय तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में केवल ९, १० और ११ कक्षायें ही रक्खी जायँ और ११ वीं कक्षा की फाइनल परीक्षा होनी चाहिए। शिक्षा का स्तर उठाने के लिए १६ वर्ष से कम आयु वाले बालकों को उच्चतर माध्यमिक परीक्षा में बैठने की आज्ञा न दी जाय। परीक्षा में उन छात्रों को बैठने की आज्ञा न दी जाय, जिनकी उपस्थिति ७५ प्रतिशत से कम है।

६—जूनियर हाई स्कूल की परीक्षा के पश्चात् एक छात्र-वृत्ति परीक्षा होनी चाहिए और योग्य बालकों को २ वर्ष के लिए छात्र-वृत्ति दी जाय। कक्षोन्नति के लिए त्रैमासिक, अर्द्धवार्षिक और वार्षिक परीक्षाओं के अंक जोड़ दिए जायँ।

---

१ The Government should set up a Council of Phychological and Educational Research to provide an over all direction and co-ordination of the work being carried on at different places in the field—The Report, page 37, para 7.

७—इलाहाबाद का राजकीय मनोविज्ञान केन्द्र अत्यन्त लाभदायक है। अतः इसे अधिक आर्थिक सहायता देकर इसकी दशा सुधारी जाय तथा इसके सदस्यों की संख्या तीन से बढ़ाकर पाँच की जाय।

८—प्रत्येक स्कूल को वर्ष में २०० दिन अथवा ४०० मीटिंग अध्यापन-कार्य करना चाहिए। साल में अधिक से अधिक २३५ दिन स्कूल खुलना चाहिए। ग्रीष्मावकाश तथा शरदावकाश के अतिरिक्त वर्ष में ३१ दिन से अधिक छुट्टियाँ नहीं होनी चाहिए। यह अवकाश ६-७ सप्ताह से अधिक नहीं होना चाहिए[१]। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विद्यालय जुलाई की ८ तारीख को खुलना चाहिए और यदि उस दिन छुट्टी है तो उसके दूसरे ही दिन स्कूल खुल जाना चाहिए। वर्ष के बीच में प्रधानाध्यापक कुछ स्थानीय छुट्टियाँ स्वयं दे सकता है।

९—छात्रों को सभी धर्मों के मौलिक सिद्धान्तों की शिक्षा मिलनी चाहिए, क्योंकि नैतिक शिक्षा बालकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक विद्यालय का कार्य १० मिनट की प्रार्थना के पश्चात् प्रारम्भ होना चाहिए। छात्र और अध्यापक के सम्बन्धों को बहुत घनिष्ठ बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। प्रत्येक २०-३० बालकों के एक दल के लिए एक शिक्षक-संरक्षक होना चाहिए। जिन विद्यालयों का अनुशासन अच्छा है उन्हें पुरस्कार मिलना चाहिए।

१०—बालकों को केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं देना चाहिए, वरन् शारीरिक परिश्रम पर बल दिया जाय। प्रत्येक बालक को कुछ सामाजिक कार्य करने के लिए बाध्य किया जाय। बालकों पर सिनेमा का दूषित प्रभाव पड़ता है। अतः उन्हें इससे दूर रक्खा जाय। स्कूलों को चाहिए कि उनके लिए उचित और शिक्षाप्रद सिनेमा का प्रबंध करें और उन्हें अलग से दिखाया जाय। प्रत्येक स्कूल में एक रेडियो रक्खा जाय और उसे मध्यावकाश में चालूकर लड़कों को देश-देशान्तर की सूचनायें तथा अन्य शिक्षाप्रद कार्यक्रम सुनाए जायँ। इसके अतिरिक्त समिति ने बताया कि प्रधानाध्यापकों के अधिकार और बढ़ा दिए जायँ तथा शिक्षकों और अभिभावकों का संबंध भी घनिष्ठ होना चाहिए।

११—शिक्षा अनुदान प्राप्त करने वाले स्कूलों की दशा प्रतिदिन शोचनीय होती चली जा रही है। उनमें सुधार आवश्यक है और सुधार तभी सम्भव हो सकता है जब इनके प्रबंध-समितियों में सुधार हो जाय। समिति ने बताया कि प्रत्येक

---

१. Summer or Winter vacations as the case may be in the plains or hills, should be fixed from six to seven weeks every year. page 53, para 3(4). The Report.

विद्यालय की प्रबंध-समिति में १२ से अधिक सदस्य न होने चाहिए और उसमें प्रधानाध्यापक और शिक्षकों का भी एक प्रतिनिधि होना चाहिए तथा प्रति तीन वर्ष के पश्चात् प्रबंध-समिति का निर्वाचन पुनः हो जाना चाहिए।

१२—शिक्षकों की नियुक्ति के लिए प्रबंध-समिति के पाँच सदस्यों की एक छोटी समिति (कमेटी) बनाई जाय जिसमें प्रधानाध्यापक का हाथ अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षक की नियुक्ति के पश्चात् उसकी स्वीकृति के लिए उसे जिला-विद्यालय-निरीक्षक को भेज दी जाय, क्योंकि जिला-विद्यालय-निरीक्षक की स्वीकृति आवश्यक है। जिन विद्यालयों की समितियाँ ऐसा नहीं कर सकतीं उनको शीघ्र ही हटा देना चाहिए। इस समिति में अध्यापकों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में सीनियारिटी का ध्यान रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त समिति ने यह भी कहा कि जिन स्कूलों की प्रबन्ध-समितियाँ अच्छी नहीं है तथा जिनमें सुधार भी शीघ्र ही सम्भव नहीं हैं उन्हें समाप्त कर सरकार उनका प्रबन्ध अपने हाथ में ले ले और एक प्रशासक के द्वारा उसका प्रबन्ध करे।

१३—शिक्षक की नियुक्ति के ४ माह के भीतर ही उससे सम्विदा-पत्र[१] भरवा लेना चाहिए। धर्म और जाति के सिद्धान्तों पर बनी हुई प्रबन्ध-समितियों में कम से कम एक चौथाई प्रतिनिधि अन्य धर्म व जाति के रक्खे जायँ अध्यापकों एवं विद्यालयों के झगड़ों को निबटाने के लिए पंच फैसला-बोर्ड[२] बना दिया जाय और उसका निर्णय अन्तिम होगा तथा २ माह के अन्दर ही उसके निर्णयों को कठोरता से मनवाया जाय। यदि स्कूल उसके निर्णय को नहीं मानता है तो अनुदान-सहायता कम कर दी जाय। अनुदान-नियम संशोधित किए जायँ तथा शिक्षा-संहिता में आवश्यक परिवर्तन कर दिया जाय।

१४—अध्यापकों के वेतन, स्थानान्तरण तथा अन्य दशा सुधारने के लिए भी समिति ने सुझाव रक्खा और कहा कि स्थानान्तरण के लिए स्थानान्तरण बोर्ड बनाये जायँ।

१५—पाठ्यपुस्तकों की स्वीकृति का प्रचलित ढंग बड़ा दूषित है। इसे शीघ्र ही समाप्त कर दिया जाय। प्रधानाध्यापक को विषयाध्यापकों की सलाह से पाठ्य-पुस्तक निर्धारित करना चाहिए। ९-१२ कक्षाओं तक कोई विशेष पाठ्य-पुस्तक न चुनी जाय। इस सम्बन्ध में सहायता के लिए शिक्षा-विभाग को चाहिए कि पाठ्यक्रम के अनुसार लिखी जाने वाली कुछ सर्वोत्तम पुस्तकों की सूची प्रकाशित करे जिससे विद्यालयों को उचित उपयोगी पाठ्य पुस्तकें मिल सकें।

---

१. Agreement form.

२. Arbitration Board.

उपयोगी तथा उचित पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन के लिए इंगलैन्ड और अमेरिका का आदर्श लेना चाहिए। वहाँ पाठ्यपुस्तकों की रचना व प्रकाशन के लिए विशेष संस्थायें हैं। ऐसी ही संस्थायें यहाँ भी निर्धारित होनी चाहिए। पुस्तकें प्रति वर्ष नहीं बदलनी चाहिए। एक बार चुनी हुई पुस्तकें कम से कम तीन वर्ष अवश्य चालू रक्खी जायँ।

सरकार को चाहिए कि श्रेष्ठ और उपयोगी पुस्तकों को प्राप्त कर उन्हें बाजार में भेजवाने का प्रबन्ध करे तथा अच्छी पुस्तकों के लेखन व प्रकाशन को प्रोत्साहित करे। इसके लिए सरकार अच्छे लेखकों को पुरस्कार तथा अन्य सुविधायें दे। अन्त में समिति ने यह भी कहा कि पुस्तकों की छपाई और कागज सुन्दर होना चाहिए। पुस्तकों का प्रकाशन सरकार स्वयं न करे।

समिति के सुझावों का मूल्यांकन

गुण

आचार्य नरेन्द्रदेव की उपर्युक्त रिपोर्ट को देखकर समझा जा सकता है कि इसने शिक्षा को नया कलेवर देने का प्रयत्न किया है; और इसका केवल उत्तर प्रदेश में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारत में विशेष महत्त्व है। इसकी विशेषता यह है कि उत्तर प्रदेश के माध्यमिक शिक्षा के सभी अंगों पर दृष्टि डालकर उसके लिए सुझाव ही न देकर, प्रत्युत उसे व्यावहारिक बनाने का भी प्रयत्न किया है। इसमें पाठ्यक्रम को व्यापक और व्यावहारिक बनाकर और बालकों की रुचियों का ध्यान रख कर उनके सर्वांगीण विकास पर ध्यान दिया गया है। समिति ने यह ठीक ही कहा कि बालकों में उचित एवं उपयोगी विषयों के चुनने की क्षमता नहीं होती। अतः उसके लिए एक मार्ग-निर्देशक होना आवश्यक है। बालकों के मनोवैज्ञानिक परीक्षा का सुझाव भी काफी स्वास्थ्यप्रद है।

सहायता प्राप्त स्कूलों की प्रबन्ध-समितियाँ वास्तव में मनमानी करती हैं तथा उनके सदस्यों को शिक्षा के सम्बन्ध में किंचित्मात्र भी ज्ञान नहीं होता ऐसी दशा में उनसे क्या आशा की जा सकती है। अतः शिक्षा का स्तर उत्तरोत्तर गिरता जा रहा है और इसका उत्तरदायित्व प्रबंध-समितियों पर ही है। अतः प्रबन्ध-समितियों के सुधार का सुझाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रकाशक अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रति वर्ष लाभ चाहते हैं और इस दृष्टिकोण से वे शिक्षा-बोर्ड से मिलकर प्रतिवर्ष पुस्तकों को बदलवा देते हैं। परिणाम यह होता है कि निर्धन विद्यार्थियों को प्रतिवर्ष नई-नई पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त बाजारों में निम्नकोटि की पुस्तकों का जोर दिखाई पड़ता है जिससे

शिक्षा का स्तर नीचे गिरता जा रहा है। समिति ने सिफारिश की कि एक बार चुनी हुई पुस्तक कम से कम ३ वर्ष तक अवश्य चालू रक्खी जाय तथा इस ओर सरकार को ध्यान देने की आवश्यकता है। श्रेष्ठ पुस्तकों की उपलब्धता का सुझाव रख कर वास्तव में समिति ने माध्यमिक शिक्षा का बड़ा कल्याण किया है।

दोष

जहाँ समिति के सुझावों में अनेक गुण हैं वहीं कुछ ऐसे दोष भी मौजूद हैं जो हृदय में खटकने वाले हैं। नीचे इन दोषों की ओर संकेत किया जा रहा है।

१—समिति पाठ्यक्रम-सम्बन्धी कोई ठोस सुझाव न दे सकी, वरन् सन् १९४८ ई० के सरकारी पाठ्यक्रम की पुनरावृत्ति ही की। समिति ने स्वयं इस बात को माना है कि रचनात्मक और कलात्मक वर्ग में बहुत कम छात्र प्रवेश लेते हैं और यह जन-प्रिय नहीं हो सके हैं; परन्तु फिर भी उसने इस संबंध में विशेष परिवर्तन के सुझाव न दिए।

२—प्रबंध-समितियों के सम्बन्ध में समिति ने कोई विशेष नवीन सुझाव न दिया। यह सुझाव भी वास्तव में 'रघुकुल तिलक समिति' के सुझावों की पुनरावृत्ति ही है।

३—पंच-फैसले के आदेशों को प्रबंधक निःसंकोच तथा तुरन्त ही टाल देते थे। वास्तव में यह अभी तक अपने परमपुनीत कर्त्तव्य पालन में अक्षम्य और असमर्थ रहा है। समिति ने भी इसके सम्बन्ध में जो सुझाव दिए वे अपर्याप्त और अनुपयुक्त हैं।

४—भारत के संविधान में सभी के अधिकारों की रक्षा होती है। फिर वैयक्तिक और राजकीय विद्यालयों के अध्यापकों में इतना अन्तर क्यों? इसके अतिरिक्त अध्यापकों की सामाजिक दशा, सेवाओं की शर्तें तथा उनके वेतन आदि के सम्बन्ध में समिति ने कोई सुझाव नहीं दिया। एक ओर तो समिति ने आर्ट और क्राफ्ट तथा औद्योगिक शिक्षा को प्रोत्साहित करना चाहती है और दूसरी ओर इन विषयों के शिक्षकों के वेतन के सम्बन्ध में समिति चुप रह जाती है। हाई स्कूलों में हिन्दी, संस्कृत, संगीत तथा अन्य ऐसे ही विषयों के शिक्षकों को अंग्रेजी अध्यापकों के समान ही वेतन दिया जाता है फिर इनको इतना कम वेतन क्यों दिया जाय। परन्तु समिति ने इस ओर कोई सुझाव नहीं दिया। यह उनके प्रति अन्याय नहीं तो और क्या है?

५—माध्यमिक शिक्षा के निरीक्षण एवं नियंत्रण का बंधन काफी ढीला है तथा इसमें पक्षपात और चापलूसी का वातावरण फैला हुआ है। परन्तु समिति ने

इस ओर भी अपना कोई सुझाव नहीं दिया। सुना जाता है कि बहुत से शिक्षकों में यह धारणा घर कर गई है कि आज कुछ जिला-विद्यालय-निरीक्षक विद्यालयों के कुप्रबंध पर ध्यान न देकर उनके प्रबंधकों के कृतज्ञ रहते हैं तथा उनके पक्ष में बिचारे अध्यापकों के प्रति अभद्र व्यवहार करते हैं और उनके अधिकारों का शोषण करते हैं न कि रक्षा। साथ ही, कुछ विद्यालयों के प्रबंधक तो इतने शक्तिमान हैं कि वे कुछ जिला-विद्यालय निरीक्षकों के किसी भी आदेश को मानने के लिए तैयार नहीं रहते और प्रजातंत्र युग में अपनी नौकरी बचाने के लिए उन्हें भी प्रबन्धकों के इन दृष्टान्तों को सहन करना पड़ता है। यदि यह सत्य है तो ऐसी स्थिति में समिति का इस कठिनाई के सुझाव के लिए समुचित सुझाव न देना न्याय संगत नहीं।

६—पाठ्यपुस्तकों के सम्बन्ध में समिति ने कोई उपयोगी एवं ठोस सुझाव नहीं रक्खा है। आज भी सभी पुस्तक-विक्रेता प्रकाशक बने हैं। अतः लेखकों को योग्य प्रकाशक नहीं मिलते। सरकार को चाहिए कि पुस्तकों का प्रकाशन अपने हाथ में ले ले और नोट्स, प्रश्नोत्तरी तथा अन्य सस्ते साहित्य पर कड़ा नियंत्रण कर दे। किन्तु समिति ने इधर ध्यान नहीं दिया।

परन्तु समिति के सम्पूर्ण सुझावों पर दृष्टिपात करने से तो स्पष्ट हो जाता है कि इसके बहुत से सुझाव व्यावहारिक हैं तथा माध्यमिक शिक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यदि सरकार इन सभी सुझावों को कार्यान्वित कर दे तो माध्यमिक शिक्षा का अवश्य कल्याण हो सकता है। परन्तु हमारी सरकार इन सभी सुझावों को अभी तक कार्यान्वित नहीं कर सकी है यह वास्तव में प्रदेश का दुर्भाग्य है।

उच्च शिक्षा

उत्तर प्रदेश उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में सबसे आगे है। सन् १९२१ ई० में यहाँ केवल चार विश्वविद्यालय (बनारस, अलीगढ़, इलाहाबाद और लखनऊ) थे। सन् १९२६ ई० में आगरा विश्वविद्यालय का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् १९४७ ई० में रुड़की विश्वविद्यालय और सन् १९५७ ई० में गोरखपुर और संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी का निर्माण हुआ। इन विश्वविद्यालयों में छात्रों की संख्या २७,००० से अधिक है जिनमें लगभग ३ हजार छात्राएँ हैं। इसके अतिरिक्त राज्य में ९६ डिग्री कालेज हैं जिनमें छात्रों की संख्या लगभग ५० हजार है। आगरा के अतिरिक्त अन्य विश्वविद्यालयों में शिक्षण की व्यवस्था है। आगरा विश्वविद्यालय केवल परीक्षा संस्था रही है। इसके अन्तर्गत् अनेक कृषि, वाणिज्य, विज्ञान एवं कानून तथा कला के कॉलेज हैं। राज्य में ज्ञानपुर, नैनीताल एवं रामपुर में तीन राजकीय डिग्री कालेज हैं। राज्य में औद्योगिक एवं प्राविधिक शिक्षा का सुन्दर

प्रबन्ध है। उत्तर प्रदेश में मेडिकल, इंजीनियर तथा पशु-चिकित्सा एवं वन-विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था है जो इस प्रकार है :—

मेडिकल—सरोजनी नायडू मेडिकल कालेज आगरा, किंग जार्ज मेडिकल कालेज लखनऊ, राज्य मेडिकल कालेज कानपुर, तथा आयुर्वेदिक कालेज लखनऊ, पीलीभीत, झांसी तथा बनारस विश्वविद्यालय और यूनानी हिकमत अलीगढ़।

इंजीनियरिंङ्ग—रुड़की विश्वविद्यालय, बनारस विश्वविद्यालय का इंजिनियरिंग तथा माइनिंग मेटलर्जी कालेज। इसके अतिरिक्त लखनऊ, इलाहाबाद, मेरठ, गोरखपुर, बरेली टेकनलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर आदि ओवरसियरी तथा इंजिनियरिंग में शिक्षा देते हैं।

पशुचिकित्सा—इसके लिए मथुरा में एक कालेज संचालित है जो आगरा विश्वविद्यालय से सम्बन्वित है।

वन-विज्ञान—इसके लिए देहरादून कालेज उत्तम कार्य करता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय परम्परा पर संचालित गुरुकुल कांगड़ी, काशी विद्यापीठ, महिला विद्यापीठ प्रयाग, दारुल उलूम आजमगढ़ और संगीत विद्यापीठ लखनऊ भी उच्च शिक्षा देने में क्रियाशील हैं।

विश्वविद्यालयों की रूपरेखा, प्रशासन एवं कार्य

उत्तर प्रदेश के आठों विश्वविद्यालयों में अलीगढ़ और बनारस केन्द्रीय सरकार से सम्बन्धित हैं। रुड़की विश्वविद्यालय, संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी उत्तर प्रदेश सरकार के आधीन है और लखनऊ और इलाहाबाद स्वायत्त सत्ता सम्पन्न विश्वविद्यालय हैं। यद्यपि सरकार ने इनके विधानों में संशोधन करके इनकी स्वतंत्रता काफी सीमित कर दिया है। गोरखपुर विश्वविद्यालय पर प्रदेशीय सरकार का बहुत अधिक नियन्त्रण है। अलीगढ़ और बनारस को छोड़कर बाकी सभी विश्वविद्यालयों का कुलपति उत्तर प्रदेश का गवर्नर होता है। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय की रूप-रेखा राजपूताना और दिल्ली विश्वविद्यालय से काफी समानता रखती है। यहाँ एक कुलपति राजपूताना और दिल्ली विश्वविद्यालयों की भाँति नियुक्त किया जाता है और उसे २,२०० रुपया वेतन मिलता है। यह विश्वविद्यालय प्रदेशीय सरकार द्वारा काफी नियंत्रित है। यही नहीं वरन् इसका स्वयं का कोई अस्तित्व नहीं।

उत्तर प्रदेश में सर्व प्रथम प्रयाग विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी और उसकी शिक्षा-दीक्षा बड़ी सुन्दर थी तथा प्रतिष्ठा में काफी बढ़ा-चढ़ा था। परन्तु फिर भी उसमें अनेक दोष आ गए थे और उसका वातावरण विषाक्त हो चुका था तथा

आर्थिक स्थिति शोचनीय होगई थी । अतः उत्तर प्रदेश की सरकार ने १७ दिसम्बर सन् १९५१ ई० को हाई कोर्ट के जस्टिस मूथम की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की जिसने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संगठन, शिक्षण, प्रशासन एवं अन्य सभी बातों की जाँच की और सन् १९५३ ई० में उनके दोषों तथा उन्हें दूर करने के सुझाव रक्खे । इसके सुझावों के अनुसार इलाहाबाद विश्वविद्यालय का विधान संशोधित करके उसकी स्वतंत्रता काफी सीमित कर दी गई है और कई कालेजों को डिग्री कलेज खोलने की आज्ञा दे कर उन्हें एशोशिएटेड कालेजों के नाम से इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संबंधित कर दिया गया है तथा काफी धन देकर आर्थिक स्थिति में सुधार लाने तथा शिक्षण और अनुसंधान का स्तर उच्च करने का प्रयत्न किया गया है ।

सन् १९५३ ई० में विधान-सभा में एक विधेयक उपस्थित किया गया जिसके पास हो जाने पर आगरा विश्वविद्यालय के अधिनियम काफी संशोधित कर दिये गये । इसके अनुसार अब यहाँ का उपकुलपति नियुक्त किया जाता है न कि निर्वाचित । कार्यकारिणी और सीनेट के नियमों में भी काफी संशोधन कर दिया गया है । अब यह नियम बना दिया गया कि विश्वविद्यालय में जितने परीक्षक होंगे उनमें आधे अन्य विश्वविद्यालयों के होने चाहिए । अध्यापकों की नियुक्ति, वेतन और अन्य बातों के संबंध में भी नियम बना दिए गए । इसके अतिरिक्त इस विश्वविद्यालय के सभी कालेजों में सहकारिता लाने का प्रयत्न किया गया । इन सिफारिशों के परिणामस्वरूप अब विश्वविद्यालय का कुलपति ५ वर्ष के लिए नियुक्त किया जाने लगा है । विश्वविद्यालय में एक हिन्दी शिक्षा इन्स्टीट्यूट तथा सामाजिक विज्ञान इन्स्टीट्यूट खोल दिया गया है और कहीं-कहीं पर नौकरी करने वाले व्यक्तियों के लिए अलग डिग्री कक्षायें खोल दी गई हैं ।

इलाहाबाद की भाँति लखनऊ विश्वविद्यालय के विधान में भी काफी संशोधन कर दिया गया है और इस संशोधन के कारण इसकी भी बहुत कुछ स्वतंत्रता समाप्त हो गई । इलाहाबाद की भाँति यहाँ भी एशोशिएटेड कालेज इससे संबंधित कर दिए गए । समाजशास्त्र का विभाग और जे० के० इन्स्टीट्यूट भी इस विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में खोल दिया गया । इलाहाबाद और लखनऊ विश्वविद्यालयों में बायो-फिजिक्स और बायो केमिस्ट्री के विभाग खोल दिये गये । लखनऊ विश्वविद्यालय में पौलियोबॉटिनी इन्स्टीट्यूट को काफी प्रोत्साहन दिया जा रहा है ।

इलाहाबाद, लखनऊ और गोरखपुर के विश्वविद्यालयों के लिए नये नियमों के निर्माण के क्रम में इन विश्वविद्यालयों में शिक्षकों का केवल दो ही स्तर अर्थात् प्रोफेसर और असिस्टैण्ट-प्रोफेसर स्वीकार किया गया है । इस स्वीकृति के अनुसार

पहले के लेक्चरर और रीडर का भेद मिटा दिया गया है और उन्हें असिस्टैण्ट प्रोफेसर ही कहा जायगा और उनका वेतन-क्रम समान होगा।

उत्तर प्रदेशीय सरकार उच्च शिक्षा के लिए प्रतिवर्ष अधिक से अधिक रुपया देने का प्रयत्न कर रही है। स्वतन्त्रता[१]-प्राप्ति के बाद डिग्री कालेजों के शिक्षकों और विद्यार्थियों में क्रमश ४,००० और ७,००० से अधिक वृद्धि हुई है तथा विश्वविद्यालयों में छात्रों की संख्या १० हजार से ३०,००० हो गई है। सरकार को विश्वविद्यालयों पर १९४७ में ३२ लाख व्यय करने पड़े थे और १९५८ में उसे ५२ लाख रुपये व्यय करने पड़े। १९४८ ई० में सरकार शिक्षा पर सम्पूर्ण व्यय कुल आय का १० प्रतिशत करती थी; परन्तु १९५८ में उसे १८ प्रतिशत व्यय करना पड़ा।

जुलाई १९५८ से प्रदेश के १३ नये कॉलेजों ने डिग्री कक्षायें प्रारम्भ कर दी है। इन १३ में आइज़टनगर (बरेली) का इण्डियन वेटेनरी इन्स्टीट्यूट भी है जहाँ पशु-चिकित्सा-विज्ञान में जुलाई १९५८ से पोस्ट ग्रेजुएट कक्षायें आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत प्रारम्भ कर दी गई हैं। इसके अतिरिक्त मथुरा में राज्य सरकार द्वारा इसकी व्यवस्था बहुत पहले ही से है।

इन तेरह में से आजमगढ़ के चन्देसर के डिग्री कॉलेज में बी० एस-सी० एजी० कक्षा खोल दी गयी है। यह कालेज गोरखपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया है। शेष ग्यारह डिग्री कॉलेज आगरा विश्वविद्यालय की सम्बद्धता में खोले गये हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—डिग्री कॉलेज—गुरुकुल काँगड़ी, हरद्वार (बी० एस-सी० के लिए); आर० एस० एम० कॉलेज—धामपुर (बी० ए० के लिए) राष्ट्रीय किसान कालेज—शामली, मुजफ्फरनगर (बी० एससी० के लिए), दयानन्द कालेज ऑव ला, कानपुर (एलएल० बी० के लिए); फूलचन्द्र बागला एंग्लो-संस्कृत कालेज, हाथरस, अलीगढ़ (बी० ए० और बी० काम० के लिए); देवनागरी कालेज, मेरठ (बी० एस-सी० के लिए); डी० एन० कालेज-तिरवा, फरुखाबाद (बी० ए० के लिए); ब्राह्मण संस्कृत महाविद्यालय, रुड़की (बी० ए० के लिए); हरनारायण कालेज, गंज धुन्धवारा—एटा (बी० ए० के लिए); एस० एम० कालेज, काँठ, मुरादाबाद (बी० ए० के लिए) और महादेवी कन्या पाठशाला, देहरादून (बी० ए० के लिए)।

मूल्यांकन

उत्तर प्रदेश में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा उच्च शिक्षा का प्रबन्ध अधिक है। अन्य किसी भी प्रान्त में विश्वविद्यालयों की इतनी संख्या नहीं है। परन्तु ज्यों-ज्यों

---

१. From the Education Minister's Speech on March 19, 1959 in the Assembly—Ibid.

उच्चशिक्षा का विस्तार होता जा रहा है त्यों-त्यों शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है और विश्वविद्यालय तथा डिग्री कॉलेज राजनीति के गढ़ होते चले जा रहे हैं।

उत्तर प्रदेश में टेकनिकल शिक्षा की अत्यन्त कमी है। रुड़की और बनारस विश्वविद्यालयों को छोड़कर बाकी सभी विश्वविद्यालयों में अधिकांशत: साहित्यिक विषय ही पढ़ाए जाते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि अध्यापकों की नियुक्ति एवं पदोन्नति में विश्वविद्यालयों में बहुधा गन्दी राजनीति ग्रहण की जाती है और हर जगह दलबन्दियाँ चल रही हैं। विश्वविद्यालयों के विधानों में संशोधन हो जाने के कारण उनकी वास्तविक स्वतंत्रता समाप्त हो गई है और उनका वास्तविक विकास सम्भव नहीं।

शिक्षकों की दशा में सुधार का प्रयत्न

आज के छात्र कल के नागरिक हैं। कल राष्ट्रों का भार उन्हीं के कन्धों पर होगा और यदि उनको उचित शिक्षा न दी जायगी तो वे अपने इस उत्तरदायित्व को न निभा सकेंगे। अत: उनको उचित शिक्षा मिलनी चाहिए। उचित शिक्षा योग्य एवं कुशल अध्यापकों के बिना सम्भव नहीं। कोई भी व्यक्ति जब तक सन्तुष्ट न होगा किसी कार्य के करने में पूर्ण ध्यान न देगा। शिक्षा ऐसा महत्त्व-पूर्ण दायित्व शिक्षकों के हाथ में है। वे राष्ट्र-निर्माता हैं। अत: यह आवश्यक है कि शिक्षक योग्य, कुशल तथा सुन्दर ढंग से प्रशिक्षित हों, इसके अतिरिक्त नौकरी में लग जाने पर उनके समक्ष सदैव रोटी और कपड़े का प्रश्न न खड़ा हो। तात्पर्य यह है कि शिक्षक का सन्तुष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। कम से कम उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रुपया मिलता रहे। फिर जिस प्रकार उसे शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भोजन की आवश्यकता है उसी प्रकार मस्तिष्क के लिये ज्ञान और प्रशिक्षण की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश में शिक्षकों की दशा में सुधार करने के कुछ प्रयत्न किये गये हैं, परन्तु वे नगण्य हैं। कम से कम भारत-वर्ष में शिक्षक सबसे सीधा-सादा एवं ऐसा सिपाही है जो हर समय और हर काम करने के लिये तैयार रहता है। और रुपये के सम्बन्ध में भी सम्भवत: सरकार समझती है कि अध्यापकों को कम रुपये की आवश्यकता होती है। हर्ष का विषय है कि उत्तर प्रदेशीय सरकार अब शिक्षकों के वेतन को सुधारने की योजना बना रही है। मार्च १६, १९५९ को प्रदेश के शिक्षा-मंत्री द्वारा विधान-सभा में प्रस्तावित वेतन का विवरण हम आगे दे रहे हैं। प्रस्तावित वेतन-क्रम के साथ ही वर्तमान वेतन की भी तालिका दी जा रही है जिससे वेतन में होने वाले सुधार का रूप समझ में आ जाय।

राजकीय और अराजकीय शिक्षा-संस्थाओं में विद्यमान वेतन का अन्तर काफी खटकता रहा है। इस अन्तर को भी कुछ हद तक दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। आगे हम राजकीय शिक्षा-संस्थाओं में वर्तमान वेतन की भी दर दे रहे हैं। नीचे की दोनों तालिकाओं से यह स्पष्ट हो जायगा कि राजकीय और अराजकीय शिक्षकों के वेतन में कुछ समानता लाने का प्रयत्न किया गया है। मार्च १६, १६५६ के अपने भाषण में शिक्षा-मंत्री ने यह आश्वासन दिया है कि नये प्रस्तावित वेतन जुलाई १६५६ से लागू कर दिये जायेंगे। आशा है कि यह आश्वासन अवश्य ही कार्यान्वित किया जायगा।

प्राइवेट शिक्षा-संस्थाओं के लिए[1]

वर्तमान वेतन		प्रस्तावित वेतन
	डिग्री कालेज	
रु० ६००—३०—७५०	प्रिन्सिपल	रु० ६५०—४०—८५०—५०—६००
रु० २५०—१५—४००—२०—५००	विभागाध्यक्ष	रु० ३००—२०—५००—२५—६००
रु० २५०—१५—४००—२०—५००	सीनियर अध्यापक	रु० २७५—१५—४१०—२०—५५०
रु० २००—१०—३००—२०—४००	जूनियर अध्यापक	रु० २२५—१५—३६०—१५—४५०
	पोस्ट ग्रेजुएट डिग्री कालेज	
रु० ७००—४०—६००—५०—१,०००	प्रिन्सिपल	रु० ८००—५०—१,०००—५०—१,२००
रु० ३००—२०—५००—२०—६००	विभागाध्यक्ष	रु० ३५०—२०—५५०—२५—६५०—३०—८००
रु० ३००—२०५००—२०—६००	सीनियर अध्यापक	रु० ३२५—२०—५२५—२५—६२५
रु० २००—१५—३५०—२०—४५०	जूनियर अध्यापक	रु० २५०—१५—४००—२०—५००
	हायर सेकेन्डरी स्कूल	
रु० २५०—२०—४५०—२५—५००	इण्टर कालेज के प्रिन्सिपल	रु० २५०—२५—४७५—३०—६२५—५०—६७५

---

१. According to the Education Minister's Speech in the U. P. Assembly on March 19, 1959—Ibid.

रु० २००—१०—३५०	हाई स्कूल के हेडमास्टर	रु० २२५—१५—३४५—२०—४२५
रु० १५०—१०—१९०—१५—२५०	इण्टर कालेज के सहायक अध्यापक	रु० १७५—१०—२१५—१५—३५०
रु० १२०—६—१६०—८—२००	ट्रेण्ड ग्रेजुएट	रु० १२०—६—१६८—९—२४०—१०—३००
रु० ७५—५—११०—६—१४०—७—१७५	ट्रेण्ड अंडर ग्रेजुएट	रु० ७५—५—११०—६·१४०—७—१६८—८—२००
रु० ६०—३—९०—४—११०	जे० टी० सी०	रु० ६०—३—९०—५—१२०

राजकीय शिक्षा-संस्थाओं में वर्तमान वेतन

डिग्री कालेज

प्रिन्सिपल	रु० २५०—२५—४००—३०—७००—८५० (किन्तु प्रारम्भिक वेतन रु० ६१० होगा)
विभागाध्यक्ष	रु० २५०—२५—३७५—२५—५००
सीनियर अध्यापक	रु० २००—१०—२५०—१०—३१०—१४—४५०
जूनियर अध्यापक	रु० २००—१०—२५०—१०—३१०—१४—४५०

पोस्ट ग्रेजुएट कालेज

प्रिन्सिपल	रु० ५००—५०—१,०००—५०—१,२०० (विशेष वेतन रु० १०० और दिया जायगा)
विभागाध्यक्ष	रु० ५००—५०—१००—५०—१,२००
सीनियर अध्यापक	रु० २५०—२५—४००—२०—७००—५०—८५० (प्रारम्भिक वेतन रु० ३०० दिया जायगा)
जूनियर अध्यापक	रु० २५०—२५—४००—३०—७००—५०—८५० (प्रारम्भिक वेतन रु० ३०० दिया जायगा)

हायर सेकेन्डरी स्कूल

इण्टर कालेज के प्रिन्सिपल	रु० २५०—२५—४००—३०—७००—५०—८५०
हाई स्कूल के हेडमास्टर	रु० २५०—२५—३७५—२५—५००
इण्टर कालेज के सहायक प्राध्यापक	रु० २००—१०—२५०—१०—३१०—१४—४५०
ट्रेण्ड ग्रेजुएट	रु० १२०—८—२००—१०—३००
ट्रेण्ड अण्डर ग्रेजुएट	रु० ७५—५—१२०—८—२००
जे० टी० सी०	रु० ६०—४—८०—५—१२०

प्रशिक्षण-विद्यालय

उत्तर प्रदेश में प्रशिक्षण-विद्यालयों के क्षेत्र में प्रगति विशेष सन्तोषजनक नहीं रही है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व प्रशिक्षण-विद्यालयों की संख्या केवल दो थी। लखनऊ में स्त्रियों के प्रशिक्षण के लिए एक कालेज था। बनारस और अलीगढ़ विश्वविद्यालयों में बी० टी० कक्षायें संचालित थीं। इसके अतिरिक्त तीन सी० टी० कालेज भी थे। परन्तु सन् १६४७ ई० के पश्चात् प्रशिक्षण-विद्यालयों का विकास अनावश्यक हो गया था क्योंकि माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई थी। सन् १६४६-४७ ई० में चार सी० टी० कालेजों की व्यवस्था हुई थी जिसमें २ महिलाओं के लिए थे। सन् १६४७ ई० में कुछ महाविद्यालयों में एल० टी० तथा बी० टी० कक्षाओं के खोलने की अनुमति मिल गई। इनमें स्त्रियों के लिए कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, फतेहगढ़, मेरठ और दयालबाग (आगरा) प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त सन् १६४८ ई० में ४ एल० टी० कालेज और खोले गये। प्रदेशीय सरकार ने प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में सुधार करने के दृष्टिकोण से एक समिति नियुक्त की और उसी के सुझावों के अनुसार इन विद्यालयों के पाठ्यक्रम में सुधार कर इनके स्तर को काफी ऊँचा बना दिया गया। ६ ट्रेनिंग कालेज तोड़े भी गए क्योंकि अब इन प्रशिक्षण-विद्यालयों की संख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ गई थी।

एल० टी० के संशोधित पाठ्यक्रम के अनुसार अब शिष्याध्यापकों के लिये सामूहिक कार्यक्रम[1] की व्यवस्था की गई। अब छात्रों को अध्यापन एवं अध्ययन-कार्य के साथ ही साथ कृषि, सिंचाई, खाद बनाना, गड्ढे बनाना, सड़कों और गलियों का निर्माण करना, पौधों का कोड़ों से संरक्षण, मलेरिया विरोधक प्रयास तथा समय-समय पर मेलों आदि का आयोजन करना आदि सिखाना प्रारम्भ कर दिया गया। अब छात्राध्यापक और छात्राध्यापिकाएँ टोलियाँ बनाकर गाँवों में जाते हैं और वहाँ कुछ घंटे या कुछ दिन रह कर इन कार्यों को पूरा कर उनके समक्ष आदर्श उपस्थित करते हैं। स्नातकों के प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के अतिरिक्त सन् १६४८ ई० में तीन सी० टी० कालेजों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार सन् १६५१-५२ ई० में प्रशिक्षण-विद्यालयों की संख्या इस प्रकार है :—

पुरुषों के प्रशिक्षण-विद्यालय (कालेज)	२४
महिलाओं के प्रशिक्षण-विद्यालय (कालेज)	७
ट्रेनिंग स्कूल पुरुषों के लिए	५६

---

१. Community Work.

ट्रेनिंग स्कूल स्त्रियों के लिए	२४
१९५१ ई० में नार्मल परीक्षा में सम्मिलित होने वाले छात्रों की संख्या	१५,६००
१९५१ ई० में एल० टी० परीक्षा में बैठने वाले छात्रों की संख्या	१,१००

अब लड़कों के लिए सी० टी० स्कूल तोड़कर जे० टी० सी० कालेजों का निर्माण किया गया तथा विश्वविद्यालयों ने बी० टी० और बी० एड० का कोर्स संचालित किया। इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, अलीगढ़ में एम० एड० भी खोल दिया गया।

अब उत्तर प्रदेश की सरकार माध्यमिक शिक्षा के प्रशिक्षण का अनुभव कर रही है। मई सन् १९५६ ई० में उत्तर प्रदेश की सरकार ने आठ विशेषज्ञों की एक समिति स्थापित की थी। इस समिति को आदेश दिया गया था कि केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय और केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की सिफारिशों के आधार पर माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा के पुनर्गठन पर विचार करे। इस समिति के समक्ष विचारणीय विषय प्रधानतः यह रहा कि फाइनल परीक्षा ११वीं कक्षा के अन्त में ली जाय तो ठीक होगा या नहीं तथा विश्वविद्यालयों में डिग्री कोर्स ३ वर्ष कर दिया जाय या नहीं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण प्रदेशीय सरकार इस प्रश्न के पक्ष में न रही, परन्तु अब पुनः इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश द्वारा निर्मित इस माध्यमिक शिक्षा-समिति को निम्नांकित बातों पर भी ध्यान देने के लिए कहा गया था :—

१—केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत माध्यमिक शिक्षा-आयोग की सिफारिशों को उत्तर प्रदेश में लागू किया जाय अथवा नहीं।

२—माध्यमिक शिक्षा के सामान्य वातावरण, पाठ्यक्रम, अध्यापक वर्ग तथा शिक्षा के मानदण्ड को उठाने के लिए किस प्रकार के परिवर्तन किये जायँ।

३—इन्टरमीडिएट शिक्षा ऐक्ट तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों के नियमों तथा उप-नियमों में परिवर्तन करने के लिए विधान-सभा को कौन सी कार्यवाही करनी चाहिए।

४—यदि माध्यमिक शिक्षा तथा डिग्री कोर्स में ऊपर बताये हुए परिवर्तन किये जायँ तो कितने धन की आवश्यकता तथा अन्य कौन-कौन से साधन एकत्र करने पड़ेंगे।

इस समिति के सुझावों के अनुसार सन् १९५८ में सरकार ने इन्टरमीडिएट शिक्षा ऐक्ट में बहुत से ऐसे परिवर्तन कर दिये हैं जिससे बोर्ड ऑफ हाई

स्कूल ऐण्ड इण्टरमीडिएट एजूकेशन की कार्य-प्रणाली और विधान में सुधार हो गया है ।

विशेष संस्थायें

मनोविज्ञान-केन्द्र[1]

शिक्षा में सुधार एवं प्रगति के लिए जिन संस्थाओं का अनुभव बहुत पहले से किया जा रहा था उसकी पूर्ति स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् हो सकी । विभिन्न रुचियों वाले छात्रों को अपनी-अपनी इच्छानुसार पाठ्यक्रम चुनने के लिये एक मनोविज्ञान-केन्द्र की बड़ी आवश्यकता थी । प्रथमतः आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने इसकी स्थापना की सिफारिश की थी । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सन् १९४७ ई० में इलाहाबाद में एक मनोविज्ञान-केन्द्र खोला गया और मार्च सन् १९५२ ई० में बरेली, कानपुर, बनारस, लखनऊ और मेरठ में ऐसे ही केन्द्रों की स्थापना हुई, परन्तु वे क्षेत्रीय केन्द्र थे । प्रयत्न यह किया जा रहा है कि प्रत्येक जिले में एक केन्द्र स्थापित कर दिया जाय ताकि बालकों को काफी सुविधायें हो सकें । इन मनोविज्ञान-केन्द्रों में छात्रों की रुचियों एवं मानसिक शक्ति की परीक्षा लेकर उनका उचित मार्ग-प्रदर्शन करना, पाठ्यक्रम तैयार करना तथा उनको रुचि के अनुसार व्यवसाय दिलाना है ।

शिक्षा-विज्ञान-केन्द्र तथा नर्सरी प्रशिक्षण-केन्द्र

सन् १९४८ ई० में इलाहाबाद में शिक्षा-विज्ञान[2] केन्द्र नामक एक दूसरी संस्था की स्थापना की गई । इस संस्था में शिक्षा की विभिन्न समस्याओं की जाँच की जाती है, और इसने शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिये कुछ पाठ्यपुस्तकें तैयार की हें । इसके अतिरिक्त जुलाई सन् १९५१ ई० में इलाहाबाद में एक नर्सरी दीक्षा-विद्यालय भी खोला गया । यह संस्था नर्सरी स्कूलों में काम करने के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी । इसमें इन्टरमीडिएट योग्यता की छात्रायें भर्ती की जाती हैं, और प्रशिक्षण समाप्त होने पर उन्हें सी० टी० का प्रमाणपत्र दिया जाता है । इस संस्था में प्रशिक्षण की अवधि दो वर्ष की है । इस संस्था के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी संस्था नहीं है । अतः राज्य में नर्सरी स्कूलों की भी बड़ी कमी है । जितने स्कूल हैं भी वे प्रायः सभी व्यक्तिगत हैं, यद्यपि सरकार उन्हें कुछ प्रोत्साहन दे रही है ।

---

१. Bureau of Psychology.

२. The Pedagogical Institute.

रचनात्मक एवं बुनियादी प्रशिक्षण-केन्द्र[1]

उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में सन् १९४८ ई० में रचनात्मक एवं बुनियादी प्रशिक्षण-महाविद्यालय की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य राज्य के उच्चतर माध्यमिक शिक्षालयों में बहुमुखी पाठ्य-क्रम की योजना लागू करने के लिए शिक्षकों को दीक्षित बनाना था। छात्राध्यापकों को बुनियादी तथा रचनात्मक कार्यों में शिक्षा देने के अतिरिक्त इसमें एक व्यावसायिक विभाग भी है जहाँ पर वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय होता है। रचनात्मक महाविद्यालय में रचनात्मक एल० टी० का कोर्स २ वर्ष का है। इसमें स्नातक ही लिए जाते हैं और उन्हें कृषि, काष्ठकला, बुनाई एवं अन्य ऐसे ही रचनात्मक कार्य सिखाये जाते हैं। दो वर्ष का प्रशिक्षण समाप्त होने के पश्चात् उन्हें एल० टी० की उपाधि दी जाती है। इसमें पढ़ने वाले छात्राध्यापकों को ३० रुपया मासिक छात्रवृत्ति मिलती है। इसके अतिरिक्त इसी कालेज में १ वर्ष का बेसिक प्रशिक्षण है। उन्हें भी एल० टी की उपाधि मिलती है। बेसिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् ये नार्मल स्कूलों में शिक्षक या सहायक उप-विद्यालय निरीक्षक के पद पर नियुक्त किये जाते हैं।

आज जब देश में बुनियादी शिक्षा एवं रचनात्मक तथा औद्योगिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है तब राज्य में केवल एक ही ऐसा प्रशिक्षण-महाविद्यालय है। सरकार को चाहिए कि ऐसे कालेजों की संख्या में काफी वृद्धि करे।

शारीरिक प्रशिक्षण-कालेज

स्वास्थ्य-शिक्षा के लिए राज्य में एक स्वास्थ्य-शिक्षा-संचालक भी रहता है और इस शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए एक कालेज का निर्माण किया गया जिसका उद्देश्य है स्त्री और पुरुषों को स्वास्थ्य के सम्बन्ध में उचित और उपयोगी शिक्षा देना। इस प्रशिक्षण-विद्यालय में स्नातक और उपस्नातक भी लिए जाते हैं तथा स्त्री और पुरुष दोनों को प्रशिक्षित किया जाता है, परन्तु दोनों के पाठ्यक्रम में थोड़ा अन्तर है। यहाँ पर उन्हें शरीर-व्यायाम, लोक-नृत्य, लाठी का प्रयोग, तैरना तथा अन्य ऐसे कार्य सिखाए जाते हैं।

सैनिक शिक्षा

शिक्षा की अन्य योजनाओं के अन्तर्गत सैनिक शिक्षा तथा समाज-सेवा-कार्य को भी लाया जा सकता है। पहले १० जिलों में समाज-सेवा[2] लागू की गई थी,

---

१. Basic-Cum Constructive Training College.

२. Social Service Scheme.

परन्तु बाद में वह सैनिक शिक्षा के साथ मिला दी गई। छात्रों में चरित्र निर्माण, नेतृत्व की भावना तथा उनमें समानता, सहकारिता तथा देश-प्रेम आदि का भाव लाने के उद्देश्य से केन्द्रीय सरकार ने हाई स्कूलों की कक्षा ९ और १० में तथा विश्वविद्यालयों में नेशनल कैडेट् कोर[१] की योजना चलाई और यह पूरे देश में प्रारम्भ हो गयी। उत्तर प्रदेश में इन्टरमीडिएट के छात्रों में इन्हीं गुणों को पैदा करने के उद्देश्य से पी० ई० सी० की योजना पहले ११ जिलों में चलाई गई। परन्तु वर्तमान समय में राज्य के प्रत्येक जिले में हेडक्वार्टर में यह योजगा अनिवार्य कर दी गई है। इस योजना में बालकों को परेड कराई जाती है। उसमें उनको हथियार चलाना तथा सेना के सम्बन्ध में अन्य सभी बातों का ज्ञान दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें खेल-कूद, शिविर तथा रैली आदि का भी ज्ञान कराया जाता है। राज्य में लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, अलीगढ़, आगरा, बरेली, कानपुर और मेरठ में एन० सी० सी० की शिक्षा दी जाती है। सन् १९५५ ई० में लड़कियों के लिए भी यह सुविधा प्रदान की गई और गर्ल्स डिवीजन भी खोला गया। इसके अतिरिक्त मेडिकल विंग, सिगनल विंग तथा एरोप्लेन विंग भी खोला गया है। सुरक्षा-मंत्रालय दिल्ली के अन्तर्गत एन० सी० सी० में बी० और सी० परीक्षायें होती हैं। सी० उच्चतम परीक्षा है। इसके पास करने के उपरान्त व्यक्ति के पास यदि अन्य योग्यतायें हैं तथा चुनाव हो जाता है तो द्वितीय लेफ्टिनेन्ट के कोर्स में केवल ९ माह को ट्रेनिंग दी जाती है। लड़कियों को भी नर्सिंग में मेडिकल, तथा हवाई जहाज आदि की शिक्षा एन० सी० सी० के अन्तर्गत दी जाती है।

विशिष्ट लोगों की शिक्षा

भारत में विशिष्ट वर्गों की शिक्षा को अभी विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला है। यद्यपि प्रयास हो रहे हैं, परन्तु उत्तर प्रदेश में इनके लिए सुन्दर प्रयास किये गये हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए जिनमें किसी प्रकार का शारीरिक विकार है या मानसिक हीनता है उनके लिए सरकार शिक्षा की व्यवस्था कर रही है। ऐसे लोगों को जीविकोपार्जन में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वे बिचारे दूसरों के ही सहारे जीवित रहते हैं। उनको नाना प्रकार की डाँट-फटकार तथा यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। ऐसी दशा में उनमें आत्म-ग्लानि की भावना आती है। दूसरी बात यह है कि वे दूसरों पर भार रहते हैं। इससे राष्ट्रीय हानि भी होती है। अत: सरकार इन सभी दोषों को दूर करने के उद्देश्य से उनकी शिक्षा पर ध्यान दे रही है ताकि वे उत्पादन कर सकें और दूसरों पर बोझ न रह जायँ। उत्तर प्रदेशीय सरकार अंधे, बहरे, गूँगे तथा अपाहिज बच्चों के लिए

१. National Cadet Corps. (N. C. C.)

इलाहाबाद और लखनऊ में स्कूल खोल चुकी है। गोरखपुर में भी मूक एवं बहरों के लिए एक स्कूल चल रहा है। इसके अतिरिक्त कई अन्य शहरों में भी उनकी शिक्षा की व्यवस्था की गई है। इनके लिए विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित अध्यापक होते हैं। इन अध्यापकों को अधिक वेतन दिया जाता है। इनकी शिक्षा के संबन्ध में प्रति दिन नये-नये प्रयोग किए जा रहे हैं और कदाचित् एक समय आयेगा जब शीघ्र ही ये न केवल स्वयं स्वावलम्बी बन सकेंगे, वरन् अन्य लोगों के लिए भी कुछ सहायक हो सकेंगे।

संगीत एवं ललित कला

जीवन में संगीत एवं ललित कलाओं का बड़ा महत्त्व है। संगीत के द्वारा मनुष्य वास्तविक आनन्द का अनुभव करता है और यही नहीं वरन् इससे उस परम सत्ता तक पहुँचने का सहारा मिलता है। संगीत पारलौकिकता के लिए एक सुन्दर साधन है। अतः संगीत, नृत्य और ललित कलाओं की ओर भी सरकार विशेष ध्यान दे रही है। सरकार राज्य में इसके लिए उत्तम संस्थाओं की आयोजना कर रही है तथा ऐसी संस्थाओं को जो इन उद्देश्यों के पूर्ति में क्षमता रखती हैं, प्रोत्साहन दे रही है। बनारस विश्वविद्यालय में संगीत कालेज तथा लखनऊ में भारतखंडे संगीत महाविद्यालय इस कार्य को बड़ी कुशलता से कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रदेश की लगभग सभी पाठशालाओं तथा बहुत से बालकों के स्कूलों में भी संगीत एक स्वतन्त्र विषय रक्खा गया है। बोर्ड आफ हाई स्कूल एण्ड इन्टरमीडिएट एजूकेशन ने भी इसकी स्वीकृति दे दी है और इनकी प्रायोगिक तथा क्रियात्मक परीक्षा ली जाती है। ललित कलाओं के लिए भी प्रदेश में कई विद्यालय स्थापित हैं। इनमें लखनऊ का राजकीय शिल्प-कला विद्यालय मुख्य है।

हरिजनों तथा विस्थापित छात्रों की शिक्षा

जैसा कि पिछले अध्यायों में बता चुके हैं हरिजनोत्थान के लिए भारतीय सरकार प्रयत्नशील है और उनको हर प्रकार का प्रोत्साहन दे रही है। अब तो प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क हो गई है, परन्तु हरिजनों की शिक्षा पहले से ही निःशुल्क है। उनके लिए माध्यमिक एवं उच्चतर कालेज तथा विश्वविद्यालयों में भी अनेक सुविधायें दी जाती हैं। निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त उनको पुस्तकों एवं अन्य शैक्षिक सामग्री खरीदने के लिए रुपये दिए जाते हैं। नौकरियों में उनको वरीयता दी जाती है। माध्यमिक शिक्षालयों में सरकार उनके लिए स्वयं विद्यालयों को फीस देती है और छात्रवृत्तियाँ भी। उत्तर प्रदेश में हरिजन कल्याण-विभाग खोला गया है। यह विभाग एक मन्त्री के अन्तर्गत रक्खा गया है।

इसी प्रकार देश-विभाजन के कारण पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थी छात्रों की शिक्षा की व्यवस्था सरकार ने की है; जैसे लखनऊ में पूर्वी बंगाल से आये हुए शरणार्थियों के लिए एक स्कूल की व्यवस्था की गई है। विद्यालयों में प्रवेश, पाठ्यक्रम तथा अन्य सुविधाओं में उनको प्राथमिकता दी जाती है। शुल्क उन्हें देना नहीं पड़ता है। इसके अतिरिक्त नौकरियों में उनका विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

हिन्दी को प्रोत्साहन

राजकीय कार्यों के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने हिन्दी को राज्य-भाषा स्वीकार कर लिया है। अत: सरकार ने उसके प्रचार व प्रबन्ध के लिए विशेष प्रबन्ध किया है। इसके लिए कई समितियाँ कार्य कर रही हैं। इसके अतिरिक्त उत्तम पाठ्य-पुस्तकों के लेखकों को सरकार प्रतिवर्ष पुरस्कार देकर उन्हें प्रोत्साहन दे रही है।

प्रौढ़ एवं सामाजिक शिक्षा[1]

ब्रिटिश सरकार की उदासीनता के कारण भारतवर्ष की ७५ प्रतिशत से अधिक जनता अशिक्षित रही। राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भ होते ही लोगों ने इस बात का अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु सन् १९२० ई० तक इस ओर कोई ठोस कदम न उठाया जा सका, यद्यपि सन् १९१० ई० में बम्बई, बड़ौदा और बंगाल में यत्र-तत्र कुछ प्रयास किए गए थे। इन स्थानों पर प्रौढ़ों के लिए कुछ रात्रि-पाठशालायें भी संचालित की गई थीं और बड़ौदा में एक सार्वजनिक पुस्तकालय का निर्माण किया गया था। इसकी वास्तविक प्रगति १९२० ई० मान्ट-फोर्ड सुधारों से दिखाई पड़ती है। सन् १९२१ ई० में पंजाब और बम्बई में भी कुछ रात्रि-पाठशालाएँ खोली गई थीं। १९२०-२७ ई० की अवधि में ट्रावनकोर, बंगाल, मध्यप्रदेश और अन्य स्थानों पर इसके प्रयास हुए और इसी वर्ष उत्तर प्रदेश में भी इसका श्रीगणेश हुआ। यहाँ प्रौढ़ों को अवकाश के समय या रात्रि में लिखना-पढ़ना सिखाया जाने लगा।

कुछ कठिनाइयों के कारण १९३७ ई० तक प्रौढ़-शिक्षा का विकास अधिक न हो सका। परन्तु सन् १९३७ ई० में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल बनते ही फिर से इधर ध्यान दिया गया और अन्य प्रान्तों की भाँति उत्तर प्रदेश में भी इसका जोर बढ़ा, और शिक्षा-प्रसार के लिए अनेक गैरसरकारी संस्थायें खोली गईं। सन् १९३७ ई०

१. Adult and Social Education.

में दिल्ली में प्रौढ़-शिक्षा समिति की स्थापना हुई तथा १९३८ ई० में अखिल भारतीय प्रौढ़ शिक्षा परिषद का अधिवेशन हुआ।

सन् १९३९-४० ई० में साक्षरता-आन्दोलन काफी जोर पकड़ गया। उत्तर-प्रदेश सरकार ने एक आन्दोलन चलाया और लाखों व्यक्तियों से प्रतिज्ञा करायी कि प्रत्येक व्यक्ति कम से कम एक अपढ़ व्यक्ति को अवश्य साक्षर बनाए। इस वर्ष उत्तर-प्रदेश में सम्पूर्ण भारत से अधिक प्रौढ़ स्कूलों की संख्या थी। उस समय यहाँ २,६८९ प्रौढ़ पाठशालायें थीं और ८२,५९० प्रौढ़ साक्षर बनाए गए। यह संख्या भी अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक थी। उस समय यहाँ इन पाठशालाओं के अतिरिक्त अनेक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से यह पवित्र कार्य कर रहे थे। स्थान-स्थान पर वाचनालय एवं पुस्तकालय का प्रबन्ध किया गया। सन् १९४० ई० में प्रौढ़-शिक्षा-विभाग भी खोला गया था और सरकार ने इनके लिए उपयोगी पुस्तकों के लेखन व प्रकाशन की व्यवस्था की।

द्वितीय महासमर के कारण शिक्षा की प्रगति मन्द पड़ गई थी, परन्तु उसकी समाप्ति और विशेषतया स्वतंत्रता-प्राप्ति पर इस ओर पुनः ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय सरकार ने प्रौढ़-शिक्षा का नाम बदल कर सामाजिक शिक्षा कर दिया और सैकड़ों नर-नारी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास ही इस शिक्षा का उद्देश्य रक्खा। उत्तर प्रदेश की सरकार ने पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सामाजिक शिक्षा को भी स्थान दिया और इसके लिए एक अलग विभाग का निर्माण किया। तभी से वयस्कों सामाजिक शिक्षा चल रही है और कुछ सफलता भी प्राप्त कर चुकी है। वयस्कों के लिए बहुत से वाचनालयों एवं पुस्तकालयों का निर्माण किया गया है तथा उनके लिए राजकीय वयस्क विद्यालयों की व्यवस्था की गई है। अब उत्तर प्रदेश की सरकार ने सामाजिक शिक्षा में कुटीर उद्योग-धंधों तथा विकास-योजनाओं की शिक्षा भी सम्मिलित कर दी है। वयस्कों में नया जीवन लाने के लिए पर्यटन, खेल-कूद तथा समाज-कल्याण की शिक्षा भी उन्हें दी जाती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी अभी इस ओर कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। इसका अधिक दोष जनता पर है, क्योंकि वह इसमें अधिक रुचि नहीं लेती। अतः इस आयोजना को सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि जनता को उत्साहित किया जाय और उनको उत्साहित करने के लिए सरकार कुछ सरल और सुविधा-जनक उपायों का प्रयोग करे।

प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा

सन् १९३५-८ ई० की अवधि में उत्तर प्रदेश में प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति भी बड़ी सराहनीय रही है। इस बीच में चिकित्सा-शिक्षा, इंजी-

नियरिंग की शिक्षा, कृषि की शिक्षा तथा पशु-चिकित्सा के लिए कई महाविद्यालयों का निर्माण किया गया है। लगभग सभी विश्वविद्यालयों में तथा बहुत से डिग्री कालेजों में वाणिज्य, प्रयोगात्मक रसायन और कानून विभागों की स्थापना हो गई है। इस सम्बन्ध में तीन प्रकार की संस्थायें उत्तर प्रदेश में संचालित हैं :—

१—प्रारम्भिक व्यावसायिक शिक्षा संस्थायें :—इन संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को धुनाई, कताई, बुनाई, सिलाई, छपाई तथा चमड़े का काम सिखाया जाता है। इनका स्तर जूनियर हाई स्कूलों के समान है।

२—उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा :—इन संस्थाओं का पाठ्यक्रम ४ वर्ष का होता है। इन संस्थाओं में, प्रवेश लेने के लिए विद्यार्थी को जूनियर हाई स्कूल पास होना आवश्यक है।

३—उच्च अथवा विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित प्राविधिक अथवा व्यावसायिक संस्थायें :—इनमें रचनात्मक के अतिरिक्त समाज-सेवा[१], जन-प्रशासन[२] पत्र-संपादन[३] और युद्ध-विज्ञान[४] और बढ़ा दिए गए हैं तथा इनका प्रायोगिक ज्ञान दिया जाता है। उत्तर प्रदेश सरकार अपनी योजनाओं के अनुसार प्राविधिक शिक्षा को बढ़ाने का अनेक प्रयत्न कर रही है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए ४ करोड़ ९४ लाख रुपए व्यय करने की योजना बनायी है। सरकार अब भी यह अनुभव कर रही है कि प्रदेश में टेकनिकल शिक्षा की बड़ी कमी है। अतः ओवरसियर और इंजीनियरों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय। आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने भी प्राविधिक शिक्षा पर विशेष बल दिया था और सरकार उस शिक्षा को लागू करने का प्रयत्न कर रही है।

इस समय उत्तर प्रदेश में विभिन्न प्राविधिक और व्यावसायिक विषयों के सर्टीफिकेट और डिप्लोमा में प्रशिक्षित करने वाली ३७ और स्नातकोत्तर डिप्लोमा-स्तर पर प्रशिक्षित करने वाली ५७ राजकीय सहायता-प्राप्त प्राविधिक एवं औद्योगिक संस्थायें हैं। इन संस्थाओं में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है, तथा योग्य एवं निर्धन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं। शिक्षित नवयुवकों में बेकारी दूर करने के लिए इन संस्थाओं में कुछ योजनायें भी चल रही हैं जिनसे बेकार युवक विभिन्न व्यवसाय की शिक्षा लेकर जीविकोपार्जन कर सकें। इन संस्थाओं में मुख्य ये हैं :—

---

१. Social Service.
२. Public Administration.
३. Journalism.
४. Military Science.

१—हार्टकोर्ट बटलर रिसर्च ऐण्ड टेकनॉलॉजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर; २—राजकीय सेन्ट्रल टेक्सटाइल इन्स्टीट्यूट, कानपुर; ३—राजकीय टेकनिकल इन्स्टीट्यूट, लखनऊ; ४—राजकीय पालीटेकनिकल, लखनऊ; ५—राजकीय पॉलीटेनिकल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद; ६—राजकीय बहुधन्धी शिक्षालय, देहरादून तथा ७—राजकीय बहुधन्धी शिक्षालय, गोरखपुर।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ ऐसी ही संस्थायें संचालित हैं। इंजीनियरिंग युनिवर्सिटी रुड़की, कृषि कालेज कानपुर, बलवन्त राजपूत कालेज आगरा का कृषि-विभाग, अन्य बहुत से कृषि स्कूल, चूड़ी बनाने का काम, तथा कानपुर का मेडिकल कालेज आदि संस्थाओं का निर्माण इसी अवधि में हुआ है।

स्त्री-शिक्षा

पिछले अध्यायों में हम भारत में स्त्री-शिक्षा के संबंध में वर्णन कर चुके हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ भारतीय नारियों में भी जागृति आ गई। सन १९४५-४६ ई० में भारतवर्ष में लड़कियों के लिए ६४ कला और विज्ञान के विद्यालय चल रहे थे। इसके अतिरिक्त १९ व्यावसायिक कालेज, १,४५५ माध्यमिक स्कूल तथा २१,५६७ प्राथमिक पाठशालायें भी चल रही थीं। इस प्रगति पर उत्तर प्रदेश का काफी प्रभाव पड़ा परन्तु उत्तर प्रदेश में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारत में यह शिक्षा नहीं के बरावर थी। सन् १९३७ ई० में ६ और ७ वर्ष की आयु के ५० प्रतिशत बालक स्कूल जाते थे। उस समय सम्पूर्ण भारत में केवल १६ प्रतिशत लड़कियाँ स्कूल जाती थीं जिनमें ६ प्रतिशत बिहार और उत्तर प्रदेश में थीं।[१] लड़कियों की शिक्षा पर लगभग सभी कमेटियाँ और कमीशन जोर देते आए हैं। सर राधाकृष्णन ने भी अपने कमीशन की रिपोर्ट में इस पर काफी जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि स्त्रियों के लिए वही प्रोग्राम रक्खा जाय जो पुरुषों के लिए हो। इस आयोग ने यह भी कहा था कि अगर आनेवाली सन्तानों को शिक्षित बनाना है तो स्त्रियों की शिक्षा आवश्यक है।[२]

---

१. In 1937 while 50 percent of boys between the age of six and seven were attending Schools, only 16 percent of girls (of that age group) were doing so, and in some provinces, e. g., the United Provinces and Bihar, only 6 percent.—O'Malley, L. S. S. Modern India and the West, p. 459, (Oxford University Press) 1941.

२. There cannot be an educated people without educated women. If general education had to be limited to men or women, that opportunity should be given to women, for then it would most surely be passed on to the next generation—Report of the Radha-Krishnan Education Commission, Vol. I, p. 393.

सर राधाकृष्णन के उपर्युक्त सुझाव का सम्पूर्ण देश की स्त्री-शिक्षा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १९४७ ई० तक स्त्री-शिक्षा की विशेष प्रगति न हुई थी। परन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस ओर विशेष ध्यान दिया गया। प्राथमिक से विश्वविद्यालय तक बालक-बालिकाओं की शिक्षा साथ-साथ होने लगी क्योंकि अब पर्दा और बाल-विवाह प्रथा प्राय: गायब होने लगी और स्त्रियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया था। स्त्रियों के लिए अब अलग विद्यालयों का भी निर्माण किया गया। जूनियर हाई स्कूल में गृह-विज्ञान और हस्तकला उनके लिए अनिवार्य कर दिया गया। बालकों और बालिकाओं के भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम का प्रबंध किया गया। परन्तु साथ ही यह भी प्रबन्ध किया गया कि इच्छा होने पर बालिकायें बालकों वाले पाठ्यक्रम को भी पढ़ सकती हैं।

आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने भी स्त्री-शिक्षा पर काफी जोर दिया था। इसकी सिफारिशों के अनुसार निरीक्षिकाओं और शिक्षिकाओं की व्यवस्था होनी चाहिए और उनको अधिक व्यवस्था और मुफ्त निवास-स्थान मिलना चाहिए। पुरुषों के साथ ही स्त्रियों को भी शिक्षिका बनाने की सिफारिश की गई। इस समय राज्य में केवल लड़कियों के लिए १५० हाई स्कूल तथा ९० इन्टर कालेज हैं जिनमें राजकीय हाई स्कूलों और इन्टर कालेजों की संख्या २२,२२ है। लड़कियों के लिए ८ राजकीय डिग्री कालेज भी हैं। इसके अतिरिक्त लड़कियों के लिए विश्वविद्यालयों में सह-शिक्षा है। अधिकतया टेकनिकल विद्यालय में उनके लिए स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं। शिक्षिका एवं निरीक्षिका बनाने के लिए उनके लिए अलग भी ट्रेनिंग कालेजों का प्रबंध है। इलाहाबाद और लखनऊ में महिलाओं के लिए दीक्षा विद्यालय हैं, और लखनऊ में आई० टी० कालेज और महिला कालेज, बेसिक ट्रेनिंग कालेज तथा विश्वविद्यालय में भी उनके लिए स्थान सुरक्षित हैं। प्राथमिक, माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षिका बनाने के लिए राजकीय नार्मल स्कूल हैं। सरोजनी नायडू मेडिकल कालेज आगरा, किंग जार्ज मेडिकल कालेज लखनऊ और मेडिकल कालेज कानपुर में भी उनके लिए स्थान सुरक्षित हैं। मिडवाइफरी की दीक्षा के लिए भी उनके लिए केन्द्र स्थापित हैं; जैसे—बेनिया ट्रेनिंग सेन्टर, वाराणसी। इसके अतिरिक्त नर्सों की ट्रेनिंग और अन्य प्रकार की सुविधाएँ उनको दी गई हैं। एन० सी० सी० में भी उनके लिए अलग डिवीजन खुल गया तथा सोशल ए० डी० ओज[1] में भी उनको स्थान दिया जाता है। लड़कियों की शिक्षा भी कुछ नगर-पालिकाओं में अनिवार्य कर दी गई है।

---

१. Social A. D. O's.

आलोचना

मार्च १६,१९५९ को प्रदेश की विधान-सभा में शिक्षा-मन्त्री के कथनानुसार सन् १९५८ तक बालिकाओं के लिए प्रायमरी स्कूलों में ३०० प्रतिशत, हाई स्कूलों में ४०० प्रतिशत और डिग्री कालेजों में ४०० प्रतिशत वृद्धि हुई है। परन्तु इस उन्नति के होते हुए भी अभी तक स्त्रियों में शिक्षा-प्रसार का प्रतिशत केवल ३८ है और सभी शिक्षित जनता का प्रतिशत २०·८ ही है।[१]

यद्यपि स्त्री-शिक्षा की ओर अब ध्यान दिया जा रहा है और प्रगति भी कुछ हुई है, परन्तु अभी मनोवांछित प्रगति नहीं हो सकी है। साथ ही जितना भी प्रयास किया गया है वह प्रायः शहर की लड़कियों के लिए ही, क्योंकि लगभग सभी स्कूल शहरों में ही हैं। देहातों में उनके लिए कोई प्रबंध नहीं हो सका है। गाँव के लड़के तो दूर अध्ययन के लिए जा सकते हैं; परन्तु लड़कियाँ ऐसा नहीं कर सकतीं क्योंकि उनके सामने समाज-बन्धन सम्बन्धी अनेक विवशताएँ हैं। इसके अतिरिक्त उनकी शिक्षा के लिए लड़कों से भिन्न प्रबंध होना चाहिए और उनको उत्साहित करने के लिए उनकी शिक्षा निःशुल्क करके छात्रवृत्ति और अन्य प्रकार की सहायताओं की व्यवस्था होनी चाहिए। अच्छा हो यदि उनके लिए अलग विभाग ही स्थापित कर दिए जायँ तथा उनकी परीक्षायें भी अलग ली जायँ। माध्यमिक शिक्षा तक तो यह अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा। उनके लिए विशेष प्रकार के टेकनिकल और औद्योगिक विद्यालयों का निर्माण किया जाय। उनके लिए ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जाय जिससे वे बालकों को आदर्श नागरिक बनाने में सहायक सिद्ध हो सकें तथा शिक्षा उनके जीवन में प्रायोगिक हो सके।

सारांश

प्राथमिक और शिशु शिक्षा

सन् १९३७ ई० में कांग्रेस मंत्रिमंडल बना और देश में शिक्षा की नई-नई योजनायें बनाई गईं और प्राथमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। १९३९ ई० में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव समिति की बैठक हुई और उसने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव रक्खे। सन् १९४४ ई० में सार्जेन्ट रिपोर्ट प्रकाशित हुई और उत्तर प्रदेश ने भी उसी पर अपनी शिक्षा-नीति निर्धारित की। सन् १९४७ ई० में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और प्राथमिक शिक्षा की प्रगति तीव्र वेग से हब चली। अभी तक राज्य में शिशुओं की शिक्षा का कोई प्रबन्ध

१. Reported in the Pioneer, Lucknow Dated, March 20, 1959.

न था, परन्तु अब सरकार ने इधर भी ध्यान दिया और वैयक्तिक संस्थाओं को प्रोत्साहित किया। सन् १९४७ ई० के पश्चात् उत्तर प्रदेश की सरकार ने राज्य में १० वर्षों में २०००० प्राथमिक विद्यालयों के निर्माण की योजना बनाई और यह योजना बहुत हद तक पूरी भी हुई। वर्धा योजना के अनुसार बेसिक शिक्षा लागू कर दी गई और प्राथमिक विद्यालयों के बालकों को कताई-बुनाई, धुनाई और रँगाई तथा अन्य काम सिखाया जाने लगा। प्राथमिक पाठशालाओं में पहले १ से ४ तक कक्षायें होती थीं। परन्तु अब इनमें १ से ५ तक कक्षायें कर दी गईं। नगर-पालिकाओं ने अपने क्षेत्र में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य कर दिया। अब तो पूरे राज्य में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क है।

रिओरियन्टेशन स्कीम

रिओरियन्टेशन स्कीम के अन्तर्गत जूनियर हाई स्कूलों में एक-एक प्रधानाध्यापक भेज दिया गया और बालकों को कृषि का प्रायोगिक ज्ञान किया जाने लगा। इस योजना के उद्देश्य बालकों को कृषि तथा हस्तकला प्रधान शिक्षा देकर उनमें (१) समन्वित, व्यक्तित्व का विकास, (२) प्रजातंत्र की सफलता के लिए उच्चतम ट्रेनिंग, (३) शिक्षा को प्रत्येक स्तर पर उत्पादन बनाने, (४) बालक को समाजोपयोगी बनाना, (५) बालक को श्रम का महत्त्व सिखाना, (६) समय का सदुपयोग करना सिखाना और (७) बालकों में नेतृत्व एवं स्वावलम्बन की भावना भरना तथा (८) सांस्कृतिक वातावरण का विकास करना है।

इस योजना में अनेक दोष हैं। अतः इसमें सफलता नहीं दिखाई पड़ती। यदि यह दोष दूर कर दिए जायँ तो सफलता अवश्य मिलेगी और लाभ भी होगा।

जूनियर हाई स्कूल

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक दो प्रकार के जूनियर हाई स्कूल होते थे, परन्तु इसके पश्चात् यह भेद-भाव मिटा दिया गया। अब सभी जूनियर हाई स्कूलों का कोर्स समान है और किसी भी जूनियर हाई स्कूल का कक्षा ८ पास बालक कक्षा ९ में प्रवेश पा सकेगा। प्रदेश में जूनियर हाई स्कूलों का जाल-सा बिछ गया है और पाठ्यक्रम पहले से अधिक उपयोगी एवं प्रायोगिक बना दिया गया है।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् बड़ी प्रगति हुई। अब राज्य के प्रत्येक जिले में माध्यमिक शिक्षा के लिए इण्टर कालेज अथवा

हाई स्कूल हैं। उच्चतर माध्यमिक योजना में अ, ब, स, द चार वर्ग कर दिए गए थे, परन्तु साहित्यिक और वैज्ञानिक वर्गों को ही प्रोत्साहन मिल सका।

उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा में यह प्रदेश सबसे आगे है। यहाँ ८ विश्वविद्यालय एवं ६६ डिग्री कालेज हैं। परन्तु विश्वविद्यालय की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई है। स्तर नीचा हो गया है और वे राजनीति के प्राङ्गण हो गए हैं। आर्थिक दशा शोचनीय होती जा रही है और छात्रों में अनुशासनहीनता की भावना बढ़ती जा रही है।

शिक्षकों की दशा में सुधार

शिक्षकों की नौकरी, वेतन, सुख-सुविधा तथा अन्य सभी क्षेत्रों में कुछ सुधार हुआ है, परन्तु फिर भी यह सुधार नगण्य है और उनकी दशा बड़ी दयनीय है।

प्रशिक्षण-विद्यालय

प्रशिक्षण-विद्यालयों की संख्या में वृद्धि हुई है और उनके पाठ्यक्रम में सुधार किया गया है। बेसिक रचनात्मक एल० टी० के लिए कन्स्ट्रक्टिव प्रशिक्षण-विद्यालय लखनऊ में कार्य कर रहा है।

कुछ विशेष संस्थायें

मनोवैज्ञानिक केन्द्रों का निर्माण हो गया है और अब बालकों को उनके योग्यता एवं रुचि की जाँच करके उनको चुनने में सहायता दी जाती है। कुछ नर्सरी केन्द्र, शिक्षा विज्ञान केन्द्र, शारीरिक प्रशिक्षण केन्द्र की व्यवस्था की गई है। सैनिक शिक्षा भी दी जाती है।

असहायों की शिक्षा

राज्य सरकार ने अन्धे, बहरे, लूले, लगड़ों तथा अन्य शारीरिक हीनता तथा मानसिकहीनता ग्रस्त-बालकों के लिए भी व्यवस्था की है।

ललित कलायें

संगीत, नृत्य एवं ललित कलाओं का भी प्रबन्ध किया गया है और उन्हें काफी प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

हरिजनों और विस्थापितों की शिक्षा

हरिजनों तथा विस्थापित व्यक्तियों की शिक्षा का प्रबन्ध राज्य में किया गया है और उन्हें नौकरी में भी वरीयता दी जाती है।

हिन्दी को प्रोत्साहन

हिन्दी को राज्य-भाषा मान लिया गया है और उसके प्रचार के लिए काफी प्रयत्न किया जा रहा है।

प्रौढ़ और सामाजिक शिक्षा

प्रौढ़ों की शिक्षा के लिए अलग विभाग खोल दिया गया है और उनकी शिक्षा का नाम सामाजिक शिक्षा रख दिया गया है। इसके लिए भिन्न-भिन्न केन्द्र स्थापित कर दिए गए हैं।

प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा

प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति भी अच्छी रही। घरेलू उद्योग-धन्धों से लेकर उच्च कोटि की प्राविधिक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है। इसमें ऐसी शिक्षा दी जाती है जिससे बालकों को दूसरों पर भार न बनना पड़े। बहुत से विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में भी यह प्रदेश देश के किसी अन्य प्रदेश से पीछे नहीं। प्रदेश में लड़कियों के लिए कई डिग्री कालेज हैं और विश्वविद्यालयों में सह-शिक्षा है। लड़कियों के लिए कुछ अलग माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालयों का प्रबन्ध किया गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्रथम आचार्य नरेन्द्र देव समिति के सुझावों की समीक्षा कीजिए।

२. उत्तर-प्रदेश में सन् १९३७-५८ की अवधि में शिशु-शिक्षा के विकास का विवरण दीजिए।

३. उत्तर प्रदेश की शिक्षा की पुनर्व्यवस्था (रिओरियन्टेशन स्कीम) का विवरण देते हुए उसकी आलोचना कीजिए।

४. उत्तर प्रदेश की सरकार ने सन् १९४७ ई० से अब तक प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में क्या-क्या कदम उठाए हैं और उनका क्या परिणाम हुआ है?

५. उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा १९४८ में पुनर्संगठित माध्यमिक शिक्षा का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।

६. द्वितीय आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए किन-किन प्रमुख बातों का प्रस्ताव किया है ? उन प्रस्तावों की समीक्षा कीजिए ।

७. उत्तर प्रदेश में सन् १९३७-५८ की अवधि में उच्च शिक्षा का विवरण दीजिए ।

८. शिक्षकों की दशा सुधारने के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने कैसा प्रयत्न किया है ?

९. शिक्षक प्रशिक्षण की उत्तर प्रदेश में क्या व्यवस्था है और उच्चकोटि के शिक्षक तैयार करने के लिए उनमें किन सुधारों की आवश्यकता है ?

१०. विशिष्ट वर्गों की शिक्षा के लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने अब तक क्या-क्या सुविधायें प्रदान की हैं और उनका क्या परिणाम रहा ?

११. उत्तर प्रदेश में सन् १९३७-५८ की अवधि में प्रौढ़ शिक्षा का क्या स्वरूप रहा है ?

१२. उत्तर प्रदेश में सन् १९३७-५८ के काल में प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा का विकास कैसा रहा ?

१३. उत्तर प्रदेश में सन् १९३७-५८ की अवधि में स्त्री-शिक्षा की प्रगति का विवरण दीजिए ।

अनुक्रमणिका

(I N D E X)

प्राचीन और मध्यकाल के लिए

अ

अग्रहार १५५, १५६

अध्ययन-काल ३१-३२, ५६

अध्यापन-पद्धति १३-१४, २७-२८, ४६-५२, ६६-७०, ८७-६०, १०४, १०६ १०८, ११६-१२०

अनुशासन ५२-५३

अपराविद्या ५-६

अयोध्या ६८, ११०

अलतमश २७७

आ

आगरा २००-२०१

आनन्धर १०६

आरण्यक २२

आश्रम ६८-६६

इ

इत्सिंग ११२-११४

उ

उत्तर वैदिक शिक्षा १६-४४

उदयन १०६

उपनयन २४-२६,

उपनिषद २२-२४

उपनिषद-काल की शिक्षा—अध्याय ३ देखिये

उपसम्पदा ८४

ए

एन्नारियम १५१-१५२

ओ

ओदन्तपुर १४५

ऋ

ऋग्वैदिक काल ११-१२

ऋग्वैदिक शिक्षा १०-१८

ऋषि (गण) १२

क

कण्व (का आश्रम) ६८

कपिलवस्तु १०६

कपिस १११

कश्मीर १११

कांजिपुर ११२

कान्यकुब्ज १०४, १०६

काशी १०४, १०६

कुतुबुद्दीन १७७

कुल ३७-३८

कुशीनगर १०३

कोनकान ११२

कौटिल्य का अर्थशास्त्र ७३-७५

ख

खान देश १८६

खिलजी वंश १७६

ग

गज १११
गया १०३
गान्धार १०८
गुरु और छात्र का सम्बन्ध ३२-३६, ७०, ८५-८६
गुरु का स्थान ३४-३६
गोत्र ३७-१८
गोलकुण्ड १८६-१८७

च

चम्पा १०४
चरण ३७
चीन मुक्ति ११०
चोला १११

छ

छात्र-दिनचर्या २८-३१

ज

जगद्दली १४५
जन-शिक्षा ७३, ९०-९४
जौनपुर १८७-१८८, २०१-२०२

ट

टोल १५६

त

तक्षशिला १०९, १३५-१३७
ताम्रलिपि १०४
तिरुभुक्कुदल १५३
तिलोशिक विहार १११
तिरुवोरियूर १५४
तुगलक वंश १८०-१८२
तुगलक गियासुद्दीन १८०
तुगलक मुहम्मद १८०
तुगलक फिरोज १८१

द

दण्ड ५२-५३
दिल्ली १९८-२००

न

नदिया १४६
नभसावन ११०
नारी शिक्षा १६, ४०-४१, ५६-५८, ६७-६८, ७३, ७५, ९४-९५
नालन्दा १०९, १३७-१४३
नासिरुद्दीन १७८
नैतिक शिक्षा ३०-३१
नैमिष ६८

प

पतंजलि का चूर्णि ११३
पब्बजा (प्रवज्या) ८३-८४
परा विद्या ५-६
परिषद ३७, ५८-६०
पाटलिपुत्र २०३
पाठ्य-विषय १२-१३, २६-२७, ४८-४९, ७२-७३, १०४-१०५, १०८, १२०
पुरुषपुर १०४
पुरोहित प्रणाली १९-२१
पुष्करावती १११
प्रयाग ६८
प्राथमिक शिक्षा (बौद्ध कालीन) ११६-१२३

फ

फाहियान १०२-१०५

ब

बंगाल १७८
बनारस १३५
बलबन १७८-१७९
बहमनी राज्य १८५-१८६
बीजापुर राज्य १८५

बेजवाड़ा १११
बोलोर ११०
बौद्ध धर्म ७९-८०
बौद्ध शिक्षा का सामान्य रूप ७९-१००
बौद्ध शिक्षा-पद्धति १०१-११५
व्यावहारिक शिक्षा २९
ब्राह्मण संघ १५
ब्राह्मण साहित्य २१
ब्राह्मणों की शिक्षा ६६-६७

भ

भरोच ११२
भर्त्तृहरि का व्याकरण ग्रंथ ११३
भर्त्तृहरि शास्त्र ११३
भारतीय जीवन-दर्शन (प्राचीन) १-७

म

मकतब १७१-१७२, २०४-२०६
मगध ११०
मठ-विद्यालय १५०-१५८
मतिपुर ११०
मथुरा ११०
मदरसा १७२-१७४, २०६
मनन १४
मलकपुरम् १५३-१५४
महाबोधि विहार ११०
महाभारत ६५-६९
महाराष्ट्र ११२
मानसिक शिक्षा २९-३०
मालवा ११२,१८८,२०२
मिथिला १४७
मुँगेर १०९
मुगल काल में १९०-१९७
मुगल बाबर १९०-१९०
मुगल हुमायूँ १९१
मुगल अकबर १९१-१९३
मुगल जहाँगीर १९३
मुगल शाहजहाँ १९४
मुगल औरंगजेब १९५
मुस्लिम कालीन शिक्षा का (सामान्यरूप) १६५-१७६

र

रामायण ६५-६९
राजकुमारों की शिक्षा ७४-७५
राजगृह १०३
रजिया १७८

ल

लभ्य १११
लोदी वंश १८२-१८३
लोदी वंश बहलोल १८२
लोदी वंश सिकंदर १८३

व

वर्णों की शिक्षा (अन्य) १६-१७, ४१-४२
वलभी ११२, १४४-१४५
वसिष्ठ तथा विश्वामित्र के आश्रम ६९
वाक्यपदीप ११३
वाराणसी १०९, १३४
विक्रमशीला १४३-१४४
विद्यारम्भ ४६
विहार ९४
विशेषीकृत शिक्षा ७३, ७४
विशोक ११०
विश्वविद्यालय १३५-१५०
वेद १-२, ११-१२
वैशाली १०३, ११०
व्याकरण साहित्य ६९-७५
व्यावसायिक शिक्षा ९५-९७
व्यावसायिक शिक्षा (बौद्ध-कालीन) १२४-१३४

व्यावसायिक शिक्षा चिकित्सा १२५-१२६
व्यावसायिक शिक्षा सैनिक १२७
व्यावसायिक शिक्षा औद्योगिक १२९
व्यावसायिक शिक्षा श्रेणी १३१-१३२
व्यास मुनि का आश्रम ६६

श

शाखा ३६-३७
शिक्षकों के भेद ७१-७२
शिक्षा का उद्देश्य २४
शिक्षा-केन्द्र १५
शिक्षा-प्रसार के लिए संस्थाएं ३६-३८
शिक्षा-सत्र ५५-५६
शुल्क ५३-५४
श्रावस्ती १०३, १०९
श्रुघ्नन १११

स

संकाश्य १०४
समावर्तन-उपदेश ३८-४०, ६०-६१
सलोत्गि १५२-१५३
सह-शिक्षा ५४-५५
सारनाथ १०९
सूत्र-कालीन शिक्षा-व्यवस्था ४५-६४
सैयद वंश १८२
स्थानेश्वर ११०

ह

हुएनत्सांग १०५-११२

क्ष

क्षत्रियों की शिक्षा ६७

अनुक्रमणिका

(I N D E X)

वर्तमान काल के लिए

अ

अनुशासनहीनता, छात्रों में (Indiscipline in students) ७७७-८०

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय)(Aligarh Muslim University) ४८७

असहायों की शिक्षा (Education of the Handicapped) ७४७-४९

आ

आॅकलैण्ड (Lord Auckland) २९९-३०३,३०८

आदिवासी और पहाड़ियों की शिक्षा (Education of the Abonriginal and Hill Tribes) ३८७-३८८, ४११, ४३३-४३४, ५०६-५०७, ५३५, ५३६, ७४६

आॅबजर्वेशन (चार्ल्स ग्राण्ट द्वारा लिखित पुस्तक) २७९-२८१

आरमेडा (Armeda) २७०

आसाम (Assam) ३५५, ३५६, ३५८

आशुतोष मुकर्जी (Asutosh Mookerji) ४६९

इ

इंजीनियरिङ्ग की शिक्षा (Engineering Education), निर्माण-कला की शिक्षा देखो, ३२२-३२३, ३७३, ४२५-४२६, ५४०, ५८१

ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) २३३-२३६, २६७-२६८, २७०-२९०

उ

उच्च शिक्षा (Higher Education)२५१, ३१९-३२०, ३६३-३६८, ४१९-४२३, ४२४, ४४९-४५५, ४८६-४९०, ४९३-९४, ५२२-२७ ५७३-७४, ७१३-१४, ८२८-२९

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-योजना (Higher Secondary Education Scheme) ८१५-८२०

उद्देश्य, शिक्षा (Aim of Education) ३३७, ४०१

उड का शिक्षा-घोषणा-पत्र—देखो वुड का शिक्षा-घोषणा-पत्र

उड़ीसा (Orisa) ४८०

ए

एनीबेसेण्ट(Mrs Annie Besant) ४२१

एलिजबेथ (Elizabeth I) २७०

एलफिस्टन (Mount Stuart Elphinstone) २४६, २४७, ३२८-३२९

एलफिंस्टन इन्स्टीट्यूट (Elphinston Institute) ३१०

ऐडम (Adam, William) २५०, २५१. २५४, ३०१-३०२, ३८७

ऐड्रवेल, डब्लू २७२
ऐब्बॉट-उड रिपोर्ट (Abbott-Wood Report) ५७७ ७८

ओ

ओसमानिया विश्वविद्यालय (Osmania University) ४८७
औद्योगिक शिक्षा (Industrial Education) ३७४-७५, ४२७, ४५७, ५४३-४५
अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली, समालोचना (A Criticism of the English System of Education) ६३४-४२

क

कर्जन, लार्ड (Lord Curzon) ४३८-४६१, ४६२-६३,
कमीशन, भारतीय विश्वविद्यालय १९०२ (Indian Universities Commission) ४५०५-५१
कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन १९१७-१९ (Calcutta University Commission) ४६९-४७४
कलकत्ता मदरसा (Calcutta Madrassah) २७४-२७६, २८६
कला तथा वाणिज्य की शिक्षा (Art and Commercial Education) ३७४, ४२६-४२७, ४५६-५७, ७४९-५०, ७५४-५५
कानून की शिक्षा (Legal Education) ३२३-३२४, ४२५, ५३९, ५७९
कैमरन ३३६
कैंमवेल, श्रीमती २७२
कैरे, वार्ड (Carey Ward) २७७
कुर्ग (Coorg) ३५७, ३५८
कृषि-शिक्षा (Agricultural Education) ३७३, ४२६, ४५५-५६, ५४०-४२, ५८०-८१

ग

ग्राण्ट, चार्ल्स (Charles Grant) २७९, २८१
गुजरात कुमार मन्दिर, अहमदाबाद (Gujrat Kumar Mandir) ६१२, १३
गुरुकुल विश्वविद्यालय (Gurukul University) ५४६-५४७
गुरुदास बनर्जी (Gurudas Banerji) ४६३
ग्रेगरी डा० ४६९
गोपाल कृष्ण गोखले (Gopal Krishna Gokhale) ४२२, ४६४-४६६
चिकित्सा-शिक्षा (Medical Education) ३२१-२२, ३७२, ४२५, ५३९-४०, ५७९

ज

जाकिर हुसेन (Zakir Husain) ५९२
जामिया मीलिया इस्लामिया (Jamia Milia Islamia) ५४७
जियाउद्दीन अहमद, सर (Sir Ziaudin Ahmad) ४६९
जीगेनबल्ग (Ziegenbala) २६६, २६७
जूनियर हाई स्कूल की शिक्षा पुनर्व्यवस्था योजना उ० प्र० (The Reorientation Scheme of Education in Junior High schools) ८०४, ८१२

ट

टेकनिकल और औद्योगिक शिक्षा (Technical and Industrial Education) ३७४-३७५, ४२७, ४५७, ५४३-४५, ५८१-८२

टैगोर, रविन्द्रनाथ (Rabindranath Tagore) ४६३, ५४५-४६

ड

डच (Dutch) २६४-२६५
डलहौजी, लार्ड (Lord Dalhougie) ३१४-३१५, ३२०
डेन (The People of Denmark) २३६
डंकन (Jonathan Duncan) २७६

ढ

ढाका विश्वविद्यालय (Dacca University) ४८७
थामसन, जेम्स (James Thomason) ३१५-३१७

द

दयानन्द, स्वामी (Swami Dayanand) ४२०-४२१
दारुलउलूम (Darul-Uloom) ५४६
द्वितीय पंचवर्षीय योजना (में शिक्षा) ७०६-७२०
देशी शिक्षा (Indiginous Education) २५६-२५९, ३९८-३९९
द्वैध शासन में शिक्षा (Education During Diarchy) ५११-४८

ध

धर्म-प्रचारक ४११ ४१२
धार्मिक शिक्षा (Religious Education) ३८०, ४०६, ४३०, ४५७

न

नई तालीम—बेसिक शिक्षा देखिए
नरेन्द्रदेव समिति,-प्रथम—७९६-९९, द्वितीय ८२०-२८
नवयुग स्कूल, बम्ई (The New Era School) ६१३-१५
नारी शिक्षा (Women Education) स्त्री शिक्षा देखो
निर्माण-कला की शिक्षा (इंजीनियरिंग की शिक्षा देखो (Engineering Education) ३२२-३२३२,३७३
निस्यन्दन-सिद्धान्त (The Downward Filtration Theory) ३०३-३०५ ३८७
नैतिक शिक्षा (Moral Instruction) ४५७

प

पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा (Education under the Five Year Plans) ६९९-७२२
पंजाब (Panjab) ३२०, ३५५, ३५७, ३५८, ४८०
पटना विश्वविद्यालय (Patna University) ४८६
परीक्षा-पद्धति (Examination System) ७८०
पश्चिमोत्तर प्रदेश (N.W. Province, the present U.P.) ३२३, ३५५, ३५६, ३५८, ४८०
पशु-चिकित्सा (Veterinary Education) ३७३, ४२६, ५४२
पहाड़ियों की शिक्षा (Education of the Hill Tribes) ३८७-३८८, ४११, ४३३-४३४, ५०६, ५०७
प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan) ६९९-७०६
प्रशिक्षण, अध्यापकों का (Training of Teachers) ३४३, ३९६-३९७, ४०१, ४४३-४४, ४७३, ४७७, ४८५, ८३५-३८

प्राच्य और पाश्चात्य वादाविवाद (Anglo-oriental or Arglicist-classicist Controversy) २३७, २४०-२४१, २९१-३०१
प्राच्यवादी नीति (Oriental or Classicist policy) २८१)२८४,
पाठ्यक्रम (Curriculum) ३३८, ३९७-३९८, ४४३, ४८२-४८३, ७७१-७७
प्राथमिक शिक्षा (Primary Education) २४६-२५१, ३५४-३६०, ३९४-३९९, ४१६-४१७, ४२३-४२४, ४४१-४४४, ४७४-८३, ४९२, ५१४-५१९, ५६९-७१, ७०२, ७०९-१०, ८००-८०४
प्राविधिक शिक्षा ७१४-१७, ८४२ ४४
पिछड़ी जातियों की शिक्षा (Education of the Backward Classes) ३८६ ३८७, ४१०, ४३१-४३३, ५०४-५०६, ७४६-४७
प्रिन्सेप एच० टी० (Prinsep, Henry Thoby) २९०, २९५
पुर्तगाली (Protuguese) २६३-२६४
पुरातत्व विभाग (Department of Archaeology) ४५८
पूना संस्कृत कॉलेज (Poona Sanskrit College) ३१०
पूर्व प्राथमिक शिक्षा (Pre-primary Education) ७९९-८००
पैट्टन, प्रोफेसर (Patton, Prof) ३२५
पैरी ३३६, ३३७

फ

फ्रान्सीसी (French) २६५-२६६
फूले, महात्मा (Phule, Mahatma) ३३२ ३३३
फोर्ट विलियम कालेज (Fort William College) २७३, २७७

ब

बनर्जी, के० एन० (Benerji, K.N.) ३१५
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय (Benares Hindu University) ४८७
बनारस संस्कृत कालेज (Benares Sanskrit College) २७६-२७७ २८६
बन-विज्ञान (Forestery) ३७३-३७४, ४२६, ५४३
बम्बई (Bombay) २४७-२४८, ३०९-३१२, ३२१, ३२२, ३५५, ३५६, ३५८, ४७९-८०
बरार (Berar) ३५५, ३५६, ३५८
बिहार (Bihar) ४८०
बुनियादी शिक्षा-बेसिक शिक्षा देखो
बेथ्यून (John Eliot Drinkwater Bethune) ३१४, ३२५-३२७
बेसेण्ट, एनी (Annie Besant) ४२१
बेसिक शिक्षा (Basic Education) ५९२-६२७, ७१२-१३, ७२३-२५, ८००-८०४,
बेसिक प्रशिक्षण-केन्द्र, लोनी कालभोर, पूना ६१६-१७
बेंटिकं, लार्ड (Lord Bentinck) २८८, २९५-२९७, २९९
बंगाल (Bengal) २३४, २४६, २४७, २४८, २५०-२५१, २८६-२८८, ३१२-३१५, ३२३, ३५५, ३५६,३५८, ४८०

भ

भारतीयकरण, शिक्षा साधनों का (Indianization of Education) ३७८-३८०, ४०४-४०६, ४२९-३०

भारतीय नियंत्रण (Indian Control) ४९७
भातीय विश्वविद्यालय कमीशन, १९०२ (Indian Universities Commission) ४५०-४५१
भारतीय विश्वविद्यालय कानून, १९०४ (Indian Uuniversities Act) १०५ ४५१-५५
भारतीय राष्ट्रीय आयोग ७२०

म

मदन मोहन मालवीय (Madan Mohan Malviya) ४२१
मद्रास (Madras) २४८-२४९, ३०८-३०९, ३२१, ३२३, ३५५, ३५६, ३५८, ४८१
मध्य प्रदेश (Central Province) ३५७ ३५८, ४८१
मनोविज्ञान-केन्द्र (Bureau of Phydchology) ८३७
महात्मा गाँधी (Mahatma Gandhi) ५००-५०१, ५२८, ५३३, ५९२,
माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education) ३६०-३६३ ३९९-४००-४१७, ४१९, ४२४, ४४४-४४९, ४७०-४७२, ५८३-४८५, ४९३, ५१९-२०, ५७१-५७३, ६४३-६८, ७०२, ७१० ७१२, ७२६-२७, ८१२ २८,
माध्यम, शिक्षा का (Medium of Instruction) ३३८, ४८५, ५५९, ७८९-७९०
माध्यमिक शिक्षा आयोग (Seeondary Education Commission) ६४३-५९
माण्टफोर्ट सुधार (Montford Reforms) ५११-५१३
मॉरिसन कमेटी (Morison Committee) ५४३
मार्शमेन (Marshman) २७७, ३३६, ३३७
मिण्टो, लार्ड (Lord Minto) २८२
मिशनरी प्रयास-प्रारम्भिक (Early Missionary Enterprises) २६३-२६९, ४३४
मुदगिद-ओद्दीन (Mudgid O'din) २७५
मुदलियर, ए० लक्ष्मण स्वामी (A.L. Mudalier) ६४६
मुनरो सर टामस (Sir Thomas Monroe) २४८, २४९, ३०८
मुसलमानों की शिक्षा (Education of Muslims) ३८०-३८६, ४०८-४०९ ४३०-४३१, ५०३-५०४, ५३४-३५, ५७६-७७
मेटकाफ २८५ (Sir Charles Metcalfe) २८५
मेयो, लार्ड (Lord Moira) ३८१
मेकाले (Lord Macaulay) २३७, २९१, २९३-२९९, ३०४
मैसूर विश्वविद्यालय Mysore University ४८६
म्योर, लार्ड (Loa Moira) २८५
युवक-कल्यणयोजना (Youth Welfare Scheme) ७५१, ७५६
योरपीय जातियों की शिक्षा (Education of Europeans) ७४७

र

रविन्द्रनाथ टैगोर (Rabindranath Tagore) ५४५-४६
राजा राम मोहन राय (Raja Ram Mohan Roy) २८६-२८८, ३३०-३३१

राधाकृष्णन (Dr. S. Radhakrishan) ५६०
राष्ट्रीय शिक्षा-भावना का विकास (Development of the of Spirit National Education) ४६६-५०२
राष्ट्रीय शिक्षा (National Education) ५४५-४७
रास बिहारी घोष (Ras Behari Ghosh) ४६३
रैंमजे म्योर (Ramsay Muir, Prof.) ४६६

ल

लखनऊ विश्वविद्यालय (Lucknow University) ४८७
ललित कला में शिक्षा (Education in Fine Atrs) ८४०

व

वर्धा योजना (Wardha Scheme) ५९२-६२७
वयस्क साक्षरता (Adult Literacy) ५३६-३८, ५८३-८८, ७०३, ७३९-४२
वास्को डिगामा (Vasco-De-Gama) २६२, २६२
वारेन हेस्टिंग्ज (Warren Hastings) २७५, २९०, २९५
व्यापारिक शिक्षा (Commercial Education) ५८०
व्यायाम शिक्षा (Physical Education) ७४५
व्यावसायिक शिक्षा (Professional and Vocational Eduation) ३२०-३२४ ३४४, ३७२-३७५, ४२४-४२७, ४७३-४७४, ४८४-४८५, ४८९-४९०, ४९४-९५, ४९९, ५३८-४५, ५७९-८१, ७०३, ७४२-४३, ८४२-४४
विट्ठल भाई पटेल ४७९
विल्बरफोर्स (Wilberforce) २८३
विल्सन, एच० एच० (H.H. Wilson) २९१, ३३६, ३३७
विश्वभारती (Visva-Bharti) ५४५-५४६
विश्वविद्यालय (Universities) ३३९-३४०, ३६३--३६८, ४१९-४२३, ४४५, ४४९-५५, ४७२-७३, ४८६-४९०, ५६९, ५७३-७४, ६६९-९८ ७०३, ७१३-१४ ७२७-३९, ७६५-७१, ७७४-७७, ८२९-३१
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (The University Grants Commission) ६९३-९५
विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (University Education Comission) ६६९-८९
वेन्टाइन (Valentine) ३१५
विस्थापित छात्रों की शिक्षा (Education of Displaced Persone) ८४०-४१
वुड का सन्देश-पत्र (Wood's Despatch) २३८-२३९, ३३६-३५२, ३५३, ३५४ ३८७, ३९९

श

शारदा ऐक्ट (Sarada Act) ५२७
शारीरिक शिक्षा (Physical Education) ७४५, ७५६
श्वार्ज (Schwartz, Rv Christiah Fredrick) २७२
शिशु-शिक्षा (Nlrsery Education) ७९९-८००, ८३७

शिक्षा-अनुदान (Grant-in-aid) ३४१-३४२, ३७७-३७८, ४०२-४०३, ४२६, ४४४
शिक्षा विभाग-लोक (Department of Public Instruction) ३३६, ३७५-३७७, ४०३-४०४, ४२८-४२६, ४४४-४५, ४५८, ४६५-६६
शिक्षा-विभाग ५४७-५४८, ५५६-५६०
शिक्षा-विज्ञान-केन्द्र (The Pedagogical Institute) ८३७
शुल्ज २७२
शंकरसेत, जगन्नाथ (Sankerset, Jagannath) ३३१-३३२

स

स्वदेशी आन्दोलन और शिक्षा (Swadeshi Movement and Education) ४६२-५१०
स्नातक बेसिक प्रशिक्षण केन्द्र, धारवार ६१५-१६
सार्जेण्ट शिक्षा-योजना (Sargent Scheme) ६२८-३३, ८०१
सामाजिक शिक्षा (Social Education) ७३६-४२, ८४१-४२
संगीत की शिक्षा (Music Education) ८४०
सांस्कृतिक शिक्षा (Cultural Education) ७४६-५०, ७५४-५५
स्त्री-शिक्षा (या नारी-शिक्षा-Women Education) २५४-२५६, ३४३, ३६८-३७२, ४०६-४०८, ४२३-४२४, ४७३, ४६०-४६४, ५२७-३१, ५७५-७६, ७४३-४५, ७८७-८६, ८४४-४६
सेवाग्राम, मध्यप्रदेश—बेसिक स्कूल ६१८-१६
सैनिक शिक्षा (Military Training) ८३८-३६
स्टैनले का आज्ञा-पत्र (Lord Stanley's Despatch of 1859) ३६२-३६३
सडलर, सर माइकेल (Dr. sir M.E. Sadler) ४६६-४७४
सर सैयद अहमद खाँ, (Sir Syed Ahmad Kahan) ३८३-३८६
संयुक्त प्रान्त (United Provinces) ४८०

ह

हण्टर कमीशन, भारतीय शिक्षा आयोग (Indian Education Commission or Hunter Commission) ३६२-४१५
हरटाँग, सर (Sir Hartog) ३४६, ४६६
हरटॉग समिति (Hartog Committee) २४२, ५१३-५२२, ५२५-५२७, ५३०-५३१, ५३४-५३५
हरिजनों की शिक्षा (Education of Harijans) ५०४-५०६, ५३१-३४, ५७५, ८४०-४१
हलकाबन्दी विद्यालय (Halkabandi Schools) ३१७-३१८
हार्डिंज, लार्ड (Lord Hordinge) ३१३
हार्वेट ४६६
हिन्दी राष्ट्रभाषा (Hindi, the National Language) ५५६, ७५४, ८४१
हेयर, डेविड (David Hare) ३२७-३२८
हैदराबाद (बेसिक शिक्षा में प्रगति) ६१७-१८

BIBLIOGRAPHY

(सहायक पुस्तकों की सूची)

ANCIENT PERIOD

Altekar, A. S. : **Education in Ancient India,** Nanda Kishore & Bros, Banaras 1948.

Balmik : **Ramayan.**

Bohil, V. P. : **The History of Education in India.**

Bose, : **Indian Teachers of the Buddhist Universities.** Madras, 1925.

Chhandogya Upanishad.

Das, S. C. : **Indian Pandits in the Land of Snow,** Calcutta 1893.

Das, S. K. : **Educational System of Ancient Hindus.** 152, Panchanontola Road, Howrah, Calcutta, 1930.

Dharmshastra.

Kautilya Arthshastra.

Mookerjee, R. K. : **Ancient Indian Education.**

Keay, F. E. : **Ancient and Later Indian Education, Oxford.**

Macdonell, A. A. : **Sanskrit Literature.**

Mahabharat : Adi Parva

Manusmriti.

Maxmullar : **Lectures on Vedantic Philosophy.**

Muller F. Max : **Lectures on the Origin of Religions.**

Mundak Upanishad.

Mazumdar, N. N. : **Education in Ancient India.**

Muneshwar Prasad : **Bhartiya Shiksha ka Itihas.**

Padma Puran.

Panini.

Raja, C.Kunhar, : **Some Aspects of Education in Ancient India.**

Rawat, P. L. : **Bhartiya Siksha ka Itihas.**

Sacred Books of the East, Vols. XIII, XVII, XX, Vinaya Texts (Transtated by Rhys Davids and Oldenberg.)

Sankalia, H. D. : **The University of Nalanda.**

Sarkar, S. C. : **Educational Ideas and Institutions in Ancient India.** The 1925-26 Readership Lectures, Patna College, Patna.

Shatpath Brahman.
Subhashit Ratna Bhandar.
Ward, W. : **A View of the Hindoos.**
Yajnavalkya.

MEDIEVAL PERIOD

Ain-i-Akbari (Translated by H. Blochmann)

Barnier : **Travels in the Moghel Empire** (Translated by A. Courtable.

Barnier : **Travels.**

Cambridge History of India, Vol. IV.

Ishwari Prasad : **History of Medieval India,** The Indian Press, Ltd., Allahabad.

Jaffar, S. M. **Education in Muslim India,** Published by S. Muhammad Sadiq Khan, Peshawar, 1936.

Keay, F. E. : **History of Indian Education, Ancient and in later-times.**

Law, Narendra Nath : **Promotion of Learning in India during Mohammedan Rule.**

Maulvi, Abul Hasnat Nadia : **Hindustan ki Qidim Islam** (In Urdu)

Moreland, W. H. : **From Akbar to Aurangzeb.**

Muneshwar Prasad : **Bhartiya Shiksha ka Itihas.**

Nadavi : **Muslim Thought and Its Source.**

Rawat, P. L. : **Bhartiya Shiksha ka Itihas.**

Sufi, G. M. D. : **Al-Minhaj (The Eovlution of curriculum in the Muslim Educational Institutions in India)** Shaikh Muhammad Ashraf, Kashmiri Bazar, Lahore.

Waheed, A. : **Evolution of Muslim Education,** Ferozsons, Lahore, 1937.

MODERN PERIOD

Anderson, G., and Whitehead, H. : **Christian Education in India,** London, Macmillan, 1932, p. 116.

Aryanayakam, E. W. : **The Story of Twelve Years,** Sevagram, Hindustani Talimi Sangh, 1949, p. 16.

Bagal, J. C. : **Women's Education in Eastern India,** Calcutta, The World Press 1956, p. 132.

Basu, A. N.. : **Education in Modern India,** Calcutta, Orient Book Co., 1947, p. 184.

,, **University Education in India,** Calcutta. The Book Emporium, 1944. p. 166.

,, **Indian Education in Parliamentary Papers, Part I,** (1832), Bombay, Asia Publishing, 1952, p. 306.

,, **Primary Education in India : Its Future,** Calcutta, Indian Associated, Publication 1946, p.64.

Basu, B. D. : **Education in India,** Calcutta, Modern Review office, p. 208.

Besant, A. : **Higher Education in India—Past and Present,** Madras, Theosophical Publishing House, 1932, p. 120.

Bhagwan Dayal. : **The Development of Modern Indian Education** Bombay, Orient Longmans, 1955, p. 588.

Bomar-Behram : **Educational Controversies in India,** Bombay, D.B. Taraporevala, 1943, p. 633.

Chaturvedi, S. N. : **The History of Rural Education,** Allahabad, Indian Press, 1930, p. 241.

Chaube, S. P. **Secondary Education for India, 2nd Ed.** Delhi, Atma Ram & Sons, 1956, p. 227.

Chile, S. N. Language, : **Universities and Nationalism in India,** Oxford University Press, 1936.

Commission on Christian Higher Education in India (Lindsay Commission), : **An Enquiry into the Place of the Christian College in Modern India,** 1931, p. 388.

Desai, D. M. : **Universal Compulsory and Free Primary Education in India,** Bombay, Indian Institute of Education, 1953, p. 385.

Dongerkery, S. R. : **Universities and Their Problems,** Bombay, Hind Kitabs, 1948, p. 191.

Dongerkery, S. R. : **Universities and National Life,** Bombay, Hind Kitab 1950.

Ghosh. J. : **Higher Education in Bengal,** Calcutta, Book Co, 1926, p. 242.

Evans Brothers (Publishers) : **Year Books of Education** First and Second Five Year Plans. (Relevant portions only)

Godley, J. C. : **The Beginnings of Western Education in the Panjab,** 1917.

Hartog, P. : **Some Aspects of Indian Education**, Past and Present. London, Oxford 1939, p. 109.

Hindustani Talimi Sangh. : **Basic National Education,** Sevagram, 1939, p. 96.

Joshi, S. B. : **Education in Practice,** Madras, The Little Flower Co, 1955, p. 230.

Humayun Kabir : **Education in New India.**

Hindustani Talimi Sangh : **Educational Reconstruction,** Sevagram, 1950, p. 183.

Inter University Board (Publishers) : **A Hand Book of Indian Universities.**

Lajpat Rai, Lala : **The Problem of National Education in India,** 1920.

Lethbridge, Ropee, : **Higher Education in India,** London, Allen & Co., 1882, p. 216.

Leitner, G. W. : **History of Indigenous Education in the Punjab since Annexation and in** 1882. Govt, Printing Press, India. 1882.

Limaye, P. M. : **Education in India Today,** Decan Education Society, Poona, 1945, p. 140.

Mahmood, Syed. **A History of English Education in India,** 1781-1873, Aligarh, 1895, p. 274.

Kripalani, J. B. : **The Latest Fad Basic Education,** Hindustani Talimi Sangh, Sevagram, 1954, p. 102.

Mayhew, A. : **The Education of India,** London, Faber and Groyer, 1928, p. 306.

Mc. Cully B. T. : **English Education and Origins of Indian Nationalism,** New York, Columbia University Press, 1940, p. 418.

Meston, W. : **Indian Educational Policiy—Its Principles and Problems,** The Christian Literature society of India, Madras, 1936

Monk, F. F. : **Educational Policy in India—A Neglected Aspect,** Oxford University Press 1934.

Motwani, Kewal : **Universities and The Future in India,** Bombay, New Book Co., 1949, p. 168.

Mukerji, S. N. : **Education in India—Today and Tomorrow**, Baroda, Acharya Book Depot, 1957, p. 412.

" " **History of Education in India**, Baroda, Acharya Book Depot, 1957, p. 341.

" " **Higher Education and Rural Education**, Baroda, Acharya Book Depot, 1956, p. 342.

Muneshwar Prasad : **Bhartiya Shiksha ka Itihas, Vol II.** Patna, Shree Ajanta Press Ltd, 1957, p. 517.

Nichols, G. : **Sketch of the Rise and Progress of the Benares Pathshala on Sanskrit College**, Allahabad, 1907.

Nurullah, S. & Naik, J. P. : **A History of Education in India**, Bombay, Macmillan, 1951, p. 953.

O, Malley, L.S.S. : **Modern India and the West**, Oxford University Press, 1941.

Pandey, A & Pandey B. : **Bhartiya Shiksha Vikas ki Katha**,, Lucknow, Bal Sahitya Mandir, 1949, p. 334.

Pannikar, K. M. : **Essays on Educational Reconstruction in India**, Madras, Ganesham, 1920

Paranjpe, M. R. ed. : **A source Book of Modern Indian Education**, Bombay, Macmillan, 1938, p. 263.

Parulekar, R. V. **A Source Book of Education in the Bombay Province, Part I**, Bombay, Asia published. 1945, p. 118.

Publication Division : **Future of Education in India**, Government of India. 1945, p. 111

Rawat, P. L. : **Bhartiya Shiksha ka Itihas**, Agra, Bharat Publications 1956, p. 492.

Sai Yidain, K. G. & others : **Compulsory Education in India**, Paris, Unes Co, 1952, p. 191.

Sen, J. M. : **History of Elementary Education in India**, Calcutta, Book Co., 1933, p. 313.

Shrimali, K. L. **The Wardha Scheme**, Udaipur, Vidya Bhawan, 1949, p. 282

Singh, G. P. : **Hamari Shiksha**, Vanarsi, Hindi Pracharak Pustaklaya 1958, p. 347.

Singh, B. D. & Shastri, B. : **Bhartiya Shiksha ka Sankshipta Itihas,** Agra, Gaya Pd. & Sons, 1957, p. 229.

Siqneira, T. N. : **The Education of India,** London, Oxford, 1952 p. 282.

Srivastava, K. N. : **Education in Free India,** Bombay, Orient Longmans, 1951.

Sur and Dube : **Bhartiya Shiksha ka Itihas,** Kitab Mahal, Allahabad, 1957.

Swami Ramkrishnananda, **For Thinkers of Education,** Madrad, Sri Ramakrishna Math, 1948.

Thakkar, A. V. : **The Problems of Aborigines in India.**

Thomas, F. W. : **History and Prospects of British Education in India,** George Bell & sons, 1891.

Times of India (Publishers) : **The Indian Year Books** (Chapters on Education)

Treuelyan, Sir C. E. : **On Education of People of India,** (Longmans

Ullah, Salamat : **Examinations in India,** Calcutta, Orient Longman, 1951, p. 123.

Vakil, K. S. : **Education in India,** Lucknow, T.C.E. Journals & Publications Ltd, 1954, p. 325.

Varkey, C.J. : **The Wardha Scheme,** Bombay, Oxford, 1940, p. 176.

Vyas, K.C. : **The Devolopment of National Education in India,** Bombay, Vora and Co. 1954.

Zakir Hussain Committee Report on Basic Education.

Zellner, A. A. : **Education in India,** New York, Bookman Associates, 1951, p. 272.

Zutshi, M. A. : **Education in British India,** Allahabad, Indian Press Ltd. 1910.

B. SELECTED OFFICIAL PUBLICATIONS

Annuval Reviews on Education. 1913-14, 1914-15, 1915-16, 1916-17, 1918-19, 1919-20, 1920-21, 1922-23, 1923-24, 1924-25, 1925-26, 1927-28, 1928-29, 1929-30, 1930-31, 1931-32, 1932-33, 1933-34, 1934-35, 1935-36, 1937-38, 1938-39, 1947-48, 1948-49, 1949-50, 1950-51, 1951-52, 1952-53, 1953-54.

Howell, A. P. : **Education in India,** 1867-68, Calcutta, Government Printing.

„ **Education in British India,** prior to 1854, and in 1870-71, Calcutta, Government Printing.

India, A Reference Annual, 1955, 1956, 1957, 1958, 1959. The Publications Division, Government of India, New Delhi.

Monteath, A. M. : **Education in India,** 1865-66, Calcutta, Government Printing.

Proceedings of the Annual Meetings of Central Advisory Board of Education.

Report of the India' Education Commission (1882-83), Calcutta, Government Printing.

Report of Indian Universities Commission, 1902.

Report of the Secondary Education Reorganisation Committee, U. P. Lucknow, Superintendent Printing & Stationary, 1953, p. 120 & Appendices in 57 pages.

Report of the Secondary Education Commission, Government of India, 1953, p. 320.

Report on Vocational Education in India, (Wood-Abbott Report) 1937, p. 138.

Resolution on Indian Educational Policy, 1904.

Resolution on Indian Educational Policy, 1913, Calcutta University Commission's Report, 1917-19 (in thirteen volumes)

Richey, J. A. ed. : **Selections from Educational Records, Part II,** 1840-49, p. 504, Calcutta, Government Printing, 1922.

Rural Institutes, 1955, p. 77.

Post War Educational Development in India (Sargent Report), 1944, p. 118.

Report of the Indian Statutory Commission, (Hartog Report) 1929, p. 401.

Quinquennial Reviews of the Progress of Education in India (R. R.). 1886, 1887-92, 1892-97, 1897-1902, 1902-07, 1907-12, 1912-17, 1917-22, 1922-27, 1927-32, 1932-37, 1937-47, 1947-52.

Sharp, H. ed. : **Selections from Educational Records, Part I** 1781-1839, p. 225, Calcutta, Goverment Printing, 1920.

Various Reports and Pamphlets published by the Bureau of Education, Government of India, from time to time,

Universities Education Commission's Report, 1949, p. 747.

परिशिष्ट

भारतीय शिक्षा में कुछ अभिनव परीक्षण

शताब्दियों तक मुसलमानों एवं अंग्रेजों के शासन में तथा अनेक प्रकार के सामाजिक तथा राजनैतिक अत्याचार सहते रहने के पश्चात् भारतीय जनता में पराधीनता की बेड़ियों को काट फेंकने की भावना जागृत हुई और उसके फल-स्वरूप १८५७ ई० की क्रांति हुई जो कि भारतवासियों की अनुभवहीनता एवं सार्वजनिक सहयोग के अभाव के कारण असफल रही। अंग्रेजों ने भारतीय जनता की शारीरिक शक्ति को बुरी तरह कुचल दिया, परन्तु वे उसके मस्तिष्क को मूलतः परिवर्तित न कर सके। क्रांति का पौधा ऊपर से कट जाने के पश्चात् भी वहिर्मुखी स्रोतों में पनपने लगा। इनमें से एक अंकुर शिक्षा-क्रांति का भी था। भारतीय जनता पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति से मन ही मन घृणा करने लगी। समर्थ व्यक्तियों एवं समूहों ने इस प्रकार के शिक्षा-केन्द्रों एवं विद्यालयों की स्थापना का प्रयत्न आरम्भ किया जो कि भारत की प्राचीन वैदिक एवं बौद्धकालीन शिक्षा-पद्धति तथा वर्तमान के प्रगतिशील राष्ट्रों की शिक्षा-पद्धति के समन्वयस्वरूप हों।

इन विद्यालयों ने शिक्षार्थियों को विभिन्न विषयों की शिक्षा के अतिरिक्त राष्ट्रीयता की शिक्षा, सहकारिता एवं सहयोग-शिक्षा, सामाजिक एकता-शिक्षा आदि भी देने का संकल्प किया गया। यहाँ पर विदेशी भाषा, विदेशी वेशभूषा, जातीयता एवं छुआछूत की भावना आदि के वहिष्कार के साथ देशप्रेम, समाजप्रेम, स्वाधीनताप्रेम व मानव-प्रेम का पाठ भी सिखाने का उद्देश्य रक्खा गया। फलतः कुछ ऐसे स्वतन्त्र शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना हुई जो कि सरकार से अर्थ, व्यवस्था, पाठ्यक्रम आदि में तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखते थे। इनमें से प्रमुख विश्वभारती, वनस्थली विद्यापीठ, गुरुकुल काँगड़ी, जामिया मिलिया, अरविन्दु आश्रम, यस० यन० डी० टी० विश्वविद्यालय, विद्या-भवन उदयपुर आदि हैं। इस प्रकार के विद्यालयों को प्रारम्भ में सरकार के डर से जनता का हार्दिक सहयोग होते हुए भी साक्षात् और ठोस समर्थन न प्राप्त हुआ। परन्तु कालान्तर में विभिन्न राजनैतिक दलों की उत्पत्ति, राष्ट्रीय आन्दोलन एवं महात्मा गाँधी आदि नेताओं के प्रादुर्भाव ने इन संस्थाओं को विशेष बल दिया और इनको साहसिक जनता का पूर्ण सहयोग एवं समर्थन प्राप्त हुआ। ये संस्थाएँ पराधीनता-काल में उचित एवं प्रकाशपूर्ण वातावरण की आशा में राजनैतिक अमान्यता के साये में पनपती रहीं और भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के बाद विकसित होने लगीं। जनतन्त्र-शासन में आज ये विकसित

एवं आदर्श रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हैं। इनमें से अधिकांश का हम गत अध्यायों में यथास्थान उल्लेख कर आये हैं। परन्तु पाठकों की सुविधा के लिए यहाँ उनकी सविस्तार चर्चा की जा रही है।

विश्वभारती विश्वविद्यालय (शान्तिनिकेतन)

अंग्रेजी विद्यालयों की शिक्षा-पद्धति ही अँग्रेजी शासन की नींव को सुदृढ़ करने वाली मानी जाती है। इस पद्धति ने शिक्षितों को शारीरिक पराधीनता के साथ-साथ मानसिक पराधीनता भी स्वीकार कराई और ऐसे देशी साहब तैयार किये जो कि वेश-भूषा, भाषा, रहन-सहन, विचार-भावना से भी अँग्रेजों की दासता स्वीकार करने में अपना गौरव समझते रहे। परन्तु यही शिक्षा कुछ लोगों के लिये बचपन से ही घृणा की वस्तु रही। इनमें से एक ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर भी थे।[1] इन्हें प्रारम्भ से ही अँग्रेजी विद्यालयों एवं अँग्रेजी शिक्षा-पद्धति से घृणा रही। उनके मननशील मस्तिष्क की भावना थी कि अंग्रेजी शिक्षा एवं शिक्षण-विधि भारतीय परम्परा के एकदम प्रतिकूल है और इसकी कोई भी आधारभूत पृष्टभूमि नहीं। इस प्रणाली में आत्मा, मन एवं मस्तिष्क की शिक्षा द्वारा समन्वय स्थापित करने का अभाव है। विद्यार्थी एवं शिक्षक का कोई भी आध्यात्मिक[2] सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। अतः टैगोर के अन्दर किसी ऐसे आदर्श शिक्षा-केन्द्र की कामना थी, जहाँ पर शिक्षा के लिए विशेष वातावरण के साथ-साथ भारतीय भावना के अनुसार शिक्षा की सुविधा हो। टैगोर प्रकृति के प्रेमी कवि थे और भारतवर्ष की प्राचीन वैदिक कालीन आश्रम-शिक्षा तथा बौद्ध कालीन तक्षशिला एवं नालन्दा विश्वविद्यालयों की शिक्षा-पद्धति में उनकी पर्याप्त आस्था थी। अतः अपने पिता द्वारा ईश्वर-भक्ति के लिए स्थापित आश्रम शान्तिनिकेतन उन्हें एक ऐसा आदर्श स्थान लगा जिसे एक शिक्षा-केन्द्र में परिवर्तित किया जा सकता था। वे इस के वातावरण से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अवसर प्राप्त होते ही यहाँ एक शिक्षा-केन्द्र स्थापित कर दिया।

कविवर टैगोर के पिता ठाकुर देवेन्द्रनाथ को ब्रह्मसमाज से बहुत अधिक प्रेम था अतः एकान्त में निर्विघ्न होकर ईश्वर-भक्ति एवं चिन्तन के लिये कलकत्ता से सौ मील दूर वर्दमान जिले में भोलपुर रेलवे स्टेशन से लगभग १½ मील दूर एक भू-खंड को उन्होंने एक आश्रम का रूप दिया और वहाँ पर फल-फूल के वृक्ष तैयार किये तथा पूजन के लिए एक मन्दिर बनवाया। यह स्थान इतना

---

1. इस अध्याय में आप को टैगोर नाम से ही सम्बोधित किया जायगा।
2. Spiritual.

सुरम्य और प्राकृतिक गुणों से परिपूर्ण था कि बाबू देवेन्द्रनाथ टैगोर को यहाँ आकर पूर्ण शान्ति प्राप्त होती थी। अपनी इसी भावना के कारण उन्होंने इसका नाम शान्ति-निकेतन (शान्ति का भंडार) रखा। लगभग ग्यारह वर्ष की अवस्था में टैगोर ने इसे पहली बार देखा और पहली ही बार के देखने में इससे प्रभावित हो गये।

वयस्क होने पर कविवर टैगोर को अपनी जमींदारी के कामों की देख-रेख के लिये शान्तिनिकेतन में रहना पड़ा। उन्हें वहाँ के आसपास के गाँवों में जाना पड़ता था। इस प्रकार उन्हें आसपास की जनता के सुख-दुःख और शिक्षा-दीक्षा के बारे में अध्ययन करने का अवसर मिला और हर क्षेत्र में अभाव ही अभाव पाकर उनकी सहायता एवं सुधार के लिये इनमें रचनात्मक भावना पनपी। उन्होंने अपने पिता की स्वीकृति एवं समर्थन प्राप्त करके १६०१ ई० में एक स्वतन्त्र विद्यालय की स्थापना की जो कि सरकार अथवा किसी भी शिक्षा-सम्बन्धी नियन्त्रण से परे थी। इस विद्यालय की शिक्षा-पद्धति एवं नियम उनके विचारों एवं भावनाओं पर ही आधारित थे। प्रारम्भ में उनके केवल ५ छात्र थे और वे अकेले शिक्षक एवं आचार्य। टैगोर जैसे प्रकृति-प्रेमी एवं स्वतन्त्र भावना के व्यक्ति के लिये विद्यालय-भवन का होना एक गौण विषय था। उन्होंने वृक्षों की छाया एवं लता-कुंजों को ही अध्यापन-कक्ष बनाया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत गु और शिष्य के परस्पर सहयोग, पूर्ण सम्बन्ध एवं वेशभूषा एवं हर अवस्था में ज्ञानोपार्जन ही मुख्य ध्येय था। छात्रों की रुचि के विरुद्ध शिक्षा लादने के वे पूर्णतया विरोधी थे और विद्यार्थियों को रुचि के अनुसार अध्ययन के लिये उन्होंने पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी। उनका कार्य केवल विद्यार्थियों को उचित पथ-प्रदर्शन देना तथा उनमें अध्ययन की प्रेरणा उत्पन्न करना था।

धीरे-धीरे विद्यालय में छात्रों की संख्या-वृद्धि हुई और व्यय-सम्बन्धी परि-स्थितियाँ भी उत्पन्न हुईं जिसका निवारण उन्होंने अपने अर्जित धन से किया। उनकी पुस्तकों एवं उन पर प्राप्त पुरस्कारों का भी एक बड़ा भाग उन्होंने विद्यालय की व्यवस्था में खर्च किया। १६२२ ई० में छात्रों की संख्या अधिक होने पर विद्यालय के लिये विभाग, कार्यक्रम एवं तत्सम्बन्धी विधायकीय नियम-निर्धारण की आवश्यकता उत्पन्न हुई। उस समय उन्होंने इसका नाम 'विश्वभारती विद्यापीठ' रखा एवं उसके लिये उद्देश्य निर्धारित किया। कार्यों की सुविधा की दृष्टि से शिक्षण के विभिन्न विभाग बने जिन्हें 'भवन' नाम दिया गया। इसके मुख्य विभाग शिक्षा-भवन, कला-भवन, विद्या-भवन, संगीत-भवन, शिल्प-भवन, चीन-भवन तथा श्री-निकेतन हैं।

शिक्षा-भवन :—इसमें छात्रों को सामान्य शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान शिक्षा दी जाती है जो कि सभी छात्रों के लिये अनिवार्य होती है।

कला-भवन :—इसमें कला-सम्बन्धी रचनात्मक कार्य तथा विभिन्न प्रकार के चित्र बनाना आदि है।

विद्या-भवन :—इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की प्राचीन, नवीन व अर्वाचीन भारतीय भाषायें, साहित्य एवं दर्शन; जैसे संस्कृत, प्राकृत, पाली, हिन्दी, बँगला, उर्दू, वैदिक, बौद्ध एवं गुप्तकालीन भाषा एवं साहित्य का अध्ययन, विदेशी भाषाएँ; जैसे अरबी, फारसी आदि का अध्ययन एवं तत्सम्बन्धी शोधकार्य किया जाता है।

संगीत-भवन :—इसमें गान-कला, वादन, नृत्य एवंअ भिनय-कला आदि की शिक्षा रखी गई।

शिल्प-भवन :—इसमें नाना प्रकार की शिल्पकलाओं के रचनात्मक कार्य की शिक्षा तथा तत्सम्बन्धी कार्यों; जैसे शिल्पकला, शारीरिक श्रम आदि की शिक्षा दी जाती है।

चीन-भवन :—इसमें छात्रों को चीन की भाषा, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता की शिक्षा तथा चीन के छात्रों को भारतीय सभ्यता, संस्कृत भाषा एवं साहित्य की शिक्षा दी जाती है।

श्री-निकेतन :—यहाँ पर छात्रों का सामाजीकरण, उन्हें भारतीय परम्परागत उद्यम की शिक्षा; जैसे कृषि, गोपालन, ग्रामोद्योग एवं सुधार आदि की शिक्षा का अभ्यास तथा शोधकार्य करना तथा समाज के अन्य अंगों से सम्पर्क बढ़ाना सिखाया जाता है। इन कार्यों के लिए श्री-निकेतन के अन्तर्गत दो विभाग बनाये गये हैं। पहले विभाग में ग्रामोद्योग व ग्राम-संगठन, जिसके अन्तर्गत ग्रामों की प्रमुख समस्याओं; आर्थिक, सामाजिक, जनकल्याण एवं स्वास्थ्य आदि का अध्ययन तथा तत्सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने का कार्य किया जाता है। दूसरे विभाग में कुटीर उद्योगों[1] का अध्ययन एवं उनके विकास एवं प्रसार के कार्यक्रम बनाना तथा तत्सम्बन्धी कार्य के लिये प्रोत्साहन दिया जाता है। इसके अंतर्गत छात्रों को विविध गृह-उद्योगों; जसे बर्तन बनाना, काष्ठ-कला, जिल्दसाजी, धुनाई, बुनाई, सिलाई, कढ़ाई, चमड़ा सिझाना आदि का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

---

1. Department of Cottage Industries.

शिक्षा का उद्देश्य

विश्वभारती विश्वविद्यालय की शिक्षा का लक्ष्य टैगोर की उस महती भावना को मूर्त रूप देना है जो कि भारतीय एवं अन्य पूर्वीय एवं पाश्चात्य देशों की समय-समय की उच्च शिक्षा-भावना का समन्वय है। उनको भारत की बौद्धकालीन शिक्षा, जिसका प्रतिरूप पूर्वी देशों; जैसे चीन, जापान आदि की शिक्षा-पद्धति है, में अधिक विश्वास था। साथ ही साथ अपने यूरोप और अमेरिका के भ्रमण के समय वे वहाँ की स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धति से भी अधिक प्रभावित हुए जिसमें छात्रों में रूढ़िवादी विषय-शिक्षा लादने की अपेक्षा उनमें अध्ययनशील एवं ज्ञान के प्रति उत्सुकता की प्रवृत्ति विकसित करने की प्रेरणा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। अतः विश्वभारती विश्वविद्यालय के शिक्षा-लक्ष्य के निर्धारण में उनकी उपर्युक्त भावना प्रधान रही। उन्होंने किसी विषय-विशेष की शिक्षा की अपेक्षा देशीय एवं विदेशीय साहित्य, समाज एवं दर्शन के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया। वहाँ शिक्षा के मुख्य लक्ष्य निम्नलिखित हैं :—

(१) विश्वभारती को मनुष्य मात्र की एक शिक्षा-इकाई बनाना, जहाँ पर शिक्षा-पद्धति संसार के सभी प्रगतिशील राष्ट्रों की सामूहिक शिक्षा-आवश्यकता का एक समन्वय हो; तथा शिक्षा द्वारा विभिन्न देशों, राष्ट्रों, जातियों, वर्गों, समुदायों के आपसी भेद-भाव मिटाकर एक अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न हो।

(२) मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन तथा सत्यानुभूति के विभिन्न रूपों का तुलनात्मक विश्लेषण।

(३) पाश्चात्य देशों की सभ्यता, दर्शन एवं विचार का भारतवर्ष तथा एशिया के अन्य पूर्वी देशों से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना।

(४) पूर्वी एवं पश्चिमी देशों से विचार-विनिमय का सम्पर्क बढ़ाकर पूर्वी तथा पश्चिमी गोलार्धों के अर्ध को हटाकर पूरे गोले की सांस्कृतिक इकाई बनाते हुए विश्वभर में शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना।

(५) सभी पूर्वी देशों में मौलिक एकता लाने के लिये उनकी सभ्यता एवं संस्कृति के मूल स्रोतों का अध्ययन।

(६) विश्वभारती को देश के सभी समुदाय, सभी वर्ग, सभी धर्म की सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा के अनुकूल शिक्षा-केन्द्र बनाने के लिये समय-समय के तत्सम्बन्धी विचारों, भावनाओं एवं दर्शन का अध्ययन।

(७) विश्वभारती की शिक्षा सभी जाति, वर्ग एवं समुदाय के लिये सुलभ करना तथा छात्र, शिक्षक, कार्यकर्ता आदि के चुनाव में किसी प्रकार का भेदभाव न करना।

कार्यक्रम

विश्वभारती की स्थापना उन्मुक्त प्रकृति की गोद में होने के कारण वहाँ पर अध्ययन करने वाले छात्रों को छात्रावास-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसके लिये वहाँ पर उत्तम प्रबन्ध है। शिक्षा का अधिक अंश मननशीलता पर आधारित होने से सामान्य विद्यालयों की भाँति अध्ययन-अध्यापन का लम्बा समय वहाँ नहीं दिया गया है। शिक्षा-कार्यक्रम विद्यालय एवं आवास के लिये समान रूप से अनिवार्य है। जलपान, भोजन एवं विश्राम के समय-निर्धारण में भारतीय परम्परा का पालन किया गया है। विद्यालय का दैनिक कार्यक्रम ४½ बजे प्रातः से लेकर रात्रि के ६ बजे तक चलता है। सामूहिक अध्ययन-अध्यापन के लिये ६½ से १०½ बजे पूर्वाह्न तथा २ से ४ बजे अपराह्न का समय निर्धारित है। ४½ बजे प्रातः सबको उठ जाना होता है और तब से ६½ बजे तक का समय नित्यकर्म, निजी कक्ष एवं कक्ष की अन्य वस्तुओं की सफाई, व्यायाम, स्नान तथा उपासना आदि के लिये होता है। फिर अध्यापन-अध्ययन के पश्चात् १०½ से १ बजे तक का समय भोजन और विश्राम आदि के लिये निर्धारित है। १ से २ तक निजी अध्ययन के लिये समय है। ४ से लेकर ५ बजे अपराह्न का समय पुनः नित्यकर्म, कक्ष की सफाई तथा जलपान के लिये है और ५ से ६ बजे तक खेल-कूद एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कामों के लिये। ६½ से ७½ तक का समय सामूहिक अध्ययन एवं व्याख्यान के लिये निर्धारित है। यह कार्यक्रम बड़ा ही आकर्षक होता है। सभी छात्र एवं शिक्षक प्रकृति के मुक्त वातावरण में वृक्षों के नीचे बैठकर प्रसन्न मुद्रा में व्याख्यान का रसास्वादन करते हैं जिसका विषय प्रायः रुचिकर ही होता है। इसके पश्चात् का समय भोजन और तदन्तर विश्राम के लिये निर्धारित है।

ग्राम-संगठन-भवन

श्री-निकेतन के अन्तर्गत एक विस्तृत कार्यक्रमों का विभाग ग्रामोद्योग व ग्रामसंगठन-भवन है जिसके अन्तर्गत ग्राम-विकास एवं ग्राम-सम्बन्धी उद्योगों; जैसे

कृषि, पशुपालन, कुटीर-उद्योग एवं ग्राम-मंगल[1] सम्बन्धी कार्यक्रम हैं। इसका मुख्य ध्येय छात्रों को ग्राम-जीवन के निकट सम्पर्क में लाना, उसकी समस्याओं को समझना तथा उसके निवारण में उनको सहयोग देना है। छात्र ग्रामों में जाकर उनकी प्रमुख समस्याओं का अध्ययन करते हैं और फिर उस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करके ग्रामीणों की समस्याओं के निवारण का उपाय तय करते हैं, फिर वे ग्रामों में जाकर ग्रामीणों को उनकी समस्याओं के सम्बन्ध में उचित सम्मति देकर उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं और प्रयोगों के प्रभाव का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार ग्रामीण समस्याओं पर यहाँ शोध-कार्य किया जाता है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण सम्पर्क, अध्ययन के छात्रों के अन्य कार्यक्रम भी होते हैं; जैसे ग्रामीणों को स्वास्थ्य तथा सफाई सम्बन्धी पथ-प्रदर्शन एवं सहायता देना; उनको अपने सभी सम्भव कार्य स्वयं करने की प्रेरणा देना; सामाजिक एकता एवं सहकारिता-भावना के विकास के लिये प्रयत्न करना; अच्छी फसल उत्पन्न करने, सब्जी तैयार करने, उन्हें अच्छे भावों से बेचने, पशु-पालन आदि के सरल एवं सफल उपाय बताना; उन्हें शिक्षित करना; उनमें जागृति लाना आदि। इन कार्यक्रमों के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में समय-समय पर प्रशिक्षण-शिविर स्थापित होते हैं जिनमें ग्रामीण युवकों को उपर्युक्त कार्यक्रमों के प्रशिक्षण के साथ-साथ विभिन्न दस्तकारी की शिक्षा, युवक-मंगल-कार्यक्रमों तथा रचनात्मक कार्यों का अभ्यास; गृह-उद्योगों का प्रशिक्षण, कृषि तथा पशु-पालन सम्बन्धी प्रशिक्षण, प्राथमिक चिकित्सा, सामान्य सफाई एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यक्रमों का अभ्यास, अन्य साहसिक कार्यक्रमों; जैसे स्काउट, खेल, व्यायाम, ड्रामा आदि कार्यों के करने की प्रेरणा दी जाती है।

शान्ति-निकेतन में ग्राम-विकास अथवा ग्राम-संगठन-योजना के अन्तर्गत कृषि-विभाग तथा पशुपालन-विभाग है, जहाँ पर पशुओं के नस्ल-सुधार तथा अच्छी नस्ल-उत्पत्ति के कार्य होते हैं और पास की ग्रामीण जनता भी इससे लाभ उठाती है। इस विभाग की गोशाला से शुद्ध दूध, घी तथा मक्खन पूरे निकेतन को प्राप्त होता है। कृषि-विभाग के अन्तर्गत वैज्ञानिक ढंग से खेती के प्रयोग होते हैं जिससे ग्रामीण जनता को समय-समय पर उचित पथ दिखाकर आधुनिकतम कृषि-रीति अपनाने को प्रेरित किया जाता है। इसमें कृषक-युवकों को प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

सन् १९५१ ई० से विश्वभारती को केन्द्रीय सरकार ने विश्वविद्यालय की मान्यता देकर उसे आर्थिक सहायता देना स्वीकार कर लिया है। तब से यह अब केन्द्रीय विश्वविद्यालय हो गया है।

---

१. Village welfare.

गुरुकुल-शिक्षा

गुरुकुल-शिक्षा भारतवर्ष की प्राचीन आश्रम-शिक्षा की पुनरावृत्ति है। इसकी स्थापना काँगड़ी, हरद्वार, देहरादून, सासनी तथा बड़ौदा में स्थानीय आर्य-प्रतिनिधि सभा द्वारा की गई है। इस प्रकार की शिक्षा-भावना के स्रोत आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे, जिन्होंने पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए, आर्य संस्कृति एवं सभ्यता की पुनरावृत्ति के लिये आर्य-समाज की स्थापना की। अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति एवं उसके परम्परागत सामाजिक दोषों के निवारण हेतु उन्होंने भारतवर्ष में आर्य-कालीन गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता व्यक्त की थी। गुरुकुल का अर्थ होता है गुरु (शिक्षक) का परिवार। गुरुकुल-शिक्षा की व्यवस्था, इस प्रकार, ऐसी हुई जहाँ शिष्य और गुरु का एक स्थायी सम्बन्ध होता है और वह गुरु के परिवार का एक अंग बन कर शिक्षा ग्रहण करता है।

स्वामीजी ने अंग्रेजी शिक्षा के गुणों तथा दोषों का पूर्ण विश्लेषण किया था। उनके अनुसार अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के प्रतिकूल है। इसमें सबसे बड़ा दोष यह है कि यह भारतवासियों को पाश्चात्य का पोषक बनाती है। वे भारतवर्ष की प्राचीन भाषा और संस्कृति का अध्ययन प्रत्येक भारत-वासी के लिए अनिवार्य मानते थे जिससे जनता भारतवर्ष की चरमोत्कृष्ट सभ्यता एवं संस्कृति के प्रतीक वेदों का अध्ययन कर सके। तत्कालीन प्रचलित संस्कृत पाठशालाओं की शिक्षा में भी मौलिकता नहीं थी। पाठशालाओं के गुरुओं का आचरण जितना त्यागमय एवं साधक होना चाहिए उतना नहीं था। पाठशालाओं में केवल संस्कृत भाषा की शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से मिलने वाले सरकारी-पदों का आकर्षण इतना अधिक था कि केवल स्कृत भाषा की शिक्षा अपर्याप्त थी। इस कारण इस प्रकार की पाठशालाओं में छात्रों की संख्या बहुत कम होती थी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देश की परिस्थिति तथा आवश्यकता को देखते हुए आर्यकालीन गुरुकुल-शिक्षा के परिवर्द्धित रूप को कार्यान्वित करने के लिए इस प्रकार के गुरुकुलों की व्यवस्थापना की इच्छा व्यक्त की थी जहाँ पर एक निश्चित अवस्था के पश्चात् बालक पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर लेने तक रहे और उस काल में गुरुकुल को अपना घर तथा गुरु को अपने पिता तुल्य समझे। वहाँ पर निश्चित काल तक सभी प्रकार के भोग-विलास से दूर रह कर सादा एवं परिश्रम का जीवन बिताये तथा ब्रह्मचर्य का पालन करे। शिक्षक प्रत्येक छात्र की शिक्षा पर ध्यान दे, उनको समान रूप से देखे, उनसे स्नेह का भाव रखे तथा उन्हें परस्पर स्नेह-भाव बनाये रखने के लिये प्रेरित करे। सभी छात्रों के खान-पान, रहन-

सहन में समानता हो। अध्ययन से अधिक विद्यार्थियों के चरित्र एवं स्वास्थ्य-निर्माण पर ध्यान दिया जाय। शिक्षा प्रकृति के मुक्त वातावरण में जन-कोलाहल से दूर दी जाय। स्त्री और पुरुषों को अलग-अलग शिक्षा दी जाय। स्त्री-शिक्षा में भी संयम और चरित्र तथा स्वास्थ्य-निर्माण पर विशेष बल दिया जाय। शिक्षा-विषय एवं कार्यक्रम में प्राचीन-नवीन, भारतीय-पाश्चात्य का समन्वय हो। संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषाओं के साथ ज्योतिष, इतिहास, भूगोल तथा वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा दी जाय। शिक्षा-कार्यक्रम में वेदों का अध्ययन और अध्यापन भी रखा जाय। भारत की प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली आयुर्वेद को विकसित करने का प्रयत्न तथा इसके लिए शोध-कार्य की व्यवस्था हो।

गुरुकुल कांगड़ी, हरद्वार

यह भारतवर्ष का सबसे बड़ा गुरुकुल है। इसमें आज लगभग १५०० छात्र हैं। इसकी स्थापना १९०२ ई० में पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रमुख शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा पंजाब में हुई थी। १९२४ ई० में इसे हरद्वार के पास काँगड़ी नामक स्थान पर स्थानान्तरित किया गया। इसमें ६ वर्ष से ८ वर्ष तक के बालक प्रवेश पाते हैं और १४ वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात् वापस घर जाते हैं। इच्छुक विद्यार्थी दो वर्ष की विशेष शिक्षा प्राप्त कर विद्या-वाचस्पति की पदवी धारण कर सकते हैं। यहाँ पर शिक्षा-व्यवस्था स्वामीजी के विचारों के अनुसार है। गुरुकुल में छात्रों का जीवन आर्य-कालीन आश्रमों जैसा है। उन्हें २५ वर्ष की अवस्था तक सादा, परिश्रमपूर्ण एवं ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना पड़ता है। उन्हें नियमित आर्य-कालीन दैनिक कार्य-क्रम; जैसे यज्ञ, प्रार्थना, संध्या, हवन आदि करना पड़ता है। विद्यार्थियों को सात्विक एवं आस्तिक प्रवृत्तियों का अभ्यास कराया जाता है। गुरुकुल में आयुर्वेद-शिक्षा एवं उसके शोध-कार्य के लिए बहुत बड़ी प्रयोगशाला है जहाँ से निर्मित रसायन एवं औषधियाँ देश के सभी बाजारों में बिकती हैं। गुरुकुल के कई उप-केन्द्र हैं। छात्रों की माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा कुरुक्षेत्र में होती है। स्त्रियों की शिक्षा गुरुकुल के नियन्त्रण में महिला महाविद्यालय देहरादून में होती है। गुरु-कुल के किसी शिक्षा-स्तर पर परीक्षा नहीं होती। छात्रों के लिए प्रतिदिन का पाठ्यक्रम अगले दिन याद करके सुनाने का नियम है। वार्षिक आचरण एवं कार्य-विवरण पर वे अगली कक्षा में बढ़ा दिए जाते हैं। कक्षा के बाहर के कार्यक्रमों में स्वास्थ्य एवं व्यायाम को विशेष महत्त्व दिया जाता है। आजकल भारतीय व्यायाम-प्रशिक्षण के प्रमुख केन्द्र गुरुकुल ही हैं। शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। व्यय-वहन पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा तथा राजकीय अनुदान से होता है।

इसके अतिरिक्त पुरुषों का एक अन्य गुरुकुल वृन्दावन में है। इसकी स्थापना १९०२ ई० में सिकन्दराबाद में हुई थी जो बाद में वृन्दावन में स्थानान्तरित कर दिया गया। इसका प्रबन्ध उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा होता है। यहाँ की व्यवस्था एवं कार्यक्रम गुरुकुल काँगड़ी के अनुरूप हैं।

स्त्रियों के दो अन्य गुरुकुल कन्या गुरुकुल, सासनी (उत्तर प्रदेश) तथा आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा में हैं जहाँ कार्यक्रम एवं व्यवस्था उपर्युक्त जैसी ही है। स्त्रियों के गुरुकुल में सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त अधिकतर विषय कलात्मक हैं। आचरण एवं नियन्त्रण सम्बन्धी नियम छात्रों की भाँति छात्राओं के लिए भी अनिवार्य हैं।

श्री अरविन्दु आश्रम (पाण्डिचेरी)

इस आश्रम की स्थापना १९१० ई० में भारत के प्रसिद्ध आध्यात्मिक साधक तथा योगी श्री अरविंदु ने योग एवं साधना के लिए पाण्डिचेरी में की थी। यहाँ पर आठ साधकों का एक परिवार रहने लगा था। श्री अरविंदु की साधना का मुख्य ध्येय 'पूर्ण योग' तथा 'पूर्ण शिक्षा' था जिसके अन्तर्गत प्रमुख कार्यक्रम भारतीय प्राचीन एवं अर्वाचीन जीवन-दर्शन तथा अध्यात्म के अध्ययन, चिन्तन एवं मनन द्वारा विश्वकल्याण के कार्यक्रम निर्धारित करना; साधना तथा योग द्वारा मानव में सत्य, प्रकाश, शक्ति एवं चेतना जागृत करना; ईश्वर-भक्ति एवं चिन्तन की प्रवृत्ति का विकास करना जिससे लोगों का अहंभाव नष्ट हो और साधना द्वारा आत्मा उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच कर ईश्वर से साक्षात्कार कर सके। श्री अरविंदु का 'पूर्ण शिक्षा' सिद्धान्त भी भारतीय एवं इतर-भारतीय लोगों के समय-समय के अध्यात्म एवं जीवन-दर्शन का अध्ययन तथा समन्वय उपस्थित करना, आश्रम को अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा का केन्द्र बनाना आदि था। उनका विश्वास आध्यात्मिक शिक्षा की ओर अधिक था और वे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास को ही शिक्षा का मूल स्रोत मानते थे।

इसका विकास प्रारम्भ में आश्रम के रूप में ही हुआ। यहाँ पर अरविंदु-दर्शन से प्रभावित विभिन्न जातियों एवं धर्मों के वयस्क एवं वृद्ध आकर एक परिवार के रूप में रहने लगे। १९२० ई० में इस दर्शन से प्रभावित एक फ्रान्सीसी महिला इस आश्रम में आईं। इन्हें अब 'दी मदर' के नाम से पुकारा जाता है। इनके सहयोग से आश्रम का पर्याप्त विस्तार हुआ और बहुत से विदेशीय, विशेषकर पाश्चात्य देशों के लोग भी इस आश्रम में सम्मिलित हुए और आश्रम की ख्याति पाश्चात्य देशों में दूर-दूर तक फैली। १९४२ ई० तक यह आश्रम एक आध्या-

त्मिक चिन्तन एवं साधना का केन्द्र ही रहा। यहाँ पर नये-नये सदस्य आकर उन्मुक्त वातावरण में एक परिवार के रूप में रहने लगे जो कि अरविंदु-दर्शन के कार्यक्रम-विशेष के अतिरिक्त सभी कार्यों में पूर्णतया स्वतन्त्र थे और आश्रम में दूर-दूर बने भवनों में रहते तथा एक निर्धारित परम्परा के अनुसार आचरण करते थे। आश्रमवासियों की सभी आवश्यकताओं का उचित प्रबन्ध आश्रम में उपलब्ध था और अधिकतर कार्य स्वयं करने की परम्परा थी।

आश्रम-स्कूल

आश्रम के बहुत से सदस्य सपरिवार रहते थे अतः उनके बच्चों की शिक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए १९४३ ई० में आश्रम के अन्दर एक प्रारम्भिक विद्यालय की स्थापना की गई जिसमें सामान्य शिक्षा के साथ बालकों को श्री अरविंदु के अध्यात्म एवं अन्तर्निहित शिक्षा-प्रवृत्ति का परिचय एवं अभ्यास कराया जाता था। प्रारम्भ में विद्यालय में केवल ३२ बालक थे। कालान्तर में आश्रम के ध्येय से प्रभावित पाण्डिचेरी-निवासियों के बालक भी आश्रम-विद्यालय में आने लगे। बालकों की संख्या-वृद्धि के फलस्वरूप विद्यालय का विस्तार हुआ, शिक्षा-स्तर बढ़ा कर माध्यमिक शिक्षा तक कर दिया गया। विद्यालय में शिक्षण के विषय बढ़ाये गये। सामान्य शिक्षा के साथ-साथ कई प्रकार की भारतीय एवं पाश्चात्य भाषायें; जैसे अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि, उनके साहित्य तथा वैज्ञानिक एवं कलात्मक विषयों के शिक्षण की सुविधा की गई। यहाँ पर सभी शिक्षक आश्रम-परिवार के ही हैं जिन्हें कोई वेतन नहीं दिया जाता। उनके पारिवारिक व्यय का प्रबन्ध आश्रम की प्रचलित परम्परा के अनुसार आश्रम से प्राप्त होता रहता है। शिक्षा के लिए न तो वहाँ कोई परीक्षा होती है और न शिक्षा-स्तर की किसी शिक्षा-परिषद अथवा विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त है। छात्रों को एक कक्षा से दूसरी कक्षा में उनके वार्षिक कार्यों एवं आचरण की आख्या के अनुसार प्रवेश मिल जाता है। वहाँ के सर्वोच्च माध्यमिक स्तर को भारतवर्ष तथा फ्रांस के शिक्षा-विभागों ने इस प्रयोजन के लिये अपने माध्यमिक शिक्षा-स्तर के बराबर मान लिया है कि आश्रम के विद्यार्थी समकक्ष परीक्षा में बैठ सकते हैं। अतः आश्रम के विद्यार्थी जो कि भारत अथवा फ्रांस की किसी मान्यता प्राप्त परीक्षा में बैठना चाहते हैं उन्हें आश्रम-विद्यालय में परीक्षा के लिए निर्धारित विषय अथवा पाठ्यक्रम के अनुसार विषय-शिक्षण की सुविधा दी जाती है। अन्य शिक्षा-आश्रमों की भाँति यहाँ छात्रों के आवास की कोई विशेष व्यवस्था नहीं है, क्योंकि अधिकतर छात्र आश्रमवासियों अथवा समीपवर्ती नगर-निवासियों के बालक हैं जो कि दिन भर शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् संध्याकाल अपने निवास-स्थानों को चले जाते हैं। अगर कभी किसी छात्र-

विशेष के लिए आवास की आवश्यकता हुई तो आश्रम की ओर से उसके लिये प्रबन्ध हो जाता है।

शिक्षा की व्यवस्था नवोदिता (अब स्नेहमयी मदर) की देख-रेख में होती है। छात्रों को सामान्य शिक्षा एवं विषय-शिक्षा के साथ-साथ उनमें व्यक्तिगत विकास एवं सामूहिक तथा स्वतन्त्रतापूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति का अभ्यास कराया जाता है। शिशु-शिक्षा के लिये नर्सरी एवं शिक्षा-उद्यान-पद्धति भी अपनाई गई है। शिक्षा का सामान्य माध्यम फ्रेंच ही रखा गया है। परन्तु अन्य भाषा-भाषी बालकों के लिए भाषा-कठिनाई के निवारण की व्यवस्था है। उन्हें अलग-अलग वर्गों में रखकर शिक्षा दी जाती है। भाषा-माध्यम के अतिरिक्त ज्ञान-स्तर, क्षमता एवं रुचि के अनुसार भी कक्षा के बालकों का वर्गीकरण किया जाता है और उन्हें अलग-अलग वर्गों में शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था में अधिक अध्यापकों की आवश्यकता तो होती है, परन्तु इससे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि छात्रों की शिक्षा-पृष्ठभूमि सुदृढ़ होती है और उनमें मौलिकता आती है।

श्री अरविन्दु अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय-केन्द्र

१९५० ई० में योगी अरविंदु के देहावसान के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अध्यात्म, योग, गणित, दर्शन, समाजशास्त्र आदि के अध्ययन तथा भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षा का समन्वय स्थापित करने तथा आपसी सम्बन्ध-विकास के लिये श्री अरविंदु अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। यह विद्या-केन्द्र आश्रम-विद्यालय का एक विस्तृत रूप है तथा सभी धर्मों, जातियों, देशों, वर्गों एवं वर्णों के लोगों के लिए उपलब्ध है। पूरे आश्रम की शिक्षा-व्यवस्था में किसी भी धार्मिक कर्मकांड की शिक्षा के लिए निषेध है। हर धर्म के लोग अपनी मान्यता के बारे में स्वतन्त्र हैं। श्री अरविंदु की भावनाओं के मूर्त-रूप इस आश्रम की शिक्षा भी शिक्षा-क्षेत्र में एक प्रयोग है जहाँ पर प्राचीन एवं नवीन, पूर्वीय एवं पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का एक समन्वय स्थापित्त किया गया है।

जामिया मिलिया इस्लामिया

जामिया मिलिया इस्लामिया की स्थापना १९२० में अलीगढ़ में प्रमुख मुसलमान नेताओं द्वारा भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग देने के लिये, मुसलिम-एकता स्थापित करने, तथा महात्मा गांधी के आदर्श शिक्षा सम्बन्धी विचारों का प्रयोग करने के लिए की गई थी। इन नेताओं में प्रमुख थे डा० अन्सारी तथा हकीम अजमल खाँ। इन्हीं लोगों के सतत् प्रयत्न से १९२५ ई० में इस संस्था को अलीगढ़ से हटाकर राजनैतिक केन्द्र दिल्ली में स्थापित किया गया। इसकी स्थापना

का प्रमुख उद्देश्य मुसलमानों में ऐसी धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित शिक्षा-व्यवस्था का प्रसार करना है जो कि मुसलमानों में एकता एवं राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति विकसित करे। ऐसी शिक्षा का प्रसार करना जो कि मुसलमानों को जातीयता एवं रूढ़वादिता के स्तर से ऊपर उठाकर ऐसे स्तर पर ले जाय जहाँ वे अपने को सम्पूर्ण राष्ट्र का अंग समझते हुए राष्ट्र की स्वतन्त्रता एवं कल्याण के लिए उचित सहयोग दे सकें, अन्य धर्मावलम्बियों से पारस्परिक प्रेम पैदा करके देश में सुख-शान्ति स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हों।

१९२८ ई० में जामिया मिलिया इस्लामिया का प्रबन्ध वहाँ के कार्यकर्त्ताओं के हाथ में सौंप दिया गया। वहाँ के शिक्षकों एवं अन्य अधिकारियों ने प्रबन्ध तथा व्यवस्था के लिये 'अंजुमने तालीमे मिल्ली' नामक परिषद का निर्माण किया और उसके सभी सदस्यों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे लोग आगामी २० वर्षों तक १५० रुपये प्रति माह के निम्नतर-वेतन[1] पर कार्य करते रहेंगे और अपने वेतन में किसी भी प्रकार के वृद्धिक्रम की माँग नहीं करेंगे। १९३८ ई० में इस परिषद का नाम परिवर्तित करके जामिया मिलिया इस्लामिया समिति[2] रखकर इसे शासकीय नियमानुसार सूची-बद्ध[3] करा दिया गया। तब से लेकर आज तक यह संस्था बराबर बढ़ती जा रही है। इसके द्वारा निर्धारित कार्यक्रम बेसिक तथा प्रौढ़ शिक्षा-क्षेत्र में एक सफल परीक्षण है।

जामिया मिलिया इस्लामिया में प्राथमिक शिक्षा-स्तर से लेकर उच्च शिक्षा-स्तर तक शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। इसके प्रमुख विद्यालय निम्नलिखित हैं :—

१. **प्रारंभिक आवास-विद्यालय**[4]:—यह वर्धा-योजना की बेसिक शिक्षा के सिद्धान्तों पर आधारित एक प्राथमिक पाठशाला है जिसमें बालकों की सृजनात्मक एवं कलात्मक प्रवृत्ति के विकास तथा शिक्षक एवं बालकों के पारस्परिक सम्बन्ध-वृद्धि के लिये विशेष प्रयत्न किया जाता है। इस विद्यालय में बालकों को सामान्य शिक्षण के अतिरिक्त शिल्प, कारीगरी, बागवानी के कार्यों में शारीरिक परिश्रम का अभ्यास कराया जाता है। बालकों के इस विद्यालय में एक प्रजनन-क्षेत्र[5], एक

1. Fixed Minimum Salary.
2. Jamia Milia Islamia Society.
3. Registered.
4. Residential Primary School.
5. Poultry Form.

मिठाई एवं फलों की दूकान, एक बैंक तथा एक पुस्तकों एवं लेखन-सामग्री[1] की दूकान हैं।

२. माध्यमिक बहु उद्देश्यीय आवास-विद्यालय[2] :—इस विद्यालय के छात्र सामान्य-शिक्षा के साथ प्रगतिशील शारीरिक श्रम के कार्यों के तथा विभिन्न प्रकार के रचनात्मक कार्यों जैसे रेडियो आदि साधारण मशीनों पर कार्य करना, सिलाई, काष्ठ-कला आदि को करते हैं। इनके द्वारा बनाये गये सामानों के प्रदर्शन के लिए "दिल्ली अजायबघर"[3] नाम का एक विभाग है।

३. उच्चतर माध्यमिक आवास-विद्यालय[4] :—इसके अन्तर्गत छात्रों को सामाजिक शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण, कृषि-विज्ञान आदि के प्रयोगात्मक प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। छात्रों के लिये कलात्मक एवं सामाजिक विषयों के विस्तृत अध्ययन की सुविधा उपलब्ध है। सामाजिक शास्त्र के विद्यार्थी समीपवर्ती ग्रामों में जाकर सामाजिक शिक्षा-कार्यक्रमों का प्रयोग करते तथा जनता से सम्पर्क स्थापित करते हैं।

४. शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालय[5] :—शिक्षकों को बेसिक शिक्षा-सिद्धान्तों के अनुसार प्रशिक्षण देने का कार्य इस विद्यालय में होता है। इसमें निम्नतर एवं उच्चतर विषय-क्रमों में प्रशिक्षण की व्यवस्था है। सफल छात्राध्यापकों को क्रमशः प्रमाणपत्र[6] एवं डिग्री दी जाती है।

५. ग्रामीण अर्थ-शास्त्र एवं समाज-शास्त्र शिक्षण-केन्द्र[7] :—इसमें ग्रामीण समाज तथा ग्रामीण समस्याओं के अध्ययन एवं तत्सम्बन्धी शोध-कार्य होता है। सफल विद्यार्थियों को पोस्ट-ग्रेजुएट की डिग्री दी जाती है।

६. ग्रामीण शिक्षा-केन्द्र[8] :—इसमें ग्रामीण क्षेत्रों में बेसिक शिक्षा के प्रसार के सम्बन्ध में खोज का कार्य होता है। ग्रामीण बेसिक पाठशालाओं के लिये पथ-प्रदर्शन, निर्देशन, नियन्त्रण, पाठ्यक्रम, शिक्षण-व्यवस्था, पुस्तकें, शिल्प एवं

---

1. Books and Stationery Shop.
2. Residential Multipurpose High School.
3. Delhi Museum.
4. Residential College.
5. Training Institute for Teachers.
6. Certificate or Diploma.
7. Institute of Rural Economics and Sociology.
8. Institute of Rural Education.

कला-सम्बन्धी कार्य, उनका मूल्यांकन, निर्मित वस्तुओं के उपयोग आदि के बारे में विचार-विमर्ष होकर कार्यक्रम निर्धारित होता है।

७. **बच्चों की बिरादरी**[1] :—इसके अन्तर्गत बालकों के खेल-कूद आदि बाह्य कार्यक्रमों के लिये उचित वातावरण की सृष्टि करने तथा आवश्यक सुविधा प्रदान करने का कार्य होता है। आजकल इसके द्वारा सार्वजनिक बाल-मंगल-योजना के कार्यक्रम चलाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त इतिहास एवं राजनीति में माध्यमिक एवं उच्चतर माध्यमिक स्तरों के लिये पुस्तकें तैयार करने की संस्था; जामिया मिलिया संस्था के सभी स्तरों की पाठ्य-पुस्तकें आदि के छापने के लिये मकतब जामिया लिमिटेड[2]; सभी स्तरों के कला-अध्यापकों को प्रशिक्षण देने वाला एक कला-शिक्षा-केन्द्र[3]; तथा प्रौढ़ शिक्षा के लिये कार्यक्रम बनाने तथा साहित्य एवं पुस्तकें तैयार करने वाला प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्र[4] है। इस प्रकार के सभी विद्यालयों के सामूहिक सहयोग से जामिया मिलिया देश भर में बेसिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा तथा ग्रामीण शिक्षा में सहयोग देती है।

विद्याभवन, उदयपुर[5]

विद्याभवन, उदयपुर राजस्थान में स्थित शिक्षा की एक स्वतन्त्र संस्था है जिसका प्रबन्ध विद्याभवन-समिति द्वारा सम्पन्न होता है। इस संस्था के अन्तर्गत शिक्षा के सभी स्तरों, शिशु-शिक्षा से लेकर उच्च स्नात्य शिक्षा की व्यवस्था है। इसकी स्थापना १९३१ ई० में डा० मोहन सिंह मेहता ने एक छोटे से विद्यालय के रूप में की थी जिसने कि २८ वर्षों में अत्यधिक प्रगति की। आजकल विद्याभवन समिति के नियन्त्रण में एक निम्नतर माध्यमिक विद्यालय, जिसमें शिशु-शिक्षा के लिये नर्सरी विभाग तथा प्राथमिक शिक्षा के अलग विभाग हैं; एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय[6] जिसमें माध्यमिक एवं कालेज-स्तर की शिक्षा-व्यवस्था है। यह डा० मेहता द्वारा स्थापित मूल विद्यालय है। एक उच्चतर बेसिक विद्यालय, जो वर्धा-योजना के सिद्धान्तों पर ग्रामीण क्षेत्र में शिक्षाप्रसार के कार्यक्रम बनाता एवं प्रयोग करता है; एक शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय जिसमें माध्यमिक शिक्षा-स्तर के शिक्षकों

1. Children's Brotherhood.
2. The Maktaba Jamia Limited.
3. Institute of Art Education.
4. Institute of Adult Education.
5. Vidya Bhawan Society, Udaipur.
6. Higher Secondary School.

के प्रशिक्षण के लिये बी० एड०, एम० एड० के पाठ्यक्रम-शिक्षण की व्यवस्था के साथ पी० एच० डी० डिगरी के लिये शोधकार्य भी होते हैं। यह विद्यालय राजपूताना विश्वविद्यालय से सम्बद्ध[1] है। इसमें समाजसेवा-प्रशिक्षण का एक विशेष पाठ्क्रम है; तथा एक हस्तकला-प्रशिक्षण-केन्द्र[2] जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की हस्तकला एवं शिल्पकला में अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाता है।

विद्याभवन समिति, उदयपुर की स्थापना में इसके व्यवस्थापक डा० मेहता का मुख्य लक्ष्य शिक्षा के कार्यक्रम-विशेष के माध्यम से समाज-सुधार, समाज-सेवा, ग्राम्य विकास एवं सार्वजनिक जागरण के सन्देश प्रसारित करना था। उन्होंने इस कार्य के लिये एक छोटे से विद्यालय की स्थापना की थी जिसने कुछ वर्षों में ही आशातीत सफलता प्राप्त की और आज अपने विस्तृत रूप में विद्यमान है। इसके द्वारा निर्धारित लक्ष्य-पूर्ति के शोधकार्य एवं प्रयोगात्मक परीक्षण के कार्यक्रम वर्ष भर चलते रहते हैं। आजकल इसे भारत सरकार से आर्थिक सहायता एवं शिक्षा-संरक्षण प्राप्त है और इसका अधिकाधिक प्रसार हो रहा है। शिक्षा के माध्यम से समाज-सेवा एवं ग्राम-विकास का यह एक सफल प्रयोग है। पूरे विद्याभवन के छात्रों एवं छात्राध्यापकों को उचित सामाजिक व्यवहार की प्रवृत्ति के विकास के लिये विशेष रूप से प्रेरित किया जाता है। बेसिक शिक्षा प्रसार-क्षेत्र में विद्याभवन का योग सर्वदा प्रशंसनीय है।

यस० यन० डी० टी०[3] महिला विश्वविद्यालय, पूना

इस विश्वविद्यालय का नामकरण संस्था को सबसे बड़ी आर्थिक सहायता प्रदान करने वाले बम्बई के एक प्रमुख व्यवसायी श्री ठाकरसी की माता के नाम पर 'श्रीमती नत्थीबाई दामोर ठाकरसी विश्वविद्यालय' रखा गया। इस संस्था के व्यवस्थापक प्रोफेसर कर्वे थे जिन्होंने प्रारम्भ में हिन्दू विधवाओं को आश्रय देने, उनकी प्राकृतिक एवं भावनात्मक प्रवृत्तियों को शिक्षा के माध्यम से नियंत्रित करने तथा उनके अवकाश-काल के सदुपयोग के लिये एक शिक्षा-संस्था की स्थापना की थी। कालान्तर में विद्यालय की शुभचिन्तक स्थानीय जनता के सुझावों एवं सहयोगों द्वारा उसी विद्याभवन में बालिकाओं की शिक्षा के लिये एक प्रारम्भिक पाठशाला तथा कुछ काल पश्चात् एक माध्यमिक पाठशाला की स्थापना की गई।

---

1. Affiliated.
2. Institute of Handicraft.
3. S. N. D. T. Women's University, Poona or Srimati Nathibai Damodar Thackersey University, Poona.

इसकी स्थापना एक स्वतन्त्र संस्था के रूप में की गई थी। सम्बन्धित शिक्षा के सभी स्तरों के पाठ्यक्रम एवं कार्यक्रम प्रोफेसर कर्वे की विचारधारा एवं भावना के अनुसार निर्धारित किये गये थे। यह स्त्री-शिक्षा की संस्था बिना किसी शासकीय मान्यता की अपेक्षा के निरन्तर बढ़ती गई। इसके अन्तर्गत स्त्रियों के कालेज-स्तर की शिक्षा तथा प्राथमिक एवं निम्नतर माध्यमिक स्तर के अध्यापकीय प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। १९१६ ई० में उच्च स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता प्रतीत होने पर इसमें स्नातकीय तथा उच्च स्नातकीय[1] शिक्षा की व्यवस्था की गई और इसे एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय घोषित किया गया। सन् १९५१ ई० में सरकारी नियमों के अनुसार इस विश्वविद्यालय को मान्यता प्राप्त हो गई। आज इसके द्वारा नियंत्रित कन्या-विद्यालय बम्बई राज्य भर में फैले हैं और बम्बई, अहमदाबाद, बड़ौदा, पूना आदि प्रमुख नगरों में महिला कालेज स्थापित हैं।

शिक्षा का उद्देश्य एवं कार्यक्रम:—प्रोफेसर कर्वे का विचार था कि शिक्षा का भावी जीवन में उपयोगी होना आवश्यक है अतएव जब कि सामाजिक एवं वास्तवक जीवन में स्त्री एवं पुरुष के कार्य अलग-अलग हैं तो उनके शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम एवं विषय भी अलग-अलग होने चाहिये। उनके विचार से स्त्री-शिक्षा के विषय तथा कार्यक्रम ऐसे होने चाहिये जो कि छात्राओं के भावी जीवन के कार्यक्रमों में सहायक हों तथा उन्हें एक सफल पत्नी, गृहिणी एवं माँ बनाने की क्षमता रखते हों। अतः उन्होंने पाठ्यक्रम-निर्धारण में स्त्री-सुलभ गुणों के विकास को ही प्रधानता दी।

यह विश्वविद्यालय अपने से सम्बद्ध विद्यालयों एवं कालेजों की परीक्षा, नियंत्रण एव विधायकी संस्था है जिसे शासकीय मान्यता प्राप्त है। विश्वविद्यालय के प्रमुख विधायकी कार्यक्रम स्त्रियों के लिये उच्च शिक्षा एवं सभी स्तरों के अध्यापकीय प्रशिक्षण की व्यवस्था करना; स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम एवं पाठ्यक्रम निर्धारित करना; सभी प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिये प्रमाण-पत्र, डिप्लोमा, एवं डिगरी देना आदि है।

यह संस्था स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री-सुलभ गुणों के विकास का एक सफल प्रयोग है और इसके अधिकाधिक प्रसार की आशा है।

वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

वनस्थली विद्यापीठ के व्यवस्थापक राजस्थान के एक समाजसेवी कार्यकर्त्ता श्री हीरालाल शास्त्री थे। इन्होंने जयपुर से ४५ मील दूर एक गाँव में, जहाँ के

1. Post Graduate.

आस-पास की ग्रामीण जनता गरीब तथा अशिक्षित थी, समाज-सेवा के कार्यक्रम के लिये एक आश्रम बनाया और वहाँ से वे समाज-सुधार के कार्यक्रम आयोजित करते थे। वहीं पर उनकी पुत्री का देहान्त हो गया। अतः अपनी पुत्री की स्मृति-स्वरूप उन्होंने आश्रम में ही बालिकाओं की एक पाठशाला खोली। उनकी लगन एवं सतत् परिश्रम के फलस्वरूप उसका तीव्रता से प्रसार हुआ और १९४२ ई० में पाठशाला को उच्च कक्षाओं तक बढ़ाकर इसका नाम वनस्थली विद्यापीठ रखा गया। स्थानीय वातावरण की आवश्यकतानुसार शास्त्री जी के कार्य तथा उनके विद्यापीठ सभी की सरकारी, गैरसरकारी लोगों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की और उन्हें भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के पश्चात् हर वांछित सहयोग एवं सहायता प्राप्त होती रही। आज उसका एक विकसित रूप हमारे सम्मुख है और उसके अधिकाधिक प्रसार की आशा है। सभी पाठ्यक्रम, कार्यक्रम एवं व्यवस्था सामान्य विद्यालय-स्तर के होते हुए भी इसमें स्वास्थ्य, आचरण, सादगी, मितव्ययिता सामाजिकता, राष्ट्रीयता आदि के कार्यक्रम-विशेष के कारण इसे भी नारी-शिक्षा-क्षेत्र में एक श्रेष्ठ प्रयोग माना जाता है।

वनस्थली विद्यापीठ में इस समय विभिन्न जाति, वर्ग एवं समुदाय की लगभग ७०० छात्रायें विभिन्न कक्षाओं में शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। इस विद्यापीठ में एम० ए० तक के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। पूर्व प्राथमिक स्तर से लेकर विश्व-विद्यालय-स्तर की शिक्षा के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्था है। इसमें इन्टर मीडियेट कक्षा से लेकर एम० ए० तक की शिक्षा राजस्थान विश्वविद्यालय के अन्तर्गत है। इसके अतिरिक्त इसमें भारत सरकार द्वारा प्रतिपादित माध्यमिक शिक्षा-स्तर के लिये तीन वर्ष का शिक्षा-कार्यक्रम भी है। माध्यमिक शिक्षा-स्तर पर बहु उद्देश्यीय[1] पाठ्यक्रम है। इसी स्तर का दो वर्षीय पाठ्यक्रम भी है। पूर्व-प्राथमिक स्तर पर शिशु-कक्षा की व्यवस्था है। प्राथमिक एवं निम्नतर माध्यमिक स्तरों पर कक्षा १ से लेकर ८ तक सामान्य शिक्षा की व्यवस्था है।

यह विद्यापीठ केवल छात्राओं के लिये है। इसमें शिक्षा-पाठ्यक्रम एवं विषय सामान्य होते हुए भी इसमें स्त्रियों में भारतीयता के विकास का प्रयत्न किया जाता है। अध्ययन के साथ-साथ बालिकाओं में स्वास्थ्य, सादगी एवं चरित्रनिर्माण पर विशेष बल दिया जाता है, उनमें सादे रहन-सहन के अभ्यास के साथ उच्च, सहयोगपूर्ण एवं सात्विक प्रवृत्ति के विकास की भावना लाने का प्रयत्न किया जाता है। उनमें साहसी एवं उत्साही भावना विकसित करने के लिए अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग तथा घुड़सवारी की शिक्षा दी जाती है। यहाँ पर शिक्षा के पाँच

1. Multi-purpose.

मुख्य लक्ष माने गये हैं। प्रथम नैतिकता की शिक्षा, द्वितीय बुद्धि-विकास के लिये शिक्षा, तृतीय कलात्मक विषयों की शिक्षा, चतुर्थ व्यवहार की शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा तथा पंचम अथवा अंतिम स्वास्थ्य एवं शारीरिक विज्ञान तथा व्यायाम की शिक्षा। इसके साथ-साथ उन्हें राष्ट्रीयता, अपने कार्य स्वयं करना, सामाजिक एवं देश के सार्वजनिक कार्यों में सहयोग करना, समाज में अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के उचित उपभोग, राष्ट्रप्रेम, समाजप्रेम तथा प्रत्येक स्तर के सार्वजनिक सेवा-कार्यक्रमों का प्रशिक्षण दिया जाता है। शिक्षण एवं प्रशिक्षण-कार्यक्रमों तथा रहन-सहन में छात्राओं को सभी स्त्री-सुलभ स्वतन्त्रता दी जाती है और वहाँ पर आश्रमानुकूल वातावरण निर्मित है। शिक्षा-विषयों में कलात्मक विषयों के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है।

सारांश

सदियों की लगातार पराधीनता एवं अँग्रेजी शासन के अत्याचारों ने भारतीय जनता में राजनैतिक क्रान्ति की भावना को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप जनता भारतवर्ष से अँग्रेजी शासन को समूल नष्ट करने के लिये कटिबद्ध हो गई। शिक्षा-क्षेत्र में रुचि रखने वाले व्यक्तियों से अँग्रेजी शिक्षा का वह बड़ा अवगुण छिपा न रह सका जो कि भारत की पराधीनता-प्राचीर की नींव का एक बड़ा पत्थर था। अँग्रेजी शिक्षा-पद्धति भारतीय जनता में पराधीनता की प्रवृत्ति विकसित करके अँग्रेजों की सत्ता भारतवर्ष में बनाये रखने में उनकी सहायक थी। अतः राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ शिक्षा-आन्दोलन का भी सूत्रपात हुआ। कुछ शिक्षाविदों का ध्यान भारतवर्ष की प्राचीन शिक्षा-पद्धति की पुनरावृत्ति एवं आधुनिक प्रगतिशील शिक्षा-पद्धति के साथ उसका समन्वय स्थापित करते हुए शिक्षा-पद्धति-परिवर्तन की ओर गया। उन्होंने नयी प्रणाली एवं पद्धति की शिक्षा-संस्थायें स्थापित करके शिक्षा-क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये।

विश्वभारती विश्वविद्यालय

विश्वभारती विश्वविद्यालय के व्यवस्थापक कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर को बचपन से ही अँग्रेजी शिक्षा-पद्धति एवं तत्कालीन प्रचलित विद्यालय-व्यवस्था से घृणा थी और वे उन्मुक्त वातावरण की वैदिक एवं बौद्ध कालीन शिक्षा-पद्धति को ही भारतीय प्रवृत्ति एवं रुचि के अनुकूल समझते थे। अतः वयस्क होने पर १९०१ ई० में उन्होंने कलकत्ता नगर से लगभग १०० मील दूर वर्दमान जिले में स्थित अपने पिता के आश्रम शान्तिकेतन में समीपवर्ती ग्रामीण जनता के बालकों के लिये एक विद्यालय की स्थापना की जिसकी रूपरेखा बहुत कुछ प्राचीन आश्रम-शिक्षा-पद्धति पर आधारित

थी। समय के साथ छात्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई और आवश्यकतानुसार विद्यालय का भी विस्तार होता गया। १९२१ में इसको एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय का रूप देकर इसका नाम 'विश्वभारती' रखा गया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विश्वभारती का आशातीत विकास हुआ। आज यह एक पूर्ण विकसित संस्था के रूप में विद्यमान है। इसके कार्य सुविधा के लिये कई विभागों (भवन) में बँटे हैं, जिनमें प्रमुख शिक्षा-भवन, कला-भवन, विद्या-भवन, संगीत-भवन, चीन-भवन, शिल्प-भवन एवं श्री-निकेतन है। विश्वभारती विश्वविद्यालय में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शिक्षा-क्षेत्र में वैदिक एवं बौद्ध कालीन आश्रम-शिक्षा की पुनरावृत्ति तथा वर्तमान पूर्वीय एवं पाश्चात्य की स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धति से उसका समन्वय स्थापित करना है। विद्यालय में रहन-सहन एवं शिक्षण-प्रशिक्षण के कार्यक्रम मुख्यत: प्राचीन आश्रम-पद्धति पर आधारित हैं। श्री निकेतन की स्थापना विश्वभारती के शिक्षा-क्षेत्र में एक प्रगतिशील पग है। इसके अन्तर्गत कृषिशिक्षा, पशुपालन, कुटीर-कृषि-उद्योग आदि के शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इसमें ग्रामीण युवकों को सम्बन्धी विषयों में प्रशिक्षित किया जाता है तथा विश्वविद्यालय के छात्र ग्रामों में जाकर सम्बन्धी उद्योगों के लिये ग्रामीणों को पथप्रदर्शन देते तथा प्रयोगात्मक कार्य करते हैं। श्री-निकेतन के अन्तर्गत एक ग्राम-मंगल-विभाग है जिसमें ग्रामवासियों में सामाजिकता एवं सहयोग की प्रवृत्ति विकसित करने तथा साहसिक कार्यों; जैसे प्राथमिक चिकित्सा, स्काउट-संगठन आदि का अभ्यास कराने के लिये समय-समय पर प्रशिक्षण-शिविरों की व्यवस्था की जाती है।

गुरुकुल-शिक्षा

गुरुकुल-शिक्षा भारतवर्ष की प्राचीन आर्य-शिक्षा-पद्धति की पुनरावृत्ति तथा भारत की वर्तमान शिक्षा के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करती है। इस प्रकार की शिक्षा-विचारधारा के मूल स्रोत आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। उन्होंने भारतवर्ष की स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीय प्रगति के लिये आर्य कालीन सभ्यता, संस्कृति एवं शिक्षा-पद्धति की पुनरावृत्ति की भावना व्यक्त की। उन्हीं की भावनानुसार गुरुकुल-शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में स्त्री एवं पुरुष-शिक्षा के लिये अलग-अलग व्यवस्था है। पुरुषों के गुरुकुल काँगड़ी, हरद्वार तथा वृन्दावन में हैं। स्त्रियों के गुरुकुल देहरादून, सासनी तथा बड़ौदा में हैं। इनमें सबसे अधिक विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण गुरुकुल, काँगड़ी है। इन गुरुकुलों में ६ से ८ वर्ष के बालकों को लिया जाता है और १४ वर्ष तक स्नातयस्तर तक की शिक्षा दी जाती है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में निर्धारित अवधि तक सभी विद्यार्थियों के लिये गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य-पालन करना तथा सादगी एवं परिश्रम-पूर्ण जीवन

व्यतीत करना अनिवार्य है। इसमें छात्रों के स्वास्थ्य, नैतिकता एवं आचरण आदि की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। शिक्षा-माध्यम हिन्दी है, परन्तु संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य है; साथ में अंग्रेजी तथा विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि की शिक्षा दी जाती है। गुरुकुल में भारतवर्ष की प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली आयुर्वेद के पुनरुत्थान एवं विकास के विशेष कार्यक्रम हैं। स्त्रियों के गुरुकुल में शिक्षा में स्त्रीगुणों के विकास के कार्यक्रम भी सम्मिलित हैं। आचरण एवं नैतिकता की शिक्षा उनके लिये भी अनिवार्य है। स्वास्थ्य-शिक्षा एवं व्यायाम के साथ-साथ छात्राओं को अस्त्र-शस्त्र चलाने तथा घुड़सवारी की शिक्षा भी दी जाती है।

श्री अरविन्दु-आश्रम (पाण्डिचेरी)

अरविन्दु-आश्रम की स्थापना १९१० ई० में प्रसिद्ध योगसाधक श्री अरविन्दु ने पांडिचेरी में की थी। यहाँ पर विभिन्न धर्म, समुदाय, वर्ग, जाति तथा देश के लोग एक परिवार के रूप में रह कर ईश्वर का चिन्तन एवं योग-साधना करते थे। १९४३ ई० में इस परिवार के सदस्यों की संख्या की अधिक वृद्धि होने पर आश्रम-वासियों के बालकों की शिक्षा के लिये एक विद्यालय की स्थापना की गई। इस विद्यालय में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य भारतीय एवं पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के सम्बन्ध दृढ़ करने का प्रयत्न करना तथा पूर्वीय एवं पाश्चात्य शिक्षा-सिद्धान्तों का आश्रम में समन्वय स्थापित करना था। इसमें विषय-शिक्षा की अपेक्षाकृत आध्यात्मिक शिक्षा के अभ्यास को अधिक प्रधानता दी गई। योगी अरविन्दु के उच्च विचारों के प्रभाव से इस पाठशाला में बालकों की पर्याप्त वृद्धि हुई और विद्यालय का शिक्षास्तर बढ़ता गया। १९५० ई० में योगी अरविन्दु के देहावसान के उपरान्त इसमें श्री अरविन्दु अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। यह विश्वविद्यालय एक स्वतन्त्र संस्था है जो कि शिक्षा के माध्यम से पूर्वीय-पश्चिमी एकता का प्रयत्न करती है। इस विद्यालय की कोई शासकीय मान्यता नहीं है। छात्रों की कोई परीक्षा नहीं होती। शिक्षा का माध्यम फ्रेंच है, परन्तु अन्य भाषा के बालकों के लिये अलग-अलग वर्ग बनाये गये हैं। इच्छुक विद्यार्थियों को भारत तथा फ्रांस की मान्यता प्राप्त परीक्षा में बैठने के लिये आवश्यक सुविधा प्रदान की जाती है। शिक्षक आश्रमवासी ही होते हैं। संस्था का पूर्व-पश्चिम सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

जामिया मिलिया इस्लामिया

जामिया मिलिया की स्थापना देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव से, कुछ प्रमुख मुसलमान नेताओं द्वारा १९२० ई० में अलीगढ़ में की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से मुसलमानों में एकता एवं राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न

करना था। १९२५ ई० में इसे राजनैतिक केन्द्र दिल्ली में लाया गया। १९२८ ई० में इसका प्रबन्ध समिति के कार्य-कर्त्ताओं एवं शिक्षकों के हाथ में दे दिया गया जिन्होंने 'अंजुमने तालीमे मिल्ली' नामक प्रबन्धक समिति की स्थापना की। इसके शिक्षकों ने २० वर्ष तक १५० रु० प्रति माह के स्थिर वेतन पर कार्य करने की प्रतिज्ञा की। यह मुसलिम शिक्षा की एकाकी एवं स्वतन्त्र संस्था है। इसके अन्तर्गत आज एक प्रारम्भिक पाठशाला, एक बहु-उद्देश्यीय हाई स्कूल, एक कालेज, विभिन्न स्तरों एवं विभिन्न विषयों के कई अध्यापक-प्रशिक्षण विद्यालय, एक प्रौढ़-शिक्षा विद्यालय, एक पाठ्य-पुस्तक विद्यालय तथा प्रेस, एक ग्रामीण शिक्षा विद्यालय तथा एक बाल-कार्यक्रम की संस्था, जिसे बच्चन की बिरादरी कहते हैं, आदि ग्यारह विद्यालय हैं। अंजुमने तालीमे मिल्ली का नाम १९३८ ई० में बदल कर जामिया मिलिया समिति कर दिया गया। यही समिति अब सभी विद्यालयों की प्रबन्ध एवं विधायकीय समिति है। मुसिलम शिक्षा-क्षेत्र में यह एक अनुकरणीय चेष्टा है।

विद्याभवन, उदयपुर

विद्याभवन, उदयपुर की स्थापना डा० मोहन सिंह मेहता ने १९३१ ई० में एक छोटे विद्यालय के रूप में शिक्षा के माध्यम से समाज-सुधार-कार्यक्रम कार्यान्वित करने के लिये की थी। इन्हें इस दिशा में कार्य करन वाले लोगों का एक इतना योग्य दल सहायता के लिये तत्पर मिला कि थोड़े समय म ही विद्यालय का आशातीत विस्तार हुआ। आज इसके अन्तर्गत प्रारम्भिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय-स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था है जिसम एक उच्चतर बेसिक विद्यालय एक अध्यापक-प्रशिक्षण विद्यालय तथा हस्तकला-प्रशिक्षण केन्द्र है। इस संस्था न बेसिक शिक्षा तथा गृह-उद्योग योजना में प्रशंसनीय कार्य किया है। वर्धा-योजना के कार्यक्रमों का यह एक अच्छा प्रयास है।

यस० यन० डी० टी० महिला विश्वविद्यालय, पूना

इसकी स्थापना प्रोफेसर कर्वे ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष में हिन्दू विधवाओं की शिक्षा के लिए की थी। बीसवीं शती के प्रारम्भ में यहाँ पर बालिकाओं की शिक्षा के लिए एक विद्यालय स्थापित किया गया। थोड़े ही समय में यहाँ पर प्रवेशार्थी बालिकाओं की अत्यधिक वृद्धि हुई और १९१६ में इस संस्था को एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय का रूप दिया गया। आज यह संस्था एक रजिस्टर्ड विश्वविद्यालय है जिससे सम्बन्धित अनेक कन्या विद्यालय बम्बई राज्य भर में हैं और बम्बई, बड़ौदा, अहमदाबाद तथा पूना में कालेज स्थापित हैं। इस संस्था के सभी विधायकीय अधिकार विश्वविद्यालय के अपने हैं। स्त्री-शिक्षा-पाठ्यक्रम भ

स्त्री-सुलभ गुणों के विकास को ही प्रधानता दी गई है। स्त्री-शिक्षा-क्षेत्र में यह एक सराहनीय प्रयोग है।

वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

वनस्थली विद्यापीठ की स्थापना एक समाज-सेवी कार्यकर्त्ता श्री हीरालाल शास्त्री ने जयपुर से ४५ मील दूर ग्रामीणक्षेत्र में १९३५ ई० में एक कन्या-पाठशाला के रूप में की थी। १९४२ ई० में इसे वनस्थली विद्यापीठ का नाम दिया। आज इसमें लगभग ७०० बालिकायें प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय-स्तर तक की शिक्षा पाती हैं। संस्था की माध्यमिक कक्षाओं के लिए राजस्थान सरकार एवं स्नातय कक्षाओं के लिए राजपूताना विश्वविद्यालय की मान्यता प्राप्त है। ग्रामीण क्षेत्र में स्त्री-शिक्षा की यह एक प्रशंसनीय संस्था एवं स्त्री-शिक्षा-क्षेत्र का एक प्रशंसनीय परीक्षण है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारतीय शिक्षा में किसी दो प्रमुख अभिनव परीक्षणों का विवरण दीजिए।

२. विश्वभारती (शान्ति-निकेतन) के उद्देश्यों और कार्यक्रम का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

३. "जामिया मिलिया इस्लामिया भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में एक सराहनीय परीक्षण है"— इस कथन की व्याख्या कीजिए।

४. श्री अरविन्दु-आश्रम (पांडिचेरी) की शिक्षा की दृष्टि से क्या विशेषता है ?

५. गुरुकुल काँगड़ी (हरद्वार) पर एक लेख लिखिए।

६. भारतीय शिक्षा में कौन-कौन से नये परीक्षण किये गये हैं ? सविस्तार लिखिए।